स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान-सम्पादक : यशदेव शल्य

समीक्षित पाश्चात्य दर्शन समीक्षा

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - 4

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान-सम्पादक : यशदेव शल्य

समेकित पाश्चात्य दर्शन समीक्षा

***

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्य प्रदेश

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित पाश्चात्य दर्शन समीक्षा
प्रधान संपादक - यशदेव शल्य
संपादक - अम्बिकादत्त शर्मा
* * * अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिये प्रकाशित

© प्रकाशक

ISBN - 81-88289-43-4

प्रथम संस्करण 2012

मूल्य - 995/-

प्रकाशक -
विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
247, जवाहरगंज, सागर - 470002 (म.प्र.)
फोन : 9303282494
e-mail : varietyg10@yahoo.com
visit-*www.vishwavidyalayaprakashansagar.blogspot.com*

लेजर कम्पोजिंग -
एक्टिव कम्प्यूटर्स
कटरा, नमकमंडी, सागर (म. प्र.)
Mob : 9826434225

SWATANTRAYOTTAR DARSHNIK PRAKARAN
SAMEKIT PASHCHATYA DARSHAN SAMIKSHA
Ed. By Ambika Datta Sharma

अनुक्रम

पुरोवाक् - *अम्बिकादत्त शर्मा*

1. डेकार्ट 11
यशदेव शल्य
2. डेविड ह्यूम का दर्शन 29
वी.के. भारद्वाज
एस. भारद्वाज
3. ब्रैडले के अनुसार तत्त्वमीमांसा और आत्मा 49
याकूब मसीह
4. मूर तथा रसेल : विश्लेषणवादी परम्परा - 1 72
रूपरेखा वर्मा
5. मूर तथा रसेल : विश्लेषणवादी परम्परा - 2 98
रूपरेखा वर्मा
6. विट्गिंस्टाइन के परवर्ती दर्शन के मूलाधार 118
राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
7. वैयक्तिक भाषा संबंधी विमर्श 144
नारायण शास्त्री द्रविड़
8. विज्ञान दर्शन का स्वरूप 159
वी.के. भारद्वाज
9. फिनोमिनोलोजिकीय दर्शन-प्रणाली 191
यशदेव शल्य

10. फिनोमिनोलोजी तथा अस्तित्ववाद 220
बसन्त कुमार लाल
11. तर्कशास्त्र का दर्शन 241
रूपरेखा वर्मा
12. धर्म-दर्शन - 1 262
बसन्त कुमार लाल
13. धर्म-दर्शन - 2 280
बसन्त कुमार लाल
14. धर्म और ऐहिकता 296
याकूब मसीह
15. संवादी विसंवाद - धर्मों का अन्योन्याश्रयत्व 317
हर्ष नारायण
16. नीतिशास्त्र 343
गोपाल बिहारी माथुर
कुमारी रेणु खन्ना
17. दर्शन तथा इतिहास बोध 379
गोपाल बिहारी माथुर
18. न्याय का स्वरूप 405
चाँदमल शर्मा
19. विधि-दर्शन का स्वरूप 422
चाँदमल शर्मा

पुरोवाक्

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के अंतर्गत 'समेकित पाश्चात्य दर्शन - समीक्षा' नामक इस चतुर्थ खण्ड को प्रकाशित करते हुए मुझे हर्ष तो हो ही रहा है लेकिन साथ ही साथ मैं अपने को किंचित् अन्तर्द्वन्द्व से ग्रसित भी पा रहा हूँ। हर्ष तो इसलिए कि पूर्व में इस प्रकरण के तीन खण्डों - *समेकित दार्शनिक विमर्श, समेकित अद्वैत विमर्श* और *भारतीय दर्शन के 50 वर्ष* का प्रकाशन हुआ। इन्हें इस द्रृष्टि से सराहा भी गया कि ये तीनों खण्ड स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के वैचारिक स्वराज और उसके लिए अपेक्षित भाषीय राजपथ की अनिवार्यता की एक झांकी अवश्य प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इस चौथे खण्ड को अन्तर्द्वन्द्व के साथ प्रकाशित करने का एक विशेष कारण है ! वह यह कि सांस्कृतिक प्रतिबद्धता के साथ दर्शन से सरोकार रखने वाले किसी व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के अंतर्गत 'पाश्चात्य दर्शन-समीक्षा' विषयक इस खण्ड का औचित्य क्या है ? उपर से देखने पर यह प्रश्न अपने आप में युक्त ही प्रतीत होता है लेकिन विचार करने पर यह संभव है कि इसके उत्तर को और भी अधिक युक्ततर ठहराया जा सके। बस, इसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी आँखे खुली रखें, उन्मूलन को उन्मीलन न समझ बैठें।

अवधेय है कि स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक मानस की औपनिवेशिक मनोवृत्ति और तज्जन्य आत्मनिर्वासन की प्रवृत्ति के मूल में पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन और पश्चिमी सभ्यता के प्रति अविचारित रमणीय स्वीकृति ही है। अत: स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक प्रकरण के अन्तर्गत 'पाश्चात्य दर्शन-समीक्षा' को प्रकाशित करने का औचित्य पाश्चात्य दर्शन के प्रति उसी अन्ध श्रद्धा की गतानुगतिक रूप से पुनरावृत्ति करना नहीं, बल्कि उसके प्रति अविचारित मोह का भञ्जन कर भारतीय दर्शन के प्रति निष्ठा को बढ़ाना है। वस्तुत: कोई भी दार्शनिक वाङ्मय समाज की जीवन-द्रृष्टि और परमार्थ-गवेषणा की अभिव्यक्ति होता है। जीवन-द्रृष्टि तो सभी समाजों की होती है और उसी को उस समाज की संस्कृति कहा जाता है। यह संस्कृति उस समाज के व्यवहार, काव्य-कलाओं और वाङ्मय में अन्तर्निहित रहती है उदाहरण के बतौर पिटरिम सोरोकिन ने विभिन्न संस्कृतियों को परिभाषित करने हुए आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को 'सेंसेट' अर्थात् 'बाह्येन्द्रियों के विषयों को एक मात्र सत् मानने वाली और बाह्येन्द्रियों के साध्यों को एक मात्र परमार्थ मानने वाली संस्कृति कहा है।' अत: संस्कृति का यह स्वरूप उसके दार्शनिक वाङ्मय में आत्मचेतन होकर लक्षित होना चाहिए। आंग्ल-अमरीकी दर्शन के अनुभववाद और फ्रांस-जर्मनी के अस्तित्त्ववाद तथा फेनोमेनालॉजी सम्प्रदाय में यह सब कुछ अपने समस्त गुण-सूत्रों के साथ परिलक्षित होते हुए देखा जा सकता है। यों तो सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन की विश्व द्रृष्टि अपने आप में प्रारंभ से लेकर अबतक जीवन और जगत् के उत्तरोत्तर ऐहिकीकरण

(सेक्युलरायजेशन) की एक वृहद् कार्य-योजना की तरह है। इसीलिए इसके विकास क्रम में उन्हीं दार्शनिकों को बहुत अधिक महत्त्व मिला जिन्होंने इस पूर्व निर्धारित और सुविचारित कार्य-योजना के अंगभूत होकर पहल-दर-पहल अपनी दार्शनिक प्रतिभा का विनियोग किया। पश्चिम, अपनी इसी कार्य-योजना के तहत आज के प्रवर्धमान युग का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इत्यादि सभी दृष्टियों से नेता बन बैठा है। इसी कार्य-योजना की अनुरूपता में सम्पूर्ण मानव जाति को अपने आप को जानने के लिए तथा वैसा ही हो जाने के लिए सशक्त नेतृत्व प्रदान करना पश्चिम का मिशन है। दूसरी ओर, भारत जिसकी आध्यात्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक परम्परा बहुत प्राचीन और समृद्ध रही है, जो सभ्यता और संस्कृतियों के वैश्वीय ध्रुवीकरण में महज एक देश नहीं बल्कि वैश्विक गोलार्ध है, वह भी आज पाश्चात्य संस्कृति से अभिभूत है। अत: जीवन और जगत् को दैवी दृष्टि से काटकर उसे पूर्णत: लौकिकीकृत कर देने वाली इस संस्कृति को समझना हमारे लिए बहुत आवश्यक हो जाता है; जिससे कि हम इसके गुणों को ग्रहण और दोषों से बचाव कर सकें। यह तो स्वाभाविक है कि 'सेंसेट कल्चर' में बाह्यगति, ऊर्जा और चमक अपेक्षाकृत अधिक होगी; परन्तु इसके साथ आन्तर दारिद्र्य भी हो सकता है। यदि हम इस आन्तर दारिद्र्य को पहचानने का विवेक नहीं रखते तो वाह्य समृद्धि को ही हम आन्तर वैभव मानने की भूल कर सकते हैं। वास्तव में आज बहुत कुछ हम यह भूल करते भी जा रहे हैं। यदि हमारे सामने पश्चिम की यह दृष्टि उजागर हो सके तो हम आत्मचेतन होकर उसकी समीक्षा कर सकते हैं। इस तरह हम स्वयं अपने वाह्य दारिद्र्य और उससे निष्पन्न आंतरिक वैभव की निष्प्रभता भी देख सकते हैं। यह विवेक कदाचित् अपने उद्धार के लिए एवं अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित होने के लिए हमें प्रेरित कर सकता है। इसीलिए पाश्चात्य दर्शन के निहितार्थों को, उससे अभिभूत हुए बिना, समझना हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के अन्तर्गत '**समेकित पाश्चात्य दर्शन-समीक्षा**' को प्रकाशित करने का यही दार्शनिक औचित्य है।

इसीलिए इस संकलन में पाश्चात्य दर्शन के ओर-छोर से संबंधित अधिकांश निर्णायक प्रवृत्तियों को उनके सारभूत और मूलगामी स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका उद्देश्य न तो पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक एवं अत्याधुनिक प्रवृत्तियों का आधारभूत ज्ञान प्रदान कराना है और न ही इसके माध्यम से पाश्चात्य दर्शन के विशेषज्ञ बनने का द्वार खोलना है, बल्कि न्यूनतम पन्नों और स्वल्प प्रयास में ही किसी हिन्दी भाषा-भाषी व्यक्ति को पाश्चात्य दर्शन के प्रगत्-इतिवृत्त एवं उसकी 'विचार-संस्कृति' से अवगत कराना है। पाश्चात्य दर्शन की ऐसी अभिज्ञता हिन्दी भाषा-भाषी उन व्यक्तियों के दार्शनिक आत्मविश्वास को बढ़ाने में अत्यंत सहायक हो सकती है जो भारतीय दर्शन के आत्मचेतन-विमर्श से अपना सरोकार बनाये हुए हैं और तद्नुरूप अपने-अपने तरीके से भाष्यधर्मी अभियान को संचालित कर रहे हैं। भाषीय राजपथ पर वैचारिक स्वराज के लिए दर्शन अपनी रचनात्मक भूमिका निभाये, इसके लिए इस प्रकार का दार्शनिक आत्मविश्वास बहुत आवश्यक है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक भारत में यदि भारत की आत्मा को खोजा जाना आवश्यक है तो उसे दर्शन में ही पाया जा सकता है।

इस संकलन को प्रस्तुत करने में मेरी केवल निमित्तमात्र की भूमिका है। यदि किसी सत्प्रयास का निमित्त बनना भी यत्किञ्चत् महत्त्व रखता है तो यहाँ यह केवल इतना ही कि इसके द्वारा मैंने एक संकल्पबद्ध सामूहिक दार्शनिक प्रयास को विस्मृति के गर्त से उबारने का प्रयास किया है। निज भाषा

और निज विचार के गौरव बोध में मूलित यह कृतप्रयास अपने आप में बड़ा ही अनोखा था। इसका उद्देश्य हिन्दी भाषा-भाषी दार्शनिक परिवेश में पाश्चात्य दर्शन की मानकीय अभिज्ञता को बढ़ाना था और इस कार्य के लिए अपने समय के श्रेष्ठतम लोग एकजुट हुए थे। इसका सम्पूर्ण श्रेय स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के शलाका पुरूष 'यशदेव शल्य' को जाता है। यशदेव शल्य स्वातंत्र्योत्तर भारत में वैचारिक स्वराज और उसके भाषीय राजपथ को नेतृत्व प्रदान करने वाले उन्नायक और सर्वाधिक सृजनधर्मी मौलिक दार्शनिक रहे हैं। यह कहना कथमपि अतिशयोक्ति नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में दार्शनिक चिन्तन के नाम पर यदि वास्तव में हमारे पास कुछ दिखाने लायक है तो वह केवल यशदेव शल्य का दार्शनिक चिन्तन ही है। यह बात अलग है कि उसे कोई देखता नहीं, क्योंकि उन्होंने अपना चिन्तन भीष्म संकल्प के साथ राष्ट्रभाषा में प्रस्तुत किया है। वस्तुत: विचार और भाषा के धरातल पर भारतीय दर्शन को औपनिवेशिक दासता से मुक्त करने के लिए वैयक्तिक और संस्थागत रूप में उन्होंने भारत-भारती की जैसी सेवा की है वह अपने आप में अद्वितीय है। '**अखिल भारतीय दर्शन परिषद्**' की स्थापना और '**दार्शनिक त्रैमासिक**', '**तत्त्वचिंतन**', '**दर्शन-समीक्षा**' तथा '**उन्मीलन**' जैसी पत्रिकाओं का अपने बलबूते प्रारंभ उन्होंने उपर्युक्त उद्दश्यों के सफल होने के साधन रूप में ही किया था।

प्रस्तुत संकलन यशदेव शल्य के उस छोटे और अधूरे प्रयास का प्रतिफलन है जो उन्होंने 1970 के दशक में '**दर्शन-समीक्षा**' नामक पत्रिका के छह अंकों के माध्यम से किया था। यशदेव शल्य के मन में यह बात घर कर गयी थी कि औपनिवेशिक मनोवृत्ति के कारण हम भारतीयों में यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के प्रति जो आकर्षण है और स्वकीय विचार परम्परा के प्रति जो हीन-भावना है, उसे पाश्चात्य दर्शन को निजभाषा में जान कर ही दूर किया जा सकता है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने 'प्रोफ़ेसर दयाकृष्ण' के साथ कई प्रकार के उपक्रमों को संचालित किया। 'दर्शन-समीक्षा' का प्रकाशन भी उन्हीं उपक्रमों में से एक था। इसका विशिष्ट उद्देश्य हिन्दी माध्यम से पाश्चात्य दर्शन के इतिवृत्त को 'सारांश-समीक्षा' के रूप में प्रस्तुत करना था। इस कार्य में उन्हें उस समय के जाने माने विद्वानों का भरपूर सहयोग मिला और अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध पाश्चात्य दार्शनिक प्रवृत्तियों से संबंधित उत्कृष्टतम सामग्रियों के आधार पर पाश्चात्य दर्शन की 'सारांश-समीक्षा' तैयार की जाने लगी और 'दर्शन-समीक्षा' में उसका प्रकाशन होने लगा। श्रेयांस बहुविघ्नानि- यह महत्त्वपूर्ण संगठित प्रयास किन्हीं कारणों से अल्पायु ही सिद्ध हुआ लेकिन इस अल्पायु प्रयास में जो कुछ भी सामने आया वह अवश्य ही दीर्घायु सिद्ध हुआ। आज हिन्दी ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न विधाओं को समर्थ अभिव्यक्ति देने में पहले की अपेक्षा अधिक सक्षम हो चुकी है। पाश्चात्य दर्शन की पर्याप्त सामग्री आज हिन्दी माध्यम में उपलब्ध है। परन्तु इस संकलन में प्रस्तुत की गई सामग्री आज भी अपने आप में न केवल मानक है बल्कि हिन्दी में पाश्चात्य दर्शन की प्रस्तुति का निकष स्वरूप है। आशा है कि यशदेव शल्य के नेतृत्व में देशभर के विद्वानों ने जिस उद्देश्य के निमित्त इस अकादमिक उपक्रम को कार्यान्वित किया था, उसे इस संकलन के माध्यम से पुनर्जीवन प्राप्त हो सकेगा।

इस अवसर पर मैं उन सभी विद्वानों का श्रद्धास्पद स्मरण करते हुए उनके प्रति ऋणी होने का अनुभव कर रहा हूँ जिन्होंने अथक परिश्रम से इन दुर्लभ सामग्रियों का निर्माण किया था। साथ ही साथ प्रोफेसर श्री प्रकाश दुबे, अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् और उसके पदाधिकारियों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरे इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और परिषद् के माध्यम से इसके

प्रकाशन के लिए तैयार हुए। वास्तव में यशदेव शल्य का यह प्रयास अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना के व्यापक उद्देश्यों के अंगभूत रूप में ही कारित हुआ था। अत: परिषद् द्वारा इसके प्रकाशन की स्वीकृति परिषद् के उद्देश्यों के सर्वथा अनुरूप ही है। अन्त में हम श्री 'राजेश केशरवानी' जी को भी साधुवाद देते हैं जिन्होंने इस सामग्री के अकादमिक और ऐतिहासिक महत्त्व को समझा और उसे आकर्षक तथा मूल्यवान कलेवर में प्रकाशित किया। एक प्रकाशक के रूप में श्री राजेश जी की दार्शनिक प्रतिबद्धता अवश्य ही प्रशंसनीय है।

अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्या ।
अल्पस्य कालो बहुविघ्नता च ॥
यत् सारभूतं तदुपासनीयम् ।
हंसो यथा क्षीरमिबाम्बुमध्यात् ॥

सागर, 11/11/2011
राष्ट्रीय शिक्षा दिवस

अम्बिकादत्त शर्मा

दयाकृष्ण

1924-2007

पिछले एक सौ पचास वर्षों में कुछ ऐसा घटित हुआ कि हम इस भारतीय सभ्यता के ज्ञानात्मक अतीत की जातीय स्मृति से कट गये हैं। उस स्मृति से, जो आत्मचेतना के स्तर पर इस सभ्यता के होने की, उसके अस्तित्व की बुनियादी शर्त रही है। यहाँ अंग्रेजों ने हिन्दूस्तानियों के भीतर एक नये ही वर्ग को पनपाया है - जिस वर्ग में हम और आप सभी आते हैं - जो अपने मूल्क और उसके लम्बे अतीत से कहीं ज्यादा पश्चिम के बारे में जानते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में हम केवल वही जानते हैं जो पश्चिम ने उपजाया है - यूनानियों के वक्त से लगाकर आज तक। हमारे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में - जहाँ हमारे दिमाग की ढलाई होती है - यही पढ़ाया जाता रहा है। इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ जिसमें हर आदमी भीतर से यही मानकर चलता है कि सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में हैं, कि भारतीय सभ्यता का या शायद किसी भी अन्य पश्चिमेतर सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्व-सभ्यता को कोई योगदान नहीं है और हमारे यहाँ अगर कुछ है जिससे हम थोड़ी बहुत उम्मीद कर सकते हैं, तो वह है सिर्फ अध्यात्म, धर्म या विज्डम, जो भी उसे कह लें। हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृति-भ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ पकड़ चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिलकुल भी अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं और उनसे गुजर कर ही यहाँ पहुँचे हैं। हमारी स्मृति-भ्रष्ट बदहाली का यह हाल उस शिक्षा-पद्धति की देन है जो अंग्रेजों ने इस देश में रोपी और जिसकी परिणति एक भयानक रंगभेद सरीखे 'अपार्थीड' में हुई है। एक तरफ वे लोग हैं जो अभी भी किसी तरह ज्ञान की परम्परागत पद्धतियों से चिपके हुए हैं, और दूसरी तरफ वे जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिसे 'माडर्न' कहा जाता है। इन दो वर्गों के बीच किसी तरह के संवाद या सम्प्रेषण की गुंजाइस ही नहीं बची है। चूंकि ये मार्डन ही देश के वास्तविक सत्ताधारी 'एलीट' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और वही अपने को इस सभ्यता का एक मात्र प्रतिनिधि समझते हैं, इससे एक ऐसी विचित्र और असंगतियों से पटी हालत पैदा हो चुकी है कि इस देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आप को पांच हजार बरसों - उथल-पुथल से भरे बरसों - में भी निरंतर कायम और सक्रिय रूप से रचनाशील बनाये रखा, उसके सामने अब इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्म-विस्मृति और पूरी तरह से उजड़ जाने का खतरा उपस्थित है। यह खतरा पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रवर्तित और भारतीयों द्वारा बिना विचारे अपना लिए गये 'इण्डोलॉजिकल' दृष्टिकोण से और गहरा गया है। ऐसी स्थिति में आइये, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और दर्शन को हम पढ़ें, खूब पढ़ें, लेकिन ध्यान रहे कि इससे भारतीय विद्याओं का उन्मीलन होना चाहिए न कि उन्मूलन, जैसा कि अब तक होता रहा है।

***

1

डेकार्ट*

यशदेव शल्य

डेकार्ट को यूरोपीय दर्शन में आधुनिक युग का प्रवर्त्तक माना जाता है। जर्मनी तथा फ्रांस के अधिकांश दार्शनिक तो डेकार्ट को अपना आरम्भ-बिन्दु मानकर चलते ही हैं, इंगलैंड-अमरीका के इन्द्रियानुभववादी दार्शनिक भी उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते। डेकार्ट के दर्शन की तीन मुख्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं - (1) ज्ञान के निस्संदिग्ध आधार की खोज, (2) विविक्त प्रत्ययों विषयक सिद्धान्त तथा (3) दर्शन के लिए ज्यामितिक निगमन की विधि। किन्तु दर्शन को नयी दिशा और गति इनमें से केवल प्रथम अन्तर्दृष्टि ने ही दी। विविक्त प्रत्ययों के सिद्धान्त ने कुछ सीमा तक विचार को उत्तेजित किया, किन्तु उनका प्रथम सिद्धान्त अथवा अन्तर्दृष्टि तो युग प्रवर्तक सूत्र ही बन गई। उनके इस सूत्र पर उनके समय से ही वाद-विवाद चल रहा है और यह आज तक दार्शनिकों को आकर्षित कर रहा है। यहाँ हम कुछ आधुनिक दार्शनिकों के लेखों के एक संकलन का सारांश प्रस्तुत कर रहे हैं।[1] इस संग्रह में से हमने एक लेख छोड़ दिया है और उसके बजाय एक दूसरे संग्रह से[2] हिंटिक्का के लेख का सारांश प्रस्तुत किया है। हिंटिक्का के लेख का साराँश यहाँ देना इसलिए विशेष आवश्यक था क्योंकि इस संग्रह का एक लेख मुख्यत:उसी की आलोचना है।

डेकार्ट-दर्शन में एक केन्द्रीय अस्पष्टता

स्टेन्ले रोजन

इस संग्रह का प्रथम लेख स्टेन्ले रोजन का है। इसमें रोजन ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि डेकार्ट ने दर्शन में जिस युग का सूत्रपात किया उसकी विशेषता प्रकृति पर मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा है। मनुष्य अब प्रकृति को अपनी इच्छा-संकल्प के, अपने प्रयोजनों के अधीन करने का प्रयत्न करता है। रोजन के अनुसार, आज हम सिद्धान्तों की मौलिकता और सृजनात्मकता की बात करते हैं, जिसका अर्थ है कि प्रकृति मनुष्य के लिए प्रस्तुति मात्र है और पूर्ण रूप से उसके द्वारा नियम्य है। यह बात पहले युगों के लिए अचिन्त्य थी। किन्तु डेकार्ट ने जो द्वैतवाद का प्रतिपादन किया उसमें अद्वैतवादी प्रवृत्तियों के बावजूद एक दुर्निवारता है और इस प्रकार प्रकृति की स्वायत्तता का स्वीकार है। यही इस दर्शन का एक मूलभूत व्यामिश्र (कन्फ्यूजन) है।

---

* 1. *Cartesian Essays, ed. Bernard Magnus and Jams B. Wilbur, Pub. Martinus Nijhoff, The Hague, 1969*

2. *Descartes, ed. willis Daney, Pub. Macmillan, 1968*

स्टेन्ले रोजन के अनुसार, डेकार्ट के दर्शन में एक अन्तर्निहीत अस्पष्टता का और उसके द्वारा आधुनिक विश्व की आधारभूत प्रेरणा को समझने के लिए मन और शरीर का द्वैतवाद एक उपयुक्त आरम्भ-बिन्दु नहीं है। उसके अनुसार, उनके दर्शन का मूलबिन्दु नव्य भौतिकी के लिए तर्क की गणितीय विधि और इस विधि के द्वारा निस्संदिग्ध आधारभूत सिद्धान्तों की खोज करना है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि डेकार्ट-दर्शन में द्वैतवाद केन्द्रीय सिद्धान्त नहीं है। इसके विपरीत, इस समस्या को वह डेकार्ट के चिन्तन के मूलभूत निष्कर्ष के रूप में देखता है। उसके अनुसार, 16 वीं-17 वीं शताब्दी के दर्शन में गणितीय भौतिकी का स्थान महत्त्वपूर्ण होने पर भी मानव के कर्तृत्त्व-बोध को एक नया बल मिला और मनुष्य के ''आत्म'' को प्राचीन स्टोइक अथवा ईसाई दर्शन के अन्तर्मुखीन आत्म से सर्वथा भिन्न रूप में कल्पित किया गया।

भौतिक वैज्ञानिक के रूप में डेकार्ट का उद्देश्य मनुष्य के लिए प्रकृति को विजित करना था। उसके अनुसार मनुष्य की वासनाएं (पैश्यंस्) गणित तथा देशकालात्मक विशिष्टों की मध्यवर्ती हैं। यद्यपि डेकार्ट आत्मनिष्ठता का प्रवर्तक नहीं होना चाहते थे, किंतु प्रकृति पर नियन्त्रण के लिए गणितमूलक चिन्तन का प्रयोग ज्ञान में आत्म के योगदान को बहुत बढ़ा देता है। यहाँ यह टिप्पणी करना स्थाने होगा कि रोजन ने डेकार्ट में जो विषयोन्मुखी झुकाव और उसी प्रसंग में आत्मनिष्ठता का तत्त्व देखा है वह नितान्त अनुपयुक्त है। डेकार्ट वास्तव में सम्पूर्ण बाह्यता से, जिसमें अनुभूतियों और कल्पनाओं आदि का भी समावेश है, निवर्त्तन घटित करते हैं।

इस विमर्श के बाद रोजन डेकार्ट के प्रत्यय (आइडिया) के स्वरूप पर विचार करता है। उसके अनुसार, डेकार्ट में इस सम्बन्ध में स्पष्टता नहीं है। डेकार्ट में विचार (थिंकिंग) को प्राय: विविक्त (डिस्टिंक्ट) और स्वत: स्पष्ट प्रातिभ (इंटयूशन) के रूप में, अथवा अचल एवं शाश्वत के अव्यवहित प्रत्यक्ष के रूप में, परिभाषित किया गया है। अब प्रश्न है कि ये प्रत्यय मानव-निर्मित व्यवस्था को प्रकट करते हैं याकि स्वतंत्र व्यवस्था को ? प्रत्यय को डेकार्ट इस प्रकार परिभाषित करते हैं : प्रत्यय किसी भी विचार (थाट) का वह आकार होता है जिसके अव्यवहित प्रत्यक्ष के द्वारा हम उसी विचार का चेतन रूप से ग्रहण करते हैं। ''किसी भी विचार'' से डेकार्ट का अभिप्राय संवेद, कल्पना, विशुद्ध बोध-विषय (इंटेलिजिबल्स) तथा संकल्प की अन्तर्वस्तु से है। दूसरे शब्दों में, ''प्रत्यय'' सब प्रकार की मानस्क्रियाओं का आधार है और परिणामत: स्वयं भी इस प्रकार की मानस्क्रियाओं की उपज है। यह डेकार्ट की संख्या की अवधारणा से भी देखा जा सकता है। उनके अनुसार, संख्या ऐसी सामान्य अवधारणा है जो भौतिक अथवा मानसिक किसी भी विषय को लागू की जा सकती है। अब, यद्यपि इस सार्वभौम गणित (मेथेसिस यूनीवर्सेलिस) के विषय अनिर्धारित (इंडिटर्मिनेट) होते हैं किन्तु यह गणित कम, मान, अभिवृत्ति (डिस्पोजीशन) तथा अनुपात को ऐसे एकक के द्वारा निर्धारित करता है जो मन के द्वारा अपने विषयों से विशिष्ट कर पृथक् ग्रहण किया जाता है। इसे डेकार्ट ''शुद्ध तथा सरल-विषय '' कहते है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह संख्या विचार के द्वारा भौतिक वस्तुओं पर कल्पना-व्यापार के माध्यम से उत्पन्न की जाती है, रैगुली में किए गए प्रतिपादन के अनुसार, कल्पना में विस्तारात्मक मुद्राओं अथवा आकृतियों की प्रतिकृतियाँ उत्पन्न होती हैं और इस ''चित्र'' से संख्या का प्रतीकात्मक प्रत्यय विश्लिष्ट किया जाता है। इस प्रकार विचार मूलत: प्रातिभ (इन्टयूशन) ही है, अर्थात् यह कल्पना के माध्यम से आद्य आकारों तथा विस्तार के गुणों का ग्रहण है - अव्यवहित ग्रहण नहीं, जैसा कि डेकार्ट कभी-कभी कहते प्रतीत होते हैं। संख्या तथा आकृति आदि विस्तारवान् वस्तुओं से पृथक् नहीं होते, वे केवल पृथक् कल्पित किये जाते हैं। इससे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या विचार ही भौतिक नहीं है ? किन्तु

रोजन यहाँ इस प्रसंग को छोड़कर पहले मैडीटेशंस् के सन्दर्भ में अन्त: प्रसूत प्रत्ययों (इन्नेट आइडियाज) के प्रश्न पर विचार करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में अन्त:प्रसूत प्रत्ययों के सिद्धान्त के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कल्पना (अथवा बाह्योन्मुख विचार) में तथा प्रातिभ (अथवा अन्तरोन्मुख विचार) में मौलिक अन्तर है। डेकार्ट अपने को विचार करने वाली वस्तु (विचारवान् द्रव्य) के रूप में परिभाषित करते हैं और 'विचार' यहाँ सब प्रकार की मानस्क्रियाओं का वाचक है। किन्तु कल्पना पिंड की अवधारणा है, इससे जितना यह निष्कर्ष उपयुक्त है कि पिंड मानसिक हैं उतना ही यह भी उपयुक्त है कि मन भौतिक है। और पुन:, अपने को शरीर से भिन्न रूप में परिभाषित करने का अर्थ है शरीर को स्वीकार करना।

किन्तु डेकार्ट प्रातिभ को कल्पना से स्वतन्त्र मानते हैं और शुद्ध आकार अथवा विस्तार को प्रातिभ के द्वारा गम्य मानते हैं। इसके लिए वे मोम का उदाहरण लेते हैं जो अनन्त आकृतियाँ ग्रहण कर सकी है किन्तु जो स्वयं केवल एक आकृति-विहीन विस्तार मात्र है। मोम के इस निराकार विस्तार का ग्रहण प्रातिभ से होता है। किन्तु रोजन के अनुसार, मोम का यह उदाहरण वास्तव में यह सिद्ध करता है कि सामान्य प्रत्यय कल्पनाश्रित है, क्योंकि मोम की द्रवणशीलता और विभिन्न आकृति-धारण का हम संवेदन करते हैं और उससे अनन्त आकृति-धारण-सामर्थ्य के प्रत्यय का ग्रहण करते हैं। तब गणितीय व्यवस्था और मानव-मन के बीच क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न पर डेकार्ट में अस्पष्टता है। यह व्यामिश्र पांचवीं मेडीटेशन में स्पष्ट देखा जा सकता है। यहाँ डेकार्ट कहते हैं : ''उदाहरणत:, जब मैं त्रिकोण की कल्पना करता हूँ ....'' किन्तु यहीं वे यह भी कहते हैं कि त्रिकोण का स्वरूप ''स्थिर'' तथा शाश्वत'' है।

इसके पश्चात् रोजन डेकार्ट के अ-विस्तृत वस्तुओं अथवा आकारों विषयक अन्त:प्रसूत प्रत्ययों की आलोचना करते हैं। डेकार्ट के अनुसार, अन्त:प्रसूत प्रत्यय वे हैं जिनका प्रामाण्य मेरे अपने स्वरूप से सिद्ध होता है। आलोचना करते हैं। मर्सेने को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने अन्त: प्रसूत प्रत्ययों के तीन प्रकार बताए हैं जिनमें ईश्वर तथा मन सर्वप्रथम हैं। उनकी प्रत्यय की पूर्वोद्धृत परिभाषा के अनुसार, प्रत्यय ''विचार का आकार है'' और यहाँ यह आकार कल्पनामूलक हैं। प्रत्यय को उसके मानसिक आकार के पक्ष से देखते हुए, ये कभी असत्य नहीं हो सकते। इस प्रकार सत्यासत्य आकारपरक नहीं होते, ये इनके बाह्य वस्तु के साथ सम्बन्ध से जनित होते हैं। किन्तु यदि निर्णय हमें अनिवार्यत: अपने से बाहर ले जाते हैं तब हम केवल आंतर विचार के द्वारा यह कैसे जान सकते हैं कि कोई अन्त: प्रसूत प्रत्यय अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से सत्य है ? उदाहरण के लिए, यदि मुझे अपना प्रत्यय विचार करने वाले के रूप में प्रदत्त है तब मैं इससे केवल इतना जानता हूँ कि मैं किसी मन में हूँ, यह नहीं कि मन के रूप में मेरा अस्तित्व है।

रोजन के अनुसार, डेकार्ट के विचार की अस्पष्टता उसके प्राय: सभी आधारभूत प्रतिपादनों में लक्षित होती है और यह ऐसे द्वैतवाद की ओर ले जाती है जिसे उतने ही उचित रूप से अद्वैतवाद कहा जा सकता है। वह अद्वैतवाद भौतिकवादी है या अध्यात्मवादी यह देखने वाले के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, डेकार्टीय प्रतिपादन के अनुसार कारण उतना ही सत् होता है जितना कार्य। अब, या तो मन सत् है या विस्तार सत् है। यदि मन सत् है तो विस्तार उससे उत्पन्न है और यदि विस्तार सत् है तो मन उससे उत्पन्न है। यह अस्पष्टता वास्तव में डेकार्ट-दर्शन मे दो विरोधी उद्देश्यों के कारण है। प्रथम उद्देश्य है प्रकृति की संरचना की गणितीय संरचना से एकरूपता स्थापित करना और दूसरा प्रकृति पर मनुष्य का स्वामित्व स्थापित करना। यदि लक्ष्य इस व्यवस्था की प्रामाणिकता है तो इसका

अवचिल और मनुष्य से स्वतन्त्र होना आवश्यक होगा, और यदि लक्ष्य मनुष्य का स्वामित्व स्थापित करना है तो इसे उसके स्वामित्व को स्वीकार करना होगा। डेकार्ट मनुष्य में स्वतन्त्र संकल्प को उसमें ईश्वरभाव की विद्यमानता का निदर्शक मानते हैं। किन्तु तब मनुष्य ईश्वर से भी स्वतंत्र है। यहाँ डेकार्ट का प्राचीनों से मौलिक भेद देखा जा सकता है।

डेकार्टीय द्वैतवाद एक प्रकार से आत्मा और शरीर के पार्थक्य के ईसाई सिद्धान्त की ही आवृत्ति है, किन्तु वह स्काटीय ईसाई परम्परा के अनुसार इस द्वैतवाद के पार्थक्यपरक परिणामों का निरास करने का प्रत्यत्न भी करता है। रोजन इस प्रसंग में ईसाइयों के ईश्वर विषयक सिद्धान्त में बुद्धि के ऊपर संकल्प के प्राधान्य की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह सिद्धान्त भूत द्रव्य की सृष्टि तथा मन के लिए उसकी गम्यता के प्रश्नों का समाधान करता है। स्वभावत: यह धार्मिक सिद्धान्त दार्शनिक आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) की ओर ले जाता है। प्रत्ययवादी भौतिक द्रव्य की अवगम्य संरचना को, अथवा भौतिक द्रव्य को ही, स्वतन्त्र सत्ता के निषेध द्वारा, अथवा कहें, भौतिक द्रव्य की अवगम्य संरचना के अतिरिक्त शेष सबके अस्तित्व के निषेध द्वारा, निराकरण करता है।

किन्तु द्वैतवाद का निवारण न तो डेकार्ट के दर्शन में गणितीय भौतिकी का महत्त्व दिखाकर किया जा सकता हैं और न डेकार्टोत्तर पदावली में प्रतिपादित प्रत्ययवाद अथवा भौतिकवाद के द्वारा। क्योंकि न तो प्रत्ययवाद मन को विस्तारयुक्त कहने से बच सकता है और न भौतिकवाद भौतिक द्रव्य को विचारयुक्त कहने से। प्रत्ययवाद के लिए भौतिक द्रव्य और भौतिकवाद के लिए मन अनन्तर्भाव्य तत्त्व हैं। दूसरे शब्दों में, ये दोनों बुद्धि (रीजन) पर संकल्प तथा कल्पना को प्रमुखता देते हैं और परिणामत: इनमें आकार तथा व्यवस्था की व्याख्या सम्भव नहीं है।

अन्त में रोजन डेकार्टीय द्वैतवाद के फिनोमिनलोजी दार्शनिकों तथा अस्तित्ववादियों द्वारा प्रस्तुत समाधान की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार, इन दार्शनिकों ने मनुष्य के "संसार में होने" को मूल अनुभव और मूल तथ्य के रूप में प्रतिपादित कर मन और भूत के द्वैत को समाप्त करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि यह प्रतिपादन बहुत आकर्षक और उपयुक्त है किन्तु ये दार्शनिक भी सायुज्य के आकर्षण से नहीं बच सके जो अद्वैतवाद की ओर ले जाता है। किन्तु अद्वैतवाद वास्तव में छद्म द्वैतवाद ही है। रोजनवर्ग के अनुसार एक ऐसा त्रैतवाद उपयुक्त सुलझाव है जो मन और भूत के बीच संवादिता स्थापित करता है। क्यों और किस प्रकार, इस पर रोजनवर्ग विचार नहीं करते।

तर्क तथा विचार-क्रिया पर कुछ टिप्पणियाँ

राबर्ट एन.बैक्

डेकार्ट का प्राविधिक सन्देह और इस सन्देह द्वारा सब कुछ के निरास में से सन्देहकर्त्ता अथवा निराकरण-कर्त्ता की निस्सन्दिग्ध उपलब्धि दर्शन में आज सर्वविदित और अत्यधिक विवादास्पद विषय है। आलोचकों का प्रश्न रहा है कि "विचारता हूँ, इसलिए हूँ" में "इसलिए" का क्या स्वरूप है, यह किस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति है ?

बैक् के अनुसार, डेकार्ट ईश्वर तथा दैत्य की प्राक्कल्पनाओं द्वारा विषय-जगत् और यहाँ तक कि तार्किक नियम सब कुछ का निराकरण कर देते हैं, किन्तु एक अनिराकरणीय तथ्य बच रहता है - "विचारता हूँ, इसिलए मैं हूँ" जिसे उपर्युक्त दोनों शक्तियाँ सन्देहास्पद नहीं बना पातीं। गणित की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए डेकार्ट कहते हैं कि 2+3 = 5 प्रामाणिक हैं और नींद में भी यह समीकरण खण्डित नहीं होता। किन्तु प्राविधिक सन्देह द्वारा ये भी निरस्त हो जाते हैं। यही स्थिति तार्किक प्रतिज्ञप्तियों की अनिवार्यता की है, यह अनिवार्यता अन्तत: मनोगत ही सिद्ध होती है, वास्तव नहीं। परिणामत: "विचारता हूँ" द्वारा मेरे अस्तित्व का आपादन तार्किक आपादन नहीं हो सकता।

गेस्सेंडी आदि आलोचकों ने ''विचारता हूँ'' प्रतिज्ञप्ति को ''जो क्रिया करता है उसका अस्तित्व है'' इस सामान्य प्रतिज्ञप्तियों से निगमनीय बताया, किन्तु डेकार्ट ने इन आलोचनाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। वास्तव में, डेकार्ट ने स्वयं निगमन को सन्देह से ऊपर नहीं माना, परिणामत: ''विचारता हूँ'' को निगमनात्मक मनाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किन्तु तब भी यह सही है कि डेकार्ट ने तृतीय मेडीटेशन में यह तार्किक प्रतिपादन किया है कि इसका निषेध वदतोव्याघात है और इस प्रकार डेकार्ट इस प्रकार की क्रियापरक व्याख्याओं को भी अस्वीकार करेंगे कि ''मेरा अस्तित्व है'' कथन स्वत: प्रमाण है अथवा तथ्यात्मक है। डेकार्ट की तत्त्वमीमांसा के लिए ''विचारता हूँ'' में आन्तर अनिवार्यता होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में डेकार्ट की स्थिति समझने के लिए उनका प्रातिभ (इन्टयूशन) का सिद्धान्त समझना आवश्यक है। बुद्धि द्वारा विषय का अव्यवहित ''प्रत्यक्ष'' प्रातिभ है और यह सरल अवधारण ही असंदिग्ध ज्ञान है। अब, यद्यपि प्रातिभ का विषय अत्यन्त सरल होता है किन्तु यह दो सरल प्रत्ययों अथवा एक प्रत्यय के अन्तर्गत दो तत्त्वों के अव्यवहित और अनिवार्य सम्बन्ध द्वारा घटित होता है। इस प्रकार स्वत: स्पष्ट प्रदत्त एक ऐसी सरल प्रतिज्ञप्ति होता है जिसमें प में फ अव्यवहित तथा अनिवार्य रूप से निहित होता है तथा प्रातिभ की अन्तर्वस्तु में आपादक और आपाद्य (इंप्लीकांस् एण्ड इंप्लीकाटम) का सम्बन्ध अव्यवहित तथा अनिवार्य होता है। ये सरल असीमत: जटिल हो सकते हैं, किन्तु ये ज्ञान में मूल और अविश्लेष्य घटक होते हैं।

इस प्रकार स्पिनोजा ने ''विचारता हूँ'' प्रतिज्ञप्ति को ठीक ही एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति कहा था जिसमें विभिन्न तत्त्व समाविष्ट रहते हैं। ''विचारता हूँ, इसलिए हूँ'' एक ही अनुभव-समग्र में अस्फुट से स्फुट की ओर गति है और ''इसलिए हूँ'' का स्थान उसके भीतर है।

इस प्रकार ''विचारता हूँ'' की आपादनात्मक अनिवार्यता न तो ''सामान्य विचार के नियम'' की अनिवार्यता है और न आपादनात्मक एकत्व की ही अनिवार्यता है। यह प्रतिज्ञप्ति एक अस्तित्ववान् का निर्देश करती है और इसकी अनिवार्यता सत्तात्मक है। डेकार्ट के लिए ''विचारता हूँ'' की विलक्षणता इस बात में है कि यह उसे पहली बार यह ज्ञान देती है कि किसी का अस्तित्व है। यद्यपि इसकी अनिवार्य सत्यता इसके अवधारण में ही है, किन्तु यहाँ इससे केवल इतनी ही अपेक्षा है कि यह किसी अस्तित्व की गारन्टी करती है। किन्तु तब भी यह मूल प्रदत्त है जिससे ज्ञान की पुनारचना आरम्भ होती है, इससे ही डेकार्ट की सुस्पष्टता और विविक्ततामूलक सत्य की कसौटी का उद्भव हुआ। इस प्रकार डेकार्टीय स्थापना हैं कि ''विचारता हूँ'' के समान सत्य आत्म में अव्यक्त रूप से निहित है, ये व्यक्त केवल आदिम प्रदत्त के आधार पर विश्लेषण की विधि से होते हैं।

''विचारता हूँ, इसलिए मैं हूँ'' : अनुमान या क्रियासंपादन ?

जाको हिंटिक्का

इस लेख में हिंटिक्का ने दिखाया है कि डेकार्ट की यह प्रसिद्ध प्रतिपत्ति एक तार्किक अनुमानपरक प्रतिपत्ति नहीं है बल्कि यह चैतन्य की मूल क्रिया है जो अपने घटित होने के साथ ही अपने को प्रमाणित करती है। वास्तव में यह डेकार्ट ने स्वयं भी अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से कहा है। इस प्रकार यह लेख डेकार्ट के स्पष्ट प्रतिपादन का ही विवेचन है और इस प्रकार के विवेचनों के लिए यह अत्यन्त अर्थगर्भित प्रतिज्ञप्ति शताब्दियों से प्रेरित करती आ रही है।

हिंटिक्का के अनुसार दर्शन में ''विचारता हूँ, इसीलिए हूँ'' की प्रसिद्धि से यह अपेक्षा होती है कि निरन्तर विचार-विमर्श से इसकी गहराई नाप ली गई होगी और निष्कर्ष निश्चित कर लिये होंगे। किन्तु हीन्रिख श्खोल के अनुसार, न केवल अभी तक इस सम्बन्धी बहुत से प्रश्न ही अनुत्तरित हैं बल्कि बहुत से आवश्यक प्रश्न हैं जो अभी उठाए तक नहीं गए हैं।

इस समस्या के कुछ ऐतिहासिक पक्षों पर विचार करते हुए हिंटिक्का कहते हैं कि इस प्रतिज्ञप्ति के पूर्वाभास संत ऑगस्तीन, केंपनेल्ला तथा संत थॉमस एक्वीनास में भी उपलब्ध होते हैं।

"मैं हूँ" के साथ "मैं विचार करता हूँ" के सम्बन्ध पर विचार करते हुए हिंटिक्का डेकार्ट के इस स्पष्टीकरण का उल्लेख करते हैं कि इन दो वाक्य खण्डों में निगमनात्मक सम्बन्ध नहीं है बल्कि अव्यवहित आंतर ग्रहण मूलक सम्बन्ध है। इसी प्रकार, डेकार्ट कहते हैं कि "मैं हूँ" प्रतिज्ञप्ति "मैं विचारता हूँ" पूर्वप्रतिज्ञा के बिना ही अव्यवहित रूप से प्रदत्त है। अब, यदि यह सही है तो जिस प्रतिज्ञप्ति में "मैं हूँ" की अव्यवहितता प्रतिपादित करना अभिप्रेत है उसमें न केवल "इसलिए" अस्थाने होगा बल्कि "विचारता हूँ" भी अस्थाने होगा।

किन्तु शायद "विचारता हूँ" यह प्रकट करने के लिए ही "मैं हूँ" की प्रातिभ प्रदत्तता के लिए विचार आवश्यक है, कि यह प्रातिभ अबौद्धिक घटना नहीं होकर बौद्धिक अव्यवहितत्त्व है। किन्तु यदि यह सही हो तो प्रश्न उठता है कि तब डेकार्ट ने इस तथ्य को इस विशिष्ट अंतर्दृष्टि के द्वारा ही क्यों व्यक्त किया ? हिंटिक्का के अनुसार, इस प्रतिज्ञप्ति में "मैं विचारता हूँ" न तो निराकरणीय हैं और न केवल एक प्रतिज्ञा (प्रेमिस) है जिससे "मैं हूँ" निगमित होता है। इसलिए इनमें सम्बन्ध एक समस्या है। इस लेख में उन्होंने इस समस्या पर ही विचार किया है।

"मैं विचारता हूँ" के तर्कानुमान होने के प्रश्न पर विचार करते हुए हिंटिक्का कहते हैं कि इसका तार्किकरूप इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "मैं विचारता हूँ" में एक व्यक्ति को एक गुण से विशेषित किया गया है और शेष वाक्य में उसी व्यक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसका अस्तित्त्व है। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की भाषा में इसे रूपांतरित करने पर :

(1) क (अ) $\supset$ (∃य) (य = अ)

देखा जा सकता है कि यह एक पूर्णत: युक्त तर्कानुमान है। वास्तव में जब गेस्सेंडी ने आपत्ति की थी कि "मैं हूँ" उतना ही "मैं चलता हूँ" आदि से भी आपादित होता है तब उसका यही आशय था कि इस वाक्य की सत्यता के लिए गुण "क" आवश्यक नहीं है, कोई भी अन्य गुण हो सकता है।

किन्तु इसी से "मैं विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति की यह व्याख्या उपयुक्त नहीं है। डेकार्ट ने गेस्सेंडी की आपत्ति का उत्तर दिया था कि यद्यपि "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति प्रकटत: "मैं चलता हूँ ....." के अनुरूप है किन्तु "मैं चलता हूँ" उस प्रकार निस्सन्दिग्ध नहीं है जिस प्रकार "मैं विचारता हूँ" है, क्योंकि चलना आदि मेरे स्वरूप से बाह्य हैं। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि डेकार्ट "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति में "मैं हूँ" को "विचारता हूँ" से निगमन मानते ही नहीं। इसके अतिरिक्त, इसे तर्कानुमान के रूप में देखने पर हम डेकार्ट की मूल अंतर्दृष्टि को और उसकी व्यवस्था में इसके प्रयोजनों को समझने में असमर्थ रहते हैं।

यद्यपि यह सही है कि डेकार्ट में कभी-कभी ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उनके मन में व्यामिश्रित रूप से ऐसा आशय भी विद्यमान था, किन्तु यह व्याख्या डेकार्ट के दर्शन के मूल और स्पष्ट आशय को समझने में तनिक भी सहायक नहीं होती। मेडीटेशंस् में तथा अन्य कुछ कृतियों में डेकार्ट की स्थापनाओं का सारांश यह है कि उनके लिए अपने अस्तित्व का निषेध करना असम्भव था। अपने अस्तित्व का निषेध वे इस ढंग से कर सकते थे कि वे अपने नाम का प्रयोग प्रथम पुरूष में करते और कहते "डेकार्ट का अस्तित्त्व नहीं है।" हिंटिक्का के अनुसार, डेकार्ट के लिए यह भी सम्भव नहीं हुआ, और उनका यह निषेध नहीं कर सकना इस बात से निकटत: सम्बन्धित है कि वे "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति को क्यों सन्देहातीत मानते हैं। हिंटिक्का इस प्रसंग में वाक्य, कथन और कथन के उच्चारण में भेद करते हुए कहते हैं कि, जबकि अनस्तित्व-प्रतिपादक वाक्य पूर्णत: सार्थक और संगत है, इसका

किसी व्यक्ति के द्वारा अपने अनस्तित्व के संबंध में उच्चारण वदतोव्याघात है। वास्तव में यह असम्भव है कि वह अपने सम्बन्ध में उचित रूप से कह सके कि वह नहीं है। अब, क्योंकि अस्तित्वात्मक रूप से असंगत कथन आत्मबाधक होता है, उसका निषेध स्वत: सिद्ध और स्वत: प्रमाण होता है। हिंटिक्का के अनुसार, सम्भवत: डेकार्ट को यह ध्यान था, अस्पष्टत: ही चाहे क्यों न हो, कि "मेरा अस्तित्त्व नहीं है" कथन आत्मबाधक है और परिणामत: "मेरा अस्तित्त्व है" स्वत: प्रमाण है। "मै विचारता हूँ, अत: मैं हूँ" इस अन्तर्दृष्टि को व्यक्त करने का यह केवल एक ढंग है। दूसरा ढंग, जो डेकार्ट ने वास्तव में अपनाया, वह है "मेरा अस्तित्त्व है" को आंतर संज्ञान में अव्यवहित रूप से व्यक्त मानना।

इस प्रकार, "मैं विचारता हूँ, अत: मैं हूँ" के दो भागों का सम्बन्ध समझा जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि यह साधारण अर्थ में तर्कानुमान नहीं है। डेकार्ट यह जानते हैं कि इसकी असन्दिग्धता विचारने की क्रिया से, अथवा कहें इसके विपरीत सोचने के प्रयत्न से, निष्पन्न होती है। डेकार्ट की प्रतिज्ञप्ति में "विचारता हूँ" का कार्य ऐसी विचार-क्रिया को लक्षित करना है जिसके द्वारा "मेरा अस्तित्व है" की स्वत: प्रमाणता अपने को व्यक्त करती है। हिंटिक्का के अनुसार, इनमें सम्बन्ध प्रक्रिया (प्रासेस) और निष्पत्ति (कन्क्लूजन) के जैसा होता है। मेरे अस्तित्व की असंदिग्धता मेरे विचार करने के परिणामस्वरूप उसी प्रकार प्राप्त होती है जिस प्रकार गीत-ध्वनि गाने से, अथवा, डेकार्ट के अपने रूपक के अनुसार, जिस प्रकार प्रकाश प्रकाश के स्रोत की उपस्थिति से उपलब्ध होता है।

इस प्रकार, डेकार्टीय प्रतिज्ञप्ति में 'इसलिए' द्वारा व्यक्त सम्बन्ध विचित्र प्रकार का है। यदि डेकार्ट कहते कि मेरा अस्तित्त्व इस बात में है कि "मैं विचारता हूँ" तो यह कम भ्रामक होता। वास्तव में डेकार्ट स्वयं कभी इसे निगमन और कभी प्रातिभ अथवा आंतर संज्ञानात्मक कहते हैं।

इसी प्रकार हम अब "जानता हूँ" के महत्त्व को भी समझ सकते हैं। यह पद उस क्रिया-सम्पादन (विचारना) को व्यक्त करता है जिसके द्वारा "मेरा अस्तित्व है" वाक्य अपने को प्रमाणित करता है। इस कारण इसका महत्त्व डेकार्ट-दर्शन में अद्वितीय है। इसे जिस किसी भी क्रिया पद द्वारा स्थानांतरित नहीं किया जा सकता। जिस निष्पादन के द्वारा अस्तित्वात्मक स्वत: प्रामाण्य अपने को व्यक्त करता है वह जो कोई भी मानव-क्रिया नहीं हो सकती, सब मानस्-क्रियाएँ भी इस पद की अधिकारी नहीं हो सकती। यह कार्य केवल अपने को यह विश्वास दिलाने के प्रयत्न से ही सिद्ध हो सकता है कि "मेरा अस्तित्व नहीं है।"

डेकार्ट की अन्तर्दृष्टि का निष्पादनात्मक रूप इसके सन्देह को एक वैशिष्ट्य दे देता है : यह सन्देहवादी का सन्देह नहीं है जिसमें कोई धारणा - विश्वास - सम्भव ही नहीं है, न इसका उद्देश्य हमारे चिन्तन की कुछ विशेष भ्रांतियों के स्रोतों को समाप्त करना है। यह हमारी सहज धारणाओं के विपरीत दिशा में सोचने का प्रयत्न है। इस प्रकार डेकार्ट का सन्देह वास्तव में सन्देह-विघातक है।

कुछ व्याख्याकारों ने "विचारता हूँ" को अन्त: प्रेक्षणमूलक तथ्यात्मक कथन के रूप में देखा है जो हिंटिक्का के अनुसार उसी प्रकार एकतरफा है जिस प्रकार इसे तर्कानुमान मानना एकतरफा है।

हिंटिक्का के अनुसार, डेकार्ट की प्रतिज्ञप्ति नितांत एकपरक- विचारकर्त्ता परक है। इसे किसी सामान्य वाक्य में निगमित नहीं किया जा सकता, न इससे कोई सामान्य या साधारणीकरणात्मक वाक्य निगमित किया जा सकता है। वास्तव में साधारण वाक्य "जो कोई भी विचार करता है उसका अस्तित्व है" में कुछ अस्तित्वमूलक पूर्वमान्यताएँ हैं जिन्हें प्रकाश में लाने पर यह एक पुनरूक्ति- वाक्य बनता है - "किसी भी वस्तुत: अस्तित्ववान् विचार करने वाले व्यक्ति का अस्तित्व है।" अथवा हम साधारण वाक्य के "कोई भी" को "सब विचार करने योग्य" का पर्याय मान सकते हैं। हिंटिक्का के अनुसार, यह प्रणाली अनुचित है, यदि यह उचित हो भी तो भी इससे हमें डेकार्टीय वाक्य का उपयुक्त

साधारणीकरण नहीं उपलब्ध हो सकता, क्योंकि तब हमारा साधारणीकरण यह रूप लेगा - "प्रत्येक विचारक्षम व्यक्ति का, जो कि विचार करता है, अस्तित्व है।" किन्तु यह असत्य है, क्योंकि तब शेक्सपीयर का डेन्मार्क का मननशील राजकुमार भी अस्तित्ववान होगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि डेकार्ट की अन्तर्दृष्टि का साधारणीकरण सम्भव नहीं है। यह उसके निष्पादनात्मक गुण के कारण है। डेकार्टीय प्रतिज्ञप्ति की निस्सन्दिग्धता विचार-क्रिया के कारण है जिसका निष्पादन प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं करना होता है।

डेकार्ट-दर्शन में "विचारता हूँ" की भूमिका पर विचार करते हुए हिंटिक्का कहते हैं कि डेकार्ट के अनुसार "मेरे अस्तित्व" की असंदिग्धता, इसके विचार-क्रियामूलक होने से, तभी तक उपलब्ध होती है जब तक विचार-क्रिया रहती है। इस प्रकार यह असंदिग्धता अस्थायी होती है। इस प्रकार यह असंदिग्धता अस्थायी होती है। इस प्रकार यह असंदिग्धता विचार के द्वारा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि विचार द्वारा प्राप्त साधारण प्रकार के बोध की निश्चितता एक बार प्राप्त होने पर निरन्तर बनी रह सकती है। इससे यह भी देखा जा सकता है कि क्यों डेकार्ट इस आत्म को विचार-क्रियास्वरूप मानते हैं। यही कारण है कि डेकार्ट ने आत्म को "रैस् कोजिटांस्" (विचारात्मक द्रव्य) कहकर परिभाषित किया है। डेकार्ट के शब्दों में, "जब मैं किसी क्षण विचार करने से रूकता हूँ तब .... मेरे पास यह विश्वास करने के लिए कोई आधार नहीं होता कि मेरा उस समय अस्तित्व था। ...... इससे मैं जानता हूँ कि मैं एक ऐसा द्रव्य हूँ जो पूर्णरूप से विचार-क्रिया स्वरूप है।" (डिस्कोर्स) इस प्रकार हिंटिक्का के अनुसार, "विचारता हूँ इसलिए हूँ" से सीधे "मैं विचार-क्रियास्वरूप हूँ" पर संक्रमण तब तक अव्याख्येय ही रहता है जब तक हम "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति को तार्किक सत्य के रूप में देखते हैं।

डेकार्ट के ऑगस्टाइन से भेद की चर्चा करते हुए हिंटिक्का कहते हैं कि ऑगस्टाइन ने "विचारता हूँ" को निष्पादनात्मक रूप में नहीं देखा, तर्कानुमान के रूप में ही देखा। इस कारण डेकार्ट के प्रतिपादनों में एक मूलत: नवीन तत्त्व विद्यमान है और परिणामत: डेकार्ट और ऑगस्टाइन के उन निष्कर्षों में भी मूलगामी अन्तर है जिन पर वे अपनी अन्तर्दृष्टियों के परिणामस्वरूप पहुँचे, उदाहरणत: ऑगस्टाइन ने अपने सिद्धान्त का प्रयोग उस स्थापना के अंग के रूप में किया जिसका उद्देश्य यह दिखाना था कि मानव-आत्मा के तीन पक्ष है : सत्त्व, ज्ञान और संकल्प (बींग, नॉलेज एंड विल) जबकि डेकार्ट के आत्म में अनुभूति और संकल्प के लिए कोई स्थान नहीं है। हिंटिक्का के अनुसार, डेकार्ट ऑगस्टाइन की अपेक्षा थॉमस एक्वीनास के अधिक निकट हैं, क्योंकि एक्वीनास के अनुसार "बुद्धि अपने को अपने धर्म के द्वारा नहीं जान कर क्रिया के द्वारा ही जान सकती है।" (सम्मा थियोलोजिया) यद्यपि डेकार्ट और एक्वीनास में भेद भी है, क्योंकि एक्वीनास के अनुसार विचारवान् सत्त्व को अपने क्रिया-सम्पादन के लिए अपने से भिन्न किसी विषय की अपेक्षा होती है, जबकि डेकार्ट इस अपेक्षा को स्वीकार नहीं करते। किन्तु हिंटिक्का के अनुसार, यह भिन्नता समता की अपेक्षा गौण है। वे डेकार्ट की एक्वीनास से इस समानता को केवल एक संयोग नहीं मानते।

जेम्स बी. विल्बर "विचारता हूँ" एक अस्पष्ट क्रिया

इस लेख में विल्बर ने डेकार्ट की प्रसिद्ध प्रतिज्ञप्ति की हिंटिक्का द्वारा की गई व्याख्या पर टिप्पणी की है। हिंटिक्का ने दिखाया है कि डेकार्ट में इस प्रतिज्ञप्ति की दो स्थापनाएँ मिलती हैं। (1) निगमनात्मक और (2) क्रियापरक, और हिंटिक्का के अनुसार वास्तव में द्वितीय स्थापना ही डेकार्ट को अभिप्रेत है और यही स्थापना उचित भी है। विल्बर हिंटिक्का की इस "अपूर्व सूझ" की प्रशंसा करते हैं, किन्तु उनके अनुसार वास्तव में कोजिटो (विचारता हूँ) के अपने स्वरूप में ही एक अन्तर्निहीत

अस्पष्टता है जो दोनों व्याख्याओं को धारण करती है। विल्बर के अनुसार, विचार-क्रिया सम्पादन को किस प्रकार विविक्त रूप से समझा जाय, इसका निर्धारण स्वयं विचार-क्रिया से नहीं हो सकता।

विल्बर के अनुसार, इस प्रसंग में डेकार्ट की बौद्धिक प्रातिभ (इंटलेक्चुअल इन्टयूशन) की अवधारणा को ध्यान में रखना उपयुक्त होगा। इस अवधारणा के अनुसार, विचारों की प्रत्येक शृंखला अन्ततः दो विचारों के सम्बन्ध पर आधारित होती है। एल.जे. बैक् के शब्दों में : प्रातिभ का विषय आपादक-आपाद्य के एक अव्यवहित और अनिवार्य सम्बन्ध में स्थित दो तत्त्व होते हैं, अर्थात् ''क्योंकि य इसलिए व'' प्रकार की इस प्रतिज्ञप्ति, जिसमें य अव्यवहित तथा अनिवार्य रूप से व को आपादित करता है। इस प्रकार, इस प्रतिज्ञप्ति का ''इसलिए''आपादन का वाचक है। स्वयं प्रतिज्ञप्ति उन तत्त्वों के बीच सम्बन्ध है जिनमें आपादनता है। यह आपादन उस समग्र तथ्य में निहित है जिसका मैं असंदिग्ध रूप से प्रातिभ द्वारा ग्रहण करता हूँ।

विल्बर के अनुसार, उपर्युक्त सन्दर्भ में देखने पर हम पाएंगे कि वास्तव में डेकार्ट ही कोजिटो की व्याख्या के सम्बन्ध में अस्पष्ट नहीं है और न यही बात है कि स्वयं कोजिटो विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से रचित होने के कारण अस्पष्ट है, बल्कि स्वयं वह क्रिया ही अस्पष्ट है जिसकी कोजिटो अभिव्यक्ति है। यह इस कारण अस्पष्ट है क्योंकि प्रातिभगत (इन्टयूटिव) आपादन अपने को दो भिन्न व्याख्याओं को प्रस्तुत करता है। इनमें एक व्याख्या विचार-क्रिया का मेरे अस्तित्व की असंदिग्ध अवगति की शर्त होना है, दूसरी कर्त्ता-क्रिया निदर्श है। इस परिप्रेक्ष्य से, विचार-क्रिया का होना मेरे अस्तित्त्व के लिए सम्भावना प्रस्तुत करता है, क्योंकि क्रिया के लिए कर्त्ता का होना आवश्यक है। इससे ठीक विपरीत स्थिति प्रक्रिया-परिणाम-निदर्श में होती है। इसमें क्रिया अथवा प्रक्रिया मौलिक होती है और वस्तु, कर्त्ता अथवा परिणाम आनुषंगिक। 'निष्पादन' वास्तव में इस अंतिम निदर्श को व्यंजित करता है। निष्पादन-निष्पादक को उत्पन्न करता है, किन्तु तब एक अर्थ में यह निष्पादक को पूर्वकल्पित भी करता है। इस प्रकार, उपर्युक्त के प्रकाश में यह कहना बहुत उपयोगी प्रतीत नहीं होता कि कोजिटो अनुमान है या निष्पादन है।

विल्बर के अनुसार, उपर्युक्त दो निदर्शों का एक पक्ष और है : कर्त्ता-क्रिया-निदर्श से वास्तवता-योग्यता (एक्चुअल-पोटेंश्यल) निदर्श मेरे ध्यान में आता है, अर्थात् विचार-क्रिया के घटित होने के लिए यह आवश्यक है कि मेरा विचार-योग्यतासम्पन्न के रूप में अस्तित्व हो। यह धर्म तथा अस्तित्व में, मेरी स्वरूपगत योग्यताओं तथा मेरी वास्तवता में, भेद को व्यक्त करता है।

इसके बाद विल्बर कोजिटो की उपर्युक्त दो प्रतिपत्तियों को पश्चिमी दर्शन की दो परम्पराओं के साथ मिलाते हैं। उनके अनुसार, इसकी क्रिया-संपादनात्मक व्याख्या अनुभववादी वैज्ञानिक परम्परा के अनुसार है जो भौतिक और जैविक प्रकृति को समझने के लिए क्रिया-परिणाम निदर्श का प्रयोग करती है और कर्त्ता-क्रिया निदर्श को ''धर्म अस्तित्व का पूर्वग है'' सिद्धान्त के अनुसार देखा जा सकता है तथा प्रक्रिया-परिणाम निदर्श को अस्तित्ववाद के ''अस्तित्व धर्म का पूर्वग है'' सिद्धान्त के अनुसार। डेकार्ट में ये दोनों विचार-परम्पराएँ विद्यमान हैं। हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि डेकार्ट के विश्लेषण में ये दोनों संयुक्त हैं। विल्बर के अनुसार, चेतन-क्रिया में यह अस्पष्टता स्वरूपगत है, क्योंकि मानव-व्यवहार तथा चेतना को दोनों निदर्शों के बिना नहीं समझा जा सकता। उदाहरणतः कर्त्ता-क्रिया निदर्श के बिना विषयापेक्षा (इंटेंशन) तथा क्रिया के भेद को नहीं समझा जा सकता और प्रक्रिया-परिणाम निदर्श के बिना अभ्यास और उसके द्वारा चरित्र-निर्धारण के तथ्य को नहीं समझा जा सकता।

डेकार्ट के ईश्वर के अस्तित्वविषयक प्रमाण

बर्न्ड मेग्नस

डेकार्ट के दर्शन में ईश्वर की सत्ता विषयक प्रमाणों का बहुत महत्त्व है, क्योंकि ये प्रमाण धार्मिक नहीं होकर दार्शनिक हैं। दूसरे, ये उसके दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन को सिद्ध करते हैं और वह प्रयोजन है सन्देह द्वारा निवारित संसार की पुन: प्रतिष्ठा। मेग्नस ने इस लेख में तर्क किया है कि डेकार्ट के ये प्रमाण पर्याप्त पुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार, सामान्यत: यह कहा जा जाता है कि डेकार्ट ने ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में तीन प्रकार के प्रमाण दिये हैं। प्रथम प्रमाण तृतीय मेडीटेशन में दिया गया है। यह प्रमाण, स्वयं डेकार्ट ही के साक्ष्य से, अनुभवमूलक है। पंचम मेडीटेशन में सर्वथा भिन्न प्रकार के प्रमाण दिये गये हैं। इस मेडीटेशन में ही डेकार्ट सत्तामीमांसीय युक्ति (ओंटोलोजीकल आर्ग्यूमेन्ट) प्रस्तुत करते हैं।

मेग्नस ने इस लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि पाचवीं मेडीटेशन में डेकार्ट ने तीसरे मेडीट्शन की युक्ति को ही आगे बढ़ाया है। दूसरे, डेकार्ट का ईश्वर की सत्ताविषयक प्रमाण विचार-क्रिया तथा अस्तित्व के अभेद पर और विचारों की अपूर्णता पर निर्भर करता है।

डेकार्ट के अनुसार, विचार-कर्त्ता में निहित सब प्रत्ययों का कोई कारण होता है जिसके ये कार्य होते हैं और इससे जुड़ा उसका यह सिद्धान्त है कि कारण में कम से कम उतना सत् का अंश होता है जितना कार्य में। अब, इससे वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि जबकि आगन्तुक और भ्रान्त प्रत्यय सीमित विचार-कर्त्ता के कार्य हो सकते हैं, ईश्वर का प्रत्यय इस प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रत्यय की अन्तर्वस्तु असीम और पूर्ण है और परिणामत: इसका कारण भी असीम और पूर्ण विषय ही होगा। सीमित द्रव्य केवल सीमित का ही प्रत्यय उत्पन्न कर सकता है, असीमित का नहीं। इस प्रकार असीमित का प्रत्यय असीमित द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है। इतना ही नहीं उसके अनुसार स्वयं मेरी अपूर्णता का बोध पूर्ण की विद्यमानता को सिद्ध करता है। इससे डेकार्ट का निष्कर्ष है कि स्वयं उसके अपने अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि पूर्ण का, ईश्वर का, अस्तित्व हो।

पांचवें मेडीटेशन में प्रस्तुत तर्क पिछले तर्कों से बहुत भिन्न प्रतीत होता है। उनके अनुसार, अस्तित्व ईश्वर का एक अनिवार्य धर्म है जो उसकी पूर्णता से आपादित होता है। त्रिकोण का अस्तित्व उसके प्रत्यय के लिए अनिवार्य नहीं है, किन्तु डेकार्ट के शब्दों "यह मेरी शक्ति में नहीं है कि मैं पूर्ण को अस्तित्व के बिना सोच सकूं।"

दूसरे मेडीटेशन में डेकार्ट ने प्राविधिक सन्देह के द्वारा सब कुछ का निरास कर देखा कि विचारकर्त्ता को निरास नहीं किया जा सकता। इस बात को सत्ता-मीमांसीय पदावली में कहें तो कहा जायगा कि कम से कम एक वस्तु का अस्तित्व है और यह वस्तु विचारात्मक द्रव्य है। डेकार्ट के इस बाद के विमर्श में यह खोजने का प्रयत्न है कि इस द्रव्य के अतिरिक्त और किस चीज का अस्तित्व हो सकता है। इस सन्दर्भ में ही डेकार्ट के विचारकर्त्ता द्रव्य की अन्तर्वस्तुओं की अवधारणा तथा यह स्थापना कि कारण का कार्य के लिए पर्याप्त होना अनिवार्य है, विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। विचार क्रिया (कोजिटो) सदोष और अपूर्ण हो सकती है और परिणामत: देश-कालात्मक विषय केवल भ्रम हो सकते हैं, अपूर्ण विचार-क्रिया अपर्याप्त प्रत्ययों का पर्याप्त कारण हो सकती है। इसी से पूर्णता का प्रत्यय विचारक द्रव्य में उत्पन्न नहीं हो सकता।

यहाँ यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि अपूर्ण विचारकर्त्ता और अस्तित्व का अभेद मान लेने पर और यह मान लेने पर कि पूर्णता का प्रत्यय मानसिक नहीं है, यह अनिवार्यत: आपादित होता है कि सत्ता के एक अन्य आयाम का भी अस्तित्व है। मेग्नस के अनुसार, यद्यपि यह सही है कि डेकार्ट ने अस्तित्व को पूर्ण का एक अनिवार्य विधेय कहा है, किन्तु तीसरे मेडीटेशन में विचारकर्त्ता में पूर्णता के प्रत्यय के होने

का आकलन करने के लिए एक अमानसिक द्रव्य लाया गया है। ईश्वर की सत्ता विषयक यह युक्ति वास्तव में विचारकर्त्ता को उसकी अपनी सीमा से मुक्त करने का प्रयत्न है। किन्तु पूर्णता का प्रत्यय वास्तव में विचारकर्त्ता को पूर्ण का अनुषंगी बना देता है : "यदि मुझे पूर्ण का प्रत्यय उपलब्ध नहीं हो तो मैं किस प्रकार जान सकता हूँ कि मैं सन्देह, इच्छा आदि करता हूँ कि मैं अपूर्ण हूँ,, क्योंकि मैं अपनी अपूर्णता को पूर्ण के साथ तुलना से ही जानता हूँ।"

उपर्युक्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पांचवे मेडीटेशन के सत्ता-मीमांसात्मक तर्क की आधारशिला तीसरे मेडीटेशन में ही रख दी गई थी। क्योंकि पूर्ण सत्त्व (पर्फेक्ट बींग) के अस्तित्व के बिना उसका प्रत्यय केवल मानसिक विकल्प होता और इस प्रकार अपूर्ण की कृति होता। इस प्रकार, मेग्नस के अनुसार, पांचवें मेडीटेशन में ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण तीसरे मेडीटेशन के अनुरूप है और यदि यह प्रतिपादन सही है तो यह प्रमाण इस कांटीय अभ्युक्ति (डिक्टम) का उल्लंघन नहीं करता है कि "अस्तित्व" एक विधेय नहीं है।

डेकार्ट के ईश्वर विषयक प्रतिपादन को प्रस्तुत कर देने के बाद मेग्नस उसकी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार पूर्ण की अपूर्ण पर आश्रितता का प्रत्यय या तो तार्किक अनुपपत्ति (रिडक्श्यो एड् एब्सर्डम) की ओर ले जाता है, अथवा इसके द्वारा कोजिटो से सीधे विस्तारवान् द्रव्य पर लाया जा सकता है। उसके लिए ईश्वर के माध्यम की आवश्यकता नहीं है।

डेकार्ट ने कोजिटो की अपूर्णता और अपुष्टता को पूर्णता को सिद्ध करने के लिए आधार बनाया। अब, यदि ईश्वर के विशेषण उसके अस्तित्व की सिद्धि के लिए पर्याप्त हैं तो वही बात विस्तारात्मक द्रव्य के लिए क्यों नहीं कही जा सकती ? मेग्नस की उपर्युक्त आपत्ति का आशय यह है कि यदि पूर्ण के सत्त्व के बिना पूर्णता का प्रत्यय नहीं हो सकता तो उसी प्रकार विस्तावान् सत्त्व के बिना विस्तार का प्रत्यय भी नहीं हो सकता। उसके अनुसार, जितना पूर्णता के प्रत्यय के लिए पूर्ण सत्त्व का अस्तित्व आवश्यक है उतना ही किसी भी प्रत्यय के लिए आवश्यक है कि उसकी अन्तर्वस्तु के अनुरूप सत्त्व भी हो।

डेकार्ट तथा चैतन्य का दैहीकरण

जेम्स एम.एडी

एडी के अनुसार, डेकार्ट के दार्शनिक के रूप में महत्त्व के सम्बन्ध में आधुनिक दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। एक ओर एयर के समान दार्शनिक हैं जो उसे दर्शन से अल्प परिचित मानते हैं और दूसरी ओर हुस्सर्ल आदि हैं जो उसे आधुनिक युग का प्रवर्त्तक दार्शनिक मानते हैं और अपने दर्शन को उसकी उद्भावनाओं से सम्बन्धित करते हैं।

एडी के मत में, यद्यपि डेकार्ट ईश्वर तथा आत्मा की अमरता को सिद्ध करना अपने दर्शन का प्रयोजन मानते हैं किन्तु वास्तव में उन्होंने आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। एडी के अनुसार वास्तव में मध्ययुगीन ईसाई दार्शनिक आत्मा की अमरता को तर्कत: सिद्ध नहीं कर पाए। अपने इस कथन के समर्थन में वे ऑगस्टीन, एन्स्लम और ओक्खाम आदि से उद्धरण देते हैं।

एडी के कथनानुसार, डेकार्ट इस परम्परा में अपने को इससे विच्छेद के लिए ही रखते हैं। डेकार्ट-दर्शन का मूल स्वर, उसकी गणितीय विधि के बावजूद, अनुभव को प्रतिष्ठा देना है। यद्यपि डेकार्ट प्रत्ययवादी थे और वे गणितीय निगमन-विधि को दर्शन के लिए भी आदर्श मानते थे, किन्तु उनके निगमन जिन प्रथम स्वयंसिद्धों से आरम्भ होते हैं वे "स्पष्ट तथा विविक्त प्रत्यय है" जो आन्तर प्रत्यक्ष (प्रातिभ-इन्ट्यूशन) से प्राप्त होते हैं। आंतर प्रत्यक्ष के आधार के बिना स्वयं निगमन उतने ही सन्देह-विषय और अतएव निरास्य हैं जितने गोचर विषय। इस प्रकार उनका सन्देह सब निर्णयों का आन्तर प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करता है।

यह भी सर्वविदित ही है कि डेकार्ट के सर्वग्रासी सन्देह से एक तो विचारवान् द्रव्य बचा और दूसरा विस्तारवान् द्रव्य। उसके दर्शन में दोनों द्रव्य परस्परानेक्षी हैं। परिणामत: डेकार्ट और उसके अनुयायिओं के लिए चेतना और संसार के बीच की खाई पाटना एक असाध्य समस्या बनी हुई है। किन्तु इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है कि डेकार्ट के अनुसार मानव-चेतना के लिए मन और भूत तथ्यत: संयुक्त हैं। चतुर्थ वर्ग की आपत्तियों का उत्तर देते हुए वे कहते हैं : "यद्यपि मन और शरीर के स्वरूप पर पृथक्-पृथक् विचार करते हुए हम इनमें कुछ भी सामान्य नहीं पाते किन्तु जैसाकि मैंने छठी मैडीटेशन में दिखाने का प्रयत्न किया है, इससे यह निष्कर्ष निकालना अयुक्त है कि मनुष्य केवल चैतन्य है और वह शरीर का उपयोग करता है, क्योंकि इसी मेडीटेशन में मैंने जहाँ यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ये दो सर्वथा भिन्न तत्त्व हैं वहीं यह भी दिखाया है कि मन शरीर से तथ्यत: संयुक्त है।" दूसरे शब्दों में, मन और शरीर प्रत्ययात्मक रूप से पूर्णत: स्वतन्त्र हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये एक-दूसरे से तथ्यत: भी स्वतंत्र हैं, अथवा हो सकते हैं।

डेकार्ट का सुव्यक्त तथा स्पष्ट प्रत्ययों का सिद्धान्त भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ऐसे प्रत्यय उनके लिए असंदिग्ध प्रमाण हैं। एडी प्रश्न करते हैं कि इस प्रामाण्य का क्या आधार है और इन प्रत्ययों की स्थिति कहाँ है ? और उत्तर देते हैं कि, चेतन अनुभव में, मन में। वह चैतन्य अनुभव सब सत्य का निस्सन्दिग्ध तथा आत्यन्तिक स्रोत तथा पर्याप्त हेतु है।

एडी के अनुसार, डेकार्ट की यह स्थापना उसे सम्पूर्ण प्राचीन दर्शन से अलग कर देती है और इस बात का उसे ज्ञान था। ग्रीक दर्शन में "आत्मा" (सोल) जीव का पर्याय है। यही धारणा हमें मध्ययुगीन दर्शन में भी मिलती है। डेकार्ट ने पहली बार आत्मा की इस अवधारणा को छोड़ा। उसका "मन" जीव या प्राण नहीं है, क्योंकि यदि मैं अपनी चेतना हूँ तो मैं अपना प्राण या शरीर-क्रिया नहीं हो सकता, क्योंकि मेरा प्राण या शरीर-क्रिया चेतना से सर्वथा स्वतंत्र क्रियाशील रहती है। डेकार्ट के लिए आत्मा विशुद्ध रूप से विचार-क्रिया है - व्यक्तिगत, चैतन्य अनुभव का यथार्थ। इस प्रकार डेकार्ट के स्वयं के कथन के बावजूद, चैतन्य द्रव्य की बात उसके दर्शन के प्रतिकूल है। हुस्सर्ल के अनुसार, डेकार्ट ने दूसरे मेडीटेशन में "अतिक्रामी विषयिता" का, अर्थात् ऐसे शुद्ध तथा निरपेक्ष अनुभव क्षेत्र का, जिसमें कि सत्त्व (बींग) चेतना को अपने विषय के रूप में प्रदत्त होता है, प्रतिपादन किया है।

निष्कर्ष यह कि, डेकार्ट के अनुसार चेतना का शरीर-धारण चेतना का अनिवार्य तथा प्रामाणिक अनुभव है और इसलिए एक मात्र प्रमाण आत्मा का अपना आंतर अनुभव है। हेनरी गौहीर के शब्दों में, "यह कहना ठीक नहीं है कि डेकार्ट ने आत्मा को एक ओर रखा और शरीर को दूसरी ओर, बल्कि उसके लिए एक ओर शरीर चेतना से युक्त मन है और दूसरी ओर शरीर का वह सत् है जो अपने सम्बन्ध में अवगति का अतिक्रमण करता है। यह पार्थक्य वास्तव में केवल उस व्यापकतर पार्थक्य का अंग है जो भौतिक विश्व के अनुभव से संयुक्त आत्म के तथा मेरे अनुभव का अतिक्रमण करने वाले भौतिक विश्व के बीच है।

किन्तु डेकार्ट में अनुभव-कर्त्ता विषयी और अनुभव (संवेद, कल्पना, अनुभूति, इच्छा आदि) में कोई अन्तर नहीं है। यह भेद हुस्सर्ल ने किया और चेतना के विषयापेक्षा-सिद्धान्त के रूप में मन और विश्व के दो ध्रुवों को विश्लिष्ट किया। दूसरे शब्दों में, डेकार्ट में जबकि आत्म आत्मवस्थित है और आत्म का आन्तरबोध विश्व के ज्ञान का आधार है, हुस्सर्ल और सार्त्र में चैतन्य अथवा आत्म विश्व के माध्यम से अपने को प्राप्त करता है। किन्तु तब भी, "आइडियाज" में ऐसे बहुत से स्थल हैं जिनमें हुस्सर्ल के विषयापेक्षी चैतन्य के विवेचन में डेकार्ट का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। हुस्सर्ल चैतन्य-क्रिया (कांश्यस एक्ट) को प्रकृति से पृथक् क्षेत्र के रूप में स्थापित करते हैं। किन्तु वे इस बात में डेकार्ट

से आगे जाते हैं कि वे प्रकृति को चैतन्य-सापेक्ष, तन्निर्भर और आगन्तुक रूप में देखते हैं जबकि चैतन्य पुर्णातिक्रामी (ट्रांसेडेंट), प्राकृतिक सत्ताओं की दृष्टि से निरपेक्ष और अनिवार्य है और इन सत्ताओं का अपनी आन्तरप्रज्ञा में सृजन करता है।

हुस्सर्ल विषय-जगत् (फिनोमिना) की फिनोमिनलोजिकीय अवधारणा द्वारा डेकार्ट से इस बात में आगे गये कि वे विशुद्ध चैतन्य के अतिक्रमी क्षेत्र के अन्तर्गत विषय की रक्षा कर सके। यह उन्होंने विषय में सत्तामीमांसीय विश्वास के स्थगन द्वारा किया। किन्तु सत् का अनुभूत सत् में अन्तर्भाव करने पर स्वलक्षण सद्-विश्व की समस्या रह ही जाती है। सार्त्र इस समस्या को बींग एण्ड नथिंगनेस में इस प्रकार उठाते हैं : "सत्त्व तथा चैतन्य के बीच, जोकि अन्यथा परस्पर पूर्णत: स्वतन्त्र क्षेत्र है, द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध क्या है ?" इस समस्या का हुस्सर्ल द्वारा प्रस्तुत समाधान यह है कि चेतना के विश्वोन्मुख होने के दो रूप हैं (1) शरीर में अवतरण द्वारा और (2) इन्द्रिय-गोचरता (पर्सेप्शन) द्वारा, और डेकार्टीय परम्परा का अनुसरण करते हुए वे मानते हैं कि प्रथम दूसरे पर निर्भर है। हुस्सर्ल यह कहीं स्पष्ट नहीं करते कि शरीर चैतन्य में रचित अन्य भौतिक विषयों के समान है, यद्यपि वे इसके विपरीत भी नहीं कहते। हुस्सर्ल के इस मौन में निहित दो दिशाओं में से एक को आगे सार्त्र ने ग्रहण किया और दूसरी को मार्ल्यू पोंती ने।

एडी के अनुसार सार्त्र की चेतना निरतिशय अपवारणात्मक है। वह न केवल गोचर विषयों का ही अपने से अपवारण करती है बल्कि अपने शरीर को, यहाँ तक कि मानसिक प्रक्रियाओं तक को, अपवारित कर देती है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या इस प्रकार के निरपेक्ष चैतन्य को आत्म कहना उपयुक्त है ? हुस्सर्ल डेकार्टीय परम्परा के अनुसार इसका उत्तर स्वीकार में देते हैं और सार्त्र निषेध में। सार्त्र चेतना का एक निरात्मवादी सिद्धान्त देते हैं जोकि चेतना के विषयापेक्षिता के सिद्धान्त का ही आत्यन्तिक फलन है : विषयापेक्षी चैतन्य आत्म का भी विषयरूप में ही आक्षेप कर सकता है और इस प्रकार विषयों में पूर्णत: निश्शेष होकर स्वयं एक रिक्तता मात्र के रूप में बचा रहता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सार्त्र अपनी फिनोमिनलोजिकीय सत्तामीमांसा में उन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जिनके लिए डेकार्ट और हुस्सर्ल टटोल रहे थे। सार्त्र डेकार्ट की अपेक्षा बहुत स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करते हैं कि चैतन्य अपने शरीर को विषयापेक्षा द्वारा विषय रूप में प्रतिष्ठित करता है जोकि विशुद्धत: निर्देशात्मक अर्थ में (डिनोटेटिबली) "अपना" है क्योंकि आत्म स्वयं विषय होने से इसका स्वामी नहीं हो सकता।

सार्त्र का मत हुस्सर्ल के सिद्धान्त के आपादनों (इम्प्लीकेशन्स्) का ही स्फुट रूप होने पर भी हुस्सर्ल ने इन अतिवादों का प्रतिपादन नहीं किया। हुस्सर्ल न केवल चेतना के "आत्म पक्ष" को अनुभव-वैविध्य का व्यवस्थापक ही मानते हैं बल्कि वे आत्म को अद्वितीय और व्यक्तिलक्षण भी मानते हैं। कार्टेशियन मेडीटेशन्स् में हुस्सर्ल ने आइडियाज् की अपेक्षा कहीं अधिक आत्म के शरीराधिष्ठान की समस्या पर ध्यान दिया है। उनके अनुसार, संसार में कम से कम एक ऐसा विषय है जो वास्तव और गोचर है किन्तु जो तब भी मात्र भौतिक विषय नहीं है। यह मेरा सप्राण शरीर है। "अपना शरीर" होने का यह अनुभव चेतना के लिए अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र में विलक्षण है। इस प्रकार हुस्सर्ल के लिए चैतन्य आन्तरशून्य नहीं है बल्कि "जीवन", "काल" तथा "स्थान" से आपूरित है। किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि आत्म के भीतर संरचनाओं की विद्यमानता आपादित करती है कि आत्म शुद्ध अनुभव के अतिक्रामी क्षेत्र में अपने को विषय रूप में पाये और इसके लिए हुस्सर्ल अनुभव के आदिम स्तर और तदोत्तरवर्त्ती स्तरों में भेद करते हैं। प्रथम स्तर पर आत्म शुद्ध विषयीरूप होता है और उत्तरवर्ती स्तरों पर यह अपने को अपने विषय के रूप में संरचित करता है।

अब हमारे लिए अन्तिम प्रश्न है कि हुस्सर्ल कहाँ तक उससे आगे गये हैं जहाँ उन्होंने डेकार्ट को पाया ? इसका सम्यक् और संक्षिप्त उत्तर होगा कि वे इससे मौलिक रूप से आगे नहीं बढ़े हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि डेकार्ट या हुस्सर्ल को द्वैतवादी शिविर में रखा जाय, जिसमें कि सार्त्र निश्चित रूप से हैं। किन्तु उनका दर्शन एक कठिन प्रश्न प्रस्तुत करता है, कि क्या कोई दर्शन, जो अनुभव में एक मूलगामी अन्तर्भाव को लक्ष्य कर चलता है, अपनी सीमाओं में रहते हुए चेतना के शरीराधिष्ठान की समस्या का समाधान कर सकता है ?

एक ओर हम चेतना को संसार में सर्वत: व्यस्त देखते हैं - ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों, संवेदनाओं और आवेगों के रूप में, और विचारों को ध्वनियों अथवा लिपि-चिन्हों के माध्यम से व्यक्त करने की अनिवार्य बाध्यता के रूप में, आदि। पोंती ने इस समस्या को इस दृष्टिकोण से ही देखा है। दूसरी ओर हुस्सर्ल, एडिथ स्टीन और सार्त्र आदि हैं जो देखते हैं कि अनुभव का अपना एक विशिष्ट क्षेत्र है जिसकी अपनी संरचनाएँ, अपने नियम तथा अपना सत् है। इससे स्पष्ट है कि यदि फिनोमिनलोजी का पूर्ण आलोड़न किया जाए तो द्वैतवाद का पलड़ा अद्वैतवाद की तुलना में अधिक भारी रहेगा।

पुरूष तथा उसका शरीर

पीटर.प.बर्टोकी

बर्टोकी के अनुसार, डेकार्ट सन्देहवादी नहीं थे, वे केवल विज्ञान तथा दर्शन के लिए ऐसे आधारों की खोज करना चाहते थे जो आत्यन्तिक रूप से निस्सन्दिग्ध हों। इसी अनुसन्धान के प्रसंग में उन्होनें पाया कि उनका स्वरूप शुद्ध रूप से विचारात्मक है और यह तथ्य निस्सन्दिग्ध है। इससे यह भी आपादित होता है कि शरीर आत्म से बाह्य और अतएव संदिग्ध है। किन्तु तब भी वे ''पूर्ण मनुष्य'' में मन और शरीर को संयुक्त मानते हैं, जोकि दो पृथक् द्रव्यों के रूप में परस्पर संयुक्त हैं। यद्यपि मनोवैज्ञानिक रूप से यह अकल्पनीय लगता है कि मन और शरीर परस्पर वियुक्त हों और मैं अशरीरी होऊँ किन्तु डेकार्ट की प्राविधिकता का प्रयोजन ही प्रामाण्य को मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में निकाल कर शुद्ध तार्किक सन्दर्भ में प्रतिष्ठित करना था।

बर्टोकी के अनुसार, जो ठोस तथ्य डेकार्ट को मन और शरीर को पृथक् करने की ओर प्रेरित करता है वह यह है कि ''शरीर की अवधारणा में कुछ ऐसा नहीं है जो मानसिक हो और न मन की अवधारणा में ही कोई ऐसा घटक है जो शरीरात्मक हो।''

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट द्रव्य का अव्यवहित ज्ञान सम्भव नहीं मानते थे। उनके अनुसार द्रव्य वह है जिसमें गुण अध्यस्त रहते हैं। इस प्रकार बर्टोकी के अनुसार, ''पूर्ण मनुष्य'' से उनका अर्थ होगा ऐसा द्रव्यात्मक सायुज्य जिसमें मन और शरीर, जो स्वयं भी पूर्ण द्रव्य हैं, अध्यस्त होते हैं। डेकार्ट की ''पूर्ण मनुष्य'' की अवधारणा में इन दो द्रव्यों के सायुज्य की अनिवार्यता उनकी ''पैश्यन'' की अवधारणा से देखी जा सकती है। पैश्यन (वासना) का स्रोत हमारी अन्तरात्मा नहीं है, जिस प्रकार इच्छाओं, संकल्पों आदि का है। यद्यपि आत्मा को वासनाओं के अवगमन में भ्रम नहीं हो सकता, क्योंकि ये उसके इतने निकट और आन्तरिक हैं कि उनका उनके स्वरूप से भिन्न रूप में ग्रहण असम्भव है। किन्तु तब भी उन्हें स्पष्ट संज्ञान (कोग्नीशंस) भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे मन और शरीर की अन्योन्यक्रिया के परिणाम हैं।

मार्सल, पोंती तथा रिक्यूर की प्रतिक्रिया

मन-शरीर की अन्योन्यक्रिया की एक दुर्निवार समस्या यह है कि दो सर्वथा विदेशी द्रव्य एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना किस प्रकार एक-दूसरे पर क्रिया कर सकते हैं ? मन और भूत द्रव्यों में कोई भी सामान्य धर्म नहीं है, तब वे किस प्रकार परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर सकते हैं ?

इस डेकार्टीय द्वैतवाद का अस्तित्वादियों-फिनोमिनलोजीवादियों ने विरोध किया और एक क्रियात्मक-अस्तित्वात्मक द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। गेब्रिअल मार्सल के शब्दों में ...... "यह शरीर क्या है, जिसका मैं एक-साथ स्वामी और दास हूँ ? क्या मैं मूर्ख हुये बिना इसे उस विशाल विदेशी साम्राज्य को समर्पित कर सकता हूँ जो मेरे ग्रहण का, अवगमन का, अतिक्रमण करता है ? किन्तु न मैं इसका विषयिगत क्षेत्र में ही समावेश कर सकता हूँ, जिसमें कि मेरी इच्छा सर्वशक्तिमान है और इस क्षेत्र की किसी भी वस्तु का निरोध कर सकती है। यह कहना कि मैं अपने शारीरिक परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी हूँ, उतना ही सत्य लगता है जितना इसका निषेध करना : मुझे ये दोनों कथन समान रूप से सत्य लगते हैं और दोनों समान रूप से उपहासास्पद लगते हैं।" (बींग एण्ड हेविंग)

बर्टोकी डेकार्टीय द्वैतवाद की आगे व्याख्या करते हुए कहते हैं कि, डेकार्ट के कोजिटो की सीमितता और अपूर्णता अनात्म की मनोवैज्ञानिक और तार्किक दोनों प्रकार की प्रामाणिकता को सन्दिग्ध बना देती है। इसके लिए ईश्वर की श्रेयोमयता का आश्रय लेना आवश्यक था जिससे मन के लिए संसार विदेशी होते हुए भी विरोधी और उससे असंवादी नहीं हो।

बर्टोकी के अनुसार, जब मनुष्य के ज्ञानात्मक प्रयत्नों को जीवन में एक निर्णायक महत्त्व नहीं दिया जाता तब भी इस विश्वास के लिए आधार पाने की समस्या रह ही जाती है कि मनुष्य की इच्छाएँ और आशाएँ उस विश्व के साथ समरस हैं जिसमें कि ये अपने को पाती है। इस समस्या के डेकार्टीय-कांटीय समाधान के प्रति अस्तित्ववादी-फिनोमिनलोजीवादी प्रतिक्रिया यह है कि इससे निकलने का एकमात्र उपाय इसमें नहीं पड़ना है।

इसके पश्चात् बर्टोकी मार्सल से कुछ उद्धरण देकर उसके विचार का निष्कर्ष देते है : विषयों के रूप में मुझे यह आश्वासन है कि मैं अपना शरीर हूँ (शरीर-युक्त आत्मा नहीं)। मेरा शरीर एक उपकरण नहीं है जिसके द्वारा मैं बाह्य विषय के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता हूँ। अब, यदि "मैं मेरा शरीर हूँ" प्रतिज्ञप्ति डेकार्ट के कोजिटो का रूप सर्वथा बदल देती है तो यह "शरीर" का अर्थ भी सर्वथा बदल देती है। यदि "मेरे शरीर" का अन्तर्भाव "देशात्मक वस्तु" में किया जा सके जो निश्शेष रूप से विषयनिष्ठ विज्ञान द्वारा परिभाष्य है, तो इस कथन को क्या अर्थ दिया जा सकता है कि "मैं मेरा शरीर हूँ ?" (इसको अर्थ देने के लिए शरीर का अविषयकरण आवश्यक है जिससे यह विज्ञान के उन अध्ययनों के लिए अगम्य हो सके जो वह देशात्मक विषयों के सम्बन्ध में कर सकता है।) मार्सल संसार के साथ मेरे सम्बन्ध को "शरीराधिष्ठान" के द्वारा परिभाषित करते हैं। किन्तु इसका आशय पूर्णत: स्पष्ट नहीं है। डेकार्ट प्रश्न कर सकते हैं कि क्या शरीराधिष्ठान देशात्मक नहीं है, जिस प्रकार अशा, प्रेम, विश्वास आदि नहीं हैं ? यदि हैं तो "शरीराधिष्ठान" "संयुक्तता" से अधिक क्या हो सकता है ? मार्सल का उत्तर होगा कि संसार में सहभाग लेने के रहस्य के सन्दर्भ में शरीराधिष्ठान मनुष्य की एक ठोस मूलितता है। दूसरे शब्दों में, डेकार्टीय विश्लेषण सहभाग लेने के तथ्य का आकलन नहीं करता।

डेकार्ट ने राजकुमारी ऐलिजाबेथ के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा था कि मन और शरीर की अन्योन्य क्रिया को दो भौतिक वस्तुओं की अन्योन्य क्रिया के समान नहीं देखना चाहिए। किन्तु वे एक नई दिशा में अग्रसर होने के बजाय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मन-शरीर के द्वैत और सायुज्य का एक-साथ विविक्त ग्रहण नहीं किया जा सकता,क्योंकि इसके लिए एक-साथ मन-शरीर को दो और एक कल्पित करना आवश्यक है। किन्तु डेकार्ट यह भी कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने में इस सायुज्य का अनुभव करता है, वह अपने को एक व्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है जो मन और शरीर दोनों से युक्त है। संक्षेप में, डेकार्ट मार्सल से कहेंगे कि जब तक आप यह नहीं दिखा देते कि मन और शरीर भिन्न-भिन्न

प्रकार की सत्ताएँ नहीं हैं तबतक आप मेरी समस्या से बच नहीं सकते। मैं आपकी रहस्यमय उपस्थिति की बात वहाँ तक समझ सकता हूँ जहाँ तक वह मनोवैज्ञानिक प्रामाण्य के स्तर तक रहती है। किन्तु इससे दार्शनिक स्तर पर समाधान नहीं होता। तुम भी अन्तत: स्वामी-दास सम्बन्ध के रूप में इस समस्या को पुन: ले आते हो।

पोंती अपने अन्वेषण का आधार ''प्रत्यक्षीकरण'' (पर्सेप्शन) को बनाते हैं। उनके अनुसार, ''प्रत्यक्षकर्त्ता मन एक शरीराधिष्ठित (इन्कार्नेटेड) मन है। सर्वप्रथम मैंने मन की जड़ें शरीर और उसके संसार में पुन: रोपित करने का प्रयत्न किया और इस प्रकार प्रत्यक्ष के उन सिद्धान्तों का निराकरण किया जिनमें प्रत्यक्ष को हमारे शरीर पर बाह्य वस्तुओं के प्रभाव का परिणाम माना गया है अथवा जिनमें चेतना की स्वायत्तता का प्रतिपादन किया गया है। (अथवा कहें) जो वस्तुकल्प शरीर पर शुद्ध, मनानात्मक चेतना का अध्यारोपण करते हैं।'' (पर्सेप्शन, पृ.314) पोंती के अनुसार, शरीर संसार में एक विषय नहीं है बल्कि यह एक स्थान है जिस पर आत्मा एक भौतिक तथा आध्यात्मिक स्थिति ग्रहण करती है। बाह्य देश का हम शारीरिक अवस्थिति के द्वारा ग्रहण करते हैं और उसका उपकरण के समान उपयोग करते हैं। शरीर हमारे लिए उपकरण अथवा साधन से बहुत अधिक है, यह विश्व में हमारी अभिव्यक्ति है, हमारी विषयापेक्षाओं का गोचर रूप है।'' (पर्सेप्शन पृ. 5)।

पोंती के मत को प्रस्तुत करने के पश्चात् बर्टोकी इस पर टिप्पणी के रूप में कहते हैं कि डेकार्ट यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि शरीर सप्राण है और यह प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया को प्रमाणित करता है, किन्तु वे विचार और विस्तार के मौलिक भेद को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

बर्टोकी के अनुसार, यदि हम यह मान भी लें कि शरीर का भौतिक अथवा जैविक विज्ञान की पदावली में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, और न इसे आत्म और विश्व के बीच मात्र सेतु माना जा सकता है, तब भी यह स्पष्ट है कि उनका अपना एक विशिष्ट सत्त्व है जो हमारे स्वरूप को एक-साथ व्यक्त और निरूद्ध करता है।

इसके पश्चात् बर्टोकी पॉल रिक्यूर का मत प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार, पॉल रिक्यूर ने 'फ्रीडम एण्ड नेचर' में दिखाने का प्रयत्न किया है कि एक वास्तव मानव स्थिति में स्वैच्छिक और अस्वैच्छिक (बालंट्री एण्ड इन्वालंट्री) में एक पारस्परिकता रहती है। मूलत: हम अपने को संकल्पकर्त्ता (इच्छावान्) के रूप में पाते हैं। आवश्यकता, आवेग और आदत जैसी मानसिक-क्रियाएँ अपने आप में अवगम्य नहीं हैं, केवल स्वैच्छिक और अस्वैच्छिक का सम्बन्ध ही गम्य है। परिणामत: वे ऐसे आधार की खोज करते हैं जिस पर स्वैच्छिक संरचनाओं के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सके और इस प्रकार डेकार्टीय द्वैतवाद का अतिक्रमण किया जा सके। उनके अनुसार, ''कोजिटो के अनुभव को उसकी समग्रता में लेते हुए, उसमें '' मैं चाहता हूँ'', ''मैं समर्थ हूँ'', ''मेरा विचार है'' आदि का, और इस प्रकार शरीर के रूप में मेरे अस्तित्व का, समावेश है।'' रिक्यूर डेकार्ट से भिन्न यह मानते हैं कि कोजिटो का प्रातिभ-ग्रहण (इन्ट्यूशन) शरीर की प्रातिभ-ग्रहण क्रिया है जो इच्छा क्रियाओं से संयुक्त है। यह इच्छा इससे नियन्त्रित और इसकी नियामक दोनों है। रिक्यूर के अनुसार, ''मेरा शरीर न तो विषय के समान अपेक्षा द्वारा रचित है और न अतिक्रामी विषयी के समान रचनात्मक है। यह इन विरोधी युगलों में नहीं समाता। यह अस्तित्ववाद है।''

डेकार्ट के द्वैतवाद के प्रति इस फिनोमिनलोजीवादी-अस्तित्ववादी प्रतिक्रिया पर टिप्पणी करते हुए बर्टोकी कहते हैं कि द्वैतवाद न केवल गंभीर दार्शनिक समस्याओं को ही उत्पन्न करता है बल्कि ''अव्यवहित प्रस्तुति के रहस्य'' के अनुभव का भी तिरस्कार करता है। किन्तु इसका

समाधान यह नहीं है कि उन भेदों की, उस मौलिक अन्तर की, उपेक्षा की जाय जोकि उतना ही प्रस्तुत है, बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि इन भेदों से गहनतर स्तर पर इनका एकत्व खोजा जाय तो इन भेदों का भी आकलन करे।

X X X X X X X X X

ऊपर प्रस्तुत लेखों में डेकार्ट-दर्शन की दो ज्ञानमीमांसात्मक प्रतिपत्तियों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार हुआ है। ये दो प्रतिपत्तियाँ आत्मज्ञान और विषयज्ञान से सम्बन्धित हैं। इनमें उनके ईश्वर-विषयक विमर्श को भी इसी प्रसंग में देखा गया है। इन प्रतिपत्तियों पर डेकार्ट का विमर्श न केवल युगप्रवर्त्तक ही सिद्ध हुआ बल्कि उनके द्वारा उठाए गए प्रश्न आज भी उतने ही विचारोत्तेजक बने हुए हैं जितने ये उनके समय में थे। इससे इन प्रश्नों के अर्थ-वैभव की विपुलता का सही अनुमान किया जा सकता है। हीन्रिख श्खोल के शब्दों में, "न केवल इन प्रतिपत्तियों से सम्बन्धित अधिकांश प्रश्न अभी सुलझाए ही नहीं गए हैं, बल्कि अनेक प्रश्न उठाए भी नहीं गये हैं।" यहाँ हम संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में इन पर एक और दृष्टिपात करेंगे।

डेकार्ट ने प्राविधिक सन्देह द्वारा ज्ञान और प्रकृति के बीच स्थायी विच्छेद घटित कर दिया और और मनुष्य को उसकी ज्ञान-वृत्ति से, विषयिता से, परिभाषित किया। इस कोजिटो के लिए शरीर ही प्रकृति का भाग नहीं है, अनुभूतियाँ और वेदनाएँ तक इससे बाह्य हैं। किन्तु ये प्रकृति हैं, यह कहना भी कठिन है। डेकार्ट ने "पूर्ण मनुष्य" में मन और शरीर दोनों को संयुक्त माना अवश्य है, किन्तु प्रश्न है कि वेदनाएँ आदि मानसिक हैं या प्राकृतिक ? इस दृष्टि से भारतीय दर्शन अधिक स्पष्ट और मूलगामी है। डेकार्ट स्पष्टत: इन्हें (अनुभूतियों आदि को) कोजिटो के अन्तर्गत नहीं मानते, किन्तु उनके अनुसार प्रकृति का धर्म विस्तार होने से, इन्हें प्रकृति के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता। उनके वासना (पैश्यन) और कल्पना (इमेजीनेशन) विषयक विमर्श एक प्रकार से मन और शरीर के बीच सान्निध्य प्रतिपादित करते हैं और इस प्रकार शरीर को प्रकृति में विशिष्टता देते हैं, "अब तक उनकी मान्यता रही थी कि आत्म का शरीर के साथ वैसा बाह्य सम्बन्ध नहीं होता जैसा मल्लाह का नौका के साथ अथवा कारीगर का उपकरणों के साथ होता है। अब उन अनुभवों का आकलन करने पर, जिनकी और उन्होंने पहले ध्यान नहीं दिया था - जैसे प्रकाश, गर्मी, ध्वनि आदि के संवेदों की ओर तथा अनुभूतियों और वासनाओं की ओर, उनके पास अपनी पिछली बहुत-सी मान्यताओं को सन्देह की दृष्टि से देखने के अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नहीं रहा। यदि इन इन्द्रियानुभवों का न अकेले शरीर की अवधारणा के अन्तर्गत आकलन किया जा सकता है और न अकेले मस्तिष्क की अवधारणा के अन्तर्गत, और यदि घटना सामंजस्यवादी (ओकेजनलिस्टिक) व्याख्या को उचित व्याख्या नहीं माना जाती, तो एकमात्र विकल्प यह बच रहता है कि इन्हें मन और शरीर की संयुक्त क्रिया का व्यापार माना जाय। परिणामत: यह मानना आवश्यक हो जाता है, जैसाकि डेकार्ट ने फादर गिब्यूफ को लिखे अपने एक पत्र में स्वीकार किया, कि भूत द्रव्य और मन-द्रव्य में अनेक ऐसे गुण हैं जिनके बारे में हम कुछ नहीं जानते हैं।"[3]

उनका यह विमर्श उनकी मनुष्य के संसार के बीच होने के तथ्य के आकलन विषबक चिन्ता का द्योतक है। वास्तव में उनके दर्शन की मूल प्रेरणा भौतिक विज्ञान के निस्सन्दिग्ध आधारों की खोज थी, इसलिए वे सन्देह के द्वारा प्रकृति से निवर्त्तन और कोजिटो में आत्म के साथ यौगपद्य घटित करके भी इसे केवल एक निस्सन्दिग्ध ज्ञान की समस्या के रूप में देखते हैं और इसके बाद प्रकृति की ओर पुन: लौटने पर वे इसे शुद्ध विस्तार के स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय में पाते हैं।

किन्तु ये समाधान कुछ प्रश्नों को अनुत्तरित ही छोड़ देते हैं : विचार-क्रिया द्वारा आत्म अपने अस्तित्व का सहज और निस्सन्दिग्ध भावन करता है, किन्तु क्या आत्म का समग्र सत्त्व (होल बींग)

विचारक्रिया का घटित होना ही है या कुछ और भी है ? यदि उसका सत्त्व यही है तब उसकी अपूर्णता का अर्थ केवल इस विचार की अन्तर्वस्तु की अपूर्णता ही होगी। किन्तु घटना-सत्त्व आत्म की अन्तर्वस्तु का क्या अर्थ है ? क्योंकि इसके लिए कोई भी अन्तर्वस्तु तद्‌बाह्य ही होगी। दूसरे, इसके लिए इच्छाओं, वासनाओं, संकल्पों आदि का क्या स्थान होगा ?

डेकार्ट में मुख्य कठिनाई यह है कि जबकि चैतन्य विचारधर्मी है और यह विचारधर्मी चैतन्य सन्देह द्वारा आत्मोन्मुख होकर आत्म-स्थित होता है, इसके आंतर निवर्त्तन का प्रयोजन आत्मस्थिति नहीं होकर भौतिक विश्व के ज्ञान के लिए निश्चित आधार खोजना है। किन्तु सन्देह द्वारा निरस्त भौतिक विश्व की पुन: स्थापना उनकी योजना में सम्भव नहीं है, इस स्थापना के लिए उन्हें घटना-संवादिता की और ईश्वर की कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ता है। अस्तित्ववाद और फिनोमिनलोजीवाद ने इस समस्या का समाधान चैतन्य को विषयधर्मी मानकर किया। उनके अनुसार चैतन्य स्वरूपत: विषयापेक्षी है। इस अभ्युपगम द्वारा वे इनके बीच सम्बन्ध की समस्या से बच सके। किन्तु, तब आत्म का स्वरूप क्या होगा ? सार्त्र के लिए आत्म का कोई सत्त्व नहीं है, उनके अनुसार चैतन्य निरात्मक और अन्त:सारशून्य है। किन्तु तब भी इस दर्शन के लिए मानव-स्वातन्त्र्य एक समस्या होगी। इसका समाधान सार्त्र चैतन्य की नि: स्वभाव और निषेधात्मकता के अभ्युपगमों द्वारा करते हैं। उनका चैतन्य अपनी विषयापेक्षा को प्रकृति के निषेध (निहिलेशन) द्वारा चरितार्थ करता है। इस प्रकार उसकी विषयापेक्षा सृजनात्मक है। इसके विपरीत हुस्सर्ल का चैतन्य विषयापेक्षी होने पर भी नि:स्वभाव और अन्त:सारशून्य नहीं है, यह आंतरवृत्ति में आत्म द्वारा आपूरित है। किन्तु यह आत्म डेकार्ट के समान आत्मस्थ नहीं है बल्कि यह आंतरवृत्ति में अपने को प्रस्तुत रूप में ही पाता है। यह स्वरूपत: अपेक्षी है, किन्तु मात्र अपेक्षीतभाव इसे सार्त्र के समान अन्त:सारशून्य बना देता। हुस्सर्ल का अपेक्षीतभाव अन्तरोन्मुख हो सकता है और इस अन्तरोन्मुखता में अपने को अपेक्षित के रूप में ग्रहण करता है।

यहाँ यह संकेत करना स्थाने होगा कि डेकार्ट और अनुगामी दर्शन का प्रयोजन विश्वोपलब्धि है और इस प्रकार यह दर्शन यूरोपीय संस्कृति की मूल प्रवृत्ति के अनुरूप ही है। इस परिप्रेक्ष्य में सांख्यीय द्वैतवाद और बौद्ध शून्यता एवं नि:स्वभावता पर विचार करना तुलनात्मक दर्शन की दृष्टि से विचार को आगे बढ़ाने के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

***

2

डेविड ह्यूम का दर्शन*

वी.के. भारद्वाज
एस. भारद्वाज

इस लेख का आधार डेविड ह्यूम के दर्शन विषयक बी.सी.चैप्पेल द्वारा सम्पादित समीक्षात्मक निबन्धों का एक संग्रह है।[1] इस पुस्तक में प्रो. चैप्पेल ने पाँच पृष्ठों का प्राक्कथन लिखा है। इसमें उन्होंने ह्यूम के दर्शन में समकालीन अभिरूचि के दो मुख्य हेतु बताये हैं। उन्होंने बताया है कि ह्यूम के जीवन तथा दार्शनिक विचारों से जितने सुपरिचित हम आज हैं उतने सुपरिचित हम पहले कभी भी नहीं थे। इसका श्रेय इस बात को जाता है कि आज ह्यूम के विषय में बहुत बड़ी मात्रा में श्रेष्ठ साहित्य उपलब्ध है। ह्यूम के जीवन तथा दर्शन के सम्बन्ध में सन् 1925 के बाद जितने और जिस श्रेष्ठ कोटि के साहित्यों का सृजन हुआ है वह उससे पहले सम्भव नहीं हो पाया था।

ह्यूम में अभिरूचि का दूसरा कारण है समकालीन दर्शन पर ह्यूम का जीवन्त प्रभाव। सन् 1930 से चल रही ब्रिटेन और अमरीका की प्रमुख विश्लेषणात्मक दार्शनिक परम्परा में यह प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ह्यूम के दर्शन की तरह आज का दर्शन भी विश्लेषणोन्मुखी है। उसमें जीवन तथा सृष्टि के विषय में बड़ी-बड़ी महत्त्वाकांक्षी कल्पनाओं के प्रति अविश्वास, कठोर तथ्यों के प्रति अपरिमित श्रद्धा, युक्त और सजग तर्क तथा दार्शनिक दावों में असीम नम्रताएँ, सब गुण उसी तरह हैं जिस तरह वे ह्यूम के दर्शन में पाये जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ह्यूम के दर्शन और समकालीन दर्शन में कोई अन्तर ही नहीं है, बहुत है। समकालीन दार्शनिकों का ह्यूम के दार्शनिक विचारों से गहरा मतभेद है। जिस प्रकार रसेल और मूअर में, कार्नेप और राइल में, क्वाईन और ऑस्टिन में, तथा पूर्व-विट्गिंस्टाईन और उत्तर-विट्गिंस्टाईन में गहरा मतभेद है उसी प्रकार ह्यूम तथा समकालीन दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। परन्तु यह भी सच है कि ह्यूम तथा समकालीन दार्शनिक, दोनों ही, एक ही विश्लेषणात्मक परम्परा में आते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल मिलाकर इक्कीस उच्च कोटि के निबन्ध हैं। हम इन सभी पर, एक-एक करके, कुछ कहना चाहेंगे। इस ढंग से हिन्दी के पाठक को यह जानने में बहुत सुविधा होगी कि प्रस्तुत पुस्तक में किस लेखक ने क्या कहा है। कोई लेख पहले कहाँ प्रकाशित हुआ है अथवा पहले प्रकाशित हुआ ही नहीं, इस सम्बन्ध में भी आवश्यक जानकारी प्रबन्धों की संलग्न सूची में दे दी गई है।

(1) दर्शन और जीवनी : डेविड ह्यूम का पक्ष :

ई.सी.मास्सनेर ने अपने इस लेख में ह्यूम पर लगाये गये दो लांछनों का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बताया है कि अट्ठारहवीं शताब्दी में ही उनके समकालीन विचारकों ने ह्यूम की

* *Chappel, V.C. (ed.), Hame, Macnillan, London, 1968*

बौद्धिक और नैतिक ईमानदारी पर सन्देह प्रकट करना शुरू कर दिया था। इन लोगों में डॉ. जॉन ब्राऊन, डॉ. विलियम बरवर्टन तथा डॉ. जेम्ज बीट्टी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उदाहरणत: डॉ. वरवर्टन को ही लीजिए। उन्होंने ह्यूम के प्रकाशक एण्डर्यु मिल्लर को एक पत्र में यों लिखा- "आपने अक्सर मुझे इस आदमी के नैतिक गुणों के बारे में बताया है। चाहे मैं कितना ही कम जानता होऊँ, इस आदमी में शायद ही कोई नैतिक गुण है। तथापि मैं इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि कुछ बुराइयाँ तो मन की होती हैं और कुछ शरीर की। और मैं सोचता हूँ कि इस आदमी से बढ़कर कोई बुरा आदमी दुनियाँ में नहीं देखा जो इससे ज्यादा ढिठाई के साथ समाज में शरारत करने पर तुला हो।"[2] उन्नीसवीं शताब्दी में, ह्यूम की बौद्धिक और नैतिक ईमानदारी में संदेह करने वालों में जॉन स्टूआर्ट मिल तथा टी.एस. हक्सले - ये दो नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रोफेसर जान एच.रेंडाल जूनियर ने ह्यूम के बारे में लिखते हुए उन पर यह लांछन लगाया कि ह्यूम सच्चे मायनों में दार्शनिक नहीं था। उसने जो कुछ भी लिखा वह या तो पैसा कमाने के लिए लिखा अथवा साहित्यिक यश-प्राप्ति के लिए लिखा। इन लांछनों के बावजूद प्रो. रेंडाल ने यह भी कहा है कि इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं कि ह्यूम एक सर्वोच्च ब्रिटिश दार्शनिक थे।

यहाँ एक विरोधाभास है। एक और तो ह्यूम को दम्भी, पण्डितम्मन्य व्यक्ति कहा जा रहा है और दूसरी और उसे सर्वोच्च कोटि का दार्शनिक कहा जा रहा है। मास्सतेर ने इसी विरोधाभास का निराकरण करते हुए ह्यूम पर लगाये गए लांछनों का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। ह्यूम के पक्ष के समर्थन के लिए उन्होंने विशेष रूप से ह्यूम की आत्म-कथा और उनकी जीवनी से सम्बन्धित अन्य सामग्री को आधार माना है। अन्त में, उन्होंने यह बताया है कि ह्यूम वास्तव में एक निष्ठावान् सत्यान्वेषी दार्शनिक थे। इस लेख में निर्दिष्ट मत की उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर सशक्त संपुष्टि हो पाई है।

(2) ह्यूम के बारे में कुछ गलतफहमियां[3] :

इस लेख में टी.ई. जेस्सोप ने ह्यूम के बारे में कुछ गलतफहमियों को दूर करने का प्रयत्न किया है। दार्शनिकों ने ह्यूम को प्राय: ज्ञान-मीमांसक के रूप में ही देखा है। यह इसलिए हुआ क्योंकि इन दार्शनिकों ने ह्यूम की ट्रीटीज के पहले भाग पर ज्यादा जोर दिया है और साथ ही इस भाग को दूसरे भागों से अलग करके पढ़ा है। इसी प्रकार उन्होंने प्रथम एन्क्वायरी पर अधिक जोर दिया है और इसे द्वितीय एन्क्वायरी से पृथक् करके पढ़ा है। फलस्वरूप ह्यूम के दर्शन के विषय में अनेकानेक भ्रामक धारणाओं का प्रचार हुआ है। परन्तु ये दार्शनिक इस बात को भूल जाते हैं कि ह्यूम ने स्वयं अपनी द्वितीय एन्क्वायरी को 'अपनी सभी रचनाओं-ऐतिहासिक, दार्शनिक, अथवा साहित्यिक - में सबसे श्रेष्ठ और अतुलनीय (रचना) बताया है' और अपने-आपको मुख्यत: सदसद् विवेचक और नीतिज्ञ माना है। एक सदसद्विवेचक के नाते उन्होंने जीवन को बहुत ही संजीदगी से देखा और अपने दार्शनिक चिन्तन में सच्चाई को हमेशा कायम रखा। 'प्रिन्सिपल्ज ऑफ मॉरल्ज' में न्याय तथा जनहितैषिता का विवेचन, 'पॉलिटिकल डिस्कोर्सिज' में एक अच्छी सरकार के विषय पर चिन्तन तथा 'हिस्ट्री' में दिये गये नैतिक निर्णय - ये सब ह्यूम की जीवन के प्रति सच्चाई और संजीदगी के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह बात ह्यूम के प्रसिद्ध व्याख्याकार नार्मन केम्पस्मिथ ने भी कही है। वे तो यहाँ तक कहते हैं (और उनका कथन उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर जेस्सोप को पूर्णतया मान्य है) कि 'ट्रीटीज का पहला भाग इसके दूसरे और तीसरे भागों को लिखने के बाद लिखा गया था।' इससे भी यही प्रमाणित होता है कि ह्यूम एक सच्चे दार्शनिक के नाते नैतिकता तथा धर्म के प्रश्नों में बहुत अधिक रूचि रखते थे। इस तथ्य को भुला देने के फलस्वरूप ह्यूम के व्यक्तित्व तथा दर्शन को प्राय: गलत समझा गया है और उन्हें धन-लाभ तथा यश-लाभ के चक्कर में पड़ा हुआ दम्भी दार्शनिक कहा गया है। इतना ही नहीं, बल्कि यदि

हम ह्यूम के दर्शन में उनकी नैतिक अभिरूचि की प्राथमिकता को ध्यान में रखें तो उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में पाई जाने वाली अनेक असंगतियों का भी (उदाहरणत : ट्रीटीज में आत्म विषयक असंगतियों का) निवारण सम्भव हो जाता है।

ह्यूम की ट्रीटीज तथा एन्क्वायरीज में कुछ तो ज्ञान-मीमांसा है और बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हैं, यह बात हमें स्पष्ट रूप से ध्यान में रखनी चाहिये। क्योंकि ह्यूम ने जहाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, उसे ज्ञान-मीमांसकीय विश्लेषण मान लेना भूल होगी। इस प्रकार की भूल भी ह्यूम के बारे में भ्रामक धारणाओं की उर्वर स्रोत बनी रही है। उदाहरणत:, प्राय: ऐसा कहा गया है कि ह्यूम ने कारण-कार्य-शृंखला के तथ्य को नहीं माना। वास्तव में यह सच नहीं है। जेस्सोप के अनुसार ह्यूम ने कारण-कार्य-शृंखला के तथ्य को पूर्णरूप से स्वीकार किया है। जो उन्होंने स्वीकार नहीं किया वह यह है कि इस कारण-कार्य-शृंखला के तथ्य की तर्कत: बुद्धिगम्य व्याख्या सम्भव है। अत: अपनी दार्शनिक रचनाओं में इन्होंने इस कारण-कार्य-अनुमान की मानसिक प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा। इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को ज्ञान-मीमांसकीय विश्लेषण समझ लेना गल्ती होगी।

इसमें सन्देह नहीं कि ह्यूम एक अनुभववादी दार्शनिक थे। किन्तु उनकी विशेषता यह थी कि वे मानव-प्रकृति को अपने दार्शनिक विश्लेषण का आधार मानते थे। वे मानव-प्रकृति से ही अपना दार्शनिक विश्लेषण शुरू करते थे। केवल इतना ही नहीं, वे मानव-प्रकृति को अपने दार्शनिक निष्कर्षों की सच्चाई की कसौटी भी मानते थे। जो दार्शनिक सिद्धान्त मानव-प्रकृति के विरूद्ध जाता था, अथवा इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता था, वह उन्हें मान्य नहीं था। उनकी दृष्टि से सभी दार्शनिक मूलत: मनुष्य ही तो हैं, अत: वे अपनी मानवता को छोड़ने अथवा भुलाने की दुश्चेष्टा करते भी हैं तो वे अपने-आपको मूर्ख ही सिद्ध करते हैं। यही ह्यूम के अनुभववादी दर्शन की मौलिक विशेषता है कि उन्होंने मानव-प्रकृति को दर्शन का मूलभूत आधार और किसी भी दार्शनिक सच्चाई का एकमात्र मानदण्ड माना है। इसे हम उनके दर्शन का मूलमन्त्र भी कह सकते हैं। उन्होंने अपने दार्शनिक विश्लेषण में इस मूलमंत्र को कभी नहीं भुलाया।

अपने अनुभववाद की इसी विशेषता के कारण-ट्रीटीज के पहले भाग में ह्यूम का कहना है कि हमारे इन्द्रियग्रहण से स्वतंत्र भौतिक सृष्टि की सत्ता है और इसमें सभी चीजें कारण-कार्य नियमों के अधीन हैं। वे कारण-कार्य-नियमों को केवल भौतिक सृष्टि के ही अंग नहीं मानते हैं, बल्कि मानस्-जगत् में भी पूर्णतया लागू मानते हैं। जेस्सोप के मत में, ह्यूम के बारे में ये सब मनघड़न्त कल्पनाएँ नहीं हैं अपितु ट्रीटीज में पाये जाने वाले सिद्धान्त हैं।

बात यह है कि मानव-प्रकृति को देखते हुए न तो हम बाह्य जगत् की सत्ता को झुठला सकते हैं और न आन्तर जगत् की सत्ता को ही मानने से इन्कार कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त कारण-कार्य नियमों को अस्वीकार करने में भी हमारी भूल होगी। वास्तव में ये सब तथ्य हमारे आधारभूत विश्वासों और मानव-दृष्टि-कोण को ही प्रकट करते हैं। हम बने हुए ही ऐसे हैं कि हमें बाह्य और आन्तर जगत् की सत्ता तथा कारण-कार्य-नियमों में विश्वास करना ही होता है। इन विश्वासों को हम बुद्धिगम्य बना सके अथवा नहीं, जीवन के इन तथ्यों को हम झुठला नहीं सकते। यही बात ह्यूम ने अपने इस वाक्य में कही है कि "बुद्धि सदैव प्रकृति की गुलाम बन कर रहेगी।"

ह्यूम के इसी अनुभववाद को हम उनकी (1) नीति-मीमांसा और (2) ज्ञान-मीमांसा में भी देखते हैं। (1) ट्रीटीज के तीसरे भाग में उनका अनुभववाद नीति-शास्त्र को तत्त्वज्ञान तथा धर्म से स्वतन्त्र मानने में प्रकट होता है। फलत: वे नैतिक निर्णयों को न तो तत्त्वज्ञान पर आश्रित मानते हैं और

न यह मानते हैं कि मनुष्य को अपने नैतिक निर्णयों पर आचरण करने के लिए ईश्वरादि किसी तत्त्व की सत्ता में विश्वास रखने की जरूरत है। इस दिशा में ह्यूम ने अपने पूर्ववर्त्ती विचारक शेफट्सबरी की दो दार्शनिक मान्यताओं को विशेष रूप से अपनाया। एक मान्यता तो यह है कि नैतिक जीवन पूर्णत: स्वतन्त्र और स्वाधारित है और दूसरा यह कि नैतिक-ज्ञान का स्वरूप वस्तु-ज्ञान के बजाय सौन्दर्य-ज्ञान के अधिक अनुरूप है। (2) ट्रीटीज के पहले भाग में ह्यूम का अनुभववाद विशेष रूप से बाह्य और आन्तर जगत् की सत्ता में तथा कारण-कार्य नियमों में उनके पूर्ण विश्वास में प्रकट होता है। उनका कहना है कि अपनी मानव-प्रकृति के कारण ही हम इन दो चीजों में विश्वास रखते हैं चाहे हम इन्हें तर्कत: बुद्धिगम्य बनाने में असमर्थ ही क्यों न हों।

स्पष्ट है कि ह्यूम न तो सृष्टि की सत्ता के विषय में सन्देह करते हैं और न कारण-कार्य नियमों के बारे में ही सन्देह करते हैं। कम-से-कम इस दृष्टि से वे सन्देहवादी दार्शनिक नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि वे इन दो चीजों के विषय में सन्देह नहीं कर रहे हैं तो वे अपने दर्शन में क्या कर रहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में जेस्सोप का कहना है कि ह्यूम सृष्टि की सत्ता और कारण-कार्य नियमों में हमारे विश्वासों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए वे मनोविज्ञान के साहचर्य अथवा एसोसिएशन के सामान्य नियम का प्रयोग करते हैं। इस नियम के अपने प्रयोग के विषय में वे ट्रीटीज के 'एब्स्ट्रेक्ट' में लिखते हैं: ''यदि कोई चीज (ट्रीटीज के) लेखक को यशस्वी आविष्कारक की प्रतिष्ठा के लिए अधिकृत करती है तो वह है उसका एसोसिएशन के नियम का व्यापक प्रयोग, जो उसके दार्शनिक विश्लेषण में प्राय: देखने को मिलता है।''

साहचर्य के मनोवैज्ञानिक नियम के अतिरिक्त ह्यूम ने विश्वास के अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का अपने दार्शनिक विश्लेषण में बहुत प्रयोग किया है। 'विश्वास' को उन्होंने इन्द्रिय-ग्रहण और मनोकल्पना की 'विशदता' अथवा 'सजीवता' की मनोवैज्ञानिक शब्दावली में परिभाषित किया है।

विश्वास विषयक अपने सिद्धान्त और साहचर्य के तीन- नियमों - सादृश्य, सन्निकर्ष तथा कारण-कार्य - की सहायता से ह्यूम ने कारण-कार्य नियमों में हमारे विश्वास का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पेश किया है। उस विश्लेषण को यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है, केवल इतना ही कहना काफी है कि ह्यूम की दृष्टि से कारण-कार्य अनुमान की प्रक्रिया स्वरूपतया मनोवैज्ञानिक है, उसका कोई तार्किक आधार नहीं है, वह स्वयं कारण-कार्य-शृंखला का एक उदाहरण है। उनके शब्दों में - (कारण-कार्य शृंखला में) '' जो अनिवार्यता का सम्बन्ध दिखाई देता है वह स्वयं हमारी अनुमान की मानसिक प्रक्रिया पर आधारित है, हमारी अनुमान की प्रक्रिया उस पर आधारित नहीं है।'' (ट्रीटीज भाग III, परिच्छेद 6)।

इसी प्रकार बाह्य भौतिक जगत् की सत्ता में हमारे विश्वास का ह्यूम ने जो विश्लेषण दिया है वह भी पूर्णत: मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है: ज्ञान-मीमांसकीय विश्लेषण नहीं। जब भी हम इस तथ्य को भूल जाते हैं तभी हमारे मन में ह्यूम के बारे में गलतफहमियाँ पैदा होती हैं।

संक्षेप में, जेस्सोप का मत यह है कि ह्यूम ने बाह्य जगत् के बारे में हमारे ज्ञान का जो विवरण दिया है वह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होने के नाते आत्मपरक विवरण ही कहा जायगा, यद्यपि उन्होंने बाह्य जगत् की तथ्यपरक स्वतंत्र सत्ता को पूर्णतया माना है। स्पष्ट है कि आत्मपरक और तथ्यपरक इन दो पक्षों में परस्पर विरोध है तथापि ह्यूम इस विरोध को छिपाते नहीं हैं बल्कि स्वयं इसे अधिक-से-अधिक प्रकाश में लाते है, यहाँ तक कि वे ट्रीटीज के पहले भाग का अन्त इस बात पर करते हैं कि इन दो पक्षों के पारस्परिक विरोध का निराकरण करना सम्भव नहीं है। यही बात ह्यूम के सन्देहवाद को प्रकट करती है।

(3) डेविड ह्यूम : उनका पिर्होवाद और पिर्होवाद के विरोध में उनके तर्क :

रिचर्ड एच. पापकिन ने इस लेख में ह्यूम के पिर्होई संशयवाद का ठीक-ठीक स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। यह बताया गया है कि ह्यूम ने स्वयं अतिवादी पिर्होवाद का खण्डन किया है और अपने संशयवाद को उन्होंने स्वयं एक-मात्र युक्तिसंगत पिर्होई दृष्टिकोण माना है।

वास्तव में ह्यूम ने जहाँ-जहाँ पिर्होई दार्शनिकों के अतिपूर्ण संशयवादी मत पर विचार किया है वहाँ उन्होंने बड़े ही स्पष्ट रूप से यह भी कहा है कि युक्ति और तर्क के आधार पर पिर्होई संशयवाद का खण्डन नहीं किया जा सकता। तथापि, पिर्होई संशयवाद एक ऐसा मत है कि इसे हम मान भी नहीं सकते। दूसरे शब्दों में, स्थिति कुछ इस प्रकार है कि इस मत को न तो हम मान ही सकते हैं और न इस मत का तर्क के आधार पर खण्डन ही कर सकते हैं। खण्डन इसलिए नहीं कर सकते क्योंकि यह मत पैने दार्शनिक विश्लेषण और अकाट्य तर्क पर आधारित है, मान इसलिए नहीं सकते कि हमारी मानव-प्रकृति हमें इसे स्वीकार करने से और जीवन का आधार बनाने से रोकती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना वांछनीय है कि डेविड ह्यूम पिर्होवाद से क्या समझते हैं ? इस संबंध में यदि हम ह्यूम की रचनाओं को ध्यान से पढ़ें तो पिर्होवाद-संबंधी उनकी धारणा स्पष्ट हो जाती है। ह्यूम की दृष्टि में पिर्होई संशयवादियों का मत यह है कि मनुष्य अपने निर्णयों और अपनी धारणाओं के लिए बौद्धिक, तार्किक तथा निश्चयात्मक आधार पेश करने में बिल्कुल असमर्थ है। इस असमर्थता का कारण यह है कि जब हम मानवीय ज्ञान के स्वरूप और आधारों का ज्ञानमीमांसकीय विश्लेषण करते हैं तो हमें पता चलता है कि हमारे निर्णयों और हमारी धारणाओं का कोई तार्किक, बौद्धिक अथवा निश्चयात्मक आधार है ही नहीं। और न ही ज्ञान और नीति इत्यादि के क्षेत्रों में हमारे किसी दो या दो से अधिक निर्णयों अथवा धारणाओं में विरोध होने की स्थिति में हमारे पास कोई ऐसा अकाट्य मानदण्ड ही है जिससे यह तय किया जा सके कि दो प्रतिद्वन्द्वी निर्णयों में से कौन-सा निर्णय सच्चा है, अथवा दो में से किस एक निर्णय को महत्त्व देकर अपना सकते हैं।

इस मत की पुष्टि के लिए पिर्होई दार्शनिक दो तरह के तर्क देते हैं। एक तो साधारण तरह का तर्क है किन्तु दूसरा दार्शनिक किस्म का है। साधारण तर्क में जो दलीलें अथवा प्रमाण दिये गए हैं वे लगभग इस प्रकार हैं : उदाहरणत: विषयों के बारे में ऐन्द्रिय ग्रहण से जो जानकारी प्राप्त की जाती है उसमें बहुधा भ्रम, विरोध अथवा असंगति का पाया जाना, मानव-बुद्धि की स्वाभाविक कमजोरियाँ, विचारकों में लगभग किसी भी विषय के बारे में आपस में गहरे मतभेद, बाह्य तथा आंतर परिस्थितियों के कारण हमारे निर्णयों की परिवर्तनशीलता इत्यादि - इस प्रकार की दलीलें दी जाती है।

साधारण तरह के तर्क से दार्शनिक किस्म का तर्क अधिक महत्त्व का है। इस किस्म के तर्क में दी गई दलीलें लगभग इस प्रकार हैं : तथ्यों के क्षेत्र में हमारे बौद्धिक और तथ्याधारित निर्णयों में परस्पर विरोध पाया जाता है तथा, इस प्रकार किसी एक निर्णय को किसी दूसरे निर्णय की तुलना में चुनने के लिए हमारे पास कोई भी बौद्धिक आधार नहीं रह जाता। नैतिक निर्णयों के सिलसिले में तो स्थिति कुछ और भी कठिन हो जाती है, क्योंकि इस प्रकार के निर्णयों में कितने ही मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। गणित भी इस कठिनाई से अछूता नहीं। गणित के क्षेत्र में हमारे ज्ञान की अनिश्चयात्मकता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी तार्किक नियम और उस पर आधारित अनुमान की सत्यता पर सन्देह कर सकता है। इसके अतिरिक्त, हमारी तार्किक शक्ति भी तो सीमित ही है। गणित की कोई समस्या हल करते हुए किसी भी समय वह शिथिल पड़ सकती है और हम गलत अनुमान को भी ठीक समझने लगते हैं।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए, और साथ ही यह बताने के लिए कि ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से पिर्होई सन्देहवाद का तर्क के आधार पर खण्डन नहीं किया जा सकता, डेविड ह्यूम ने हमारे तर्काधारित ज्ञान और हमारे इन्द्रियग्रहण जन्य तथा सहजबुद्धि-सुलभ विश्वासों में पाये जाने वाले अनेकानेक परस्पर विरोधों का विवरण दिया है। इस प्रकार के चार उदाहरण ये हैं :-

(1) साधारणतया हम बाह्य विषयों की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास रखते हैं। परन्तु हमारी तार्किक बुद्धि इस विश्वास को मानने के लिए तैयार नहीं है और इस बात को मानने पर मजबूर कर देती है कि हमारे संवेद-विषयों की सत्ता हमारे से स्वतंत्र नहीं है।

(2) दूसरा विरोध इस बात में है कि एक ओर तो बाह्य भौतिक जगत् की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास किया जाता है और दूसरी ओर बाह्य विषयों के वर्ण तथा शीत, ऊष्ण आदि आनुषंगिक गुणों को इन्द्रियग्रहण द्वारा मनस्पटल पर छोड़े गए संस्कार मात्र कहा जाता है। परन्तु जिस तर्क के आधार पर विषयों के आनुषंगिक गुणों को भी बाह्य सत्ता देने से इन्कार किया जाता है वही तर्क हमें उन विषयों के मूल गुणों को भी बाह्य सत्ता न देने के लिए मजबूर करता है। वास्तव में, आनुषंगिक और मूल गुणों को ज्ञानमीमांसा के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न नहीं बताया जा सकता। इसके अतिरिक्त, ह्यूम के मतानुसार, बाह्य विषयों के प्राथमिक गुणों-संबंधी हमारा ज्ञान वास्तव में उन विषयों के आनुषंगिक गुणों-सम्बन्धी हमारे ज्ञान का एक विशेष रूप अथवा गठन ही है। अब यदि इस बात को मान लिया जाय तो निष्कर्ष यह निकलता है कि बाह्य विषयों के सभी विशेष गुण ऐन्द्रिय गुण द्वारा मन पर छोड़े गए संस्कारों से पृथक् कुछ भी नहीं हैं। और इस प्रकार किसी विषय को बाह्य भौतिक पदार्थ की संज्ञा देना केवल अर्थहीन शब्दजाल ही है। इस तरह के तर्क के सामने बाह्य भौतिक जगत् की सत्ता में अपने सहजबुद्धि-सुलभ विश्वास को हम कैसे कायम रख सकते हैं ?

(3) तीसरा विरोध है आत्म सम्बन्धी हमारे तर्काधारित और लोकधारणा मूलक विश्वासों में। साधारणतया हम आत्म की बाह्य जगत् से स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। परन्तु, यदि हम तार्किक, ज्ञानमीमांसकीय विश्लेषण के आधार पर आत्म-तत्त्व की सत्ता को सिद्ध करना चाहें तो यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि आत्मतत्त्व जैसी किसी चीज की सत्ता में विश्वास रखना एक बौद्धिक भूल के अलावा कुछ नहीं है।

(4) चौथा और अंतिम उदाहरण गणित के क्षेत्र से है। गणित के कितने ही निष्कर्ष लोक-बुद्धिसुलभ विश्वासों के विरोध में आते हैं। देशकाल के अनन्त विभाजन के सम्बन्ध में गणित में दिये गए अनेक प्रमाण, चाहे वे गणित और तर्क की दृष्टि से पूर्णतया स्वीकार्य हों, विरोधाभास उत्पन्न करते हैं, और इस प्रकार लोक-बुद्धिसुलभ विश्वासों के विरोध में हैं।

उपर्युक्त सभी तर्क, ह्यूम की दृष्टि से, इस बात को सिद्ध करते हैं कि पिर्होई संशयवाद का केवल बुद्धि और तर्क के आधार पर खण्डन नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार का संशयवाद हमारे तथ्यपरक नैतिक तथा गणित सम्बन्धी विश्वासों के आधारों के ज्ञानमीमांसकीय विश्लेषण का तार्किक परिणाम है।

तथापि पिर्होई संशयवाद को हमारी मानव-प्रकृति सच मानने और इसे जीवन का आधार मानने से बिल्कुल इन्कार करती है। ह्यूम के कथानानुसार, इस प्रकार के संशयवाद का ह्यूम तर्क के आधार पर भले ही खण्डन न कर सकें किन्तु कोई भी बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करेगा, क्योंकि इस प्रकार के संशयवाद का न तो कोई उत्तर है और न यह विश्वास ही पैदा करता है। (ट्रीटीज, पृष्ठ सं. 187)।

इस प्रकार डेविड ह्यूम ने तर्क के आधार पर नहीं बल्कि मानव-प्रकृति के आधार पर पिर्होई संशयवाद का खण्डन किया है। उनके मतानुसार तर्क और बौद्धिक विश्लेषण चाहे हमें संशयवाद की दिशा में क्यों न ले जायें किन्तु मानव प्रकृति हमें संशयवाद की दिशा में जाने से रोकती है। सामान्य जीवन में दिन-प्रतिदिन के (1) तथ्यपरक, (2) नैतिक, और (3) बौद्धिक मामलों में हमें अनिवार्य रूप से अनेकानेक निर्णय लेने ही होते हैं। यह सम्भव है, और वास्तव में देखने में भी आता है कि, इन नियमों की पुष्टि के लिए हमारे पास पर्याप्त साक्ष्य हो अथवा नहीं हो, हम उसकी इतनी परवाह नहीं करते कि किसी भी प्रस्तुत परिस्थिति में हम ये निर्णय लें ही नहीं। उदाहरणत: बाह्य विषयों की सत्ता में हमारे विश्वास को ही लीजिये। हमने ऊपर बताया है कि हमारा यह विश्वास तर्क और बौद्धिक विश्लेषण पर आधारित नहीं है। इस विश्वास का आधार है हमारी मानव-प्रकृति, हमारी स्वाभाविक व्यावहारशीलता और अभ्यास। हमारे अभ्यास और व्यवहार के आधार पर हमें मानना ही पड़ता है कि बाह्य भौतिक जगत् की सत्ता असंदिग्ध है।

हमारे नैतिक निर्णयों में भी यही स्थिति है। हमारे नैतिक निर्णय तर्क अथवा बौद्धिक विश्लेषण पर आधारित न होकर, हमें क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा लगता है इस प्रकार के मनोभाव पर आधारित होते हैं। हमारी मानव-प्रकृति और हमारी दिन-प्रतिदिन की परिस्थितियाँ हमें नैतिक निर्णय लेने के लिए बाध्य करती हैं, यद्यपि तर्क और बौद्धिक विश्लेषण हमें संशयवाद की ओर ले जाते हैं। यही स्थिति हमारे गणित के ज्ञान के बारे में भी है। यद्यपि गणित के कितने ही निष्कर्ष हमारे लोकधारणामूलक विश्वासों के विरोध में आते हैं तथापि अपनी मानव-प्रकृति के कारण हम संशयवाद की दिशा में न जाकर अपने लोक-बुद्धिसुलभ विश्वासों के अनुसार ही जीवन में व्यवहार करते हैं।

इतना ही नहीं, हमारी मानव-प्रकृति हमें कई-एक प्रकार के अतिलौकिक और तात्त्विक (मेटाफिजिकल) नियमों की सत्ता में भी विश्वास करने के लिए बाध्य करती है, चाहे हम उन चीजों की सत्ता के लिए कोई प्रमाण नहीं दे सकते। ह्यूम के कथनानुसार, हम अपनी मानव-प्रकृति के आधार पर, तर्क और बौद्धिक विश्लेषण के विरूद्ध, न केवल शरीर और मनस् की सत्ता में ही विश्वास करते हैं बल्कि ईश्वर की सत्ता में भी विश्वास करते हैं, और संशयवाद की दिशा में नहीं जाते। ह्यूम के शब्दों में, जिस प्रकार हमारी मूल और नैसर्गिक प्रकृतियाँ हमें बाह्य भौतिक जगत् की सत्ता में सन्देह अथवा अविश्वास करने से रोकती हैं उसी प्रकार वे हमें मनस् अथवा आत्म की सत्ता में अविश्वास करने से रोकती हैं। चाहे ह्यूम एक तर्क-संगत विचारक और अटल अधार्मिक दार्शनिक थे तथापि उन्होंने इस बात को कभी नहीं झुठलाया कि ईश्वर की सत्ता में हमारे विश्वास स्वाभाविक हैं। भले ही हम अपने इस विश्वास के लिए तर्क अथवा बौद्धिक विश्लेषण का आधार न दे सकें तथापि हमारी मानव-प्रकृति हमें इस विश्वास को बनाये रखने के लिए मजबूर करती है। ह्यूम के कथनानुसार, ईश्वर की सत्ता में विश्वास हमारी अज्ञात किन्तु चेतन शक्ति में विश्वास रखने की सहज प्रकृति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मात्र है।

ह्यूम के मतानुसार, जिस प्रकार हम बाह्य भौतिक जगत् इत्यादि की सत्ता में विश्वास रखने के लिए अपनी प्रकृति से बाध्य होते हैं उसी प्रकार दार्शनिक विश्लेषण करना भी हमारी प्रकृति का ही एक धर्म है। पिर्होई संशयवादी दार्शनिक भी जीवन और नीति-सम्बन्धी विश्लेषण किये बिना नहीं रह सकता। और, वास्तविकता यह है कि दार्शनिक विश्लेषण करना हमें अच्छा और सुखद भी लगता है।

पिर्होई-संशयवाद की ह्यूम द्वारा दी गई इस आलोचना को रिचर्ड पोपकिन ने मानव-प्रकृति-आधारित आलोचना कहा है। संक्षेप में इस आलोचना का ध्येय यह रहा है कि पिर्होई संदेहवाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसे हम अपनी मानव-प्रकृति के आधार पर किसी भी हालत में स्वीकार नहीं कर

सकते। यह सिद्धान्त हमारी प्रकृति के बिल्कुल प्रतिकूल है। ह्यूम की इस आलोचना का दार्शनिक महत्त्व यह है कि उनका अपना संशयवाद, उनके मतानुसार, पूर्ण रूप से मानव-प्रकृति के अनुकूल है। जहाँ तक मानवज्ञान के सैद्धान्तिक आधारों का सम्बन्ध है, वे मानव-ज्ञान के पिर्होई विश्लेषण को स्वीकार करते हैं किन्तु वे इस विश्लेषण को जीवन का वास्तविक आधार नहीं बनाते क्योंकि उनकी दृष्टि में हमारी प्रकृति इस विश्लेषण को जीवन का आधार कभी भी बनने नहीं देगी। ह्यूम के मतानुसार, हमारे विश्वासों के लिए बौद्धिक और तार्किक साक्ष्य के प्रश्न उन विश्वासों की मनोवैज्ञानिकता के प्रश्नों से अलग हैं। कोई भी व्यक्ति किसी बात में क्यों विश्वास करता है, इसके कितने ही मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। इन मनोवैज्ञानिक कारणों का उन उन विश्वासों के पक्ष में उपलब्ध अथवा अनुपलब्ध, अथवा प्रतिकूल साक्ष्य से कोई भी सरोकार नहीं हो, यह पूर्णतया सम्भव है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी बात में क्यों संदेह करता है, इसके भी कितने ही मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। ह्यूम के मतानुसार, कोई भी व्यक्ति तब विश्वास करता है जब उसे ऐसा करना पड़ता है और इसी प्रकार वह तभी सन्देह करता है जब वह सन्देह करने के लिए बाध्य होता है, चाहे ज्ञानमीमांसकीय स्तर पर विश्वास अथवा सन्देह करने के लिए कोई साक्ष्य उपलब्ध हो अथवा न हो।

अपने उपर्युक्त तर्कों के आधार पर रिचर्ड पापकिन का कहना है कि अपने दार्शनिक विश्लेषण में ह्यूम ने पिर्होई संशयवाद को मनोविज्ञान की दृष्टि से स्वीकार करना असम्भव बताया है। ऐसा करते हुए उन्होंने सुलझे हुए (मिटिगेटेड) संशयवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है और कहा है कि इस प्रकार का संशयवाद ही हमारी मानव-प्रकृति के अनुकूल है। सच्चा संशयवादी वह है जो विश्वासवादी भी है और संशयवादी भी, जो अपने दार्शनिक विश्लेषण को सैद्धान्तिक स्तर तक सीमित रखता है और अपने दर्शन को सामान्य जीवन के सिद्धान्तों पर आधारित करता है। इस प्रकार का संशयवादी नम्र, आत्मविश्वासी और सजग होगा। वह अपने विश्वासों में यथोचित रूप से संशयवादी रहेगा और सदा ही इस बात को ध्यान में रखेगा कि जीवन में किसी भी विश्वास के लिए कोई भी तार्किक अथवा बौद्धिक आधार कम-से-कम मनुष्य को उपलब्ध नहीं है।

(4) ह्यूम का अन्त:करण की क्रियाशीलता-सम्बन्धी सिद्धान्त[5] :

राबर्ट पाल वोल्फ ने अपने इस लेख में ह्यूम के -ज्ञान-मीमांसा सम्बन्धी विश्लेषण को एक नये ढंग से देखने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि ह्यूम अपनी ज्ञानमीमांसा में इस बात को मानकर चले थे कि केवल अर्न्तवस्तु के आधार पर ही सारे आनुभविक ज्ञान की व्याख्या की जा सकती है। परन्तु, मीमांसा करते हुए वे इस निष्कर्ष पर जा पहुँचे कि आनुभविक ज्ञान के विश्लेषण से सम्बद्ध सभी समस्याओं का समाधान अर्न्तवस्तु के आधार पर नहीं बल्कि अन्त:करण की क्रियाशीलता के आधार पर ही हो सकता है। वोल्फ के मतानुसार, ह्यूम की इसी खोज को आगे चलकर कांट ने अपनी ज्ञानमीमांसा का आधार बनाया, और यही खोज आज (सन् 1960 में) भी शब्दार्थपरक तथा मनोवृत्तिक शब्दावली के विश्लेषण का केन्द्र बनी हुई है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अन्त:करण की क्रियाशीलता का ह्यूम का सिद्धान्त उनकी दार्शनिक रचनाओं के आधार पर निर्मित किया जा सकता है, वह वहाँ प्रस्तुत नहीं है, जैसे ह्यूम का विश्वास-सम्बन्धी सिद्धान्त उनकी रचनाओं में प्रस्तुत है। ह्यूम के अन्त:करण की क्रियाशीलता के सिद्धांत की रूपरेखा समझने के लिए हमें ह्यूम के दो और सिद्धांतो को एक तरफ अलग करके रख देना होगा। ये दो सिद्धान्त है - (1) मनोवैज्ञानिक साहचर्यवाद और (2) संस्कारानुरूप अवधारणा का सिद्धान्त। राबर्ट बोल्फ ने अपनी व्याख्या में यही किया है। उनकी यह व्याख्या, अर्थात् ह्यूम का अन्त:करण की क्रियाशीलता का सिद्धान्त, राबर्ट वोल्फ का ह्यूम के ज्ञानमीमांसकीय विश्लेषण को

देखने का एक ढंग है। अत: यह व्याख्या गलत भी हो सकती है। तथापि, वोल्फ के मतानुसार, यदि हम इस व्याख्या को अपना लें तो हम ह्यूम के ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी सिद्धान्त को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। और इस प्रकार ह्यूम के दर्शन में जो दोष देखे जाते हैं उनका निराकरण हो सकता है।

संक्षेप में, वोल्फ द्वारा प्रस्तावित व्याख्या इस प्रकार है - मनुष्य के अन्त:करण के थोड़े से धर्म हैं। इन धर्मों को प्रवृत्तियाँ कह सकते हैं। जब-जब ऐन्द्रिय ग्रहण होता है तो उस स्थिति में अन्त:करण के ये सक्रिय धर्म प्रवृत्तियाँ कहलाते हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण अन्त:करण में अवधारणा के आधार पर अनुभूत संस्कार दूसरे पूर्वानुभूत संस्कारों को उद्दीप्त करते हैं। इस प्रकार अन्त:करण में एक तरह के संस्कारों को दूसरी तरह के संस्कारों के साथ युगपद् रूप में अनुभव करने की हमारी आदता-सी बन जाती है। कारण-कार्य-संबंधी हमारे ज्ञान में विश्लेषण के आधार पर माने गए घटक (उदाहरणत: 'अनिवार्य संबंध' का संस्कार) जिन्हें ह्यूम ने बुद्धि जन्य संस्कार कहा है, वास्तव में अन्त:करण की प्रवृत्तियाँ ही हैं। इसी प्रकार कारण-कार्य में अनिवार्य संबंध की अवधारणा, नित्य-पदार्थ की अवधारणा, इत्यादि संवेद विषयमूलक संस्कारों की अनुकृतियाँ न होकर अन्त:करण की प्रवृत्तियों की अवधारणायें ही हैं। इन्ही सहज प्रवृत्तियों को हम अन्त:करण का मूलतत्त्व भी कह सकते हैं। यही प्रवृत्तियाँ कारण-कार्य तथा दूसरे विषयों सम्बन्धी हमारे ज्ञान की सम्भावना की अनिवार्य और सार्वभौमिक शर्तें हैं।

अपनी इस व्याख्या की संपुष्टि करने के लिए वोल्फ ने ह्यूम की दार्शनिक रचनाओं में से अनेकानेक संदर्भ दिये हैं और बताया है कि ह्यूम के कारण-कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त तथा बाह्य भौतिक वस्तुओं की सत्ता में हमारे विश्वास के सिद्धान्त को प्रस्तुत व्याख्या के आधार पर बेहतर ढंग से समझा और समझाया जा सकता है।

इस प्रकार वोल्फ का दावा है कि ह्यूम ने अपनी ज्ञानमीमांसा में अन्त:करण की क्रियाशीलता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त में अन्त:करण की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को और संवेदन से प्रेरित मनोवृत्तियों को केन्द्रीय महत्त्व दिया गया है। यदि हम चाहें तो इन प्रवृत्तियों तथा मनोवृत्तियों को हम केटेगरीज अथवा कोटियाँ कह सकते हैं। इन कोटियों का व्यापार कांट के कोटियों के व्यापार के समान ही है। ये कोटियाँ निम्नलिखित हैं :-

(1) वह प्रवृत्ति जिसके कारण हम कारण-कार्य-परक अनुमान करते हैं।

(2) वह प्रवृत्ति जिसके कारण किन्हीं दो चीजों में परस्पर सम्बन्ध देखा जाता है।

(3) वह प्रवृत्ति जिसके आधार पर विभिन्न वस्तुओं में अन्तर्सम्बन्ध और पारस्परिक संगति देखी जाती है।

(4) वह प्रवृत्ति जिसके कारण हम क्षण-प्रवाह में स्थिरता और ठोसपन देखते हैं।

(5) वह प्रवृत्ति जिसके कारण बाह्य जगत् की स्वतंत्र सत्ता और कारण कार्य-योजना में हमारा विश्वास दृढ़ होता है।

इनमें से पहली चार प्रवृत्तियों के कारण यह निर्धारित होता है कि हमारा अन्त:करण किन विषयों का ग्रहण करता है। पाँचवी प्रवृत्ति के कारण यह निर्धारित होता है कि हमारा अन्त:करण उन विषयों को किस प्रकार ग्रहण करता है।

(5) ह्यूम द्वारा दी गई 'कारण' प्रत्यय की दो परिभाषाएं[6] :

अपने इस लेख में जे.ए. राबिन्सन ने ह्यूम की 'कारण' सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। नार्मन केम्पस्मिथ के मत के विरूद्ध राबिन्सन ने बताया है कि ह्यूम वास्तव में कारण-कार्य विषयक समरूपता-सिद्धान्त (यूनिफार्मिटी ब्यू ऑफ कॉजेशन) के पूरे समर्थक थे।

राबिन्सन का कहना है कि ह्यूम के कारण-कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त को ठीक तरह से समझने में (उदाहरण: केम्पस्मिथ द्वारा) जो गलती हुई है उसका कारण यह है कि ह्यूम कारण-कार्य शृंखला की मीमांसा करते हुए एकसाथ वास्तव में दो अलग-अलग बातें कह रहे थे। केम्पस्मिथ आदि व्याख्याकारों ने इन दो बातों को अलग नहीं किया और परिणामस्वरूप ह्यूम के सिद्धान्त को गलत समझा।

कारण-कार्य शृंखला के अपने विवरण में ह्यूम एक ओर तो (1) कारण-कार्य सम्बन्ध को आनुभविक, प्राकृतिक सम्बन्ध मानकर इस सम्बन्ध का साहचर्य-नियमानुसार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देते हैं और दूसरी ओर (2) कारण-कार्य सम्बन्ध का दार्शनिक विश्लेषण करते हुए इस सम्बन्ध की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। केम्पस्मिथ आदि व्याख्याकारों ने ह्यूम की इन दो चीजों को - अर्थात् कारण-कार्य शृंखला के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों को - अलग नहीं किया। ये दो विश्लेषण ह्यूम के शब्दों में इस प्रकार हैं :-

(1) 'कारण' को हम उस विषय के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो विषय किसी दूसरे विषय का पूर्ववर्ती है और उसके सान्निध्य में है, और दूसरे, पूर्ववर्ती विषय के अनुरूप सभी विषयों का सम्बन्ध भी परवर्ती विषय के अनुरूप सभी विषयों के साथ पूर्ववर्तिता तथा सान्निध्य का है। (ट्रीटीज, पृष्ठ सं. 170)।

(2) 'कारण' वह विषय है जो किसी दूसरे विषय से पूर्ववर्ती तथा उसकी सन्निधि में है और वह उससे इस ढंग से जुड़ा हुआ है कि एक का ध्यान आते ही अन्त:करण में दूसरे का ध्यान आ जाता है, तथा एक के इन्द्रियग्रहण से दूसरा और भी अधिक सजीवता के साथ ध्यान में प्रस्तुत हो जाता है। (ट्रीटीज, पृष्ठ सं. 170)।

इन दोनों विश्लेषणों को ध्यानपूर्वक देखा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि ये एक ही चीज नहीं कह रहे हैं। पहले में 'कारण' प्रत्यय का दार्शनिक विश्लेषण, याने इस प्रत्यय की परिभाषा है, किन्तु दूसरे में कारण-कार्य सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। जाहिर है कि ये दोनों विश्लेषण तार्किक दृष्टि से एक-दूसरे के बराबर नहीं हैं। यही नहीं, दूसरे विश्लेषण पर देने से पहले यह आवश्यक है कि 'कारण' प्रत्यय से हम क्या समझते हैं, अर्थात् इस प्रत्यय की क्या परिभाषा है, इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय। यही काम ह्यूम ने अपने पहले विश्लेषण से सम्पन्न किया है। दूसरे शब्दों में, पहला विश्लेषण 'कारण' प्रत्यय की परिभाषा है, दूसरा विश्लेषण परिभाषा नहीं है। केम्पस्मिथ आदि व्याख्याकारों ने दोनों विश्लेषणों को भ्रांतिवश 'कारण' प्रत्यय की दो विभिन्न परिभाषाएं समझा है।

अपनी इस व्याख्या के आधार पर राबिन्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि उनकी इस व्याख्या को मान लिया जाय तो कारण-कार्य सम्बन्धी ह्यूम के सिद्धान्त में पायी जाने वाली अस्पष्टता नि:शेषत: दूर हो जाती है और साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि डेविड ह्यूम कारण-कार्य सम्बन्धी एकरूपता के सिद्धान्त के ही समर्थक थे।

(3) किन्तु टामस जे. रिचर्ड [7] को राबिन्सन का यह मत कि, ह्यूम ने 'कारण' प्रत्यय की एक ही परिभाषा दी है, दो परिभाषाएं नहीं दीं, स्वीकार नहीं है। तथापि वे राबिन्सन से इस बात पर पूर्णरूपेण सहमत हैं (क) कि ह्यूम ने 'दार्शनिक सम्बन्ध तथा आनुभविक अथवा प्राकृतिक सम्बन्ध में विवेक किया है, और (ख) कि ह्यूम निश्चय ही कारण-कार्य सम्बन्धी एकरूपता के सिद्धान्त के समर्थक थे।

राबिन्सन की व्याख्या के विरूद्ध रिचर्ड का तर्क दो रूप लेता है। एक यह कि राबिन्सन का यह निष्कर्ष कि ह्यूम ने 'कारण' प्रत्यय की दो परिभाषाएं नहीं दीं बल्कि एक ही परिभाषा दी है, उनकी दी गई तार्किक युक्तियों से निगमित नहीं होता। और दूसरे, रिचर्ड ने 'कारण' प्रत्यय की ह्यूम की दो परिभाषाओं का अपना ही विवरण दिया है जो रिचर्ड के अनुसार अधिक उपयुक्त विवरण है।

रिचर्ड का पहला तर्क यह है : यदि हम दार्शनिक तथा आनुभविक सम्बन्धों के विषय में ह्यूम के सिद्धान्त को ध्यान में रखें तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण-कार्य सम्बन्ध को ह्यूम ने आनुभविक सम्बन्ध भी माना है और इस प्रकार इसे आनुभविक सम्बन्ध मानकर इस सम्बन्ध की परिभाषा दी है, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है। अत: ह्यूम द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त दूसरे विश्लेषण को भी परिभाषा ही का जायगा। अत: राबिन्सन का यह मत कि दूसरा विश्लेषण 'कारण' प्रत्यय की परिभाषा नहीं हैं क्योंकि आनुभविक सम्बन्धों की परिभाषा नहीं हो सकती, भ्रांतिमूलक है।

रिचर्ड का अपना विवरण यह है : क्योंकि कारण-कार्य सम्बन्ध आनुभविक सम्बन्ध है अत: इस सम्बन्ध की परिभाषा दी जा सकती है, और इसकी परिभाषा वही है (उपर्युक्त नं. 2) जो ह्यूम ने दी है, जिसे राबिन्सन ने परिभाषा नहीं माना है। यह परिभाषा ठीक उसी प्रकार से दी जा सकती हैं जिस प्रकार कि कारण-कार्य-सम्बन्ध की एक दार्शनिक सम्बन्ध के रूप में परिभाषा (उपर्युक्त नं. 1) दी गई है।

(4) रिचर्ड की इस आलोचना का राबिन्सन[8] ने इस प्रकार उत्तर दिया है : ह्यूम के कारण-कार्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी स्थिति यह है - किसी भी प्रत्यय को ऐसे दो भिन्न ढंगों से, जो एक-दूसरे के बराबर नहीं हैं, तर्कसंगत ढंग से परिभाषित करना नितान्त असम्भव है। ह्यूम की (उपर्युक्त) दो परिभाषाएं एक-दूसरे के बराबर नहीं हैं। अत: या तो ह्यूम के सिद्धान्त को आत्म-असंगत कहा जाना चाहिए अथवा इनमें से किसी एक परिभाषा की कोई दूसरी ही व्याख्या की जाय जिससे दोनों में पारस्परिक असंगति को दूर किया जा सके। राबिन्सन का कहना है कि ह्यूम के सिद्धान्त को सुसंगत दिखाने के लिए उन्होंने 'कारण' प्रत्यय के पहले विश्लेषण को परिभाषा माना और दूसरे विश्लेषण को आनुभविक। दूसरे विश्लेषण को मनोवैज्ञानिक अथवा आनुभविक मान लेने से उपर्युक्त असंगति दूर हो जाती है।

राबिन्सन का कहना है कि वास्तव में रिचर्ड कोई नई चीज नहीं कह रहा है। वह ह्यूम के दोनों विश्लेषणों को दो परिभाषाएं मानता है - एक 'कारण' प्रत्यय की दार्शनिक सम्बन्ध के रूप में, और दूसरी 'कारण' प्रत्यय की आनुभविक सम्बन्ध के रूप में। दूसरे शब्दों में, ये दो परिभाषाएं एक ही प्रत्यय की न होकर अलग-अलग प्रत्ययों की परिभाषाएं हैं। राबिन्सन के मतानुसार भी इन दो परिभाषाओं को एक ही प्रत्यय की परिभाषाएं नहीं कहा जा सकता। अत: यहाँ तक राबिन्सन और रिचर्ड के मतों में कोई गहरा भेद नहीं है। राबिन्सन के मतानुसार उपर्युक्त दो विश्लेषण एक ही प्रत्यय की परिभाषाएं नहीं मानी जा सकतीं और रिचर्ड के मतानुसार वे दो अलग-अलग प्रत्ययों की परिभाषाएं ही हैं।

इन दोनों दार्शनिकों की व्याख्याओं में जो भेद है वह यह है कि राबिन्सन के मतानुसार दूसरा विश्लेषण आनुभविक अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, 'कारण' प्रत्यय की परिभाषा नहीं, जबकि रिचर्ड के मतानुसार दूसरा विश्लेषण 'कारण' प्रत्यय की आनुभविक सम्बन्ध के रूप में परिभाषा है। राबिन्सन को रिचर्ड का यह मत मान्य नहीं है। उनका कहना है कि दूसरे विश्लेषण को परिभाषा मान लेना गलत है, क्योंकि यदि हम ध्यान से देखें तो दूसरा विश्लेषण मात्र आनुभविक वाक्य ही साबित होता है - एक ऐसा वाक्य जिसकी सत्यता-असत्यता का आधार अनुभवनिष्ठ है। अपने मत की पुष्टि में राबिन्सन का तर्क पर्याप्त सशक्त है।

(8) ह्यूम द्वारा कारण-कार्य अनुमान की प्रतिरक्षा[9] :

यह लेख जान डब्ल्यू लेंज का है। इसमें उन्होंने विस्तृत विवरण के साथ यह सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है कि -

(क) ह्यूम ने विश्वास सम्बन्धी नियतिवादी सिद्धान्त के प्रसंग में ही कारण-कार्य-अनुमान के औचित्य का प्रश्न उठाया है। विश्वास-सम्बन्धी नियतिवादी सिद्धान्त यह है कि हम मनुष्य लोग प्रकृति से ही ऐसे बने हैं कि कारण-कार्य अनुमान (अथवा विश्वास) के बिना जी ही नहीं सकते। इस तरह यह विश्वास अनिवार्य है।

(ख) तथापि ह्यूम ने (1) किसी विश्वास का कारण बताकर उसकी व्याख्या करने और (2) उस विश्वास का औचित्य बताने में विवेक किया है। ह्यूम के मतानुसार, मनुष्य कोई विश्वास क्यों रखता है इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अथवा कारण तो बताया जा सकता है किन्तु इस प्रकार की व्याख्या को उस विश्वास का औचित्य नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि ऐसे कितने ही विश्वास हैं जिनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना पूर्णतया सम्भव है, परन्तु औचित्य की दृष्टि से वे अस्वीकार्य हैं।

(ग) ह्यूम की दृषि में किसी विश्वास का औचित्य दिखाने का अर्थ उस विश्वास को सत्य साबित करना है। अथवा, विश्लेषण से यह सिद्ध करना है कि कोई विश्वास इस प्रकार से पैदा हुआ है कि उसे अनिवार्यत: सत्य ही होना चाहिए।

(घ) इसी दृष्टि से ह्यूम ने कारण-कार्य अनुमान (अर्थात् विश्वासों) की प्रतिरक्षा करनी चाही है। किन्तु हमारे स्वाभाविक विश्वासों में अन्तर्विरोध देखने के बाद उन्होंने स्वयं बताया कि कारण-कार्य सम्बन्धी हमारे विश्वासों का इस प्रकार से औचित्य प्रदर्शित नहीं किया जा सकता।

(ङ) यदि उपर्युक्त ढंग से कारण-कार्य सम्बन्धी हमारे विश्वासों की प्रतिरक्षा नहीं की जा सकती तो प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के विश्वासों की प्रतिरक्षा करना सम्भव भी है कि नहीं। लेन्ज का कहना है कि यदि ह्यूम ने यह सोचा कि उन्होंने कारण- कार्य सम्बन्धी हमारे विश्वासों (अर्थात् अनुमान) की प्रतिरक्षा की है तो वह केवल इस अर्थ में सच है कि इस प्रकार के विश्वासों की अनिवार्यता सिद्ध हो जाने से इस मत में कोई जान नहीं रह जाती है कि मनुष्यों को ऐसे विश्वास नहीं रखने चाहिये। ह्यूम के मतानुसार, इस कारण-कार्य सम्बन्धी विश्वासों के बिना हम जी ही नहीं सकते। ये विश्वास सत्य हैं कि नहीं इस बात को भले ही हम तर्कत: सिद्ध नहीं कर सकें, किन्तु जीवन में हम इन विश्वासों को सत्य माने बिना नहीं रह सकते। कुछ भी हो, ये विश्वास मानव-प्रकृति के अभिन्न अंग हैं और इस अर्थ में अनिवार्य हैं।

(9) ह्यूम, सम्भाव्यता और आगमनिकानुमान[10] :

यह लेख डी. स्टोव का है। इसमें उन्होंने कार्ल पाप्पर तथा जी.एच.फान राईट द्वारा अपनाये गए एक मत की आलोचना की है और बताया है कि यह मत दर्शन के इतिहास की दृष्टि से बिल्कुल गलत है। पाप्पर तथा फान राइट का मत है कि ह्यूम ने इस बात का खण्डन किया है कि ऐसे आगमनिक अनुमान सम्भव हैं जिनके निष्कर्ष केवल सम्भाव्य होते हैं। दूसरे शब्दों में, इन व्याख्याकारों के मतानुसार, ह्यूम ने 'आगमनिक सम्भाव्यवाद' (आ.सं.) का खण्डन किया है। स्टोव अपने इस लेख में बताते हैं कि अ.सं. का खण्डन करने की बात तो एक तरफ ह्यूम ने आ.स. के खण्डन का संकेत तक नहीं किया। अपने इस मत की पुष्टि करने के लिए स्टोव ने ह्यूम की दार्शनिक रचनाओं में से अनेकानेक सन्दर्भ देकर उनकी व्याख्या के साथ पर्याप्त साक्ष्य भी दिया है। हमारे विचार में उनका साक्ष्य उनके मत को पूर्णतया स्वीकार्य बना देता है। एन्टोनी फ्ल्यू भी स्टीव के मत से पूरे सहमत हैं।

(10) ह्यूम के अनुसार व्यक्ति (अथवा आत्म) का स्वरूप[11] :

अपने इस लेख में टेरेन्स पेनलहम ने ट्रीटीज पुस्तक 1, भाग 4, परिच्छेद 6 में ह्यूम द्वारा प्रस्तुत तर्कों की परीक्षा की है। उनकी परीक्षा करने का ध्येय केवल इतना ही रहा है कि ये तर्क कहाँ तक सही और

युक्त हैं। व्यक्ति क्षण-क्षण में बदल रहा है। इस तथ्य की जानकारी के बावजूद जब हम व्यक्तियों के बारे में बात करते हैं तो वह इस प्रकार से करते हैं मानो वे कभी बदलते ही नहीं। दो वर्ष के बच्चे और अस्सी वर्ष के बूढ़े गांधी में रात-दिन का अन्तर है। तथापि, जब हम बात करते हैं तो एक ही, उसी गांधी की बात करते हैं, और यह समझते हैं कि बचपन से लेकर बुढ़ापे तक का गांधी एक ही, वही गांधी है। ऐसा हम क्यों करते हैं ? अथवा ऐसा करने का हमारा आधार क्या है ? यही व्यक्ति के स्वरूप की समस्या है। इसी समस्या का समाधान करने के लिए ह्यूम ने जो तर्क दिये हैं उन्हीं की परीक्षा इस लेख में की गई है।

ह्यूम के मतानुसार, व्यक्ति विभिन्न इन्द्रिय-ग्रहण-जन्य संस्कारों के संग्रह या समवाय का दूसरा नाम है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति विभिन्न संवेदनाओं, संवेगों, स्वप्नों और संकल्पनाओं इत्यादि का एक अनुक्रम-मात्र है। अत: व्यक्ति को वही मानना व्यक्ति के स्वरूप को गलत समझना है। क्योंकि, हम यह नहीं कह सकते कि कोई व्यक्ति बदलते हुए भी वही रहता है।

पेनलहम का कहना है कि ह्यूम का यह मत भ्रांतिपूर्ण है। प्रथम तो यह कि जिस प्रकार संगीत में लय की धारणा है उसी प्रकार व्यक्ति भी अनुक्रमात्मक होते हुए भी एकत्व का स्वरूप रखता है। अत: इस कहने में किंचित् मात्र भी अन्तर्विरोध नहीं है कि व्यक्ति संवेदनाओं आदि के अनुक्रम से बना हुआ है और फिर भी वह एक ही व्यक्ति है।

ह्यूम की दूसरी गलती यह है कि वह अपरिवर्तनशीलता को किसी चीज को वही कहने की अनिवार्य शर्त मानता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई चीज परिवर्तनशील है तो ह्यूम उसे वही चीज कहने से इन्कार करता है। किन्तु, यह मत भ्रांति-मूलक है, क्योंकि जैसाकि पेनलहम ने स्पष्ट किया है, अपरिवर्तनशीलता किसी चीज को वही कहने की अनिवार्य शर्त नहीं है। अत: व्यक्ति को अनुक्रमात्मक मानते हुए भी हम उसे वही, एक, व्यक्ति कहने में कोई भूल नहीं करते।

(11) कर्त्तव्य-वाक्यों और वर्णन-वाक्यों सम्बन्धी ह्यूम का मत [12] :

इस विषय पर यह पहला लेख ए.सी.मेक-इन्टायर का है। इस लेख में उन्होंने कर्त्तव्य वाक्यों और वर्णन सम्बन्धी ह्यूम के मत की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की है जो आर.एम.हेयर, ए.एन.प्रायर, पी.एच.नोवेल-स्मिथ आदि अनेक दार्शनिकों की व्याख्या के, जिसे मेक-इन्टायर ने रूढ़ व्याख्या कहा है, सर्वथा विपरीत है। रूढ़ व्याख्या के अनुसार ह्यूम का मत इस प्रकार है : नैतिक आधार-वाक्यों से ही नैतिक अनुमान-वाक्य निकलता हैं, जो आधार वाक्य स्वयं नैतिक नहीं हैं उनसे नैतिक अनुमान निगमित नहीं होता। विशेषरूप से, कर्त्तव्य वाक्य वर्णन वाक्यों के आधार पर निगमित नहीं होते। मेक-इन्टायर का कहना है कि कर्त्तव्य वाक्यों और वर्णन वाक्यों सम्बन्धी ह्यूम के मत की यह रूढ़ व्याख्या गलत और भ्रामक है। अपने इस मत के प्रतिपादन के लिए उन्होंने निम्नलिखित चार तर्क दिये है : -

(1) रूढ़ व्याख्या इस अपरीक्षित मान्यता पर आधारित है कि यदि केवल वर्णन-वाक्यों के आधार पर किसी कर्त्तव्य वाक्य का अनुमान किया जाता है तो उस स्थिति में यदि इस प्रकार का अनुमान निगमनिक नहीं हैं तो वह अनिवार्यत: गलत ही होगा। परन्तु, यह मान्यता स्वीकार्य नहीं है क्योंकि, यदि इस मान्यता को सत्य मान लिया जाय तो आगमनिक अनुमान भी गलत करार कर दिए जायेंगे। और फिर, यह आवश्यक तो है नहीं कि नैतिक अनुमान को निगमनिक होना ही चाहिये।

(2) यदि रूढ़ व्याख्या को सत्य मान लिया जाय तो कहना ही पड़ेगा कि स्वयं ह्यूम ने न्याय का विश्लेषण करते हुए कर्त्तव्य-वाक्यों को वर्णन-वाक्यों के आधार पर निगमित करने का असम्भव कार्य कर दिखलाया। किन्तु यह मान्य नहीं है। सर्वप्रथम, यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ह्यूम के मतानुसार तथ्य और उनका वर्णन करने वाले वर्णन-वाक्य तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयों और

अनुमानों से पूर्णतया सम्बद्ध हैं, यहाँ तक कि तथ्यों के आधार पर नैतिक नियमों का औचित्य अथवा अनौचित्य दिखाया जा सकता है। उदाहरणत: ह्यूम ने बताया है कि न्याय के नियमों का औचित्य-अनौचित्य तर्कत: इस बात पर आधारित है कि इस प्रकार के नियमों का पालन करना अन्ततोगत्वा हमारे हित में है कि नहीं। हमें न्याय के नियमों का पालन करना ही चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से हमारे हित की पूर्ति होती है। इससे स्पष्ट होता है कि ह्यूम के मतानुसार वैयक्तिक और सामाजिक हितों के संग्रह की धारणा के माध्यम से 'कर्त्तव्य' या 'चाहिये' की धारणा की व्याख्या अथवा परिभाषा करना पूर्णतया सम्भव है। और, ह्यूम ने ऐसा किया भी है। अत: रूढ़ व्याख्या, जिसके अनुसार वर्णन-वाक्यों के आधार पर कर्त्तव्य-वाक्यों का अनुमान नहीं किया जा सकता, बिल्कुल गलत है।

(3) रूढ़ व्याख्या ट्रीटीज के जिस संदर्भ को अपना आधार मानती है उस संदर्भ में ह्यूम ने यह नहीं कहा कि वर्णन-वाक्यों के आधार पर कर्त्तव्य-वाक्यों का अनुमान करना असम्भव है। बल्कि, केवल इतना ही कहा है कि यह बात समझ में नहीं आती कि वर्णन-वाक्यों के आधार पर कर्त्तव्य-वाक्यों पर जाना किस प्रकार सम्भव है। इसके अलावा विचाराधीन संदर्भ में यह भी नहीं कहा गया है कि वर्णन-वाक्यों के आधार पर कर्त्तव्य-वाक्य निगमित नहीं होते। निगमित अनुमान की धारणा उस संदर्भ के बाहर की चीज है। ह्यूम वास्तव में 'डिड्यूस' शब्द का प्रयोग करते हैं और उनकी रचनाओं में इस शब्द का अर्थ 'अनुमान' लिया गया है, 'निगमनिक अनुमान' नहीं। 'निगमनिक अनुमान' के लिए ह्यूम 'डिमांस्ट्रेटिव ऑर्गूमेन्ट' इस शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे जाहिर है कि रूढ़ व्याख्या के प्रवर्तकों और अनुयायियों ने विचाराधीन संदर्भ को गलत समझा है।

(4) प्राय: (विशेष रूप से रूढ़ व्याख्या के अनुयायियों द्वारा) यह कहा जाता है कि विचाराधीन संदर्भ में ह्यूम ने 'चाहिये' और 'है' के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में प्रारूपिक तर्क की बात कही है। परन्तु यह सत्य नहीं है। क्योंकि, ह्यूम की रूचि ठोस नैतिक मामलों में थी और उन्होंने नैतिक धारणाओं को जीवन से बिल्कुल अलग नहीं रखा, बल्कि, इन धारणाओं को मानुषिक एषणाओं के प्रसंग में समझने का प्रयत्न किया और इस प्रकार इन धारणाओं की व्याख्या की। उनके मत में नैतिक धारणाओं को जीवन के प्रसंग से बाहर रखकर समझा नहीं जा सकता।

(12) मेक-इन्टायर के उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए आर.आर.एट्किन्सन[13] ने अपने लेख में कहा है :

(1) ह्यूम ने 'नैतिकता की स्वतंत्रता' को माना है अथवा नहीं इस प्रश्न का उत्तर 'नैतिकता की स्वतंत्रता' नामक अभिव्यक्ति को पर्याप्त स्पष्ट करने के पश्चात् ही दिया जाना सम्भव है। इस अभिव्यक्ति का हम दो अर्थों में प्रयोग करते हैं : पहला, नैतिकता स्वतंत्र है यदि वर्णन-वाक्यों के आधार पर नैतिक वाक्यों का अनुमान निगमित करना असम्भव हो। दूसरा, नैतिकता स्वतंत्र है यदि नैतिक निर्णय तथ्यों का वर्णन करने वाले वर्णन-वाक्यों से तर्कत: असम्बद्ध हों। मेक-इन्टायर को स्पष्ट करना चाहिए कि वे ह्यूम को इन दो अर्थों में से किस अर्थ में नैतिकता की स्वतंत्रता का समर्थक मान सकते हैं।

(2) मेक-इन्टायर ने रूढ व्याख्या के विपक्ष में जो तर्क दिये हैं वे निर्णायक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, (3) मेक-इन्टायर की अपनी व्याख्या के आधार पर भी 'चाहिये' और 'है' के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ह्यूम के मत को पूर्णतया सुसंगत साबित नहीं किया जा सकता, चाहे मेक-इन्टायर ने इस दिशा में भरसक प्रयत्न किया है। एट्किंसन की दृष्टि से, सच तो यह है कि किसी भी व्याख्या के आधार पर 'चाहिये' और 'है' सम्बन्धी ह्यूम के मत को अन्तर्संगतिपूर्ण नहीं बनाया जा सकता।

(13) ह्यूम के मत की व्याख्या के विषय में अपने इस लेख में एन्टीनी फ्ल्यू[14] ने मेक-इन्टायर के उपर्युक्त मत की और सन् 1992 में प्रकाशित जाफरी हन्टर [15] के मत की आलोचना की है। अपने लेख में हन्टर ने जिस मत का विरोध किया वह मत यह है कि अपने 'चाहिये' और 'है' वाले संदर्भ में ह्यूम ने दावा किया है अथवा परोक्ष रूप से कहा है, कि मनुष्यों को क्या करना चाहिये' इस प्रकार के कर्त्तव्य-वाक्य तथ्यों का वर्णन करने वाले वर्णन-वाक्यों से मूलत: भिन्न हैं, और वे विशुद्ध वर्णन-वाक्यों में तर्कत: कदापि निगमित नहीं किए जा सकते। इस मत को हम स.मा.व्या. अर्थात् संक्षिप्त मार्गदर्शक व्याख्या कहेंगे। स्पष्ट है कि यह वही मत है जिसकी आलोचना मेक-इन्टायर ने अपने लेख में की है। अत: एन्टोनी फ्ल्यू मेक-इन्टायर और हन्टर दोनों की आलोचना का उत्तर देते हैं। अपने उत्तर में वे एट्किन्सन द्वारा दिये गये तर्क को और आगे बढ़ाते हैं।

हन्टर की बुनियादी धारणा यह है कि स.मा.व्या. कभी सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि ह्यूम ने अन्यत्र नैतिक वाक्यों का जैसा विश्लेषण दिया है उसके अनुसार नैतिक वाक्य स्वयं वर्णन-वाक्य मान लिये गए हैं। अत: हन्टर का निष्कर्ष यह है कि, क्योंकि ह्यूम तर्क की दृष्टि से 'चाहिये' वाक्यों को 'है' वाक्यों के समान मानता है इसलिए यह कहना कि ह्यूम के मतानुसार 'है' वाक्यों से 'चाहिये' वाक्य तर्कत: निगमित नहीं होते, बिल्कुल भ्रांत है।

फ्ल्यू का कहना है कि स.मा.व्या. को छोड़ने के लिए हन्टर ने कोई भी अच्छा तर्क नहीं दिया है, और न उनकी व्याख्या का आधार ही न्याय-संगत है। व्याख्या का आधार यह नहीं होना चाहिए कि जहाँ-जहाँ अपने प्रिय दार्शनिक की रचनाओं में असंगति दिखायी दे उस असंगति को किसी भी तरह से दूर ही करने का प्रयत्न किया जाय, चाहे वह असंगति दूर करना सम्भव हो अथवा नहीं। फ्ल्यू की दृष्टि से, हन्टर ने यही किया है। यह ठीक है कि ह्यूम की ट्रीटीज में 'चाहिये' और 'है' के पारस्परिक सम्बन्ध के विवरण में असंगति है, और इस असंगति को दूर करने के लिए ही हन्टर ने ह्यूम के मत की व्याख्या इस तरह की है कि इससे नैतिक वाक्यों और वर्णन-वाक्यों में तर्कत: कोई भेद ही नहीं रह जाता। परन्तु, इन दो प्रकार के वाक्यों में अभेद बताने के बजाय यह कहीं अच्छा होता यदि हन्टर ने यह कहा होता कि ह्यूम के मतानुसार 'नैतिक वाक्य न तो नित्य सत्य तार्किक वाक्य हैं और न तथ्यों का वर्णन करने वाले वर्णन-वाक्य ही हैं, अत: समस्त नैतिकता हमारी भावानुभूतियों पर ही आधारित है' (ट्रीटीज, पुस्तक III, भाग II, परिच्छेद 5)।

फ्ल्यू की दृष्टि में, ह्यूम के मत की व्याख्या करते हुए हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि ह्यूम की रूचि धारणाओं और वाक्यों के तार्किक विश्लेषण में इतनी नहीं थी जितनी आज हमारी है। वास्तव में, वे नैतिकता के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तथ्यों के विश्लेषण में अधिक रूचि रखते थे।

(14) प्रोफेसर फ्ल्यू को उत्तर[16] :

जाफरी हन्टर प्रो. फ्ल्यू को अपना उत्तर देते हुए लिखते हैं कि वास्तव में ह्यूम ने नैतिक निर्णयों के विषय में अन्यत्र जो कहा है उससे सं.मा.व्या. तर्कत: असंगत है। इसके अतिरिक्त, ट्रीटीज से दिये जा सकने वाले सारे संदर्भ भी तो स. मा.व्या. की संपुष्टि नहीं करते, चाहे स.मा.व्या. ट्रीटीज पुस्तक III, भाग I परिच्छेद I के केवल अंतिम एक ही संदर्भ पर आधारित है और फिर, ह्यूम ने यह तो कभी भी नहीं कहा कि कोई भी 'चाहिये' वाक्य' 'है' वाक्यों से तर्कत: निगमित नहीं होता।

(15) हन्टर के इस उत्तर पर टिप्पणी करते हुए एंटोनी फ्ल्यू[17] लिखते हैं कि हन्टर की व्याख्या के सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हन्टर और मेक-इन्टायर को स.मा.व्या. अथवा रूढ़ व्याख्या को गलत साबित करने के लिए अभी पर्याप्त तर्क देने होंगे, जो उन्होंने नहीं दिये हैं। जब तक पर्याप्त और आकट्य तर्क नहीं प्रस्तुत किये जाते फ्ल्यू को अपना मत छोड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए है।

(16) 'है' और 'चाहिये के विषय में ह्यूम का मत'[18] :

यह लेख डब्ल्यू.डी.हडसन का है। इस लेख में उन्होंने 'है' और 'चाहिये' सम्बन्धी ह्यूम के मत पर चल रहे विवाद को नये प्रकाश में रखकर आगे बढ़ाने और समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। हडसन की दृष्टि से मेक-इन्टायर और हन्टर दोनों अपने-अपने मत को सिद्ध करने में सफल नहीं हो पाए हैं। हडसन का सुझाव है कि (1) 'है' और 'चाहिये' के विषय में ह्यूम का क्या मत था ? और (2) 'है' और 'चाहिये' के विषय में क्या मत सही हो सकता है ? इन दो तर्कत: भिन्न प्रश्नों को स्पष्टता के हित में अलग-अलग रखना चाहिये।

हड़सन की दृष्टि से, ह्यूम का मत यह है कि जब हम नैतिक निर्णय देते हैं तो हम किसी मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक तथ्यों का वर्णन नहीं करते, बल्कि इस प्रकार के वर्णन करने से नितान्त भिन्न बात कर रहे होते हैं। दूसरे शब्दों में, नैतिक निर्णय देना किसी मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक तथ्यों का वर्णन करना नहीं है। अत: हडसन को हन्टर का उपर्युक्त मत स्वीकार्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त हडसन के अनुसार मेक-इन्टायर का भी यह मत ठीक नहीं है कि ह्यूम न्याय की धारणा को हित की धारणा के माध्यम से परिभाषित करते हैं। वास्तव में, ह्यूम इन दो बातों में पूरा-पूरा विवेक करते हैं कि (1) कोई कार्य सामान्य हितों की पूर्ति में सहायक है, और (2) वह नैतिक दृष्टि से उचित है। किसी कार्य का नैतिक औचित्य बताना और उस कार्य को जनहित की पूर्ति हेतु सिद्ध करना, ये दो समान बातें नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि जो कार्य जनहित का पूरक होता है उसे हम नैतिक दृष्टि से उचित भी कहते हैं ह्यूम ने तर्क की दृष्टि से इन दो भिन्न बातों में पूरा-पूरा विवेक किया है।

इसके अतिरिक्त, ह्यूम ने नैतिक आचरण (मॉरल कम्मिट्मेन्ट) को और उन परिस्थितियों को जिनमें इस प्रकार का आचरण किया जाता है, भिन्न-भिन्न माना है। अत: यह कहना कि इन दोनों में ह्यूम ने कोई विवेक ही नहीं किया, ह्यूम के साथ अन्याय करना है। मेक-इन्टायर ने 'है' और 'चाहिये' की धारणाओं में पायी जाने वाली दरार को मानुषिक एषणाओं के द्वारा भरने का प्रयत्न किया है। यह सच है कि नैतिक निर्णय उन्हीं प्रसंगों में लिये जाते हैं जिनमें एषणाओं का प्राधान्य होता है। किन्तु, इस तथ्य से हम यह नहीं कह सकते कि नैतिक निर्णय वर्णन-वाक्यों के आधार पर ही निगमित किये जाते हैं। यदि ऐसा किया जाय तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जिन परिस्थितियों में कोई खेल खेला जाता है वे परिस्थितियाँ भी उस खेल की अभिन्न अंग हैं। 'है' और 'चाहिये' में पायी जाने वाली दरार को, हडसन के मतानुसार, किसी नैतिक निर्णय की पुष्टि करने के लिए दिये जाने वाले हेतु-वाक्यों द्वारा भरा जा सकता है। इस प्रकार के हेतु-वाक्य, जैसा नोवेल स्मिथ ने बताया है, नैतिकता की पृष्ठभूमि में ही उपलब्ध होते हैं। इन्हीं वाक्यों से 'है' और 'चाहिये' की दरार सन्तोषजनक ढंग से भरी जा सकती है।

(17) कर्त्तव्य विषयक ह्यूम का विवरण[19] :

अपने इस लेख में बरनार्ड वेण्ड ने कर्त्तव्य विषयक ह्यूम के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। ह्यूम के मतानुसार, हमारे कर्त्तव्य हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों अथवा एषणाओं से ही निर्धारित होते हैं। इस प्रकार बच्चों से प्यार और अभागे पर दया आना इत्यादि हमारे कर्त्तव्यों के उदाहरण हैं। क्योंकि कर्त्तव्य प्राकृतिक प्रवृत्तियों से ही निर्धारित होता है अत: वचन निभाने अथवा न्यायप्रिय होने जैसे हमारे दायित्वों की प्रेरणा का आधार केवल कर्त्तव्य-भावना में स्थित नहीं है। दूसरे शब्दों में, हम कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर अपने दायित्व पूरे करेंगे, यह सम्भव नहीं है। दायित्व को निभाने के लिए सहज कर्त्तव्य-भावना होने के साथ-साथ एक अन्य प्रेरणा का होना भी आवश्यक है। वह यह है कि व्यक्ति अनुभव करे कि जो प्रेरणाएँ मानव-प्रकृति में सहज और सार्वभौम रूप से पायी

जाती हैं वे उसमें भी हों। ऐसी प्रेरणाओं का अभाव जब उसे अपने आप में खटकने लगता है तो वह व्यक्ति इस अभाव को दूर करने में जुट जाता है। इस प्रकार की मन: स्थिति व्यक्ति को अपने दायित्व के प्रति सचेत करती है और उस दायित्व की पूर्ति करने की दिशा में प्रेरित करती है।

वेण्ड की व्याख्या के अनुसार ह्यूम के दर्शन में दो प्रकार के दायित्वों का हवाला मिलता है : - (1) सहज प्राकृतिक दायित्व और (2) नैतिक दायित्व। इन्साफ-पसन्द होना, दूसरे की चीजों के प्रति आदर की भावना तथा वचन निभाना इत्यादि प्राकृतिक दायित्वों के उदाहरण हैं। प्राकृतिक दायित्व की प्रेरणा सहज प्राकृतिक होती है, कृत्रिम नहीं। उदाहरणत: मैं न्याय-प्रिय हूँ, किन्तु यह इसीलिए नहीं कि न्याय-प्रिय होना अच्छा है बल्कि इसलिए कि यदि मैं न्याय-प्रिय नहीं होता तो मैं अपने प्राकृतिक हितों की रक्षा करने में असमर्थ हो जाता। इस प्रकार का दायित्व, ह्यूम की दृष्टि से, कभी नैतिक दायित्व नहीं होता, यद्यपि प्राकृतिक और नैतिक दायित्वों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है।

नैतिक दायित्व में हमारी प्रेरणा सहज प्राकृतिक प्रकार की नहीं होकर कृत्रिम प्रकार की होती है। उदाहरणत: न्याय-प्रिय होने की भावना शुरू में तो प्राकृतिक हितों से संप्रेरित होती है किन्तु बाद में बुद्धि, रूढ़ि, शिक्षा, अभ्यास इत्यादि अनेक कारणों के परिणामस्वरूप वही भावना न्याय-प्रिय होने की चेतना में विकसित होती है। तब जाकर इस चेतना को नैतिक दायित्व कहा जाता है। वचनपालन और दूसरे नैतिक दायित्वों का विश्लेषण भी इसी विश्लेषण के अनुरूप होगा। इस प्रकार, ह्यूम के मतानुसार, यह कहा जा सकता है कि नैतिक कर्त्तव्य की चेतना अथवा नैतिक दायित्व में कुछ प्राकृतिक है और कुछ कृत्रिम। प्राकृतिक इसलिए है कि शुरू-शुरू में उचित-अनुचित की भावना विभिन्न कर्मों के प्रति हमारी सहज प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं से जन्म लेती है। और कृत्रिम इसलिए है कि इस भावना को नैतिक दायित्व की चेतना में विकसित होने के लिए रूढ़ि इत्यादि सामाजिक प्रभावों की आवश्यकता पड़ती है।

अपने लेख के शेष दो भागों में बरनार्ड वेण्ड ने हेडिनिअस, टी.एच.ग्रीन और रेशेल एम.किड द्वारा की गई आलोचनाओं के प्रकाश में नैतिक दायित्व सम्बन्धी ह्यूम के मत के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। हेडिनिअस की आलोचना के प्रतिपक्ष में वेण्ड का कहना है कि ह्यूम के उपर्युक्त विवरण में कोई भी आंतर असंगति नहीं है। श्रीमती किड द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के सम्बन्ध में वेण्ड ने उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि श्रीमती किड ने नैतिक दायित्व सम्बन्धी ह्यूम के विवरण में प्राकृतिक और नैतिक दायित्व को अलग-अलग नहीं रखा और इसी भ्रांति के फलस्वरूप यह मान लिया कि ह्यूम के मतानुसार हमारे न्याय-प्रियता के और वचन-निर्वाह के कार्य नैतिक दायित्व की चेतना से अनुप्रेरित नहीं होते। टी.एच. ग्रीन की आलोचना के अनुसार, ह्यूम का मत सुखवादी सिद्धान्त पर आधारित है। वेण्ड की दृष्टि से, ग्रीन की इस आलोचना में आंशिक सच्चाई है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के अतिरिक्त, यह भी कहा जा सकता है कि ह्यूम के मत के आधार पर नैतिक दायित्व को सही मायने में नैतिक कहने में भी सन्देह हो सकता है क्योंकि 'नैतिक-दायित्व' से 'आत्म-हित' की पूर्ति का अर्थ नहीं लगाया जा सकता, जैसाकि ह्यूम के मतानुसार पूर्णतया सम्भव है। दूसरी बात यह है कि ह्यूम के विवरण के अनुसार, नैतिक दायित्व सभी मनुष्यों के लिए आबद्धकर भी नहीं रहता, क्योंकि यदि नैतिक दायित्व की चेतना रूढ़ि इत्यादि बाह्य कारणों पर आधारित है तो यह पूर्ण रूप से सम्भव है कि कुछ लोग, कुछेक परिस्थितियों में, अपने नैतिक दायित्व को निभाना आवश्यक नहीं समझें।

वेण्ड इस बात को पूरी तरह से मानते हैं कि पूर्वोल्लिखित आपत्तियों को दूर किया जा सकता है। तथापि, उनकी दृष्टि में, यदि हम ह्यूम के मत को सत्य मान भी लें तो इस मत के आधार पर हम नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। कारण यह है कि ह्यूम के मतानुसार नैतिक दायित्व की चेतना कृत्रिम कारणों पर आधारित है, वह हमारी स्वाभाविक प्रकृति की सहज चेतना पर आधारित नहीं है। ऐसी स्थिति में, (उदाहरणत:) आवश्यकतावश ही हम न्याय-प्रिय होकर किसी नैतिक दायित्व को पूरा करने का उत्तरदायित्व लेंगे, आवश्यकता नहीं रहने पर नहीं।

(18) ह्यूम के कानून और राजनीति सम्बन्धी दार्शनिक विचार[20] :

यह लेख एफ.ए.हायेक का है। इनकी शिकायत है कि आज तक ह्यूम के कानून और राजनीति सम्बन्धी दार्शनिक विचारों के अध्ययन पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना उनके ज्ञानमीमांसकीय विचारों पर दिया गया है। इनमे मत में ह्यूम राजनैतिक और कानून के क्षेत्र में एक उदार (लिबरल) विचारक थे जिन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के उदार आदर्शों का पूर्ण रूप से समर्थन किया। आमतौर पर यह समझा जाता है कि सन् 1688 की ग्लोरिअस रेवोल्यूशन के मूलभूत सिद्धान्तों का विवरण सर्वप्रथम जॉन लॉक की रचनाओं में नहीं अपितु डेविड ह्यूम की दार्शनिक रचनाओं में उपलब्ध होता है।

ह्यूम के मतानुसार कानून के तीन मूलभूत नियम हैं - (1) हमारे संग्रहों में स्थायित्व, (2) संग्रहों की अदला-बदली (याने ट्रान्सफरेन्स) और (3) वचन-बद्धता। ह्यूम इन तीन नियमों को 'प्रकृति के मूलभूत नियम' कहते हैं और इन्हें मानव-समाज की आवश्यकताओं का अभिन्न अंग मानते हैं। किसी भी सरकार को ये तीन मूलभूत नियम मानकर चलना होता है। न्याय की धारणा भी इन्हीं नियमों पर आधारित है। 'रूल आफ लॉ' अथवा विधिमूलक शासन की बुनियाद भी इन्हीं नियमों से बनी है। ह्यूम उस सरकार का समर्थन करते हैं जो नियमों से नियन्त्रित होती है, व्यक्तियों की मनमानियों से नहीं। नियमाधीन रहकर ही व्यक्ति स्वतन्त्र है, नियमों के बाहर रहकर नहीं। अन्तत: हायेक की व्याख्या के अनुसार, ह्यूम ने कानून और दूसरी सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति विषयक जो विवरण दिया है वह विकासवादी विवरण ही है।

(19) ह्यूम का ईश्वर की सत्ता के विषय में अज्ञेयवाद[21] :

अपने इस लेख में जेम्ज नाक्सन ने ह्यूम की रचनाओं में से अनेकानेक सन्दर्भों के साक्ष्य पर यह बताया है कि ईश्वर की सत्ता के विषय में ह्यूम नास्तिक अथवा संशयवादी नहीं थे। उनका मत केवल इतना ही था कि तर्क, बुद्धि और इन्द्रियग्रहण के आधार पर ईश्वर की सत्ता अथवा असत्ता को सिद्ध करना असम्भव है। फिर भी, साधारण जीवन और मानव-प्रकृति के आधार पर इस विषय पर जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि अभ्यास, सनक और प्रवृत्ति के अनुसार इस संसार में कुछ लोग ईश्वर की सत्ता में विश्वास करेंगे और कुछ लोग विश्वास नहीं करेंगे। मानव-प्रकृति ही इस दिशा में निर्णायक होगी। ह्यूम अपने वैयक्तिक जीवन में ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे अथवा नहीं, इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर देना कठिन है। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे अपने जीवन में ईश्वर की सत्ता के विषय में एक तरह से अज्ञेयवाद के समर्थक थे।

(20) ह्यूम के संवाद : भाग 10 [22]:

ह्यूम के संवादों (डायलोग्ज) के भाग 10 में फिलो बुराई के अस्तित्व को लेकर ईश्वर विषयक तीन विकल्प प्रस्तुत करता है : ''ईश्वर बुराई को दूर करना चाहता है परन्तु कर नहीं सकता, वह कर सकता है परन्तु करना नहीं चाहता, वह करना भी चाहता है और कर भी सकता है।'' यदि इनमें अन्तिम

सही है तो फिर बुराई क्यों है ? कुछेक व्याख्याकारों का मत है कि इस तर्क के आधार पर फिलो ईश्वर की सत्ता को असिद्ध करना चाहता है। कुछ दूसरे व्याख्याकारों का मत है कि ऐसा नहीं है। प्रस्तुत लेख में विलियम एच. केपिटान का मत है कि अपने तर्क द्वारा फिलो ने वास्तव में ईश्वर की सत्ता को असिद्ध नहीं किया है बल्कि ईश्वर के नैतिक गुण सिद्ध करने वाले तर्क की अयुक्तता दिखाकर प्राकृतिक धर्म का सशक्त खण्डन किया है। केपिटान के मत में फिलो ने ईश्वर के नैतिक स्वरूप की पुष्टि में दी गई युक्तियों का अपने पैने तर्क द्वारा खण्डन करके ईश्वर की सत्ता-विषयक संशयवाद की जीत दिखाई है।

(21) ह्यूम का सर्वव्यापी ईश्वर[23] :

अपने इस लेख में जार्ज जे. नाथन बताते हैं कि संवादों (डायलाग्ज) में ह्यूम का उद्देश्य नकारात्मक और खण्डनात्मक नहीं था। नाथन की व्याख्या के अनुसार वास्तव में अपने डायलोग्ज में ह्यूम ने ईश्वर के स्वरूप- विषयक एक महत्त्वपूर्ण धारणा की रूपरेखा दी है। इस धारणा के अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी है। संवादों में चाहे सृष्टि के प्रयोजन पर आधारित तर्क को अस्वीकार किया गया है किन्तु यह केवल इसलिए किया गया है कि ह्यूम को सृष्टि में सर्वव्याप्त, अपरिमेय, चेतन और आभ्यन्तर विधान की एक धारणा का प्रतिपादन करना था। यह कार्य डायलोग्ज के तीनों चरित्रों ने किया। इस प्रकार दीमिया ने सृष्टि के विधान की अग्राह्यता का, क्लीनथीस ने उसकी चेतनता का और फिलो ने उसकी आभ्यन्तरता का विवरण दिया। नाथन अपनी व्याख्या के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ह्यूम के मतानुसार ईश्वर सृष्टि का अग्राह्य, चेतन और आभ्यन्तर विधान है। वह सर्वव्यापी है, और अन्ततः प्रकृति में अभिन्न है।

***

निर्देशांकित ग्रन्थों तथा प्रबन्धों की सूची : -

1. *Chappel, V.C., (ed.), Hume, Macmillan, London, 1968; pp.- 442*
2. *Mossner, Ernest Campbell, "Philosophy and Biography : The Case of David Hume."*
   The Philosophical Review, Vol. LIX (1950).
3. *Jessop, T.E. "Some Misunderstanding of Hume," Revue Internationale de Philosophie, No.20 (1952).*
4. *Popkin, Richard, H., "David Hume : His Pyrrhonism and His Critique of Phrrhonism."*
   The Philosophical Quarterly, Vol. I (1951).
5. *Wolff, Robert Paul, " Hume's Theory of Mental Activity," The Philosophical Review, Vol. LXIX (1960).*
6. *Robinson, J.A., "Hume's Two Definitions of "Cause"," The Philosophical Quarterly, Vol. XII (1962).*
7. *Richards, Thomas J., "Hume's Two Definitions of "Cause." The Philosophical Quarterly, Vol. XV (1965).*
8. *Robinson, J.A. "Hume's Two Definitions of "Cause Reconsidered" (not published earlier)*
9. *Lenz, John W., "Hume's Defence of Causal Inference". Journal of the History of Ideas, Vol. XIX (1958).*
10. *Stove, D., "Hume, Probability, and Induction" The Philosophical Review, Vol. LXXIV (1965).*

11. *Penelhum, Terence, "Hume on Personal Identity." The Philosophical Review, Vol. LXIV (1955).*
12. *Macintyre, A.C., "Hume on "Is" and "Ought"." The Philosophical Review, Vol. LXVIII (1959).*
13. *Atkinson, R.F., "Hume on "Is" and "Ought"," A reply to Mr. Mac Intyre. The Philosophical Review. Vol LXX (1961)*
14. *Flew, Antony, "On the Interpreatation of Hume" Philosophy, Vol XXXVIII (1963).*
15. *Hunter, Geoffrey, "Hume on Is and Ought," Philosophy, Vol. XXXVII (1962)*
16. *Hunter, Geoffrey, "Reply to Professor Flew." Philosophy, Vol. XXXVIII (1963) " Not Proven"- At Most,"*
17. *Flew, Antony, "Not Proven"- At most," (Not published earlier).*
18. *Hudson, W.D., "Hume on Is and Ought," The Philosophical Quartery, Vol. VI (1956).*
19. *Wand, Bernard, "Hume's Account of Obligation" The Philosophical Quarterly, Vol. Vi (1956).*
20. *Hayek, F.A., " The legal and Political Philosophy of David Hume". Il Politico, Vol. XXVIII (1963)*
21. *Noxon, James, "Hume's Agnosticism," The Philosophical Review, Vol. LXXIII (1964).*
22. *Capitan, William H., "Part X of Hume's Dialogues" The American Philosophical Quarterly Vol. III (1966)*
23. *Nathan, George J., "Hume's Immanent God" (Not published earlier).*

3

ब्रैडले के अनुसार तत्त्वमीमांसा और आत्मा*

याकूब मसीह

तत्त्व-मीमांसा का समर्थन :

ब्रैड्ले की तत्त्व-मीमांसा के सम्बन्ध में वाण्डर वीर तीन पक्षों को प्रस्तुत करते हैं; प्रथम, वे ब्रैडले की रचनाओं के अध्ययन के फलस्वरूप ब्रैड्ले की तत्त्व-मीमांसात्मक प्रतिज्ञप्तियों को निश्चित करना चाहते हैं। द्वितीय, ब्रैड्ले के दर्शन के प्रति उठायी गयी आपत्तियों का निराकरण करना चाहते हैं। अन्य में, उपर्युक्त दोंनों पक्षों के आधार पर समकालीन विचार तथा विश्लेषण के द्वारा तत्त्व-मीमांसा का जीर्णोद्धारा करना चाहते हैं।

वाण्डर वीर समझते हैं कि तत्त्व-मीमांसा के प्रत्याख्यान में सत्यापन सिद्धान्त को प्रमुख माना जाता है (पृ. 6)। परन्तु सत्यापन-सिद्धान्त को स्वयं सत्यापनीय नहीं कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में सत्यापन-सिद्धान्त को वदतोव्याघात के दोष से बचाने के लिए दो बचाव ढूँढ़े जा सकते हैं। सर्वप्रथम, सत्यापन-सिद्धान्त को पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकारा जा सकता है। परन्तु किसी भी पूर्वमान्यता को सभी के लिए अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। तत्त्व-मीमांसी बिना किसी झिझक के सत्यापन-सिद्धान्त को अपने लिए पूर्वमान्यता स्वीकारने से इन्कार कर सकते हैं। ऐसी दशा में सत्यापन-सिद्धान्त के आधार पर तत्त्व-मीमांसा को अर्थहीन बताकर तत्त्व-मीमांसा का खण्डन नहीं किया जा सकता। फिर सत्यापन-सिद्धान्त को अक्षुण्ण रखने के लिए रसेल के प्रवर्ग-सिद्धान्त (थ्योरी ऑफ टाइप्स) की दुहाई देकर कहा जा सकता है कि सत्यापन-सिद्धान्त के आधार पर विज्ञान, तत्त्व-मीमांसा तथा लोक-साधारण ज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु विज्ञान, तत्त्व-मीमांसा इत्यादि निम्नतर स्तर की भाषाएँ हैं और सत्यापन-सिद्धान्त अपेक्षाकृत उच्चतर स्तर की भाषा है। इसलिए सत्यापन-सिद्धान्त की उच्चतर भाषा के आधार पर निम्नतर भाषा-प्रयोग स्पष्ट किया जा सकता है परन्तु सत्यापन-सिद्धान्त को स्वयं अपनी ही भाषा के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इसके लिए सत्यापन-सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक सामान्य तथा सूक्ष्म भाषा की आवश्यकता है। परन्तु वाण्डर वीर का कहना है कि जबतक सत्यापन-सिद्धान्त को अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर भाषा-स्तर पर नहीं स्पष्ट किया जाता तबतक इसे असिद्ध एवं अमान्य समझा जायगा (पृ. 3-4)। इसलिए सत्यापन-सिद्धान्त को वर्तमान स्थिति में ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता कि जिसके आधार पर तत्त्व-मीमांसा को खण्डित समझा जाय।

---

* *Garratt L. Vander, Veer, Bradley's Metaphysics and the Self, New Haven and London, Yale Uiniversity Press, 1970.*

अपितु, वाण्डर वीर का कहना है कि यदि सत्यापन-सिद्धान्त के अनुसार सत्यापनीय न होने के कारण तत्त्व-मीमांसा को अर्थहीन मान लिया जाय तो इसी कसौटी के आधार पर विज्ञान के सामान्य नियमों और सिद्धान्तों को भी अर्थहीन कहना चाहिए, क्योंकि उग्ररूप में इनका भी सत्यापन सम्भव नहीं हो सकता। परन्तु सत्यापन-सिद्धान्त तो इसीलिए स्थापित किया गया था कि इसके आधार पर वैज्ञानिक प्रकथनों को अर्थपूर्ण सिद्ध किया जाय और इसके विपरीत तत्त्व-मीमांसा को अर्थहीन दिखाकर तत्त्व-मीमांसा का बहिष्कार किया जाय। इसलिए वाण्डर वीर के अनुसार सत्यापन-सिद्धान्त को अपने लक्ष्य की पूर्ति न कर सकने के कारण व्यर्थ भी मानना चाहिए।

चूँकि वाण्डर वीर सत्यापन-सिद्धान्त को न्यायसंगत नहीं समझते हैं, इसलिए सत्यापन-सिद्धान्त पर आधृत तत्त्व-मीमांसा के खण्डन को भी वे अमान्य समझते हैं। वाण्डर वीर मानते हैं कि आत्मसंगति (कोहरेंस) के सिद्धान्त को परम तत्त्व के लिए प्रमाण माना जा सकता है और इसलिए परम तत्त्व के सन्दर्भ में निरपेक्ष अभिकथन सम्भव है। इसलिए वाण्डर वीर ब्रैड्ले के इस कथन को स्वीकार करते हैं कि विचार के द्वारा हम जानते हैं कि परम सत्ता सर्वसमावेशी आत्मसंगत अनुभूति है, यद्यपि इस कथन को पूर्णतया समष्टिपरक प्रत्यक्ष के आधार पर हम पुष्ट नहीं कर सकते। इसलिए वाण्डर वीर तार्किक प्रत्यक्षवाद (लॉजिकल पॉजिटिविज्म) के अनुसार तत्त्व-मीमांसा को अर्थहीन न मानकर तत्त्व-मीमांसा को अर्थपूर्ण स्वीकारते हैं और कहते हैं कि तत्त्व-मीमांसा में भी अनुभूति का स्थान है। यदि तत्त्व-मीमांसा के सिद्धान्त अनुभूतियों के अनुकूल न हों तो उन्हें कभी भी तत्त्व-मीमांसा में स्थान नहीं दिया जा सकता। उदाहरणर्थ, ज्ञाता रूप में आत्मा का स्मरण, इच्छात्मक उधेड़बुन तथा तादात्म्य की अनुभूति के आधार पर सिद्ध किया जाता है। अन्तर इतना ही है कि विज्ञान में अनुभूति के आधार पर वैज्ञानिक सिद्धान्तों को सत्यापित-असत्यापित किया जा सकता है और, इसके विपरीत, तत्त्व-मीमांसा में विरोधी तथ्यों के रहने के बावजूद तत्त्व-मीमांसा के सिद्धान्तों को आसानी से नहीं छोड़ा जा सकता। (पृ. 6-7)

उपर्युक्त स्थिति में वाण्डर वीर दो ऐसे तत्त्व-मीमांसियों का उल्लेख करते हैं जो उनके मत का समर्थन न करके तार्किक प्रत्यक्षवादियों के उस मत का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार तत्त्व-मीमांसात्मक कथनों का सत्यापन-असत्यापन नहीं हो सकता है। परन्तु डब्लू. एच. वाल्स तथा आर. जी. कॉलिंगवुड तत्त्व-मीमांसात्मक प्रकथनों के सत्यापनीय-असत्यापनीय नहीं होने के कारण उन्हें अर्थहीन, बकवास नहीं समझते हैं। वास्तव में वाल्श और कॉलिंगवुड तत्त्व-मीमांसात्मक कथनों को अभिकथन (ॲसॅ:शैन) मानते ही नहीं हैं। *वाल्श के अनुसार[1] तत्त्व-मीमांसा का उद्देश्य है कोटि-प्रत्ययों (कैटिगिरी) के आधार पर विश्व का ऐसा काल्पनिक चित्रण करना है कि इस चित्रण द्वारा विश्व की घटनाओं पर प्रकाश पड़ सके। वाल्श के मत का निम्नलिखित विश्लेषण किया जा सकता है (पृ. 8-11):

(1) तत्त्व-मीमांसात्मक कथन प्रतिज्ञप्ति नहीं प्रत्युत आदेशात्मक कथन है। परन्तु किसी भी आदेश को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए तत्त्व-मीमांसात्मक कथन भी सत्य-असत्य नहीं कहे जा सकते।

(2) चूँकि तत्त्व-मीमांसात्मक अभिकथन न तो सत्य और न असत्य कहे जा सकते हैं इसलिए तत्त्व-मीमांसा विभिन्न प्रकार की हो सकती है। भौतिकवाद, अध्यात्मवाद, तटस्थवाद इत्यादि विभिन्न

** अभिकथन वह है जो तथ्यों के आधार पर सत्य-असत्य सिद्ध किया जा सकता है।*

विचार-व्यवस्थाएं हैं और बिना किसी प्रकार के आत्मविरोध के विचारक इनमें से किसी को भी अपने लिए स्वीकार कर सकते हैं।

(3) इस प्रकार वास्तव में तत्त्व-मीमांसा को विज्ञान तथा गणित के मॉडल में न ढालकर विचारकों को तत्त्व-मीमांसा को कविता तथा साहित्यालोचन के मॉडल पर सोचना चाहिए (पृ. 9)। इसका कारण यह है कि तत्त्व-मीमांसा तथा कविता दोनों में अंतर्दृष्टि को ही मूलतन्त्र मानना चाहिए। यह ठीक है कि तत्त्व-मीमांसा में कोटि-प्रत्ययों के माध्यम से सूक्ष्म दृष्टि को संज्ञपित किया जाता है और इस प्रकार की अभिव्यंजना कविता में नहीं पायी जाती है। फिर तत्त्व-मीमांसा में भी अनुनयात्मक कथनों की सहायता ली जाती है न कि विज्ञान के समान तथ्यात्मक तथा तार्किक प्रमाणों का आश्रय लिया जाता है (पृ. 11)। दूसरे शब्दों में, तत्त्व-मीमांसा में निर्णायक परीक्षणों का अभाव रहता है।

वाण्डर वीर ने जॉन विस्डम के मत का उल्लेख नहीं किया है जिन्होंने गॉड्स नामक लेख में (सन् 1944-45) बताया था कि दर्शन दिव्यदृष्टिमात्र है; यह तथ्यों से निर्णीत दृष्टि नहीं है, परन्तु इसमें तथ्यों के प्रति व्यापक अभिवृत्ति पायी जाती है। वाल्श भी जॉन विस्डम के इस मत की पुष्टि करते हैं। तत्त्व-मीमांसा में अनेक मत सम्भव हैं। परन्तु तत्त्व-मीमांसी इनमें से किसी एक पक्ष को अपनी दृष्टि के अनुसार अपना लेते हैं और विश्व की विविध घटनाओं को यथोचित व्यवस्थित करके अपनी दृष्टि की पुष्टि करते हैं। विरोधी मतों में कोई ऐसा तथ्य नहीं रहता जो एक मत में पाया जाय और जो दूसरे मत में नहीं पाया जाय। तथ्य लगभग सभी तत्त्व-मीमांसात्मक मतों में एक-समान ही रहते हैं। केवल बुझव्वल-चित्र के समान एक दृष्टि के अनुसार एक ही चित्र बत्तख दिखाई देता है और फिर दूसरी दृष्टि में वही चित्र खरगोश दिखता है। इस प्रकार तत्त्व-मीमांसात्मक मत तथ्यों से निर्धारित नहीं होते वरन् स्वयं तथ्य ही विभिन्न रूप में विभिन्न तत्त्व-मीमांसात्मक दृष्टियों के द्वारा व्यवस्थित होकर विश्व का विभिन्न रीति से चित्रण करते हैं। कोई चित्रण अन्य चित्रण की अपेक्षा किसी विचारक को अधिक दिव्य-दृष्टिमूलक दिखाई पड़ सकता है और वह इस दृष्टि से ज्ञात सभी तथ्यों को अपने ढंग से व्यवस्थित कर अन्य विचारकों में भी अनुनयात्मक युक्तियों के आधार पर इस दृष्टि को प्रबुद्ध करता है। अत: वाल्श के अनुसार तत्त्व-मीमांसा को दृष्टि, बोधि तथा ज्योति की संज्ञा दी जा सकती है (पृ. 10) परन्तु वाण्डर वीर वाल्श के इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं।

वाण्डर वीर का कहना है कि यदि तत्त्व-मीमांसा विचारकों की आत्मनिष्ठ दृष्टियों पर अवलम्बित हो तो वाल्श के मत को भी दार्शनिक रचनाओं के संदर्भ में आत्मनिष्ठ माना जायगा। तब क्यों वाल्श के मत को मान्यता दी जाय जबकि केवल वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त को ही मान्यता दी जा सकती है? वाल्श और वाण्डर वीर के बीच मुख्य अन्तर यह है कि वाल्श के अनुसार विश्व-चित्रण प्राथमिक कोटि-प्रत्ययों अथवा सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है और वाल्श के अनुसार बिना किसी व्याघात के इन मूल सिद्धान्तों को नकारा जा सकता है। जैसे, वाल्श के अनुसार बिना किसी व्याघात के हम नकार सकते हैं कि सभी घटनाएँ किसी न किसी कारण द्वारा सम्पादित होती हैं। वाल्श के विपरीत वाण्डर वीर का कहना है कि ब्रैड्ले के उस तत्त्व-मीमांसात्मक मूल सिद्धान्त को बिना व्याघात के नहीं नकारा जा सकता है जिसके अनुसार परमसत्ता को तार्किक रूप से सामंजस्यपूर्ण स्वीकार किया जाता है। ब्रैड्ले ने सिद्ध किया है कि यदि हम यह स्वीकार नहीं करें कि परम सत्ता तार्किक रीति से सामंजस्यपूर्ण

है, तो किसी भी प्रकार का विचार-विमर्श सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए वाण्डर वीर के अनुसार, तत्त्व-मीमांसा के सिद्धान्त भी निर्णायक रीति से वस्तुनिष्ठ सत्य माने जा सकते हैं। चूँकि वाण्डर वीर तत्त्व-मीमांसा को तात्त्विक रूप से सत्य मानते हैं, इसलिए वे कॉलिंगवुड के तत्त्व-मीमांसा-सम्बन्धी मत को दोषपूर्ण समझते हैं, क्योंकि कॉलिंगवुड के अनुसार तत्त्व-मीमांसा का सम्बन्ध निरपेक्ष पूर्व मान्यताओं के साथ है और पूर्वमान्यताओं को न तो सत्य कहा जा सकता है, न असत्य।

कॉलिंगवुड स्वीकार करते हैं कि तथ्यात्मक सत्य की कसौटी वैज्ञानिक परम्परा के अनुरूप मानी जाएगी और यदि तत्त्व-मीमांसात्मक कथन तथ्यात्मक होते तो उनकी अर्थपूर्णता भी सत्यापन-सिद्धान्त के ही द्वारा निर्धारित होनी चाहिए थी। परन्तु कॉलिंगवुड के अनुसार तत्त्व-मीमांसा का सम्बन्ध तथ्यों के साथ नहीं होता है। तत्त्व-मीमांसा को पूर्वमान्यताओं का आनुभविक अध्ययन कहा जा सकता है। वाण्डर वीर कॉलिंगवुड के मत को दोषपूर्ण समझते हैं। क्या किसी भी पूर्वमान्यता को बिना तथ्यों को ध्यान में रखकर प्रतिष्ठित किया जा सकता है ? दो -चार तत्त्व-मीमांसात्मक कथनों के उदाहरण हैं, 'ईश्वर है,' 'कोई भी घटना बिना किसी कारण के नहीं घटती', 'परम तत्त्व तर्कबुद्धिपरक होता है' इत्यादि। क्या इन कथनों का सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं है ? वाण्डर वीर का कहना है कि 'परम सत्ता तर्कबुद्धिगम्य है यह केवल पूर्वमान्यता नहीं है वरन् ब्रैड्ले के अनुसार यह सत्य अभिकथन है।' फिर वाण्डर वीर का कहना है कि कॉलिंगवुड का कथन आत्मविरोधी है। क्या यह कहना कि तत्त्व-मीमांसा पूर्वमान्यतों का अध्ययन है, निरपेक्षतया सत्य है ? क्या कॉलिंगवुड के मत को बिना किसी आत्मव्याघात के नकारा जा सकता है ? चूँकि 'निरपेक्ष पूर्वमान्यता' के मत को हम नकार सकते हैं, इसलिए कॉलिंगवुड के मत को निरपेक्षतया सत्य नहीं कहा जा सकता (पृ. 15-16)।

वाण्डर वीर इस निष्कर्ष पर आते हैं कि तत्त्व-मीमांसा का सम्बन्ध परम तत्त्वों से है और परम तत्त्व के संदर्भ में सत्य कथन कहे जा सकते हैं। सत्यापन-सिद्धान्त स्वयं दोषपूर्ण है और इस पर आधृत तत्त्व-मीमांसा की अर्थहीनता नहीं स्वीकार की जा सकती है। वाल्श और कॉलिंगवुड तत्त्व-मीमांसा को असंज्ञानात्मक रूप से (नान्कोग्नीटिवली) ही उचित मानते हैं। परन्तु वाण्डर वीर के अनुसार तत्त्व-मीमांसा संज्ञानात्मक रूप से सत्य होती है। अत: ब्रैड्ले की तत्त्व-मीमांसा को युक्तिसंगत स्वीकार किया जा सकता है।

आमुख में वाण्डर वीर ने ब्रैड्ले की तत्त्व-मीमांसा को उचित बौद्धिक प्रयास बताते हुए उनके दर्शन को उन्होंने दो भागों में बाँटा है। प्रथम भाग में ब्रैड्ले की तत्त्व-मीमांसा का समकालीन विश्लेषण और समर्थन 10 अध्यायों में सम्पन्न किया गया है और दूसरे भाग में ब्रैड्ले के आत्म-सम्बन्धी विवेचन पर प्रकाश डाला गया है। ब्रैड्ले के दर्शन के दृष्टिकोण से दूसरे भाग की अपेक्षा प्रथम भाग को ही अधिक मान्यता दी जायगी और यह बात इस पुस्तक की समीक्षा में दिखायी जायगी।

ब्रैड्ले के दर्शन की प्रमुख पूर्वमान्यताएं :

ब्रैड्ले ने 'आभास और सत्' की भूमिका में लिखा है कि आभास के विपरीत परम तत्त्व के जानने प्रयास को तत्त्व-मीमांसा कहा जा सकता है। फिर उन्हें इस बात का दृढ़ विश्वास है कि उन्हें परम तत्त्व के निश्चित तथा वास्तविक रूप का ज्ञान है, यद्यपि यह ज्ञान अधूरा ही सम्भव हो सकता है।[2] ब्रैड्ले ने परम तत्त्व को जानने का दावा तार्किक आधार पर किया है जिसे उन्होंने 'आभास और सत्' की परिशिष्ट भूमिका में व्यक्त किया है। ब्रैड्ले के अनुसार तत्त्व-मीमांसा का लक्ष्य है कि वह ऐसी सामान्य

दृष्टि को स्थापित करे जो बुद्धिसंगत हो और जो सफल रूप से बुद्धि-संगत है वही सत् और सत्य है। जो इस दिशा में सफल न हो वह ब्रैड्ले के अनुसार न सत् है और न सत्य ही।[3] बुद्धिसंगत होने का क्या अभिप्राय है ? वाण्डर वीर के अनुसार इसमें दो बातें हैं, अर्थात् (क) व्याघात का नियम निरपेक्षतया सत्य है, और (ख) यह केवल विचार का नहीं, वरन् वास्तविकता का भी नियम (पृष्ठ 123) है। ब्लैन्शार्ड के शब्दों में, बिना व्याघात के नियम की पूर्वापेक्षा किए हुए व्याघात के नियम को नकारा नहीं जा सकता है (पृ. 124)। परन्तु यदि मान भी लिया जाय कि किसी रूप में पहले से व्याघात के नियम को स्वीकार करके ही व्याघात-नियम को नकारा जा सकता है, तो भी जबतक सिद्ध नहीं किया जाय कि व्याघात का नियम स्वयं परम वास्तविकता में निहित है, तबतक कैसे कहा जायगा कि परम तत्त्व सर्वसमावेशी सामंजस्यपूर्ण अखंड अनुभूति है ? वाण्डर वीर ने जोजेफ के मत को यहाँ उद्धृत किया है। जोजेफ का कहना है कि कोई भी नहीं कहेगा कि अमुक पुस्तक एक ही देश और काल में लाल और सफेद है क्यों ? क्योंकि यह वास्तविकता का तकाजा है कि एक ही अर्थ में एक समय और देश में कोई भी वस्तु लाल और सफेद नहीं हो सकती है।[4] परन्तु स्वयं ब्रैड्ले ने इस प्रसंग में कहा है कि सत्य (जो संगत विचार है) और सत् (परम सत्ता) में तादात्म्य रहते हुए भी अंतर है और इन दोनों के भिन्न रहते हुए भी इनको भिन्न नहीं माना जा सकता।[5] ऐसी अवस्था में व्याघातरहित सामंजस्यपूर्णता की व्याख्या होनी चाहिए। ब्रैड्ले उस हेगेलीय मत को स्वीकार करते हैं जिसमें सम्पूर्णतया संदेहवाद से बचने के लिए विचार और वस्तु के बीच तात्त्विक अभेद अथवा तादात्म्य स्वीकार किया गया है। फिर यह भी ठीक है कि हेगेल ने भी मूर्त प्रत्ययों पर बल दिया था। परन्तु ब्रैड्ले ने परम सत्ता की अपेक्षा पूर्णत्व पर बहुत बल दिया है और ऐसा करने पर ब्रैड्ले ने व्याघात-नियम को एक नई दिशा दी है।

ब्रैड्ले के अनुसार, प्रत्येक निषेध किसी न किसी भावात्मक पक्ष पर आधारित होता है। उदाहरणार्थ, 'यह पुस्तक लाल नहीं है' निरपेक्षतया लाल का अभावमात्र नहीं है। परोक्षत: लाल का अभाव किसी न किसी अन्य वर्ण के भाव का बोध कराता है। दूसरे शब्दों में 'यह पुस्तक लाल नहीं है, क्योंकि यह सफेद या काली है' इस रूप में व्याघात का अर्थ निरपेक्षतया अभाव नहीं हो सकता। न-अ से शुद्ध 'अ' का अभाव नहीं ध्वनित हो सकता है। जिस प्रकार 'लाल नहीं' से हरे, सफेद आदि का होना ध्वनित होता है और लाल के संदर्भ में हरे, सफेद आदि को लाल का विरोधी गुण समझा जाता है। उसी प्रकार वास्तव में व्याघातक गुण को विरोधी गुण समझा जा सकता है। दि प्रिंसिपल्स ऑफ लॉजिक में ब्रैड्ले ने लिखा है कि निषेध खंडित अवश्य करता है, पर यह व्याघातक पद के अस्तित्व का विधान नहीं करता।[6] परन्तु विरोधी गुणों के एक-साथ रहने का अर्थ होता है कि उनका संयोग तथा सान्निध्य है और वस्तुओं के संयोग से ध्वनित होता है कि उनके बीच केवल बाह्य सम्बन्ध है, अर्थात् उनके एक-साथ रहने का कोई पर्याप्त हेतु नहीं है। पर्याप्त हेतु के अभाव में ही किसी कथन को बौद्धिक असंतोष कहा जा सकता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ब्रैड्ले के अनुसार मुख्य सिद्धान्त को इसलिए आभास कहा गया है कि उनमें पर्याप्त हेतु नहीं है (पृ. 104-105)। पर्याप्त हेतु कैसे प्राप्त होगा ? यदि कथनों के संदर्भ को विस्तारित कर दिया जाय। उदाहरणार्थ, यदि लाल और हरे को एक ही स्थल, काल और वस्तु में सीमित न करके हम अनेक स्थल और काल तथा वस्तुओं का संदर्भ ध्यान में रखें तो सभी वर्ण एक-साथ सम्भव हो सकते हैं और इन विरोधी वर्णों में सामंजस्यपूर्णता भी चली आएगी। अब ब्रैड्ले की मान्यता है कि परम सत्ता सर्व-समावेशी सामंजस्यपूर्ण अनुभूति है। इसलिए कोई भी वस्तु इस परम सत्ता से

बाहर नहीं हो सकती है। इसलिए निरपेक्षतया कुछ भी व्याघातक नहीं प्राप्त किया जा सकता है। जो भी वस्तु अथवा सत्य जितना ही अधिक संग्राही होगा वह उतना ही अधिक सामंजस्यपूर्ण होगा और जितना कम संग्राही होगा वह उतना ही आंशिक होगा और जितना अधिक आंशिक होगा वह उतना ही अधिक 'आभास' कहलाएगा (पृ. 107-108)। इसलिए ब्रैड्ले के अनुसार, वह जो बुद्धि को पूर्ण संतोष प्रदान कर सकता है उसे सर्वसंगत तथा सामंजस्यपूर्ण होना चाहिए और फिर उसे पूर्ण तथा सर्वसमावेशी होना चाहिए। अंत में देखा जाय तो ये दोनों एक ही सत्य के अवियोज्य अंग हैं। जो सामंजस्यपूर्ण नहीं है वह अधिक व्यापक सत्य की ओर आह्वान करता है, और फिर आंशिक सत्य से संतोष प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि आंशिकता से सर्वसंगति नहीं प्राप्त हो सकती है।

ब्रैड्ले का प्रारम्भ-बिन्दु तथा अनुभववाद :

ब्रैड्ले का प्रमुख सिद्धान्त था कि जो कुछ भी परम सत्ता हो उसे सामंजस्यपूर्ण होना चाहिए, और इससे उन्होंने सर्वसमावेशिता का दूसरा पक्ष भी प्राप्त किया। इसलिए ब्रैड्ले के लिए परम सत्ता एक परम सामंजस्यपूर्ण विलक्षण अनुभूति है। यदि परम सत्ता अनुभूति नहीं तो इसे प्रत्ययों की व्यावस्था कहा जायगा। परन्तु प्रत्यय, प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यय अमूर्त (एब्स्ट्रेक्ट) विषय होता है और अमूर्त गुण वास्तविक नहीं होता। उदाहरणार्थ, लाल वस्तु, हरी पत्ती इत्यादि वास्तविक वस्तुएं हैं। परन्तु लाली तथा हरापन किसी भी इन्द्रिय से नहीं जाने जा सकते। इसलिए उन्हें वास्तविक नहीं कहा जा सकता। चूँकि हेगेल ने प्रत्ययों पर अधिक बल दिया था, इसलिए ब्रैड्ले ने हेगेल के प्रत्ययवाद को निर्जीव प्रत्ययों का अवास्तविक नृत्य कहा है। ब्रैड्ले के अनुसार, जो कुछ भी न प्रतीत हो और न प्रत्यक्ष हो वह अर्थहीन कहा जायगा। इसलिए ब्रैड्ले ने परम सत्ता को 'विलक्षण अनुभूति' कहा है।

ब्रैड्ले के अनुसार "किसी विद्यमान अथवा संभाव्य वस्तु को, अथवा किसी भी ऐसी वस्तु को जिसके सम्बन्ध में किसी भी अर्थ में सत्ता का विधान किया जा सकता है, लें और तब उस पर विचार करें कि इसे ऐन्द्रिय-अनुभव कहा जा सकता है, या नहीं। ...... मैं इसी निष्कर्ष को अपनाने में विवश हो जाता हूँ कि मेरे लिए अनुभूति और सत्ता एक ही है।"[7]

क्या आत्मनिष्ठ तथा क्षणिक अनुभूति को परम वास्तविकता स्वीकार कर लिया जाय ? नहीं। परम सत्ता पूर्ण सर्वसमावेशी अनुभूति है जो काल-देश आदि के भेदों से परे सम्बन्धातीत पूर्ण वास्तविकता है, जिसकी तुलना में मानव-अनुभूति क्षणिक, आंशिक तथा कालिक है। मेरी समझ में ब्रैड्ले की यह परम पूर्वमान्यता है कि परम वास्तविकता एक पूर्ण अनुभूति है जिसमें समस्त घटनाएँ, सभी वस्तुएँ तथा आभास एक साथ ही पाये जाते हैं। ब्रिटिश अनुभववादी परम्परा को अपनाते हुए ब्रैड्ले यह भी मानते हैं कि परम सत्ता का हमें साक्षात् स्पर्श हमारे अनुभव-मात्र में प्राप्त होता है और इस साक्षात् सम्पर्क को परम सत्ता का निर्दोष प्रत्यक्ष मानना चाहिए। किसी एक प्रत्यक्ष से ही परम सत्ता का पूर्ण ज्ञान हो सकता, परन्तु समस्त प्रत्यक्षों के आधार पर हम परम सत्ता के विषय में ज्ञान-रचना कर सकते हैं। इस स्थल पर ब्रैड्ले की उपमा उपादेय है।[8]

मानलें कि एक नदी, जिसका न कोई तट है और न आदि-अंत, बहती जा रही है और वह घोर अंधकार से आच्छादित है। इस बहती नदी में अनेक वस्तुएँ प्रवाहित होती रहती हैं। एक प्रदीप है जो अंधकारमय नदी की वस्तुओं को प्रज्वलित करता रहता है। यह प्रदीप-प्रकाश घटता-बढ़ता रहता है और प्रकाश-केन्द्र के आस-पास भी प्रकाश की आभा रहती है।

अब इस उपमा में नदी वास्तव में परम सत्ता है और प्रदीप-प्रकाश इन्द्रियानुभव है। वस्तुएँ अनुभव-चेतना में आती हैं और फिर ओझल होती रहती हैं, परन्तु मुख्य बात है कि बिना इन्द्रियानुभव के हमें सत्ता का ज्ञान हो ही नहीं सकता। चूँकि पूरी नदी कभी भी किसी के प्रदीप-प्रकाश में नहीं आ सकती, इसलिए सम्पूर्ण सत्ता का हमें कभी भी पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। द्वितीय, जो कुछ भी हमें प्रदीप-प्रकाश (अथवा इन्द्रियानुभव) से परम सत्ता की प्रतीति होती है वह विश्वसनीय अनुभूति है और बिना ऐन्द्रिय अनुभूति के परम सत्ता का किसी भी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं है। परम सत्ता की साक्षात् अनुभूति को ब्रैड्ले मूल और विश्वसनीय आरम्भ-बिन्दु मानते हैं और बिना इसके स्वरूप को ध्यान में रखे हुए ब्रैड्ले के दर्शन को समझना कठिन हो जायगा।

सर्वप्रथम परम सत्ता का अव्यवहित अनुभव होता है जिसे अविच्छिन्न सम्बन्धरहित पूर्ण अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है (पृ. 72, 75, 77-78,90-92)। इसे 'अविच्छिन्न अवबोधन' इसलिए कहा जाता है कि इसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद अव्यक्त रूप में हो सकता है, परन्तु अनुभूति के क्षण में इसका कोई भेद चेतना में नहीं रहता है। तो भी ब्रैड्ले इसे 'पूर्ण प्रतीति' की संज्ञा देते हैं। इस पूर्ण-भाव को उन्होंने पूर्वसम्बन्धात्मक पूर्ण अनुभव कहा है। इसी अविच्छिन्न साक्षात् अनुभूति के आधार पर विचार सत्ता-सम्बन्धात्मक ज्ञान को स्थापित करता है। परन्तु किसी भी सम्बन्धात्मक ज्ञान से परम सत्य और सत् नहीं प्राप्त हो सकता। विचार का लक्ष्य सर्वसमावेशी सामंजस्यपूर्ण अनुभूति को प्राप्त करना है। परन्तु विचार सर्वसम्बन्ध-रहित पूर्णसत्ता को नहीं प्राप्त कर सकता। अतः, तत्त्वान्वेषण की प्रथम सीढ़ी साक्षात् अनुभूति है जो पूर्वसम्बन्धात्मक पूर्ण-भाव है। तब विचार साक्षात् अनुभूति के अव्यक्त अंगों को, उनमें निहित सम्बन्धों को निखारकर, इस अनुभूति को पूर्ण करना चाहता है। पर विचार बिना भेद उत्पन्न किए किसी भी अनुभूति का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। अन्तिम सीढ़ी वह है जिसमें सम्बन्धोत्तर पूर्ण को प्राप्त किया जाय। विचार के स्तर से यह अनिवार्य लक्ष्य प्रतीत होता है, परन्तु विचार के स्तर पर रहते हुए इस पूर्ण सत्ता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

विशेष बात यह है कि साक्षात् अनुभूति परम सत्ता की ही होती है और यह परम सत्ता की निर्दोष झाँकी है। यदि इस साक्षात् अनुभूति को परम सत्ता की सच्ची झाँकी नहीं माना जाय तो हमारा किसी प्रकार से परम सत्ता के साथ सम्पर्क नहीं रह पाएगा। परन्तु यदि इस अव्यवहित अनुभूति को परम सत्ता का सही बोधन माना जाय तो हमें कहना पड़ेगा कि परम सत्ता पूर्ण है और उसका अविच्छिन्न भाव साक्षात् अनुभूति में प्राप्त होता है। यह ठीक है कि परम सत्ता का पूर्णत्व आदिम अव्यवहित अनुभूति के पूर्णत्व से कहीं अधिक सम्पूर्ण है, तो भी हमें स्वीकारना चाहिए कि साक्षात् अनुभूति में पूर्णत्व की भावना आदिम और मूल बोधन है जो बाद में चलकर सभी विचार में निहित संश्लेषण तथा एकीकरण में मूलाधार रूप से विद्यमान रहता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि साक्षात् अनुभूति का ऐक्य-भाव असन्तुलित रूप में रहता है और इसमें निहित अविच्छिन्न अंग विभिन्न दिशाओं में खींचतान के हेतु दोलायमान होते रहते हैं। इस ऐक्य-भाव को स्थायी करने की लिए विचार का आगमन होता है जो एक प्रकार से साक्षात् अनुभूति का सही और विकसित चरण अवश्य है, परन्तु विचार द्वारा साक्षात् अनुभूति में निहित पूर्णत्व-भाव कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है। दूसरी बात है कि साक्षात् अनुभूति क्षणिक होती है और यह अपने को पूर्ण करने के हेतु अन्य अनुभूतियों का आह्वान करती है और फिर साक्षात् अनुभूति को पूर्ण एवं स्थायी करने के लिए विचार की आवश्यकता पड़ जाती है। परन्तु विचार

कभी भी साक्षात् अनुभूति में निहित पूर्णत्व के भाव को परिपूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता है। इसके पहले कि बताया जाय कि क्यों विचार परम सत्ता को नहीं प्राप्त कर सकता है, साक्षात् अनुभूति के प्रति कुछ आपत्तियों का निराकरण करना चाहिए। यहाँ वाण्डर वीर ने कनिंघम की यह आपत्ति साक्षात् अनुभूति के विषय में उल्लिखित की है कि साक्षात् अनुभूति सम्बन्धरहित पूर्णत्व-भाव है तो इस साक्षात् अनुभूति के आधार पर सम्बन्धात्मक विचार किस प्रकार परम सत्ता का ज्ञान दे सकता है ? (पृ. 72-74) यहाँ वाण्डर वीर कनिंघम की आपत्ति को सही नहीं मानते हैं। वाण्डर वीर का कहना है कि ब्रैड्ले के अनुसार साक्षात् अनुभूति के दो पक्ष हैं, एक पूर्ण का भाव और दूसरा अव्यक्त रूप से विभिन्न भेदों का रहना। विचार अव्यक्त भेदों को व्यक्त कर देता है। इस रूप में विचार साक्षात् अनुभूति का विकसित रूप कहा जायगा। परन्तु चूँकि विचार साक्षात् अनुभूति में निहित मूल पूर्ण-भाव को नहीं प्राप्त कर सकता, इसलिए विचार को साक्षात् अनुभूति का संतोषजनक विकास नहीं कहा जा सकता (पृष्ठ 77)।

फिर वाण्डर वीर कैम्बेल की आपत्ति का उल्लेख करते हैं (पृ. 90-92)। कैम्बेल का कहना है कि जब साक्षात् अनुभूति ज्ञाता-ज्ञेय से परे अविच्छिन्न अनुभूति होती है, तब कैसे कहा जाय कि यह साक्षात् अनुभूति परम सत्ता की अनुभूति है ? मेरी समझ में वाण्डर वीर ने कैम्बेल की आपत्ति का पूरा समाधान नहीं किया है। इसका कारण है कि ब्रैड्ले की 'साक्षात् अनुभूति' कोई आवृत्तीय, संज्ञापनीय तथा सार्वजनिक अनुभूति नहीं है। प्राथमिक अनुभूति के सन्दर्भ में यह ब्रैड्ले की पूर्वधारणा -मात्र है। फिर ब्रैड्ले के अनुसार, 'पूर्णता' को 'अंगों के योगफल' के रूप में नहीं समझा जा सकता, बल्कि अंगों को पूर्णता के माध्यम से समझा जा सकता है। इसलिए ब्रैड्ले परम सत्ता को पूर्ण मानते हैं और अन्य सभी अनुभूतियों को पूर्ण सत् का क्रमशः प्रस्फुटन मानते हैं। परन्तु ब्रैड्ले के मत के समर्थन में वाण्डर वीर का कहना है कि जब भी कोई अनुभूति होगी तब उसमें निहित वस्तु-विषय भी अवश्य होगा। इसलिए साक्षात् अनुभूति में भी वस्तु-विषय मानना पड़ेगा जिसे परम सत्ता कहा जा सकता है, और इसी परम सत्ता की पूर्णता की साक्षात् अनुभूति की बात कवि और रहस्यवादी करते हैं (पृ. 92)।

चूँकि साक्षात् अनुभूति क्षणिक और असन्तुलित है इसलिए इस मूल अनुभूति को पूर्ण बनाने के लिए विचार की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए विचार के स्वरूप, उसमें निहित कोटि-प्रत्यय और उसकी सीमितता पर प्रकाश डाला जाना ब्रैडले के दार्शनिक चिन्तन के निहितार्थ को समझने के लिए उपादेय हो सकता है।

विचार का स्वरूप अर्थात् निर्णय-सिद्धान्त

विचारने की प्रक्रिया निर्णय में देखी जाती है जिसमें प्रत्ययों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि अन्त में निर्णय को सत्य अथवा असत्य कहा जा सके। स्वयं ब्रैड्ले ने निर्णय की परिभाषा दी है कि निर्णय वह प्रत्ययात्मक प्रक्रिया है जिसमें प्रत्ययात्मक वस्तु का अपने से इतर सत्ता की ओर निर्देश करती है। वाण्डर वीर ने ब्रैड्ले की निर्णय-परिभाषा को चार भागों में विश्लिष्ट किया है (पृ. 24) :

(1) निर्णय में प्रत्यय पाए जाते हैं।

(2) प्रत्येक निर्णय में निर्देशन रहता है।

(3) निर्णय-प्रक्रिया के अतिरिक्त एक सत्ता रहती है जिसके द्वारा किसी भी निर्णय को सत्य अथवा असत्य सिद्ध किया जा सकता है।

(4) सभी निर्णय-कथन अंत में हेत्वाश्रित होते हैं।

अनुभववादी परम्परा का खंडन करते हुए ब्रैड्ले बताते हैं कि प्रत्यय को न तो संवेदन और न बिंब कहा जा सकता है। इसका कारण है कि प्रत्यय में सर्वव्यापीपन पाया जाता है और संवेदन तथा बिंब दोनों में विशिष्टता देखी जाती है। उदाहरणार्थ, घोड़ा सवारी का पशु है। यहाँ 'घोड़ा' किसी भी विशिष्ट घोड़े के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है (पृ. 21)। ब्रैड्ले के अनुसार प्रत्यय एक चिह्न है जिसका अपना व्यापक अर्थ होता है। तब इस चिह्न को प्रस्तुत विषय का एक ऐसा अपकर्षित अंश माना जा सकता है जो वस्तु की वास्तविकता से पृथक् होकर अन्य वस्तुओं के अर्थ का भी बोध करा सके। प्रत्यय में संभवत: वास्तविक वस्तु हो सकती है, पर प्रत्यय इस वास्तविक वस्तु का केवल एक अंशमात्र होता है। उदाहरणार्थ, गार्ड की हरी झंडी रेलगाड़ी के चलने का अर्थ अभिव्यंजित करती है। परन्तु हरी झंडी का हरापन ही यहाँ प्रत्यय का काम करता है। झंडी का पुरानापन अथवा फटापन या छोटापन इत्यादि इसमें प्रासंगिक नहीं होते।

प्रत्ययों की संवेदनापरक अथवा प्रतिभामूलक अनुभववादी व्याख्या को ब्रैड्ले भ्रामक बताते हुए कहते हैं कि विचारने में प्रतिभा का रहना तक भी अनिवार्य नहीं माना जा सकता। बात यह है कि प्रत्यय में अर्थ होता है, अर्थात् इसमें सर्वव्यापकता और बनावटीपन (कृत्रिमता) पाया जाता है। यदि लाल गुलाब से प्रेम और पीले फूल से ईर्ष्या का बोध हो तो लाल गुलाब और प्रेम में किन बिंबों के सादृश्य के आधार पर सहचार दिखाया जा सकता है ? फिर लॉक ने बताया था कि विचारने में एक बिंब अन्य बिंबों का सहचार के आधार पर प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु 'घोड़ा' शब्द किस प्रकार असंख्य घोड़ों का प्रतिनिधित्व कर सकता है ? अनुभववादियों के बिम्ब-सहचार का खण्डन करते हुए ब्रैड्ले ने कहा है कि प्रत्ययों में विशिष्ट बिम्ब नहीं होता, वरन् यहाँ एक वर्ग विशेष अन्य वर्ग विशेष की ओर निर्देश करता है। 'घोड़ा' शब्द एक वर्ग है और यह वर्ग घोड़ा जाति की ओर संकेत करता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्यों ब्रैड्ले प्रत्यय-विचार में अनुभववादी व्याख्या को नहीं मानते हैं ?

ब्रैड्ले एकत्ववादी हैं और अनुभववादी लॉक से लेकर रसेल तक संवेदन और वस्तुओं की पृथक्कता तथा उनकी अनेकता को स्वीकारते हैं। इसलिए ब्रैड्ले एकत्व की संरक्षा में संवेदन तथा बिम्बों के स्वतन्त्र तथा पृथक् अनेकत्व का खण्डन करते हैं। परन्तु ब्रैड्ले इतना स्वीकार करते हैं कि प्रत्यय वास्तविक वस्तु का एक अंशमात्र है जिसे वास्तविकता से खण्डित कर प्राप्त किया जाता है। परन्तु विचारने को वास्तविकता से हटाया भी नहीं जा सकता है। यही कारण है कि कुक विल्सन वास्तववादी होने की हैसियत से बताते हैं कि विचार का सम्बन्ध वस्तु के साथ सीधा और साक्षात् है, न कि प्रत्यय के माध्यम से विचार और वस्तु के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है (पृ. 25-26)। ब्रैड्ले का कहना है कि वास्तववादी आधार पर भ्रम की व्याख्या नहीं हो पाती है। परन्तु भ्रम भी एक ठोस अनुभूति है। अत: विचारने में भ्रामक वस्तु के साथ कैसे साक्षात् सम्बन्ध स्वीकारा जा सकता है? परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्यय का सम्बन्ध वास्तविकता के साथ किसी न किसी रूप में अवश्य रहना चाहिए। हम रसगुल्ले का स्वाद कितनी भी देर तक और कितनी भी तीव्रता के साथ क्यों नहीं कल्पित करें, रसगुल्ले का प्रत्यय वास्तविकता में नहीं परिणत हो सकता। इसलिए निर्णय या विचार प्रत्ययों के संश्लेषण से अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु प्रत्ययों में ही निर्णय सीमित नहीं किया जा सकता है। प्रत्ययों के संश्लेषण की जाँच वास्तविकता के आधार पर की जाती है। यही कारण है कि केवल उसी निर्णय-कथन को निर्णय की संज्ञा दी जाती है जो सत्य-असत्य हो सके और

निर्देशन को वास्तविकता के प्रति स्वीकार किए बिना निर्णय को सत्य-असत्य नहीं ठहराया जा सकता है। अत: निर्णय प्रत्ययात्मक रहते हुए भी प्रत्यय मात्र नहीं कहा जा सकता परंतु वास्तविकता-निर्देशन की व्याख्या यहाँ आवश्यक हो जाती है।

यह ठीक है कि निर्णय का सम्बन्ध वास्तविकता के साथ रहता है और वास्तविकता प्रत्यक्ष से प्राप्त होती है। हम लोगों ने पहले देखा है कि ब्रैड्ले का प्रारंभ-बिन्दु साक्षात् अनुभूति है और केवल साक्षात् अनुभूति में ही परम सत्ता के साथ सम्पर्क स्थापित होता है। यह साक्षात् अनुभूति पूर्ण, परन्तु अव्यक्त अंगों के साथ रहती है। विचार इस वास्तविकता की अनुभूति को इसके अव्यक्त अंगों को स्पष्ट करके भेद उत्पन्न करता है। जब दूर से किसी वस्तु को देखते हैं तब हम कहते हैं कि यह है, पर हम यह नहीं निश्चित कर पाते कि यह क्या है। अत: सामान्य वास्तविकता की साक्षात् (प्रदत्त) अनुभूति विचार को ''है'' और ''क्या है'' तद् (देट्) और किम् (ह्वाट) के दो भेदों में व्यक्त कर देता है। प्राय: तद् को हम व्याकरणिक कथन में उद्‌देश्य और किम् को विधेय बनाते हैं, जैसे :

(क) यह/घोड़ा है।

(ख) यह घोड़ा/लाल है।

परन्तु क्या 'यह' या 'यह घोड़ा' वास्तव में निर्णय के उद्देश्य-पद हो सकते हैं ? ब्रैड्ले का कहना है कि सुविधा के अनुसार प्रचलित भाषा में हम किसी वास्तविक घटना को व्याकरणित रूप में उद्देश्य या विधेय के अंशों में बाँट सकते हैं। परन्तु तार्किक दृष्टि के आधार पर निर्णयों की व्याख्या व्याकरणिक उद्देश्य और विधेय के दो पृथक् अंशों में नहीं की जा सकती है। हमें एक ही विभिन्न अंगों के सहित प्रत्यय प्राप्त होते हैं और पूर्ण प्रत्यय को हम उद्देश्य-विधेय के भेद में विभक्त कर देते हैं। हमने (क) में 'यह घोड़ा' और (ख) में 'यह लाल घोड़ा' के दो पूर्ण प्रत्ययों को अपनी सुविधा के लिये उद्देश्य-विधेय में व्यक्त कर निर्णय बनाया है। परन्तु ब्रैडले ने दिखाया है कि निर्णय-विषयक व्याकरणिक उद्देश्य-विधेय का सिद्धान्त सर्वथा भ्रमपूर्ण है। परन्तु अन्त में देखा जाय तो निर्णय साक्षात् अनुभूति से प्राप्त होते हैं और साक्षात् अनुभूति का सम्बन्ध साक्षात् परम सत्ता से रहता है। इसलिये जितने भी व्याकरणिक निर्णय-कथन हों वे सब के सब केवल एक परम-सत्ता के विशेषण और उसके प्रकाशन मात्र हैं। इसलिये उपरोक्त (क) और (ख) निर्णयों का सही रूप होगा :

(क) परमसत्ता ऐसी है/ कि इसमें घोड़ा है।

(ख) परम सत्ता ऐसी है/कि यह लाल घोड़ा है।

यदि पाठक ब्रैड्ले की अन्धकारमय तटविहीन प्रवाहित नदी की उपमा को ध्यान में रखें तो वे समझ सकेंगे कि सभी बहती हुई वस्तुएँ केवल एक नदी को ही वर्णित करती हैं। इसलिये सभी व्याकरणिक निर्णय परम सत्ता के विधेयमात्र हो जाते हैं और अन्त में सभी निर्णयों का एक ही उद्देश्य होता है जिसे 'परम सत्ता' कहा जा सकता है। अन्तिम निष्कर्ष में सभी निर्णयों का अन्तिम रूप होगा(पृष्ठ 29), परम सत्ता ऐसी है/कि इसमें उ वि है।*

ऐसा करने का ब्रैडले का लक्ष्य था कि वे वस्तुओं के नानात्व की स्वतन्त्र-सत्ता समाप्त करके एकत्ववाद को प्रस्थापित करें। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे बताते हैं कि वास्तव में किसी भी निर्णय में हम साक्षात् विशिष्ट वस्तु का अभिकथन नहीं कर पाते हैं :

** यहाँ 'उ' उद्देश्य के लिए और 'वि' विधेय के लिए प्रयुक्त किया गया है।*

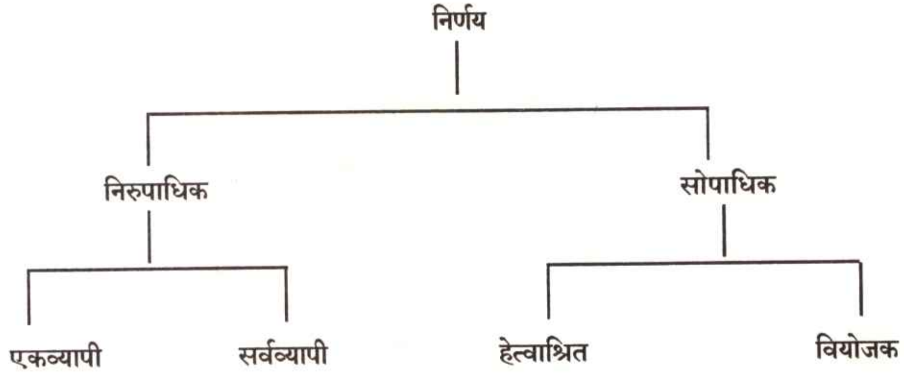

हेत्वाश्रित कथन में 'यदि-तो' रहता है और यदि-तो के अनुरूप कोई वास्तविकता नहीं हो सकती। जैसे, ''यदि वर्षा होगी तो धान का फसल अच्छा होगा।'' परन्तु इस सोपाधिक कथन से कोई यह नहीं स्वीकार कर सकता है कि वास्तव में वर्षा हुई है, या धान अच्छा हुआ है। अब जो बात हेत्वाश्रित कथनों में पाई जाती है वही बात (विकल्पात्मक) वियोजक कथनों में देखी जाती है। वियोजक कथनों में 'चाहे-या' देखा जाता है और इसमें शर्त को वैकल्पिक रूप में व्यक्त किया जाता है, जैसे :

अमुक जीव या तो चूहा है या छछुंदर।

इसका रूपान्तर होता है :

यदि यह चूहा न हो तो छछुंदर होगा,
यदि यह छछुंदर न हो तो चूहा होगा, इत्यादि।

चूँकि ''यदि-तो'' के अनुरूप कोई वास्तविक नहीं हो सकती, इसलिए न तो हेत्वाश्रित और न वियोजक निर्णयों में किसी भी वास्तविक घटना तथा यथार्थ वस्तु को अभिकथित किया जाता है। हाँ, निरूपाधिक कथन में वास्तविक घटनाओं को अभिकथित किया जा सकता है। परन्तु ब्रैड्ले के अनुसार सर्वव्यापी निर्णयों का असली रूप है ''यदि-तो''। जैसे, ''सभी मनुष्य मरणशील हैं'' को रूपान्तरित किया जा सकता है (पृ. 31), यदि मनुष्य हों, तो वे मरणशील होंगे।

इसका कारण है कि 'सभी मनुष्य' के अन्तर्गत भूत और भविष्य के मनुष्य भी चले आते हैं और उनका प्रत्यक्ष किसी भी एक समय कोई व्यक्ति नहीं कर सकता है, और जिसका प्रत्यक्ष न हो उसे वास्तविक नहीं कहा जा सकता। इसलिए सर्वव्यापी निर्णयों में भी विशिष्ट तथ्यों को नहीं अभिकथित किया जाता है। अन्त में, केवल एकव्यापी ही निर्णय ऐसा है जिसमें विशिष्ट वस्तुओं का अभिकथन सम्भव हो सकता है।

ब्रैड्ले के अनुसार तीन प्रकार के एकव्यापी निर्णय होते हैं, अर्थात् (1) संवेदन के विश्लेषणात्मक निर्णय, (2) संवेदन के संश्लेषणात्मक निर्णय, (3) ऐसा एकव्यापी निर्णय जिसका अतीन्द्रिय उद्देश्य किसी काल में नहीं देखा जाता है, अर्थात् ईश्वर विषयक एक-व्यापी निर्णय। वाण्डर वीर केवल संवेदन के विश्लेषणात्मक निर्णय की व्याख्या करके बताते हैं कि ब्रैड्ले यहाँ भी एकव्यापी निर्णय तथ्य विशेष को अभिकथित नहीं कर सकते हैं (पृ. 31-34)। संवेदन के विश्लेषणात्मक निर्णय वे हैं जिनमें प्रस्तुत

सत्ता का विश्लेषण उद्देश्य और विधेय में किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'यह चिड़िया पीली है।' प्राय: लोग समझते हैं कि 'यहाँ', 'अब' इत्यादि व्यष्टिकारक शब्दों के द्वारा प्रस्तुत तथ्य को संवेदन के एकवाची निर्णय में व्यक्त किया जा सकता है। इसके विपरीत ब्रैड्ले का कहना है कि सभी शब्द सामान्य होते हैं और वे व्यष्टिविशेष अथवा तथ्यविशेष को अभिकथित करने में असमर्थ हो जाते हैं। हम सामान्य शब्द में कितने ही अधिक विशेष शब्दों को जोड़कर कितना ही अधिक प्रयास क्यों न करें, परन्तु सामान्य शब्दों के द्वारा विशिष्ट वस्तुओं का बोध नहीं कराया जा सकता है, जैसे, 'अब' 'यहाँ,' 'अभी' इत्यादि शब्द सामान्य हैं क्योंकि इन शब्दों को कोई व्यक्ति अनेक स्थलों पर प्रयुक्त करता है। अब वह शब्द, जो अनेक स्थितियों में समान रूप से काम में लाया जाय, सामान्य कहा जाता है। इस अर्थ में 'अब', 'यहाँ' इत्यादि शब्द अनेक स्थलों पर एकरूप में प्रयुक्त होने के कारण सामान्य कहे जायेंगे। इसलिए 'यह चिड़िया' लिखने पर भी अमुक विशिष्ट चिड़िया का बोध नहीं कराया जा सकता है। यह ठीक है कि साधारणतया 'यह' से साधारण अथवा व्यावहारिक जीवन में हम वस्तुविशेष का बोध कराने में सफल हो जाते हैं। परन्तु तर्कत: 'यह' शब्द सामान्य होने के कारण विशिष्ट वस्तुओं का निर्देश नहीं कर पाता है। यही बात 'मैं' के लिए भी लागू होती है (पृ. 31-32)। ब्रैड्ले व्यक्ति-वाचक नाम तक को भी विशिष्ट व्यक्तियों का बोध कराने में असमर्थ बताते हैं। जैसे 'राम' वह व्यक्तिविशेष है जो शैशवकाल से लेकर अभी तक सभी परिवर्तनों के बावजूद एक समान बना रहता है। परन्तु वह जो अनेक परिवर्तनों के बावजूद एकरूप कहा जाय, सामान्य कहलायेगा, न कि व्यक्ति-वाचक। परन्तु ब्रैड्ले का कहना है कि जिसे साधारणतया हम तथ्यविशेष समझते हैं, उसे तर्कत: तथ्य समझा नहीं जा सकता, उदाहरणत: 'यह चिड़िया पीली है।'

कोई भी तथ्य, जैसे 'यह पीली चिड़िया' एक समग्र परिस्थिति में से पृथक् किया जाता है। अब इसकी क्या गारंटी है कि अपनी समग्र परिस्थिति से पृथक् होकर ज्यों की त्यों, बिना किसी प्रकार परिवर्तित हुए, एकरूप बनी रहेगी ? हमें याद रखना चाहिए कि ब्रैड्ले के अनुसार आन्तर सम्बन्ध के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति से अवियोज्य होती है। परन्तु कोई भी तथ्य क्यों न हो जब तक उसे सम्पूर्ण परिस्थिति से अलग न किया जाय तब तक वह 'तथ्य' का रूप प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु ऐसी अवस्था में कोई भी तथ्य वास्तविक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी असलियत सम्पूर्ण पर निर्भर करती है और सम्पूर्ण परिस्थिति से पृथक् कर लेने पर किसी वस्तुविशेष का रूप ही बदल जाता है। यहाँ हमें ब्रैड्ले की उपमा याद रखनी चाहिए जिसके अनुसार परमसत्ता को प्रवाहित नदी माना गया है और जिसके साथ साक्षात् संवेदन रूप प्रदीप के द्वारा ही सम्पर्क किया जा सकता है। यहाँ कोई भी प्रवाहित वस्तु कुछ ही क्षण के लिए हमारे संवेदन-प्रदीप में रहती है, परन्तु यह वस्तु प्रवाह-तारतम्य का केवल एक अंश ही हो सकती है। क्या किसी भी अंश को समग्र से हटाकर उसे वास्तविक माना जा सकता है ? इसलिए ब्रैड्ले किसी भी तथ्य को समग्र से पृथक् करके 'तथ्य' नहीं मानते हैं। यही कारण है कि ब्रैड्ले संवेदन के एकव्यापी निर्णय में भी किसी तथ्यविशेष का अभिकथन नहीं स्वीकारते हैं। अत: निष्कर्ष यह हुआ कि किसी भी प्रकार के निर्णयों में तथ्य का अभिकथन नहीं किया जा सकता। तो क्या स्वीकार कर लिया जाय कि निर्णय प्रत्ययों का ही संश्लेषणमात्र है ? नहीं। इसका कारण है कि निर्णय वह है जिसका सत्य-असत्य निर्धारित हो सके, और बिना वास्तविकता के सत्य-असत्य को नहीं निर्धारित किया जा सकता। तब निर्णयों की वास्तविकता कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

पहली बात है कि निर्णय का सम्बन्ध विचारने से है और विचार बिना प्रत्ययों के माध्यम से सम्भव नहीं है। परन्तु स्वयं प्रत्यय प्रत्यक्ष का ही एक अंश है और प्रत्यक्ष का साक्षात् सम्बन्ध परम सत्ता के साथ रहता है। इसलिए प्रत्यय अंत में प्रत्यक्ष से सम्बद्ध रहने के कारण असाक्षात् रीति से वास्तविकता पर आधृत रहते हैं। इसलिए प्रत्ययात्मक निर्णय का भी सम्बन्ध वास्तविकता से रहता है। दूसरी बात यह है कि विचार निर्णय में उद्देश्य-विधेय का भेद करता है। पर इस भेद को बाह्यारोपित नहीं किया जाता, यह भेद अव्यक्त रूप में साक्षात् अनुभूति में ही निहित रहता है और निर्णय में इसे केवल व्यक्त कर दिया जाता है। इसलिए निर्णय प्रत्यक्ष का ही विकसित रूप है, और चूँकि प्रत्यक्ष का साक्षात् सम्बन्ध अनुभूति से रहता है इसलिए निर्णय का भी सन्दर्भ परम सत्ता ही रहता है। तब प्रत्यक्ष अथवा साक्षात् अनुभूति एक प्रकार का पूर्ण-भाव है और यह पूर्ण सत्ता कभी भी किसी भी साक्षात् अनुभूति में नहीं प्राप्त हो सकती है। यही कारण है कि पूर्ण-भाव में अनुप्रेरित होकर साक्षात् अनुभूति निर्णय में प्रस्फुटित हो पड़ती है। निर्णय में सामान्य प्रत्ययों के रहने पर मानव-अनुभूति की सीमा बहुत व्यापक हो जाती है, परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि निर्णय प्रत्यक्ष का विकसित रूप अवश्य है परन्तु स्वयं विचार अपने आदर्श को विचार में ही, अपने में ही सीमित रहकर सर्वसमावेशी, सामंजस्यपूर्ण अनुभूति के आदर्श को नहीं प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि निर्णय में वास्तविकता का सन्दर्भ रहता है, पर अप्रत्यक्ष रूप से।

परन्तु क्या अन्य सभी प्रकार के निर्णयों में भी वास्तविकता की आधारभूमि रहती है ? (पृष्ठ 32-33) यह ठीक है कि अन्त में सभी प्रकार के निर्णय सोपाधिक रहते हैं, परन्तु 'यदि-तो' में भी एक वास्तविकता की ओर परोक्ष निर्देश रहता है। जैसे, हम कहते हैं कि 'यदि वर्षा हो, तो धान का फसल अच्छा होगा।' यहाँ हम प्रत्ययात्मक परीक्षा करके वास्तविकता के स्वरूप को स्थापित कर रहे हैं, अर्थात् परम सत्ता का स्वरूप ऐसा है कि इसमें धान और वर्षा का सम्बन्ध है। अत: सभी प्रकार के निर्णयों में परोक्षत: वास्तविकता के साथ सम्बन्ध रहता है।

सम्बन्ध-विचार

वाण्डर वीर ने ब्रैड्ले के सम्बन्ध-सिद्धान्त पर बहुत बल दिया है और इसे चार अध्यायों में (3-5 में) स्पष्ट किया है। विचार-प्रक्रिया निर्णयों में अभिव्यक्त होती है जिसमें व्याकरणिक दृष्टि से उद्देश्य-विधेय के बीच सम्बन्ध पाया जाता है। इस उद्देश्य-विधेय के सम्बन्ध को तीन रूपों में देखा जा सकता है : (पृष्ठ 42)।

(1) उद्देश्य-विधेय के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध रह सकता है और उस दशा में निर्णय पुनरुक्ति हो जाएगा। ब्रैड्ले इसे नहीं स्वीकारते हैं।

(2) उद्देश्य और विधेय के विभिन्न तत्त्वों के एकीकरण से निर्णय उत्पन्न होता है। परन्तु इसके सन्दर्भ में तीसरी बात यह है कि

(3) विभिन्न तत्त्वों का एकीकरण सम्भव नहीं है, क्योंकि न तो सम्बन्ध-विचार और न व्यंजक-विचार सामंजस्यपूर्ण दिखाई देता है। 'सम्बन्ध' पर ध्यान दें।

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि किसी भी निर्णय में उद्देश्य और विधेय नामक दो पद व्यंजक होते हैं और इनके बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अब बिना पदों के सम्बन्ध को विचारा ही नहीं जा सकता है और बिना सम्बन्ध के पद पर भी विचार नहीं हो सकता है। मान भी लिया जाय कि

सम्बन्धविहीन अनेक व्यंजक (पद) हैं तो ये एक दूसरे से भिन्न और पृथक् होंगे। परन्तु भिन्नता अथवा पृथकत्व भी तो सम्बन्ध ही कहा जायगा। यदि हम सम्बन्ध के स्वरूप पर ध्यान दें तो हम पाते हैं कि 'सम्बन्ध' आत्मविरोधी प्रत्यय है।

यह ठीक है कि सम्बन्ध को गुण के समान समझा जाता है, परन्तु ब्रैड्ले के अनुसार सम्बन्ध को एकदम गुण के समान नहीं समझना चाहिए। सम्बन्ध को पद (वस्तु) से बाह्य और आन्तर दोनों होना चाहिए। ये 'पदों के बीच' होने चाहिए और इस रूप में ये पदों से बाह्य होकर पदों में कोई परिवर्तन नहीं ला सकते। परन्तु यदि सम्बन्ध बाह्य हों तो दो पदों और 'बाह्य सम्बन्ध' के बीच सम्बन्ध के लिए एक अन्य सम्बन्ध को होना चाहिए। परन्तु सम्बन्ध^{2} फिर उसी प्रकार एक स्वतन्त्र पद हो जाएगा जिस प्रकार बाह्य सम्बन्ध^{1} सम्बन्धित पदों से स्वतन्त्र एक पद है। तो जो बात सम्बन्ध^{1} के विषय में कही गई है वही बात सम्बन्ध^{2} में भी लागू हो जाती है, अर्थात् वस्तुवाचक पदों और सम्बन्ध^{1} के बीच सम्बन्ध-द्योतक पद को इनसे सम्बन्धित करने के लिए सम्बन्ध^{3} की आवश्कता हो जायगी। परन्तु सम्बन्ध^{3} को सम्बन्ध^{4} की आवश्यकता पड़ेगी और इस प्रकार यह क्रम जारी रहेगा और परिणामत: कोई भी बाह्य सम्बन्ध पदों और सम्बन्धों को सम्बन्धित करने में सफल नहीं हो पायेंगे। परन्तु यदि पदों के बीच के सम्बन्ध को बाह्य न मानकर आन्तर माना जाय तब ?

यह ठीक है कि ब्रैड्ले सम्बन्ध को बाह्य नहीं मानते हैं। उनके अनुसार, कोई भी सम्बन्ध क्यों न हो उसे आन्तर ही कहा जा सकता है, क्योंकि सम्बन्ध पद (या वस्तु) को बदल देते हैं। एक ही पुस्तक मेज पर और कुर्सी पर पड़ी होने पर भिन्न स्वरूप की होती है-एक स्थिति में वह ''मेज पर पड़ी पुस्तक'' होगी और दूसरे में ''कुर्सी पर पड़ी पुस्तक''। इसलिए वास्तविक सम्बन्ध वह है जो पदों में अन्तर ला दे, और इस रूप में सम्बन्ध को आन्तर कहा जाएगा। परन्तु यदि सम्बन्ध को आन्तर मान लिया जाता है तो विरोधाभासपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि सम्बन्ध बाह्य न हों तो वे पदो* के बीच सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, क्योंकि वे पदों को परिवर्तित कर पदों का विलयन कर देंगे और वे पद ही नहीं रहेंगे जिनके बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाय। और यदि बाह्य हों तो वे स्वयं एक स्वतन्त्र पद हो जांयगे और सम्बन्ध-पद को सम्बन्धित पदों से सम्बन्धित करने के लिए एक और सम्बन्ध पद की आवश्यकता होगी। अत: सम्बन्ध को बाह्य और आन्तर दोनों होना चाहिए (पृ. 42,47, 250-251)। बाह्य इसलिए होना चाहिए कि सम्बन्ध स्वतन्त्र पदों के बीच पाया जाता है और आन्तर इसलिए होना चाहिए कि सम्बन्ध को वास्तविक होना चाहिए, अर्थात् उसमें पदों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करने की क्षमता होनी चाहिए। इस प्रकार सम्बन्ध को बाह्य इसलिए कि पदों को अक्षुण रखकर सम्बन्धित करना है, आन्तर इसलिए कि सम्बन्ध उस ऐक्य को पुन: स्थापित करना चाहते हैं जो मूल साक्षात् अनुभूति में पाया जाता है (पृ. 37, 39)।

पदों के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए गुण पर ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। गुण को बिना सम्बन्ध के स्पष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि समानता तथा भेद स्थापित किये बिना गुण को निर्धारित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, 'लाल' वर्ण का निर्धारण अन्य वर्णों के साथ तुलना करके ही किया जा सकता है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि गुण केवल सम्बन्ध-मात्र नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध बिना व्यंजकों के सम्भव नहीं हो सकता। परन्तु यहीं पर विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है। यदि गुण सम्बन्धों

** अर्थात् पदों की स्वतन्त्रता अथवा पृथकत्व को अक्षुण्ण रखकर।*

से स्वतन्त्र हों तो फिर उन्हें सम्बन्ध पर निर्भर कैसे कहा जा सकता है, और, यदि गुण स्वतन्त्र न हों तो किसके साथ समता और भिन्नता स्थापित की जा सकती है ? तब कहना पड़ेगा कि गुण (अथवा सामान्य रूप से व्यंजक) सम्बन्ध पर निर्भर रहते भी हैं और नहीं भी; ये सम्बन्धों से भी स्थिर किये जाते हैं और नहीं भी। यह है पदों का विरोधाभास। मान लिया जाय कि 'क' कोई व्यंजक है। इसके दो पक्ष हुए : एक जो 'क^1' है और दूसरा क^2, जो सम्बन्ध पर निर्भर रहने के कारण शुद्ध 'क' नहीं हो पाया। परन्तु यही बात 'क^1' के साथ होगी। यदि 'क^1' बिना सम्बन्ध पर निर्भर हुए शुद्ध 'क' ही रह जाता है तो अन्य पदों से इसका मिलान किए बिना इसके स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया जा सकता, और यदि इसे तुलना द्वारा सम्बन्ध की परिधि में लाया जाय तो फिर इसमें भी विखण्डन हो जाता है। यही बात 'क^2' के साथ हो जाती है। यदि 'क^2' 'क' का विखण्डित पक्ष हो तो यह मूल 'क' नहीं रह पाएगा, तो फिर हम किस पद की चर्चा करेंगे ? इसलिए कोई भी पद बिना सम्बन्ध के सम्भव नहीं हो सकते। परन्तु सम्बन्ध की परिधि में आने पर पद में विखण्डन हो जायगा और कोई भी पद निर्धारित नहीं हो पाएगा।

चेतना का प्रारम्भ साक्षात् अनुभूति से होता है। इसमें प्रस्तुत स्थिति के विभिन्न पक्ष अनुद्भिन्न रूप में रहते हैं। विकल्प इन्हें उद्भिन्न और पृथक् कर सम्बन्धित करता है। अब,यदि 'पद और सम्बन्ध' एक-साथ या अलग, दोनों ही दशाओं में विरोधाभासात्मक हों तो क्या इस विडम्बनापूर्ण परिस्थिति से मुक्ति नहीं हो सकती है ? ब्रैड्ले के अनुसार विचार के स्तर पर इस विडम्बना का समाधान नहीं हो सकता है, पर विचार इस बात को स्पष्ट अवश्य कर देता है कि क्यों विडम्बना उत्पन्न होती है और इसका अन्तिम संकेत किस ओर है ? विचार का प्रारम्भ साक्षात् अनुभूति से होता है जो स्वयं एक पूर्ण अनुभूति है। यह ठीक है कि साक्षात् प्राथमिक अनुभूति क्षणिक तथा पूर्ण सत्ता की एक झाँकी मात्र है, तो भी इससे एक पूर्ण सत्ता का आभास मिलता है। विचार इसी पूर्णत्व-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। फिर विचार के मूल सिद्धान्त की आपूर्ति बिना सामंजस्यपूर्ण, सर्वसमावेशी, अनुभूतिमूलक सत्ता के सम्भव नहीं हो सकती है। परन्तु स्वयं विचार इस पूर्ण सत्ता को नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि विचार बिना भेद को उत्पन्न किये हुए प्रगति कर ही नहीं सकता और जहाँ भेद होगा वहाँ सामंजस्य कैसे प्राप्त हो सकता है ? यही कारण है कि अंत में पद और सम्बन्ध का विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक विभेदीकरण अपने प्रतिपूरक व्यापक एकीकरण की ओर अग्रसर होता है ताकि पूर्णता प्राप्ति हो जाय, और कितनी दूर तक व्यापक विभेदीकरण क्यों न किया जाय सामंजस्यपूर्ण एकीकरण नहीं प्राप्त हो सकता है (पृ. 42-43)। परन्तु पूर्णता की दिव्य दृष्टि ही ऐसी है कि यह पद और सम्बन्ध के विरोधाभास को उत्पन्न करती है।

ब्रैड्ले के सम्बन्ध-सिद्धान्त के विरुद्ध वास्तववादी तथा प्रत्ययवादी दोनों ने आपत्तियाँ उठायी हैं। इन आपत्तियों के आधार में ब्रैड्ले और उनके विरोधियों के बीच दार्शनिक दृष्टियों का ही भेद है। वास्तववादी लोक-बुद्धि के आधार पर और प्रत्ययवादी हेगेल की बौद्धिकता के सिद्धान्त को लेकर ब्रैड्ले के सम्बन्ध-सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। रसेल, मूर तथा कुक विल्सन के अनुसार, यदि पुस्तक को मेज़ पर रख दिया जाय तो मेज़ पर रहने के सम्बन्ध से पुस्तक के आकार, विषय, रंग, भार आदि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अत: यह तथ्य है कि वस्तुएँ विविध और अनेक हैं और उनके बीच निस्संदेह सम्बन्ध बाह्य होता है। फिर कुक विल्सन ने (पृ. 48) बताया है कि वस्तुओं के बीच बाह्य सम्बन्ध से भी सम्बद्धता स्थापित की जाती है और 'सम्बन्ध' से आपादित होता है कि विभिन्न तथा

पृथक् वस्तुएँ वास्तव में हैं। यह प्रश्न ही भ्रामक है कि सम्बन्ध को वस्तुओं के साथ किस प्रकार सम्बद्ध किया जाय। केवल पदों के बीच सम्बन्ध-विषयक प्रश्न उठाये जा सकते हैं। यह पूछना कि सम्बन्ध किस प्रकार सम्बन्धित करता है, भ्रमपूर्ण है।

इस समीक्षा में इस आलोचना का विस्तारपूर्वक उत्तर देना सम्भव नहीं है। संक्षेप में, वाण्डर वीर के अनुसार, कुक विल्सन स्वयं विचारात्मक सम्बन्ध-प्रत्यय का सही विश्लेषण नहीं करते हैं और इसलिए वे ब्रैड्ले के सम्बन्ध-प्रत्यय-विषयक विरोधाभास को नहीं समझ पाये हैं (पृ.49)। इसी प्रकार, जब रसेल कहते हैं (पृ. 54-55) कि दैशिक तथा तुलनात्मक सम्बन्ध द्वारा वस्तुओं के रूप, वर्ण तथा उनके अन्य गुणों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो इसे साधारणतया लोक-बुद्धि के स्तर पर ही स्वीकार किया जा सकता है। पर दार्शनिक चिन्तन के आधार पर रसेल के सम्बन्ध-विषयक विचार को असन्तोषजनक समझा जायगा। ब्रैड्ले रसेल के विचार का खण्डन निम्न प्रकार से करते हैं (पृ. 55-69) :

ब्रैड्ले के अनुसार रसेल प्रभृति वास्तववादी यह भूल जाते हैं कि प्रत्यक्ष-विषयक उनकी कसौटी साक्षात् अनुभूति पर आधारित नहीं है। यह एक दार्शनिक सिद्धान्त है कि वस्तुएँ विविध और अनेक हैं और इनके बीच का सम्बन्ध केवल बाह्य है। इसके लिए जिस प्रत्यक्ष की दुहाई दी जाती है वह प्रत्यक्ष स्वयं शिक्षा के प्राभाव पर आधारित कृत्रिम रचना है। वास्तव में प्रत्यक्ष अलग-अलग वस्तुओं का नहीं होता। वस्तुओं को परिवेश से अलग कर मनगढ़न्त रूप से एक-दूसरे से स्वतन्त्र समझा जाता है। यहाँ ब्रैड्ले की उपमा याद रखनी चाहिये जिसके अनुसार परम सत्ता एक अविच्छिन्न धाराप्रवाह है जिसमें वस्तुओं को सम्पूर्ण परिस्थिति से पृथक् कर सुविधानुसार अनेक और अलग समझा जाता है। परन्तु क्या किसी भी अंश को परिवेश से पृथक् कर उसे वास्तविक समझा जा सकता है ? यदि नहीं तो प्रत्यक्ष के आधार पर वस्तुओं को पृथक् समझकर उनके बीच के सम्बन्ध को बाह्य नहीं माना जा सकता है। फिर, प्रत्यक्ष अनुभूति का आदिम रूप नहीं है। मनोवैज्ञानिक लोग प्रत्यक्ष से पूर्व संवेदन को मानते हैं जिसमें भेद अव्यक्त रूप में रहता है। यह अनुभूति क्षणिक होते हुए भी अविच्छिन्न समझी जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विकल्पात्मक है, इसलिए इसके आधार पर वस्तुओं का पृथक्त्व तथा उनके बीच के सम्बन्ध को बाह्य नहीं स्वीकारा जा सकता।

रसेल, मूर आदि वास्तववादियों के प्रत्यक्ष-विषयक सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी सम्बन्ध की बाह्यता को युक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ मेज़-पुस्तक के सम्बन्ध को लिया जा सकता है। क्या कोई पुस्तक, जो मेज़ पर है या वह शेल्फ पर है या सड़क पर है तो उस पुस्तक को सभी वर्णित स्थितियों में एकरूप माना जा सकता है ? यदि हमें मेज़ को उठाकर आफिस से परीक्षा-भवन में ले जाना हो तो क्या पुस्तकयुक्त और पुस्तकविहीन मेज़ में अन्तर नहीं आता ? इसी प्रकार, यदि तुलना करने पर मोहिनी श्यामा से अधिक गोरी पायी जाती है तो क्या यह तुलनात्मक सम्बन्ध आकस्मिक एवं बाह्य है ? यह ठीक है कि श्यामा के साथ मोहिनी की तुलना करने पर मोहिनी के गोरेपन में अन्तर आता, परन्तु यदि विशिष्ट गोरापन मोहिनी और श्यामा का आन्तरिक लक्षण नहीं होता तो हम मोहिनी की तुलना श्यामा से कैसे करते है ? इसलिए तुलनात्मक सम्बन्ध को भी बाह्य नहीं समझा जा सकता।

वास्तव में देखा जाय तो रसेल और ब्रैड्ले के बीच दार्शनिक दृष्टि का ही मौलिक अन्तर है। रसेल के अनुसार, यदि वस्तुएँ एकदम एक-दूसरे से पृथक् हों तो इनके बीच बाह्य सम्बन्ध मान कर वैज्ञानिक नियमों की स्थापना की जा सकती है; उदाहरणार्थ, ताप और विस्तारण सम्बन्ध। ब्रैड्ले इसे

तात्त्विक दृष्टि से अयुक्तिपूर्ण समझते हैं। ब्रैड्ले के अनुसार हमें केवल इतना ही नहीं जानना चाहिए कि ताप से विस्तारण होता है, परंतु यह भी कि क्यों ताप से विस्तारण होता है (पृ. 54-55)। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब यह सिद्ध कर दिया जाय कि प्रत्येक वस्तु किस प्रकार सम्पूर्ण सत्ता में अनिवार्यत सम्बद्ध सिद्ध की जा सकती है। प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध सर्वप्रथम अपने परिवेश के साथ रहता है और इस परिवेश का सम्बन्ध अंत में सम्पूर्ण सर्वसमावेशी परमसत्ता के साथ रहता है (पृ. 63-64)। दूसरी बात है कि, ब्रैड्ले के अनुसार दार्शनिक व्याख्या को पर्याप्त हेतु-नियम पर अवम्बित होना चाहिए और इसलिए हमें केवल इतना ही नहीं जानना है कि अमुक पुस्तक मेज़ पर है, पर यह भी जानना चाहिए कि अमुक पुस्तक क्यों अमुक मेज़ पर है। यह उसी समय जाना जा सकता है जब सत्ता की सम्पूर्णता में अमुक पुस्तक, मेज़ आदि के स्थान को निर्धारित कर दिया जाय (पृ. 67-69)। यदि वस्तुओं के बीच किसी अनिवार्य सम्बन्ध को न स्थापित किया जा सके तो अन्त में आकस्मिता, आगन्तुकता तथा यादृच्छिकता को अन्तिम तथ्य स्वीकार किया जायगा, जो ब्रैड्ले के अनुसार युक्तिपूर्णता के दार्शनिक उद्देश्य तथा पूर्व-मान्यता के विरुद्ध कहा जायगा। ब्रैड्ले के अनुसार, परम सत्ता सभी वस्तुओं की परिपूर्ण समग्रता है जिसके बिना किसी भी वस्तु की व्याख्या नहीं हो सकती (पृ.55)। परन्तु ब्रैड्ले के सम्बन्ध-सिद्धान्त की आलोचना हेगेलवादी उसी प्रकार सदोष मानते हैं जिस प्रकार वास्तववादी। प्रत्ययवादी की आलोचना अधोलिखित रीति से स्पष्ट की जा सकती है।

ब्रैड्ले की दार्शनिक दृष्टि के अनुसार परम सत्ता एक साकल्य है जिस पर उसके अंग निर्भर करते हैं और जो स्वयं अपने अंगों से प्रभावित होता है। अंगांगिसम्बन्ध अति घनिष्ठ है और इसे बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार के सम्बन्धों के ऊपर कहा जा सकता है। आन्तर सम्बन्ध भी इस अंगांगि-सम्बन्ध को सन्तोषजनक रीति से व्यक्त नहीं कर पाते। इसलिए परम साकल्य को सम्बन्धातीत कहा जाता है। तो भी बाह्य-सम्बन्ध की अपेक्षा आन्तर-सम्बन्ध को अंगागिसम्बन्ध को अभिव्यक्त करने में अधिक सफल कहा जा सकता है (पृ. 63)। परन्तु अन्त में, ब्रैड्ले के अनुसार, सभी प्रकार के सम्बन्ध को असन्तोषजनक ही समझा जायगा। कनिंघम, रोयस तथा जोखिम इत्यादि ब्रैड्ले के सम्बन्ध-विषयक सिद्धान्त को युक्तिपूर्ण नहीं मानते हैं।

साधारणतया प्रत्ययवादी दार्शनिक भी ब्रैड्ले के विचार-विषयक सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करते हैं क्योंकि प्रत्ययवादी विचार को विश्वसनीय समझते हैं और ब्रैड्ले विचार को विरोधाभासात्मक दिखाकर इसे अन्तिम रूप में असन्तोषजनक समझते हैं। कनिंघम का कहना है कि यदि प्राथमिक अनुभूति अखण्ड (सम्बन्धविहीन) तथा सकल हो तो कैसे कहा जाय कि सम्बन्धात्मक (विच्छेदक) विचार इस प्राथमिक अनुभूति का सही विस्तार है ? फिर, यदि मान भी लिया जाय कि प्राथमिक अनुभूति अविच्छेद्य साकल्य की अनुभूति है तो कैसे कहा जाय कि परम सत्ता भी अविच्छिन्न सकल है ? अनुभूति और अनुभूति-विषय, ये दो हैं। अनुभूति अविच्छिन्न हो सकती है, पर इसका विषय सम्बन्धात्मक हो सकता है। इसलिए परम सत्ता भी सम्बन्धात्मक हो सकती है, न कि सम्बन्धातीत। कनिंघम की आपत्तियाँ अन्त में अधोलिखित रूप से बतायी जा सकती हैं, (पृ.76) विचार दो-चार समस्याओं के समाधान करने में असफल हो सकता है, परन्तु सम्पूर्ण विचार को आद्यन्त आनुक्रमिक रूप से कैसे विफल स्वीकारा जा सकता है ? क्या ब्रैड्ले अपने दार्शनिक चिंतन के आधार पर विचार आधृत विज्ञान को दोषपूर्ण कह सकते हैं ? यदि विचार द्वारा परम-सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता है तो क्या इसे अज्ञेयवाद नहीं कहा जायगा ?

वाण्डर वीर का कहना है कि ब्रैड्ले विचार को अंशत: सफल मानते हैं। वीर के अनुसार, विचार वास्तविक रूप से प्राथमिक अनुभूति से लिपटा रहता है और वास्तविक रूप से प्राथमिक अनुभूति में निहित विभेदों को स्पष्ट करता है, और यह अंशत: परम सत्ता पर भी सही और वास्तविक प्रकाश डालता है। परन्तु विचार प्राथमिक अनुभूति का अनुपयुक्त विस्तार होता है। इसी प्रकार विचार परम सत्ता को सामान्यत: सही रूप में प्रदर्शित करता है, परन्तु विचार, विचार के स्तर पर रहते हुए, पूर्ण परम सत्ता का व्यापक ज्ञान नहीं दे सकता है (पृ. 78)।

वाण्डर वीर के अनुसार, रॉयस (पृ. 79) का कहना है कि जब विचार के आधार पर यह कहा जाता है कि सम्बन्धात्मक निष्कर्ष परम सत्ता के सन्दर्भ में सही नहीं है तो इससे आपादित होता है कि विचार को निरपेक्ष-सत्ता के उस स्वरूप का ज्ञान है जिसके अनुसार परम सत्ता को सम्बन्धातीत बताया जाता है। इसलिए विचार को दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता। रॉयस के अनुसार, परम सत्ता वह है जिसमें एक परिपूर्ण साकल्य में पद और सम्बन्धों को युक्तियुक्त रूप से समाविष्ट किया जा सके। वाण्डर वीर रॉयस की आपत्ति को निराधार बताते हैं (पृ. 80-81)। वाण्डर वीर का कहना है कि ब्रैड्ले के अनुसार विचार बिना पद और सम्बन्ध का भेद किए प्रगति कर ही नहीं सकता। अब जब पदों की स्वतन्त्र सत्ता मान ली जाय जो इन स्वतन्त्र पदों को किस प्रकार सामंजस्यपूर्ण बनाया जा सकता है ? जब भी स्वतन्त्र पदों के बीच सम्बन्ध होगा वह बाह्य होगा और बाह्य-सम्बन्ध युक्तिपूर्ण रीति से स्वतन्त्र पदों का एकीकरण नहीं कर सकते हैं। परन्तु वाण्डर वीर ब्रैड्ले के विचार-विषयक सिद्धान्त के प्रति जोखिम की आपत्ति को विशेष समझते हैं (पृ. 81-90)।

जोखिम हेगेलवादी हैं। जोखिम का कहना है कि स्वयं विचारने में ही दो स्तर हैं, एक आलोचित और दूसरा आलोचक। आलोचित विचार सम्बन्धात्मक है और यह निम्नकोटि का है, इसके द्वारा परम सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता है। परन्तु आलोचक के विचार उच्चतर स्तर का है और बिना आलोचित सम्बन्धात्मक विचार की सीमा को पार किए हुए आलोचक के विचार निम्नकोटि के विचार की आलोचना करने में समर्थ नहीं हो सकते।

यह ठीक है कि हेगेल ने कान्टीय वैश्विक विरोधाभास के समाधान में बताया था कि वैश्विक विरोधाभास बोधवृत्ति के स्तर पर ही उचित समझा जायगा, परन्तु इसे परिकल्पनात्मक बुद्धि के स्तर पर अनुचित समझा जायगा।

परन्तु वाण्डर वीर जोखिम द्वारा आलोचित और आलोचक विचार के भेद को तर्कसंगत नहीं मानते हैं। ब्रैड्ले शुद्ध अज्ञेयवाद को नहीं स्वीकारते हैं। ब्रैड्ले के अनुसार सामान्य रीति से विचार के आधार पर कहा जा सकता है कि परम सत्ता सर्वांगपूर्ण सर्वसमावेशी व्यष्टिपरक अनुभूति है, परन्तु विस्तारपूर्वक विचार द्वारा नहीं स्पष्ट किया जा सकता है कि विश्व की वस्तुएँ (उदाहरण- मेज़, कु र्सी, पर्वत, नदियाँ इत्यादि) किस प्रकार इस एक परम सत्ता में सामंजस्यपूर्ण रूप से सम्बन्धित हैं। ब्रैड्ले के अनुसार, परम सत्ता का समुचित परिज्ञान नहीं होने का एक मुख्य कारण यह है कि मानव को सम्पूर्ण विश्व की पूर्ण साकल्य में इन्द्रियानुभूति नहीं होती है। तो भी परम सत्ता के सर्वसमावेशी सामंजस्यपूर्ण साकल्य को दो आधारों पर उचित और न्यायसंगत स्वीकारा जा सकता है।

(क) परम सत्ता के स्वरूप की वास्तविक झांकी प्राथमिक अनुभूति में प्राप्त होती है और यह अनुभूति सकल रूप की होती है। इसलिए परम सत्ता को भी परिपूर्ण साकल्य मानना चाहिए।*

(ख) फिर स्वयं विचार की यह अपेक्षा है कि परम सत्ता को सामंजस्यपूर्ण सर्वसमावेशी अनुभूतिमूलक साकल्य होना चाहिए, अथवा विचार तर्कसंगत रूप से अपना कार्य नहीं निर्बाह सकता।

परन्तु ब्रैड्ले के अनुसार, विचार द्वारा परम-सत्ता की पूर्ण प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसका कारण है कि विचार बिना भेद उत्पन्न किये हुए प्रगति नहीं कर सकता और परम सत्ता सामंजस्यपूर्ण साकल्य है। फिर विचार परम सत्ता का केवल एक अंश है। इसलिए विचार परम सत्ता को अंशतः, न कि पूर्णतया, जान सकता है। परन्तु विचार परम-सत्ता में निहित है और परम सत्ता विचार के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है; इसलिए विचार द्वारा परम-सत्ता का ज्ञान मिलता है, यद्यपि इस ज्ञान को अधूरा और अपर्याप्त ही कहा जायगा। चूँकि विचार परम सत्ता का पूर्ण ज्ञान नहीं देकर केवल उसका आभास प्रस्तुत करता है, इसलिए अब परम-सत्ता और आभास के सम्बन्ध को स्पष्ट किया जाना उचित होगा।

आभास और सत् :

आभास और सत्ता का विमर्श वाण्डर वीर ने 5 अध्यायों (6-10) में प्रस्तुत किया है जिनमें आठ वां अध्याय सबसे महत्त्वपूर्ण है। ब्रैड्ले ने देश, काल, परिवर्तन-सम्बन्ध आदि विषयों को आभास कहा है। ये प्रत्यय व्यावहारिक स्तर के लिए सत्य हैं। ब्रैड्ले के अनुसार, ये प्रत्यय दार्शनिक स्तर पर व्याघातपूर्ण दिखाई देते हैं और इसलिए इन प्रत्ययों के अनुरूप वास्तविक तथ्यों को भी आभास कहा जायगा, न कि सत् (पृ. 114)।

वाण्डर वीर का कहना है कि लोगों को भ्रम नहीं होना चाहिए कि ब्रैड्ले के अनुसार आभास और सत् के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। वाण्डर वीर के अनुसार, ब्रैड्ले ने 'आभास' का कई अर्थों में प्रयोग किया है और इन अर्थों को ध्यान में रखकर ही आभास और सत् के विषय में ब्रैड्ले के सिद्धान्त को सही रूप में समझा जा सकता है (पृ. 115-119)।

(1) साधारणतया किसी प्रत्यक्ष वस्तु को आभास नहीं कहा जा सकता। परन्तु यदि किसी भी वास्तविक घटना पर चिंतन किया जाय तो प्रत्यक्ष वस्तु आभास ही सिद्ध होगी। इसलिए आभास स्ववृत्तिमूलक प्रत्यय है।

(2) आभास किसी मनोवैज्ञानिक भ्रम की संज्ञा नहीं है, जिस भ्रम का उदाहरण सर्प-रज्जु के नाम से विख्यात है। आभास किसी काल्पनिक रचना का भी नाम नहीं है। आभास सत् में ही निहित होकर अंशतः सत्य कहा जा सकता है।

(3) आभास शून्यवत् नहीं है, न वंध्या-पुत्र अथवा आकाश-पुष्प के समान सर्वथा अनर्गल एवं अवास्तविक कहा जाने योग्य है।,

(4) आभास विचार का परिणाम है। विचार सामान्य होता है और वास्तविकता विशिष्ट वस्तुओं की होती है। इसलिए विचार द्वारा आभास ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु विचार भी सत् में निहित

** हमें याद रखना चाहिए कि ब्रैड्ले ने कहा है कि परम सत्ता इन्द्रियानुभूति ही में प्राप्त होती है, अन्यथा इसे नहीं जाना जा सकता।*

है। इसलिए आभास सत् में रहता है और सर्वसमावेशी सत् को छोड़कर अन्यत्र यह कहीं सम्भव नहीं हो सकता है।

(5) विचार में तद् (विद्यमानता) और किम् (कथावस्तु अथवा विषयवस्तु) का भेद पाया जाता है और इस भेद को कभी भी नहीं हटाया जा सकता है। इसी असंगति के रहने को आभास कहा गया है।

(6) जितनी दूर तक विद्यमानता (अस्तिता) पायी जाती उतनी दूर तक आभास को सत्ता का वास्तविक अंग माना जायगा और जितनी दूर किसी भी प्रतीयमान वस्तु में इसकी विद्यमानता और सामान्य गुण के भेद को सामंजस्यपूर्ण नहीं बनाया जायगा उतनी दूर तक इसे आभास कहा जायगा।

अन्तिम रूप में आभास और सत् के बीच का भेद व्याघात के नियम पर आधृत होता है। जो कुछ आत्मसंगत है वही सत्य है और वही आत्मसंगत हो सकता है जो सर्वसमावेशी है (पृ. 108)। जो भी वस्तु प्राप्त की जा सकती है वह सम्पूर्ण सत्ता-साकल्य का अंशमात्र है और कोई भी अंश सम्पूर्ण साकल्य से पृथक् होकर अपने सही रूप में नहीं प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति की आँखों को उसके सम्पूर्ण मुखमण्डल से हटाकर देखा जाय तो कोई उन आँखों को उस अमुक व्यक्ति की आँखों के रूप में पहचान नहीं सकेगा। अब इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रवाह में से किसी भी वस्तु को अलग कर देखा जाता है। इसलिए वह अमुक वस्तु अपनी वास्तविकता में नहीं दीखकर आभासमात्र होगी। परन्तु क्या आत्मसंगति के आदर्श को केवल मानव-विचार का आदर्श माना जाय या इसे परम-सत्ता का भी नियम स्वीकार किया जाय ?

वाण्डर वीर का कहना है कि व्याघात का नियम परम वास्तविकता का भी नियम है। यदि इसे स्वीकार नहीं किया जाय तो विचार और सत् के बीच ऐसी खाई हो जायगी कि अन्त में संदेहवाद को ही अपनाना पड़ेगा (पृ. 134-135)। परन्तु सन्देहवाद के विषय में भी यही कहना पड़ेगा कि यह आत्मसंगत एवं सत्य सिद्धान्त है और इस रूप में सन्देहवाद को भी व्याघात नियम को स्वीकार किए बिना नहीं स्वीकारा जा सकता (पृ. 124-125)। फिर, किसी भी वस्तु के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु एक ही देश, काल तथा अर्थ में श्वेत और लाल है। क्यों ? क्योंकि व्याघात का नियम तात्त्विक है और कोई भी वस्तु बिना व्याघात के नियम को पालन किए हुए वास्तविक नहीं हो सकती है। ब्रैड्ले के अनुसार, कोई भी दो लक्षण या वस्तुएँ आत्मव्याघात्मक कही जायेंगी यदि इन्हें बिना किसी पर्याप्त हेतु के सम्बन्धित कर दिया जाय (पृ. 104-105)। उदाहरणार्थ, ''यह चिड़िया पीली है''। यहाँ चिड़िया और पीलेपन को एक साथ जोड़ दिया गया है। व्यावहारिक जीवन के लिए यह सही कथन है परन्तु दार्शनिक चिन्तन के आधार पर पूछा जा सकता है, यह चिड़िया क्यों पीली है ? यहाँ चिड़िया और पीलेपन में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। हम इसके विपरीत की भी कल्पना कर सकते हैं। इसलिए साधारणतया अनेक साधारण कथन व्यावहारिक जीवन के लिए निश्चित और विश्वसनीय समझे जायेंगे। यही बात वैज्ञानिक अभिकथनों के लिए भी सत्य समझी जायेगी। परन्तु वस्तुओं के बीच सम्बन्धों की अनिवार्यता के अभाव में उन्हें दार्शनिक भाषा में आभास कहा जायगा।

परन्तु सभी प्रकार के आभास को एक-समान असत्य नहीं कहा जायगा। आभासों में मात्रा का भेद पाया जाता है। जो आभास जितना अधिक व्यापक होगा उसे उतना अधिक सत्य समझा जायगा, और जो आभास जितना अधिक संकीर्ण और सीमित होगा वह उतना ही अधिक असत्य होगा।

इस रूप में दैनिक जीवन के कथन में सत्य की मात्रा कम होगी और अपेक्षाकृत वैज्ञानिक अभिकथनों में सत्य की मात्रा अधिक होगी और शायद दार्शनिक प्रकथनों में सत्य की मात्रा इन दोनों से और भी अधिक समझी जायेगी। इसी प्रकार निर्जीव पदार्थों में अपेक्षाकृत सत् की मात्रा कम, और जीवों में सत् की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक तथा वैज्ञानिक, दार्शनिक इत्यादि विचारकों में सत् की मात्रा और भी अधिक समझी जायेगी। अत: आभास-सिद्धान्त के अनुसार, विचार सत् में निहित भी है और नहीं भी है। क्या यह विरोधाभास नहीं है ?

ब्रैड्ले के दृष्टिकोण से मानना पड़ेगा कि विचार और सत् में तादात्म्य भी है। यदि विचार और सत् के बीच तादात्म्य न हो तो मानव सत् का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। परन्तु, यह भी सत्य है कि विचार का ऐसा स्वरूप ही है इसका अपना विषय होना चाहिये, जो विचार से इतर हो। अत: सत् विचार में अभिव्यंजित होता है और नहीं भी होता। विचार और सत् दोनों में एक दृष्टि से तादात्म्य और मेल है।

(1) विचार का ऐसा स्वरूप ही है कि आत्मसंगति का लक्षण विचार और विषय दोनों में एकरूप होना चाहिये।

(2) विचार साक्षात् प्राथमिक अनुभूति में निहित रहता है और प्राथमिक अनुभूति परम सत्ता की सच्ची झाँकी समझी जाती है। इसलिये विचार, जो प्राथमिक अनुभूति में निहित अव्यक्त अंगों को स्पष्ट करता है, उसे भी परम सत्-विषयक झाँकी का युक्तिपूर्ण तथा उपयुक्त विस्तारण मात्र समझना चाहिए।

(3) विचार का उग्र रूप अनुमान होता है। परन्तु किसी भी अनुमान में प्रस्तुत की गयी वास्तविक वस्तु का आत्मविस्तारण ही किया जाता है। चूँकि प्रस्तुत वस्तु को वास्तविक समझा जाता है इसलिए ब्रैड्ले के अनुसार अनुमान अथवा विचार को भी परम वास्तविकता में निहित मानना चाहिए।

(4) हम लोगों ने परम सत्ता को सर्वसमावेशी कहा है, इसलिए विचार और विचार के परिणामों को समाविष्ट समझा जायेगा।

इसलिए ब्रैड्ले के अनुसार (पृ. 135) यदि दार्शनिक सन्देहवाद से बचना चाहता है तो उसे विचार और सत्, सत्यता और परम वास्तविकता के बीच तादात्म्य को स्वीकार करना चाहिए। पर इसके साथ-साथ, ब्रैड्ले के अनुसार, विचार को सत् से भिन्न समझना चाहिए और फिर विचार को सत् का केवल एक अंश ही स्वीकार करना चाहिए।

(क) परम सत् सर्वसमावेशी है और इसमें मानव की सम्पूर्ण अपेक्षाओं की सन्तुष्टि होनी चाहिए, अर्थात् भाव और संकल्प में निहित अभ्यर्थनाओं को भी सन्तुष्ट होना चाहिए। परन्तु विचार तथा संज्ञान मानव के भाव तथा कृति से भिन्न है। इसलिए केवल विचार को मानव की सम्पूर्ण अभ्यर्थना नहीं स्वीकार किया जा सकता।

(ख) फिर विचार का अपना परम उद्देश्य है कि दार्शनिक चिन्तन तथा परम-सत्ता को आत्मसंगत अथवा व्याघात रहित बनाया जाय। परन्तु विचार का ऐसा स्वरूप ही है कि यह अन्तिम रूप में भेद उत्पन्न किए बिना सम्भव नहीं हो सकता। विचार में निहित सभी प्रकार के भेदों को पद और सम्बन्ध के रूप में आकृत्यांतरित किया जा सकता है और पद-सम्बन्ध के बीच संगति नहीं उत्पन्न की जा सकती। इसलिए विचार द्वारा सत् नहीं केवल आभास ही मिल सकता है।

(ग) मानव की किसी भी अनुभूति को कितना ही अधिक आदिम क्यों न माना जाय परन्तु यह अनुभूति परम सत्ता की सच्ची झाँकी होने के बावजूद आंशिक ही स्वीकार की जायगी और इसलिए विचार को भी, जो इस अनुभूति का विस्तारण मात्र है, आंशिक रूप से ही सत्य माना जायगा, और जो अंशत: सत्य है, उसे ही आभास कहा जा सकता है। इसलिए विचार को भी अन्तिम रूप में आभास-मात्र कहा जायगा।

यदि परम सत्ता और विचार के बीच तादात्म्य को दार्शनिक पूर्वमान्यता न माना जाय तो इसका पूर्वमान्यता के अतिरिक्त क्या कोई तर्कसंगत आधार हो सकता है ? वाण्डर वीर के अनुसार, ब्रैड्ले के इस तार्किक आधार को तर्क केन्द्रित संकटापन्न स्थिति की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ सभी दार्शनिकों को चुनौती इस प्रकार दी जा सकती है :

"कोई भी ऐसी दार्शनिक रचना बतायें जिसमें आत्मसंगति के नियम को पूर्वापेक्षित नहीं किया गया है। यहाँ तक कि आत्मसंगति के शर्त को बिना प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किये नकारा भी नहीं जा सकता। इसलिए विचार और इसका आत्मसंगति-नियम सभी प्रकार के चिंतन तथा वास्तविकता के लिए सर्वमान्य समझा जायगा।"

इस स्थल पर वाण्डर वीर का कहना है कि इस संकटापन्न स्थिति को बर्कले के आत्मकेन्द्रित संकटापन्न स्थिति के समान दोषपूर्ण नहीं समझा जा सकता (पृ. 128-130)। आत्मसंगति के नियम को आधार बनाए बिना हम इसलिए विचार नहीं कर सकते कि अंतिम रूप में व्याघात का नियम विचार और परम सत्ता में निहित है। इस संदर्भ में नेगल की आपत्ति उल्लेखनीय है।

नेगल प्रत्ययवाद के समसामयिक प्रमुख आलोचक हैं और वे एक माने-जाने तार्किक भी हैं। नेगल का कहना है कि व्याघात का नियम भाषा-व्याकरण का नियम है। व्याघात की अनिवार्यता अंत में व्यवहृत परिभाषित पदों के संगत प्रयोग से उत्पन्न होती है। जब तक भाषा-व्याकरण के आधार पर विचारों के संज्ञापन में तथा घटनाओं को समझने में सफलता प्राप्त होती रहेगी तब तक व्याघात-नियम को भी स्वीकारा जायगा। परन्तु जैसे ही विचारों के आदान-प्रदान तथा वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति में बाधा पहुँचने लगेगी; वैसे ही परम्परागत तार्किक नियमों को त्यागकर अन्य तार्किक नियमों की स्थापना की जायगी। अत: नेगल के अनुसार, तार्किक नियम, चाहे वे आत्मसंगति अथवा व्याघात के नियम हों अथवा अन्य नियम हों, अंत में भाषा-प्रयोग पर निर्भर करते हैं। इसलिए तार्किक नियमों को सत्तामूलक नहीं समझना चाहिये (पृ. 130-132)।

मेरी समझ में वाण्डर वीर ने नेगल की आपत्तियों का निराकरण नहीं किया है। वाण्डर वीर का कहना है कि हम तार्किक नियमों के निर्देश का इसलिए पालन करते हैं कि ये तार्किक निर्देश स्वयं परम वास्तविकता में निहित पाये जाते हैं (पृ. 131)। वास्तव में देखा जाय तो प्रत्ययवादी तथा किसी भी प्रकार की तत्त्वमीमांसा इस पूर्वमान्यता पर आधृत है कि विश्व की सम्पूर्णता की व्याख्या की जा सकती है। समसामयिक विचारधारा में वैज्ञानिक आदर्श को बौद्धिक उद्देश्य का चरम आदर्श स्वीकारा गया है। इस रूप में इन्द्रियानुभूति किसी न किसी प्रकार ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य साधन समझी जाती है। कान्ट से लेकर ब्रैड्ले तक स्वीकारते हैं कि सम्पूर्ण विश्व किसी भी अनुभूति का विषय नहीं हो सकता। यही कारण है कि सामयिक विचारधारा में तत्त्वमीमांसा को बौद्धिक-चिन्तन का समुचित

विषय नहीं माना जाता है। परन्तु मेरी समझ में, ब्रैड्ले ने तत्त्वमीमांसा को वैज्ञानिक ज्ञान नहीं स्वीकारा है। तो इस स्थिति में वाण्डर वीर का प्रतिपाद्य विषय ही विवादग्रस्त हो जाता है। तो भी वाण्डर वीर को अपने प्रयास के लिए बधाई देनी चाहिए कि एक तो उन्होंने तत्त्वमीमांसा को और फिर ब्रैड्ले के प्रत्ययवाद को सामयिक विचारधारा में पुनर्जीवित करने का साहस दिखाया है।

***

संदर्भ-सूची : -

1. *W.H. Walch, Metaphysics, Huchinson, University Library, London, 1963.*
1. *ब्रैड्ले-आभास और सत्, अनु. डा. फतहसिंह, हिन्दी समिति, लखनऊ, पृष्ठ 19।*
2. *वही, पृ. 486।*
3. *H.W.B. Joseph, An Introduction to Logic, 1957 - P. 13.*
4. *ब्रैड्ले - वही, पृ. 487।*
5. *ब्रैड्ले - वही, पृष्ठ 123।*
6. *Appearance and Reality, 9th imp., PP. 127-28 .*
7. *The Principles of Logic, Vol. 1, PP. 53-54. (Second Ed.)*

4

मूर तथा रसेल : विश्लेषणवादी परम्परा* - 1

रूपरेखा वर्मा

"लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लौजिक", "दि फाउण्डेशन्स् ऑफ एम्पिरिकल नौलेज", "दि प्रौब्लम ऑफ नौलेज", "दि कौन्सेप्ट ऑफ ए पर्सन एण्ड अदर ऐसेज" आदि सुविख्यात पुस्तकों के रचनाकार प्रो. ए.जे. एयर की नवीनतम पुस्तक "रसेल एण्ड मूर: दि एनालिटिक हेरिटेज" हार्वार्ड विश्वविद्यालय में 1970 में दिए गए विलियम जेम्स भाषणों का मुद्रित रूप है। यह पुस्तक रचनाकाल की ही दृष्टि से नवीन नहीं है अपितु विषयवस्तु एवं शैली की दृष्टि से नवीन है। इस पुस्तक तथा एक अन्य पुस्तक "दि ओरिजिन्स ऑफ प्रैग्मेटिज्म" (1968), दोनों ही में प्रो. एयर कुछ दार्शनिकों के सिद्धान्तों की विवेचना तथा उनकी आलोचना तक स्वयं को सीमित रखते हैं। इनसे पूर्व की पुस्तकों में प्रो. एयर ने किसी विशिष्ट दार्शनिक की किसी विशेष विचारधारा के विवरण और समालोचना को उतना केन्द्रीय नहीं बनाया है जितना समस्या तथा उससे सम्बन्धित अपने विचारों के व्यवस्थित सृजन को। इसका अर्थ यह नहीं है कि पहले की पुस्तकों में प्रो. एयर किसी भी समस्या की विवेचना में किसी अन्य दार्शनिक के मत का उल्लेख अथवा विवरण करते ही नहीं और इन अपेक्षाकृत नवीन पुस्तकों में अपने विचारों के लिए तर्क नहीं करते। "दि ओरिजिन्स् ऑफ प्रैग्मेटिज्म" तथा "रसेल एण्ड मूर", इन दोनों पुस्तकों में लेखक ने लगभग हर समस्या पर अपने मत का कम से कम उल्लेख तो किया ही है, अधिकांशत: अपने मत के लिए युक्तियां भी दी हैं। इसी प्रकार इनसे पहले की पुस्तकों में किसी भी समस्या की चर्चा में अन्य दार्शनिकों के प्रासंगिक विचारों की विवेचना पर्याप्त रूप से पाई जाती है। प्रश्न केवल विवेचना के इन दो पक्षों के अनुपात तथा प्रधानता का है। उस दृष्टिकोण से "दि ओरिजिन्स् ऑफ प्रैग्मेटिज्म" में मुख्यत: चार्ल्स सैण्डर्स, पायर्स तथा विलियम जेम्स के सिद्धान्तों की समालोचना है। इसी तरह "रसेल एण्ड मूर" नामक इस पुस्तक का उद्देश्य, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, विश्लेषणपरक दार्शनिक आन्दोलन के प्रणेताओं रसेल तथा मूर की विचारधाराओं की विवेचना है। इस उद्देश्य में पुस्तक को पूर्ण सफलता मिली है। रसेल तथा मूर दोनों ही दार्शनिकों पर अनेकों पुस्तकें मिल जायेंगी, पर उनके चिन्तन का जो उत्कृष्ट स्तर प्रो. एयर की इस पुस्तक में मिलता है वह कुछ गिनी-चुनी पुस्तकों में ही मिलेगा। स्वयं विश्लेषणपरक आन्दोलन को नवीन दिशाएं तथा विकास देने वाले तथा इस दार्शनिक विचारधारा के श्रेष्ठतम पोषकों में से एक प्रो. एयर ने रसेल तथा मूर जैसे दार्शनिकों के विचारों को जिस गहराई से समझा है और जिस विशद अध्ययन तथा परिपक्व दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में उनकी आलोचना की है वह

* *Moor and Russell; The Analytic Heritage, by A.J. Ayer, Macmillan, 1971, P.254*

अन्यत्र दुर्लभ है। विशेषत: रसेल के विचार करीब-करीब सभी समस्याओं पर इतने संशोधित तथा परिवर्तित होते रहे हैं, और उनकी रचनाएं इतनी विशद रही हैं कि उनको उनकी लगभग समग्रता में प्रस्तुत करके समालोचित करना सरल कार्य नहीं है। रसेल के विशाल रचना-भंडार को ऐसी समग्रता से देखने के प्रयास अन्य भी हुए हैं, और उनमें से बहुत से प्रशंसनीय स्तर के भी हैं, उदाहरणार्थ, डी.एफ. पियर्स की पाँच वर्ष पूर्व लिखी पुस्तक "बर्ट्रेण्ड रसेल एण्ड दि ब्रिटिश ट्रेडीशन इन फिलोसोफी" रसेल पर उस समय तक की सर्वोत्कृष्ट पुस्तकों में मानी जा सकती है। पर एयर की यह पुस्तक सूक्ष्मता के दृष्टिकोण से उससे भी श्रेष्ठ मानी जा सकती है। पुस्तक में खटकने वाली बात केवल एक ही लगती है कि इसकी शैली अपेक्षाकृत कम सरल है। पुस्तक को भली-भाँति समझने के लिए रसेल की विचारधारा तथा संबद्ध दार्शनिक समस्याओं का अच्छा ज्ञान पहले से ही होना आवश्यक है। क्योंकि अधिकांश स्थानों पर एयर ने रसेल की युक्ति अथवा मत के विवरण में और उससे संबद्ध पूर्व-उपलब्ध विवेचना के उल्लेख में भी केवल उन्हीं बातों को अपेक्षाकृत विस्तार दिया है जो अधिक सूक्ष्म हैं और अधिक विवादास्पद होने के कारण जिनकी विवेचना वह स्वयं करते हैं। इस कारण रसेल तथा मूर से पूर्णत: अनभिज्ञ पाठक को यह पुस्तक कठिन प्रतीत हो सकती है। पुस्तक के प्रथम पाँच अध्याय प्रथम भाग का निर्माण करते हैं और शेष चार अध्याय द्वितीय भाग का। प्रथम भाग रसेल पर और द्वितीय मूर पर केन्द्रित है।

प्रथम अध्याय - "दि चैलेंज ऑफ स्केप्टिसिज्म" में चार खंड हैं, जिनमें से प्रथम रसेल की जीवन-कथा एवं उनकी रचनाओं का संक्षिप्त सामान्य विवरण देता है। द्वितीय खण्ड में कुछ विस्तार से रसेल की दर्शन विषयक अवधारणा समझायी गयी है। एयर बताते हैं कि आधुनिक दर्शनशास्त्र को बहुत कुछ देने के बाद भी दर्शनशास्त्र के स्वरूप एवं कार्य के विषय में रसेल का विचार अपेक्षाकृत पुराना है। इस कारण वह मूर, विट्गेन्स्टाइन एवं कार्नेप आदि के उतना निकट नहीं रह पाते जितना प्राचीन अनुभववादियों - लौक, बर्कले एवं ह्यूम के। क्योंकि रसेल की मुख्य अवधारणा यह है कि हमारे हर विश्वास के लिए एक दार्शनिक प्रामाणिकता की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि तथाकथित अनुभवात्मक वाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता के निर्धारण के लिए दार्शनिक युक्तियाँ पर्याप्त हैं। रसेल दार्शनिक प्रामाणिकता को सभी विश्वासों के लिए पर्याप्त नहीं, अनिवार्य मानते हैं। क्योंकि उनके विचार से, हर अनुभवात्मक विश्वास कुछ विशेष प्रकार के अस्तित्व को मानकर चलते हैं और यह सिद्ध करना कि उस प्रकार के अस्तित्वों को मानना युक्तियुक्त है, दर्शनशास्त्र का कार्य है। एयर बताते हैं कि रसेल केवल इतना ही नहीं मानते कि हमारे विश्वासों की इन अस्तित्वपरक अवधारणाओं का परीक्षण करना दर्शनशास्त्र का कार्य है, अपितु यह भी मानते हैं कि दर्शनशास्त्र की हर समस्या या तो इसी प्रकार अस्तित्वमीमांसात्मक है, अथवा उससे संबद्ध है।

रसेल के दर्शन के मूल में ही अस्तित्वमीमांसा के इस महत्त्व को रसेल के व्याख्याकार बहुधा भूल जाते हैं। कारण यह हो सकता है कि दार्शनिक विधि में विश्लेषण का प्रयोग स्वयं रसेल द्वारा शक्तिशाली बनाया गया, और चूँकि विश्लेषण में अस्तित्वमीमांसात्मक प्रश्न सीधे रूप से नहीं उठते, यह मान लिया जाता है कि इन प्रश्नों को रसेल अपने दर्शन में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दे सकते। मौरिस वाइज [1]आदि का यही मत है। परन्तु एयर के मतानुसार रसेल की यह व्याख्या सही नहीं है, क्योंकि रसेल विश्लेषण को केवल विश्लेषण के ही लिए प्रयुक्त नहीं करते, अपितु अस्तित्वपरक विश्वासों की एक विशेष प्रकार की प्रामाणिकता के लिए प्रयुक्त करते हैं। विश्लेषण से हम यह जान लेते हैं कि हम एक विशेष प्रकार की वस्तु को दूसरे प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं, और इस प्रकार अपनी अस्तित्वमीमांसा में केवल दूसरे प्रकार की ही वस्तुओं को मानना अनिवार्य एवं पर्याप्त है, यह सिद्ध कर सकते हैं।

एयर अपनी इस व्याख्या के लिए रसेल एवं मूर की ज्ञानमीमांसा का तुलनात्मक विवरण देते हुए बताते हैं कि मूर साधारण व्यक्ति के विश्वासों पर संशय की संभावना मानते ही नहीं। वे दर्शनशास्त्र का कार्य इन विश्वासों की आलोचना अथवा खंडन-मंडन नहीं मानते। उनके मतानुसार दर्शनशास्त्र का कार्य केवल इन विश्वासों का विश्लेषण करना है। अर्थात् मूर के अनुसार दर्शनशास्त्र का कार्य शुद्ध रूप से विश्लेषणात्मक है। पर रसेल के अनुसार दर्शनशास्त्र का अंतिम लक्ष्य कुछ विश्वासों अथवा सिद्धान्तों की स्थापना अथवा खंडन करना है; अर्थात् दर्शन का कार्य हमारे विश्वासों को प्रमाण प्रदान करना है। एयर की व्याख्या के अनुसार, रसेल किसी वाक्य के विश्लेषण का उद्देश्य उसकी ऐसी व्याख्या ढूँढ़ना मानते हैं जिसके आधार पर उस वाक्य की सत्यता संभव मानी जा सके। एयर ने मूर की व्याख्या को पूर्ण रूप से ठीक की है, इसमें कोई संदेह नहीं। मूर के प्रसिद्ध लेखों 'ए डिफेन्स ऑफ कौमन सेन्स', 'प्रूफ ऑफ एन एक्स्टर्नल वर्ल्ड' आदि में उनका यह मत पूर्ण रूप से स्पष्ट है। परन्तु रसेल के विषय में एयर की व्याख्या पर कुछ संदेह किया जा सकता है क्योंकि "दि फिलोसोफी ऑफ बर्ट्रेण्ड रसेल" पुस्तक में अपने आलोचकों को दिए गए प्रत्युत्तर में रसेल स्वयं मौरिस वाइज, आदि की व्याख्या का खंडन नहीं करते। यह कहा जा सकता है कि दूसरी आलोचनाओं का उत्तर देते समय रसेल का ध्यान अपने दर्शन की व्याख्या संबंधी सूक्ष्म बातों पर नहीं गया और इस प्रकार उनकी उन्होंने उपेक्षा सी कर दी। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि किसी व्याख्या का खंडन न करना उसे सही मान लेने का द्योतक नहीं है। एयर का यही मत है। पर ऐसा बहुत असंभावित प्रतीत होता है कि अपने दर्शन के इतने मूलभूत सिद्धान्त के प्रति रसेल ऐसी उपेक्षा कर जांय। अत: यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि रसेल विश्लेषण की सौद्देश्यता तथा दर्शन में तत्त्वमीमांसा के स्थान के विषय में बहुत स्पष्ट नहीं थे।

जो भी हो, एयर न केवल अपनी व्याख्या के सही होने का दावा करते हैं, वे व्याख्या में दिए गए सिद्धान्त को एक बड़े अंश तक स्वीकार भी करते हैं। एयर ने इस मान्यता की आलोचना की है कि हर अस्तित्वपरक प्रश्न का उत्तर अनुभवात्मक विधि से ही दिया जा सकता है और तब दर्शन के लिए केवल विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण का कार्य ही शेष रहता है। वस्तुत: एयर के नवीन विचार के अनुसार, स्पष्टीकरण (तथा विश्लेषण) और तथ्यात्मक ज्ञान के बीच उस तरह का स्पष्ट भेद अथवा वैपरीत्य नहीं है जैसा कि मूर, विट्गेन्स्टाइन तथा उनके अनुयायी मानते आए हैं। दर्शन की अतथ्यात्मकता के विरुद्ध मूर आदि के दर्शन में जो युक्ति मिलती है उसके विरुद्ध एयर ने पुस्तक के द्वितीय भाग में तर्क दिया है। इसके अतिरिक्त, अन्यत्र भी उन्होंने इस विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। एक स्थान पर वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि, यद्यपि एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक अन्वेषणों का संबंध संसार की क्रियाओं-प्रक्रियाओं से नहीं है, अपितु इस बात से है कि हम संसार के विषय में किस प्रकार बात करते हैं, फिर भी यह कोई पक्का भेद नहीं है। क्योंकि हम संसार पर भाषा के माध्यम से ही दृष्टिपात कर सकते हैं और इस प्रकार "तथ्यों पर अपनी भाषा द्वारा आरोपित की गई माँगों को समझना स्वयं तथ्यों के स्वरूप को समझने की भी एक विधि है।"[2] अत: किसी दार्शनिक निष्कर्ष को हम तथ्यों के विषय में मानें या तथ्यों के विषय में हमारे बात करने की विधा के विषय में मानें, इन दोनों विकल्पों में एयर कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं मानेंगे। यही बात उन्होंने एक अन्य स्थान पर भी स्पष्ट की है। तत्त्वमीमांसा के स्वरूप एवं संभावना की विवेचना करते हुए एयर उदाहरण के रूप में भौतिक वस्तुओं की समस्या लेते हैं। सुविदित है कि इस समस्या की विवेचना न केवल तथाकथित तत्त्वमीमांसकों ने की है अपितु तत्त्वमीमांसा के विरोधियों ने भी की है। एयर का मत है कि यदि हम भौतिक वस्तु की अनुभवमूलक (फिनोमिनोलोजिकल) व्याख्या को मानें तो इस स्वीकृति को ही विभिन्न दार्शनिक विभिन्न रूपों में रख

सकते हैं। विश्लेषणपरक मनोवृत्ति का दार्शनिक यह कहेगा कि भौतिक वस्तुएं संवेद्यों (सेंस डाटा) से तार्किक रचनाएं हैं, और तत्त्वमीमांसा को संभव तथा निर्दोष मानने वाला दार्शनिक यह कहेगा कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। परन्तु यह केवल हमारे कहने का ही भेद है; यह कोई वास्तविक भेद नहीं है।[3] न केवल एयर, कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण आधुनिक दार्शनिक भी, जो पारम्परिक अर्थ में तत्त्वमीमांसक नहीं हैं, इसी प्रकार का विचार रखते हैं। उदाहरणार्थ, एच.एच. प्राइस दर्शन का कार्य स्पष्टीकरण मानते हुए भी कहते हैं कि "विश्लेषणपरक दार्शनिक यह मानने को बाध्य नहीं हैं कि दर्शनशास्त्र का लक्ष्य वाक्यों के अर्थ-विश्लेषित करना मात्र है। वह उसी तरह यह भी कह सकता है कि इसका लक्ष्य हमारे अनुभव का विश्लेषण करना या तथ्य के विभिन्न प्रकारों अथवा रूपों का विश्लेषण करना है .....।[4]"

रसेल के अधिदार्शनिक (मेटाफिलोसोफिकल) विचार की मीमांसा करने के बाद एयर उनके दर्शन की कुछ अभिधारणाओं का उल्लेख करते हैं। एयर के मतानुसार रसेल के सम्पूर्ण दर्शन के पीछे निम्नलिखित दस अभिधारणाएं निहित हैं।

(1) हमारे समस्त तथ्यात्मक विश्वासों के आधारवाक्यों के रूप में कुछ विशेष प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ कार्य करती हैं, जो इस अर्थ में निश्चयात्मक हैं कि उनकी असत्यता सिद्ध करने के लिए कोई दूसरे आधारवाक्य हमें उपलब्ध नहीं हैं।

(2) ये प्रतिज्ञप्तियाँ परमाणविक हैं क्योंकि उनका निर्माण अन्य प्रतिज्ञप्तियों से नहीं हुआ है और उनमें हर दो प्रतिज्ञप्तियाँ परस्पर तार्किक रूप से स्वतंत्र हैं।

(3) परमाणविक प्रतिज्ञप्तियों को अभिव्यक्त करने वाले वाक्य व्यक्तिवाचक नामों (प्रौपर नेम्स) तथा विधेयों से बने होते हैं।

(4) नाम का अर्थ वह वस्तु होती है जिसका निदर्शन नाम करता है। अत: निदर्शन-हीन नाम अर्थहीन भी होगा।

(5) हम केवल अपने प्रत्यक्षों एवं मानसिक स्थितियों को ही नाम दे सकते हैं। इन्हें हम परिचय (एक्वेंटेंस) से जानते हैं।

(6) सामान्यों (यूनीवर्सल्स) से परिचित होना संभव है। अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में रसेल किसी सामान्य के परिचय द्वारा ज्ञेय होने की यह अनिवार्य शर्त मानते हैं कि वह हमारे अनुभव में अभिव्यक्त हो।

(7) जो वस्तुएं परिचय से ज्ञात नहीं होतीं उन्हें विवरण से जाना जा सकता है। परन्तु यह आवश्यक है कि विवरण इस प्रकार का हो जो वर्णित वस्तु को परिचय द्वारा ज्ञात वस्तुओं से संबंधित करता हो।

(8) प्रत्येक विवरण में इस प्रकार का परोक्ष अनुमान निहित रहता है कि ऐसी कोई वस्तु है जो उस वस्तु से वांछित संबंध रखती है जिस पर विवरण आधारित किया गया है। ऐसे अनुमानों के गलत होने की संभावना सदैव रहती है।

(9) गणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ जिन अमूर्त वस्तुओं का निदर्शन करती प्रतीत होती हैं उनका अस्तित्व संदेहास्पद है।

(10) दार्शनिक का एक कार्य "क्या है" इसका सामान्य लेखा प्रस्तुत करना है। इस कार्य में अपने समय के प्रचलित विज्ञान की मान्यताओं का सहारा लेना दार्शनिक के लिए विवेकपूर्ण होता है। क्योंकि विज्ञान के सिद्धान्त पूर्णरूपेण निश्चयात्मक न होते हुए भी दूसरे अवैज्ञानिक सिद्धान्तों से अधिक संभाव्य होते हैं।

प्रथम अध्याय का तृतीय खंड रसेल के तार्किक निर्मितियों के सिद्धान्त (थीयरी ऑफ लोजीकल कंस्ट्रक्शंस्) के उद्देश्यों की विवेचना करता है। एयर के मतानुसार गौण (सेकंड्री) अथवा अनुमानित (इन्फर्ड) वस्तुओं को प्राथमिक अथवा मौलिक वस्तुओं से तार्किक रचनाएं मानने के तीन मुख्य कारण हो सकते हैं। प्रथमत:, ऐसा हो सकता है कि वस्तु किसी प्रकार रहस्यात्मक प्रतीत हो। द्वितीयत:, वस्तु तार्किक दृष्टिकोण से स्वीकार्य न हो। उदाहरण के लिए, मीनौंग द्वारा स्वीकृत गोल चतुर्भुज तार्किक रूप से अस्वीकार्य है। तृतीयत:, वस्तु का अस्तित्व ज्ञात करने में कुछ कठिनाइयाँ हों। यह अंतिम कारण ज्ञानमीमांसात्मक है।

चतुर्थ खण्ड में एयर ने वर्ग के प्रत्यय तथा उससे सम्बन्धित रसेल के प्रारूपों के सिद्धान्त 'थ्योरी ऑफ टाइप्स' पर टिप्पणी दी है। रसेल द्वारा अंक की वर्ग के माध्यम से दी गई परिभाषा की ओर संकेत करते हुए एयर प्रश्न उठाते हैं कि क्या वर्ग का प्रत्यय अंक के प्रत्यय से कम रहस्यात्मक है? अंक को वर्ग द्वारा परिभाषित करने, अर्थात् अंक को वर्गों से तार्किक रचना मानने का कारण ही यह माना जाता है कि अंक का प्रत्यय बहुत रहस्यात्मक है। अत: यह मांग स्वाभाविक ही है कि वर्ग के प्रत्यय को हम अंक के प्रत्यय की अपेक्षा अधिक ठीक तरह समझते हों। यदि हम वर्ग को कुछ वस्तुओं के मात्र समूह के रूप में समझें, अर्थात् उन्हें वस्त्वर्थक (एक्स्टेंश्नल) दृष्टिकोण से देखें, तो वर्ग के प्रत्यय में कोई रहस्यात्मक बात नहीं प्रतीत होगी। परन्तु एयर बताते हैं कि वर्गों की इस प्रकार की व्याख्या रसेल के लिए व्यर्थ होगी। क्योंकि रसेल इस व्याख्या का उपयोग गणितीय वाक्यों को वर्ग-विषयक वाक्यों में रूपान्तरित करने के लिए करना चाहते हैं, और इस प्रयोग में हमें अनन्त सदस्यों वाले वर्ग भी मानने होंगे। परन्तु अनन्त सदस्यों वाले वर्ग के प्रत्यय में कठिनाइयाँ हैं। यदि उन सदस्यों का संयोजन किसी नियम के अनुसार किया जाता है तो यह माना जा सकता है कि ऐसे वर्ग के किसी भी अंश की गणना की जा सकती है। परन्तु असंख्य सदस्यों वाले वर्ग के होने पर यह नहीं माना जा सकता कि उस वर्ग के सभी अंशों की सामूहिक रूप से गणना की जा सकती है।

इस प्रत्यय की एक और कठिनाई यह होगी कि रिक्त वर्ग (नल क्लास) को भी एक प्रकार का समूह मानना पड़ेगा। परन्तु एक रिक्त वर्ग समूह कैसे हो सकता है (क्योंकि उसमें कोई सदस्य तो होता ही नहीं), यह बोधगम्य नहीं है। तीसरी कठिनाई इकाई-वर्ग (यूनिट क्लास) को लेकर खड़ी होगी। जैसा कि एयर संकेत करते हैं, तार्किक दृष्टिकोण से हम इकाई-वर्ग तथा इसके एकमात्र सदस्य का भेद भी क्या हो सकता है, स्पष्ट नहीं है। यह कठिनाई केवल इकाई वर्ग की ही नहीं है, सामान्य है। सामान्य रूप से, समूह को इसके सदस्यों से अलग एक भिन्न अस्तित्व मानना सार्थक प्रतीत नहीं होता, जबकि ऐसा भेद मानना भी कुछ तार्किक कारणों से अनिवार्य प्रतीत होता है। स्वयं रसेल यह बताते हैं कि समूह को उसके सदस्यों से भिन्न वस्तु मानने के कुछ परिणाम आत्म-विरोधी होंगे। क्योंकि यह गणित से सिद्ध किया जा सकता है कि ये वस्तुओं के समूह में से ('य' वस्तुओं की कोई भी संख्या इंगित करता है) 2 य संख्या के विभिन्न चयन किये जा सकते हैं; और जैसा कि कैन्टर ने सिद्ध कर दिया है, 'य' के अनन्त होने पर भी '2य' की संख्या 'य' से अधिक ही होगी। इसका निष्कर्ष यह होगा कि यदि अस्तित्ववान् वस्तुओं की समग्रता में वस्तुओं के सभी संभव समूह भी सम्मिलित किए जाएं तो हमें यह आत्म-विरोधी बात माननी पड़ेगी कि अस्तित्ववान् वस्तुओं की संख्या उनकी समग्रता से अधिक है। संक्षेप में, वस्तुओं की समग्रता का प्रत्यय आत्मविरोधी अथवा अर्थहीन हो जायगा। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वर्गों का वस्त्वर्थक (एक्स्टेंश्नल) प्रत्यय ठीक नहीं है।

इसका विकल्प है वर्गों को गुणार्थिक (इंटेश्नल) दृष्टिकोण से समझना। इस विकल्प के आधार पर वर्ग ऐसी वस्तुओं का एक विन्यास (सैट) माना जायगा जो किसी प्रदत्त प्रत्यय के अन्तर्गत आते हैं अथवा किसी प्रदत्त प्रतिज्ञप्ति-फलन को संतुष्ट करते हैं। इस परिभाषा के आधार पर वर्गों का निराकरण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यह कहने के स्थान पर कि वर्ग 'प्रथम चन्द्रयात्री' के दो सदस्य हैं, हम यह कह सकते हैं कि प्रतिज्ञप्ति-फलन 'य चन्द्रयात्री है' को 'य' के दो मूल्य संतुष्ट करते हैं। इसी प्रकार 'वर्ग "भारतीय चन्द्रयात्री" का एक भी सदस्य नहीं है' वाक्य के स्थान पर इस वाक्य का प्रयोग किया जा सकता है : 'प्रतिज्ञप्ति-फलन "य भारतीय चन्द्रयात्री है" को 'य' का एक भी मूल्य संतुष्ट नहीं करता।' परन्तु इस परिभाषा में भी एक कठिनाई यह है कि इसमें प्रतिज्ञप्ति-फलन का प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है जो प्रतिज्ञप्ति के प्रत्यय पर आश्रित होने के कारण उतना ही समस्यात्मक है जितना स्वयं प्रतिज्ञप्ति का प्रत्यय। यह सुविदित है कि प्रतिज्ञप्ति के स्वरूप के विषय में दार्शनिक समस्याएं अभी भी सुलझी नहीं हैं। अत: विचाराधीन परिभाषा पूरी तरह संतोषजनक नहीं कही जा सकती। फिर भी, एयर यह मानते हैं कि चूँकि प्रतिज्ञप्ति के स्वरूप की समस्या गणित-दर्शन की विशिष्ट समस्या न होकर समस्त दर्शनशास्त्र की समस्या है, इस परिभाषा को हम अन्य परिभाषाओं से कहीं अधिक उपयोगी मान सकते हैं, जब तक इस परिभाषा के कारण गणित-दर्शन में कोई अन्य समस्या खड़ी न हो जाय।

इस परिभाषा की यह दूसरी विशिष्ट समस्या इस प्रकार की है। सामान्यत: यह माना जायगा कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति-फलन एक वर्ग निश्चित करता है, और कुछ स्थितियों में कोई प्रतिज्ञप्ति-फलन ऐसा वर्ग निश्चित कर सकता है जो वर्गों का वर्ग हो। पर यदि इन दूसरे प्रकार के प्रतिज्ञप्ति-फलनों पर किसी प्रकार की सीमा आरोपित नहीं की जाती तो हमें पुन: आत्मविरोधी निष्कर्ष प्राप्त होंगे। इसका एक सुपरिचित उदाहरण है वर्गों का वह विभाजन जिसके अनुसार एक प्रकार के वर्ग वे हैं जो स्वयं अपने सदस्य हैं तथा दूसरे वे जो स्वयं अपने सदस्य नहीं हैं। यदि ऐसे वर्गों के वर्ग के विषय में, जो स्वयं अपने सदस्य नहीं हैं, हम यह पूछें कि वह स्वयं अपना सदस्य है अथवा नहीं, तो दोनों संभव उत्तर आत्मविरोधी होंगे। यदि हम कहें कि वह वर्ग स्वयं अपना सदस्य है तो यह मानना होगा कि वह अपना सदस्य नहीं है (क्योंकि वह वर्ग ऐसे वर्गों का ही वर्ग माना गया है जो स्वयं अपने सदस्य नहीं हैं), और यदि हम कहें कि वह अपना सदस्य नहीं है तो उसका अर्थ होगा कि वह प्रथम प्रकार के वर्ग का सदस्य है जिसके सभी सदस्य स्वयं अपने सदस्य हैं, जिसका निष्कर्ष यह होगा कि विचाराधीन वर्ग भी अपना सदस्य है। इस प्रकार के आत्मविरोधों का निराकरण करने के लिए ही रसेल ने अपना प्रसिद्ध प्रारूपों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

संक्षेप में, प्रारूपों का सिद्धान्त यह कहता है कि कोई भी प्रतिज्ञप्ति-फलन अपने संभव मूल्यों की समग्रता पूर्वकल्पित करता है। अत: किसी भी प्रतिज्ञप्ति-फलन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए (उस सीमा तक जहाँ तक वह अर्थवान् कहा जा सकता है) उसको संतुष्ट कर सकने वाले संभव विषयों का विस्तार (रेंज) बताना आवश्यक है। इसका निष्कर्ष यह होगा कि विषयों के विस्तार में ऐसी कोई वस्तु सम्मिलित नहीं की जा सकती जो स्वयं प्रतिज्ञप्ति-फलन से परिभाषित की जाती हो। अत: स्वयं अपने सदस्य न होने वाले वर्गों के वर्ग के विषय में हम सार्थकता से न तो यह कह सकते हैं कि वह स्वयं अपना सदस्य है, और न यह कि वह अपना सदस्य नहीं है। इस प्रकार हमें प्रतिज्ञप्ति-फलनों तथा प्रतिज्ञप्तियों का एक श्रेणीबद्ध संगठन प्राप्त होता है, जिसमें प्रथम स्तर की प्रतिज्ञप्तियों अथवा फलनों के विषय केवल विशिष्ट विषय होते हैं और अधिकाधिक उच्च स्तर की प्रतिज्ञप्तियों अथवा फलनों के विषय अपने से एक कम स्तर की प्रतिज्ञप्तियाँ अथवा फलन होते हैं। किसी एक स्तर के फलनों को संतुष्ट करने

वाले विषय एक प्रकार अथवा प्रारूप (टाइप) का निर्माण करते हैं और मुख्य सिद्धान्त यह है कि जो कुछ एक प्रारूप के विषयों के लिए सार्थकता से कहा जा सकता है वह दूसरे प्रारूप के विषयों के लिए नहीं कहा जा सकता।

रसेल की इस युक्ति के विरुद्ध एयर की आपत्ति यह है कि ऐसे शब्द अथवा प्रत्यय मिल सकते हैं जो रसेल के इस सिद्धांत के आधार पर अनेकार्थक माने जाने चाहिए किन्तु जो अनेकार्थक प्रतीत नहीं होते। उदाहरणार्थ, अस्तित्व का प्रत्यय अनेकार्थक प्रतीत नहीं होता, जब हम विभिन्न वस्तुओं के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व की चर्चा करते हैं, तो अस्तित्व का एक ही प्रत्यय प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। परन्तु रसेल के सिद्धांत के अनुसार हम एक ही प्रकार की बात सभी प्रारूपों अथवा दो विभिन्न प्रारूपों के विषयों के लिए नहीं कह सकते। रसेल ऐसे प्रत्ययों अथवा शब्दों को, जिन्हें हम विभिन्न प्रारूपों के विषयों के लिए प्रयुक्त करते रहते हैं, ''व्यवस्थित रूप से अनेकार्थक'' कहते हैं। इस व्याख्या के अनुरूप, जब हम कहते हैं कि विशिष्ट विषय हैं, तो हमारा तात्पर्य होता है कि प्रथम स्तर के कुछ प्रतिज्ञप्ति-फलन संतुष्ट होते हैं, जब हम कहते हैं कि ऐसे वर्गों का अस्तित्व है जिनके सदस्य विशिष्ट विषय हैं, तो हमारा तात्पर्य यह कहने का होता है कि द्वितीय स्तर के कुछ प्रतिज्ञप्ति-फलन संतुष्ट होते हैं। परन्तु एयर ठीक ही इंगित करते हैं कि स्वयं रसेल इस व्याख्या को अन्ततः नहीं निभा पाते। क्योंकि वे यह स्वीकार नहीं करेंगे कि जब वे वर्गों को अस्तित्वहीन अथवा तार्किक रचनाएं मात्र मानते हैं तो उनका अर्थ केवल यह कहने का होता है कि प्रथम स्तर से उच्चतर स्तर का कोई प्रतिज्ञप्ति-फलन कभी भी संतुष्ट होता ही नहीं।

प्रारूपों के सिद्धांत के लिए रसेल द्वारा दिए गए तर्क के विरुद्ध एयर की यह आपत्ति गंभीर तो है, पर इसका निराकरण असंभव प्रतीत नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि अपने इस सिद्धांत के माध्यम से रसेल वस्तुओं तथा वर्गों संबंधी हमारी भाषा को एक नई रूपरेखा अथवा विधा प्रदान कर रहे हैं, और इस नई विधा का एक अनिवार्य निष्कर्ष अवश्य ही यह होगा कि समस्त वर्गों के विषय में हम कोई एक बात एक ही अर्थ में नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वर्गों की समष्टि में विभिन्न प्रारूपों के वर्ग सम्मिलित होंगे, और प्रारूपों का सिद्धांत ही यह है कि विभिन्न प्रारूपों के विषयों के लिए हम एक ही बात सार्थकता से नहीं कह सकते, अतः एयर की आपत्ति यह नहीं होनी चाहिए थी कि वर्गों के अनस्तित्व की रसेल की मान्यता की व्याख्या उपरोक्त प्रकार से करनी होगी, जिसे रसेल स्वीकार नहीं करेंगे। इसके विपरीत आपत्ति यह होनी चाहिए थी कि या तो रसेल स्वयं अपने सिद्धांत को अन्ततः निभा नहीं पाते और इसलिए वे अपनी मान्यताओं में पर्याप्त सुसंगत नहीं हैं, अथवा वे अपनी भाषा को प्रारूप-सिद्धांत की मांगों के अनुरूप प्रयुक्त नहीं कर शिथिल रूप से प्रयुक्त करने लग जाते हैं। दोनों ही विकल्प रसेल के विचारों अथवा भाषा की शिथिलता दर्शाते हैं, न कि प्रारूप-सिद्धांत की।

द्वितीय अध्याय में एयर वर्णनों के सिद्धांत (थ्योरी ऑफ डिस्क्रिप्शंस्) की मीमांसा करते हैं। इस अध्याय का प्रथम खंड निदर्शन (डिनोटेशन) पर है। इस खंड में एयर रसेल की उस अभिधारणा का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार नाम का अर्थ उसके द्वारा निदर्शित विषय होता है। इसके अनुसार, किसी भी वस्तु को नाम देने की एक अनिवार्य शर्त यह हो जायगी कि वह वस्तु निदर्शित की जा सके। एयर बताते हैं कि अपने दर्शन के आरंभिक काल में रसेल ने इस शर्त की बहुत ही उदार व्याख्या दी है। 'दि प्रिन्सिपल्स ऑफ मैथेमेटिक्स' लिखते समय रसेल ने यह माना था कि हर उल्लेखनीय विषय एक पद माना जायगा, हर पद किसी न किसी प्रतिज्ञप्ति का तार्किक उद्देश्य पद हो सकता है, और हर ऐसा विषय, जो किसी प्रतिज्ञप्ति का तार्किक उद्देश्य पद हो सके, नामोद्दिष्ट किया जा सकता है (अर्थात्

उसे नाम दिया जा सकता है)। इसका निष्कर्ष यह होगा कि न केवल देश, काल में अस्तित्व रखने वाली विशिष्ट वस्तुएँ, अपितु अमूर्त विषय और अस्तित्वहीन विषय, जैसे 'रूस का वर्तमान जार', आदि भी नामोद्दिष्ट किए जा सकते हैं और इस प्रकार उनका निदर्शन भी हो सकता है। रसेल केवल इतना ही नहीं मानते वरन् यह भी मानते हैं कि 'सभी मनुष्य', 'प्रत्येक मनुष्य', 'कोई मनुष्य', 'एक मनुष्य' 'कुछ मनुष्य' आदि शब्द रचनाएं भी विभिन्न विषय निदर्शित करती हैं।

परन्तु अपने इस विचार को स्वयं रसेल ने संशोधित कर लिया। उन्होंने स्वीकार किया कि वास्तविक संसार में गोल चतुर्भुज, स्वर्ण-पर्वत, वर्तमान रूसी जार जैसे विषयों का अस्तित्व नहीं है। निदर्शन सम्बन्धी अपने पुराने सिद्धांत में इस संशोधन का एक कारण स्वयं रसेल ने एक विशेष प्रकार का 'अस्तित्व बोध' अथवा 'संसार-बोध' बताया है जिसका उल्लेख एयर ने ('फीलिंग फार रिआलिटी, पृ. 29) में तथा डी.एफ. पियर्स (ए विविड सेंस ऑफ रिआलिटी)[5] में किया है। परन्तु मुख्य कारण इस सिद्धांत द्वारा उठी कुछ समस्याएं हैं जिनका विशद विवरण रसेल के प्रसिद्ध लेख ''आन डिनोटिंग''[6] में मिलता है। मुख्य समस्या इस प्रकार है : उदाहरण के लिए हम पद-रचना '' 'वेवर्ली' का रचयिता'' लें। यदि यह पद-रचना निदर्शनात्मक है तो यह नाम की भाँति कार्य करेगी और रसेल की उल्लिखित मान्यता, कि नाम का अर्थ उसका निदर्शित विषय होता है, के अनुसार इसका अर्थ व्यक्ति स्कौट होगा। इसका निष्कर्ष यह होगा कि वाक्य ''स्कौट 'वेवर्ली' का रचयिता था'' का अर्थ केवल यह कहना है कि स्कौट था। स्पष्ट है कि जब जौर्ज चतुर्थ ने प्रश्न किया था कि स्कौट 'वेवर्ली' का रचयिता था या नहीं तो उन्होंने केवल यही नहीं पूछना चाहा था कि स्कौट स्कौट था अथवा नहीं। दूसरी कठिनाई वहाँ उठेगी जहाँ इसी प्रकार की वे पद-रचनाएं वाक्य में उद्देश्यपद का स्थान लेती हैं जिनका निदर्शन अस्तित्वहीन है, उदा. 'फ्रांस का वर्तमान राजा'। यदि हम मानें कि यह पद कोई विषय निदर्शित करता है तो मध्याभाव नियम के अनुसार हमें या तो ''फ्रांस का वर्तमान राजा गंजा है'' वाक्य या ''फ्रांस का वर्तमान राजा के केश हैं'' वाक्य सत्य मानना पड़ेगा। परन्तु वस्तुत: इनमें से एक भी वाक्य सत्य नहीं है। इसके अलावा, इस पद को निदर्शनात्मक मानने का एक और अस्वीकार्य परिणाम यह होगा कि, यह कहने में भी कि फ्रांस के वर्तमान राजा का अस्तित्व नहीं है, हमें उसका अस्तित्व मानना पड़ेगा।

स्वयं रसेल द्वारा स्वीकृत इन कठिनाइयों की चर्चा के बाद एयर फ्रेगे द्वारा किए गए अर्थ (सेंस) तथा निदर्शन (रेफरेंस) के भेद की रसेल द्वारा की गई आलोचना का संक्षिप्त विवरण देते हैं। रसेल के मतानुसार, फ्रेगे का यह भेद यहाँ सहायक नहीं हो सकता। फ्रेगे स्वीकार करेंगे कि वाक्य ''स्कौट वेवर्ली के रचयिता थे'' अन्तत: केवल यही कहता है कि स्कौट स्कौट थे। परन्तु यह महत्त्वहीन बात इस प्रकार से रखी गई है कि इससे एक शब्द-अर्थ संबंधी सूचना भी प्राप्त हो जाती है कि ''स्कौट'' तथा ''वेवर्ली का रचयिता'' शब्दों के निदर्शन एक ही हैं। पर इसका अर्थ यह हुआ कि विचाराधीन वाक्य द्वारा दी गई संपूर्ण सूचना में केवल इतनी ही बात सम्मिलित नहीं है कि स्कौट स्कौट थे, अपितु एक शाब्दिक अथवा भाषात्मक सूचना भी सम्मिलित है कि दो शब्दों के निदर्शन एक ही हैं। परन्तु स्पष्ट है कि विचाराधीन वाक्य अंशत: भी भाषा-विषयक नहीं है। इसके अलावा, अर्थ (सेंस) का प्रत्यय सरल नहीं है। अर्थ क्या है, वह किस प्रकार निदर्शन कर सकती है, यह सभी उलझी समस्याएं हैं।

फ्रेगे के सिद्धांत में तीसरी कठिनाई यह है कि इसके आधार पर जौर्ज चतुर्थ के वास्तविक प्रश्न 'क्या स्कौट वेवर्ली के रचयिता हैं ? की व्याख्या 'क्या स्कौट स्कौट है ?' प्रश्न से की जायगी। परन्तु जौर्ज चतुर्थ के इसी प्रश्न को जब हम 'जौर्ज चतुर्थ जानना चाहते थे कि क्या स्कौट वेवर्ली के रचयिता थे' वाक्य द्वारा वर्णित करते हैं तो इसकी एकदम भिन्न व्याख्या हो जाती है। इस व्याख्या के अनुसार जौर्ज

चतुर्थ का प्रश्न था कि 'स्कौट' तथा 'वेवर्ली के रचयिता' के अर्थों का निदर्शन एक ही है कि नहीं। एयर ठीक ही बताते हैं कि वस्तुत: जौर्ज चतुर्थ के प्रश्न की ये दोनों ही व्याख्याएं सही नहीं हैं; प्रश्न केवल यह था कि स्कौट ने वेवर्ली की रचना की या नहीं।

स्वयं रसेल की युक्ति जो एयर ने इस पुस्तक में दी है, अत्यन्त जटिल है। उसका निष्कर्ष केवल यही है कि यदि फ्रेगे के अनुसार यह मान लिया जाय कि हर निदर्शनात्मक पद में अर्थ (सेंस) और निदर्शन (रेफरेन्स) दोनों होते हैं, और अर्थ को यदि विषय की भाँति समझा जाय, तो अर्थ और निदर्शन के संबंध की व्याख्या असंभव हो जाती है।

इस प्रकार निदर्शन संबंधी इन सभी कठिनाइयों का प्रधान कारण रसेल का यह विश्वास है कि वह सभी शब्द अथवा पद, जिन्हें वह निदर्शनात्मक पद मानते थे, बिल्कुल उसी प्रकार के हैं जैसे नाम होते हैं। इन कठिनाइयों से छुटकारा पाने के दो उपाय हो सकते थे; या तो अभी बताए गए विश्वास को छोड़ दिया जाय, या फिर नामों का कोई दूसरा सिद्धांत स्वीकार किया जाय। रसेल नामों के अपने पुराने सिद्धांत में कोई परिवर्तन नहीं करते हैं, परन्तु इस धारणा का त्याग कर देते हैं कि निश्चित अथवा अनिश्चित वर्णनात्मक पदों का कार्य एवं स्वरूप नामों की भाँति है। ऐसा नहीं है, यही दिखाने के लिए उन्होंने अपना प्रसिद्ध 'वर्णनों का सिद्धांत' प्रतिपादित किया है जिसका उल्लेख एयर इस अध्याय के द्वितीय खंड में करते हैं।

निश्चित अथवा अनिश्चित वर्णनों को रसेल 'अपूर्ण प्रतीक' (इन्कम्प्लीट सिम्बल्स) कहते हैं क्योंकि उनकी मान्यतानुसार इन पदों अथवा शब्दों का अपने वाक्य-संदर्भों से स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं होता; यह केवल उन वाक्यों के अर्थों में विशेष प्रकार से योगदान करते हैं जिनमें उनका प्रयोग होता है। अर्थों का यह योगदान कैसा है, और यह नामों से किस प्रकार भिन्न है, यह वर्णनों के सिद्धांत में समझाया गया है। इस सिद्धांत का एयर द्वारा विवरण संक्षेप में इस प्रकार है - सिद्धांत का आधारभूत प्रत्यय है, किसी प्रतिज्ञप्ति-फलन का इसमें प्रयुक्त चल-प्रतीकों के मूल्यों के लिए सत्य होना। 'सभी वस्तुओं में गुण प है' वाक्य की व्याख्या होगी कि प्रतिज्ञप्ति-फलन '$प_{य}$' 'य' के सभी मूल्यों के लिए सत्य है। 'कोई भी वस्तु प नहीं है' की व्याख्या होगी कि प्रतिज्ञप्ति-फलन '$प_{य}$' 'य' के सभी मूल्यों के लिए असत्य है। और 'कुछ वस्तुएं प हैं' की व्याख्या होगी कि प्रतिज्ञप्ति-फलन '$प^{य}$' 'य' के कुछ मूल्यों के लिए सत्य है। इस प्रकार 'कुछ व्यक्तियों ने चन्द्रयात्रा की है' वाक्य को इस प्रकार रखा जा सकता है : प्रतिज्ञप्ति-फलन ''य एक व्यक्ति है और य ने चन्द्रयात्रा की है'' ''य'' के कम से कम एक मूल्य के लिए सत्य है। निश्चित वर्णनों (उदा. ''फ्रान्स का वर्तमान राजा'' आदि) का प्रयोग करने वाले वाक्यों का विश्लेषण बहुत प्रसिद्ध है ही। उसमें हमें केवल यह और जोड़ना पड़ता है कि दिए गए वर्णन (प्रतिज्ञप्ति-फलन) को एक, और केवल एक, वस्तु ही संतुष्ट करती है। 'प्रिन्सिपिया मैथेमेटिका' में वाक्यों का यह रूपान्तरण अधिक सरल रूप में रखा गया है। इस रूप में रूपान्तरित वाक्य में प्रतिज्ञप्ति-फलन का उल्लेख नहीं किया जाता और उस उल्लेख का कार्य परिमाणकों (क्वांटीफायर्स) द्वारा लिया जाता है। इस रूपान्तरण में ''$प_{य}$' 'य' के सभी मूल्यों के लिए सत्य है' को इस प्रकार रखा जायगा: '(य) प'।

परिमाणकों का प्रयोग यह स्पष्ट कर देता है कि सिद्धान्त स्वयं कितना सरल है। इसका विश्वास है कि उन सभी वाक्यों में, जिनमें किसी वस्तु में किसी गुण की उपस्थिति बताई जाती है या कुछ वस्तुओं के मध्य कोई संबंध बताया जाता है, यह कथन परोक्ष रूप से सम्मिलित होता है कि दिये गए विवरण के अनुरूप कोई वस्तु अस्तित्ववान् है। शुद्ध अस्तित्ववाचक वाक्य, जिनमें किसी वस्तु को या तो केवल अस्तित्ववान् या केवल अस्तित्वहीन बताया जाता है, इसके अपवाद माने गए हैं। वर्णनों के सिद्धान्त के अनुसार किये गए रूपान्तरण में यह परोक्ष कथन अपरोक्ष रूप से प्रस्तुत कर दिया जाता है।

द्वितीय अध्याय के तृतीय खंड 'अस्तित्व का अर्थ' में एयर ने रसेल के अस्तित्व के प्रत्यय की फ्रेगे, मूर आदि के प्रत्ययों से तुलना की है। फ्रेगे तथा रसेल में समानता यह है कि दोनों ही मानते हैं कि किसी वस्तु को अस्तित्ववान् कहने का अर्थ है एक विशेष प्रत्यय का प्रयुक्त मानना, अथवा एक विशेष प्रतिज्ञप्ति-फलन को संतुष्ट हुआ मानना। इसका अर्थ यह होगा कि कौनसी वस्तुएं अस्तित्ववान् मानी गई हैं, इसका निर्धारण इस बात से होगा कि कौन से प्रतिज्ञप्ति-फलन संतुष्ट हुए माने गए हैं।[7] एयर यहाँ पर अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि रसेल तथा फ्रेगे का यह सिद्धान्त 'अस्तित्व' की एक विशेष संदर्भ में तो ठीक व्याख्या करता है अन्य संदर्भों में नहीं। अर्थात्, 'अस्तित्व' शब्द का एक प्रकार का प्रयोग ऐसा भी है जैसा रसेल तथा फ्रेगे के सिद्धान्तों में प्रतिपादित हुआ है। परन्तु इसके अलावा दूसरे प्रयोग भी ऐसे हैं जिनके साथ यह सिद्धान्त न्याय नहीं करता। उदाहरण के लिए एयर दार्शनिक तत्त्वमीमांसा में इस शब्द के प्रयोग का उल्लेख करते हैं।

रसेल के सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह होगा कि कोई भी ऐसा वाक्य, जिसका उद्देश्य-पद विशिष्ट नाम (प्रॉपर नेम) हो, शुद्ध अस्तित्ववाचक नहीं हो सकता। अर्थात् एक विशिष्ट नाम के साथ अस्तित्व का प्रत्यय जोड़ने से बना हर वाक्य निरर्थक होगा। क्योंकि रसेल यह मानते हैं कि एक नाम तभी सार्थक है जब इससे निदर्शित कोई विषय अस्तित्ववान् हो। मूर इस निष्कर्ष से असहमत हैं। क्योंकि किसी भी, वस्तुत:, अस्तित्ववान् वस्तु के लिए यह सार्थकता से कहा जा सकता है कि हो सकता था कि वह अस्तित्ववान् नहीं होती। और इसका अर्थ है कि वाक्य 'क अस्तित्ववान् नहीं है' (जहाँ 'क' उस वस्तु का विशिष्ट नाम है) सत्य हो सकता था। परन्तु इसके लिए इस वाक्य को कम से कम सार्थक मानना आवश्यक है कि क अस्तित्ववान् है। एयर का मत है कि मूर की यह आलोचना रसेल के सिद्धान्त का खंडन नहीं करती, परन्तु उसकी सीमाएं तथा कमजोरी दिखाती है। रसेल 'अस्तित्व' का एक विशेष प्रत्यय विश्लेषित कर रहे हैं और उस विशेष संदर्भ में हम कह सकते हैं कि 'क अस्तित्ववान् है' पुनरुक्तिपूर्ण है और 'क अस्तित्ववान् नहीं है' व्यावहारिक रूप से (आकारिक रूप से नहीं) आत्म-व्याघातक है। एयर के अनुसार, मूर की आलोचना उनके इस मत के ही पक्ष में है कि 'अस्तित्व' के अनेक अर्थ हैं जिनमें से केवल एक का सही विवरण रसेल का सिद्धान्त दे पाया है। एयर ने अन्य प्रयोगों के कुछ उदाहरण इस स्थान पर दिए हैं। इनमें से अधिकांश उसी प्रकार के उदाहरण हैं जिनका उल्लेख मध्याभाव नियम की परिचर्चाओं में दिया जाता है।

रसेल के सिद्धान्त का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि साधारण विशिष्ट नाम वर्णनों की भाँति कार्य करते हैं और इसलिए वह वस्तुत: विशिष्ट नाम नहीं है। इस संबंध में रसेल का तार्किक विशिष्ट नामों का सिद्धान्त सुविदित ही है। रसेल 'यह', 'वह' आदि जैसे शब्दों को ही तार्किक रूप से विशिष्ट नाम मानते हैं।

साधारण रूप से स्वीकृत विशिष्ट नामों को वर्णनों का स्थान देने के विरुद्ध एयर ने आपत्ति यह उठाई है कि ऐसा कहना भ्रमात्मक हो सकता है। क्योंकि इसका अर्थ यह समझा जा सकता है कि उन नामों के स्थान पर दूसरे परिचित वर्णनात्मक पदों को रखा जा सकता है। रसेल ने इस प्रश्न पर गंभीरता से चिन्तन नहीं किया है। उनका मत केवल यह प्रतीत होता है कि साधारण विशिष्ट नाम उसे प्रयुक्त करने वाले के ध्यान में उस समय होने वाले विवरण का स्थानापन्न होता है। स्पष्ट है कि इसका निष्कर्ष यह होगा कि इन वर्णनों का अर्थ हर व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त वाक्य में भिन्न हो सकता है, और एक ही व्यक्ति द्वारा भिन्न समयों पर प्रयुक्त वाक्यों में भी भिन्न हो सकता है। चूँकि रसेल हर वर्णनात्मक पद को अन्तत: परिचय के विषयों (ऑब्जेक्ट्स ऑफ एक्वेंटेंस) से संबंधित मानते हैं, और सभी ऐसे विषयों को या तो सामान्य (universal) अथवा वाक्य-प्रयोग करने वाले के प्रत्यक्ष मात्र मानते हैं, बहुधा इन मान्यताओं का

निहितार्थ यह माना जाता है कि कोई भी दो व्यक्ति कभी भी एक ही अनुभवात्मक वाक्य अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं। परन्तु एयर इस धारणा को गलत मानते हैं। उनका मत है कि रसेल की मान्यताएँ केवल यह आपादित करती हैं कि कोई भी दो व्यक्ति एक ही विशिष्ट वस्तु को निश्चयात्मक रूप से निदर्शित नहीं कर सकते हैं। कुछ अनुभवात्मक वाक्यों का विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक समान ही प्रयुक्त किया जाना एयर इसलिए संभव मानते हैं क्योंकि विभिन्न व्यक्ति एक ही प्रकार के परिमाणित चल प्रतीकों (क्वांटीफाईड वेरियेबल्स) तथा एक ही समान विधेयों का प्रयोग करके समान वाक्य बना सकते हैं। एयर का यह मत पूर्णत: ठीक प्रतीत होता है।

तृतीय खण्ड अधिक विशद रूप से रसेल द्वारा प्रतिपादित नामों के सिद्धान्त का परीक्षण करता है। इस खंड के बड़े भाग में डेविड पियर्स द्वारा की गई रसेल के सिद्धान्त की व्याख्या की समालोचना भी की गई है। किसी भी नाम के लिए यह तीन अनिवार्य विशेषताएं रसेल द्वारा मानी गई हैं : (1) शब्द किसी अस्तित्ववान् वस्तु का निदर्शन करे, (2) निदर्शित विषय से शब्द का प्रयोगकर्ता परिचित हो (अर्थात् केवल वर्णन द्वारा विषय ज्ञात न हो, अपितु परिचय द्वारा ज्ञात हो); (3) शब्द एक सरल प्रतीक हो और इसलिए उससे निदर्शित विषय भी सरल हो। यहाँ पर एयर ने रसेल द्वारा दी गई सरल विषय की उस परिभाषा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार एक सरल विषय वह है जिसका प्रतीकीकरण सरल प्रतीकों के अलावा किसी दूसरे प्रतीक से करना असंभव हो। सरल प्रतीक वह प्रतीक माना गया है जिसके अंश स्वयं प्रतीक न हों। एयर इस परिभाषा की कमियाँ बताते हुए संकेत करते हैं कि सरल विषय की अनिवार्य विशेषता के रूप में जटिल प्रतीकों द्वारा प्रतीकीकरण असंभव मानना न केवल अनावश्यक है अपितु गलत भी है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि एक सरल विषय वह है जिसे सरल प्रतीक द्वारा प्रतीकबद्ध किया जा सकता है।

इस प्रकार महत्त्वपूर्ण परिभाषा सरल प्रतीक की परिभाषा है, और रसेल की यह परिभाषा भी त्रुटिपूर्ण दिखाने में एयर सफल हुए हैं। एयर प्रस्ताव रूप में स्वयं एक परिभाषा रखते हैं और उसका परीक्षण करते हैं। एयर का सुझाव है कि रसेल का उद्देश्य तब पूर्ण हो सकता है जब वह एक सरल प्रतीक को ऐसा प्रतीक माने जिसका अन्य में अन्तर्भाव (रिडक्शन) नहीं की जा सके। इसका अर्थ है कि यह ऐसा प्रतीक है (1) जिसका कोई भी अंश इस प्रकार इसके अर्थ में योगदान न देता हो जिस प्रकार 'तार' शब्द 'बेतार' में योगदान देता है परन्तु 'विस्तार' में नहीं, और (2) जिस वाक्य में वह प्रयुक्त हो उसका यथासंभव विश्लेषण करने के बाद भी वह पूर्ववत् रहता हो। दूसरे शब्दों में, एक विधेय तब सरल माना जायगा जब वह स्वयं दूसरे विधेयों का संयोजन अथवा वियोजन न हो, और नाम तब सरल माना जायगा जब उसमें किसी भी प्रकार का वर्णनात्मक अंश न हो।

इस परिभाषा की मुख्य कठिनाई विधेयों के विषय में है। यदि हर प्रकार के संयोजन तथा वियोजन जटिलता के चिह्न माने जाएं तो कोई भी विधेय इस परिभाषा के आधार पर सरल नहीं माना जा सकता। क्योंकि किसी भी विधेय 'प' को विधेयों 'फ' तथा 'ब' का संयोजन माना जा सकता है जबकि 'फ' 'प' तथा 'ब' का वियोजक माना जाय।

सरल तथा जटिल विषयों के भेद पर टिप्पणी करते हुए एयर रसेल के विरुद्ध एक और आपत्ति उठाते हैं। चूँकि रसेल यह मानते हैं कि जटिल प्रतीकों द्वारा निदर्शित सभी विषय तार्किक रूप से कल्पित हैं, रसेल को यह मानना पड़ेगा कि सभी वास्तविक विषय सरल ही होते हैं। अर्थात् रसेल जटिल विषयों का अस्तित्व ही नहीं मान सकते हैं। अत: एयर का कहना है कि रसेल के दर्शन में सरलता तथा जटिलता का भेद विषयों (वस्तुओं) पर प्रयुक्त ही नहीं हो सकता, जबकि रसेल स्वयं ऐसे भेद की चर्चा करते हैं। एयर के मतानुसार यह भेद इस दर्शन में केवल विधेयों पर ही लागू हो सकता है। एयर की यह आपत्ति

बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। यह ठीक है कि यदि सभी विषय सरल ही माने गए हैं तो सरल एवं जटिल विषयों का भेद केवल सैद्धान्तिक महत्त्व का ही रह जाता है और विषयों की जटिलता कोई वास्तविक समस्या खड़ी नहीं करती। परन्तु जब तक जटिल विषयों का अस्तित्व तार्किक रूप से असंभव न माना जाय, यह कहना गलत प्रतीत होता है कि सरलता व जटिलता का भेद विषयों पर प्रयुक्त ही नहीं होता।

यहाँ एयर डेविड पियर्स के इस मत का भी उल्लेख करते हैं कि रसेल साधारण विशिष्ट नामों का तार्किक विशिष्ट नामों के रूप में प्रयोग की संभावना स्वीकार करते हैं, चाहे हम यह जानते भी हों कि उनका प्रयोग सरल विषयों को निदर्शित करने के लिए नहीं किया जा रहा है। पियर्स के मत की पुष्टि के रूप में "लौजिकल एटोमिज्म" पर दिए गए रसेल के भाषणों में से छठा भाषण सन्दर्भित किया गया है जिसमें एक स्थान पर रसले कहते हैं कि यदि "स्कौट" शब्द नाम की भाँति प्रयुक्त किया जाय तो उसका अर्थ उसी पर आश्रित होगा। संभवत:, इसका एक निहितार्थ पियर्स ने यह समझा होगा कि इस प्रकार के शब्दों को रसेल वर्णनों की भाँति 'अपूर्ण-प्रतीक' नहीं मानेंगे। परन्तु एयर का विचार है कि चूँकि ऐसा मानने पर रसेल को अपना महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त, कि हम उन्हीं विषयों को नाम दे सकते हैं जिनसे हम परिचित हैं, छोड़ना पड़ेगा, जो कि बहुत असंभाव्य है, यहाँ पर हमें रसेल के वाक्यों की शाब्दिक व्याख्या नहीं करना चाहिए। वस्तुत:, इन भाषणों में रसेल बहुत सुनिश्चित और सही भाषा प्रयुक्त नहीं कर रहे हैं। नामों के रूप में साधारण विशिष्ट नामों का उदाहरण भाषा को साधारण पाठक के लिए अधिक बोधगम्य बनाने के लिए दिया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सिद्धान्तत: रसेल इन नामों को तार्किक दृष्टिकोण से वास्तविक विशिष्ट नाम नहीं मानते।

विशिष्ट नामों के रसेल के सिद्धान्त में एक और गंभीर समस्या एयर ने इंगित की है। अपनी "इन्क्वायरी इन्टु मीनिंग एण्ड ट्रुथ" में वे कहते हैं कि हम केवल गुणों का अनुभव करते हैं, उस अधिष्ठान का नहीं जिसमें उन गुणों को अवस्थित माना जाता है। इसका अर्थ यह होगा कि नामों द्वारा निदर्शित विषय हमारे प्रत्यक्ष अनुभव (एक्वेंटेंस) का विषय नहीं हो सकता। परन्तु नामों के विषय में जो सिद्धान्त रसेल अपनाते हैं, उसके अनुसार नाम का विषय प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञात होना चाहिए, और इसका निष्कर्ष यह होगा कि हमारा सम्पूर्ण विषयपरक ज्ञान वर्णनात्मक है। परिचय से केवल गुणों तथा संबंधों का ही ज्ञान हो सकता है। और इसका अर्थ यह होगा कि हमारी भाषा में नामों की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

एयर के मतानुसार, रसेल के ही सिद्धान्तों के आधार पर नामों के केवल दो विशेष कार्य शेष रहते हैं : उन द्रव्यों को निदर्शित करना जिनमें गुणों को अवस्थित माना जाता है; और हमारे वाक्य के विषय का स्थान निर्धारित करने के लिए निदर्शकों (डिमोंस्टेटिब्ज) का कार्य करना। इनमें से प्रथम के लिए नामों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि परिमाणित चल प्रतीक भी वही कार्य करते हैं। नामों में इन प्रतीकों से अधिक कोई विशेषता नहीं होती जिसके द्वारा वे अव्यवहित सम्बन्ध स्थापित कर सकें। अत: नामों के लिए केवल विषयों की स्थिति-निर्धारण का ही कार्य शेष रह जाता है। परन्तु जैसाकि एयर बताते हैं, यह कार्य निदर्शनात्मक चिह्न (डिमोंस्ट्रेटिव साइंज) भी भलीभाँति कर सकते हैं। निदर्शनात्मक चिह्न उस स्थान को इंगित करते हैं जहाँ हमें दिए गए वर्णन की वास्तविकता अथवा पूर्णता मिल सकती है। इसके अलावा, एयर यह भी बताते हैं कि निदर्शनात्मक चिह्नों को विशिष्ट नामों के रूप में स्वीकार करना ही गलत है। क्योंकि निदर्शनात्मक चिह्नों का मुख्य कार्य दूसरे व्यक्तियों के निदर्शनों को समझाना है। परन्तु यदि ये चिह्न विशिष्ट नाम माने जाएं तो उनके अर्थ उन्हें प्रयुक्त करने वाले व्यक्ति के प्रत्यक्ष अथवा संवेद माने जायेंगे जो पूर्णत: व्यक्तिगत होने के कारण अन्य व्यक्तियों द्वारा जाने

नहीं जा सकते। एयर का निष्कर्ष है कि रसेल का सिद्धान्त यह आपादित करता है कि भाषा में विशिष्ट नाम आवश्यक हैं। स्वयं रसेल ने अपने सिद्धान्त के इस परिणाम को नहीं जाना, और यह उनकी त्रुटि थी कि वे अपने नामों के सिद्धांत को वर्णनों के सिद्धांत के लिये आवश्यक मानते रहे।

एयर की यह आलोचना एक हद तक सही है। यह ठीक प्रतीत होता है कि रसेल के वर्णनों का सिद्धांत उनके नामों के सिद्धांत की अपेक्षा नहीं करता। उनका यह कहना भी उचित प्रतीत होता है कि वर्णनों के सिद्धांत को नामों के सिद्धांत से अलग करके अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। परतु उनका यह विचार उतना सही प्रतीत नहीं होता कि रसेल के सिद्धांत से ही यह आपादित होता है कि नामों का हमारी भाषा में कोई स्थान नहीं है। समस्या हमारे वर्तमान प्रत्यक्षों को लेकर उठेगी। निदर्शनात्मक चिन्हों के ही रूप में जिन शब्दों का प्रयोग हम अपने वर्तमान प्रत्यक्षों अथवा संवेदों को निदर्शित करने के लिये करेगें, वे रसेल के सिद्धांत के अनुसार विशिष्ट नाम ही होंगे। यह सत्य है कि यह स्वयं एक बड़ी जटिल समस्या है कि संवेद तथा प्रत्यक्ष पूर्णत: व्यक्तिगत हैं या नहीं और वे व्यक्तिगत हैं तो उनके मात्र निदर्शन का कोई अर्थ है अथवा नहीं। विट्गेन्स्टाइन की ''ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स'' तथा ''फिलोसोफिकल इनवेस्टीगेसन्स'' में इस समस्या की चर्चा है। परन्तु जबतक निश्चयात्मक रूप से सिद्ध नहीं हो जाता कि संवेदों के निदर्शन का कोई अर्थ नहीं है अथवा यह असंभव है, तब तक प्रत्यक्ष के निदर्शन-चिन्हों के रूप में विशिष्ट नामों के स्थान की संभावना रसेल के सिद्धांत के लिये आवश्यक मानी जानी चाहिये।

परन्तु विचित्र बात यह है कि स्वयं रसेल ने अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में अपने मत को इस प्रकार रखा है कि उसमें नामों का स्थान असंभव हो जाता है। ''इन्वायरी इन्टू मीनिंग एण्ड ट्रूथ'' में रसेल कहते हैं कि संवेद्य गुणों को परस्पर संगठित रखने के लिये किसी द्रव्य की आवश्यकता नहीं है; यह कार्य 'सह-उपस्थिति' (कांप्रेसेंस) संबंध कर सकता है। अत: नामों का विषय सरल विषय नहीं, अपितु गुणों के जटिल समूह होते हैं। इस कथन के प्रकाश में एयर ने जो कुछ कहा है वह पूर्ण सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि यदि नामों के निदर्शन गुणों के जटिल समूह माने जांय तो नामों का गुणार्थ (कोनोटेशन) मानना पड़ेगा, और उस दशा में उनमें और वर्णनों में कोई विशिष्ट भेद नहीं रहेगा। इस बात के लिये इससे भी अधिक बलशाली युक्ति यह है कि उल्लिखित पुस्तक में ही रसेल ''यह'' शब्द को आधारभूत विशिष्ट नाम मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सभी प्रयोगों में इस शब्द का एक अपरिवर्तित अर्थ रहता है। इसका भी अर्थ होगा कि सभी विशिष्ट नामों में कुछ न कुछ गुणार्थ रहता है, और इस प्रकार नामों तथा वर्णनों का विशिष्ट भेद भी समाप्त हो जाता है।

इस अध्याय के अंतिम खण्ड में एयर वर्णन-सिद्धांत का संक्षिप्त मूल्यांकन करते हैं। अधिकांश बातें वही हैं जो पिछले खण्डों में कही जा चुकी हैं। इसमें एक नवीन युक्ति रसेल की इस मुख्य अभिधारणा के विरूद्ध दी है, कि नाम का अर्थ उसमें निदर्शित विषय है। युक्ति की मुख्य आपत्ति यह है कि नामों के विषय में इस सिद्धांत को मानने से हम यह नहीं मान सकते कि उनका कोई भी निश्चित तथा अपरिवर्तित अर्थ होता है। जैसाकि हम अभी देख चुके हैं, रसेल स्वयं इस विषय पर सुसंगत नहीं रहे हैं; उन्होनें तार्किक विशिष्ट नामों के अपरिवर्तित अर्थ माने हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि नामों के लिये उनके निदर्शित विषयों का अस्तित्ववान् होना (दूसरे शब्दों में, उनका निदर्शन सफल होना) अनिवार्य नहीं है।

इस खण्ड में एयर यह प्रश्न भी उठाते हैं कि रसेल का वर्णनों का सिद्धांत हमारी भाषा के साधारण प्रयोग का विश्लेषण करता है अथवा वस्तुओं के विषय में हमारी बातचीत की एक भिन्न विधा प्रस्तुत करता है। मूर[8] तथा रेम्जे[9] आदि का मत है कि रसेल का सिद्धान्त हमारी साधारण भाषा का

विश्लेषण करता है, जब कि एयर का मत इसके विपरीत है। एयर की युक्ति है कि यदि हम रसेल के सिद्धान्तानुसार अपने वाक्यों को पूर्ण विश्लेषित करें तो वह हमें इतने नवीन तथा विचित्र प्रतीत होंगे कि उन्हें हम अपने वाक्यों के साधारण अर्थ के रूप में स्वीकार नहीं कर पाएँगे। इसके अलावा एयर स्ट्रॉसन द्वारा लिखे गये उनके प्रसिद्ध लेख "आन रेफरिंग"[10] का उल्लेख करते हैं जिसमें अनेक स्थानों पर स्ट्रॉसन ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि रसेल का सिद्धांत हमारे साधारण भाषा-प्रयोग के साथ न्याय नहीं करता।

एयर की एक और युक्ति यह है कि, चूँकि रसेल के सिद्धान्तनुसार हमारे वर्णनात्मक वाक्यों का एक अंश अस्तित्ववाचक वाक्य भी माना जाता है, वे वाक्य जो निदर्शन में असफल होते हैं, सदैव असत्य मानने पड़ेंगे। परन्तु साधारण प्रयोग में हम ऐसे वाक्यों को असत्य नहीं कहते, अपितु उनके विषय में सत्यता, असत्यता की प्रश्न अनुपयुक्त मानते हैं। दूसरे शब्दों में, रसेल के सिद्धान्त में वाक्य की असत्यता तथा उसके निदर्शन की असफलता में कोई भेद नहीं माना जाता, जबकि साधारण प्रयोग में यह भेद माना जाता है। परन्तु एयर यह भी कहते हैं कि यदि रसेल के सिद्धान्त को भाषा की एक नई और अधिक परिष्कृत विद्या मानी जाय, तो निदर्शन की असफलता तथा वाक्य की असत्यता के भेद की उपेक्षा उनके सिद्धान्त का एक गुण माना जा सकता है। क्योंकि इस प्रकार हम मध्याभाव नियम के कम से कम एक प्रकार के विवादास्पद उदाहरणों का निराकरण कर सकते हैं।

एयर के मतानुसार रसेल के सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह वाक्य के वर्णनात्मक तथा निर्शनात्मक रूपों को पूरी तरह अलग कर देता है, और वर्णनात्मक रूप को अधिक प्रधानता देता है।

तृतीय अध्याय में एयर रसेल के तार्किक परमाणुवाद के कुछ सिद्धान्तों की मीमांसा करते हैं। प्रथम खंड में पुन: सरलता के मापदंड पर विचार किया गया है। बहुत थोड़े शब्दों में एयर तार्किक परमाणुवाद की तत्त्वमीमांसा का विवरण देते हैं। तार्किक परमाणुवाद के निदर्शन-विस्तारपरक सिद्धान्त (एक्स्टेंश्नलिज्म) तथा बाह्य संबंधों के सिद्धान्त का भी अति संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। एयर द्वितीय अध्याय में विवेचित सरलता की परिभाषा का स्मरण दिलाते हुये कहते हैं कि चूँकि अन्तर्भाव केवल विधेयों का ही किया जा सकता है, और चूँकि यह केवल विधेयों के लिए ही कहा जा सकता है कि वे केवल तभी सरल हैं जब इनका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, किसी विषय की सरलता का मापदंड यही है कि उसके गुण सरल हों।

इस परिभाषा से संबद्ध उस कठिनाई का भी स्मरण एयर कराते हैं जो उन्होंने पिछले अध्याय में बताई थी। इस कठिनाई का एकमात्र हल जो एयर ने प्रस्तावित किया है वह है प्राथमिक माने जाने वाले गुणों की मात्र सूची प्रदान करना। इसी खंड में एयर अपना यह मत दोहराते हैं कि सरल गुणों का आधार संवेद अथवा प्रत्यक्ष मानने से यह सिद्ध नहीं होता कि कोई भी दो व्यक्ति एक ही भावात्मक प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त नहीं कर सकते। एयर के विचार से, सरल गुणों का आधार संवेदों में आरोपण संप्रेषण (कम्यूनिकेशन) की कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं करता। और यदि अनुभवजन्य विशिष्ट विषयों को गुणों का समूह ही माना जाय (जैसा कि रसेल ने अपने उत्तरवर्ती दर्शन में माना) तो हमें निरपेक्ष, न कि व्यक्तिगत, प्रदत्तों का अस्तित्व मानना होगा।

तृतीय अध्याय के दूसरे खंड में संवेद (सेंस डैटा) तथा सेवेद्यों (सेंसीबिलिआ) के भेद तथा इससे संबद्ध दूसरी विचारधाराओं पर विचार किया गया है। संवेद व्यक्ति द्वारा अनुभूत होते हैं, जबकि संवेद्य का अनुमान होना आवश्यक नहीं है। रसेल के अनुसार, संवेद्यों का तात्त्विक तथा भौतिक अस्तित्व संवेदों जैसा ही होता है, परन्तु जबकि संवेद किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभूत होते हैं, संवेद्य का किसी भी व्यक्ति द्वारा अनुभूत होना आवश्यक नहीं है। संवेद्यों का अस्तित्व मानकर तथा उन्हें हमारे

कथनों के वास्तविक विषय मान कर रसेल ने अपने इस नियम को थोड़ा शिथिल कर दिया है कि सरल विषय वही हो सकते हैं जिनसे व्यक्ति परिचित है। संवेद्यों का अस्तित्व अनुमान से ही जाना जा सकता है, और एयर आलंकारिक भाषा में बताते हैं कि इस प्रकार का अनुमान एक प्रकार से क्षैतिज है, लंबवत् नहीं। क्योंकि इसमें उसी प्रकार का अस्तित्व अनुमानित किया जाता है जिस प्रकार का अस्तित्व इस अनुमान का आधार होता है।परन्तु जब हम अन्य व्यक्तियों द्वारा अनुभूत संवेदों की बात करते हैं तो अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व मान लेते हैं अथवा उन्हें भी अनुमानित कर लेते हैं, और यह अनुमान इस अर्थ में लंबवत् प्रकार का है कि इसमें अनुमानित अस्तित्व अनुमान के आधार में माने गए अस्तित्व से भिन्न प्रकार का होता है। परंतु यदि प्रत्ययों का अन्तर्भाव पूरी तरह से किया जाय तो अन्त में सभी अनुमान क्षैतिज ही होंगे। फिर भी, जैसाकि एयर बताते हैं, उन क्षितिज रेखीय अस्तित्वों को, जिनका अस्तित्व पहले से ज्ञात है, स्वीकारने और उच्च-स्तरीय अस्तित्वों के लिए अनिवार्य संबंधों को स्वीकारने में भेद रहेगा ही। एयर का सुझाव है कि अन्तर्भाव का कार्यक्रम पूर्ण करने के लिए हमें उच्चस्तरीय विषयों को उनकी संरचना करने से पूर्व ही नहीं मान लेना चाहिए। एयर की आपत्ति है कि रसेल यही भूल अपने दर्शन में करते हैं।

रसेल ने संवेदों को भौतिक माना है[11] क्योंकि वह उन्हें हमारी मानसिक क्रियाओं के विषय मानते हैं, घटक तत्त्व नहीं मानते। इसलिए वे संवेदों की सार्वजनिकता तथा उनके स्थायित्व को संभव मानते हैं। इस संभावना को मानते हुए भी संवेदों को व्यक्तिगत तथा क्षणिक मानने का कारण रसेल का यह विश्वास है कि संवेद प्रत्यक्षकर्त्ता की शारीरिक स्थिति पर निर्भर करते हैं। चूंकि संवेद्य इस प्रकार प्रत्यक्षकर्त्ता पर निर्भर नहीं करते, रसेल उन्हें क्षणिक और व्यक्तिगत नहीं मानते। एयर की आपत्ति है कि संवेदों को प्रत्यक्षकर्त्ता की शारीरिक स्थिति पर कारणता संबंध के माध्यम से निर्भर मानकर तथा अन्यत्र भी उन पर भौतिक वस्तुओं के संबंधों द्वारा परिभाषित गुण आरोपित करके रसेल उन भौतिक वस्तुओं को पहले से ही मान लेते हैं जिनकी व्याख्या अथवा रचना संवेदों के माध्यम से की जाती है।

वस्तुत: स्वयं अथवा संवेद्यों की व्याख्या तथा वर्णन में भौतिक वस्तुओं के उल्लेख का बहिष्कार कैसे हो, यह संवेदवादी अन्तर्भाववाद की एक जटिल समस्या है, जिससे आधुनिक दर्शन के सभी पाठक परिचित होंगे। भौतिक वस्तुओं द्वारा संवेदों का वर्णन तथा संवेदों द्वारा भौतिक वस्तुओं की पुनर्रचना का प्रयत्न चक्राकार परिभाषा के दोष से दूषित है। इसी प्रकार की कठिनाई रसेल की देश की व्याख्या में है, जिसका उल्लेख एयर ने इसी खंड में किया है। एयर विस्तार से बताते हैं कि रसेल किस प्रकार 'व्यक्तिगत देशों' के प्रत्यय से परिप्रेक्ष्य का प्रत्यय समझाते हैं और परिप्रेक्ष्यों के आधार पर एक सार्वजनिक देश की पुनर्रचना करने का प्रयत्न करते हैं। इसके पश्चात् वे यह दिखाते हैं कि रसेल के इस सिद्धान्त में एक प्रकार की चक्रिकता है। समस्या यह है कि परिप्रेक्ष्यों, जिनके आधार पर देश की पुनर्रचना की जानी है, का चयन व अभिज्ञान (आइडेंटीफिकेशन) किस प्रकार हो। हर विकल्प में हमें स्वयं परिप्रेक्ष्यों से परे उच्चस्तरीय वस्तुओं की उनकी पुनर्रचना से पूर्व ही मान लेना पड़ता है। काल के संबंध में चक्रिकता अधिक स्पष्ट है। यह कहना कि विभिन्न जीवनियों की प्रतीतियाँ (अपीरेंसिस) तब समकालीन हैं जब वे किसी क्षणिक वस्तु की होते हैं,यह कहने के समान है कि वे तब समकालिक हैं जब वे एक ही वस्तु की किसी एक ही क्षणिक अवस्था की हों, और यह कहना यह कहने के समान है कि वे तब समकालिक हैं जब वे एक ही क्षण घटित होती हों।

एयर ने इन कठिनाइयों का जो समाधान प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त जटिल और विस्तृत है। संक्षेप में, यह समाधान ज्ञानात्मक तथा तात्त्विक प्राथमिकताओं पर निर्भर करता है। पूर्वोक्त विवेचन में वर्णित पुनर्रचनाएं ज्ञानात्मक प्राथमिकताओं को ध्यान में रखते हुए की गई हैं। एयर के मतानुसार,

एक बार संवेदों के आधार पर इस प्रकार अपने भौतिक सिद्धान्त का निर्माण करने के बाद हम अपने व्यवस्था के प्राथमिक विषय-समूह की पुनर्व्याख्या कर सकते हैं, और इस व्याख्या में (जो ज्ञानात्मक प्राथमिकता के आधार पर व्यवस्था-निर्माण करने के बाद की जायगी) हम उस भौतिक सिद्धात का प्रयोग कर सकते हैं। एयर विस्तार से बताते हैं कि किस प्रकार संवेदों अथवा प्रत्यक्षों को मानक रूप प्रदान करके संवेद्यों की स्थापना की जायगी, और किस प्रकार इन संवेद्यों को वांछित रूप देने के लिए एक विषयपरक (सार्वजनिक) देश-काल में विषयगत एवं निरपेक्ष स्थिति प्रदान की जायगी। इस प्रकार स्थापित विषयगत संवेद्यों की व्यवस्था को एयर रसेल द्वारा स्वीकृत प्राथमिक व्यवस्था का समकक्षी मानते हैं। एयर के मतानुसार, प्राथमिक व्यवस्था में संवेद तथा प्रत्यक्ष विशेष प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं के विषय नहीं, उनके घटक तत्त्व माने जाएंगे। ये मानसिक प्रक्रियाएं उन्हीं भौतिक विषयों पर आरोपित की जाएंगी जिन्हें हम चेतन स्वीकार करते हैं। चूँकि इन मानसिक प्रक्रियाओं के भागीदार विभिन्न भौतिक विषय नहीं होंगे, एक अर्थ में यह कहा जा सकेगा कि ये क्रियाएं व्यक्तिगत हैं। परन्तु ऐसा तभी कहा जायगा जब हम प्राथमिक व्यवस्था से बाहर, उच्चतर स्तर पर बात करें, जहाँ संवेदों के अस्तित्व का उनके भौतिक विषयों से संबंधों के विषय में कुछ न कुछ निहितार्थ माना जायगा। अन्यथा जब तक हम प्राथमिक स्तर पर ही हैं, मानसिक प्रक्रियाओं अथवा संवेदों के व्यक्तिगत अथवा विषयगत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह व्याख्या रसेल के तटस्थ अद्वैतवाद 'न्यूट्रल मोनिज्म' को भी प्रतिबिम्बित करती है।

अध्याय के तृतीय खंड में उपरोक्त व्यवस्था को और अधिक विस्तृत करते हुए एयर स्पष्ट करते हैं कि इसके विषय साधारणत: स्वीकृत भौतिक विषयों के ही समान हैं क्योंकि इनमें आकार, रंग, आदि जैसे गुण आरोपित किए जाते हैं तथा इनकी विषयगत दैशिक-कालिक अवस्थिति मानी जाती है। परन्तु ये विषय भौतिक विषयों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनमें साधारणत: स्वीकृत कारणात्मक एवं अभिवृत्यात्मक (डिस्पोजीश्नल) गुणों का आरेपण नहीं किया जाता। जिन गुणों को प्राथमिक विषयों में आरोपित किया जाता है वे पूर्णत: संवेदात्मक अथवा गोचर हैं, उनका आरोपण कुछ विशिष्ट गुणों की उपस्थिति के अलावा और कुछ भी आपादित नहीं करता।

प्राथमिक विषयों के गुणों का विशिष्ट होना विषयों की सरलता के लिए अनिवार्य माना गया है। चूँकि इन विषयों के गुण तथा इनके पारस्परिक संबंध सरल माने गए हैं, यह मानना होगा कि जिन प्रतिज्ञप्तियों में इन विषयों की चर्चा हुई है वे परमाणविक हों। एयर के मतानुसार परमाणविक प्रतिज्ञप्ति की पारिभाषिक विशेषता उसमें तार्किक चल प्रतीकों का अभाव नहीं है अपितु उसमें तार्किक रूप से स्वतंत्र तथ्यों का सूत्रबद्ध होना है। यदि गुणों को एकसंयुज (monadic) संबंध माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि इस परमाणविक तथ्य से कि य विषयों में एक संबंध है, यह आपादित नहीं होता कि य + 1 व विषय का अस्तित्व है।

इस स्थान पर एक गंभीर समस्या का संकेत किया गया है। यह समस्या है चर्चित विषयों के अभिज्ञान (आइडेंटिफिक्ये) की समस्या। निदर्शनात्मक अभिज्ञान केवल कुछ ही विषयों का हो सकता है। अत: हमें अभिज्ञान की किसी दूसरी विधि का सहारा लेना होगा। और यह दूसरी विधि वर्णन द्वारा ही प्राप्त होगी। इन वर्णनों में संबंधात्मक वर्णन यहाँ स्वीकृत नहीं होंगे, क्योंकि यह वाक्य की परमाणविकता के लिए घातक होगा। इस प्रकार हमारे पास केवल गुणों के माध्यम से अभिज्ञान की विधि शेष रहती है। परन्तु यह विधि वांछित कार्य पूर्ण नहीं कर सकती क्योंकि हमारे पास इसका न कोई तार्किक आधार है और न आनुभविक आधार कि कोई भी दो वस्तुओं का भेद सदैव उनके अन्तर्निहित गुणों के आधार पर हो सकेगा। इस प्रकार वस्तुओं के अभिज्ञान की समस्या रसेल के दर्शन में उलझी हुई ही रहती है।

पुस्तक के अंतिम खंड में सामान्यों तथा विशिष्टों (यूनीवर्सल्ज एंड पर्टिकुलर्ज) के भेद पर विचार किया गया है। एयर बर्कले तथा ह्यूम के नाममात्रवाद (नोमिनलिज्म) की रसेल द्वारा की गई आलोचना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं प्रतीत होता कि किसी भी उपयोगी वार्तालाप में सामान्य-सूचक शब्दों का उपयोग अनिवार्य है। परन्तु, एयर के विचार से, जब रसेल यह कहते हैं कि सामान्य गुणों को विशिष्टों के मध्य 'पूर्ण समानता' (एग्जेक्ट रिज़ेम्बलेंस) के संबंध से परिभाषित किया जा सकता है तो वे नाममात्रवादियों के पक्ष में आवश्यकता से अधिक स्वीकृति दे देते हैं। एयर तर्क करते हैं कि सामान्य गुणों की परिभाषा पूर्ण समानता के संबंध से नहीं दी जा सकती। संक्षिप्त युक्ति यह है कि किसी वस्तु अ को लाल मानने से यह आपादित नहीं होता कि एक दूसरी वस्तु ब अस्तित्ववान् है। अत: अ को लाल कहने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि अ का रंग ब के रंग के पूर्ण समान है।

इसी खंड में सामान्य के प्रत्यय का अंशत: स्पष्टीकरण किया गया है। इस संदर्भ में एयर क्वाइन आदि द्वारा उठाई गई समस्याओं की चर्चा करते हुए स्पष्ट करते हैं कि सामान्य का प्रत्यय स्वयं स्पष्ट नहीं है और जब विभिन्न दार्शनिक सामान्यों के अस्तित्व का प्रश्न उठाते हैं तो उनके विभिन्न प्रत्ययों के कारण उनके प्रश्न भी भिन्न होते हैं।

विशिष्टों के अस्तित्व के विषय में रसेल के विचार परिवर्तित होते रहे हैं। अपने दार्शनिक चिन्तन के एक काल में रसेल विशिष्टों के अस्तित्वों को भी अनिवार्य मानते रहे हैं। यह काल रसेल के द्वैतवाद का काल है। इस संबंध में रसेल की मुख्य युक्ति के पीछे अव्यावृत्त-तादात्म्य सिद्धान्त (आइडेंटिटि आफ इंडिस्सर्नीबल्ज) की अस्वीकृति है। स्वयं एयर इस सिद्धान्त की स्थिति के विषय में निश्चित मत नहीं रखते, न इसकी सत्यता और न असत्यता उन्हें निश्चित प्रतीत होती है।

अपने दर्शन के उत्तरवर्ती काल में रसेल विशिष्टों की अपरिहार्यता के लिए अपनी युक्ति का स्वयं खंडन कर देते हैं। "इन्क्वायरी इन्टु मीनिंग एण्ड ट्रु थ" में रसेल विशिष्टों की परिहार्यता के लिए तर्क देते हैं। यहाँ रसेल ने विशिष्टों के स्थान पर सह-उपस्थित (कम्प्रेजेंट) गुण-समूह को माना है। चूँकि यह कल्पनीय है कि एक ही गुण-समूह विभिन्न स्थानों पर एक ही समय घटित हो अत: यह सिद्धान्त कि "कोई वस्तु एक ही समय दो स्थानों पर नहीं हो सकती" आपातिक माना जायगा।

इस खंड के शेष भाग में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि विशिष्टों की व्याख्या सह उपस्थित गुण-समूहों से करना संतोषजनक नहीं है क्योंकि वैभिन्न्य अथवा व्यष्टीकरण (इंडीविडुएशन) की समस्या पुन: खड़ी हो जाती है। यों, एयर इस मत के पक्ष में हैं कि हमारे आनुभविक विचार-विनिमय के लिए विशिष्टों की आवश्यकता नहीं है। इस मत के पक्ष में उन्होंने स्वयं दो-तीन वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत किए हैं।

इस ग्रंथ का चतुर्थ अध्याय रसेल के तार्किक परमाणुवाद की ज्ञानमीमांसा पर है। इसमें रसेल के सत्यता तथा प्रतिज्ञप्ति संबंधी सिद्धान्तों की विवेचना है। प्रथम खंड "प्रतिज्ञप्तियाँ तथा तथ्य" में रसेल के प्रतिज्ञप्ति के प्रत्यय में आने वाले सभी परिवर्तनों तथा उसके विकास का आलोचनात्मक लेखा-जोखा है। जैसाकि स्वयं रसेल ने अपनी पुस्तक "माइ फिलोसोफिकल डिवलपमेंट" में व्यक्त किया है, उनके दीर्घ चिन्तन-काल में उनकी दार्शनिक विचारधारा परिवर्तित होती रही है। इस असाधारण रूप से गतिमान दर्शन का मुख्य कारण रसेल का आलोचनात्मक तथा अनवरत परीक्षणात्मक दृष्टिकोण है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि रसेल की दार्शनिक विचारधारा में उनके प्रतिज्ञप्ति-संबंधी सिद्धात सर्वाधिक परिवर्तन के विषय रहे हैं। जब रसेल के दर्शन पर प्लेटोवादी वास्तवतावाद का विशेष प्रभाव था, रसेल ने प्रतिज्ञप्तियों को वाक्यों के अर्थ मानने क साथ-साथ उनके घटक तत्त्वों में मूर्त्त

विषयों को भी माना। इसका कारण यह कि वे नाम का अर्थ उससे निदर्शित विषय को मानते थे। इस काल में रसेल ने यह भी माना कि असत्य प्रतिज्ञप्तियाँ उसी प्रकार वास्तव हैं जिस प्रकार सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ हैं। सत्यता व असत्यता को उन्होंने उसी प्रकार प्रतिज्ञप्तियों के कुछ विशिष्ट गुण माना जिस प्रकार लालपन व हरापन वस्तुओं के दो विशिष्ट गुण हैं।[12] परन्तु यदि सत्य और असत्य दोनों ही प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ एक-समान यथार्थ हैं तो सत्य प्रतिज्ञप्तियों को दी जाने वाली वरीयता निराधार हो जाती है। रसेल का नैतिक सिद्धान्त कि, सत्य प्रतिज्ञप्तियों में विश्वास करना अच्छा है और असत्य प्रतिज्ञप्तियों में विश्वास करना बुरा, निराधार एवं निरंकुश भी प्रतीत होता है।

अपने मत की इन कठिनाइयों को रसेल स्वयं अनुभव करते हैं। परिणामत: प्रतिज्ञप्तियों का यह वास्तवतावादी प्रत्यय रसेल की उत्तरवर्ती रचनाओं में नहीं मिलता। चूंकि रसेल अपने नामों के सिद्धान्त को पूर्ववत् मानते रहते हैं, वे अभी भी प्रतिज्ञप्तियों के घटकों के रूप में वास्तविक वस्तुओं को स्वीकार करते हैं, परन्तु उन घटकों का संगठन वास्तविक तथ्य के संगठन से भिन्न हो सकता है। इस प्रकार अपने इस चिन्तन-काल में रसेल ने प्रतिज्ञप्ति तथा तथ्य का भेद सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। तथ्य प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता-असत्यता के आधार हैं, जबकि प्रतिज्ञप्तियाँ स्वयं अपनी सत्यता-असत्यता की आधार नहीं हैं। परन्तु समस्या यह है कि सत्य प्रतिज्ञप्तियों के घटक तो मूर्त्त अथवा वास्तविक विषय होंगे ही, उनका संगठन भी वैसा ही होगा जैसाकि तथ्य का है। इस स्थिति में, प्रतिज्ञप्ति तथा तथ्य का भेद पुन: समाप्त हो जाता है। एयर का विचार उचित प्रतीत होता है कि उस समय के रसेल के दर्शन में यह भेद संभव नहीं है।

एयर रसेल के इस सिद्धान्त की भी चर्चा करते हैं कि तथ्यों को नाम नहीं दिया जा सकता। इसी संदर्भ में वे 'निषेधात्मक तथ्यों' संबंधी रसेल के विचार की समीक्षा करते हैं। 'रसेल निषेधात्मक तथ्यों' की वास्तविकता स्वीकार करते हैं क्योंकि उनके विचार से इस स्वीकृति के अभाव में किसी परमाणविक वाक्य की असत्यता नहीं समझाई जा सकती। एयर ने एक विकल्प की चर्चा की है जिसके अनुसार एक परमाणविक वाक्य प की असत्यता का आधार दूसरे परमाणविक वाक्य फ की सत्यता मानी जा सकती है, यदि प तथा फ परस्पर विरोधी हों। रसेल ने जो युक्ति इस विकल्प के विरुद्ध दी है उसका एयर द्वारा किया गया खंडन पूर्णत: सही प्रतीत होता है। पर आश्चर्य है कि उससे भी अधिक स्पष्ट तथा प्राथमिक आपत्ति एयर तथा रसेल दोनों ही नहीं उठाते। निषेधात्मक तथ्यों की चर्चा रसेल के तर्कीय परमाणुवाद के संदर्भ में ही हो रही है। अत: हमें यह देखना है कि संभव समाधान इस सिद्धान्त में कहां तक समन्वित हो सकते हैं। दिया गया समाधान दो परमाणविक वाक्यों के मध्य विरोध स्वीकार करता है, जोकि तर्कीय परमाणुवाद के प्रधान सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में रसेल ने निषेधात्मक तथ्यों के विषय में भी अपनी सम्मति परिवर्तित कर ली। इन रचनाओं में वह अपनी तत्त्वमीमांसा से निषेधात्मक तथ्यों के बहिष्कार के लिये यह युक्ति देते हैं कि निषेधात्मक वाक्यों को उनके अनुरूप विधानात्मक वाक्यों में अविश्वास अभिव्यक्त करने वाले वाक्यों के रूप में समझा जा सकता है। चूंकि रसेल अविश्वास तथा विश्वास दोनों को एक-समान भावात्मक अवस्थाएं मानते हैं, निषेधात्मक वाक्यों को भावात्मक अवस्थाओं तथा घटनाओं का वर्णन माना जा सकता है। एयर की आपत्ति, जोकि उचित प्रतीत होती है, यह है कि यह 'समाधान'समस्या के मूल तक नहीं पहुँचता। तथाकथित विधानात्मक तथा निषेधात्क वाक्यों का भेद इस प्रकार की व्याख्या के आधार पर सापेक्ष भी हो जाएगा। क्योंकि "यह लाल है" जैसे विधानात्मक वाक्य को भी "यह लाल नहीं है" में अविश्वास वर्णित करने वाला माना जा सकता है, ऐसी स्थिति में निषेधात्मक तथ्यों की समस्या पूर्ववत् बनी रहती है।

वस्तुत: एयर निषेधात्मक तथ्यों की समस्या के पीछे निहित इस युक्ति को त्रुटिपूर्ण मानते हैं कि ऐसे तथ्यों को माने बिना निषेधात्मक वाक्यों की सत्यता का कोई आधार संभव प्रतीत नहीं होता। रसेल का सरल समाधान यह है कि जिस प्रकार यह मानने में हमें कोई समस्या प्रतीत नहीं होती कि एक वियोजक वाक्य की सत्यता का आधार एक सरल वाक्य होता है जो उस वियोजक वाक्य को आपादित करता है, उसी प्रकार यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि एक निषेधात्मक वाक्य अपनी सत्यता क लिए एक ऐसे विधानात्मक वाक्य पर निर्भर करता है जो उसे आपादित करता है पर स्वयं उससे आपादित नहीं होता। इसी प्रकार का समाधान एयर ने अन्यत्र भी दिया है,[13] जहां वे कहते हैं कि एक निषेधात्मक वाक्य की सत्यता हम उसी प्रकार अपनी इन्द्रियों से निर्णीत करते हैं जिस प्रकार विधानात्मक वाक्यों की सत्यता निर्णीत की जाती है। यह मत स्वयं में साधारण विश्वासों के अनुरूप तो है ही, दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह अधिक निर्दोष प्रतीत होता है। परन्तु यहां फिर एयर यह भूल जाते है कि रसेल के तार्किक परमाणुवाद के अन्दर ऐसे सभी समाधान अधिक कठिनाइयां उत्पन्न करेंगे। क्योंकि यह समाधान तथाकथित सरल अथवा परमाणविक वाक्यों के मध्य विरोध की संभावना को या तो अभिधारणा के रूप में या परीक्ष्य निष्कर्ष के रूप में मान लेता है, जबकि ऐसा विरोध इस दर्शन में स्वीकार्य नहीं हो सकता।

इस अध्याय के द्वितीय खंड में विस्तारसिद्धांत (एक्स्टेंश्नलिज्म) पर विचार किया गया है। इस खंड का एक बड़ा भाग इस सिद्धान्त के विवरण के लिए दिया गया है, जिससे दर्शनशास्त्र के अधिकांश विद्यार्थी परिचित होंगे। संक्षेप में, एक प्रतिज्ञप्ति-समूह अथवा तंत्र तब विस्तारात्मक (एक्स्टेंशन) कहा जाता है, जब इसके किसी भी वाक्य में एक नाम-सूचक पद का इसी प्रकार के दूसरे पद से, जिसका निदर्शन प्रथम पद वाला ही हो, अथवा एक विधेयात्मक पद का दूसरे ऐसे विधेयात्मक पद से, जिसे प्रथम पद को संतुष्ट करने वाले विषय ही संतुष्ट करते हों, अथवा एक वाक्य को उसी के समान सत्यता मूल्य वाले वाक्य से, स्थानान्तरण करने से मौलिक वाक्य का सत्यता-मूल्य परिवर्तित न हो। कम से कम ऊपरी दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वास-सूचक प्रतिज्ञप्तियाँ, प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिरूचि सूचक प्रतिज्ञप्तियाँ तथा अभिवृत्यात्मक (डिपोजीश्नल) प्रत्यय प्रयुक्त करने वाली प्रतिज्ञप्तियाँ विस्तारात्मक भाषा में सूत्रबद्ध नहीं हो सकतीं। इन सभी प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों की विस्तारात्मक व्याख्या-संबंधी समस्या बहुचर्चित है। इस संबंध में एयर एक मौलिक प्रस्ताव देते हैं। इस प्रस्ताव के अनुसार, इन विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों द्वारा विस्तारात्मक भाषा के लिए प्रस्तुत कठिनाइयों को पृथक् पृथक् सुलझाने का प्रयत्न करने से अधिक उपयोगी प्रयत्न इन सभी समस्याओं को एक-दूसरे से संबंधित करके एक समस्या का रूप देना और तब उस पर ध्यान एकाग्रित करना होगा। एयर के विचार से, निश्चयमात्रिक (मोडल) तथा अभिवृत्यात्मक (डिस्पोजीश्नल) प्रत्ययों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं को अन्त में प्रतितथ्यात्मक सौपाधिक वाक्यों की व्याख्या की समस्या के रूप में रखा जा सकता है, और इस समस्या को मानसिक अभिरुचियों द्वारा प्रस्तुत समस्या का एक रूप माना जा सकता है। विचाराधीन खंड में एयर ने इस योजना की एक स्पष्ट रूपरेखा दी है। परन्तु एक प्रकार की समस्या को दूसरे प्रकार की समस्या के रूप में परिवर्तित करते समय एयर कुछ दूसरी अत्यन्त विवादास्पद बातें मान लेते हैं, जिसके कारण पूरे तौर से स्थिति सुलझने के स्थान पर और भी अधिक जटिल हो जाती है। उदाहरणार्थ, एयर का मत है कि निश्चयमात्रिक (मोडल) प्रत्ययों को सोपाधिक वाक्यों से 'नियम' के प्रत्यय द्वारा सम्बन्धित किया जा सकता है। एयर के शब्दों में, ''किसी भी विषय को हम संभव तब कहते हैं जब हम ऐसे किसी नियम को नहीं जानते जिसके वह विरुद्ध होगा'' (पृ. 94)। इस व्याख्या के पक्ष में एयर की

युक्ति है कि इसके द्वारा तार्किक एवं भौतिक दोनों ही संभावनाएं एक ही सामान्य प्रत्यय के अन्तर्गत आ जाती हैं। "तार्किक रूप से वह संभव है जो तार्किक नियमों से, अथवा अधिक सामान्य शब्दों में, हमारी भाषा के नियमों से, सुसंगत हो; भौतिक रूप से संभव वह है जो प्रकृति के नियमों से सुसंगत है। तब, तार्किक अनिवार्यता को विरोधी उदाहरणों के माध्यम से सोचने की हमारी क्षमता पर निर्भर माना जा सकता है, और भौतिक अनिवार्यता को इस परिकल्पना पर निर्भर माना जा सकता है कि तार्किक रूप से संभव विरोधी उदाहरणों में से एक भी वस्तुत: घटित नहीं होगा।" (पृ. 94)। इस प्रकार की परिभाषाओं के विरुद्ध अनेक आपत्तियां उठाई जा सकती हैं। प्रथमत:, तार्किक अनिवार्यता को कुछ घटनाओं को कल्पित करने की अक्षमता मात्र मानना स्पष्टत: त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। तार्किक अनिवार्यता को परिभाषित करने की समस्या आधुनिक दर्शन की एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है, और स्वयं एयर तथा उनके अनुयायी उस प्रकार की 'मनोवैज्ञानिक' परिभाषाओं का विरोध करते आये हैं जैसा कि एयर ने इस पुस्तक में प्रस्तावित किया है। न तो तार्किक अनिवार्यता और न भौतिक अनिवार्यता ही किसी भी प्रकार की घटनाओं को सोच सकने की हमारी क्षमता पर निर्भर हो सकती है। उल्लिखित प्रथम अवतरण में संभावना को हमारे ज्ञान की वास्तविक स्थिति अथवा सीमाओं पर निर्भर कर देना अनुचित प्रतीत होता है। वस्तुत:, तार्किक एवं भौतिक अनिवार्यताओं को एक रूप देना परिभाषा का गुण नहीं है (जैसा कि एयर ने माना है) अपितु त्रुटि है।

इसके अलावा, संभावना की परिभाषा की एक और कमजोरी यह प्रतीत होती है कि इसके विरुद्ध उसी प्रकार का चक्रिकता-दोष लगाया जा सकता है जैसा कि मौर्टन व्हाइट[14] तथा क्वाइन [15] आदि ने निश्चयमात्रिक प्रत्ययों की कुछ परिभाषाओं के विरुद्ध लगाया था। संभावना की इस परिभाषा में 'विरोध' (इन्कॉम्पेटीबिलिटी) का प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है। परन्तु स्वयं यह प्रत्यय संभावना के प्रत्यय से कम कठिन नहीं है, और इसे परिभाषित करने के लिए सभी उपलब्ध परिभाषाएं पुन: संभावना के प्रत्यय का उपयोग करती हैं। इस प्रकार दी गई परिभाषा अन्त में व्यर्थ सिद्ध हो जाती है जिसके कारण एयर की पूरी योजना खंडित हो जाती है।

तृतीय खंड में एयर रसेल के प्रतिज्ञप्ति संबंधी विचारों पर टिप्पणी देते हैं। इस विषय में रसेल के क्रमश: परिवर्तित एवं विकसित विचारों का उल्लेख पूर्वोक्त खंड में भी किया गया है। एयर रसेल के सिद्धान्त में मुख्य आपत्तिजनक कमी यह पाते हैं कि इसमें आपेक्षिकता (इन्टेन्शनेलिटी) की समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। प्रतिज्ञप्ति के पदों को रसेल वास्तविक वस्तुएं ही मानते हैं और इस प्रकार यह सिद्धान्त इस संभावना का बहिष्कार कर देता है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के विषय में कोई बात तब सत्य माने जब उसका विवरण एक विशेष प्रकार से दिया गया है, और उसी वस्तु के विषय में वही बात तब सत्य न माने जब उसका विवरण दूसरे प्रकार से दिया गया है। परन्तु न केवल ऐसा संभव है, बहुधा वास्तव में भी होता है। क्योंकि व्यक्ति इस सत्य के प्रति अनभिज्ञ हो सकता है कि दोनों विवरण एक ही वस्तु के हैं। बाद में जब रसेल ने मानसिक क्रियाओं में अनास्था के कारण यह सिद्धान्त छोड़ दिया कि प्रतिज्ञप्तियां विश्वासों के विषय होती हैं, उन्होंने यह मानना प्रारंभ किया कि प्रतिज्ञप्तियां विश्वासों की विषय-वस्तु प्रदान करती हैं। यह विषय वस्तु, रसेल के अनुसार, शब्द अथवा मानसिक प्रतिभायें हो सकती हैं। विश्वास के विश्लेषण में रसेल ने यह माना कि मात्र प्रतिज्ञप्ति का 'अस्तित्व' पर्याप्त नहीं है। इसके साथ ही विश्वास की जाने वाली प्रतिज्ञप्ति के प्रति विश्वासकर्त्ता की एक विशेष प्रकार की 'भावना' अथवा मानसिक प्रक्रिया भी जुड़ी होनी चाहिये। इतना ही नहीं, प्रतिज्ञप्ति तथा इस "विश्वास-भावना" (बिलीफ फीलिंग) के मध्य एक विशेष प्रकार का संबंध भी होना चाहिये। परन्तु रसेल ने कहीं

भी यह संतोषजनक रूप से नहीं समझाया कि यह विशेष संबंध क्या और किस प्रकार का है। अत: यहाँ भी उनका सिद्धान्त अपूर्ण ही रह जाता है। खंड का शेष भाग रसेल द्वारा कैपलान तथा कोपिलोविश[16] के 'चिह्न-वाहक' (साइन विहाइकल्स) सिद्धान्त की आलोचना का समीक्षात्मक विवरण देने में व्यय हुआ है।

अध्याय का अंतिम तथा चौथा खंड रसेल के सत्यता संबंधी मतों का विकास संक्षेप में बताता है। जिस प्रकार रसेल अपनी प्रतिज्ञप्ति संबंधी मान्यताओं को बदलते रहे हैं, उसी प्रकार उन्होंने अपने सत्यता संबंधी सिद्धान्तों को भी बदला है। एक विशेष काल में उन्होंने सत्यता व असत्यता को प्रतिज्ञप्तियों के सरल, अपरिभाष्य गुण माना। प्रतिज्ञप्तियों के निरपेक्ष अस्तित्व में विश्वास छोड़ने पर उन्होंने यह माना कि कोई प्रतिज्ञप्ति तभी सत्य होती है जब उसके घटक तत्त्व उसी प्रकार संबद्ध हों जिस प्रकार वे वास्तविकता में भी संबद्ध हैं। रसेल के इस सिद्धान्त को बहुधा अनुरूपता सिद्धान्त (कोरेस्पोन्डेण्स थ्योरी) का एक रूप माना जाता है। परन्तु एयर की यह आपत्ति पूर्णत: उचित प्रतीत होती है कि इस सिद्धान्त को अनुरूपता सिद्धान्त के अन्तर्गत रखना अनुचित है। क्योंकि उस समय तक रसेल यह मानते थे कि प्रतिज्ञप्ति के घटक तत्त्व वास्तविक वस्तुयें ही होती हैं और इस प्रकार, एक सत्य-प्रतिज्ञप्ति व उसकी सत्यता के आधार रूप में माने जाने वाले 'तथ्य' के बीच कोई भेद नहीं रह जाता। परन्तु किसी भी प्रकार का अनुरूपता सिद्धान्त 'तथ्य' तथा प्रतिज्ञप्ति का तादात्म्य स्वीकार नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त की विशेषता तथ्य तथा प्रतिज्ञप्ति का द्वैत तथा प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के आधाररूप उनका एक विशेष संबंध मानना है।

एयर रसेल के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं कि शब्दों से बनी हर प्रतिज्ञप्ति का अर्थ मानसिक प्रतिमाओं से बनी प्रतिज्ञप्ति होता है। अपनी इसी मान्यता के कारण रसेल मानसिक प्रतिमाओं से बनी प्रतिज्ञप्ति को शब्द-प्रतिज्ञप्तियों से अधिक प्राथमिक मानते हैं। फिर भी, वे यह मानते हैं कि यद्यपि शब्द-प्रतिज्ञप्तियां निषेधात्मक हो सकती हैं, प्रतिमा-प्रतिज्ञप्तियां केवल विधानात्मक ही हो सकती हैं। इसकी युक्तियों का उल्लेख पुस्तक में किया गया है। निषेधात्मक शब्द-प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ तथा सत्यता दोनों ही विधानात्मक प्रतिमा-प्रतिज्ञप्तियों द्वारा परोक्ष रूप से निश्चित होते माने गए हैं। इस प्रकार सत्यता का अन्तिम तथा भौतिक आधार विधानात्मक प्रतिमा-प्रतिज्ञप्ति तथा 'तथ्य' के बीच एक विशेष संबंध हो जाता है। यह संबंध 'समानता' का संबंध है। इस सिद्धान्त में कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन व संशोधन एयर ने प्रस्तावित किये हैं। पर मुख्य आपत्ति यह है कि दो विषयों के मध्य केवल भौतिक समानता इस बात के लिए पर्याप्त नहीं होती कि उनमें से एक को दूसरे का प्रतिनिधि माना जाय। एक विषय दूसरे का प्रतीक अथवा प्रतिनिधि है, इसके लिए उनके भौतिक स्वरूप की समानता न अनिवार्य है, न पर्याप्त; इसके लिए हमें सदैव व्याख्या के नियम (''प्रक्षेपण नियम''- विट्गेन्स्टाइन) अपेक्षित होते हैं। रसेल के इस सिद्धान्त तथा विट्गेन्स्टाइन की 'ट्रेक्टेटस' के 'चित्र-सिद्धान्त' (पिक्चर थ्योरी) के मध्य समानता स्पष्ट है। एयर की आपत्तियां भी लगभग उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की विट्गेन्स्टाइन के आलोचकों ने उनके चित्र-सिद्धान्त के विरुद्ध उठाई थीं।

अन्त में, एयर रसेल द्वारा स्वीकृत उनके सत्यता-संबंधी मत के अन्तिम रूप का उल्लेख करते हैं जिसे रसेल ने ''एन इन्क्वायरी इन्टु मीनिंग एन्ड ट्रुथ'' पुस्तक में विकसित किया है। इस पुस्तक में भी वह सत्यता का अनुरूपता सिद्धान्त ही मानते हैं, पर उसका जो रूप यहां विकसित किया गया है वह उतना सरल व सीधा नहीं है जैसाकि पूर्वकाल में स्वीकार किया गया था। ''इन्क्वायरी'' में विकसित रसेल की सत्यता संबंधी धारणाओं का एयर बहुत ही संक्षेप में उल्लेख करते हैं। परन्तु पाठक इनसे पूर्व परिचित ही होंगे। रसेल सभी प्रकार के (अनुभवात्मक) वाक्यों की सत्यता-असत्यता का

आधार तथ्यों व उनके बीच अनुरूपता संबंध की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति मानते हुए भी अनुरूपता-संबंध का स्वरूप विभिन्न प्रकार के वाक्यों के लिए विभिन्न प्रकार का मानते हैं। अधिक सामान्य तथा अधिक जटिल वाक्य के लिए अनुरूपता-संबंध भी अधिक जटिल दर्शाया गया है। एयर इन संबंधों का उल्लेख भी नहीं करते हैं। वे केवल रसेल के अर्थ-संबंधी कारणता सिद्धान्त (काजल थ्योरी ऑफ मीनिंग) पर ही ध्यान एकाग्रित करते हैं। 'इन्क्वायरी' में रसेल परमाणविक वाक्यों के सृजन का कारण इनसे निदर्शित तथ्यों की उपस्थिति मानते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि यह कारणता-संबंध ही उन वाक्यों की सत्यता का आधार होता है। एयर की यह आपत्ति पुन: सत्य प्रतीत होती है कि परमाणविक वाक्यों के सृजन का कारण निदर्शित तथ्यों की उपस्थिति मानते हुए भी यह मानना न तो अनिवार्य प्रतीत होता है ओर न ही उचित कि इस कारणता संबंध के कारण विचाराधीन वाक्य सत्य है। वाक्य की सत्यता के लिए तथ्य की उपस्थिति मात्र पर्याप्त है, न कि उल्लिखित कारणता संबंध।

पांचवें अध्याय, अर्थात् पुस्तक के प्रथम भाग के अन्तिम अध्याय, में रसेल की अस्तित्वमीमांसा विवेचित की गई है। रसेल के तटस्थ अद्वैतवाद (न्यूट्रल मोनीज्म) का उल्लेख करके एयर सर्वप्रथम रसेल के मन अथवा आत्मा संबंधी विचारों का क्रमश: विकास बताते हैं। जैसाकि पहले ही देख चुके हैं, रसेल के मतानुसार अनुभवात्मक जगत् का अन्तिम तत्त्व न तो पारम्परिक अर्थ में समझी जाने वाली आत्मा है और न भौतिक द्रव्य अपितु संवेद अथवा संवेद्य है। रसेल के इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही संवेद तथाकथित भौतिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार के वर्गों का सदस्य हो सकता है। मन तथा भूत का मौलिक भेद उनके घटक तत्वों का स्वरूप-भेद नहीं है अपितु उन तत्वों के संगठन का भेद ही है। एयर यह संकेत करते हैं कि इसी प्रकार का निरपेक्ष अद्वैतवाद विलियम जेम्स ने भी प्रतिपादित किया था। एयर के मतानुसार, रसेल तथा जेम्स के एकतत्त्ववाद में सिद्धान्त का कोई भेद नहीं है; भेद केवल उनकी रुचियों का है। जेम्स ने आत्मा अथवा मन की व्याख्या तथा विश्लेषण करने पर अधिक ध्यान एकाग्र किया है जबकि रसेल ने भौतिक पदार्थ की पुनर्रचना करने में।

अपने रचना-काल के पूर्ववर्ती भाग में रसेल आत्मा का अस्तित्व भी मानते हैं और उसको ज्ञेय भी। उनका तर्क 'आत्म-चेतना' के तथ्य पर आधारित है। आत्म-चेतना से उनका तात्पर्य है किसी वस्तु का ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष होते समय यह ज्ञान अथवा चेतना भी होना कि ऐसा ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष हो रहा है। परन्तु बाद में रसेल ने यह युक्ति छोड़ दी क्योंकि स्वयं आत्म-चेतना का प्रत्यय उतना ही (या उससे भी अधिक) कठिन है जितना आत्मा का, और आत्म-चेतना का विश्लेषण विषय तथा विषयी के माध्यम से किया जाना किसी भी प्रकार लाभदायक नहीं होगा। इसके साथ ही रसेल ने आत्मा के द्रव्यात्मक, स्वतंत्र रूप को भी अस्वीकार कर दिया। एयर रसेल के इस उत्तरवर्ती मत से पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं।

'आत्मा' की अस्वीकृति के साथ ही रसेल पर इसकी तार्किक रचना के रूप में व्याख्या करने का उत्तरदायित्व आ जाता है। इसके लिए वे स्मृति तथा कुछ विशेष प्रकार के कारणता संबंधों का सहारा लेते हैं। रसेल का विचार है कि एक ही व्यक्ति के आश्रित मानसिक प्रक्रियाओं के बीच कुछ ऐसे विशिष्ट कारणता संबंध होते हैं जो विभिन्न व्यक्तियों पर आश्रित विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं के बीच नहीं होते। उन्होंने स्मृति को इनका एक उदाहरण माना है। एयर की संक्षिप्त आपत्ति है कि ऐसी कोई विधि स्पष्ट नहीं की गई है जिससे कुछ अनुभवों को एक ही व्यक्ति के अथवा स्वयं के अनुभव-रूप में जाने बिना उनके बीच का कारणता-संबंध खोजा जा सके। यदि इन कारणता-संबंधों को जानने के लिए यह पहले से जानना आवश्यक हो कि वह एक ही व्यक्ति के आश्रित हैं, तो पूरी विधि चक्रिकता के दोष से दूषित हो जायेगी।

इसी संबंध में एयर रसेल के कारणता संबंधी विचारों की भी आलोचना करते हैं। 'मिस्टिसिज्म एण्ड लोजिक' में सम्मिलित प्रसिद्ध लेख 'आन दि नोशन आफ कॉज' में रसेल ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि कारणता के प्रत्यय में विरोधाभास है। (पृ. 184) रसेल का तर्क भी प्रसिद्ध है कि चूंकि कोई भी दो क्षण पूर्ण समीपस्थ (कोंटीगुअस) नहीं होते अत: कारण को क्षणिक नहीं माना जा सकता, और तब दो विकल्प शेष रहते हैं : या तो कारण को आन्तरिक रूप से परिवर्तनमय माना जाय या उसे अपरिवर्तनमय माना जाय। दोनों ही विकल्पों को अमान्य ठहराने का प्रयत्न रसेल ने किया है। प्रथम विकल्प की कठिनाई है कि परिवर्तनमय कारण के आन्तरिक अंशों के मध्य कारणता-संबंध मानना होगा और तब वे सभी समस्याएं पुन: खड़ी हो जांयगी जो हम अपने मौलिक 'कारण' व 'कार्य' के संबंध में सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरे विकल्प का दोष यह है कि परिणाम उत्पन्न करने के पूर्व भी उसी रूप में अवस्थित परिवर्तनहीन 'कारण' किसी विशेष समय ही परिणाम उत्पन्न क्यों कर सका, यह समझना कठिन हो जाता है।

रसेल की इस युक्ति के पीछे यह विश्वास है कि कारण तथा कार्य को किसी न किसी प्रकार समीपस्थ ही मानना पड़ेगा। वस्तुत: रसेल ने उल्लिखित लेख में इस विश्वास के लिए यह युक्ति भी दी है कि कारणता-सम्बन्ध अनिवार्य संबंध माना जाता है, और इस अनिवार्यता को संरक्षित रखने के लिए कारण व कार्य की समीपस्थता स्वीकार करना आवश्यक है। क्योंकि अन्यथा कारण व कार्य के बीच किसी ऐसी तीसरी घटना की संभावना सदैव बनी रहेगी जो कार्य को घटित होने से रोक दे। एयर की यह आपत्ति उचित प्रतीत होती है कि कारणता-सम्बन्ध को अनिवार्य मानने का एक निहितार्थ यह है कि कारण तथा कार्य के बीच कोई बाधक तीसरी घटना नहीं घटेगी। अत: दो घटनाओं अ तथा ब के मध्य कारणता सम्बन्ध मान लेने के बाद यह संभावना स्वीकार्य नहीं हो सकती कि कार्य-उत्पत्ति में बाधक कोई अन्य घटना घटित हो। इसी प्रकार उपर्युक्त विरोधाभास के दोनों विकल्पों को सिद्ध करने में रसेल किस प्रकार असफल रहे हैं, यह एयर सफलतापूर्वक दिखा सके हैं। क्षणिक वस्तुओं की समीपस्थता के लिए रसेल द्वारा दिया गया तर्क अवैध है। इसी प्रकार 'कारण' को कुछ क्षणों तक अवस्थित मान सकने के विरुद्ध रसेल की युक्ति भी उचित प्रतीत नहीं होती। यदि हमारा कार्य-कारण संबंधी सिद्धान्त दो जटिल (तथा अ-क्षणिक) वस्तुओं अ तथा ब को इस संबंध से संबद्ध मानता है, तो अ के किसी एक अंश को ही ब का कारण मानना न तो अनिवार्य होगा और न उपयुक्त ही। इस सिद्धान्त के अनुसार समग्र अ को ब का कारण माना जायेगा।

जैसाकि हम देख चुके हैं, रसेल ने आत्मा अथवा मन की व्याख्या करने के लिए कारणता का प्रत्यय प्रयुक्त किया था और व्यक्तिगत अभिज्ञान (पर्सनल आइडेण्टिटी) के लिए स्मृति को आधार माना था। इस आधार पर एयर ने अगले खंड में विचार किया है। 'स्मृति' की रसेल द्वारा दी गई विवेचना का उल्लेख करते हुए एयर रसेल के 'स्मरण-विषय कारणता' (नेमिक कॉजेशन) के प्रत्यय की चर्चा करते हैं। रसेल का विचार है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि विगत अनुभव वर्तमान व्यवहार को केवल शारीरिक परिवर्तनों द्वारा प्रभावित करता है। उनके अनुसार, विगत अनुभव किसी वर्तमान उद्दीपक तथा विषयी की वर्तमान शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं के साथ मिलकर वर्तमान स्मृति को उत्पन्न करते हैं। एयर रसेल के इस मत से सहमति दर्शाते हैं कि यदि कारणता-संबंध को निरीक्षित क्रमबद्धता अथवा नियमितता मात्र मानें तो यह भी माना जा सकता है कि किसी वर्तमान कार्य का कारण अस्तित्वहीन अथवा विगत है।

स्मृति के आधार पर मन के अभिज्ञान का जो प्रस्ताव रसेल ने प्रस्तुत किया है उसके विरुद्ध एयर की मुख्य आपत्ति यह है कि स्मृति इस कार्य के लिए अनिवार्य होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। एयर स्वीकार करते हैं कि स्वयं अपने अभिज्ञान तादात्म्य के प्रति चेतना स्मृति पर ही निर्भर करती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि स्मृति मन के अभिज्ञान की स्थापना के लिए पर्याप्त है। यहाँ स्मृति का मुख्य अपेक्षित कार्य चेतना के उन अन्तरालों को भरना है जिन्हें संवेदित तारतम्य नहीं भर पाता। परन्तु यह कार्य करने में स्मृति असफल रहती है, क्योंकि स्मृति में इस बात की कोई निश्चयात्मकता नहीं रहती कि स्मृत अनुभव स्मरणकर्त्ता के ही हैं। (स्वयं रसेल यह बात स्वीकार करते हैं) क्योंकि उन्होंने यह माना है कि स्मृति-विश्वास का हर घटक तत्त्व वर्तमान होता है, और इसलिए स्मृति के लिए यह कभी भी अनिवार्य नहीं होता कि उसका विषय कभी घटित भी हुआ हो।

द्वितीय खंड में एयर ने रसेल के दर्शन में निहित एक आत्म-विरोध का संकेत किया है। यह आत्म-विरोध प्रत्यक्षों की कारणभूत मानी गई भौतिक वस्तुओं तथा देश के विषय में रसेल के विचारों में पाया जाता है। यह विषय रसेल के दर्शन में इतना आधारभूत तथा महत्त्वपूर्ण है कि इससे संबंधित कोई भी विसंगति निश्चय ही रसेल के सम्पूर्ण दर्शन के लिए गम्भीर होगी। फिर भी, जैसाकि एयर सफलतापूर्वक दिखा सके हैं, इस दार्शनिक महत्त्व के विषय पर रसेल की कृतियों में पग-पग पर विरोधी विचार मिलते हैं। प्रत्यक्षों के कारणों के रूप में स्वीकृत अनिरीक्षित वस्तुओं को कभी तो रसेल प्रत्यक्षों से तार्किक रचनाएं मात्र मानते हैं और कभी उन प्रत्यक्षों से अनुमानित वस्तुएं जिनका स्वरूप प्रत्यक्षों से भिन्न होता है, अथवा जिनके स्वरूप के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। इन विरोधी विचारों के अनेक अवतरण एयर ने उद्धृत किये हैं। एयर की मुख्य आपत्ति रसेल द्वारा अनुभव-अगम्य देश की स्वीकृति के विरुद्ध है। यह स्वीकृति रसेल की रचनाओं में अनेक स्थानों पर मिलती है। एयर के मतानुसार, अनुभव-अगम्य देश का प्रत्यय ही बोधगम्य नहीं है, और न ही रसेल के दर्शन में ऐसे देश को स्वीकार करना उपयुक्त प्रतीत होता है। प्रत्यक्षों तथा 'अनुभवात्मक देशों' के आधार पर तथाकथित विषयात्मक देश की पुनारचना कैसे हो, इसके लिए एयर तृतीय अध्याय में प्रस्तुत अपने प्रस्ताव का पुन: उल्लेख करते हैं। इस प्रस्ताव में एयर ने भौतिक विषय को 'मानक प्रत्यक्ष' (स्टेंडाइज्ड परसेप्ट) के रूप में माना था।

अन्तिम खंड में एयर ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि भौतिक वस्तुओं की अवस्थिति के विषय में उनका उपरोक्त प्रस्ताव स्वीकार करने के बाद भी रसेल के साथ यह स्वीकार किया जा सकता है कि उन वस्तुओं को हम कभी भी उस रूप में नहीं देख पाते हैं जो रूप वास्तव में उनका है। यहाँ मुख्य संकेत लॉक, बर्कले, आदि के मतों के संदर्भ में प्राथमिक तथा गौण गुणों के भेद की ओर है। वे यह मानते हैं कि हम वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में नहीं जानते, उनका विचार है कि हम सदैव वस्तुओं में वह गुण आरोपित करते रहते हैं जो वास्तव में हमारे प्रत्यक्षों के गुण हैं अथवा उनसे किसी प्रकार संबद्ध हैं। ये गुण सामान्यत: प्रत्यक्षकर्त्ता की भौतिक व मानसिक स्थिति पर निर्भर माने जाते हैं।

इस प्रकार के मत में मुख्य कठिनाई ऐसे किसी मापदंड का अभाव है जिसके आधार पर यह जाना जा सके कि कोई वस्तु वास्तव में किस प्रकार की है। इसके अलावा, जैसा कि एयर ने बताया है और अनेक अन्य दार्शनिक भी बता चुके हैं, प्रत्यक्षकर्त्ता पर गुण की निर्भरता से वस्तु में उसके अभाव को अनुमानित करने वाली युक्ति आवश्यकता से अधिक सिद्ध कर देती है। अर्थात्, जिस प्रकार के गुणों को वस्तु में वस्तुत: स्वीकार किया जाना है उसका अभाव भी इस युक्ति के आधार पर मानना पड़ जायगा।

इस कठिनाई का एक निराकरण एयर ने प्रस्तुत किया है जिसे वे स्वयं पूर्णत: संतोषजनक नहीं मानते, पर पूर्वोक्त मत से अधिक उत्तम मानते हैं। इस प्रस्ताव के अनुसार, प्राथमिक तथा गौण गुणों का भेद करने के स्थान पर वस्तु के अन्तर्निहित (इन्ट्रीन्सीक) तथा कारणात्मक (कॉजल) गुणों का भेद करना अधिक उपयुक्त होगा। कारणात्मक गुण वे होंगे जिनकी परिभाषा वस्तु के दूसरी वस्तुओं पर परिणामों के माध्यम से दी जायगी और अन्तर्निहित गुण वे होंगे जिनकी परिभाषा बिना इस अभिधारणा के दी जा सकेगी कि वस्तु का अन्य वस्तुओं से किसी भी प्रकार संबंध है। एयर का विचार है कि गुणों का इस प्रकार भेद करके यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होगा कि किसी वस्तु के वास्तविक गुण केवल उसके अन्तर्निहित गुण होते हैं। एयर यह स्पष्ट करते हैं कि ऐसा कहकर हम अस्तित्ववान् वस्तुओं की खोज नहीं कर रहे हैं अपितु 'वास्तविकता' का एक मापदण्ड प्रस्तुत कर रहे हैं। यह बात केवल इस अस्तित्वमीमांसात्मक सिद्धान्त पर ही लागू नहीं होती, अपितु अधिकांश दार्शनिक समस्याओं के विषय में यही कहा जा सकता है। जैसाकि हम प्रथम अध्याय की समीक्षा में देख चुके हैं, कुछ दार्शनिकों (विशेषत:, मूर तथा उनके अनुयायियों) का दर्शन-सम्बन्धी मत इसी प्रकार का है।

रसेल की आस्तित्वमीमांसा-संबंधी इस अध्याय के साथ एयर ने पुस्तक का प्रथम भाग समाप्त कर दिया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, एयर के विवरण रसेल के दर्शन में उनकी गहरी पैठ के द्योतक हैं, और उनकी अधिकांश आलोचनायें और प्रस्ताव मौलिक हैं। परन्तु रसेल के दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों का पुस्तक में अभाव अवश्य खटकता है। उदाहरण के लिए, रसेल द्वारा प्रयुक्त एवं प्रतिपादित विश्लेषण के विभिन्न रूपों की विवेचना पुस्तक में नहीं मिलती। इसी प्रकार तर्कशास्त्र सम्बन्धी रसेल के मतों का पर्याप्त उल्लेख भी एयर ने नहीं किया है। यह अवश्य है कि जिन विषयों का पुस्तक में समावेश किया गया है, उनका विवेचन उच्चस्तरीय एवं मौलिक होने के कारण पुस्तक दार्शनिक विकास को समझने के लिए एक नया सोपान प्रस्तुत करती है।

***

संदर्भ-सूची : -

1. *'एनालिसिस एण्ड दि यूनिटी ऑफ रसेल्स फिलोसोफी' (दि फिलोसोफी ऑफ बर्ट्रेण्ड रसेल में), पृ. 8,*
2. *ए. जे. एयर : मैटाफिजिक्स एण्ड कौमन सेन्स, 1969 (अध्याय : 'आन मेकिंग फिलासोफी इन्टेलिजिबिल') पृ. 16*
3. *ए. जे. एयर : मैटाफिजिक्स एण्ड सेन्स, 1969 (अध्याय : 'मैटाफिजिक्स एण्ड कौमन सेन्स') पृ. 72-73*
4. *संपा.-एच. डी. ल्युइस: क्लैरिटी इज नोट इनफ (अध्याय : 'क्लैरिटी इज नोट इनफ') पृ.20।*
5. *बर्टेण्ड रसेल एण्ड दि ब्रिटिश ट्रेडीशन इन फिलोसोफी, पृ.13।*
6. *बर्टेण्ड रसेल : 'आन डिनोटिंग', माइण्ड, 1905।*
7. *क्वाइन ने माना है कि अस्तित्व का अर्थ है किसी चल प्रतीक का मूल्य होना।*
   इस सिद्धांत तथा रसेल के उपरोक्त सिद्धांत में भी समानता है।
8. *दि फिलोसोफी ऑफ बट्रेण्ड रसेल, 1946, पृ. 41-50।*
9. *एफ. पी. रैम्जे : दि फाउण्डेशन्स ऑफ मेथेमेटिक्स, 1931।*
10. *माइण्ड, 1950।*
11. *सेन्स डेटा एण्ड फिजिक्स (मिस्टिसिज्म एण्ड लौजिक में), 1918।*
12. *प्रतिज्ञप्ति तथा सत्यता सम्बन्धी इस प्रकार के मत की आलोचना एच. एच. जोकिम ने अपनी पुस्तक "दि नेचर ऑफ ट्रु थ" (1939, पृ. 31-63) में की है।*

13. फिलोसोफिकल ऐसेज; (अध्याय : निगेशन) पृ. 54-59।

14. टुवर्ड्स रीयूनियन इन फिलोसोफी; 1956; पृ. 196-199

15. 'टू डौग्माज आफ एम्पिरिसिज्म'; फिलोसोफिकल रिव्यू 1951; पृ. 20-43।

16. कैपलान एण्ड कोपिलोविश : "मस्ट देयर बी प्रोपोजीशन्स ?"; माइण्ड; 1939। इन दार्शनिकों ने प्रतिज्ञप्ति संबंधी अपने सिद्धान्त में "परोक्ष व्यवहार" (इम्प्लिसीट बिहवीयर) तथा "चिह्न वाहकों" (साइन विहाइकल्स) के मुख्य प्रत्यय प्रयुक्त किये है। परोक्ष व्यवहार से उनका तात्पर्य उन घटनाओं से है जो कोई चिह्न प्रयुक्त करते समय प्रयोगकर्त्ता के अन्दर घटित होती है। "चिह्न वाहक" में उनका तात्पर्य किसी प्रतीक के मूर्त उदाहरण से है। रसेल की मुख्य आपित्त इस दूसरे प्रत्यय से संबद्ध है। क्योंकि उनके अनुसार चिह्नता का ही प्रत्यय मुख्यत: स्पष्ट किया जाना है, और कैपलान कोपिलोविश-सिद्धान्त इस प्रत्यय को स्पष्ट नहीं कर पाया है।

5

मूर तथा रसेल : विश्लेषणवादी परम्परा* - 2

रूपरेखा वर्मा

प्रो. ए.जे. एयर ने अपनी पुस्तक 'रसेल तथा मूर : विश्लेषणवादी परम्परा' के द्वितीय खण्ड में जी.ई. मूर के दर्शन द्वारा विश्लेषणवादी दार्शनिक विचारधारा पर डाले गए प्रभावों का सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक विवरण दिया है। जैसा कि हम पहले खण्ड में देख चुके हैं विश्लेषणपरक दार्शनिक विधि की स्थापना में दो मुख्य दार्शनिकों का नाम उल्लेखनीय है - रसेल तथा मूर, यद्यपि इन दोनों ने स्वयं स्पष्टत: यह नहीं स्वीकारा कि दर्शन किसी न किसी प्रकार का विश्लेषण मात्र है। इन दार्शनिकों की दर्शन-विधि तथा विचारों का प्रभाव कुछ ऐसा पड़ा कि विश्लेषणपरक दर्शन ने जन्म लिया। इसलिए एयर इनका नाम विश्लेषणवादी परम्परा के पुरोगामियों के रूप में लेते हैं, न कि स्वयं विश्लेषणवादियों के रूप में।

पुस्तक का द्वितीय खंड प्रथम खंड की भांति अत्यन्त सूक्ष्म तथा मौलिक समालोचनाओं से भरा हुआ है, यद्यपि एयर की अपनी शैली सूक्ष्मता, उच्चस्तरीय गहनता तथा आलोचनात्मकता के बावजूद प्रतिपादन को दुरूह नहीं बनने देती। अधिकांशत: मूर के मतों का स्पष्टीकरण तथा विवरण अत्यन्त स्पष्ट है, परन्तु अधिकतर मतों का उल्लेख अति संक्षिप्त हुआ है, और एयर द्वारा प्रस्तुत टिप्पणी अथवा आलोचना इतनी गहन तथा संक्षिप्त है कि पूरी बात भली-भाँति समझ पाने के लिए मूर के दर्शन का अच्छा ज्ञान पहले से ही होना अपेक्षित हो जाता है। रसेल की भाँति मूर का विवेचन करते समय भी एयर उनके अधिकांश नैतिक सिद्धांतों को नहीं लेते हैं, यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि मूर के दर्शन में उनके नैतिक सिद्धांतों का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, जबकि रसेल के दर्शन के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी, मूर की नैतिक विचारधारा का विवेचन यहाँ नहीं करना इसलिए उचित माना गया है कि विश्लेषणवादी परंपरा के सदर्भ में वह विचारधारा उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखती है जितना अन्य विचारधाराएँ।

पुस्तक के इस खंड में चार अध्याय हैं : प्रत्ययवाद का खंडन, लोक-संज्ञान (कामनसेंस) की रक्षा; अमूर्त तत्त्वों सम्बन्धी मूर का मत, तथा विश्लेषण के परिणाम।

प्रथम अध्याय में पहला भाग मूर के जीवन तथा रचनाओं का एक अत्यन्त संक्षिप्त विवरण देता है। इसमें यह बताया गया है कि मूर किस प्रकार अपनी युवावस्था में दो वर्ष तक एक कट्टर धार्मिक

---

* *Ayer, A J. : Russell and Moore-An Analytical Heritage; Macmillan; 1971; P. 254.*

व्यक्ति बने रहने के बाद अज्ञेयवाद की ओर झुके और आजन्म एक अज्ञेयवादी ही बने रहे। यद्यपि मूर रसेल के विद्यार्थी थे किन्तु उनके विचारों ने रसेल को बहुत प्रभावित किया और उनके इस प्रभाव की स्वयं रसेल ने अनेक स्थानों पर उदारता से स्वीकार किया है। मूर के जीवनकाल में छप जाने वाली पुस्तकें केवल चार ही बताई गई हैं : ''प्रिन्सिपिया एथिका'', ''एथिक्स'', ''सम मेन प्रॉब्लम्स ऑफ फिलोसोफी'' तथा ''फिलोसोफिकल स्टडीज''। ''फिलोसोफिकल पेपर्स'' उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हो पाई और उनकी अन्य अपूर्ण कृतियों के संपादित रूप भी ''दि कोमनप्लेस बुक ऑफ जी.ई.मूर'' तथा ''लेक्चर्स इन फिलोसोफी'' नामों से उनकी मृत्यु के पश्चात ही प्रकाशित हुए। डॉ. शिल्प द्वारा सम्पादित ''दि फिलोसोफी ऑफ जी.ई. मूर'' में मूर ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा दी है और अपने आलोचकों को उत्तर दिये हैं। ये उत्तर मूर के दर्शन को समझने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इस अध्याय के द्वितीय भाग में एयर ने प्रत्ययवादी सिद्धान्त तथा ''संवेद्य ही अस्तित्वान् है'' की मूर द्वारा दी गई व्याख्याएं ली है। अपने प्रसिद्ध लेख ''दि रिफ्यूटेशन ऑफ आइडियलिज्म'' में मूर ने इस सिद्धान्त को प्रत्ययवाद का एक मात्र ऐसा सिद्धान्त माना है जो संसार के विषय में कोई बात कहता है। वस्तुतः, मूर इस सिद्धान्त का खंडन प्रस्तुत नहीं करते अपितु केवल यह सिद्ध करने का दावा करते हैं कि जिस आधार पर प्रत्ययवादी इस सिद्धान्त को स्थापित अथवा स्वीकार करते हैं वह आधार त्रुटिपूर्ण (वस्तुत: आत्म-विरोधी) है और, चूंकि इसके अलावा अन्य कोई आधार प्राप्य भी नहीं है इसलिए प्रत्ययवादी सिद्धान्त निराधार सिद्ध हो जाता है। अपनी दार्शनिक विधि के अनुसार, मूर इस सिद्धान्त पर कोई टिप्पणी देने से पहले इसके सभी संभव अर्थों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इन व्याख्याओं का विवरण एयर ने विस्तार से दिया है। संक्षेप में, मूर तीन मुख्य व्याख्याओं की चर्चा करते हैं। प्रथम व द्वितीय व्याख्याओं के आधार पर यह सिद्धान्त विश्लेषणात्मक हो जाता है : प्रथम के अनुसार ''संवेदित'' तथा ''अस्तित्ववान्'' समानर्थक हो जाते हैं और दूसरी के अनुसार ''संवेदित'' ''अस्तित्ववान्'' के अर्थ का अंश हो जाता है। इन दोनों ही व्याख्याओं को मूर सहीं नहीं मानते। क्योंकि वस्तुत: उनके अनुसार, मात्र शब्दों की सामानर्थकता बताना या उनके अर्थों का विश्लेषण करना प्रत्ययवादियों का ध्येय नहीं प्रतीत होता; इसके अलावा, इन व्याख्याओं पर उनका सिद्धान्त स्पष्टत: असत्य भी हो जाता है। मूर तीसरी व्याख्या को ही सही मानते हैं, जिसके अनुसार उक्त सिद्धान्त अस्तित्ववानता तथा प्रत्यक्षित होने के मध्य एक संश्लेषणात्मक अनिवार्य संबंध बताता है।

जैसाकि सुविदित है, इस अर्थ में समझे जाने पर प्रत्ययवादी सिद्धान्त की मूर द्वारा आलोचना केवल यह है कि चूंकि यह सिद्धान्त स्वयं सिद्ध प्रतीत नहीं होता, इसे मानने का एकमात्र कारण इस सिद्धान्त तथा एक-दूसरे सिद्धान्त, कि अस्तित्ववत्ता तथा संवेद्यता के मध्य एक विश्लेषणात्मक संबंध है, के बीच घपला होना है। यह दूसरा सिद्धान्त यदि सत्य है तो यह अनिवार्यत: सत्य होगा। क्योंकि यह ऐसी वस्तु की तार्किक असंभावना का कथन करता है जो किसी अनुभव का विषय नहीं है। परंतु मूर का विश्वास है कि प्रत्ययवादी सिद्धान्त उनकी तीसरी व्याख्या पर ऐसी तार्किक संभावना या असम्भावना की बात नहीं करता, क्योंकि उस व्याख्यानुसार वह एक संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति बन जाता है। परन्तु उस दशा में प्रत्ययवादी सिद्धान्त निराधार हो जाता है और मूर का दावा है कि उपर्युक्त दूसरे सिद्धान्त का, जिसके साथ प्रत्ययवादियों ने अपने वास्तविक सिद्धान्त का घपला किया है, वे खंडन कर सकते हैं। इस विषय में मूर द्वारा दी गई युक्ति का एयर ने तृतीय भाग में संक्षेप में उल्लेख किया है। इससे पूर्व वे मूर द्वारा बर्कले के उपर्युक्त प्रत्ययवादी सिद्धान्त की व्याख्या की आलोचना करते हैं।

एयर की आलोचना मुख्यत: यह है कि प्रत्ययवादी सिद्धान्त की मूर द्वारा दी गई व्याख्या भ्रान्तिपूर्ण है। एयर का विचार है कि वास्तव में बर्कले ने अपने सिद्धान्त को संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति के रूप में नहीं प्रस्तुत किया अपितु एक तर्कत: अनिवार्य सत्य के रूप में प्रस्तुत किया था, यद्यपि इसकी तार्किक अनिवार्यता उस प्रकार की नहीं है जिस प्रकार की मूर ने उल्लिखित की है। बर्कले के सिद्धांत की व्याख्या एयर तीन सोपानों में विकसित करते हैं। प्रथम सोपान में इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि कुछ पद ऐसे होते हैं कि उनका प्रयोग उनकी वाच्य कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में यह लागू करता है कि कुछ अनुभव किया गया। उदाहरणार्थ, यदि कोई स्वप्न देखा गया तो इससे यह भी सिद्ध हुआ कि कुछ (स्वप्न) अनुभव किया गया। यद्यपि यह सत्य है कि जब हम स्वप्न के घटित होने की बात करते हैं तो केवल इतना ही नहीं कहते कि एक अनुभव हुआ; अनुभव घटित होने के अलावा हमारे कथन में कुछ और भी सम्मिलित रहता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि 'कुछ और' तथा 'अनुभव' तो भिन्न तथ्य हैं और किसी बाह्य सम्बन्ध से मात्र जुड़े हुए हैं। लगता है, मूर ने "संवेदन" तथा संवेदन की विषयवस्तु को ऐसे ही किसी सम्बन्ध से जुड़े समझने की भूल की थी।

द्वितीय सोपान में यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि संवेद्य गुणों (पर्सेप्चुअल क्वालिटीज) को व्यक्त करने वाले पदों के अर्थ उसी प्रकार के होते हैं जिस प्रकार के उपर्युक्त प्रकार के पदों के होते हैं। अर्थात् संवेद्य गुणों का निदर्शन करने वाले पदों का सही प्रयोग भी किसी न किसी अनुभव का अस्तित्व लागू करता है। यहाँ पर बर्कले की यह आलोचना हो सकती है कि वस्तुत: संवेदन-विषयक पदों का साधारण प्रयोग इस प्रकार का नहीं होता है ; साधारण प्रयोग में ऐसे पदों का सही प्रयोग यह अनिवार्य रूप से लागू नहीं करता कि अनुभव की कोई घटना घटित हुई है। परन्तु एयर का यह विचार ठीक प्रतीत होता है कि वास्तव में बर्कले संवेदनात्मक गुणों को अभिव्यक्त करने वाले पदों के साधारण प्रयोग का स्पष्टीकरण नहीं कर रहे थे अपितु वे उन पदों के एक विशेष प्रयोग का आविष्कार कर रहे थे।

तृतीय सोपान में बर्कले का यह विचार आता है कि किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व तार्किक रूप से असंभव है जो न तो संवेद्य गुण है और न ऐसा द्रव्य जिसमें यह गुण अध्यस्त हो। द्रव्य के अस्तित्व के विरोध में बर्कले की आपत्तियाँ सुविदित हैं। अत: उनका निष्कर्ष यह है कि भौतिक वस्तुओं के विषय में हमारे कथनों में सत्यता-मूल्य केवल उस सीमा तक होता है जिस सीमा तक उनके स्थान पर संवेद्य गुणों के वाचक वाक्य रखे जा सकते हैं।

बर्कले के मत की उपर्युक्त व्याख्या देने के बाद एयर बताते हैं कि इस मत के विरूद्ध दो प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं : या तो हम यह दिखाने का प्रयत्न करें कि संवेद्य गुणों का जो प्रत्यय ऊपर प्रस्तुत किया गया है वह असंगत है या फिर यह सिद्ध करें कि वस्तुएँ मात्र संवेद्य गुणों से ही निर्मित नहीं है। मूर प्रथम प्रकार की आपत्ति उठाते हैं जिसका परीक्षण एयर गृथ के तृतीय भाग में करते हैं।

बर्कले के सिद्धान्त में आत्म-विरोध दिखाने के लिए मूर द्वारा दी गई युक्ति सुविदित है। युक्ति का सार यह है कि चेतना और चेतना का विषय (उदाहरणार्थ, नीलेपन की चेतना में नीलापन और उसकी चेतना) सदैव भिन्न होते हैं, क्योंकि विभिन्न विषयों की चेतना हमें होती है और इसलिए उन सभी में चेतना वही है, विषय भिन्न हो जाते हैं। चूंकि ये भिन्न हैं, अत: "नीलापन है" और 'नीलापन और चेतना है' (अथवा 'नीलेपन की चेतना है') कथन परस्पर समान हैं वदतोव्याघात होगा।

स्पष्ट है कि मूर यह मानकर चल रहे हैं कि चूंकि चेतना तथा उसका विषय नीलापन-भिन्न हैं अत: उनका एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप में अस्तित्व भी तर्कत: सम्भव होना चाहिए ; यदि उनका ऐसा अस्तित्व तर्कत: सम्भव नहीं है तो उनमें तादात्म्य-सम्बन्ध होना चाहिए। एयर की यह आपत्ति कि एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में यह मान्यता स्पष्ट रूप से असत्य है, बिल्कुल ठीक प्रतीत होती है। जहाँ भी सामान्य तथा विशिष्ट का सम्बन्ध है, हम तादात्म्य न पाते हुए भी स्वतंत्र अस्तित्व की असम्भावना पाते हैं। उदाहरण के लिए, वर्णयुक्त होना तथा नीला होना एक ही नहीं हैं, फिर भी नीलापन बिना वर्णयुक्तता के सम्भव नहीं, और वर्णयुक्तता बिना किसी विशिष्ट वर्ण के सम्भव नहीं। एयर की यह टिप्पणी भी पूर्णरूप से सही प्रतीत होती है कि मूर की युक्ति केवल तभी स्वीकार्य हो सकती है जब नीलेपन तथा चेतना के मध्य अंश तथा अंशी का सम्बन्ध माना जाय, क्योंकि अंशों अथवा अवयवों के स्वतंत्र अस्तित्व की तार्किक सम्भावना सदैव होती है। परन्तु यदि ऐसा माना जाय तो न केवल नीलेपन का, अपितु मात्र चेतना का भी स्वतंत्र अस्तित्व सम्भव हो जायगा। परन्तु मात्र चेतना के स्वतंत्र अस्तित्व को सम्भवत: मूर भी नहीं मानेंगे।

एयर ने मूर की उस युक्ति का भी उल्लेख किया है जिसमें वे यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि यदि हम 'नीलेपन' को 'नीलेपन की चेतना' की अन्तर्वस्तु (काटेंट) मानें तो भी इन दोनों का तादात्म्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि नीलापन नीलेपन की चेतना की पूर्ण अन्तर्वस्तु नहीं हो सकता ; और नीलेपन की चेतना की आंशिक अन्तर्वस्तु नीलापन होने के कारण यदि हम यह सकें कि वह चेतना स्वयं नीली है तो भी यह तथ्य उस चेतना के नीलेपन की चेतना होने के तथ्य से भिन्न है। एयर का विचार है कि, यहाँ भी मूर की युक्ति उनके निष्कर्ष को प्रमाणित नहीं करती। जिस अर्थ में हम नीलेपन को नीलेपन की चेतना की अन्तर्वस्तु मान सकते हैं वह वही है जिस अर्थ में उत्तेजना की संवेदना की अन्तर्वस्तु उत्तेजना मानी जा सकती है। वस्तुत: यहाँ भी सम्बन्ध जाति तथा उपजाति का ही प्रतीत होता है, यद्यपि एयर यह कहना अधिक उचित समझते हैं कि संवेदना अथवा चेतना की तथाकथित अन्तर्वस्तुएँ उन अनुभवों की सजातीय (कोग्नेट्स) हैं जिनमें वे समाविष्ट होती हैं। इसका एक निष्कर्ष यह होगा कि अनुभवों से अलग इन अन्तर्वस्तुओं का अस्तित्व सम्भव नहीं होगा। सजातीयता का यह सम्बन्ध कुछ उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। एक उदाहरण है स्वप्न का। स्पष्ट है कि हम स्वप्नों का अस्तित्व स्वप्न देखने की क्रिया से अलग नहीं मान सकते। अत: स्वप्न, स्वप्नानुभव के सजातीय माने जायेंगे। यहाँ पर एयर मूर के पक्ष में यह स्वीकार करते हैं कि रंगों के विषय में हम वास्तव में इस प्रकार बात नहीं करते जिस प्रकार हम स्वप्नों के बारे में करते हैं। एयर कहते हैं कि यह सत्य है कि साधारणत: हम रंगों को विषयों के गुणों के रूप में मानते हैं। परन्तु उनका मत है कि यहाँ पर मुख्य विषय रंगों से सम्बन्धित हमारे साधारण प्रत्ययों का विवरण नहीं है अपितु यह देखना है कि रंग-वाचक शब्दों के लिए बर्कले द्वारा प्रस्तावित प्रयोग में कोई तार्किक दोष है अथवा नहीं।एयर का मत है कि इस विषय पर मूर की युक्तियाँ युक्तियुक्त नहीं है।

वस्तुत: मूर दो विरोधी विचारों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। ये विरोधी विचार हैं : एक तो बर्कले का सिद्धान्त-कि प्रत्यक्षगत गुण अनुभवों के सजातीय हैं, और दूसरा इसका विरोधी सिद्धान्त, कि ये गुण विषयों के गुण है। सामंजस्य के लिए मूर अपना प्रसिद्ध इन्द्रिय प्रदत्तों (सेंस डेटा) का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। इन्द्रिय-प्रदत्त सामान्यत: स्वीकृत भौतिक विषयों तथा प्रत्यय-वादियों के मानसिक विषयों के बीच की श्रेणी में आते है। ये अनुभवों के सजातीय हैं, पर अनुभवों के

विषय भी है। अत: इनको रंग आदि गुणों का आधार मानकर मूर इन गुणों को अनुभवों के सजातीय मानने के साथ-साथ विषयों के विशेषणों के रूप में भी मान पाते हैं। परन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि मूर यह स्पष्ट नहीं करते कि इन्द्रिय-प्रदत्त संवेदित हुए बिना अस्तित्वान् हो सकते हैं या नहीं, और इस स्पष्टीकरण के अभाव में यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त विचारों में सामंजस्य स्थापित करने का मूर का प्रयत्न कहाँ तक सफल है।

बर्कले के सिद्धान्त के विरूद्ध मूर की अन्तिम युक्ति यह है कि सभी अनुभवों में एक सामान्य तत्त्व चेतना का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध ऐसा है कि इसका विषय उस अवस्था में जब हमें उसकी चेतना है, सदैव पूर्णत: उसी प्रकार का होता है जैसा वह उस अवस्था में होता है जब हमें उसकी चेतना नहीं होती है। मूर का कथन है कि कोई भौतिक वस्तु हमारी चेतना से ठीक उसी प्रकार सम्बद्ध है जिस प्रकार वह चेतना स्वयं हमारी चेतना से। अत: एक के अस्तित्व की चेतना दूसरे के अस्तित्व की चेतना के पूर्णत: समान है और यदि हम यह कह सकते हैं कि हमारे कुछ अनुभव ऐसे हो सकते हैं जिनके अस्तित्व का भान हमें नहीं है, तो हम यह भी कह सकते हैं कि भौतिक पदार्थ, मेज आदि, हमारे अनुभवगत हुए बिना भी अस्तित्ववान् हो सकते हैं।

इस युक्ति के विरूद्ध सर्वप्रथम यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मेज जैसे भौतिक पदार्थ की अव्यवहित चेतना की स्वीकृति मूर के इस सिद्धान्त की स्पष्ट विरोधी है कि अव्यवहित चेतना केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों की ही हो सकती है। परन्तु एयर इस आपत्ति को उचित नहीं मानते, क्योंकि मूर इस विषय पर कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं करते कि इन्द्रिय-प्रदत्त भौतिक वस्तुओं के ही कोई पक्ष अथवा अंश हैं अथवा नहीं। जिस आपत्ति को एयर यहाँ पर उचित मानते हैं वह यह है कि मूर की यह युक्ति उनको न केवल 'सिरदर्द' आदि घटनाओं को विषयी-निरपेक्ष मानने को बाध्य करती है अपितु हर प्रकार की अमूर्त्त वस्तु का अस्तित्व भी मानने को बाध्य करती है। इस प्रकार का यथार्थवाद मूर के दर्शन से असंगत है, क्योंकि अपने कुछ लेखों में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि इस तथ्य से कि, कोई वस्तु चिन्तन की विषय है, यह लागू नहीं होता कि वह अस्तित्वान् भी है।[1] मूर दो प्रतिज्ञप्तियों 'शेरों का शिकार होता हैं' तथा 'शश-श्रृंग' का विचार किया जाता है' में भेद करते हुए बताते हैं कि प्रथम प्रतिज्ञप्ति से तो यह लागू होता है कि शेरों का अस्तित्व है, परन्तु दूसरी प्रतिज्ञप्ति से यह लागू नहीं होता कि शश-श्रृंग का अस्तित्व है। एयर मूर के इस सामान्य भेद को स्वीकार करते हैं कि कुछ प्रतिज्ञप्तियों से उनके विषय का अस्तित्व लागू होता है जबकि कुछ अन्य प्रतिज्ञप्तियों के साथ यह स्थिति नहीं है।

मूर के इन्द्रिय-प्रदत्तों के सिद्धान्त की विशेषता यह है कि ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों के वाचक विधेयों की अनेकार्थता इसमें समन्वित हो जाती है। अर्थात्, इन विधेयों के प्रयोग से यद्यपि अधिकांशत: यह अनुमान किया जा सकता है कि इनके वाच्य संवेदित अथवा प्रत्यक्ष विषयों का अस्तित्व भी है फिर भी कुछ अवस्थाओं में ऐसा अनुमान गलत होगा, उदाहरणार्थ, भ्रम अथवा विभ्रम में। इन अवस्थाओं में हम यह कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति एक अवास्तविक वस्तु देखता है। इन्द्रिय-प्रदत्तों को मानने से मूर, यह बिना माने हुए भी कि प्रत्यक्षों के विषय सदैव प्रत्यक्षों से स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं, यह मान पाते हैं कि प्रत्येक प्रत्यक्ष का एक अस्तित्ववान् विषय होता है।[2] अनुभव तथा विषय के परस्पर सम्बन्ध को लेकर मूर के प्रतिपादनों में एक मौलिक अन्तर्विरोध दिखाई देता है : एक ओर तो वे कहते हैं कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है और इन विषयों का अनुभव से वही सम्बन्ध होता है जो मेरे अनुभव का उस

अनुभव की चेतना से होता है, और इससे वे वह निष्कर्ष निकालते हैं कि भौतिक विषयों और अनुभव दोनों का उनसे सम्बन्धित हमारी चेतना से स्वतंत्र अस्तित्व होता है, और दूसरी ओर वे यह भी प्रतिपादित करते हैं कि प्रत्यक्ष का सीधा विषय सदैव इन्द्रिय-प्रदत्त ही होता है और इस प्रदत्त का अनुभवों से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता।

वस्तुत: इन सभी समस्याओं के मूल में एक ही समस्या है, वह है इन्द्रिय-प्रदत्तों की तार्किक स्थिति निर्धारित करना, जिसमें उनके तथा भौतिक वस्तुओं के सम्बंध का प्रश्न प्रधान है। जबतक इस प्रश्न का निश्चित उत्तर मूर के दर्शन में नहीं मिलता, यह समझना कठिन है कि प्रत्ययवाद तथा प्रकृत यथार्थवाद (नाइव रियलिज्म) के बीच मूर की स्थिति वास्तव में कहाँ है।

चतुर्थ भाग में आन्तरिक सम्बन्धों के प्रत्ययवादी सिद्धान्त की मूर द्वारा की गई आलोचना पर विचार किया गया है। एयर इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि केवल इस सिद्धान्त से कि किन्हीं भी दो अथवा अधिक वस्तुओं के मध्य वास्तविक सम्बन्ध उन वस्तुओं के स्वरूप का घटक होता है, यह अनिवार्यत: लागू नहीं होता कि विशिष्ट वस्तु सत् (रियलिटी) का आंशिक तथा मिथ्या मूर्त्तीकरण है। इस निष्कर्ष को निकालने के लिए एक और प्रतिज्ञप्ति जोड़नी पड़ेगी कि किसी भी प्रतिज्ञप्ति में जो कुछ स्पष्टत: कथन नहीं किया गया है उसका उसमें परोक्षत: निषेध किया गया है। एयर की मान्यता है कि बिना इस सिद्धान को जोड़े, प्रथम सिद्धान्त (आन्तरिक सम्बन्धों का सिद्धान्त) केवल यह लागू करेगा कि जब भी हम किसी विशेष वस्तु का निदर्शन करते हैं तो परोक्ष रूप से संसार की अन्य सभी अस्तित्ववान् वस्तुओं का भी निदर्शन करते हैं, यदि हम ये दोनों बातें मान लें कि संसार की प्रत्येक वस्तु प्रत्येक दूसरी वस्तु से किसी न किसी सम्बन्ध द्वारा सम्बन्धित है तथा प्रत्येक सम्बन्ध सम्बन्धित वस्तुओं के लिए आन्तरिक होता है,। परन्तु एयर का यह विचार थोड़ा भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि यदि हम ये दोनों बातें मान लें कि संसार की सभी वस्तुयें किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं तथा प्रत्येक सम्बन्ध सम्बन्धित वस्तुओं के लिए आंतरिक होता है ,तो यह अवश्य लागू होगा कि संसार की सभी वस्तुओं के मध्य अनिवार्य तार्किक सम्बन्ध है, अर्थात् कि वे तार्किक अन्योन्याश्रितता का सम्बन्ध रखते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि किसी भी वस्तु के प्रत्यय अथवा परिभाषा में संसार की अन्य सभी वस्तुओं का उल्लेख अवश्य होगा। परन्तु जब हम किसी वस्तु की ओर निर्देश करते हैं तब हमारे कथन में वह सभी कुछ सम्मिलित माना जायगा या नहीं जो कुछ वस्तु की परिभाषा में सम्मिलित है, यह विवादस्पद है। किसी वस्तु की ओर निर्देश करने के तथ्य से सम्बद्ध अभिधारणाओं के आधार पर यह लागू होता है कि उन सभी वस्तुओं का अस्तित्व है जिनसे वह वस्तु सम्बन्धित है। परन्तु उन वस्तुओं के अस्तित्व का कथन भी परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से प्रथम वस्तु के निदर्शन में किया जा रहा है, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवत: एयर यह मानकर चल रहे हैं कि किसी भी प्रतिज्ञप्ति की अन्तर्वस्तु (कांटेंट) में उसके सभी तार्किक निष्कर्ष भी परोक्ष रूप से सम्मिलित माने जाने चाहियें। यह सिद्धान्त अधिकांशत: तार्किक प्रत्यक्षवादी (लोजीकल पोजिटिविस्ट्स) मानते हैं और एयर भी अपने तार्किक प्रत्ययवादी-काल में यह मानते थे। परन्तु अभी तक इस विषय पर विवाद समाप्त नहीं हुआ है और इस प्रकार एयर अपने उपरोक्त मत में अत्यन्त समस्यात्मक विचार का पूर्वाग्रह कर लेते हैं।

एयर आन्तरिक सम्बन्धों के सिद्धान्त के विरुद्ध मूर की युक्ति का एक संक्षिप्त विवरण देते हैं। मूर ने इस सिद्धान्त की दो सम्भव व्याख्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। एक व्याख्या के अनुसार, यदि किसी वस्तु 'अ' में कोई सम्बन्धात्मक गुण 'र' है तो कोई भी वस्तु 'ब', जिसमें गुण 'र' नहीं है, 'अ' से गुणात्मक रूप से भिन्न होगी। दूसरी व्याख्या के अनुसार, 'अ' तथा 'ब' में केवल मात्रात्मक भिन्नता मानी जायगी। इस दूसरी व्याख्या के आधार पर आन्तरिक सम्बन्धों का सिद्धान्त प्रथम व्याख्या के सिद्धान्त की अपेक्षा निर्बल होगा और इसी लिए मूर इस निर्बल सिद्धान्त की आलोचना अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से करते हैं। क्योंकि उनका विचार है कि यदि क्षीण-सिद्धान्त खण्डित हो जाय तो सबल सिद्धान्त की सत्यता का प्रश्न ही नहीं उठता है। आलोचना में मुख्य बात यह है कि प्रत्ययवादी 'प अनुलग्न करता है (एंटेल्ज) कि (यदि फ तो ब)' प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों तथा 'यदि प तो' (फ अनुलग्न करता है कि व)' प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों में व्यामिश्र (कन्फ्यूजन) करते हैं। यह कहना सत्य है कि किसी वस्तु 'अ' में किसी आन्तरिक सम्बन्धात्मक गुण 'प' का होना यह अनुलग्न करता है कि यदि किसी वस्तु 'य' में 'प' नहीं है तो 'य' तथा 'अ' में तादात्म्य नहीं है। परन्तु यह असत्य है कि यदि 'अ' में 'प' (आन्तरिक सम्बन्ध-गुण) है, तो किसी वस्तु 'य' में 'प' का अभाव यह अनुलग्न करेगा कि 'य' तथा 'अ' में तादात्म्य नहीं है।

एयर मूर की युक्ति को वैध मानते हैं, परन्तु उनके समाधान को वे पूर्ण नहीं मानते। उनका कहना है कि मूर इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते कि कोई गुण किसी विशेष वस्तु के लिए आन्तरिक है या नहीं, यह निरपेक्ष रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता। यह सदैव इस बात पर निर्भर करेगा कि उस वस्तु का किस प्रकार से वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, स्कॉट का यह आन्तरिक गुण नहीं है कि वह 'वेवर्ली' का रचयिता हो, परन्तु यदि हम स्कॉट का विवरण 'वेवर्ली' के रचनाकार के रूप में ही दें तो निश्चय ही यह गुण स्कॉट का आन्तरिक गुण माना जायगा। एयर के सिद्धान्त को सामान्य रूप से हम इस प्रकार रख सकते हैं कि, कोई गुण 'प' किसी भी वस्तु 'य' के लिए आन्तरिक है अथवा नहीं, यह प्रश्न इस बात पर निर्भर करता है कि 'य' को किसी ऐसे दूसरे विवरण से भी पहचाना अथवा वर्णित किया जा सकता है या नहीं जो 'य' में 'प' के निषेध के साथ संगत हो। यदि गुण की आन्तरिकता का यह मापदण्ड हम मानें तो वास्तव में किसी भी विशिष्ट वस्तु में किसी भी गुण की आन्तरिकता मानना असम्भव होगा। क्योंकि हर विशिष्ट वस्तु के लिए ऐसे वैकल्पिक विवरण ढूँढ़ना सम्भव होगा जो उस वस्तु में विचाराधीन गुण के अभाव के कथन के साथ सुसंगत हों।

एयर स्पष्ट करते हैं कि उनके इस कथन का, कि किसी भी विशिष्ट वस्तु में कोई गुण आन्तरिक नहीं होता, अर्थ यह नहीं है कि हम उस वस्तु की अभिन्नता (आइडेंटिटी) बनाए रखते हुए भी उस वस्तु पर जो चाहें आरोपित अथवा उससे निषिद्ध कर सकते हैं। क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ होगा गुण-विहीन, मात्र विशिष्ट का अस्तित्व, जिसे एयर सर्वथा अमान्य मानते हैं। एयर का तात्पर्य है कि किसी भी वस्तु के यथातथ्य गुणों के सम्भावित निषेधों की भी एक सीमा है। उदाहरणार्थ, हम सामने रखी पुस्तक के लिए यह कह सकते हैं कि यह पुस्तक इस समय इस स्थान पर, जहाँ वह वस्तुत: है, न होकर अन्यत्र हो सकती थी। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि 'यह वस्तु (जो वस्तुत: पुस्तक है) पुस्तक न होकर कुछ अन्य वस्तु हो सकती है,' जिससे हमारा अर्थ यह होगा कि जिस सामग्री से पुस्तक बनी है उसी से दूसरी कोई वस्तु (उदाहरणार्थ, नोट बुक) बन सकती थी। परन्तु एयर यह कहेंगे कि हम यह

नहीं कह सकते कि यह वस्तु जिराफ़ हो सकती थी। ऐसा हम क्यों नहीं कह सकते, किस सीमा तक नहीं कह सकते, आदि प्रश्नों की कठिनाई एयर स्वीकार करते हैं, और उनका मत है कि इन प्रश्नों के निश्चित उत्तर प्राप्य भी नहीं हैं। परन्तु यहाँ एयर के तर्क में एक त्रुटि प्रतीत होती है। सम्भवत: एयर का मुख्य विचार, जो सही प्रतीत होता है, यह है कि यद्यपि हम किसी विशिष्ट वस्तु के हर यथातथ्य गुण का अलग-अलग अथवा समूहों में, उस वस्तु में अभाव संगत रूप से मान सकते हैं फिर भी उन सभी गुणों का एक साथ अभाव नहीं मान सकते, क्योंकि तब हम किसी भी प्रकार उस वस्तु की पहचान नहीं कर रहे होंगे जिसमें अमुक गुणों का अभाव बताया जा रहा है। पुस्तक के उदाहरण में भी, हम यह कह सकते हैं कि 'यह जिराफ हो सकता था' यदि यहाँ 'वह' का अर्थ हो-'वह वस्तु जो इस स्थान व समय मे अवस्थित हो सके।' उस अवस्था में हमारे वाक्य का अर्थ यह होगा कि "इस स्थान व समय पर एक जिराफ उपस्थित हो सकता था" और यह कथन अपने-आप में पूर्णत: संगत है। इस प्रकार इस विषय को समझने पर वे समस्याएँ नहीं उठती जिनका उल्लेख एयर ने किया है और जिनका समाधान वे असम्भव मानते हैं।

पुस्तक का सातवां अध्याय (द्वितीय खण्ड का द्वितीय अध्याय) लोक-बुद्धि के समर्थन में है। इस अध्याय के तीन भाग हैं जिनमें प्रथम का शीर्षक है : "लोक-बुद्धि में संसार-विषयक धारणा" जिसमें एयर इस बात का संक्षिप्त विवरण देते हैं कि मूर साधारण मनुष्य की संसार-विषयक धारणाओं में किस प्रकार के विश्वासों को सम्मिलित मानते हैं। यह भाग मुख्य रूप से वर्णनात्मक है, आलोचना यदि कहीं-कहीं मिलती है तो वह अत्यन्त संक्षिप्त तथा अपेक्षाकृत गौण है। विवरण भी अत्यन्त छोटा है। मूर के मतानुसार संसार के विषय में साधारण मनुष्य सामान्यत: तीन विश्वास रखता है :-

(1) संसार में असंख्य भौतिक वस्तुएँ हैं।

(2) मन का अस्तित्व है।

(3) हम यह जानते हैं कि भौतिक वस्तुओं तथा चेतन प्रक्रियाओं का अस्तित्व है।

'भौतिक वस्तुओं' से क्या तात्पर्य है, यह उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। उदाहरणों में मनुष्य, शरीर, पशु, वनस्पति, पर्वत, पानी, खनिज-पदार्थ आदि सम्मिलित हैं। भौतिक पदार्थों को साधारण व्यक्ति किसी न किसी निश्चित देश तथा काल में मानता है, और उन्हें मन, चेतना तथा किसी भी प्रकार के संवेद-प्रदत्त से भिन्न मानता है। मूर न तो भौतिक पदार्थ की और न ही चेतन प्रक्रियाओं अथवा मन की कोई सीधी परिभाषा देते हैं; उन्हें केवल उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। मूर की रचनाओं में इस बात का संकेत है कि चेतन क्रियाओं के उदाहरण सुनना, देखना, स्मृति, चिन्तन आदि हैं। मूर इन प्रक्रियाओं को, लोक-बुद्धि के अनुसार, न केवल काल में अवस्थित मानते हैं, अपितु देश में भी अवस्थित मानते हैं। क्योंकि उनके विचार से, सामान्य व्यक्ति यह समझता है कि मानसिक प्रक्रियाएँ उस स्थान पर घटित होती हैं जहाँ हमारा शरीर अवस्थित होता हैं। मूर इस मान्यता को भी साधारण विश्वास का एक अंग मानते हैं कि मानसिक प्रक्रियाएँ संबद्ध शरीरों पर निर्भर करती हैं। लोक-बुद्धि के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ पर कोई न कोई चेतन-क्रिया इस प्रकार आश्रित हो; सामान्य व्यक्ति ऐसे पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करता है जिनसे कोई चेतन-क्रिया सम्बद्ध नहीं है और वह यह भी स्वीकार करता है कि भौतिक वस्तु उस समय भी अस्तित्ववान् होती है जब हमें उसकी कोई चेतना न हो।

उपर्युक्त तीन प्रकार के सामान्यत: स्वीकृत विश्वासों का लेखा देने के पश्चात् एयर कुछ दूसरे विश्वासों, उदाहरणार्थ, ईश्वर के अस्तित्व, अमूर्त्त वस्तुओं, अंकों आदि के अस्तित्व, का उल्लेख करते हैं। सामान्य व्यक्ति इन विश्वासों को मानता है या नहीं, इस विषय में मूर सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं देते हैं। मूर के मतानुसार, ईश्वर-अस्तित्व के विश्वास को साधारण व्यक्ति का विश्वास मानना अनुचित होगा, क्योंकि आधुनिक काल में बहुत से साधारण व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता में सन्देह करने लगे हैं। वस्तुत:, मूर का विचार यह है कि भौतिक पदार्थों तथा चेतन क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य किन वस्तुओं का अस्तित्व है, या हो सकता है, इस प्रश्न को साधारण व्यक्ति अनिश्चित ही छोड़ देता है।

साधारण व्यक्ति की संसार-सम्बन्धी धारणाओं का मूर द्वारा प्रस्तुत विवरण समझने के पश्चात् एयर उन प्रतिज्ञप्तियों का विवरण देते हैं जिनकी सत्यता के ज्ञान का दावा मूर द्वारा किया गया है। ये प्रतिज्ञप्तियाँ मूर के प्रसिद्ध लेख 'ए डिफेन्स ऑफ कौमनसेन्स' में उल्लिखित हैं। उन प्रतिज्ञप्तियों का उल्लेख करने का महत्त्व यह है कि यदि वास्तव में हम इन्हें सत्य जानते हैं तो यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि संसार में दो प्रकार की वस्तुएँ हैं : भौतिक पदार्थ तथा चेतन क्रियाएँ। और यदि यह सिद्ध हो जाता है तो जड़वाद तथा प्रत्ययवाद दोनों का खण्डन भी हो जाता है।

इस अध्याय के द्वितीय भाग में बाह्य संसार के लिए मूर द्वारा दी गई युक्तियों की विवेचना की गई है। भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व तथा उनके अस्तित्व के ज्ञान के पक्ष में मूर ने तीन मुख्य युक्तियाँ दी हैं। प्रथम युक्ति यह है कि, यदि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि कोई भी दार्शनिक यह नहीं मान सकता कि इन वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि स्वयं दार्शनिक भौतिक वस्तुएँ हैं। अर्थात् दार्शनिकों के द्वारा किसी भी मत का प्रतिपादित करना यह लागू करेगा कि दार्शनिकों का अस्तित्व है, और चूँकि दार्शनिक (सशरीर व्यक्तियों के रूप में) स्वयं भौतिक पदार्थ हैं, इसलिए भौतिक पदार्थों का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। अत: यदि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है तो दार्शनिकों द्वारा उनके अनस्तित्व की स्थापना भी असम्भव होगी।

मूर की दूसरी युक्ति प्रथम युक्ति की भाँति निषेधात्मक है। यह युक्ति उन दार्शनिकों के विरुद्ध है जो भौतिक वस्तुओं का तो खण्डन नहीं करते, परन्तु उनके ज्ञान का खण्डन करते हैं। यहाँ मूर दिखाना चाहते हैं कि इन दार्शनिकों का मत आत्मविरोधी है। मूर इस मत को इस प्रकार रखते हैं : हम में से प्रत्येक को अपने विषय में यह ज्ञान है कि उसे किसी विशेष प्रकार के अनुभव हो रहे हैं, या हो रहे थे। परन्तु हम में से कोई भी यह निश्चित रूप से नहीं जानता है कि भौतिक वस्तुएं अथवा अन्य व्यक्ति हैं या नहीं। मूर के मतानुसार, "हम में से प्रत्येक" पद का अर्थ स्वयं लागू करता है कि वक्ता के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति हैं, और इससे यह लागू होता है कि मनुष्य शरीर है। चूँकि मनुष्य-शरीर भौतिक वस्तुएँ हैं, इसलिए उपर्युक्त मत आत्मविरोधी हो जाता है।

एयर मूर की इस युक्ति को दोषपूर्ण मानते हैं। क्योंकि उनके विचार से भौतिक वस्तुओं के ज्ञान को असम्भव मानने वाले दार्शनिकों की स्थिति मूर ने जिस प्रकार प्रस्तुत की है वह उसी प्रकार प्रस्तुत की जाय, यह अनिवार्य नहीं है। वस्तुत: जिस तरह मूर ने विरोधी दार्शनिकों का मत प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त कमजोर है। विरोधी दार्शनिक अपने मत को अधिक उपयुक्त ढंग से इस प्रकार रख सकते हैं : "मुझे ज्ञात है कि मुझे अनुभव होते हैं। मुझे यह ज्ञात नहीं है कि अन्य व्यक्तियों का भी अस्तित्व है जिन्हें अनुभव होते हैं ; परन्तु यदि, जैसाकि मुझे विश्वास है, ऐसे व्यक्ति हैं, तो उनमें से प्रत्येक ठीक उसी प्रकार

की स्थिति में है जिस प्रकार की स्थिति में मैं हूँ, क्योंकि वह ज्ञान केवल अपने अनुभवों को प्राप्त कर सकता है; अपने से अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व में वह केवल विश्वास मात्र कर सकता है।" (पृ. 169) स्पष्ट है कि वास्तव में विचाराधीन मत का आशय यही है, न कि वह जो मूर ने प्रस्तुत किया है और इस आशय में यह मत मूर की आपत्तियों से प्रभावित नहीं होता।

मूर की तीसरी युक्ति निषेधात्मक नहीं है; यह भौतिक पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए विधानात्मक युक्ति है। मूर की यह युक्ति बहुत प्रसिद्ध है और उनके प्रसिद्ध लेख "प्रूफ ऑफ एन एक्स्टर्नल वर्ल्ड" में दी गई है। युक्ति केवल इतनी है कि अपने हाथों को उठाकर उनको इंगित करके हम हाथों का अस्तित्व सिद्ध कर देते हैं,और चूंकि हमारे हाथ भौतिक वस्तुएं हैं, हम अपने हाथों को प्रस्तुत करके कम से कम कुछ भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध कर देते हैं। इसी प्रकार मूर अन्य युक्तियों को प्रस्तुत कर सकने का दावा करते हैं जो भूतकाल की भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध करती हैं। एक युक्ति जो वे देते हैं वह यह है कि "मैं यह कह सकता हूँ कि थोड़ी ही देर पहले मैंने दो हाथ इस डेस्क के ऊपर उठाये थे; अत: अतीत में किसी समय कम से कम दो बाह्य (भौतिक) विषय अस्तित्ववान् थे।" इस प्रकार मूर विभिन्न विशिष्ट भौतिक वस्तुओं के लिए विभिन्न वैध-युक्तियों की संभावना मानते हैं। मूर यह भी स्वीकार करते हैं कि "मैं अपने हाथ उठाये हूँ" प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता सिद्ध करने के लिए यह सिद्ध करना पड़ेगा कि मैं इस समय स्वप्न नहीं देख रहा हूँ। और यह सिद्ध करना शायद असम्भव है। अत: इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता सिद्ध तो नहीं की जा सकती, फिर भी इसके लिए हमारे पास पूर्णत: निश्चयात्मक प्रमाण हैं। मूर इस बात पर बल देते हैं कि यदि किसी प्रतिज्ञप्ति को हम सिद्ध नहीं कर सकते हैं तो यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि हमें उस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का ज्ञान भी नहीं है।

मूर अपनी युक्ति को इससे आगे नहीं बढ़ाते हैं। एयर, उचित ही, यह बताते हैं कि वस्तुत: मूर की युक्तियों में उनके आधार-वाक्य प्रत्यक्ष अथवा स्मृति पर आधारित हैं और प्रत्यक्ष तथा स्मृति की प्रामाणिकता की विवेचना मूर की युक्तियों के लिए अनिवार्य है। वास्तव में, मुख्य समस्या यही निश्चित करना है कि स्मृति ज्ञान के विश्वसनीय प्रमाण के रूप में मानी जा सकती है या नहीं, और जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण है वहाँ संवेदनों से परे भौतिक वस्तु का अस्तित्व मानना कहाँ तक उचित अथवा प्रामाणिक हैं। जब मूर यह कहते हैं कि यह एक हाथ है, तो स्वयं इस कथन की प्रत्ययवादी व्याख्या हो सकती है। मुख्य समस्या यह दिखाना है कि ऐसे अवसरों पर हमें न केवल कुछ संवेदनों का ज्ञान हो रहा है, अपितु एक भौतिक वस्तु का भी ज्ञान हो रहा है। मूर की युक्ति इस प्रश्न का उत्तर नहीं देती।

जैसाकि एयर बताते हैं, मूर स्वयं यह मानते हैं कि जब भी हम यह विश्वास करते हैं कि हमें किसी भौतिक वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है, तो वस्तुत: हमें कुछ संवेद्य-प्रदत्तों का अनुभव होता है, और संवेद्य-प्रदत्तों का अनुभव भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व लागू नहीं करता। स्मृति के विषय में मूर का मत इससे भिन्न है। मूर स्मृति को अव्यवहित ज्ञान मानते हैं, जबकि रसेल स्मृति को अनिवार्य रूप से व्यवहित मानते हैं, फिर भी, मूर तथा रसेल दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि दूसरों के अनुभव अथवा भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व का ज्ञान सदैव व्यवहित ही होता है, अव्यवहित नहीं। परन्तु इस सहमति के होते हुए भी दोनों दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। मूर उपर्युक्त सहमति के बावजूद यह दावा करते हैं कि ऐसे अवसर होते हैं जब हम यह पूर्ण निश्चयात्मकता से जानते हैं कि कुछ अन्य व्यक्तियों को किसी

प्रकार का अनुभव हो रहा है और कुछ भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है। परन्तु तब प्रश्न यह उठता है कि उन अनुभवों, जिनके आधार पर अन्य व्यक्तियों के अनुभवों तथा भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व पूर्ण निश्चितता से ज्ञात हो जाता है, तथा अन्य अनुभवों, जिनके आधार पर उपर्युक्त ज्ञान निश्चयात्मकता नहीं पाता, में भेद क्या है ? प्रथम प्रकार के अनुभवों में कुछ ऐसी विशेषता होनी चाहिए जो दूसरे प्रकार के अनुभवों में नहीं हो और जिसके कारण ये अनुभव भौतिक संसार के हमारे ज्ञान के निश्चित आधार बन जाते हैं। मूर के दर्शन में इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता है।

मूर के मत के विरुद्ध एक और सुविदित आपत्ति यह है कि यह सदैव सम्भव है कि हमारी संवेदनाएँ अथवा प्रत्यक्ष, जिनके आधार पर हम भौतिक वस्तु की सत्ता मानते हैं, स्वप्न मात्र हों। अत: जिन स्थितियों में मूर वर्तमान संवेदनों को भौतिक वस्तु के अस्तित्व को असंदिग्ध प्रमाण मानते हैं, वे स्वप्न मात्र नहीं हैं, यह सिद्ध करना मूर के लिए अति आवश्यक हो जाता है। मूर इस समस्या पर विचार करते हैं। इस आपत्ति के उत्तर में मूर की युक्ति इस प्रकार है : आपत्ति उठाने वाले कम से कम यह मानेंगे कि "हमारे अनुभवों में से कम से कम कुछ ऐसे हैं कि वे स्वप्नों मे घटित होने वाली स्वप्न-प्रतिमाओं के समान हैं।" परन्तु इससे यह लागू होता है कि हम जानते हैं कि स्वप्न घटित हो चुके हैं, और यह तबतक नहीं जाना जा सकता, जबतक हम यह नहीं जानें कि हम इस समय स्वप्नावस्था में नहीं हैं।

मूर के इस उत्तर की एयर द्वारा दी गई आलोचना बहुत महत्त्वपूर्ण तथा उपयुक्त हैं। एयर का विचार है कि इस युक्ति से मूर अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सके हैं, क्योंकि मूर के विरोधियों के लिए स्वप्नों की वास्तविक घटना स्वीकार करना बिलकुल भी आवश्यक नहीं है। उनके लिए केवल यह स्वीकारना आवश्यक है कि हमारे किसी भी अनुभव का वास्तविक न होकर स्वप्नानुभव मात्र होना तार्किक रूप से सम्भव है, अर्थात्, यह तर्कत: सम्भव है कि वे प्रत्यक्ष जिनके आधार पर मूर भौतिक पदार्थों का अस्तित्व स्थापित करना चाहते हैं, कुछ स्वप्न-प्रतिमाओं के पूर्णत: समान हैं। और इस बात को मानने के लिए स्वप्न को प्रत्यय मात्र समझना पर्याप्त है, स्वप्नों की वास्तविकता की यहाँ आवश्यकता नहीं है। चूँकि मूर तार्किक सम्भावना का कथन करने वाला उपर्युक्त कथन स्वयं स्वीकार करते हैं इसलिए मूल समस्या वस्तुत: ज्यों की त्यों बनी रहती है।

तृतीय भाग में एयर मूर के उपर्युक्त मत के उन निष्कर्षों की विवेचना करते हैं जो दर्शन के स्वरूप के लिए प्रासंगिक हैं। एयर का विचार है कि सामान्य बुद्धि द्वारा स्वीकृत विश्वासों का पक्ष लेते समय मूर अप्रत्यक्ष रूप से एक युक्ति का सहारा ले रहे थे। युक्ति इस प्रकार है : हमें, कुछ ऐसी संवेदनाएँ तथा प्रत्यक्ष होते हैं जिनके आधार पर हम बिना संदेह के कुछ भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व मान लेते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि ये अनुभव भौतिक पदार्थ के अस्तित्व का कथन करने वाले वाक्यों को सिद्ध करने के लिए कहाँ तक समर्थ हैं। परन्तु इन वाक्यों के अर्थ में ही यह निहित है कि उनके द्वारा अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता उल्लिखित प्रकार के अनुभवों द्वारा स्थापित हो जाती है। अत: उन अनुभवों को स्वीकार करते हुए भी तदनुरूप प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता स्वीकार न करना भाषा के नियमों का उल्लंघन करता है। संक्षेप में, हर विशिष्ट प्रतिज्ञप्ति, जो किसी भौतिक वस्तु के अस्तित्व का कथन करती है, की सत्यता, असत्यता निर्धारित करने के लिए भाषा कुछ मापदण्ड प्रदान करती है। वे मापदण्ड किसी विशेष स्थिति में सन्तुष्ट किए जाते है या नहीं, यह निश्चित करना दर्शनशास्त्र का कार्य नहीं है अपितु आनुभाविक निरीक्षण का कार्य है।

एयर बताते हैं कि इस युक्ति को और भी सामान्य रूप दिया जा सकता है क्योंकि वाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता निर्धारित करने के निश्चित मापदण्ड न केवल साधारण भाषा में, अपितु तकनीकी विज्ञानों में भी दिए जाते हैं। यह दूसरा प्रश्न है कि यह मापदण्ड अनुभवात्मक है या नहीं। परन्तु हर दशा में, किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता असत्यता के निर्धारण का प्रश्न प्रासंगिक मापदण्डों की सन्तुष्टि का प्रश्न होगा, और यह प्रश्न दार्शनिक प्रश्न नहीं है। परन्तु यदि ऐसा है, तो प्रश्न उठता है कि दर्शनशास्त्र का कार्य क्या है ? तब दर्शन का एकमात्र कार्य शब्दों अथवा वाक्यों के अर्थ का स्पष्टीकरण अथवा विश्लेषण मात्र रह जाता है। जिस प्रकार रसेल के मत की विवेचना करते समय एयर ने स्पष्टीकरण दिया था, उसी प्रकार यहाँ भी वे तुरन्त यह स्पष्ट करते हैं कि स्वयं मूर ने इस विचार को प्रतिपादित नहीं किया कि दर्शन का एकमात्र कार्य केवल विश्लेषण करना है। वस्तुत: जब कभी उनके विचार को इस प्रकार रखा गया, उन्होंने इसका स्पष्ट खण्डन भी किया। फिर भी एयर का विचार है कि मूर द्वारा लोक साधारण विश्वासों की निश्चित स्वीकृति तथा उनकी सत्यता में असंदिग्धता आदि से यह लागू होता है कि दर्शनशास्त्र का विषय इन विषयों की सत्यता-मूल्य निर्धारित करना नहीं है, अपितु केवल उनका विश्लेषण करना है।

यह मत कि दर्शन का एकमात्र कार्य विश्लेषण है, एयर स्वयं स्वीकार करते हैं। परन्तु जिस युक्ति द्वारा इसे स्थापित करने की चेष्टा की गई है वह उनके विचार से त्रुटिपूर्ण है। विचाराधीन भाग के शेष अंश में एयर उपर्युक्त को दोषपूर्ण दिखाने का प्रयत्न करते हैं। कारनैप द्वारा प्रयुक्त 'आन्तरिक' तथा 'बाह्य' प्रश्नों का भेद स्वीकार करते हुए एयर विस्तार से यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि जिन प्रतिज्ञप्तियों अथवा विश्वासों को मूर असंदिग्ध अथवा पूर्ण निश्चयात्मकता से सत्य रूप में ज्ञात मानते हैं उन पर भी वस्तुत: संदेह किया जा सकता है, यद्यपि उन पर संदेह करने का अर्थ यह नहीं है कि उन्हें किसी अनुभवात्मक विधि से असत्य सिद्ध किया जा सकता है। उन्हें परिवर्तित करने का अर्थ है, वर्तमान प्रत्यय-योजना (कांसेप्चुअल सिस्टम) में ही परिवर्तन करना। ''भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है ?'' ''सामान्यों (यूनीवर्सल्स) का अस्तित्व है ?'', आदि प्रश्न यदि आन्तरिक हैं तब तो मूर का यह कहना ठीक है कि, उदाहरण, भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व हमें पूर्ण निश्चयात्मकता से ज्ञात है, और उनका अस्तित्व सिद्ध करना दर्शन का कार्य नहीं है। परन्तु जब दार्शनिक इन प्रश्नों पर विचार करते हैं तो वास्तव में वह इन्हें बाह्य प्रश्नों के रूप में समझते हैं, और इस दशा में इनका उत्तर ढूँढ़ना दर्शनशास्त्र का कार्य हो जाता है। एयर के मतानुसार, मूर की त्रुटि यह थी कि उन्होंने सदैव इन प्रश्नों को आन्तरिक ही माना, उनके बाह्य होने की सम्भावना पर उन्होंने विचार ही नहीं किया।

पुस्तक के आठवें अध्याय में अमूर्त्त वस्तुओं के सम्बन्ध में मूर के मत पर विचार किया गया है। इस अध्याय के प्रथम भाग में यह दिखाया गया है कि मूर दार्शनिक चिंतन के आरम्भिक काल में 'प्लेटोवादी' थे। यद्यपि अधिकांशत: यह माना जाता है कि अपने दार्शनिक जीवन-काल में मूर कभी भी प्लेटोवादी नहीं रहे, किन्तु यह धारणा गलत है। राइल ने अपनी पुस्तक ''जी. ई. मूर : एसेज इन रिट्रोस्पेक्ट'' में यह बताया है कि मूर के बहुत पुराने लेखों में प्लेटोवादी प्रवृत्ति मिलती है। इन लेखों में मूर ने ब्रैडले के इस विचार से सहमति दिखाई है कि काल असत् होता है, और कालातीत की सत्ता कालिक सत्ता से उच्चतर है। अपने दो लेखों ''फ्रीडम''[3] तथा ''दि नेचर ऑफ जजमेन्ट''[4] में मूर मानते हैं कि प्रत्ययों का अस्तित्व हैं, और केवल प्रत्यय ही वस्तुत: अस्तित्ववान् हैं। फलस्वरूप, अपने इस दार्शनिक

काल में मूर यह भी मानते हैं कि सभी प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्य हैं, कोई भी प्रतिज्ञप्ति आपातिक नहीं होती है। एयर ने इन विचारों के लिए मूर द्वारा दी गई युक्तियों का अति संक्षिप्त विवरण दिया है। युक्तियाँ स्पष्ट रूप से अवैध हैं और ये विचार भी मूर द्वारा बाद में प्रतिपादित विचारों के पूर्णत: विरोधी हैं।

इस भाग के शेष अंश में मूर की सत् सम्बन्धी अवधारणा पर चिन्तन किया गया है। अपने दार्शनिक जीवन के प्राथमिक अल्पकाल को छोड़कर शेष में मूर अन्य आधुनिक दार्शनिकों की भाँति यह मानते हैं कि 'अस्तित्व' एक विधेय (प्रेडीकेट) नहीं है। इसे प्रतिज्ञप्ति-फलनों (प्रोपोजीश्नल फंक्शंस्) का गुण माना जा सकता है, यदि हम इस तथ्य के प्रति सचेत रहें कि यह अन्य साधारण गुणों (वर्ण, गन्ध आदि) की भाँति अपने विषय का स्वरूप निर्धारित नहीं करता है अपितु केवल इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि कुछ साधारण गुणों के दृष्टांत प्राप्त हैं। मूर दो प्रतिज्ञप्तियों 'शेर सत् हैं' तथा 'शेर स्तनधारी हैं' की तुलना करते हुए यह बताते हैं कि यद्यपि इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों का रूप व्याकरण की दृष्टि से एक-सा है, तार्किक दृष्टि से दोनों में बड़ा भेद है। ''स्तनधारी'' शब्द किसी विशेष गुण का सूचक है, जबकि 'सत्' इस प्रकार किसी गुण का सूचक नहीं है।

इस बात को मूर ने अपने अन्य लेखों में इस प्रकार दर्शाया है कि, जबकि यह कल्पना अर्थपूर्ण है कि अधिकांशत: पालतू शेर गुर्राते हैं, यह कहना अर्थहीन है कि अधिकांशत: पालूत शेर अस्तित्ववान् हैं। इसके अलावा, 'कुछ पालतू शेर गुर्राते हैं' का आशय यह है कि ''य एक पालतू शेर है और वह गुर्राता है'' के एक से अधिक[5] मूल्य सत्य हैं, परन्तु 'कुछ पालतू शेरों का अस्तित्व है' का आशय यह नहीं है कि ''य एक पालतू शेर है और अस्तित्ववान् है'' के एक से अधिक मूल्य सत्य हैं। इसका अर्थ केवल यह है कि ''य एक पालतू शेर है'' के एक से अधिक मूल्य सत्य हैं। अत: अस्तित्ववान् होना साधारण अर्थ में विधेय नहीं है।

एयर ने मूर के इस प्रतिपादन की भी चर्चा की है कि जब हम यह कहते हैं कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है, तो वस्तुत: हमारा आशय यह होता है कि भौतिक वस्तुएँ विशिष्ट नहीं हैं। और यह विचार भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व का विरोध नहीं करता है। मूर का विचार है कि निम्नलिखित युक्ति अवैध है :

अलाद्दीन का दीपक भौतिक वस्तु था। अलाद्दीन का दीपक असत् था।

अत: कुछ भौतिक वस्तुएँ अस्तित्वहीन हैं।

मूर कहते हैं कि प्रथम आधार-वाक्य का अर्थ वस्तुत: यह है कि अलाद्दीन का दीपक, यदि वह अस्तित्ववान् होता, तो वह एक भौतिक वस्तु होता। परन्तु मूर इसी रूप के कुछ अन्य वाक्यों का विश्लेषण इस प्रकार नहीं करते हैं, उदाहरणार्थ, 'फ्लोरेन्स नाइटिंगेल का दीपक एक भौतिक वस्तु था।' यहाँ पर एयर की यह टिप्पणी पूर्णत: उचित प्रतीत होती है कि किसी वाक्य के विश्लेषण में रसेल का 'विवरण का सिद्धान्त' (थ्योरी ऑफ डिस्क्रिप्शंस्) इस्तेमाल किया जाय या नहीं, यह निश्चित करने से पहले यह निश्चित करना होगा कि हम वर्णित वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना चाहते हैं या नहीं। इस प्रकार, यह सिद्धान्त स्वयं, अस्तित्व का निर्धारण करने में सहायक नहीं हो सकता।

इस अध्याय के द्वितीय भाग में सामान्यों (यूनीवर्सल्स) की समस्या ली गई है। मूर सामान्यों का अस्तित्व असंदिग्ध रूप में मानते हैं और इन्हें दो मुख्य वर्गों में विभाजित करते हैं। प्रथम वर्ग के सामान्य सम्बन्ध हैं और द्वितीय वर्ग में किसी न किसी वस्तु से सम्बन्ध रखने के गुण आते हैं। प्रथम

प्रकार के सामान्यों के भी तीन उपवर्ग किये गए हैं : (1) दो पदों (वस्तुओं) के मध्य सीधे सम्बन्ध; (2) दो पदों (वस्तुओं) के मध्य परोक्ष सम्बन्ध, जहाँ वह दोनों पद (वस्तुएँ) किसी तीसरी विशिष्ट वस्तु से सम्बद्ध होते हैं; (3) दो पदों (वस्तुओं) के मध्य परोक्ष सम्बन्ध, जहाँ उनमें से प्रत्येक कुछ विशिष्ट वस्तुओं के किसी न किसी सदस्य से सम्बद्ध होते हैं। दो से अधिक सम्बद्ध पदों की अपेक्षा करने वाले सम्बन्धों पर मूर यहाँ विचार नहीं करते हैं।

द्वितीय वर्ग के सम्बन्धों का भी पुन: वर्गीकरण किया गया है : (1) किसी विशिष्ट वस्तु से सम्बन्ध रखने का गुण; (2) कुछ विशिष्ट वस्तुओं के समूह के किसी न किसी सदस्य से सम्बन्ध रखने का गुण; (3) कुछ विशिष्टें के समूह का सदस्य होने का गुण।

मूर द्वारा दिए गए उपर्युक्त वर्गीकरण पर विचार करने के बाद एयर इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि जब भी हम किसी वस्तु में किसी गुण को मानते हैं तब हमारे कथन का आशय क्या केवल इतना कहना होता है कि वह वस्तु एक विशेष वर्ग का एक सदस्य है ? इस मत के विरुद्ध मूर की मुख्य आपत्ति यह है कि यदि हम उदाहरण के लिए सफेदपन का गुण लें तो सफेद वस्तुओं का वर्ग कृत्रिम रूप से बनाया गया वर्ग नहीं है, अपितु यह वास्तविक वर्ग है और इसका अर्थ यह है कि सफेद वस्तुओं के समूह की सदस्य के अलावा कोई और ऐसा गुण है जो उस समूह के सभी सदस्यों में है, और उसी में उनकी विशिष्टता है। स्वाभाविक है कि तुरन्त यह प्रश्न उठेगा कि वह दूसरा गुण कौन-सा है ? इस प्रश्न के लिए मूर तीन सम्भव उत्तरों की विवेचना करते हैं, जिनका उल्लेख एयर ने किया है। ये तीन उत्तर संक्षेप में निम्न हैं :

(1) सभी सफेद वस्तुओं में पाया जाने वाला विशिष्ट गुण यह है कि उनमें से किसी एक से अन्य सभी समानता रखते हैं। जिससे अन्धों की समानता देखी जाती है, वह सफेद गुण (अथवा अन्य कोई भी विचाराधीन गुण) का मानक (स्टेंडर्ड) होगा।

(2) 'शुद्ध सफेद' जैसी कोई वस्तु है जो विभिन्न स्थानों पर एक साथ वर्तमान रह सकती है, और सभी सफेद वस्तुओं का समान गुण यह है कि वे उन सभी स्थानों पर हैं जहाँ 'शुद्ध सफेद' है।

(3) सभी तथाकथित सफेद वस्तुओं का समान गुण यह है कि सफेदपन (जो उन वस्तुओं से भिन्न कोई वस्तु है) उनके आश्रित हैं। इन तीनों मतों में मूर कुछ न कुछ कठिनाई पाते हैं। इन कठिनाइयों का भी उल्लेख एयर ने किया है।

इसके पश्चात् एयर सामान्य सम्बन्धी मूर के अन्य विचारों का उल्लेख करते हैं। मूर अपनी पुस्तक ''दी कॉमनप्लेस बुक'' में यह विचार प्रतिपादित करते हैं कि, जब हम किसी रंग का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तो हमारे संवेदन का विषय एक सामान्य होता है। अन्य कोई भी गुण इस सामान्य के अधीन नहीं होता जिस प्रकार यह स्वयं लालपन अथवा पीलेपन के अधीन है। इसी पुस्तक में वे यह भी कहते हैं कि ''य एक सामान्य है'' का अर्थ यह होता है कि दो विभिन्न वस्तुओं में से प्रत्येक के लिये य का कथन किया जा सकता है। परन्तु चूँकि 'वह सुकरात है' प्रकार के वाक्य हम गलती से विभिन्न व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं, अत: मूर अपनी परिभाषा में यह नियम भी जोड़ देते हैं कि यदि हमारा कथन किसी व्यक्तिवाचक नाम का आरोपण करता है तो इसका विभिन्न वस्तुओं पर आरोपित किया जा सकना सामान्य का अस्तित्व अथवा प्रयोग नहीं दर्शायेगा। यहाँ पर एयर रैमजे द्वारा उठाई गई आपत्ति का उल्लेख करते हैं कि वस्तुत: हम किसी वाक्य में केवल व्यक्तिवाचक नाम का आरोपण कर रहे हैं अथवा

किसी सामान्य का, यह निश्चित करना कठिन है। उदाहरणार्थ, 'सुकरात बुद्धिमान है' को हम इन दोनों प्रकारों से रख सकते हैं : (अ) सुकरात में बुद्धिमत्ता का गुण है तथा (ब) बुद्धिमत्ता सुकरात की विशेषता है। मूर ने इस आपत्ति का उल्लेख तो किया है, परन्तु वे इसका कोई समाधान नहीं देते हैं। समाधान के रूप में एयर अपने पूर्वोल्लिखित मत को दोहराते हैं कि वास्तव में उपर्युक्त वाक्यों अ तथा ब के मध्य कोई बड़ा भेद नहीं है। यह भेद केवल निदर्शनात्मक (डिमोन्स्ट्रेटिव) तथा वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव) चिह्नों का है। परन्तु एयर का यह समाधान भी वास्तव में समस्या को नहीं सुलझा सकता है, क्योंकि भाषा में निदर्शनात्मक तथा वर्णनात्मक चिह्नों का भेद निराधार तथा याद्दच्छिक नहीं है। और भाषा के संदर्भ में हम अपनी समस्या को इस भेद के आधार अथवा प्रामाणिकता की समस्या के रूप में पुन: उठा सकते हैं।

अध्याय के तृतीय भाग में एक विशेष प्रकार की अमूर्त्त वस्तुओं, अर्थात् वर्गों (क्लासिज) के विषय में मूर के मत की विवेचना की गई है। यह भाग तथा विचाराधीन अध्याय के शेष भाग अति संक्षिप्त हैं। इनमें एयर न केवल मूर के मत, अपितु अपनी आलोचना का भी अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख करते हैं। फलस्वरूप, बहुत से विषय एक साधारण पाठक के लिए अबोधगम्य रह जाते हैं।

वर्गों के अस्तित्व के प्रश्न पर मूर ने केवल अपने 1925-26 में दिए गए भाषणों में विचार किया है। इन भाषणों में मूर-''वर्ग हैं'' के दो अर्थ बताते हैं। एक अर्थ में वह वाक्य प्रतीकों के विषय में कुछ नहीं कहता, दूसरे अर्थ में यह वाक्य कुछ प्रतीकों के विषय में कथन है। प्रथम अर्थ के अनुसार, ''वर्ग है'' का अर्थ है कि एक विशेष प्रकार के वाक्य, उदाहरणार्थ, ''मेरी अंगुलियाँ एक वर्ग हैं'', ''मेरे केश एक वर्ग हैं,'' सत्य है। इस अर्थ में, वर्गों का अस्तित्व वर्गों के उदाहरण देकर सिद्ध किया गया है।

परन्तु यहाँ एक कठिनाई उठती है जिस पर मूर ने भी विचार किया है। यदि 'य है' प्रकार के वाक्यों का अर्थ उपर्युक्त विधि के अनुरूप यह निकाला जाय कि 'य प है' प्रकार के कुछ वाक्य सत्य हैं, तो हम मात्र काल्पनिक वस्तुओं के अस्तित्व को भी स्वीकारने के लिए बाध्य हो जांयगे। उदाहरणार्थ, 'काल्पनिक वस्तुएं हैं,' के लिए हमारे दृष्टांत होंगे : 'आकाश-कुसुम काल्पनिक वस्तु हैं', 'स्वर्ण-पर्वत काल्पनिक वस्तु हैं'। इस कठिनाई के उत्तर में मूर कहते हैं कि 'य एक काल्पनिक वस्तु है' प्रकार के प्रतिज्ञप्ति फलन 'य एक वर्ग है' अथवा 'य एक मनुष्य है' प्रकार के प्रतिज्ञप्ति फलनों से पूर्णत: भिन्न प्रकार के हैं, और उनका विश्लेषण भी भिन्न प्रकार से होना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि अस्तित्व-विषयक मूर के मापदंड को प्रयुक्त करने के पूर्व हमें यह निश्चित करना पड़ेगा कि विचाराधीन वस्तु अस्तित्ववान् है अथवा नहीं। परन्तु उस दशा में मूर का मापदंड अनावश्यक हो जायगा। वस्तुत: इस कठिनाई का निवारण मूर नहीं कर पाते।

''वर्ग हैं'' के दूसरे अर्थ को समझाने के लिए मूर रसेल द्वारा प्रयुक्त कुछ प्रत्ययों का प्रयोग करते हैं। इस व्याख्या के अनुसार, ''वर्ग नहीं हैं'' का अर्थ है, ''वर्गों के प्रतीक अपूर्ण तरीका (इन्कम्प्लीट सिंबल्स) हैं'', और यह विवरण नहीं है। यहाँ मूर रसेल से इस बात पर सहमत हैं कि इस अर्थ में वर्ग विधेयों द्वारा निर्धारित होता है। और वर्ग-प्रतीक अपूर्ण हैं अथवा नहीं, इस प्रश्न का उत्तर वह इस प्रश्न के समाधान से सम्भव मानते हैं कि उपर्युक्त वाक्य में 'निर्धारण' किसी सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है अथवा नहीं। यदि वर्गों का अस्तित्व है तो यह शब्द-सम्बन्ध अभिव्यक्त करता है; यदि वर्गों का अस्तित्व नहीं है तो यह शब्द सम्बन्ध अभिव्यक्त नहीं करता है। परन्तु यहाँ भी मूर का मापदंड पहले वाले मापदंड की भाँति अनुपयोगी है। क्योंकि यह कैसे निर्धारित किया जाय कि अपर्युक्त वाक्य में ''निर्धारण'' सम्बन्धसूचक है अथवा नहीं, इसके लिए मूर कोई मापदंड नहीं देते हैं।

चतुर्थ भाग में प्रज्ञिप्तियों के अस्तित्व पर विचार किया गया है। जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, बहुत प्रारम्भिक काल में (''दि नेचर ऑफ जजमेंट'' लेख में) मूर प्रत्ययों व प्रतिज्ञप्तियों को स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान् मानते हैं। परन्तु बाद में इस विषय में उनका विचार अधिक आलोचनात्मक हो गया। मूर केवल घोषणात्मक (डेक्लेरेटिव) वाक्यों को ही प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त करने में समर्थ मानते हैं और प्रतिज्ञप्ति को वाक्यों से भिन्न तथा स्वतन्त्र भी मानते हैं। एयर का विचार है कि प्रतिज्ञप्तियों को वाक्यों से पृथक् मानने से मूर के सामने उनके तादात्म्य की समस्या आती है, यद्यपि स्वयं मूर ने इस समस्या पर अधिक कुछ नहीं कहा है। एयर ने मूर के इस विचार का उल्लेख किया है कि वाक्यों में कोई कालसूचक क्रियापद अथवा कोई निर्देशात्मक चिह्न (डिमांस्ट्रेटिव साइन) अथवा कोई व्यक्तिवाचक सर्वनाम प्रयुक्त होता है, उनके द्वारा अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्ति का निर्धारण उन वाक्यों का कथन करने वाले संदर्भ से होता है। और, इन संदर्भों में थोड़ा भी परिवर्तन हो जाने से प्रतिज्ञप्ति में भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, 'सीजर की हत्या की गई थी' वाक्य को दो विभिन्न समयों पर कहा जाय, तो इस वाक्य द्वारा किये गये अतीत के संकेत थोड़े बदल जांयगे और परिणामस्वरूप प्रतिज्ञप्ति भी बदल जायगी। यहाँ एयर वस्तुत: मूर के सिद्धान्त में छिपे हुए एक आत्मविरोध का संकेत करते हैं, कि एक ओर तो मूर प्रतिज्ञप्तियों को वाक्यों से स्वतन्त्र व भिन्न मानते हैं परन्तु दूसरी ओर उनका उपर्युक्त मत उन्हें यह मानने को बाध्य करेगा कि प्रतिज्ञप्तियाँ वाक्यों के कथन पर निर्भर करती हैं, क्योंकि वाक्यों के कथन के संदर्भ को मूर किसी वाक्य द्वारा अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्ति के निर्धारण के लिए आवश्यक मानते हैं। एयर की एक और आपत्ति यह है कि मूर का यह विचार, यह भी लागू करता है कि दो प्रतिज्ञप्तियों के तार्किक सम्बन्ध सम्बद्ध-वाक्यों के कथनों के वास्तविक क्रम पर निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिए एयर कहते हैं किसी व्यक्ति का यह कथन कि ''सीजर की हत्या हुई थी'' किसी दूसरे व्यक्ति के कथन, कि ''सीजर की हत्या नहीं हुई थी'' के विपरीत है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि इन व्यक्तियों ने ये कथन कब किये।

परन्तु वास्तव में, एयर की यह दोनों ही आपत्तियाँ त्रुटिपूर्ण प्रतीत होती हैं। मूर का उपर्युक्त मत केवल इतना लागू करता है कि कोई विशेष वाक्य अथवा कथन किस विशेष प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यक्त करता है, यह कुछ विशेष स्थितियों में (काल-सूचक-क्रियापद आदि प्रयुक्त होने पर) तभी ज्ञात हो सकता है जब हम कथन के संदर्भ पर भी ध्यान दें। इससे यह किसी भी प्रकार लागू नहीं होता कि प्रतिज्ञप्ति का अस्तित्व अथवा स्वरूप भी उस संदर्भ पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, मूर के उपर्युक्त मतानुसार, किसी कथन द्वारा किसी प्रतिज्ञप्ति की अभिव्यक्ति, न कि अस्तित्व, कथन के संदर्भ पर निर्भर करती है। इसी प्रकार, दूसरी आपत्ति भी अनुचित प्रतीत होती है। चूँकि अतीत काल का निर्देश (रेफरेंस) वाक्य के कथन के समय के साथ परिवर्तित हो सकता है, अत: मूर के लिए केवल यह मानना आवश्यक होगा कि एक ही वाक्य विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रतिज्ञप्तियाँ अभिव्यक्त कर सकता है, और इसलिए यह संभव है कि किसी समय $क_1$ पर कथित वाक्य व एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त करता है जो $क_1$ अथवा $क_2$ पर कथित वाक्य फ द्वारा अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्ति की विरोधी है, परन्तु उसी वाक्य व का यदि किसी दूसरे समय $क_3$ पर कथन किया जाय, तो वह एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त करेगा जो फ द्वारा अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्ति की विरोधी नहीं हो।

एयर, इस प्रसंग में, मूर के चिन्तन में एक और आत्म-विरोध का उल्लेख करते हैं जो ठीक प्रतीत होता है। वे बताते हैं कि पुस्तक 'सम मेन प्रॉब्लम्स ऑफ फ़िलोसोफ़ी' के तृतीय अध्याय में मूर

यह कहते हैं कि विश्व में पाई जाने वाली सत्ताओं में प्रतिज्ञप्तियाँ भी हैं। परन्तु चौदहवें तथा सत्रहवें अध्यायों में मूर पूर्णत: विरोधी बातें कहते हैं, कि प्रतिज्ञप्तियाँ काल्पनिक हैं, उनका कोई भी विषयात्मक अस्तित्व नहीं होता है। मूर स्वयं पुस्तक की प्रस्तावना में इस विरोध की ओर संकेत करते हैं, और इसका निवारण केवल यह कह कर करते हैं कि प्रतिज्ञप्तियों का अस्तित्व स्वीकार तथा अस्वीकार करते समय वे अपने वाक्यों को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त कर रहे होंगे।

अध्याय के शेष भाग में इस प्रश्न की विवेचना है कि प्रतिज्ञप्तियों को विश्वासों के विषयों के रूप में माना जा सकता है या नहीं, और यदि माना जा सकता है तो किस अर्थ में ? एक और प्रश्न, जिस पर इस सन्दर्भ में विचार किया गया है, प्रतिज्ञप्तियों तथा तथ्यों के सम्बन्ध के विषय में है। एयर ने मूर की एक युक्ति का विवरण दिया है जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न करती है कि प्रतिज्ञप्तियों को विश्वासों के विषय नहीं माना जा सकता, और यदि माना भी जाय तो यह किसी भी प्रकार सत्यता तथा विश्वास के विश्लेषण अथवा स्पष्टीकरण में बहुत सहायता नहीं देता। एयर इस युक्ति की मुख्य धारणा से सहमत हैं।

नौवें तथा अन्तिम अध्याय 'विश्लेषण के फल' में मूर के विश्लेषण सम्बन्धी मत पर विचार किया गया है। इस अध्याय के प्रथम खण्ड का शीर्षक है, "मूर का विश्लेषण का प्रत्यय"। "फ़िलोसोफ़ी ऑफ जी. ई. मूर" पुस्तक में प्रो. लैंगफ़ोर्ड द्वारा की गई आलोचनाओं के उत्तर में मूर ने स्पष्ट कहा है कि उनके अनुसार दार्शनिक विश्लेषण का विषय शब्द अथवा शाब्दिक पद नहीं है, अपितु प्रत्यय अथवा प्रतिज्ञप्तियाँ हैं। कभी-कभी मूर तथ्यों के विश्लेषण की बात भी करते हैं। परन्तु स्पष्ट है कि जहाँ भी मूर ने तथ्यों के विश्लेषण की बात कही है वहाँ उनका आशय सत्य प्रतिज्ञप्तियों के विश्लेषण से रहा है।

मूर न केवल यह मानते हैं कि विश्लेषण का विषय शब्द नहीं होते, अपितु यह भी मानते हैं कि दार्शनिक विश्लेषण में शब्दों का उल्लेख भी नहीं होता। क्योंकि यदि विश्लेषण में शब्दों का प्रयोग होने के साथ उनका उल्लेख भी हो ता विश्लेषण भाषा-सापेक्ष हो जायगा। उदाहरणार्थ, यदि मनुष्यत्व का विश्लेषण करने में हमें "मनुष्य" शब्द का उल्लेख करना हो, तो हिन्दी भाषा के माध्यम से किया गया विश्लेषण अंग्रेजी अथवा किसी दूसरी भाषा के माध्यम से किए गए विश्लेषण के समान नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम विश्लेषण में हम "मनुष्य" शब्द का उल्लेख करेंगे और द्वितीय में किसी दूसरे शब्द का, जो उस भाषा का, जो उस भाषा में "मनुष्य" का समानार्थक हो।

एयर ने विश्लेषण की मूर द्वारा प्रतिपादित पाँच शर्तों का भी उल्लेख किया है। ये पाँच शर्तें हैं :

(1) यह जाने बिना कि विश्लेषित पद किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त हो सकता है या नहीं, यह नहीं जाना जा सकता कि उस वस्तु पर विश्लेष्य पद का भी प्रयोग हो सकता है या नहीं।

(2) कोई भी यह सत्यापित किये बिना कि विश्लेषित पद का प्रयोग हुआ है या नहीं, यह सत्यापित नहीं कर सकता कि विश्लेष्य का प्रयोग हुआ है या नहीं।

(3) विश्लेष्य पद सम्बद्ध विश्लेषित पद का समानार्थक होना चाहिए।

(4) विश्लेषित पद को उन प्रत्ययों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करना चाहिए जिनका स्पष्ट उल्लेख विश्लेष्य पद नहीं करता है।

(5) विश्लेषित पद को अपने द्वारा उल्लिखित प्रत्ययों की संगठन-रचना का उल्लेख करना चाहिए।

एयर इन सभी शर्तों को समस्यात्मक पाते हैं। प्रथम तथा द्वितीय शर्तों में एयर जो कठिनाई पाते हैं वह मुख्यत: यह है कि यदि विश्लेषण ये शर्तें पूरी करे तो वस्तुत: विश्लेषण की सामान्यत: कोई आवश्यकता नहीं होती, और कभी भी किसी प्रत्यय का विश्लेषण कोई समस्या उत्पन्न नहीं करेगा। विश्लेषण की समस्या तभी प्रस्तुत होती है जब हम निश्चयात्मक रूप से यह नहीं जानते कि जहाँ-जहाँ हम विश्लेष्य-पद का प्रयोग करते हैं वहाँ-वहाँ कौन-सा पद अनिवार्यत: प्रयुक्त होना चाहिए।

शेष तीनों शर्तों की मुख्य कठिनाई उन मापदण्डों के अभाव की है जिनसे यह निश्चित किया जा सके कि उन शर्तों को पूरा किया जा रहा है या नहीं। तीसरी शर्त दो पदों (विश्लेष्य तथा विश्लेषित) की समानार्थकता की माँग करती है। परन्तु समानार्थकता का मापदण्ड क्या होगा, यह स्वयं एक समस्या है। इसी प्रकार, चौथी तथा पाँचवी शर्तों की संतुष्टि हुई है या नहीं, यह जानने के लिए हमें यह जानना होगा कि विभिन्न प्रत्ययों तथा उनकी विभिन्न संगठन-रचनाओं का उल्लेख हुआ है या नहीं। परन्तु इसके लिए भी हमें अपेक्षित मापदण्ड नहीं प्राप्त हैं।

मूर द्वारा बताई गई उपर्युक्त शर्तों की आलोचना करने के पश्चात् एयर मूर के विश्लेषण सम्बन्धी मत के विरुद्ध एक और गम्भीर आपत्ति उठाते हैं। एयर के अनुसार, जिस प्रकार का विश्लेषण मूर के विचाराधीन है वह वास्तव में अधिकांशत: दार्शनिक महत्त्व का नहीं होता है। अर्थात्, दार्शनिक महत्त्व के प्रश्नों का हल, अधिकांशत:, किसी पद के ऐसे समानार्थक पद को ढूँढ़ने में निहित नहीं होता है जो मूर द्वारा बताई गई शर्तों को पूरा करता हो। दार्शनिक समस्याएं अधिक जटिल तथा गूढ़ होती हैं। उदाहरण के लिए एयर रसेल के 'विवरण का सिद्धान्त' तथा मूर द्वारा अस्तित्व के 'प्रत्यय' की विवेचना आदि को लेते हैं। ''शेर अस्तित्ववान् है'' इस प्रतिज्ञप्ति का ''किसी वस्तु में शेर होने का गुण है'' में मूर द्वारा परिवर्तन हम पीछे देख चुके हैं। यहाँ अस्तित्व के प्रत्यय का उस प्रकार विश्लेषण नहीं किया गया है जैसा मूर उपर्युक्त प्रकार से प्रतिपादित करते हैं। इसी प्रकार एयर ने अन्य कुछ दृष्टान्त देकर दार्शनिक समस्याओं की विविधता तथा जटिलता दर्शायी है, और इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मूर का विश्लेषण-सम्बन्धी सिद्धान्त अनावश्यक रूप से सरल है।

परन्तु एयर की यह आलोचना स्वयं अनावश्यक रूप से सरल प्रतीत होती है। क्योंकि यह आलोचना तभी की जा सकती है जब मूर समस्त दार्शनिक समस्याओं को, जिनका उदाहरण एयर देते हैं, के विश्लेषण की समस्याएं मानें और कहें कि इन सभी समस्याओं का हल उस प्रकार का विश्लेषण करना है जैसा उन्होंने उपर्युक्त पाँच शर्तों का उल्लेख करके प्रतिपादित किया है। परन्तु एयर स्वयं यह बता चुके हैं कि मूर ने समस्त दर्शन को विश्लेषण नहीं माना, जिसका निष्कर्ष यह होगा कि बहुत-सी दार्शनिक समस्याएं विश्लेषण की समस्याएं ही नहीं होंगी। वस्तुत:, लैंगफोर्ड तथा मूर उल्लिखित पुस्तक (''फ़िलोसोफ़ी ऑफ जी. ई. मूर'') में विश्लेषण की चर्चा विश्लेषण के विरोधाभास की समस्या के सन्दर्भ में कर रहे हैं और वहाँ वे केवल एक प्रकार का विश्लेषण ही ध्यान में रख रहे हैं। इस विशेष प्रकार के विश्लेषण के विषय में जो कुछ मूर ने कहा है उसे सम्भवत: वे स्वयं अन्य दार्शनिक प्रश्नों तथा उनके समाधानों पर लागू करना नहीं चाहेंगे। उस स्थिति में, एयर की अन्तिम आपत्ति समाप्त हो जायगी।

विश्लेषण के विरोधाभास की समस्या पर द्वितीय भाग में संक्षिप्त टिप्पणी दी गई है। यह समस्या लैंगफोर्ड से उद्धरण द्वारा प्रस्तुत की गयी है : "यदि विश्लेष्य-पद विश्लेषित-पद का समानार्थक है तो विश्लेषण का कथन, मात्र तादात्म्य का कथन होगा और महत्त्वहीन होगा; परन्तु यदि ये दो पद समान अर्थ नहीं रखते हैं तो विश्लेषण त्रुटिपूर्ण होगा।" एयर इस विरोधाभास का प्रकृतिवादी हेत्वाभाव से सम्बन्ध दिखाते हैं। जैसाकि एयर बताते हैं, इस हेत्वाभास के विवेचन में मूर ने विश्लेषण के विराधाभास का परोक्ष रूप से प्रयोग किया है, यद्यपि मूर इस बात से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं कि जिस प्रकार की युक्ति उन्होंने विरोधी नैतिक सिद्धान्तों को दोषयुक्त दर्शाने में प्रयुक्त की है उसका एक निष्कर्ष यह होगा कि न केवल "शुभ" शब्द अपरिभाषेय है अपितु किसी भी शब्द की स्पष्ट परिभाषा देना सम्भव नहीं है।

एयर "प्रकृतिवादी हेत्वाभास" शब्द की अनेकार्थकता का भी उल्लेख करते हैं, जिसे स्वयं मूर ने स्वीकार किया है। मूर ने निम्नलिखित तीनों प्रकार के विचारों को प्रकृतिवादी हेत्वाभास से दूषित माना है : (अ) शुभत्व का शुभत्व से भिन्न किसी गुण से तादात्म्य है, (ब) शुभत्व का किसी विश्लेष्य गुण से तादात्म्य है, (स) शुभत्व का किसी प्राकृतिक अथवा तात्त्विक गुण से तादात्म्य है। जैसाकि श्री ल्युई "ऐसेज इन रिट्रोस्पेक्ट" पुस्तक में बताते हैं, मूर स्वयं यह कहते हैं कि किसी व्यक्ति पर प्रकृतिवादी हेत्वाभास का दोष आरोपित करने का अर्थ है, उसके सम्बन्ध में यह कहना कि वह व्यक्ति या तो शुभत्व को किसी प्राकृतिक अथवा तात्त्विक गुण से अलग नहीं रख पा रहा है, या ऐसे किसी गुण से उसका तादात्म्य मानता है, या फिर वह किसी ऐसी युक्ति का प्रयोग कर रहा है जो ऐसी किसी व्यामिश्र पर आधारित है। इस सन्दर्भ में एयर की यह टिप्पणी पूर्णत: उचित प्रतीत होती है कि शुभत्व को उपर्युक्त प्रकार से समझने का कोई भी प्रयत्न क्यों दोषपूर्ण समझा जाय। इसका कारण सम्भवत: यह है कि उस दशा में किसी भी कार्य को शुभ कहने का यह अनिवार्य निष्कर्ष नहीं होगा कि वह कार्य करने योग्य है, और इस प्रकार मूर की स्थिति अन्तत: ह्यूम के ही समान इस सिद्धान्त के रूप में रखी जा सकती है कि 'चाहिए' को 'है' से निष्कर्ष रूप में नहीं निकाला जा सकता। परन्तु तब स्वयं मूर इस त्रुटि के दोषी प्रतीत होते हैं। क्योंकि शुभत्व का किसी भी प्राकृतिक गुण से भेद स्थापित करने के बाद वे यह निष्कर्ष निकालने के स्थान पर कि शुभत्व कोई गुण ही नहीं है, यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि शुभत्व एक अप्राकृतिक गुण है।

विश्लेषण के विरोधाभास के विषय में स्वयं एयर दो मुख्य बातें कहते हैं। प्रथम तो यह कि विश्लेषण का कथन करने वाली प्रतिज्ञप्तियाँ उन शब्दों के विषय में नहीं हैं जो विश्लेषित प्रत्ययों को अभिव्यक्त करते हैं। क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ सदैव अन्य भाषाओं में भी अभिव्यक्त की जा सकती हैं। दूसरी बात यह कि इस तथ्य के होते हुए भी, सूचनात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ अन्तत: शब्दों के ही विषय में होती हैं। कुछ शब्दों का अर्थ अथवा भाषा में उनका कार्य क्या है, यह बताने के अतिरिक्त ये प्रतिज्ञप्तियाँ अन्य कोई सूचना नहीं देतीं।

एयर का यह मत बहुत कुछ उसी प्रकार का है जैसा लैजेरोविज तथा स्ट्रासन आदि का है। ये दार्शनिक भी यही कहते हैं कि विश्लेषणात्मक वाक्य, शब्दों-सम्बन्धी सूचना विवरण रूप में दिए बिना अभिव्यक्त करते हैं, और यह सूचना इस प्रकार अभिव्यक्त करना ही इन वाक्यों का एकमात्र कार्य है। परन्तु वस्तुत: एयर आदि के ये विचार विश्लेषण की समस्या का किसी भी सीमा तक समाधान नहीं

कर पाते। क्योंकि यह एक समस्या बनी रह जाती है कि किस प्रकार कोई प्रतिज्ञप्ति कुछ शब्दों के विषय में न होते हुए भी उनके विषय में ही सूचना दे सकती है। लैजरोविज़ के मत में इसी प्रकार की समस्या यह है कि, किस प्रकार कोई प्रतिज्ञप्ति कुछ भी कथन किए बिना कोई सूचना दे सकती है और फिर उसे हम सत्यता मूल्य प्रदान कर सकते हैं। इसके अलावा, ये प्रश्न भी उठते हैं कि यदि विश्लेषण का कथन करने वाली प्रतिज्ञप्तियाँ शब्दों के विषय में नहीं हैं तो फिर उनका विषय क्या है, और यदि यह कहा जाय कि वे किसी के भी विषय में नहीं हैं, तो किस अर्थ में हम उन्हें प्रतिज्ञप्ति की संज्ञा दे सकते हैं ? एयर इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते हैं।

अध्याय के शेष दो भागों में विश्लेषण की समस्या पर कुछ नहीं कहा गया है, वरन् दार्शनिक विश्लेषण के कुछ उदाहरणों पर, जो मूर के दर्शन में केन्द्रीय स्थान रखते हैं, विचार किया गया है। तृतीय भाग में मूर के संवेद-प्रदत्तों के सिद्धान्त पर एक और दृष्टिपात किया गया है, और अन्तिम भाग में भौतिक वस्तुओं विषयक वाक्यों के मूर द्वारा प्रस्तावित विश्लेषण का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

***

संदर्भ-सूची : -

1. *मूर, जी. ई. : "दि कौन्सेप्शन ऑफ रियेलिटी", प्रोसीडिंग्स ऑफ दि एरिस्टोलियन सोसाइटी, 1917-18।*
2. *मूर, जी. ई. : सम सेन प्रॉब्लम्स ऑफ फ़िलासफी।*
3. *Mind; 1898.*
4. *Mind; 1899.*
5. *'कम से कम एक' के स्थान पर 'एक से अधिक' पद का प्रयोग, सम्भवत:, "कुछ" शब्द के साधारण प्रयोग को दर्शाने के लिए किया गया है।*

6

विट्गेन्स्टाइन के परवर्ती दर्शन के मूलाधार*

राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

विट्गन्स्टाइन ने अपने लेखों और व्याख्याओं में दर्शन-शास्त्र के क्रिया-पक्ष पर इतना अधिक जोर दिया है कि उन बहुत से समकालीन दार्शनिक-चिंतकों ने, जिन पर उसका प्रभाव है, उनके दर्शन का विवेचन, व्याख्यान और उसका विस्तार अधिकांशत: केवल एक 'दार्शनिक विधि' के रूप में ही किया है। विधि में अंतर्निहित सुश्रृंखलता, स्पष्टता और विश्लेषणात्मकता के तत्त्वों की चकाचौंध में अक्सर यह महत्त्वपूर्ण तथ्य भुला दिया जाता है कि प्रत्येक दार्शनिक-चिंतन स्वत: एक सैद्धांतिक दार्शनिक-मत का प्रतिपादन करता है, जिसमें प्रत्यक्षत: या परोक्षत: दार्शनिक का अपना अनुभव और संस्कार तथा अन्य दार्शनिकों द्वारा उठाई गई समस्याओं का विमर्श रहता है और निस्संदेह विट्गिन्स्टाइन का दार्शनिक-चिंतन इसका अपवाद नहीं है। किन्तु अवश्य उसके अपने दर्शन के सम्बन्ध में कुछ कथन हैं जो इस सैद्धांतिक दिशा में उसके मत की व्याख्या को निरुत्साहित करते हैं। जैसे, यह "दर्शन-शास्त्र कोई सिद्धांत नहीं, वरन् एक क्रियाशीलता है"(ट्रक्टेटस 4.112); या "अपने निष्कर्षों को एक ऐसी (=पूर्ण) समग्रता में समायोजित करने के कई असफल प्रयासों के बाद मुझे बोध हुआ कि मैं कभी सफल हो ही नहीं सकता। मेरे सर्वोत्कृष्ट लेख कभी भी दार्शनिक उक्तियों से अधिक कुछ नहीं हो सकते ......और यह बात निस्संदेह गवेषणा की प्रकृति से ही सम्बन्धित है। क्योंकि यह बाध्य करती है कि हम एक ऐसे विस्तृत विचार-क्षेत्र का परिभ्रमण करें जो परस्पर कटने वाले मार्गों से भरा पड़ा है।" (फिलासफिकल इन्वेस्टिगेशन्स्, आमुख) अवश्य विट्गिन्स्टाइन की इन आत्म-स्वीकृतियों के बावजूद एक ऐतिहासिक प्रयास 'वियेना-गोष्ठी' के दार्शनिकों ने किया जिसमें ट्रक्टेटस में प्रतिपादित 'तार्किक अणुवाद' और उसकी एक मूल धारणा 'प्रतिज्ञप्तियों की सत्य-वृत्तियाँ' (ट्रुथ-फंक्शॅन्स ऑफ प्रॉपाजिशन्स) के सहारे एक विशद दार्शनिक सिद्धांत 'तार्किक-अनुभववाद' खड़ा करने की कोशिश की गई, और उसमें काफी हद तक सफलता भी मिली-यद्यपि एन्सकॉम्ब जैसे विट्गिन्स्टाइन के अनुयायिओं ने विट्गिन्स्टाइन के 'मूल वाक्यों' को मूल 'आनुभविक वाक्य' कहना युक्तिसंगत नहीं माना। दूसरी ओर, उसी 'वियेना-गोष्ठी' के ही एक दार्शनिक न्यूराथ ने न केवल उक्त व्याख्या वरन् उसमें मान्य पूरी धारणा के औचित्य पर संदेह प्रकट किया। उसने पूछा : समग्र जगत् और भाषा के बारे में, और

---

* *The Foundations of wittegenstein Late Philosophy, Ernst konrad specht: Eng.tr. by D.E. Walford, Manchester Univercity Press. 1970*

उसके अर्थ के आधार के रूप में समग्र इन्द्रियानुभव के बारे में, बात करने का कोई औचित्य हमारे पास है भी ? द्रष्टव्य है कि विट्गिन्स्टाइन के परवर्त्ती दर्शन में न्यूराथ का उक्त दृष्टिकोण एक केन्द्रीय महत्त्व रखता है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। जहाँ तक स्वयं विट्गिन्स्टाइन द्वारा व्यक्त विचारों का अनुगमन करते हुए दार्शनिक क्रियाशीलता पर ही जोर देने का प्रश्न है, इसमें हम दो दार्शनिक विचार-धाराओं का उद्भव देखते हैं - जो अभी तक काफी सशक्त हैं। ये हैं 'दार्शनिक भाषाशास्त्र' (फिलोसफिकल लिंग्विस्टिक्स) और 'चिकित्सामूलक अनुभववाद' (थेरॉप्यूटिक पॉजिटिविज्म)। 'दार्शनिक भाषाशास्त्र' का स्वरूप आज राइल और ऑस्टिन के लेखनों में स्पष्ट है, यद्यपि इसकी नींव बहुत पहले एरिस्टॉटल ने डाली थी और ब्रिट्रिश दार्शनिक-परम्परा में ही यह पहले लॉक व बर्कले और बाद में मिल, रसेल और मूर द्वारा पुष्ट हुई थी। किन्तु जिस रूप में वह आज उपलब्ध है वह सीधे विट्गिन्स्टाइन द्वारा भाषा-विश्लेषण और स्पष्टीकरण पर जोर दिये जाने के कारण है। दूसरी ओर, 'चिकित्सामूलक अनुभववाद' (थेरॉप्यूटिक एम्पिरिसिज्म) का स्वरूप विज्डम के 'अँदर माइन्डस्' लेख-माला में स्पष्ट देखा जा सकता है, जिसका आधार विट्गिन्स्टाइन की यह मान्यता है कि अहम्मात्रवाद (सोलिप्सिज्म) और 'विचार', 'विश्वास' जैसे मानसिक प्रत्ययों की पारम्परिक धारणा वस्तुत: एक प्रकार की 'मानसिक जकड़न' है जिसकी चिकित्सा संभव है।

इसके अतिरिक्त विट्गिन्स्टाइन के दार्शनिक- चिंतन पर स्ट्रॉसन, मेलकॉम, फिन्डले, फेयॅराबेंड, पाल प्रभृति चिंतकों की महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। सारांश यह कि विट्गिन्स्टाइन के समग्र दर्शन को एक सैद्धांतिक स्तर से, समझने की चेष्टा का अब तक नितांत अभाव रहा है। इसी अभाव की पूर्ति अर्न्स्ट कॉन्राड स्पेख्त की प्रस्तुत ''दी फाउण्डेशन ऑफ विट्गिन्स्टाइन लैटर फिलॉसफी'' नामक पुस्तक करती है। स्पेख्त की इस मौलिक चेष्टा को समझने में शायद यह याद रखना सहायक होगा कि वह जिस दार्शनिक परम्परा से सम्बद्ध है उसमें सदैव सैद्धांतिकता व समग्रता का आग्रह प्रबल रहा है। उसमें सदैव बातों की जड़ तक पहुँचने की विलक्षण आकुलता रही है। क्या उसी परम्परा के एक सुप्रसिद्ध समकालीन दार्शनिक हाइडेगर ने नहीं कहा: किसी चिंतक द्वारा व्यक्त विचार-सागर में तैरते हिमखंडों की तरह हैं, जिनका अधिकांश भाग जल की सतह के नीचे अदृष्ट रहता है। उसके अनुसार दार्शनिक चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य उक्त अदृष्ट बहुलांश के आधार से दृष्ट अल्पांश को अधिक स्पष्टरूपेण ग्राह्य (ज्ञेय) बनाना है।

स्पेख्त को हम यही करता हुआ पाते : विट्गिन्स्टाइन के समग्र चिंतन, विशेषत: उसके परवर्त्ती चिंतन, जो फिलासफिकल इन्वेस्टिगेशन (आगे के पृष्ठों में इसके लिये हम केवल 'फिल. इन.' लिखेंगे) में व्यक्त हुआ है, को वह उसमें निहित दो मूलाधारों से स्पष्ट करता है-सत्तामीमांसात्मक (ऑन्टोलॉजिकल) पूर्वमान्यताएँ और भाषामूलक दार्शनिक पूर्वमान्यताएँ। अत: स्वाभाविक है कि बहुत-सी पुरानी बातों (विट्गिन्स्टाइन के मत की अन्य दार्शनिकों द्वारा की गई व्याख्याओं) को दुहराते हुए भी स्पेख्त का विवेचन अपने उद्देश्य और परिणति में नया है। उसका मत है : विश्लेषणों, विट्गिन्स्टाइन के भाषा-विश्लेषण सहित, की जड़ में न केवल भाषा के स्वरूप और वृत्ति के बारे में एक निश्चित धारणा होती है वरन् साथ ही उसमें कोई सत्तामीमांसात्मक सिद्धान्त भी पूर्वमान्य रहता है। उसकी अपनी विवेचना का एक मुख्य लक्ष्य उक्त दो पक्षों, भाषा-विश्लेषणमूलक और सत्तामीमांसात्मक पक्ष, का परस्पराश्रित स्वभाव विट्गिन्स्टाइन के दार्शनिक-चिंतन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करना है। अत:

स्वाभाविक है कि विट्गिन्स्टाइन के भाषा-सिद्धांत पर विचार करते हुए वह उसके 'चिकित्सामूलक' और 'दार्शनिक-भाषाशास्त्र-मूलक' पक्षों को अछूता छोड़ देता है। इसके विपरीत, उसका अपना अध्ययन और निरूपण उक्त दार्शनिक भाषा-सिद्धान्त के दो प्रतिमानों (मॉडल) के आधार से आगे चलता है। ये हैं : 'आणविक प्रतिमान' और 'भाषा-क्रीड़ा प्रतिमान'। जैसाकि स्पेख्त स्वीकार करता है, उसके इन दो प्रतिमानों की प्रेरणा का स्रोत स्टैगमुलर द्वारा, विट्गिन्स्टाइन की अर्थमीमांसा (सेमॉन्टिक्स) के संदर्भ से सुझायेगये दो भाषा-सिद्धान्त हैं, जो क्रमश: पच्चीकारी सिद्धान्त (मोजेक थ्योरी) और 'शतरंज-सिद्धांत' (चेस थ्योरी) हैं।

स्पेख्त के अनुसार, उक्त दो प्रतिमानों के बीच मूल अंतर इस तरह है : भाषा के आणविक प्रतिमान में पद या शब्द और पदार्थ को पृथक्-पृथक् संरचनाओं के रूप में भेद नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में, आणविक प्रतिमान प्रदत्त पदार्थों के एक जगत् को पूर्वमान्य करता है, जैसा कि यथार्थवादी करते हैं, और इस तरह भाषा की वस्त्वनुरूपता या चित्रण का सिद्धांत प्रतिपादित करता है। दूसरी ओर, भाषा-क्रीड़ा-प्रतिमान में पूर्व-प्रदत्त जगत् की यथार्थता का प्रश्न ही नहीं उठाया जाता वरन् यह देखा जाता है कि भाषा-क्रीड़ा के अंतर्गत पदार्थ कैसे समायोजित होते हैं। तदनुसार भाषा-क्रीड़ा को प्रतिमान रूप में मान्य करने से पदार्थों और भाषा के बीच जिस संबंध की उद्भावना होती है वह एक भाषायी 'विधान-सिद्धांत' होता है, जिसमें भाषा को पदार्थ-जगत् के आधार से न देख कर यह देखा जाता है कि कैसे पदार्थ के विधान में भाषा समाहित है। स्पेख्त अपने मुख्य अध्ययन को इन पाँच शीर्षकों में बाँटता है :

(1) भाषा का आणविक प्रतिमान,
(2) विट्गिन्स्टाइन के भाषा-सिद्धान्त में प्रतिमान-धारणा के रूप में भाषा-क्रीड़ा,
(3) अर्थान्वियन-वृत्ति (सिग्निफिकेशन फंक्शन) के सत्तामीमांसात्मक और ज्ञानमीमांसात्मक आधार,
(4) अर्थ की समस्या की सत्तामीमांसात्मक पृष्ठभूमि,
(5) भाषा में पदार्थों का विधान।

भाषा का आणविक प्रतिमान

आणविक प्रतिमान, जो ट्रक्टेटस में उपलब्ध हैं और जिसका आद्य-प्रवर्त्तक एरिस्टॉटल है, की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :

हमारे नित्य व्यवहार की लोक-भाषा में उसकी वास्तविक तार्किक संरचना छिपी है, या अपूर्णत: प्रकट है; और एक ऐसी तर्कत: पूर्ण आदर्श भाषा संभव है जो उस तार्किक संरचना को उसके शुद्ध रूप में प्रकट कर सके। भाषा, किसी भी भाषा, की आधारभूत वृत्ति चित्रण की है। चूँकि लोक-भाषा में इस चित्रण का स्वरूप अस्पष्ट है, उसका तार्किक विश्लेषण आवश्यक है। इस विश्लेषण द्वारा वाक्यों (वस्तु-स्थितियों के चित्रों) को उसकी इकाइयों में विभक्त किया जाता है। इस विश्लेषणात्मक प्रक्रिया का आधार यह तार्किक सिद्धांत है कि भाषा के सभी अर्थमूलक वाक्य मूल वाक्यों की सत्य-वृत्तियाँ (ट्रुथ फंक्शन्स्) हैं। मूलवाक्य स्वत: विश्लेष्य नहीं है, क्योंकि वे सरल चिन्हों के अव्यवहित संयोग से बनते हैं- ठीक उसी तरह जैसे मूलवाक्यों के अव्यवहित संयोग से मिश्र-वाक्य बनते हैं। वाक्य में सरल चिन्हों (नामों) का संयोग वस्तु-स्थिति में पदार्थों के संयोग का निर्देश करता है। इस तरह भाषा और जगत् का संबंध उक्त चित्रण है, जो प्रक्षेप के निश्चित नियमानुकूल है। भाषा जगत् के एक 'दीर्घ आइने' की तरह है।

उक्त सरल चिन्हों के अतिरिक्त भाषा में शुद्ध तार्किक-चिन्ह (तार्किक अचर) भी होते हैं, जो अर्थहीन (यद्यपि निरर्थक नहीं) होते हैं, क्योंकि वे जगत् के किसी पदार्थ का निर्देश नहीं करते। उनका स्थान स्वत: भाषा की प्रतीकात्मकता में होता है।

स्पेख्त के अनुसार ट्रक्टेटस में आणविक प्रतिमान वाले भाषा-सिद्धांत का चरम रूप मिलता है। इसका एक अधिक स्पष्ट किन्तु अपेक्षया सरल रूप एरिस्टॉटल में मिलता है, जो इस प्रकार है : वस्तुएँ भाषा से बिल्कुल स्वतंत्र है; वस्तुओं के लिए शब्दों का प्रयोग बाद में होता है। वस्तुओं से शब्दों के इस संबंध से शब्दों को एक स्वतंत्र अर्थ-वृत्ति मिलती है। स्वत: भाषा सार्थक और अ-सार्थक ध्वनि-संरचनाओं से बनती है। प्रथम के अंतर्गत शब्द और वाक्य आते हैं, जबकि द्वितीय के अंतर्गत स्वर और अक्षर। शब्द वे चिन्ह हैं जो स्वतंत्ररूपेण और स्वभावेन अर्थ धारण करते हैं, जबकि उनके इकाई रूप अक्षर ऐसा नहीं करते। पुन:, शब्द भी दो तरह के होते हैं - संज्ञा (ओनोमॉटा) और क्रिया (रीमॉटा) : प्रथम का कोई कालिक संदर्भ नहीं होता जबकि द्वितीय का सदैव कालिक संदर्भ होता है। दूसरी ओर, वाक्य वह है जिसमें सभी स्वरात्मक इकाइयों की, उक्त वाक्य के अंदर या बाहर, एक निश्चित अर्थ-वृत्ति होती है। पुन:, वाक्यों को कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे सत्य, असत्य आदि।

अब प्रश्न उठता है कि चूँकि निर्देश्य वस्तुएँ सर्वत्र एक ही हैं, विभिन्न भाषायी लोग अपनी भिन्न-भिन्न स्वरमूलक संरचनाओं से उन एक ही वस्तुओं का निर्देश कैसे कर पाते हैं? एरिस्टॉटल का उत्तर है : विभिन्न भाषा-भाषी लोगों की बुद्धि में वस्तुओं के प्रत्ययों का रूप एक ही होता है और सभी स्वरमूलक संरचनाएँ मूलत: इन्ही प्रत्ययों के चिह्न हैं।

इस तरह, एरिस्टॉटल के अनुसार, प्रस्तुत वस्तुस्थिति के तीन परस्पर-संबद्ध क्षेत्र हैं : विभिन्न भाषाओं की भिन्न स्वरमूलक संरचनाएँ, सभी लोगों की बुद्धि में समरूप प्रत्यय (अर्थात् समरूप वस्तुओं के मनोगत प्रतिबिम्ब), और वस्तुएँ, जो सभी के लिए समान हैं। स्वरमूलक संरचनाएँ प्रत्ययों के माध्यम से वस्तुओं का निर्देश करती हैं। इस संदर्भ में शब्दों और वाक्यों का अंतर भी द्रष्टव्य है : शब्द विशिष्ट प्रत्ययों या विचारों को प्रतिरूपित करते हैं और इस तरह विशिष्ट वस्तुओं का निर्देश करते हैं; जबकि वाक्य बुद्धि में संज्ञाओं के संयुक्त-रूपों का निर्देश करते हैं और उनके द्वारा वस्तुओं के परस्पर संबंधों का। किन्तु एरिस्टॉटल के अनुसार, "निस्संदेह", "किन्तु", "और", "अथवा" जैसे शब्द भी हैं जो किन्हीं विशिष्ट वस्तुओं के लिए नहीं होते - वे अर्थहीन ध्वनियाँ हैं। पुन:, ऐसे शब्द भी हैं जिनके बारे में कोई निश्चित 'अभिधा-अभिधेय' संबंध नहीं समझा जा सकता; जैसे "भाव" (बींग) शब्द, जो अपने क्रिया-रूप "है" में उद्देश्य-विधेय-संबंधक (कॉपुला) होकर ही वाक्य-संरचना में एक निश्चित अर्थवृत्ति रखता है, जबकि वही परात्मक अभिधान के रूप में भी किसी विशिष्ट वस्तु का निर्देश नहीं करता। ऐसा ही एक और शब्द "तादात्म्य" भी है।

किन्तु एरिस्टॉटल की 'वस्तु' की धारणा क्या है? जिन्हें साधारणत: गुणवाचक या संबंधवाचक शब्द कहा जाता है, वे किस प्रकार की 'वस्तुओं' की अभिधाएँ हैं? अवश्य एरिस्टॉटल गुणों, संबंधों को स्वतंत्र सत्ता प्रदान नहीं करता, किन्तु उन्हें वस्तुओं में मानने से क्या आशय है? पुन:, जब वह उन्हें सारतत्त्व के रूप में देखता है, तो वह उन्हें किस प्रकार का भाव प्रदान करना चाहता है? इस संबंध में समस्या के समाधान हेतु वह अस्तित्वयुक्त वस्तु को मूल द्रव्य मानते हुए उसके निर्धारकों (डिटर्मिनेन्ट्स) के रूप में गुणों, संबंधों आदि को सादृश्य से इकाइयाँ (ॲन्टिया) कहता है। उसके

अनुसार, प्रत्येक विधेयात्मक अभिव्यक्ति वस्तु का आशय प्रकट करती है, किन्तु स्वत: 'वस्तु' की अवधारणा कोटियों (केटेगॅरीज) के अनुसार बदलती रहती है। किन्तु बाद के दार्शनिकों को एरिस्टॉटल के इस उत्तर से संतोष नहीं हुआ। फलस्वरूप इन्हीं 'वस्तुओं' को लेकर 'यथार्थवाद' (रीयलिज्म) और 'नाममात्रवाद' (नामिनलिज्म) के बीच विवाद की स्थिति पैदा होती है।

संक्षेप में, एरिस्टॉटल का भाषा-सिद्धांत इस तरह है : भाषा की संरचना आणविक है। अलघुतम स्वतंत्र ध्वनि-इकाईयाँ अक्षर और स्वर हैं। शब्द और वाक्य जैसी अधिक विकसित इकाइयाँ उक्त 'ध्वन्यात्मक अणुओं' से बनती हैं। भाषा की अर्थ-वृत्ति का भी विश्लेषण इसी प्रकार है : लघुतम स्वतंत्र प्रतीक-इकाइयाँ शब्द हैं, जबकि अधिक जटिलता वाली इकाइयाँ, जैसे वाक्य, हेत्वानुमान आदि, शब्दों के अणुवत् संयोगों से बनते हैं- और इस तरह कि उससे शब्दों की मूल अर्थवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। ध्वन्यात्मक चिह्नों और अर्थवृत्ति के इस विश्लेषण के ही समकक्ष है उन प्रत्ययों का विश्लेषण जो शब्दों और अर्थवृत्ति के बीच संबंध कायम करते हैं। भाषा और जगत् का संबंध भी आणविक है : जगत् की वस्तुएँ भाषा से स्वतंत्र और पूर्व-प्रदत्त हैं। 'शब्द' वे भी केवल 'कोटियाँ', और उनमें भी केवल द्रव्य (सब्स्टेन्स) ही बाद में वस्तुओं से संबंधित होते हैं। इस तरह, एरिस्टॉटल भाषा का परस्परता-सिद्धांत प्रतिपादित करता है जो आणविक प्रतिमान पर आधारित है। और हम देख ही चुके हैं कि इस भाषा-सिद्धांत से किस तरह की सत्तामीमांसात्मक कठिनाई पैदा होती है। प्राचीन काल में और मध्यकाल में भी एरिस्टॉटल के उक्त मत से असहमत होने वालों का अभाव नहीं रहा। कई प्रकार के असंतोषजनक समाधान भी ढूँढ़े गए। स्पेख्त के अनुसार, उनके असंतोषजनक होने का एक बड़ा आधारभूत कारण यह रहा कि एरिस्टॉटल के भाषा-सिद्धांत के आणविक प्रतिमान में निहित इस सरल-सीधी युक्ति को किसी ने बदलने का प्रयास ही नहीं किया : कि यदि वस्तुएँ प्रदत्त हों तो बाद में उन्हें इस तरह शब्द-निर्दिष्ट किया जाय कि उससे संपूर्ण भाषा की ठीक-ठीक व्याख्या हो सके। विट्गिन्स्टाइन के बाद के चिंतन का आरंभ-बिंदु इसे बदलने का ही प्रयास है, जिसके अंतर्गत वह उन भाषायी इकाइयों को ढूँढ़ता है जिनमें भाषायी-चिन्ह, मानव-क्रिया और रचित वस्तु एक ऐसी संरचनात्मक एकता बनावें जिसे उसके आणविक घटकों, इकाइयों से न बनाया जा सके।

भाषा-क्रीड़ा एक प्रतिमान-धारणा के रूप में

1. 'भाषा-क्रीड़ा' शब्द का उद्भव और विकास : ट्रक्टेटस में आणविक-प्रतिमान वाली भाषा को निश्चित करने वाले प्रत्यय गणितशास्त्र के प्रत्ययों के सादृश्य से प्रयुक्त हुए हैं - यथा तार्किक-देश, सत्य-युक्ति, वाक्यचर आदि, जिनकी विशिष्टता उनकी आकारिक शुद्धता व स्पष्ट भिन्नता में है। यह भाषा एक निष्कलंक 'आइने' की तरह है। किन्तु विट्गिन्स्टाइन के अनुवर्त्ती दर्शन में भाषा की विशिष्टता बताने वाले प्रत्यय बिल्कुल दूसरे प्रकार के हैं। जैसाकि वह फिल. इन. में कहता है, भाषा एक 'पुरातन नगर' की तरह है : "एक जाल सकरे मार्गों और चौराहों का, पुराने और नये घरों का, और उन घरों का जिनमें कई कालों में पुनर्निर्माण व जीर्णोद्धार हुआ है; और यह सब एकाधिक उपनगरों से घिरा हुआ जिनमें सीधे-समानान्तर मार्ग हैं और समरूप घर हैं।" (वही, 18) हमारी भाषा में भी एक संरचनात्मक विकास परिलक्षित है। वह किसी एकरूप तार्किक या व्याकरणमूलक योजनाधीन होकर निर्मित नहीं है। नई तकनीकी भाषा व शब्दावली उसमें पुनर्निर्माण के समान हैं जबकि गणितशास्त्र व तर्कशास्त्र की कृत्रिम भाषाएँ उस पुरातन नगरी रूप भाषा के उपनगर हैं, जिनका आधार एकरूप योजनाएँ हैं और

जिनका मुख्य नगर के केंद्र से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। इस तरह भाषा लोक-भाषा का एक रूप है। अपने सभी रूपों, प्रयोगों और अपने अंगों की व्यवस्था में भाषा में विविधता है। उसमें कुछ भी ''सदा के लिए स्थिर नहीं है'', उसकी कोई निश्चत सीमाएँ नहीं हैं। विट्गिन्स्टाइन की 'भाषा-क्रीड़ा' धारणा में ये ही बातें मुख्य महत्त्व की हैं।

'भाषा-क्रीड़ा' के संबंध में उक्त बातें हमें विट्गिन्स्टाइन की फिल. इन. के पहले उसकी मूर लैक्चर्स और ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स में मिलती हैं किन्तु पूर्ण-विकसित भाषा-सिद्धांत के रूप में नहीं। एक पूर्ण 'भाषा-सिद्धांत' के रूप में उसकी विवेचना स्ट्रॉसन और स्टैगमुलर ने की है, जिसके आधार पर स्पेख्त 'भाषा-क्रीड़ा' के इन तीन अर्थों का उल्लेख करता है : (1) 'आद्य-भाषा' या 'भाषायी प्रयोग का आद्य-रूप' जैसाकि बच्चे के द्वारा भाषा सीखने की प्रक्रिया में प्रकट होता है, या जो किसी कृत्रिम रूप से रचित किया जा सकता है। विट्गिन्स्टाइन भवन-शिल्पी और उसके सहायक के बीच व्यवहृत भाषा का उदाहरण देता है, जिसमें 'ईट', 'पत्थर','शहतीर', 'गारा' आदि कुछ शब्दों के अलावा इस तरह के कुछ निर्देशात्मक वाक्य होते हैं - ''मुझे ......दो'', इत्यादि। विट्गिन्स्टइन इस तरह की 'भाषा' को 'लोक-भाषा' के संदर्भ में केवल तुलनीय ढंग से अर्थात् समानताएँ और असमानताएँ प्रकट करने वाली विधा की दृष्टि से ही उपयोगी मानता है; अर्थात् उसका उद्देश्य न तो लोक-भाषा की अपूर्णता बताना है और न ही उसे स्थानापन्न करना है। दूसरी ओर, भाषायी प्रयोग के आद्य-रूप रूप में वह (अर्थात् 'भाषा-क्रीड़ा') गणितीय चिन्ह प्रणाली की तरह भी हो सकती है, जैसाकि फिल.इन. (48) में वह साक्रेटीज के स्वप्न की व्याख्या के लिए प्रयुक्त है। कभी-कभी उनसे बौद्धिक-प्रयोग का काम भी लिया जा सकता है (वही, 554)। इसी दृष्टि से विट्गिन्स्टाइन विविध जीवन-रूपों के समकक्ष विविधि भाषाएँ मान्य करता है। और कहता है कि दर्शन का कार्य जीवन-रूपों और विविध भाषाओं के इसी संबंध का निरूपण है। उसका काम स्वत: लोक-भाषा में ही परिवर्तन का नहीं है; यद्यपि यह सही है कि लोक-भाषा को व्यावहारिक कारणों से यहाँ-वहाँ परिवर्तित-परिवर्धित किया जा सकता है, किन्तु यह काम दर्शन का नहीं है। स्पष्ट है कि ट्रक्टेटस वाली 'आदर्श-भाषा' के लिए यहाँ कोई जगह नहीं है।

2. साधारण लोक-भाषा, अपनी उन समग्र प्रक्रियाओं और प्रयोगों के साथ जो उसमें अविभक्त रूप से समाहित हैं :- यद्यपि विट्गिन्स्टाइन ''भाषा'' शब्द का अत्यंत व्यापक, अर्थ लेता है, जिसमें तर्कशास्त्र या गणितशास्त्र की चिन्ह-व्यवस्था भी आ जाती है, तथापि उसका मुख्य आशय ''हमारी शब्द-भाषा या लोक-भाषा'' से ही है।

3. पूर्णत: विकसित लोक-भाषा के ही कुछ आंशिक प्रयोग, आंशिक प्रणालियाँ, वृत्तिमूलक इकाइयाँ या प्रयोग-संदर्भ :- ये सब एक सावयव समग्रता (ऑर्गेनिक होल) के ही घटक हैं। इन अंशभूत भाषा-क्रीड़ाओं को स्पेख्त चार वर्गों में बाँटता है जो इस तरह हैं : (क) भाषायी-क्रियाएँ-निर्देशन, सूचना देना, प्रार्थना करना, शाप देना, कहानी कहना, झूठ बोलना आदि (फिल. इन. 23,249)। इनके साथ ही 'पहेली हल करना', 'गीत गाना' आदि भाषागत उपलब्धियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। (ख) इनमें भाषायी क्रियायें होती हैं, किन्तु क्रीड़ा में उनका निर्णायक हाथ नहीं होता- जैसे, अनुवाद करना, पढ़ना, निर्देशानुसार काम करना, कहानी गढ़ना आदि। (ग) इनमें भाषा का कथन व व्यवहार-पक्ष पृष्ठभूमि में चला जाता है, यद्यपि क्रिया भाषा-संदर्भ से ही होती है-जैसे किसी विवरण के आधार से वस्तु-निर्माण, कल्पनाएँ करना, प्राक्कल्पना बनाना और उसकी पुष्टि करना, प्रयोग करना

और उसके परिणामों को रेखाचित्रों व तालिका द्वारा बनाना, भविषय-कथन करना आदि। (घ) इसमें किसी भाषा-प्रयोग का प्रणालीबद्ध पक्ष सामने आता है- जैसे, इन्द्रिय-प्रदत्तों के शब्दों की भाषा-क्रीड़ा, वर्ण-शब्दों की भाषा-क्रीड़ा आदि। इनके संदर्भ में, ''भाषा-क्षेत्र'' (लिंग्विस्टिक फील्ड) की धारणा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ शब्दों व वाक्यों का अर्थ सदैव एक समग्र प्रणाली से संबद्ध होकर ही प्रकट होता है। रसायन शास्त्र व गणितशास्त्र की प्रतीक-भाषाएँ भी इसके अन्तर्गत आ जाती हैं।

भाषा-क्रीड़ा-प्रतिमान की उपलब्धियाँ

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यद्यपि विट्गिन्स्टाइन भाषा को ''मात्र क्रीड़ा'' नहीं समझता तथापि उसने ''भाषा-क्रीड़ा'' शब्द का व्यवहार क्यों किया ? निस्संदेह इस प्रश्न के समुचित उत्तर के लिए हमें यह जानना होगा कि स्वयं विट्गिन्स्टाइन ने 'भाषा-क्रीड़ा' द्वारा क्या उपलब्ध करना चाहा। और यह तथ्य भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि 'भाषा-क्रीड़ा' उसके लिए एकरूपात्मक न होकर विविध-रूपात्मक है, वे उतनी ही विविध हैं जितनी कि क्रीड़ाएँ, और उनके बीच केवल 'पारिवारिक साद्रश्यों' (फैमिली रिजेंब्लेंसिस) की चर्चा की जा सकती है। इसका सीधा संबंध विट्गिन्सटाइन के दार्शनिक उद्देश्य से है : ''हम एक व्यवस्था कायम करना चाहते हैं भाषा-प्रयोग के अपने ज्ञान के बारे में; एक व्यवस्था एक विशेष उद्देश्य-पूर्ति के लिए; कई संभावित व्यवस्थाओं में से एक; एक-मात्र व्यवस्था नहीं।'' (फिल. इन. 132)

स्पेख्त के अनुसार भाषा के क्षेत्र में भाषा-क्रीड़ापरक विश्लेषण की उपलब्धियाँ इस प्रकार परिगणित की जा सकती हैं -

(अ) भाषा एक ऐसी क्रियापरता है जो भाषायी-सहयोगियों के समग्र जीवन-स्वरूप से संबंधित है। भाषा का मानव-क्रिया से सीधा संबंध है; वह भाषा-क्रिया है। किन्तु केवल बोलना-क्रिया (स्पीच एक्ट) नहीं; पढ़ना, लिखना आदि भी भाषा-क्रियाएँ हैं। भाषा-क्रिया समग्र-जीवन स्वरूप में व्याप्त है और उन समस्त क्रियाओं से मूलत: संपृक्त है जो उक्त जीवन-स्वरूप में है। संवाद में उक्त जीवन-स्वरूप ही आधार-भूत है। जीवन-स्वरूप ही एक तरह से भाषा का पराभौतिक मूल है और उसी से भाषा को क्रियापरकता मिलती है। यह मत आधुनिक भाषा-सिद्धांत और भाषा-विश्लेषण द्वारा भी समर्थित है।

(ब) जहाँ तक भाषा का संबंध प्रतीकों के सौद्देश्य उपयोग से है वह निश्चित नियमों द्वारा होता है, इसलिए भाषा का एक लक्षण उसका ''उपकरण'' होना है। भाषा के वाक्य व शब्द भाषा-क्रिया के उपकरण हैं जिनके साथ-साथ उनके 'उपयोग' का प्रश्न जुड़ा है। विट्गिन्स्टाइन द्वारा प्रयुक्त कृत्रिम भाषा-क्रीड़ाओं का उद्देश्य यह दिखाना है कि उपकरण और उनके उपयोग के साथ-साथ भाषायी नियमों का सवाल जुड़ा हुआ है, अर्थात् उन 'परंपराओं' का उपयोग जो किसी भाषायी समूह में उसके समग्र जीवन-स्वरूप से अत्यन्त घनिष्टत: जुड़ी हैं।

(स) भाषा का रूप एक संरचना का है जिसमें परस्पर भिन्न-भिन्न इकाइयाँ संपृक्त हैं। ट्रक्टेटस क भाषा-सिद्धांत की तुलना इस जीव-सिद्धांत से की जा सकती है कि प्राणी-शरीर के सभी कोष परस्पर स्वतंत्र इकाइयाँ हैं और उनका संयोग ही प्राणी-शरीर है; जबकि फिल. इन. का भाषा-सिद्धांत है - प्राणी-शरीर की इकाइयाँ वैयक्तिक वृत्तिमूलक प्रणालियाँ हैं, जिनमें कोष किसी-न - किसी प्रणाली के सदस्य हैं। वैयक्तिक या विशिष्ट भाषा-क्रीड़ायें शरीर की विविध वृत्तिमूलक प्रणालियों की

तरह हैं, यथा रक्त-संचार प्रणाली, श्वास प्रणाली, दृष्टि प्रणाली आदि। कोष इनसे स्वतंत्र नहीं है। इसी तरह विविध भाषा-क्रीड़ाओं में भी विशिष्ट भाषा-चिन्हों, उनके प्रयोग के नियमों आदि को अलग-अलग समझा जा सकता है, किन्तु समग्र प्रणाली से उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। अवश्य भाषा के शब्दों व वाक्यों को किन्हीं कारणवश हम पृथक् कर सकते हैं, किन्तु 'जीवन' उनमें तभी आता है जब वे समग्र भाषा का अंग बनते हैं।

उक्त भाषा-सिद्धांत के प्रकाश में यह स्पष्ट है कि इसमें अणुवाद पर आधारित 'अभिधा-अभिधेय' रूप भाषा के लिए जगह नहीं है। अब इस भाषा सिद्धांत के अनुसार भाषा की कोई एक समरूप संरचना नहीं है, वरन् कई संरचनाओं, वृत्तिमूलक प्रणालियों, की समग्रता है। वह संरचनाओं के एक परिवार की तरह है जिसके सदस्य एक-दूसरे से संबंधित हैं। इसलिए 'आदर्श-भाषा' न तो आवश्यक है और न वांछनीय ही है।

किन्तु अभी आणविक भाषा-सिद्धांत का समग्ररूपेण खंडन नहीं हुआ है क्योंकि अभी यह दिखाना बाकी है कि भाषा-क्रीड़ा-प्रतिमान अपेक्षाकृत अधिक कुशलतापूर्वक भाषामूलक वृत्तियों का निरूपण कर सकता है। स्पेख्त के अनुसार, उक्त कुशलता का प्रश्न हमें भाषा की अर्थ की वृत्ति (मीनिंग फंक्शन) के भावमूलक व ज्ञानमूलक पूर्वमान्यताओं की ओर ले चलता है।

सार्थकता विधायक-वृत्ति के सत्तामीमांसात्मक व ज्ञानमीमांसात्मक आधार

1. ऑगस्टाइन-प्रदत्त भाषा-सिद्धांत की आलोचना

भाषा-दर्शन की एक प्रमुख समस्या भाषा और वस्तु-जगत् के बीच संबंध के बारे में है। इस 'संबंध' को साधारणत: 'सार्थकताकरण संबंध' (सिग्निफिकेशन रिलेशन) कहा जाता है। लोक-भाषा में इसे इस वाक्य-संरचना से व्यक्त किया जाता है : "(इस) शब्द.....का अर्थ.....है।"

आणविक प्रतिमान के संदर्भ में भाषा के सभी शब्द पूर्व-प्रस्तुत अभिधेयों (वस्तुओं) के लिए विशिष्ट अभिधाओं (नामों) के रूप में सक्रिय होते हैं। तदनुसार इसी में भाषा की सार्थकता उसकी विधायक-वृत्ति में निहित मानी जाती है, और उसी संदर्भ में पूर्वोल्लिखित वाक्य-संरचनाओं का प्रयोग किया जाता है। ऐसा क्यों होता है? विट्गिन्स्टाइन को इसका उत्तर ऑगस्टाइन के भाषा-शिक्षण सिद्धांत में मिलता है, जिसके अंतर्गत प्रशिक्षण-पद्धति या अभ्यास-क्रम इस तरह है : (अ) शिक्षक ऊँचे स्वर में कोई शब्द बोलता है और शिक्षार्थी उसकी आवृत्ति करता है; (ब) शिक्षक वस्तुओं का निर्देश करता है और शिक्षार्थी को कोई विशिष्ट वस्तु दिखाकर कोई शब्द कहता है, जैसे "ईंट"; (स) शिक्षार्थी वस्तुओं का "अभिधान" या "नामांकन" करता है, अर्थात् जब शिक्षक उसे कोई विशिष्ट वस्तु दिखाता है तो वह कोई एक शब्द कहता है।

किन्तु विट्गिन्स्टाइन की दृष्टि में उक्त सरल प्रशिक्षण-पद्धति बच्चों की अपेक्षा जानवारों के प्रशिक्षण के संबंध में अधिक ठीक है। वस्तुत: जर्मन-भाषा में "प्रशिक्षण" के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है "Abrichtung" जो जानवरों के प्रशिक्षण के लिए ही प्रयुक्त होता है, बच्चों के शिक्षण के लिए नहीं। यहाँ विट्गिन्स्टाइन हमारा ध्यान दंड-पुरस्कार आदि द्वारा प्राथमिक शिक्षा-अभ्यास की ओर खींचना चाहता है जिसमें केवल निर्देश द्वारा अभिधा और अभिधेय की पारस्परिकता बतायी जाती है किन्तु जिसमें निर्देशात्मक व्याख्या या परिभाषा का नितांत अभाव होता है। निर्देशात्मक व्याख्या या परिभाषा द्वारा शिक्षक शब्द के अर्थ की वृत्ति समझाता है जैसे, किसी वस्तु की ओर निर्देश कर वह

कहता है -"वह........कहा जाता है", "लोग उसे ....कहते हैं" इत्यादि; या जैसे वह दो सेवों, दो पेंसिलों आदि युगल वस्तुओं को दिखा कर कहता है- "दो..... का यह अर्थ है।" बच्चे की प्राथमिक शिक्षा अवश्य निर्देशात्मक व्याख्या या परिभाषा-रहित निर्देश से आरंभ होती है, जिसके अंतर्गत वह विशेष प्रकार के शब्दों के मुख्य लक्षणों, भाषा में उनकी "जगह", को समझता है। और जब वह यह सीख चुकाता है तब निर्देशात्मक व्याख्या द्वारा सिखाये गए नये शब्दों को भाषा में 'सही जगहों' पर रख सकता है।

इस तरह ऑगस्टाइन-प्रदत्त भाषा-शिक्षण-सिद्धांत की कमजोरी यह है कि उसमें यह मान कर चला जाता है कि बच्चा शुरू से ही बड़ों की निर्देशात्मक व्याख्या समझता है और उसके सहारे शब्दों की अर्थ-वृत्ति समझ लेता है। अर्थात् इस सिद्धांत के अंतर्गत बच्चे में पहले से ही भाषा-क्रीड़ा या संवाद की क्षमता या समझ आरोपित की जाती है। जैसे वह किसी विदेश में आया हुआ एक पूर्ण वयस्क व्यक्ति है जो वहाँ की भाषा नहीं जानता, किन्तु उसे भाषा के शब्दों को वहाँ के लोगों से उपलब्ध निर्देशात्मक व्याख्या के आधार पर ठीक-ठीक समझ लेता है या अनुमान लगा लेता है।

उक्त विवेचन से यह बात साफ होती है कि क्यों आणविक भाषा-सिद्धांत में शब्दों की अर्थ-वृत्ति को पूर्व-प्रदत्त नाम-धारकों और नामों के बीच सादृश्य के आधार पर समझने की कोशिश की जाती है। जैसाकि स्ट्रॉसन कहता है, वस्तुत: भाषा-संवाद को उक्त सादृश्य पर ही आधारित समझ लेने से आणविक व्याख्या सरल हो जाती है। इस संदर्भ में भाषा-प्रशिक्षणार्थी ऐसा व्यक्ति है जिसे पहले से ही किसी हद तक भाषा पर अधिकार है, और जब उसे निर्देशात्मक व्याख्या द्वारा नाम समझाये जाते हैं, उन्हें वह अपने पूर्व भाषा-ज्ञान के आधार से समझ लेता या उसका अनुमान लगा लेता है। इस स्थिति की संरचना इतनी स्पष्ट है कि इसे पूरी भाषा पर लागू करने का प्रयास किया गया है। तदनुसार यह मान लिया गया है कि जिस तरह उक्त संदर्भों में नामों का निर्देश पर्व-प्रस्तुत विशिष्ट नाम-धारकों के लिए होता है, वही सभी या कम से कम अधिसंख्य शब्दों के लिए सही है। दूसरे शब्दों में, वाक्य-संरचना "(इस) शब्द..........का अर्थ........है" के संदर्भ में शब्द '..........' की भावसंज्ञा का नाम-धारक अभिधेय-इकाई का सूचक कोई विशिष्ट पदार्थ '.........' है।

किन्तु भाषा-संबंधी उक्त मत से कई अर्थमूलक व भावमूलक भ्रमों की उद्भावना हुई है। सर्वप्रथम तो यही कि शब्दों की इकाई-मूलक स्थिति से हमें उनके निर्देश्यों को भी इकाई-मूलक समझने का भ्रम होता है। विट्गिन्स्टाइन के अनुसार, नाममात्रवाद (नॉमिनलिज्म) के मूल में यही भ्रम होता है; क्योंकि उसमें केवल व्यक्तिसूचक नामों को प्राथमिक अर्थ वाला समझा जाता है, जबकि अन्य नामों की सार्थकता केवल व्यक्तिसूचक नामों के आधार पर अपचयित रूप में समझी जाता है। इसी से नाममात्रवाद केवल विशिष्ट वस्तुओं, नामधारकों के विशेषणों, गुणों, संबंधों आदि के रूप में अपचयित किये जा सकते हैं।

यथार्थवाद (रीयलिज्म) के मूल में भी वही भ्रम है। अर्थवृत्ति संबंधी उसकी व्याख्या भी वही है जो नाममात्रवाद की है - अर्थात् नामों और पूर्व-प्रदत्त नामधारकों का मूल-संबंध, जिसमें शब्दों के 'प्रयोग' के संबंध में कोई जिज्ञासा नहीं की जाती, केवल नाममात्रवाद के विपरीत, यथार्थवाद में अधिसंख्य शब्दों को 'निरपेक्ष द्रव्यों' के नामों के रूप में समझा जाता है। इसी से 'पूरक' इकाइयों की कल्पना की जाती है जिसका परिणाम होता है-पदार्थीकरण मान्य करने वाला भाववाद। अर्थात्,

जबकि नाममात्रवाद की भावमीमांसा पदार्थ-अपचयन की है, यथार्थवाद की भावमीमांसा पदार्थीकरण की; और विट्गिन्स्टाइन अपने बाद के चिंतन में इन दोनों के बीच का मार्ग अपनाता है; क्योंकि एक बार व्यक्तिसूचक नामों की अर्थवृत्ति को ही समग्र भाषा की व्याख्या का मूलाधार मान लेने से उक्त मत न तो यह बता पाते हैं कि शब्दों के विशिष्ट प्रकार किस तरह सक्रिय होते हैं, और न ही वे इन शब्दों के संदर्भ से वस्तु-प्रकारों की समुचित भावमूलक व्याख्या दे सकते हैं।

2. भाषा-क्रीड़ा में शब्दों की अर्थायन वृत्ति

अत: विट्गिन्स्टाइन इसका विरोधी है कि शब्दों की अर्थ-वृत्ति की व्याख्या का आरम्भ व्यक्तिसूचक नामों और सामान्य पदों की चर्चा से हो। सबसे पहला प्रश्न तो यही है कि किसी भी भाषा में, भवन-शिल्पी और उसके सहायक के बीच भाषायी-संवाद में, शब्दों की अर्थ-वृत्ति कैसे निर्धारित हो। विट्गिन्स्टाइन के अनुसार इसे केवल शब्दों का प्रयोग (यूज) देखकर जाना जा सकता है। भवन-शिल्पी अ द्वारा "ईंट" कहे जाने पर उसका सहायक ब सदैव उसे एक विशेष प्रकार की ही वस्तु लाकर देता है : अत: निरीक्षणकर्त्ता के लिए "ईंट" शब्द की अर्थ-वृत्ति स्पष्ट है। "यह", "यहाँ" जैसे शब्दों के उच्चारण के साथ-साथ किये जाने वाले स्थानसूचक संकेतों द्वारा ही इनकी अर्थ-वृत्ति समझी जा सकती है। पुन:, "क", "ख" जैसे मात्र चिन्ह हो सकते हैं जिनसे कोई निश्चित वस्तु-प्रकार या स्थान-विशेष स्पष्ट नहीं होता : इनसे "किसी-कुछ"-वस्तुओं का कोई निश्चित समूह, जिसका सम्बन्ध चिन्ह "क" के किसी प्रणाली-बद्ध प्रयोग पर आधारित होता है - की ही अर्थ-वृत्ति प्रकट होती है, अर्थात् किसी संख्या की। सारांश यह कि भाषा में सभी शब्दों की अर्थ-वृत्ति एक जैसी नहीं होती : किन्तु वह वस्तुत: होती कैसे है, इसे केवल भाषा में शब्दों के प्रयोगों से ही जाना जा सकता है। अत: यह कहने में कि "भाषा के समस्त शब्दों का कोई-न-कोई अर्थ होता है" वस्तुत: कुछ-भी नहीं कहना है।

फलस्वरूप विट्गिन्स्टाइन भाषाकी समझ के अन्दर्भ में किसी भी प्रकार की अपचय नीति का विरोधी है-न केवल नाममात्रवादी अपचय का, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया, वरन् आभासवादी (फिनॉमिनॉलिस्टिक) अपचय का भी विरोधी है जिसके अन्तर्गत भौतिक वस्तु संबंधी कथनों का अपचयन इन्द्रिय-प्रदत्तों के कथनों में किया जाता है। अब उसका निश्चित मत है कि, लोक-भाषा जैसी है वैसी ही ठीक है। तद्नुसार उसके द्वारा इस वाक्य-संरचना "(इस) शब्द......का अर्थ......है" का उपयोग प्रचलित है : उसके प्रत्येक विशिष्ट उपयोग में उसका एक निश्चित और मूल आशय है जो अन्य किसी वाक्य-रूप में नहीं बदला जा सकता। उदाहरणार्थ, यह वाक्य "(इस) शब्द 'समान' का अर्थ 'समानता' है" इस अन्य वाक्य "(इस) शब्द 'समान' का प्रयोग इस-इस तरह होता है" में नहीं बदला जा सकता।

किन्तु द्रष्टव्य है कि विट्गिन्स्टाइन की भाषा-क्रीड़ा-विधि से जिसमें शब्द-प्रयोग का मुख्य स्थान है, ऐसा लगता है कि किसी शब्द की अर्थ-वृत्ति के सम्बन्ध में सभी कथनों को उसके प्रयोग के कथनों में अपचयित किया जा सकता है। स्पेख्त का मत है कि वस्तुत: विट्गिन्स्टाइन शब्द की अर्थ-वृत्ति और प्रयोग के बीच निकटतम सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है (अपचयन नहीं) : शब्द का जो अर्थ है वह केवल उसके प्रयोग से जाना जा सकता है। इसी दृष्टि से वह "(इस) शब्द...... का अर्थ.....है" वाक्य-संरचना का उपयोग करता है।

इस तरह विट्गिन्स्टाइन एक ओर शब्दों के साधारण प्रयोगों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए विट्गिन्स्टाइन नाममात्रवाद के अपचयन से बचता है और दूसरी ओर उक्त वाक्य-संरचना को शब्द-प्रयोग से बाँधकर वह यथार्थवाद की गलतियों से बचता है। भाषा-क्रीड़ा में शब्द-प्रयोग के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी शब्दों का निर्देश पूर्व प्रदत्त विशिष्ट वस्तुओं का नहीं होता।

अत: भाषा-क्रीड़ा में शब्दों के प्रयोग से आरम्भ करने के पीछे विट्गिन्स्टाइन का उद्देश्य आणविक प्रतिमान की इस सत्तामूलक पर्वमान्यता से बचना है कि प्रत्येक नाम का सम्बन्ध भाषा से स्वतन्त्र विशेष नामधारक से होता है। फलस्वरूप वह नाममात्रवाद और यथार्थवाद जैसी सत्तामीमांसात्मक धारणाओं से भी, जो उक्त भाषा-सम्बन्धी आणविक प्रतिमान पर ही आधारित हैं, बचता है। स्वयं उसके भाषा-क्रीड़ा-प्रतिमान में सत्तामीमांसात्मक स्थिति एक तटस्थता की होती है, जैसाकि हम अभी देखेंगे।

3. भाषा-क्रीड़ा में सत्तामूलक निर्धारण की सम्भावना

सत्ता-विषयक तटस्थता से कई प्रकार की सत्ता-मीमांसात्मक व्याख्याओं का द्वार खुलता है। विट्गिन्स्टाइन के परवर्ती चिंतन के सन्दर्भ से ये सम्भावनाएँ कौन-सी हैं? स्पेख्त के अनुसार हैं:

(अ) प्रथम तो यही विवादास्पद हो सकता है कि क्या विट्गिन्स्टाइन शब्दों के अर्थ को उनके प्रयोगों के आधार पर समझने के अलावा, जो अर्थान्वित हुआ है उसके सम्बन्ध में भी कोई सत्ता-मूलक कथन करता है। इस सन्दर्भ में विट्गिन्स्टाइन के मत को सूत्रबद्ध रूप में इस तरह रखा जा सकता है - जैसाकि पोल और विज्डम ने कहा है-विट्गिन्स्टाइन ने दार्शनिकों को सत्तामीमांसात्मक प्रश्नों के बदले भाषायी प्रश्न करना सिखाया। इस दिशा में विट्गिन्स्टाइन द्वारा अभिधा-अभिधान प्रतिबद्धता की आलोचना से भी बल मिलता है, यदि उस आलोचना से यह समझा जाय कि अभिधाएँ (या नाम) वस्तुत: वैसी नहीं हैं, अर्थात् उनसे कोई वास्तविकता सम्बद्ध नहीं है। किन्तु शब्दों के प्रयोग-मूलक अर्थ को महत्त्व देने में क्या विट्गिन्स्टाइन का अभिप्राय यही था? स्पेख्त के अनुसार उसके मत की एक और व्याख्या भी सम्भव है जिसके अनुसार उसे अर्थान्वित के सम्बन्ध में सत्ता-मूलक कथन करने में कोई आपत्ति नहीं है - ''कोई यह पूछे कि 'कल्पना' का प्रयोग कैसे होता है तो उसका आशय यह नहीं होता कि जब कोई व्यक्ति कल्पना करता है तब कल्पित बिम्ब का स्वरूप क्या होता है? किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि मैं केवल शब्दों के बारे में बात करना चाहता हूँ; क्योंकि कल्पना की प्रकृति के बारे में प्रश्न इतना ही 'कल्पना' शब्द के बारे में है जितना कि मेरा प्रश्न। और मैं केवल यह कह रहा हूँ कि इस प्रश्न का निर्णय संकेत या निर्देश से नहीं होता, न उस व्यक्ति के द्वारा जो कल्पना कर रहा है और न किसी अन्य के द्वारा ही; न ही किसी प्रक्रिया के निरूपण से ही होता है। प्रथम प्रश्न शब्द की व्याख्या के बारे में भी है; किन्तु वह हममे एक गलत प्रकार के उत्तर की अपेक्षा पैदा करता है।'' (फिल. इन. 370) पुन:, ''व्याकरण (ग्रॉमर) द्वारा तत्त्व अभिव्यक्त होता है'' और ''व्याकरण बताता है कि कोई किस प्रकार का पदार्थ है'' (फिन. इन. 371, 373; यहाँ ''व्याकरण'' का अर्थ है-भाषा-प्रतीकों के प्रयोग के नियम)।

इससे स्पष्ट है कि विट्गिन्स्टाइन इसके विरुद्ध नहीं है कि भाषा-प्रयोग और तत्त्व को व्याकरण और पदार्थ-प्रकार आदिके बीच सम्बन्ध माना जाय। केवल वह उस सम्भावित गलती से बचना चाहता है जो उपर्युक्त सहसम्बन्ध के सन्दर्भ में पदार्थ की अति सीमित धारणा को लेकर उत्पन्न होती है।

(ब) यह प्रश्न कि क्या विट्गिन्स्टाइन फिल. इन. में अस्तित्त्वमूलक समस्याओं को भाषायी समस्याओं में अपचयित करना चाहता है, अनुभूतिमूलक शब्दों की उसकी विवेचना से स्पष्ट किया जा सकता है। अवश्य फिल. इन. 293 जैसे अंशों में वह भाषायी व्यवहार-वाद (लिंग्विस्टिक बिहेवियरिज्म) का समर्थन करता प्रतीत होता है, जिसके अनुसार अनुभूति-सम्बन्धी वाक्यों का अपचयन अनुभूतिमूलक शब्दों के प्रयोगों सम्बन्धी वाक्यों में किया जाता है। तदनुसार, उदाहरणार्थ, 'पीड़ा' जैसे शब्द का एक निश्चित प्रयोग होगा, किन्तु वह किसी वस्तु-विशेष का नाम नहीं होगा। स्ट्रॉसन ने विट्गिन्स्टाइन के मत की व्याख्या इसी आधार पर की है।

किन्तु उसी फिल. इन. के अनुसार विट्गिन्स्टाइन के विचारों की एक अन्य व्याख्या भी सम्भव है : "क्या हम नित्य ही अनुभूतियों के बारे में बात नहीं करते और उन्हें नाम नहीं देते ?" (वही, 244) यहाँ उसके लिए समस्या, जैसाकि मॉल्काम और पासमोर ने कहा, केवल यह है कि कैसे "वह सम्बन्ध कायम किया जाता है जो नाम और नामांकित वस्तु के बीच है" (वही)। इसमें वह इसका विरोधी है कि नामांकन किसी "व्यक्तिगत वस्तु" या "आंतरिक वस्तु" का होता है। निस्संदेह यही विट्गिन्स्टाइन द्वारा "वैयक्तिक भाषा" (प्राइवेट लेंग्वेज) की आलोचना का भी आधार है।

पुन:, व्यवहारवाद और द्वैतवाद की उसकी आलोचना की तह में भी उसका उपर्युक्त विरोध ही है : अर्थात् अनुभूति और अनुभूतिवाचक शब्द के बीच नामांकन-सम्बन्ध की गलत व्याख्या का विरोध। व्यवहारवाद उन कथनों को, जिनमें अनुभूति-शब्द आते हैं, उन अन्य कथनों में बदलता है जो व्यवहार की विधाओं के बारे में हैं। इस तरह अनुभूतियाँ उसके लिए "व्यर्थ की इकाइयाँ" हैं : दूसरी ओर, द्वैतवाद अनुभूति-शब्दों वाले कथनों की व्याख्या इस तरह करता है मानो वे एक "दूसरे जगत्" में अवस्थित "विशिष्ट पदार्थों" का निर्देश करते हों। विट्गिन्स्टाइन इन दोनों मतों को अस्वीकार करता है। वस्तुओं के संबंध में "आंतरिक या बाह्य" वाली विधा को वह सीमित समझता है, यदि अनुभूतियों को भी उस विधा में सम्मिलित किया जाय तो। शायद उसकी ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स (64) से इस पर कुछ प्रकाश पड़ता है, जिसमें वस्तुओं के विभिन्न प्रकारों के बीच भ्रम की बात कही गई है : अनुभूतियाँ और भौतिक पदार्थ मूलत: विभिन्न प्रकार के पदार्थ हैं इस तरह के कथन इन कथनों जैसे नहीं हैं - "एक रेल्वे ट्रेन, एक रेल्वे स्टेशन और रेल्वे डिब्बा विभिन्न प्रकार के पदार्थ हैं", वरन् इन कथनों जैसे हैं - "एक रेल्वे ट्रेन, एक रेल्वे दुर्घटना और एक रेल्वे नियम विभिन्न प्रकार के पदार्थ हैं" किन्तु ऐसे विभिन्न प्रकार के पदार्थों के सम्बन्ध में निश्चित अस्तित्त्वमूलक धारणाएँ क्या हो सकती हैं, यह अभी भी गवेषणा का विषय है।

संक्षेप में, शब्दों की अर्थवृत्ति के सम्बन्ध में विट्गिन्स्टाइन के भाषा-सिद्धांत की ये मुख्य बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, शब्दों की अर्थवृत्ति का "(इस) शब्द.....का अर्थ.....है" प्रकार की वाक्य-संरचना ही निरूपण करती है, यदि उसकी व्याख्या साधारण व्यक्ति-सूचक नामों के आधार पर नहीं की जाय। द्वितीय, उसकी उचित समझ भाषा-क्रीड़ा में शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही सम्भव है। तृतीय, केवल इसी व्याख्या के आधार पर न केवल शब्दों की अर्थवृत्ति वरन् स्वत: अर्थान्वित पदार्थ का भाव भी निश्चित किया जा सकता है। अब इस पर ध्यान देना चाहिये कि विट्गिन्स्टाइन के भाषा-दर्शन में "अर्थ" का क्या अर्थ है।

अर्थ की समस्या की सत्तामीमांसात्मक पृष्ठभूमि

1. अर्थ का आणविक सिद्धांत : फिल. इन. में विट्गिन्स्टाइन अर्थ संबंधी उन कई मान्यताओं की चर्चा करता है जिनका आधार भाषा का आणविक प्रतिमान है। ये मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

(अ) अर्थ अर्थान्वित पदार्थ से अभिन्न है : यह उसके अपने ट्रक्टेटस का सिद्धांत है, जहाँ ''अर्थ'' का अर्थ है 'नामकरण' (3.202, 3.203)। इस सिद्धांत में पहली समस्या है, जैसाकि बहुत पहले प्लेटो ने भी कहा था (सोफिस्ट 261^{b} 5-$264^{d}1$), यदि नामधारक ही न रहे तो अर्थ का क्या हो ? उदाहरणार्थ, यदि 'न. न.' नाम वाला व्यक्ति मर जाय तो भाषा में ''न. न.'' का सारा अर्थ ही लुप्त हो जाएगा और इस तरह के कथन का कोई अर्थ ही न होगा कि ''न. न. मर गया''। अपनी इस परिणति से उक्त सिद्धांत इन्कार नहीं कर सकता; इसलिए उसमें परिवर्तन आवश्यक है। इस परिवर्तन पर विट्गिन्स्टाइन के ट्रक्टेटस के अलावा रसेल के लॉजिकल एटॉमिज्म में भी ध्यान दिया गया है। वहाँ यह दिखाने की कोशिश की गई कि ''साक्रेटीज़'' जैसे व्यक्तिसूचक नाम केवल छद्म नाम-शब्द (सूडो नेम्स) हैं। वस्तुत: वे 'तार्किक अणुओं' के किसी समुच्चय के लिए प्रयुक्त होते हैं । इस तरह शब्द (नाम) ''साक्रेटीज़'' का अर्थ और नामधारक व्यक्ति (पदार्थ) साक्रेटीज़ एकात्म नहीं हैं, रसेल के अनुसार ये नामों के अर्थ-निरूपणों के संक्षेप हैं। इतना ही नहीं, वे स्वयं जो निरूपित करते हैं वह कोई विशेष न होकर वर्गों या श्रेणियों की जटिल प्रणालियाँ हैं। किन्तु क्या इससे पूर्वोल्लिखित समस्या का अन्त हो गया ? नहीं, क्योंकि अब वह समस्या 'यथार्थ' नामों और नामधारक तार्किक अणुओं की एकात्मकता को लेकर पुन: उठती है। ट्रक्टेटस में इन 'यथार्थ' नामों को ''सरल चिन्ह'' कहा गया है, जो विश्लेषित वाक्यों से प्राप्त होते हैं । इनकी अनुरूपता मूल वस्तूओं (तार्किक अणुओं) से होती है। इस तरह, नामों के अर्थ हैं : ''वाक्यों में प्रयुक्त सरल चिन्हों को नाम कहते हैं। किसी नाम का अर्थ है कोई मूल वस्तु। मूल वस्तु उसका अर्थ है।'' (3.202,3.203) किन्तु विट्गिन्स्टाइन इन सरल चिन्हों या वस्तुओं का कोई उदाहरण नहीं देता। संभवत: यहाँ नामों को किन्हीं निर्देशक सर्वनामों के आधार पर समझा जा सकता है - जैसे ''यह'' ''वह'' आदि जो अव्यवहित रूप से किसी वस्तु का निर्देश करते हैं और उस वस्तु के लुप्त होने पर अर्थहीन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, ''यह लाल (है)'' वाक्य का कोई अर्थ तभी तक है जब तक कि ''यह'' उस निश्चित और वस्तुत: वर्तमान वस्तु, जिसे ''लाल'' से लक्षित किया जा रहा है, का निर्देश करता है।

(ब) विट्गिन्स्टाइन का अगला कदम है नाम सम्बन्धी उक्त सिद्धान्त की आलोचना, जो वह लोक-भाषा में ''अर्थ'' शब्द के प्रयोगों के विश्लेषण-सन्दर्भ से करता है और जिसके अन्तर्गत दिखाता है कि नाम से नामधारक को एकात्म करने वाला मत गलत है। लोकभाषा में ''अर्थ'' का समानार्थक ''नामधारक'' नहीं है। फिल. इन. की अपनी समीक्षा में स्ट्रॉसन (मॉइन्ड 63, 1954) कहता है कि नाम-नामधारक की अनुरूपता के सिद्धान्त की उक्त आलोचना सही है, किन्तु जिस आधार पर या कारण-स्वरूप यह आलोचना विट्गिन्स्टाइन करता है वह ठीक नहीं है : वस्तुत: नामों का कोई अर्थ होता ही नहीं, केवल किन्हीं विशेष स्थितियों में वह उसे दिया जाता है। किसी भी पत्थर, मनुष्य या कुत्ते आदि को ''पीटर'' कहा जा सकता है; अर्थात् किसी वस्तु-विशेष का निर्देश किसी सामान्य भाषा-परंपरा या नियम द्वारा परिचालित नहीं होता। यही कारण है कि शब्द-कोष में 'नामों' के लिए जगह नहीं होती। किन्तु स्पेख्त के अनुसार इसका एक दूसरा पक्ष भी है : यदि किसी ठोस सन्दर्भ में कोई व्यक्तिसूचक

नाम किसी निश्चित पदार्थ को दिया जाता है, तो उक्त नामकरण की तह में कुछ निश्चित नियम हैं जो केवल एक ही व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को ज्ञात हैं। अत: विट्गिन्स्टाइन को व्यक्तिसूचक नामों के 'अर्थ' से परहेज नहीं (फिल. इन. 40, 43, 55, 78)। वस्तुत: नामों के अर्थ-सम्बन्धी उक्त विवाद का आधार यह तथ्य है कि भाषा में नामों को अर्थ देना या नहीं देना यादृच्छिक विषय है। किन्तु इससे विट्गिन्स्टाइन के इस मुख्य प्रतिपाद्य विषय पर कोई आँच नहीं आती कि नाम के अर्थ और नामधारक के बीच अनुरूपता का आणविक सिद्धान्त गलत है।

(स) इसके पश्चात् विट्गिन्स्टाइन यह दिखाने में प्रवृत्त होता है कि नामधारक के अभाव में नाम का क्या अर्थ हो सकता है। इसी सन्दर्भ में वह अर्थ सम्बन्धी अपने सिद्धान्त का विकास करता है जिसके लिए वह पुन: भाषा-क्रीड़ा-विधि का उपयोग करता है। उदाहरणार्थ भवन-शिल्पी अ और उसके सहायक ब के बीच भाषा-क्रीड़ा को लें। मान लें कि "ह" और "र" जैसी निश्चित मुद्राएँ उन औज़रों पर अंकित हैं जिनका उपयोग अ भवन-निर्माण में करता है। जब वह ब को "ह" मुद्रांकित दिखाता है तब ब उस मुद्रा वाले औज़ार को उसे लाकर देता है। इसी तरह "र" मुद्रा वाले के बारे में भी। किन्तु मान लें कि "र" मुद्रांकित औज़ार टूट-फूट गया है और इसलिए जब अ अपने सहायक ब को "र" मुद्रा दिखाता है तब ब समझ नहीं पाता कि वह क्या करे (शायद उनके बीच इस आकस्मिक स्थिति के लिए कोई भाषागत समझौता या नियम नहीं है)। अब यह कहा जा सकता है कि इस भाषा-क्रीड़ा में "र" का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि अब वह वस्तु ही नहीं जिस पर वह मुद्रा हो। किन्तु यहाँ अ और ब के बीच एक नया समझौता सम्भव है : जब भी "र" मुद्रा वाला औज़ार टूट-फूट जाय और अ वह मुद्रा ब को दिखाए तो ब अपना सिर हिला देगा। तब इस 'भाषा-क्रीड़ा' में अभी भी "र" की एक निश्चित वृत्ति है, यद्यपि उसकी मुद्रा वाला पदार्थ नहीं रहा। अर्थात् चिन्ह "र" का अभी भी एक निश्चित "अर्थ" है, यद्यपि उसके नामधारक का अस्तित्त्व समाप्त हो चुका है।

तात्पर्य यह कि नाम का अर्थ नामधारक के साथ उसके अव्यवहित सम्बन्ध के कारण नहीं है वरन् उसके प्रयोग के नियमों के कारण है, उसके प्रयोग के निश्चित रूप और विधा के कारण। यही कारण है कि "साक्रेटीज़" शब्द का अर्थ उसके नामधारक की मृत्यु के पश्चात् भी बना रहता है। हमारी लोक-भाषा में स्पष्ट ही ऐसे निश्चित नियम हैं जो व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् भी उसके नाम के प्रयोग का रूप निर्धारित करते हैं।

(द) भाषा में व्यक्तिवाचक नामों के अलावा अन्य शब्दों पर भी विट्गिन्स्टाइन का उक्त विश्लेषण लागू किया जा सकता है (यद्यपि राइल जैसे दार्शनिक इसके पक्ष में नहीं हैं)। तब उसके मत का सामान्य रूप इस तरह होगा : शब्दों द्वारा अर्थान्वित वस्तुओं विषयक कथन का तर्क निश्चय ही उस तर्क से अलग है जो उन शब्दों के अर्थ विषयक कथनों का है; प्रथम प्रकार के कथन वस्तुओं के बारे में आनुभविक या प्रागनुभविक कथन हैं जबकि द्वितीय प्रकार के कथन शब्दों और उनके प्रयोगों के बारे में भाषायी कथन हैं।

स्पेख्त के अनुसार, विट्गिन्स्टाइन के उक्त मत की खूबियाँ इस प्रकार हैं :

(क) इसके अंतर्गत आवश्यक नहीं कि विश्लेषण-संदर्भ में किसी तरह की प्राथमिक सत्तामीमांसात्मक स्थिति स्वीकार की जाय-जैसे शब्दों की अर्थवृति के संबंध में अभिधावादी स्थिति।

(ख) साथ ही यह यथार्थवाद को भी प्रश्रय नहीं देता, क्योंकि अर्थ का आधार प्रयोग-विधा है और इसलिए अर्थ-मंडित वस्तु को भी निरपेक्ष द्रव्य रूप नहीं समझा जा सकता।

(ग) यह एक ओर 'ऑक्सफोर्ड दार्शनिकों' के अर्थ संबंधी मत और दूसरी ओर रसेल, क्वॉइन, कॉरनेप और गुडमॅन जैसे दार्शनिकों के अर्थ संबंधी मत को एक-साथ अधिक स्पष्टतापूर्वक समझने में मदद करता है : जहाँ एक ओर विट्गिन्स्टाइन अपने प्रसिद्ध सूत्र "अर्थ के सम्बन्ध में नहीं, प्रयोग के सम्बन्ध में पूछो" में प्रथम मत की आधारशिला रखता है वहाँ दूसरी ओर यह कहने में कि भाषा का 'व्याकरण' हमें संबंधित वस्तुओं के प्रकार की जानकारी देता है वह द्वितीय मत के अनुकूल वस्तुवादी अर्थ की व्याख्या को भी उचित ठहराता है।

2. विट्गिन्स्टाइन और अर्थसंबंधी प्लेटोवादी और मनोवैज्ञानिक सिद्धांत :

अब स्पष्ट है कि अपने प्रयोगमूलक अर्थ-सिद्धांत के कारण विट्गिन्स्टाइन प्लेटोवादी या मनोवैज्ञानिक अर्थ-सिद्धांत की आलोचना करेगा। उसके अनुसार, दोनों ही अर्थ-संबंधी मत इसलिए गलत हैं क्योंकि वे "अर्थ" शब्द की विशेष वृत्ति के कारण अर्थ को शब्द से अलग कोई विशेष पदार्थ मानने की गलती करते हैं, जो या तो मनस् में होता है या किसी स्वाधृत आदर्श वस्तु में। प्लेटो-प्रतिपादित स्वाधृत अर्थ-वस्तु की स्वतंत्र सत्ता का मत हुस्सर्ल के लेखों में सर्वाधिक स्पष्ट है। यह मत इस तथ्य पर आधारित जान पड़ता है : प्रकथनात्मक मूल वाक्यों का अर्थ वही रहता है, यद्यपि उससे सम्बन्धित निर्णय-क्रियाएँ सन्दर्भ-भेद से भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। और यही बात शब्दों के अर्थ पर भी लागू होती है। इस तथ्य का विकास हुस्सर्ल इस धारणा में करता है कि अर्थ और अर्थान्वित वस्तु एक ही नहीं हैं और यह कि अर्थ एक भावरूप आदर्श द्रव्य (सामान्य) है। दूसरी ओर, मनोवैज्ञानिक अर्थ-सिद्धांत अर्थ को एक तरह की मानसिक सत्ता, मनस् में शब्द द्वारा अर्थायित वस्तु का प्रतिबिम्ब (प्रत्यय), मानता है (इसकी कुछ चर्चा पहले एरिस्टॉटल के भाषा-सिद्धांत के सन्दर्भ में हम कर चुके हैं)।

उक्त दोनों ही सिद्धांतों के बीच में यह समानता है : यहाँ वस्तु-स्थिति तीन स्तरों वाली - शब्दों का एक स्तर, उसके समानान्तर अर्थों का दूसरा स्तर, और शब्दों द्वारा अर्थायित (निर्देशित) वस्तुओं का तीसरा स्तर, जो प्रथम दो स्तरों को परस्पर जोड़ने का काम करता है। इन सिद्धांतों के बीच भेद केवल इतना है कि वे अर्थ रूप स्तर की सत्तामूलक व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंगों से करते हैं; अन्यथा, दोनों ही मत यह मानते हैं कि 'चिन्हों' का अर्थ वही रहता है, यद्यपि उससे निर्देशित वस्तु परिवर्तित हो जाती है और यह कि किसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कोई भी चिह्न लिया जा सकता है। यहाँ 'अर्थ' को एक सत्तामूलक स्वतंत्रता मिली दिखाई देती है - शब्द (चिन्ह) तथा शब्द द्वारा निर्देशित वस्तुविशेष दोनों से उसकी स्वतंत्रता, जो पुन: इस तथ्य से भी पुष्ट होता है कि "अर्थ" एक संज्ञा या अभिधा शब्द है जिसकी मूलवृत्ति याथार्थ वस्तुओं को अभिहित करना है। और निस्संदेह अधिसंख्य संज्ञा-शब्दों की वृत्ति यही है। किन्तु विट्गिन्स्टाइन का मत है कि "अर्थ" जैसे शब्द इस तरह के संज्ञा-पद नहीं हैं। "अर्थ" शब्द कोई द्रव्य-निर्देशक संज्ञा नहीं है जो उसके सम्बन्ध में समुचित विश्लेषण से देखा जा सकता है। तब स्पष्ट होता है कि अन्य शब्दों की तरह उसका अर्थ भी उसके प्रयोग या प्रयोग के नियमों से निश्चित होता है; अर्थात् वह कोई पूर्वप्रदत्त या आद्य इकाई नहीं है। यद्यपि "अर्थ" और "प्रयोग-नियम" एक ही नहीं है, 'अर्थ' सदैव प्रयोग-नियमों द्वारा "परिभाषित", "व्याख्यायित" या "गठित" होता है और इसलिए उनसे पृथक्करणीय नहीं है। वह नियमों के अतिरिक्त 'कुछ' नहीं है : उसका अभिप्राय केवल शब्द-प्रयोगों की किन्हीं विशेषताओं का शब्दान्तरेण विवरण है।

3. विट्गन्स्टाइन में "अर्थ" और "प्रयोग" - कुछ परिणतियाँ और समस्याएँ :

विट्गन्स्टाइन के उक्त अर्थ-संबंधी मत के संदर्भ में समकालीन ब्रिटिश दार्शनिक "प्रयोग" (यूज) और "प्रयुक्ति" (यूसेज़) के बीच अक्सर भेद करते हैं। जैसे, राइल, जब वह कहता है : "ज्यादा अधिक भ्रमात्मक····· है इनके बीच की अस्पष्टता-प्रयोग, अर्थात् किसी-कुछ के माध्यम से क्रिया का ढंग, और प्रयुक्ति·····जो एक संस्कार, व्यवहार, फैशन या चलन है।" ('ऑर्डिनरी लेंग्वेज', दि फिलॉसफिकल रिव्यू 62, 1953)

इसमें संदेह नहीं कि स्वयं विट्गन्स्टाइन उक्त भेद की उपेक्षा करता है। अत: "प्रयोग" के उसके प्रयोग को इस तरह समझा जा सकता है : (अ) भाषा के अन्दर किसी शब्द के सभी प्रयोगों या प्रयोग-विधाओं की समग्रता को वह "प्रयोग" नहीं कहता है। किसी शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं, किन्तु उसके सभी प्रयोगों की समग्रता केवल एक ही होगी। (ब) न ही "प्रयोग" से उसका अर्थ शब्द के विशिष्ट प्रयोग हैं, क्योंकि इनकी संख्या अनेक और निरंतर वृद्धिमान हो सकती है (नयी स्थितियों के लिए शब्दों के प्रयोग से)। (स) पुन:, शब्द के आकस्मिक या गलत प्रयोगों से उक्त "प्रयोग" को अलग रखना होगा, क्योंकि वैसे प्रयोगों से किसी नये अर्थ की सृष्टि नहीं होती। (द) किन्तु शब्द या चिन्ह के अनंत विशिष्ट प्रयोगों में से उन प्रयोग-विधाओं को अलग-अलग किया जा सकता है जो सततरूपेण व्यवहृत होते रहते हैं; इन विविध प्रयोग-विधाओं की तह में निश्चित नियम होते हैं। 'प्रयोग' और 'अर्थ' की समतुल्यता-सम्बन्धी विट्गन्स्टाइन की धारणा में सदैव यही प्रयोग-विधाएँ हैं जो किन्ही परोक्ष या प्रत्यक्ष नियमों द्वारा परिचालित हैं।

जहाँ तक इस तरह की प्रयोग-विधाएँ किसी निश्चित भाषा-समाज में, नियमबद्ध रूप में सहज स्वीकृत हैं उन्हें 'भाषायी प्रयुक्ति' कहा जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रयुक्ति-नियम सदैव सहज या स्वीकृत हों; उन्हें भाषा-कोश आदि के माध्यम से किन्हीं अवसरों पर बनाया भी जा सकताहै। तदनुसार यह स्पष्ट है कि किसी शब्द के कई अर्थ होने का तात्पर्य केवल यह है कि उसके प्रयोग की कई विधाएँ हैं; उस शब्द के लिए प्रयोग के कई नियम-वर्ग हैं। यह बात उसके मूर लेक्चर्स से स्पष्ट है। विट्गन्स्टाइन के अनुसार, वे प्रयुक्ति-नियम, जो शब्दार्थ रचित करते हैं, कई तरह से रूपायित किये जा सकते हैं : (क) निश्चित निरूपणात्मक वाक्यों द्वारा, जैसे "है" संयोजक-शब्द के लिए कि वह इस-इस तरह प्रयुक्त होता है; (ख) शब्द की प्रयुक्तियों के ठोस उदाहरणों-वाक्यों-द्वारा; (ग) निर्देशात्मक व्याख्या द्वारा, जैसे विविध लाल वर्ण की वस्तुओं की ओर इंगित करते हुए "लाल" शब्द का प्रयोग करते हुए कहना, "यह वर्ण लाल है"; (घ) शाब्दिक परिभाषा द्वारा, जैसे "कुँवारा" शब्द की परिभाषा एक अन्य शब्द "अविवाहित (पुरुष)" द्वारा करना; (ड.) 'व्याकरण वाक्य' द्वारा, जैसे "कुँवारा" शब्द को इस व्याकरण वाक्य द्वारा स्पषट करना - "सभी कुँवारे अविवाहित पुरुष हैं।"

यहाँ द्रष्टव्य है कि विट्गन्स्टाइन द्वारा शब्द के प्रयुक्ति-नियमों को केवल उसके प्रयोग पर आधारित करने में एक निश्चित विधिमूलक मान्यता निहित है, जिसे स्पेख्त "भाषायी प्रयोग पर चिन्तन (इमॉनेन्ट रिफ्लेक्शन)" की विधि कहता है। इस विधि की संभावना इस तथ्य में निहित है : अपने बचपन में हमने अपने एक विशेष भाषा-समाज के अन्दर भाषा के शब्दों का ठीक प्रकार प्रयोग करना सीखा है जैसाकि सहजत: बिना इसके हमारी भाषा संवाद के सर्वसामान्य लक्षण से युक्त नहीं

हो सकती। अब यदि वयस्क रूप में हम से कोई पूछे कि भाषायी प्रयुक्ति-नियम क्या हैं तो हमें केवल नित्य भाषायी व्यवहार में शब्दों के प्रयोग पर ध्यान देने की आवश्यकता होगी। और चिंतन उस हद तक अन्तस्थ होगा जहाँ तक कि उत्तर देने के लिए उसे भाषायी प्रयोग की जानकारी पहले से ही है।

अवश्य उक्त विधि में यह पहले ही मान्य कर लिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति समान नियमों का पालन करता है और इसलिए किसी एक व्यक्ति की भाषायी प्रयुक्ति सामान्य भाषायी प्रयुक्ति भी है। और यहीं उस विधि की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं; क्योंकि भाषायी प्रयुक्तियाँ वस्तुत: इतनी समरूप नहीं जितनी कि यहाँ मान्य कर लिया गया है। एक ही भाषा-समाज में बोलियों, तकनीकी भाषा, सामाजिक भाषा-स्तरों आदि को लेकर प्रयुक्ति-भेद हो सकते हैं। फिर भाषायी नियम सदैव स्पष्टत: प्रस्तुत भी नहीं किये जाते। अत: कई चिंतकों का मत है कि उक्त विधि के अलावा अन्य विधियों, जैसे सांख्यिकीय भाषा-गवेषणा आदि, की आवश्यकता है जिससे कि नियमों के सर्वसामान्य सही कथन संभव हो सकें। यहाँ विट्गिन्स्टाइन - जो केवल चिन्तन की विधि का प्रयोग करता है - के समर्थन में केवल इतना कहा जा सकता है, जो वस्तुत: वह स्वयं कहता है, कि उसे अपने भाषायी विश्लेषण का उद्देश्य (या प्रेरणा) दार्शनिक समस्याओं से मिलता है (फिल. इन. 109) - अर्थात् आनुभविक भाषाविज्ञान उसकी उद्देश्य-पूर्ति में मदद नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि उसका समस्त भाषा-विश्लेषण किन्हीं दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने का साधन है।

विट्गिन्स्टाइन द्वारा "अर्थ" और "प्रयोग" के समीकरण से जो समस्याएँ उठती हैं उनकी ओर स्ट्रॉसन, फेयराबेंड आदि ने पहले ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। स्पेख्त इनमें से केवल दो की विवेचना करता है। प्रथम, जैसाकि पहले कहा गया, अर्थ-सम्बन्धी प्लेटोवादी और मनोवैज्ञानिक मतों की आलोचना करता हुआ विट्गिन्स्टाइन इस तथ्य - कि चिन्हों के बदलने पर भी अर्थ एकरूप रहता है - की व्याख्या यह कह कर देता है कि अर्थ की एकरूपता का कारण शब्द की प्रयोग-विधाओं की एकरूपता है। किन्तु इससे अर्थ की एकरूपता की समस्या हल नहीं होती : होता केवल यह है कि समस्या एक दूसरे स्तर पर जा कर उठती है, अर्थात् ठोस भाषायी व्यवहार के स्तर पर। और तब सवाल उठता है कि प्रयोग की दो विधाएँ एकरूप होंगी, कैसे ? और इसी से सम्बन्धित दूसरी समस्या भी उठ खड़ी होती है - समरूपता व समानार्थकता से क्या समझा जाय ? विट्गिन्स्टाइन ने इस सम्बन्ध में बहुत थोड़ा कहा है। उससे जो-कुछ स्पष्ट हो पाता है वह इस प्रकार है : (क) यह कि किसी शब्द का एकरूप अर्थ है, यह सदैव स्पष्ट नहीं रहता। उदाहरणार्थ, "1" चिन्ह के सम्बन्ध में "कील की लंबाई 1 इंच है" कहने से वह एक मात्रा का अर्थ देता है, जबकि "यहाँ एक सिपाही खड़ा है" कहने से उसका अंक रूप से अर्थ होता है। इसी तरह, दो चिन्हों के बीच अर्थ-सम्बन्धी समरूपता या समानार्थकता का एक आधार तत्संबंध में अर्थायित वस्तुनिष्ठता की अस्तित्त्व-मूलक व्याख्या या पूर्वमान्यताओं से हो सकता है। अर्थात् (ख) यह कि क्या किसी शब्द का अर्थ एक ही है, या कि क्या दो शब्दार्थ समरूप या समान हैं, इस पर भी निर्भर करता है कि कोई कैसे इस सवाल से निपटता है। अवश्य यहाँ विट्गिन्स्टाइन यह शर्त रखता है कि यह बात संवाद के पक्षों (व्यक्तियों) के बीच चिन्हों के प्रयोग के विषय में समझौते से ही संभव हो सकती है।

उक्त कठिनाइयों के बावजूद, विट्गिन्स्टाइन के अर्थ-सिद्धांत और भाषा-सिद्धांत का सम्बन्ध स्पष्ट देखा जा सकता है : भाषा और अर्थायित वस्तुओं के दो क्षेत्रों को छोड़ कोई तीसरा क्षेत्र स्वत: अर्थ का नहीं होता है। भाषा को उसका और महत्त्व सीधे उसके व्यवहारकर्त्ता व्यक्तियों से मिलता

है। इसलिए अर्थ-विश्लेषण वास्तविक भाषायी प्रयोग का विश्लेषण और मानव-क्रियाओं में उसके स्थान का विश्लेषण है। किसी शब्द के अर्थ को समझने का केवल एक ही रास्ता है - लोक-भाषा की भाषा-क्रीड़ा में उसके प्रयोग का अध्ययन। अत: विट्गिन्स्टाइन अपना कथन कई बार दुहराता है : ''शब्दों के प्रयोग से तुम उनका अर्थ सीखो''। अत्यन्त संक्षेप में : भाषा सदैव मानव-साक्षेप है; यही 'भाषा-क्रीड़ा' की धारणा का मूल आशय है।

भाषा में पदार्थों का विधान

पूरे भाषा-विश्लेषण के विरुद्ध एक आपत्ति कई रूपों में बार-बार अठाई जाती रही है, जिसे संक्षेप में इस तरह रखा जा सकता है : यद्यपि यह सही है कि किसी शब्द का व्याकरण (विन्यास) उस सन्दर्भ में अर्थायित वस्तु की संरचना की जानकारी दे सकता है, किन्तु स्वत: इस व्याकरण-विश्लेषण का सहीपन अन्तत: भाषा पर निर्भर न होकर अर्थायित वस्तु की संरचना पर निर्भर करता है और उसे केवल वहीं से प्रामाणिकता मिल सकती है। इस तरह, प्राथमिकता व्याकरण-विश्लेषण की नहीं है, जैसाकि विट्गिन्स्टाइन मानता है, वरन् उसके सन्दर्भ में अस्तित्त्वमीमांसात्मक विधा की है। (इस तरह की आलोचना के उदाहरण के लिए देखें, वाल्श, 'केटेगॅरीज', कांटस्टूडियन 45, 1953)।

किन्तु स्पेख्त का मत है कि उक्त आपत्ति के मूल में भाषा के आणविक प्रतिमान की मान्यता छिपी है, जिसमें भाषा से पहले वस्तुओं की अस्तित्त्वात्मक प्रस्तुति मानी जाती है। जबकि विट्गिन्स्टाइन के भाषा-क्रीड़ा वाले प्रतिमान मान लेने पर वह आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। लेकिन इसके अन्तर्गत चिन्ह और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध बड़ा जटिल है।

1. विट्गिन्स्टाइन में ''व्याकरण'' और ''व्याकरण-वाक्य'' की धारणाएँ :

फिल. इन. में ''व्याकरण'' का अर्थ वहीं नहीं है जो साधारणत: उसका होता है। यह शब्द ''भाषा-क्रीड़ा'' और ''व्याकरण-वाक्य'' शब्दों की भाँति एक व्यवस्थामूलक धारणा व्यक्त करता है और विट्गिन्स्टाइन यह स्पष्ट कर देता है कि इसका उद्देश्य प्रचलित लोक-भाषा में किसी तरह का परिवर्तन नहीं है।

साधारणत: व्याकरण भाषा के ठोस-स्वरूप से सम्बन्धित होता है। अर्थात् वह ध्वनिशास्त्र (फोनेटिक्स), शब्दानुशासन (एक्सिडेंस) और वाक्य-विन्यास (सिन्टेक्स) के त्रिकोण से भाषा, विशेषत: बोली जाने वाली भाषा की गवेषणा करता है। इस तरह उसका क्षेत्र सारत: भाषा-चिन्हों और उनकी रचना के नियमों से सम्बन्धित होता है और इसलिए वह भाषागत सभी नियमों की समझ प्रदान करने में असमर्थ है। अत: एक अन्य प्रकार के व्याकरण की उद्भावना स्वाभाविक है, जो मूलत: भाषा के अर्थ-पक्ष की गवेषणा से सम्बन्धित होता है। वह 'ध्वन्यात्मक' न होकर 'अंतर्वस्त्वात्मक' (कॉन्टेन्ट ओरियेन्टेड) होता है, तथा भाषा के 'ठोस रूप' से सम्बन्धित न होकर उसके 'अर्थ' से सम्बन्धित होता है। वह चिन्ह-प्रयुक्ति के सभी नियमों का निरीक्षण और निरूपण करता है। इस तरह विट्गिन्स्टाइन की धारणा का 'व्याकरण' उक्त सभी नियमों की समष्टि भी है और साथ ही उन नियमों की गवेषणा भी।

इस सन्दर्भ में विट्गिन्स्टाइन द्वारा 'सतह व्याकरण' (सर्फेस ग्रामर) और 'गूढ़ व्याकरण' (डेप्थ ग्रामर) का अन्तर भी द्रष्टव्य है। प्रथम से उसका आशय शब्द-प्रयोग के बारे में उस सहज जानकारी से है जो वाक्य-रचना से प्रकट है, अर्थात् मात्र सुनने से। दूसरी ओर, 'गूढ़ व्याकरण' प्रयुक्तियों के उन नियमों से सम्बन्धित है जो ''हमारे व्याकरण के सतही रूप'' में तत्काल बोध्य नहीं हैं। जैसे, ''अ

शतरंज का खेल खेलता है'', ''अ शतरंज का खेल जीतता है'', इन दो वाक्यों में ''खेलना'' और ''जीतना'' की समान प्रयुक्ति के आधार पर 'सतह व्याकरण' ''खेलना'' की तरह ''जीतना'' को भी एक क्रियामूलक शब्द की तरह दिखाता है, जबकि 'गूढ़ व्याकरण' हमें बताता है कि केवल ''खेलना'' ही क्रियामूलक शब्द है और 'जीतना' उस क्रियाशीलता का केवल एक परिणाम प्रकट करता है। विट्गिन्स्टाइन का मत है कि कई दार्शनिक समस्याओं का उद्गम उक्त दो व्याकरणों के बीच भ्रम में ढूँढ़ा जा सकता है, अर्थात् ''व्याकरणमूलक भ्रमों'' में।

''व्याकरण वाक्य'' से विट्गिन्स्टाइन का आशय है : ऐसा वाक्य जो किसी वस्तु के बारे में कुछ प्रतिपादित करता है, किन्तु जो अपने सत्यासत्य के लिए केवल उस चिन्ह की प्रयुक्ति के नियमों पर आधारित होता है, जो सम्बन्धित वस्तु को अर्थान्वित करता है। इस तरह के वाक्य के उदाहरण हैं: ''प्रत्येक लाठी की एक लंबाई होती है'', ''मेरे कल्पित बिम्ब वैयक्तिक हैं'', ''केवल मुझे ही मालूम है कि क्या मुझे पीड़ा की अनुभूति हो रही है'', ''सिंहो का वर्ग कोई सिंह नहीं, किन्तु वर्गों का वर्ग एक वर्ग है'', आदि। ''प्रत्येक लाठी की एक लंबाई होती है'' वाक्य इस वस्तुनिष्ठ वाक्य की तरह है ''प्रत्येक के पास एक गलती होती है''। किन्तु इस बाद वाले वाक्य का सत्यासत्य अंशत: उसके अन्दर प्रयुक्त शब्दों के प्रयुक्ति-नियमों पर और अंशत: उनके आनुभविक निर्देश पर निर्भर करता है। जैसे, उक्त उदाहृत वाक्य न केवल एक व्यक्ति के गलत न होने पर असत्य होगा वरन् इससे भी असत्य होगा कि ''व्यक्ति'' और ''गलत'' का उक्त प्रयोग आधुनिक भाषा-स्थिति के ठीक अनुकूल नहीं है। दूसरी ओर, ''व्याकरण-वाक्य सदैव केवल अपने अन्दर प्रयुक्त शब्दों के प्रयुक्ति-नियमों पर आधारित होते हैं'': ''प्रत्येक लाठी की लंबाई होती है'' का सत्यासत्य केवल तभी परिवर्तित हो सकता है जबकि भाषा के अन्तर्गत ''लाठी'' और ''लंबाई'' शब्दों को किसी तरह बदल दिया जाय। कोई भी आनुभविक निरीक्षण उसका खंडन करने में असमर्थ है।

निस्संदेह प्राय: यह निर्णय तत्काल नहीं लिया जा सकता कि कोई वाक्यीय संरचना व्याकरण-वाक्य है या नहीं। जैसे ''कोई मशीन (यंत्र) सोच-विचार नहीं कर सकती'' वाक्य में प्रयुक्त ''सोच-विचार'' को अधिक निश्चित करने की जरूरत है जिससे कि उसे एक व्याकरण-वाक्य कहा जा सके। किन्तु द्रष्टव्य है कि विट्गिस्टाइन के परवर्ती दर्शन में ''व्याकरण-वाक्य'' की धारणा, अपनी कुछ अस्पष्टताओं के बावजूद, एक महत्त्वपूर्ण धारणा है और ट्रक्टेटस की उसकी अर्थ-सम्बन्धी मान्यता में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन उपस्थित करती है। ट्रक्टेटस के अनुसार वे सभी वाक्य, जो आन्तरिकता या अनिवार्यता का गुण या सम्बन्ध रखते हैं, अर्थहीन या प्रतीति-वाक्य हैं (4.122-4.1274)। किन्तु अब स्थिति यह है कि चूँकि इन वाक्यों के साथ भी भाषा-क्रीड़ा होती है, ये भी अर्थयुक्त हैं (रिमार्क्स ऑन दि फॉउन्डेशन्स ऑफ मेथेमेटिक्स, 182)।

2. व्याकरण-वाक्य सिद्धान्त और पदार्थों का विचार

व्याकरण-वाक्यों को जिस तरह विट्गिन्स्टाइन अर्थयुक्त करने की चेष्टा करता है उससे उन वाक्यों का एक गहरा सम्बन्ध प्रागनुभविक (अ-प्रॉयराई) वाक्यों के साथ जान पड़ता है। प्रागनुभविक वाक्यों की ही तरह व्याकरण-वाक्य भी सत् का निर्देश करते हैं, यद्यपि उस पर अपने सत्यासत्य के लिए निर्भर नहीं करते। पुन:, दोनों ही प्रकार के वाक्य सर्व-सामान्यत: प्रामाणिक हैं और इसलिए अनिवार्य हैं और तदनुसार उनका वैपरीत्य अचिंतनीय है। अवश्य यह कह सकना कठिन है कि विट्गिन्स्टाइन

समस्त पारंपरिक प्रागनुभविक वाक्यों को व्याकरण-वाक्य कहेगा; किन्तु यह तो सच ही है कि उसके सभी व्याकरण-वाक्य प्रागनुभाविक हैं। वह स्वयं ऐसा कहता है (फिल.इन. 251)। यह देख पाना कठिन नहीं है कि दोनों प्रकार के वाक्यों की मूल समस्या एक ही है : यह क्योंकर सम्भव है कि कोई वाक्य पदार्थों (वस्तुओं) के विषय में प्रतिपादन तो करे किन्तु साथ ही अपनी सत्य-वृत्ति के लिए उन पदार्थों पर निर्भर न करे। विट्गिन्स्टाइन का उत्तर इस सन्दर्भ में 'प्रागनुभव' की तत्त्ववादी व्याख्या के प्राय: प्रतिकूल है। तत्त्ववादी मत की तह में आणविक प्रतिमान का सिद्धांत है। इसके अतिरिक्त, उक्त मत पदार्थों का एक तत्त्व भाषा से स्वतंत्र रूप में मान्य करता है, जो केवल अन्तर्ज्ञान द्वारा बोध्य हैं जो केवल उसी आधार पर शब्दों द्वारा अभिहित किये जाते हैं। तदनुसार, प्रागनुभविक वाक्य इन तत्त्वों के बारे में हैं और साथ ही उन पदार्थों के बारे में भी जो उनमें हिस्सा बँटाते हैं। अत: इन वाक्यों की सत्यवृत्ति का आधार इन तत्त्वों का निर्देश है। उदाहरणत: "कुँवारा" नाम के पहले कुँवारे होते हैं; उनमें कुँवारापन देखा जाता है जिसमें पुरुष व अविवाहित होने के गुण होते हैं; फिर कुँवारों को "कुँवारा" नाम दिया जाता है, और तब उनके तत्त्व के बारे में यह कथन किया जा सकता है - "सभी कुँवारे अविवाहित हैं"।

उक्त मत के विपरीत विट्गिन्स्टाइन का अपना प्रागनुभव का सिद्धांत भाषा-क्रीड़ा से आरंभ होता है, जिसके अनुसार जगत् से हमारा आमना-सामना पहले-पहल भाषा-क्रीड़ाओं द्वारा ही होता है। इस तरह जगत् हमारे लिए पहले ही विस्तार में उच्चारित और विविधतापूर्ण नियमों से व्यवस्थित होता है। नई भाषा-क्रीड़ाओं के निर्माण में हम निश्चित गुणों या लक्षणों वाले पदार्थों को समूहबद्ध कर कई नई वर्ग-रचनाएँ करते हैं। तभी हम नये नामों की उद्भावना करते हैं जो भाषा में ऐसे नये वर्गों के लिए होता है। इस तरह नामों के प्रयोग के लिए प्रयुक्ति-नियमों की नींव पड़ती है : जिन पदार्थों में उक्त गुण-लक्षण नहीं होते वे उन नामों के धारक नहीं हो सकते है। अब, प्रागनुभवीय वाक्य वस्तुओं का वे गुण-लक्षण व्यक्त करते हैं जो इनके नामों के लिए भाषायी नियमों के आधार पर अनिवार्य होते हैं, और इसलिए उनकी सत्य-वृत्ति भी उन्हीं भाषायी नियमों पर आधारित होती है। इस तरह एक प्रागनुभवीय वाक्य पदार्थों के बारे में और साथ ही उन पदार्थों के नामों से सम्बन्धित भाषायी नियमों के बारे में भी होता है। इसी कारण वह एक 'व्याकरण-वाक्य' भी है। तदनुकूल "सभी कुँवारे अविवाहित हैं" की व्याख्या इस तरह होगी : "पुरुष", "स्त्री", "अविवाहित" आदि भाषायी चिन्हों और इनसे सम्बन्धित पदार्थों के विषय में पहले से ही भाषा-क्रीड़ाओं की एक श्रृंखला है। अब "कुँवारा" शब्द के साथ भाषा-क्रीड़ा में हम उन सभी पुरुषों को, जिनमें अविवाहित होने का लक्षण है, एक-साथ समूहित कर देते हैं और उन्हें केवल "कुँवारे" कहते हैं, और उस समय उनके अन्य किसी भी गुण-लक्षण पर ध्यान नहीं देते। अब उक्त भाषायी नियमों के अनुसार प्रत्येक कुँवारे में अविवाहित होने का लक्षण है। इस प्रकार "सभी कुँवारे अविवाहित हैं" एक साथ पदार्थों (कुँवारों) और "कुँवारा" शब्द की प्रयुक्ति के भाषायी नियमों के बारे में है। अत: यह कुँवारों में न तो किसी तत्त्व की मान्यता आवश्यक है न ही उसके अन्तर्ज्ञान की।

अन्य अधिकांश विश्लेषणवादी दार्शनिकों के प्रतिकूल विट्गिन्स्टाइन किन्हीं संश्लेषणात्मक प्रागनुभवीय वाक्यों की स्वीकृति के पक्ष में भी हैं। वस्तुत: इनकी व्याख्या भी वही है जो हमने ऊपर व्याकरणमूलक वाक्यों के सम्बन्ध में देखी है। उदाहरणार्थ, "एक ही स्थल एक ही समय लाल और नीला नहीं हो सकता" वाक्य पदार्थों का निर्देश करता है किन्तु साथ ही अन्तिम विश्लेषण में केवल "लाल स्थल" "नीला स्थल" आदि शब्दों के भाषायी प्रयुक्ति-नियमों को ही व्यक्त करता है। किसी

भी भाषा-क्रीड़ा में नये उच्चारणभेद और नये भाषायी चिन्हों के साथ-साथ अनुभव जगत् में व्यवस्था पैदा की जाती है। और इस तरह भाषा-क्रीड़ा में नये भाषायी-चिन्हों के साथ-साथ पदार्थों के नये वर्ग का 'विधान' होता है। प्रागनुभवीय वाक्य इसी तथ्य का विवरण है जो पदार्थों के इस 'विधानमूलक वर्ग' के साथ-साथ भाषा-चिन्हों के प्रयुक्ति-नियमों के बारे में भी होते हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विट्गिन्स्टाइन संश्लेषणात्मक प्रागनुभवीय लक्षण वाले वाक्यों को प्राय: रूपनिर्देशात्मक प्रतिमानों (पेराडॉइम) से संयुक्त करता है- जैसे मापदंडों के सम्बन्ध में मूल मापदंड का निर्देश या किसी विशेष वर्ण-शब्द के प्रयोग के लिए वर्ण-सूची का निर्देश। मूलत: वह सदैव एक बाह्य प्रतिमान होता है, जो रूप निर्देशन द्वारा किसी समान गुण-धर्म के आधार पर पदार्थों को एक नये वर्ग में गठित करता है। किन्तु कालांतर में इसका रूपांतरण भाषायी समुदाय की "स्मृति और सहचारिता" में हो जाता है जिससे कि बाह्य प्रतिमान वाला उसका रूप समाप्त हो जाता है, यद्यपि तब भी उक्त बाह्य प्रतिमान वाला उसका आधार समाप्त नहीं होता। यह बात सन्देह या प्रशिक्षण की स्थिति में स्पष्ट होती है, जैसे वर्णों के विषय में, जब हमें वर्ण-सूची जैसे बाह्य रूपनिर्देशकों का ही सहारा लेना होताहै। स्पेख्त के मतानुसार विट्गिन्स्टाइन का यह मत, प्रस्तुत संदर्भ में, समयवाद (कॉन्वेन्शॅनलिज्म) और प्रयोजनवाद (प्रेग्मेटिज्म) से काफी मिलता-जुलता है और इसलिए 'भाषा-क्रीड़ा' की उसकी धारणा की कई सीमाओं को उभार कर सामने लाता है। ये सीमाएँ इस प्रकार हैं :

(अ) भाषा-क्रीड़ा किसी हद तक यादृच्छिक है, अर्थात् वहाँ तक जहाँ तक कि वह प्राकृतिक तथ्यों से निगमित नहीं होती। किन्तु अवश्य किन्ही तथ्यों से उनका सम्बन्ध होता है - यदि ये तथ्य कुछ और होते तो साधारणत: उपलब्ध भाषा-क्रीड़ाओं के उद्देश्य या आशय का कोई महत्त्व न होता। विट्गिन्स्टाइन भाषा-क्रीड़ा की यादृच्छिकता को नई भाषा-क्रीड़ाओं के गठन द्वारा व्यक्त करता है।

(ब) हमारी भाषा-क्रीड़ा के नियम अनुभव से निगमित नहीं होते किन्तु उनका आशय (अर्थ) अनुभव पर आधारित होता है।

(स) यह तथ्य कि किसी भी भाषा-क्रीड़ा में नियम होते हैं, भाषा-क्रीड़ा के गठन में स्वरूप सीमा का काम करता है। कोई भाषा-क्रीड़ा केवल सामान्य सहमति, सहयोग और मान्यता द्वारा ही स्थापित हो सकती है।

(द) किसी भी भाषा-क्रीड़ा के गठन में पहले से ही स्थापित भाषा-क्रीड़ाओं की सामग्री हमें मिलती है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पूर्व उपलब्ध भाषा-क्रीड़ा में 18 X 15 = 270 होता है, जिसकी उपेक्षा हम अंक सम्बन्धी किसी नई भाषा-क्रीड़ा में नहीं कर सकते।

प्रागनुभवीय वाक्यों के सम्बन्ध में व्यक्त विट्गिन्स्टाइन के विचारों से तत्सम्बन्धी कांट के विचारों की मूल समानता का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। इस संदर्भ में स्पेख्त अर्न्स्ट कैसिरर द्वारा कांट-दर्शन के भाषा-सिद्धांत के रूप में विकास का सहारा लेता है। तद्नुसार कांट और विट्गिन्स्टाइन दोनों में हम पाते है कि प्रागनुभविक वाक्य अपनी अर्थ-वृत्ति और निरपेक्ष अनिवार्यता के लिए मानव-चिंतन के पदार्थ-गठन के सामर्थ्य पर आधारित हैं। यह तथ्य गणितीय और वैज्ञानिक सिद्धांतों के गठन में (जो कांट की ज्ञानमीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है) तथा भाषा-क्रीड़ाओं के अन्तर्गत भाषायी-चिन्हों के स्वत:स्फूर्त निर्माण में समानरूपेण उपस्थित है।

विट्गिन्स्टाइन के भाषा-दर्शन में निहित भाषा-सिद्धांत की एक फलप्रद तुलना आधुनिक भाषा-शास्त्र के किन्हीं सिद्धांतों से भी की जा सकती है। विट्गिन्स्टाइन की तरह आधुनिक भाषा-शास्त्र भी यह मान्य करता है कि हमारी भाषा जगत् का गठन, उसके आकार-प्रकार की व्यवस्था, करती है। एक भाषा-शास्त्री वैसगेरबॅर के अनुसार, न केवल विशिष्ट भाषाओं में वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न शब्द होते हैं वरन् इन विभिन्न शब्दों में जो-कुछ घनीभूत होता है वह वस्तुओं को देखने की बिल्कुल भिन्न-भिन्न विधाएँ भी प्रस्तुत करता है। शब्दों में जगत् की एक विशिष्ट व्याख्या निहित होती है। भाषा में एक मानसिक शक्ति सक्रिय होती है जिसमें न केवल ग्रहण होता है वरन् व्यवस्थापन और गठन भी होता है। किन्तु वैसगेरबॅर जैसे भाषाशास्त्रियों और विट्गिन्स्टाइन के बीच यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि उक्त भाषाशास्त्री एक 'बाह्य-जगत्', एक वस्तुनिष्ठ सत्ता को पूर्वमान्य करते हैं, जबकि विट्गिन्स्टाइन के अनुसार कोई भी 'वस्तुनिष्ठ भाव' केवल भाषायी रूप से, भाषा-क्रीड़ाओं में, प्रदत्त और ग्राह्य है।

अब हम संक्षेप में विट्गिन्स्टाइन के भाषा-सिद्धांत की कतिपय कठिनाइयों की ओर अपना ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। विट्गिन्स्टाइन सदैव किसी विशेष भाषायी स्तर से अपना विश्लेषण आरंभ करता है, अर्थात् भाषायी विकास के उस स्तर से, जहाँ पहले से ही - कुछ भाषा-क्रीड़ाएँ और इसलिए पदार्थों काएक क्षेत्र प्रदत्त रहता है। और इस स्थिति से तुरन्त यह प्रश्न उपस्थित होता है : क्या कोई प्रथम भाषा-क्रीड़ा भी है ; इस प्रथम भाषा-क्रीड़ा में भाषायी 'विधान' और भाषायी 'द्रव्य' के बीच सम्बन्ध कैसे कायम होता है, जिससे कि पदार्थ-जैसा कुछ, या कुछ भी, मनुष्य के लिए (समझने या बुद्धिग्राह्यता की दृष्टि से) स्पष्ट हो सके ?

स्पेख्त के अनुसार, इस प्रश्न से पैदा होने वाली कठिनाई वस्तुत: सभी विधानमूलक सिद्धांतों के लिए उठती है। ये सिद्धांत पदार्थ-भेद के किसी स्तर से आरंभ कर स्वत:-स्फूर्तता और ग्राह्यता के बीच के सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। फिर इस व्याख्या के परिणाम को लगातार नीचे के स्तरों पर लागू किया जाता है और इस तरह अंत में भेदरहित "मूल-द्रव्य" तक पहुँच जाता है, जहाँ पुन: उसके संदर्भ में किसी पदार्थ या किसी-कुछ की बात नहीं की जा सकती। अवश्य जहाँ तक विट्गिन्स्टाइन का सवाल है वह उक्त कठिनाई के निवारण के लिए सचेष्ट नहीं जान पड़ता। इस सम्बन्ध में वह केवल इतना कहता है कि भाषा-क्रीड़ाओं का गठन प्राकृतिक तथ्यों और शरीर-क्रिया-मूलक उपादानों से ही होता है। किन्तु तब कहा जा सकता है कि आखिर ये भी तो भाषायी रूप में ही प्रकाश्य होती हैं। अथवा शायद कहा जाय, जैसाकि पोल ने कहा है, विट्गिन्स्टाइन ने भाषा के पूर्व-प्रदत्त उपादानों को तो अवश्य स्वीकार किया किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया कि उनका भाषायी स्तर पर निश्चित होना संभव नहीं।

एक और कठिनाई विट्गिन्स्टाइन की इस आधारभूत धारणा के सम्बन्ध में उठ सकती है कि किसी नई चिन्ह-प्रयुक्ति के साथ-साथ पदार्थों को किन्ही रूप निर्देशात्मक प्रतिमानों के आधार पर समूहों में नये ढंग से व्यवस्थित किया जा सकता है, इस धारणा में यह पूर्वमान्य है कि पदार्थों के समान या समरूप लक्षणों को पहचाना जा सकता है। किन्तु ऐसा ज्ञान संभव कैसे हो ? वस्तुत: यह समग्र दर्शन-शास्त्र की प्रमुख कठिनाईयों में से एक है। इसके लिए विट्गिन्स्टाइन का उत्तर कुछ इस तरह है : "समान" या "समरूप" शब्द के प्रयोग की कोई प्रमाणिकता नहीं है (रिमार्क्स ऑन दि फॉउंडेशन्स्

ऑफ मेथेमेटिक्स, 184), जिसका सीधा आशय यह है कि समरूपता या एकरूपता के सम्बन्ध में ज्ञान के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता। अवश्य इसे कोई भी 'देख' सकता है, जैसे रंगों की समरूपता को, किन्तु यह कोई प्रामाणिकता नहीं है। यहाँ विट्गिन्स्टाइन के चिंतन की वह सीमारेखा है जहाँ पर आकर सभी युक्तियाँ और व्याख्याएँ खत्म हो जाती हैं। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है। "यह केवल वह है जो मैं करता हूँ" (फिल. इन. 217)। वस्तुत: उसका यह दृष्टिकोण तत्त्वमीमांसात्मक व्याख्या-सम्बन्धी उसकी इस धारणा से संबद्ध है कि वह "एक प्रकार का अलंकरण है" जो किसी तरह की प्रामाणिकता नहीं लेता। शायद यही बात उसकी सत्तापरक तटस्थता पर भी लागू हो; किन्तु आश्चर्य है कि स्पेख्त इस संदर्भ संभावना की चर्चा भी नहीं करता।

3. विट्गिन्स्टाइन द्वारा दार्शनिक वृत्ति का निर्धारण :

स्पेख्त के अनुसार विश्लेषणात्मक विधि की न्यायसंगतता का सीधा सम्बन्ध विट्गिन्स्टाइन की इस धारणा में ढूँढ़ा जा सकता है कि "व्याकरण बताता है कि कोई भी वस्तु किस प्रकार की है" (फिल. इन. 373)। चूँकि शब्द-प्रयुक्ति के नियम पदार्थ-संरचना में नहीं गढ़े जा सकते वरन् वस्तुस्थिति इनके ठीक विपरीत है, शब्द-प्रयुक्ति ही एक तरह से पदार्थ-संरचना निर्धारित करती है; शब्द-प्रयुक्ति का विश्लेषण हमें बताता है कि वही पदार्थ-संरचना को समझने का प्राथमिक आधार है और उसके लिए स्वत: उसकी स्थिति को छोड़कर किसी और प्रामाणिकता की जरूरत नहीं है। यह विट्गिन्स्टाइन के परवर्त्ती दर्शन की एक केन्द्रीय धारणा है। पारंपरिक दर्शन में यह केन्द्रीय धारणा सत्तामूलक रही, जिसका विधिपरक आधार भाषा को नहीं माना गया : या तो उसे मनुष्य से पूर्णत: स्वतंत्र या फिर मानव-चेतना या बुद्धि द्वारा रचित माना गया, जिससे भाषा को बाद में संयुक्त कर दिया गया। प्रथम स्थिति एरिस्टॉटल में स्पष्ट है, जबकि द्वितीय कांट और हुस्सर्ल में स्पष्ट हुई है। इन धारणाओं के विपरीत विट्गिन्स्टाइन में पदार्थों का विधान मनुष्य की भाषायी-क्रिया के माध्यम से होता है। इस तरह अस्तित्त्वमूलक समस्याओं के लिए विट्गिन्स्टाइन एक बिल्कुल नई विधि प्रस्तुत करता है।

अन्य दो सत्तामीमांसात्मक विधाओं के विपरीत उसके स्वयं की सत्तामीमांसात्मक विधा व विधि की यह विशेषता भी द्रष्टव्य है : वह भाषा-क्रीड़ाओं या उनमें गठित पदार्थों के किसी प्रणालीबद्ध अध्ययन में रुचि नहीं रखता वरन् दार्शनिक क्रिया के रूप में वह दार्शनिक समस्याओं को सामने रखता है। ये समस्याएँ न तो विशिष्ट विज्ञानों की निर्णय प्रविधियों द्वारा हल की जा सकती है और न ही उनका रूप वैज्ञानिक समस्याओं का है। वे आनुभविक समस्याएँ नहीं हैं; उन्हें नयी सूचनाओं के आधार से नहीं सुलझाया जा सकता, वरन् उनके नियोजन द्वारा सुलझाया जा सकता है जो हम सदैव जानते रहे हैं (फिल. इन. 109)। पुन: दर्शन "सभी-कुछ को जैसा-का तैसा छोड़ देता है। गणितशास्त्र को वह वैसा ही छोड़ देता है, और कोई गणितीय खोज उसमें कोई सुधार नहीं कर सकती। 'गणितीय तर्क की प्रमुख समस्या' किसी भी अन्य समस्या की तरह गणितशास्त्र की ही समस्या है" (वही, 124)।

इस तरह दार्शनिक समस्याएँ एक विशेष प्रकार की असहायता प्रकट करती हैं : "किसी दार्शनिक समस्या का रूप है : 'मैं उस सम्बन्ध में अपनी राह नहीं जानता'" (वही, 123)। अवश्य इन समस्याओं के उत्स के सम्बध में विट्गिन्स्टाइन का मत है कि वह विभिन्न भाषा-क्रीड़ाओं के बीच विद्यमान किन्ही सादृश्यों में, विशेषकर उनकी सतह व्याकरण सम्बन्धी सादृश्यों में है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि स्वत: समस्याएँ ही भाषायी भ्रम-मात्र हैं, क्योंकि अन्तत: पदार्थों का विधान भाषा-

क्रीड़ाओं के अन्तर्गत विशिष्ट प्रयुक्तियों से संबद्ध होता है। अत: शायद विट्गिन्स्टाइन का अभिप्राय यह कहने का है कि दार्शनिक समस्याएँ वस्तुत: सत्ता-मूलक हैं, किन्तु उनका उद्भव गलत भाषायी सादृश्यों में होता है-यद्यपि स्वयं उसकी अपनी रुचि उक्त समस्याओं का निराकरण व्याकरणमूलक विश्लेषण द्वारा करने तक ही सीमित है। वह कहता है : "वास्तविक खोज वह है जो मुझे अपनी दार्शनिक क्रिया को वहाँ समाप्त करने में समर्थ बनाती है जहाँ मैं करना चाहता हूँ - वह जो दर्शनशास्त्र को शांति प्रदान करती है जिससे कि वह पुन: उन प्रश्नों द्वारा व्यथित न हो सके जो प्रश्न में अपने-आपको प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत, अब हम एक विधि उदाहरणों द्वारा निदर्शित करते हैं : और उदाहरणों की शृंखला का अन्त सम्भव है।" (वही, 33)।

जहाँ तक स्वत: दर्शनशास्त्र की विश्लेषणात्मक वृत्ति का सवाल है, ये बातें द्रष्टव्य हैं :

(अ) किन्हीं पराभौतिकीय या तत्त्वमीमांसामूलक सिद्धांतों से भी हमें पदार्थों की ओर देखने का एक नया ढंग मिल सकता है (वही, 400-401); जैसे प्रतिभासवाद (फिनॉमिनलिज्म) के अन्तर्गत पदार्थों को इन्द्रिय-प्रदत्तों से रचित करने में वस्तुस्थिति का एक नया पक्ष उजागर होता है। आशय यह कि तत्त्वमीमांसा हर द्रष्टि से निरर्थक नहीं है।

(ब) विट्गिन्स्टाइन अपनी विश्लेषण-विधि द्वारा दार्शनिक समस्याओं की केवल भाषायी सफाई नहीं करता वरन् भाषा, पदार्थों और उनके सम्बन्धों के बारे में एक नया भाषायी सिद्धांत भी प्रस्तुत करता है, जिसकी अपनी कुछ पूर्वमान्यताएँ हैं। इस तरह, एक बार हम पुन: ट्रक्टेटस के विट्गिन्स्टाइन को फिलासफिकल इन्वेस्टिगेशन्स् में सिर उठाता हुआ पाते हैं : ट्रक्टेटस की तरह यहाँ भी उसकी 'सीख' और 'क्रिया-प्रणाली' के बीच एक हवाई नजर आती है।

मूल्यांकन

स्पेख्त का विट्गिन्स्टाइन पर किया गया अध्ययन कई द्रष्टियों से नवीन और महत्त्वपूर्ण है। नवीन इसलिए क्योंकि वह प्रथम बार विट्गिन्स्टाइन के दर्शन में निहित किन्तु अकथित (अकथनीय ?) पक्षों की एक सम्यक् विवेचना प्रस्तुत करता है। अवश्य स्पेख्त ने इस सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले हैं वे शंका से परे नहीं हैं। जैसे, जिस सत्तामूलक तटस्थता का आभास वह विट्गिन्स्टाइन के परवर्त्ती चिंतन में पाता है उसकी एक और व्याख्या भी संभव है, जिसके फलस्वरूप उसके पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती चिंतन के बीच एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध कायम किया जा सकता है। व्याख्या के अनुसार हम कह सकते हैं कि भाषा में गठित पदार्थों का भाव मूलत: अकथनीय है और यह कि उसे केवल भाषायी व्याकरण में दिखाया जा सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ 'सत्तामूलक तटस्थता' इसलिए नहीं है क्योंकि विट्गिन्स्टाइन की 'रुचि' समस्या के सत्तामूलक पक्ष में नहीं है, वरन् यह तटस्थता कथनीयता की अनिवार्य सीमा है जिस पर कुछ भी कहने से बचकर दर्शन-शास्त्र को शांति प्रदान करने की बात समझ में आती है। यहाँ निस्सन्देह ट्रक्टेटस के अन्तिम अंशों के वाक्यों की दार्शनिक उलझनों की ओर संकेत है जिनसे बचने का सीधा उपाय है। उन्हें कहा ही नहीं जाय और उसकी जरूरत ही क्या ? जो दार्शनिक-क्रिया में सक्षम है (स्मरणीय है कि यह विट्गिन्स्टाइन के अनुसार उसके दर्शन को समझने की शर्त है) वह स्वयं जानता है कि कब उसे मौन रहना है और कब नहीं ! फिल. इन. 133 के पूर्वोल्लिखित उद्धरण का तात्पर्य यही जान पड़ता है।

दूसरी ओर, स्पेख्त के अध्ययन की महत्ता उसकी व्यापकता में है : वह विट्गिस्टाइन के समूचे चिंतन को पारंपरिक व आधुनिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में उभार कर हमारे सामने रखता है। स्वत: विट्गिन्स्टाइन ने ट्रक्टेटस व फिल. इन. की भूमिकाओं में इसकी ओर संकेत किया है, जिसका विस्तारेण स्पष्टीकरण हमें स्पेख्त द्वारा मिलता है। अवश्य यहाँ भी स्पेख्त ने विट्गिन्स्टाइन की किन्हीं धारणाओं की व्याख्या इस तरह की है कि उन पर आपत्ति नहीं तो कम-से-कम शंका की जा सकती है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि अपनी समग्रता में उसका अध्ययन काफी कठिन लगता है। अवश्य विट्गिन्स्टाइन का स्वयं अथवा विधिमूलक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य भाषा-विश्लेषण का है और पारंपरिक दार्शनिक समस्याओं से भी उसका संबंध इसी परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत है। अत: उसकी विधि विश्लेषणात्मक होने पर भी उसकी स्थापनाएँ मूलत: विधेयात्मक ही हैं, निषेधात्मक नहीं। स्पेख्त के अनुसार, इस संबंध में विट्गिन्स्टाइन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ दार्शनिक भाषा-सिद्धांत और सत्तामीमांसा-संबंधी है। स्पेख्त की दृष्टि में पाश्चात्य पारंपरिक दर्शन में दो मुख्य सत्ता-मीमांसक विचार-धाराएँ रही हैं : (अ) एरिस्टॉटल-प्रदत्त, जिसमें पदार्थों को मनुष्य से स्वतंत्र सत्ता प्रदान की गई, और (ब) कांट-हुस्सर्ल-प्रदत्त, जिसमें पदार्थ मानव-चेतना या बुद्धि द्वारा रचित हुआ। विट्गिन्स्टाइन अपने परवर्त्ती चिंतन में उक्त दोनों के समकक्ष और बदले में एक नया सत्तामीमांसात्मक विचार प्रस्तुत करता है - कि पदार्थ मानव-भाषा-क्रीड़ाओं में गढ़े जाते हैं। यहाँ स्पष्ट है कि विट्गिन्स्टाइन का यह मत कांट-हुस्सर्ल-मत के अधिक समीप है और यदि कांट और हुस्सर्ल के विचारों की भाषामूलक हाइडेगर वाली व्याख्या पर ध्यान दिया जाय तो विट्गिन्स्टाइन का मत उनके और करीब चला आता है। वस्तुत: स्वयं स्पेख्त ने कांट के मत के संदर्भ में उक्त बात स्वीकार की है।

किंतु यदि हम उक्त तीनों भावमीमांसात्मक मतों को, उनमें निहित भाषा-सिद्धांत की दृष्टि से देखें, तो शायद कांट और हुस्सर्ल का मत एरिस्टॉटल के मत से अधिक निकट होगा, क्योंकि वे एक ही भाषायी अणुवादी प्रतिमान पर आधारित हैं-उसी अर्थ में जिसमें कि स्टेनियस विट्गिन्स्टाइन के ट्रक्टेटस को मूलत: एक कांटवादी सिद्धांत मानता है। जबकि विट्गिन्स्टाइन का अनुवर्त्ती चिंतन एक नवीन भाषा-सिद्धांत-भाषा-क्रीड़ा सिद्धांत -का प्रतिपादन करता है जो अपने मूल में भाषा-शास्त्र के अत्याधुनिक मतों के बहुत निकट है।

हमारी समझ में उक्त तीन सत्तामीमांसात्मक सिद्धांतों व भाषा-सिद्धांतों को साथ-साथ संयुक्त कर देखने से एक और महत्त्वपूर्ण बात भी प्रकट होती है - जिसका यहाँ हम केवल उल्लेख भर करेंगे। विट्गिन्स्टाइन के अनुवर्त्ती चिंतन में सत्तामीमांसात्मक तटस्थता का कारण उसके द्वारा भाषा-क्रीड़ा को केन्द्रीय महत्ता की धारणा मानना है; ठीक उसी तरह जैसे कांट और हुस्सर्ल चेतना की केन्द्रीय महत्ता से चलकर किन्हीं सामान्य-रूप तत्त्वों वाली सत्तामीमांसा तक पहुँचते हैं, और सत्ता की केंद्रीय महत्ता से चलकर एरिस्टॉटल विशेष-रूप तत्त्वों वाली सत्तामीमांसा तक पहुँचता है। अत: जान पड़ता है कि उक्त तीनों मतों की केन्द्रीय धारणाएँ अलग-अलग हैं - अर्थात् तीनों ही किसी प्रकट या अप्रकट भाषा सिद्धांत पर आधारित नहीं हैं, जैसा कि स्पेख्त समझता है, यद्यपि अवश्य उनमें भाषा-सम्बन्धी एक निश्चित मान्यता है - और इसलिए उन्हें भाषा-सिद्धांत के आधार पर समझने पर उनका अतिसरलीकरण हो जाता है। उक्त तीनों मतों की केन्द्रीय धारणाएँ हैं - अर्थ या भाषा (विट्गिस्टाइन के परवर्त्ती चिंतन में), ज्ञान या चेतना (कांट और हुस्सर्ल में), तथा भाव या सत्ता (एरिस्टॉटल) में।

निस्सन्देह ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े हैं - जो इससे प्रकट है कि विट्गिन्स्टाइन सत्ता और ज्ञान को भाषा के आधार पर, कांट-हुस्सर्ल सत्ता और भाषा को ज्ञान के आधार पर, और एरिस्टॉटल अर्थ और ज्ञान को भाव के आधार पर समझने की चेष्टा करते हैं। अत: स्पष्ट ही यह प्रश्न कि सत्ता, ज्ञान और भाषा में कौन अधिक आधारभूत है ? सदैव एक अनुत्तरित प्रश्न बना रह सकता है।

इसी से शायद यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि विट्गिन्स्टाइन अपने परवर्त्ती चिंतन में कतिपय दार्शनिक समस्याओं को ही प्रकटत: अपना लक्ष्य बनाता है, वस्तुत: उसका चिंतन खंड-खंड चिंतन (जिसे पृथक्-पृथक् अन्तर्बोध कहना अधिक उचित होगा) का रूप न लेकर एक निश्चित विधिमूलक चिंतन बन कर व्यक्त होता है जिसमें दर्शन-शास्त्र के एक सम्यक् और पूर्ण दृष्टिकोण का विकास हुआ दीख पड़ता है, और तब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों वह किन्हीं दार्शनिक समस्याओं को ही अपने अनुवर्त्ती चिंतन का आरंभ-बिन्दु बनाता है। यह उसके विधिमूलक चिंतन की एक परिणति है, कोई आकस्मिकता नहीं। एक बार यह मान लेने पर कि दर्शन किसी सूचना पर आधारित नहीं, किसी भी स्व-प्रदत्त या बाह्यत: प्रदत्त (जिसके सम्बन्ध में सदैव एक सूचना होगी) से दार्शनिक-चिंतन आरम्भ हो ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में, आरम्भ में ही सत्ता, ज्ञान का इनके भाषायी अभिव्यक्ति परक तथ्य दार्शनिक चिंतन को परिचालित कर सकने में असमर्थ हैं। अत: अवश्य उसका आरम्भ उनके सम्बन्ध में उस समस्यात्मकता से होगा जो किसी सूचना द्वारा सन्तुष्ट नहीं की जा सकती। इस तरह की समस्यात्मकता दार्शनिक समस्याओं से मिलती है और दार्शनिक चिंतन के लिए वे ही उचित आरम्भ-बिन्दु हैं। अब इसी से दार्शनिक समस्याओं के एक और पक्ष पर भी प्रकाश पड़ता है : चूँकि वे किसी तथ्य या सूचना द्वारा सन्तुष्ट नहीं की जा सकतीं, उनका उद्भव भी मूलत: किसी तथ्य या सूचना में नहीं है। अवश्य ये समस्याएँ किन्हीं भाषागत दोषों, भ्रमों या सतह-व्याकरण पर आधारित हो सकती हैं, किंतु उन समस्याओं का महत्त्व, उनका संभावित तर्क, तथ्य-रूप भाषा को लांघ कर सत्ता और ज्ञान के क्षेत्र तक पहुँचता है। शायद इसीलिए विट्गिन्स्टाइन सीधे लोक-भाषा का विश्लेषण नहीं करता यद्यपि वह लोक-भाषा को बिल्कुल ठीक कहता है, वरन् उसकी समझ वह कृत्रिम भाषा-क्रीड़ाओं के सादृश्य से प्राप्त करता है। इसका एक प्राविधिक महत्त्व है, क्योंकि इसके द्वारा विट्गिन्स्टाइन यह दिखाने में समर्थ होता है कि दार्शनिक समस्याएँ भाषा पर आधारित होकर भी केवल भाषायी नहीं हैं और उनके केवल भाषायी न होने की दो अनिवार्य परिणतियाँ हैं। (अ) भाषा-विश्लेषण हमें भाषा के 'सतह व्याकरण' से उसके 'गूढ़ व्याकरण' तक पहुँचता है, और (ब) 'गूढ़ व्याकरण' का भाषायी 'प्रकाश' सत्ता और ज्ञान के क्षेत्रों को स्पष्ट करता है - यद्यपि स्वत: दर्शनशास्त्र के अंतर्गत उनका कथन न तो अनिवार्य है और न ही वाँछनीय।

***

7

वैयक्तिक भाषा संबंधी विमर्श*

नारायण शास्त्री द्रविड़

'फिलॉसोफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' नामक अपने ग्रंथ में लुड्‌विग् विडगेन्स्टाइन ने वैयक्तिक अनुभूतियों के संबंध में भाषीय तथ्यों के आधार पर कुछ पारम्परिक धारणाओं पर आघात करने वाले विचार प्रकट किए हैं। इन्हीं के आधार पर पीटर स्ट्रॉसन्, आल्फ्रेड आयर, नार्मन मालकम्, ॲन्थोनी केनी आदि कई आधुनिक दार्शनिकों ने जो अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा चलायी है उसका संकलन श्री जोन्स ने प्रस्तुत संग्रह ग्रंथ में किया है। जैसाकि विट्‌गेन्स्टाइन के अध्येता लोग जानते हैं, दार्शनिक चिन्तन की विट्‌गेन्स्टाइन द्वारा उद्‌भावित पद्धति पारम्परिक विचार-पद्धति से बहुत ही भिन्न है। उसमें तर्कों से अधिक उदाहरणों, उत्प्रेक्षाओं, विभिन्न शब्द-प्रयोगों आदि को विशेष महत्त्व प्राप्त है। विट्‌गेन्स्टाइन के अनुयायियों जैसे मालकम् आदि ने जबकि इस पद्धति को अपनाया है, उसके समालोचक स्ट्रॉसन आदि विचारक न्यूनाधिक मात्रा में पारंपरिक पद्धति से ही चिन्तन करना पसंद करते हैं। इस कारण प्रस्तुत संग्रह ग्रंथ के कई लेखों के विचारों में दार्शनिक दृष्टि से ग्राह्य अंश भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के पाठकों को भिन्न ही प्रतीत होंगे। कुछ बातें तो भिन्न-भिन्न शैली से दुहरायी गयी भी लग सकती है। इसी कारण इस समीक्षात्मक संक्षेप में प्रस्तुत संग्रह ग्रंथ के सभी लेखों की युक्तियों का समावेश आवश्यक नहीं समझा गया है। कुछ लेखों की महत्त्वपूर्ण युक्तियां ही यहां चर्चित हैं। वैयक्तिक भाषा की समस्या के अन्तर्गत तीन उप-समस्याएं हैं जिनकी खंडनमंडनात्मक चर्चा आयर, व्हीस, हर्वे, गविर, मुडले, आदि ने की हैं और वह इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। ये समस्याएं निम्ननिर्दिष्ट हैं (1) 'क्या रॉबिन्सन् क्रूसो जैसा एकान्तजीवी व्यक्ति भाषा का निर्माण कर सकता है ?'(2) 'वैयक्तिक भाषा तथा वैयक्तिक संवेद' और (3) 'चेष्टावाद तथा वैयक्तिक भाषा-संबंधी वाद-विवाद।' इनके अतिरिक्त, पुस्तक के प्रारम्भ में संपादक की विस्तृत भूमिका तथा स्ट्रॉसन् व मॉलकम् द्वारा प्रस्तुत किया हुआ विट्‌गेन्स्टाइन के मूल विचारों का खंडन व मंडन और अन्त में 'वैयक्तिक भाषा-संबंधी वाद-विवाद, एक असंबंद्धतापरक तर्क के रूप में', इस विषय से संबंधित चर्चा (जिसमें क्यास्टानेडा, चॅपेल और थॉम्सन सहभागी हैं) आदि सामग्री उपस्थित की गई है। प्रमाणीकरण-सिद्धान्त और वैयक्तिक भाषा संबंधी वाद-विवाद एवं 'वैयक्तिक अनुभव तथा संवेद' ये दो अन्तर प्रकरण भी इस पुस्तक में अंतर्भूत हैं। प्रस्तुत सारांश में इन में से तीन लेखों का सार तथा उनकी समीक्षाएं आवश्यकतानुसार उपस्थित की जायेंगी।

** Jons, R.R. Private Language Argument, Macmillen & Co. New York, 1971*

लेखों की चर्चा करने के पूर्व मूल समस्या के संबंध में थोड़ा स्पष्टीकरण अस्थाने नहीं होगा। यह समस्या यद्यपि मानसिक तथ्यों से - अत: दार्शनिक मनोविज्ञान से संबद्ध सी प्रतीत होती है, तथापि मुख्यतया वह भाषीय या भाषा विषयक दार्शनिक चिन्तन से ही जुड़ी हुई है। कुछ भाषीय दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर विट्गेन्स्टाइन ने प्राचीन काल से चली आयी मनोवृत्ति विषयक कुछ दार्शनिक मान्यताओं पर आपत्ति उठायी है। इन मान्यताओं को देकार्ते ने सुव्यवस्थित रूप से अपने दर्शन में सर्वप्रथम उपस्थित किया था। देकार्ते कहता है कि मन और जड़ द्रव्य ये दो भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्व हैं। इनमें परस्पर संबंध होता है लेकिन यह संबंध न मन के लिये आवश्यक है न जड़ द्रव्य के लिये। शरीर में विशेषकर चेतन मानवीय शरीर में मन और जड़ द्रव्य परस्पर संयुक्त रूप में कुछ समय तक जरूर बने रहते हैं। किन्तु जैसे मनोविरहित जड़ शरीर रह सकता है वैसे ही शरीरविरहित मन भी स्वतंत्र रूप से बना रह सकता है। ऐसे मन में मनोवृत्तियां उत्पन्न होती या हो सकती हैं या नहीं, यह प्रश्न यहां उठ सकता है। किन्तु उसकी चर्चा प्रासंगिक न होने से हम देकार्ते के प्रस्तुत समस्या संबंधी भूमिका का संक्षिप्त स्पष्टीकरण यहां उपस्थित करेंगे। मनोवृत्तियां - जैसे संवेदादि-मानसिक तथ्य हैं। उनका शारीरिक चेष्टाओं, हावभावों आदि के साथ जो संबंध सामान्यतया अनुभवगोचर होता है वह केवल बाह्य या आनुषांगीक ही मानना चाहिये। जैसे गुस्सा आने पर मुंह का तमतमाना, मुठ्ठियों का भिचना आदि बातें सामान्यतया घटित होती हैं। ये न घटित होती तो किसी के गुस्से का सही-सही अन्दाज करना असंभव हो जाता। किन्तु कई लोग भीतर गुस्से से उफनते रहने पर भी उसे चेहरे पर या किसी भी शारीरिक चेष्टा के द्वारा प्रकट नहीं करते या होने देते। और बहुत से श्रेष्ठ अभिनेता तनिक भी गुस्सा मन में न होते हुए भी गुस्से की सारी अभिव्यक्तियां अत्यंत कुशलता के साथ प्रकट करते हैं। इन बातों पर तथा अपने दर्शन को इस मूलभूत धारणा के आधार पर कि मन और जड़ द्रव्य अलग-अलग तत्त्व हैं देकार्ते यह निष्कर्ष निकालता है कि कोई भी बाह्य दृश्य अभिव्यक्ति मनोवृत्तियों के साथ आपातिक रूपं से ही संबद्ध है। मनोवृत्तियों की कोई न कोई दृश्य अभिव्यक्ति शरीर में होना न तर्कत: और न कार्यकारण भाव के कारण ही अनिवार्य है। इनमें अधिक से अधिक साहचर्य का अस्तित्व मानना ही उचित होगा। इस कारण देकार्ते शब्दों के अर्थ या अर्थबोधकता के दो प्रकार मानता है। बाह्य अर्थों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द उनके 'सार्वजनीन धर्मों और विशेषताओं के ज्ञान के आधार पर ही उनका निर्देश करते हैं। किन्तु वैयक्तिक अनुभूतियों के क्षेत्र में जो शब्द प्रयोग में आते हैं वे किसी सार्वजनिक विशेषता के साथ कभी जुड़ नहीं सकते क्योंकि ये अनुभूतियां व्यक्तिमात्र वेद्य हैं। अत: इन अनुभवों के लिए व्यक्ति जो शब्द या भाषा प्रयोग में लायेगा वह उसी तक सीमित रहेगी। तथापि इस मर्यादितता के कारण उस भाषा या शब्द की अर्थबोधकता या निर्देशकता में कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

इस सारी विचार सारणी पर विट्गेन्स्टाइन को यह मूलगामी आपत्ति है कि यदि भाषा की उपयोज्यता सार्वजनीन निष्कर्षों पर ही आधारित हो, और शब्द प्रयोगों की युक्त-युक्तिता का निर्धारण सार्वजनिक रूप में ही संभव हो तो व्यक्तिमात्र प्रयोज्य वैयक्तिक भाषा की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? शायद कोई कहे कि जैसे सार्वजनिक शब्द प्रयोगों का परीक्षण सार्वजनिक रूप में संभव है वैसे वैयक्तिक भाषागत प्रयोगों का वैयक्तिक रूप से परीक्षण हो सकता है। जैसे किसी ने निश्चय किया कि उसे बारबार होने वाले किसी दर्द को वह 'ऊभचूभ' इस नाम से पहचानेगा और याद करेगा तो दूसरों को इस संज्ञा का या उसके निर्देश्य का कोई ज्ञान न होने पर भी उस व्यक्ति के लिए तो हमेशा वह संज्ञा अर्थवती होगी। जब-जब वह खास प्रकार का दर्द उभरेगा वह व्यक्ति इस शब्द को याद करेगा और जरूरत हो तो कहीं उसे लिख भी रखेगा। इस पर विट्गेन्स्टाइन यह कहना है कि अपने दर्द के लिए स्वयं

ही गढ़ा हुआ शब्द याद रहने के लिए इस दर्द को पहचानना आवश्यक है। पहचान के साथ स्मृति आती है। स्मृति भी एक मनोवृत्ति ही है। यदि अपने ही अतीत दर्द का भूलना या न पहचानना संभव है तो अपनी अतीत स्मृति को भी भूल जाना क्या संभव नहीं ? ऐसी बात प्राय: नहीं हुआ करती। किन्तु यहां प्रश्न यह नहीं है कि क्या हुआ करता है, बल्कि क्या हो सकता है इसका है। यदि एक मनोवृत्ति के ज्ञान में भूल हो सकती है तो दूसरी मनोवृत्ति के ज्ञान में भी भूल होना असंभव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अपनी ही मनोवृत्ति के लिए स्वयं संकेतित शब्द सही है या गलत यह कैसे जाना जाय ? मान लें कि किसी व्यक्ति ने अपने संकेतों के अपने वैयक्तिक अनुभव-संबंधी प्रयोगों की युक्तायुक्तता परखने के लिए कुछ नियम निर्धारित किये। इन नियमों पर से वह यह जानता है कि कोई प्रयोग सही है या नहीं। यह भी मानलें कि उसने ये नियम, कहीं लिख रखे हैं कि भूल न जांय। क्या ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति के प्रयोगों में ऐसी भूल हो सकती है जिसे वह स्वयं न समझ पाए ? विट्गेन्स्टाइन कहता है कि 'हाँ, ऐसे भी प्रयोगों का गलत होना असंभव नहीं।' इसका कारण यह है कि अपने ही संकेतों के स्वयं बनाये नियमों का स्वयं निर्धारित अर्थ समझना या याद करना अपना ही कार्य है जिसकी दूसरों की सहायता से कभी जाँच नहीं की जा सकती। यदि दूसरों के समझने के योग्य शब्दों में संकेतों के नियम लिखे जांय तो सार्वजनिक निकष काम में आयेंगे। अत: पूर्णतया वैयक्तिक निकष ही वैयक्तिक प्रयोगों की युक्तायुक्तता निर्धारित करने के लिए अपनाने हों तो किसी भी प्रकार दूसरों की सहायता वैयक्तिक प्रयोगों की जांच के लिए नहीं ली जा सकती। और उक्त समस्या अपने वास्तविक रूप में ऐसे प्रयोगों के संबंध में ही उपस्थित होती है। वैयक्तिक अनुभव, उनकी वैयक्तिक पहचान, इस पहचान की वैयक्तिक स्मृति, उसके लिए आवश्यक वैयक्तिक नियम, इन नियमों का व्यक्तिमात्र वेद्य उल्लेख, उन उल्लेखों का वैयक्तिक अनुसरण, ये सब बातें एक-दूसरे का तभी समर्थन कर सकती हैं जब उनमें से किसी एक में भी गलती की संभावना तर्कत: नहीं हो अथवा अन्य उपायों से पूर्णत: अपवर्जित हो। किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। अत: विट्गेन्स्टाइन का यह निष्कर्ष है कि वैयक्तिक अनुभव तक ही सीमित वैयक्तिक भाषा स्वीकार-योग्य नहीं है।

एक और तर्क के द्वारा भी इस निष्कर्ष की विट्गेन्स्टाइन ने पुष्टि की है। दूसरों के संबंध में जानने-समझने आदि के निकष सुस्पष्ट हैं और उनका ठीक-ठीक प्रयोग किया भी जाता है। यदि किसी ने कहा कि, ''मैं यह बात जानता हूँ'' तो इस कथन का परीक्षण सार्वजनीन कसौटियों के द्वारा किया जा सकता है। अपने संबंध में न ऐसे प्रयोग सामान्यतया किये जाते हैं न उनके परीक्षण की कोई कसौटियां अपनायी जाती हैं। मैं कोई बात जानता हूँ या नहीं, ऐसा संदेह न कभी मेरे मन में पैदा होता है और न मैं कभी ऐसे संभाव्य संदेह के निराकरण के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। कम से कम किसी कसौटी को अपने लिए लागू करने की बात को मुझे हर हालत में बेतुकी-सी लगती है। इसका क्या कारण है ? यदि वैयक्तिक भाषा सार्वजनिक भाषा के समान ही प्रयोगार्ह हो तो उसके प्रयोग हर बात में सार्वजनिक भाषा के जैसे ही होने चाहिए। चूँकि यह बात नहीं है अत: यह मानना पड़ता है कि वैयक्तिक भाषा के शब्द-प्रयोग केवल उद्गारात्मक हैं। 'मैं जानता हूँ,' 'मुझे बड़ा दु:ख है' इत्यादि वाक्य-खंड 'हाँ', 'ओफ्' जैसे उद्गाररूप मानकर ही सामान्य शब्द-प्रयोग और तथा-कथित वैयक्तिक शब्द-प्रयोग के उक्त भेद का संतोषप्रद स्पष्टीकरण दिया जा सकता है।

विट्गेन्स्टाइन की इस सर्वथा मौलिक विचारधारा के अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएं हैं जिनकी चर्चा वैयक्तिक भाषा की समस्या के विचार के संदर्भ में करना अति आवश्यक है। जैसे, 'वैयक्तिक भाषा क्या है ?'भाषा के या शब्दों के संकेत निर्धारण की प्रक्रिया का स्वरूप क्या है ? 'शब्द-

संकेतों के नियमों के अनुसरण का अर्थ क्या है ? इत्यादि समस्याओं को ठीक तरह सुलझाए बिना मुख्य समस्या का कोई निश्चित हल नहीं प्राप्त किया जा सकता। अत: अधिकांश विद्वानों ने इन्हीं समस्याओं को अपनी चर्चा का विषय बनाया है। किन्तु किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि इस संग्रह ग्रंथ की सर्वांगीण चर्चा के फलस्वरूप वैयक्तिक भाषा की संभाव्यता या असंभाव्यता का निर्णय अंतिमरूप से कर लेना संभव होगा। प्रस्तुत समस्या एक दार्शनिक समस्या ही है। अत: दार्शनिक चर्चा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं के समान उसके स्पष्टीकरण में ही सहायक हो सकती है, पूर्ण समाधान में नहीं। पुस्तक के चुने हुए निबंधों का सारांश प्रस्तुत करने के पूर्व उक्त विचार-सारणी के संबंध में एक-दो विचारणीय बातों का यहां निर्देश कर देना अनुपयुक्त न होगा। विट्गेन्स्टाइन के प्रतिपादन का निष्कर्ष है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने संबंध में गलती कर सकता है। यह बात मान ली जा सकती है। किन्तु क्या इस तथ्य के आधार पर यह मान लेना साधार होगा कि हरेक व्यक्ति दूसरों के संबंध में गलती नहीं कर सकता ? यदि हमारी दृश्य चेष्टाओं से अतिरिक्त हमारे अनुभवों की कोई सत्ता न हो तो शायद उनके सार्वजनिक परीक्षण या प्रमापण की बात अर्थपूर्ण कही जा सकती है। किन्तु इस कथन के विरुद्ध दो बातें हैं जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात यह है कि एक व्यक्ति के अनुभव दूसरों के लिए भले ही उस व्यक्ति की दृश्य चेष्टाओं के द्वारा ही गतार्थ हों (जब वे घटित हों) किन्तु स्वयं उस व्यक्ति के लिए उनका अनुभाव्य अस्तित्व इन चेष्टाओं के सापेक्ष बिल्कुल नहीं होता। न केवल यह व्यक्ति अपनी चेष्टाओं को देखकर उनके प्रेरक अनुभवों का आकलन नहीं करता, यदि वह चेष्टाओं की ओर अपना अवधान केन्द्रित करे तो उनके प्रेरक अनुभव थोड़े ही समय में विलीन भी हो जाएंगे। दूसरी विचारणीय बात इस चर्चा के संदर्भ में यह है कि जिस स्वानुभव के द्वारा दूसरों के अनुभवों की अभिव्यक्ति का निरीक्षण या प्रयोगों का परीक्षण कोई भी करता है वह प्रत्येक व्यक्ति के वैयक्तिक अनुभवों के जैसा ही तो होता है ? अनुभवों के विषय सब अनुभविताओं के लिए समान होने पर भी अनुभव तो हर व्यक्ति का अपना-अपना प्रातिस्विक ही होगा ? तीसरी विचारणीय बात यह है कि वैयक्तिक अनुभवों के संबंध में शब्द-प्रयोग को असंभव सिद्ध कर विट्गेंस्टाइन किस मनोवैज्ञानिक तथ्य को प्रस्थापित करना चाहता है ? सभी आन्तरिक अनुभूतियां शब्दगम्य नहीं होतीं, यह बात अन्य दार्शनिक भी मानते ही हैं। साहित्यकार शब्दागम्य अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं। यदि विट्गेन्स्टाइन का मंतव्य यही हो कि जिन अनुभूतियों की बाह्य अभिव्यक्तियां बिल्कुल नहीं होतीं उनके लिए शाब्दिक निर्देश उपयुक्त नहीं है, तो पारंपरिक दार्शनिक भी अंशत: उससे सहमत हो सकते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि विट्गेन्स्टाइन को यहां केवल भाषा-संबंधी कुछ तथ्यों का ही प्रतिपादन करना अभीष्ट नहीं है। शायद कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों, जैसे संवेद आदि की उनकी अभिव्यक्तियों से स्वतंत्र सत्ता नहीं है यह प्रतिपादन करना भी उसे अभिप्रेत प्रतीत होता है। किन्तु क्या उक्त तर्कों पर से ये तथ्य सिद्ध किए जा सकते हैं ?

एक और बात। विट्गेन्स्टाइन कहता है कि, 'मैं जानता हूँ' 'मैं समझता हूँ' जैसे वाक्य-खंड उद्गारात्मक हैं, अत: अर्थशून्य मानने चाहिए। यदि यह विचार ठीक है तो किसी के पूछने पर कि, 'क्या तुम यह बात जानते हो ?' यदि मैं स्वीकारात्मक उत्तर दूँ तो क्या वह उत्तर उद्गारात्मक समझा जा सकता है ? इसी प्रकार, 'वह जानता है' 'मैं जानता हूँ कि यह बात सही है' इस प्रकार के कथनों में 'जानना शब्द वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्तिमात्र नहीं माना जाता। विट्गेन्स्टाइन भी ऐसा नहीं समझते। किन्तु क्या 'जानना' जैसे शब्द के संबंध में भिन्न-भिन्न प्रयोग संदर्भ में भिन्न-भिन्न धारणाएं अपनाना किसी आधार पर समर्थनीय है ?

अब हम पीटर स्ट्रॉसन के खंडनात्मक लेख का विचार करेंगे। इस लेख में स्ट्रॉसन वैयक्तिक भाषा की संभाव्यता का समर्थन प्रस्तुत करता है। उसका मंतव्य इस प्रकार है - स्ट्रॉसन के अनुसार विट्गेन्स्टाइन एक दृढ़ और एक दुर्बल धारणा के बीच अनिश्चयात्मक स्थिति को अपनी वैयक्तिक भाषा-संबंधी उक्तियों के द्वारा व्यक्त करता है। दृढ़ धारणा यह है कि संवेदादि के वाचक शब्द नहीं होते। दुर्बल धारणा के अनुसार संवेदादिवाचक सामान्य शब्द-प्रयोगों की अर्थपूर्णता के लिए कुछ कसौटियां हुआ करती हैं जिन्हें पूर्ण न किया जाए तो संवेदादि के निर्देश में तथा संवेदादि के संबंध में भी कुछ गलतफहमियां हो सकती हैं। यदि इस धारणा के साथ यह बात जोड़ दी जाए कि किसी शब्द के वाच्यार्थ का वर्णन करने के लिए यह जानना ही आवश्यक है कि उसका प्रयोग करते समय कौन-सी कसौटियां लोग प्रयोग में लाते हैं तो उक्त दुर्बल धारणा पूर्वोक्त धारणा में ही अंतर्भूत हो जाती है। दृढ़ धारणा के पक्ष में विट्गेन्स्टाइन का तर्क यह है कि वैयक्तिक संवेदादि के लिए प्रयुक्त वैयक्तिक भाषा की युक्तायुक्तता की कोई कसौटी नहीं हो सकती। कोई बाह्य श्रोता उसके प्रयोगों को न जान सकता है न परख सकता है। स्वयं प्रयोक्ता भी यह बात नहीं जान सकता, क्योंकि उसका स्वनिर्मित संकेत या उस पर आधारित उसका प्रयोग सही है या नहीं, यह अवैयक्तिक रूप से तय करने का उसके पास कोई साधन नहीं है। जो भी प्रयोग उसे सही लगेगा वही सही होगा। किन्तु विट्गेन्स्टाइन का यह तर्क जैसे वैयक्तिक संवेदादि संबंधी वैयक्तिक भाषा के लिए लागू है वैसे ही रक्त पीतादि-बोधक वैयक्तिक भाषा के लिए भी लागू है। बाह्य वस्तु-संबंधी वैयक्तिक प्रयोगों को परखने के लिए वैयक्तिक संकेत-कोश तैयार किया जा सकता है लेकिन उसका अर्थ जानना या उसे प्रयोग में लाना ये सब वैयक्तिक बातें ही हो सकती हैं। इस पर यह प्रतिवाद हो सकता है कि बाह्य वस्तु-निर्देशक वैयक्तिक शब्दों के अर्थों का परीक्षण संभव है। जैसे किसी व्यक्ति के ऐसे वैयक्तिक-निर्देशों और उनसे सहचारित अभिव्यक्तियों आदि को देखकर कोई द्रष्टा-वक्ता के वैयक्तिक प्रयोगों और उनके अर्थों के संबंध का आकलन कर सकता है। किन्तु क्या इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैयक्तिक शब्दों और उनके अर्थों के इस प्रकार संबंध-निर्धारण के पूर्व ये शब्द कोई अर्थ ही नहीं रखते थे ? यदि नहीं तो जिन शब्दों के संबंध में यह निर्धारण संभाव्य नहीं उनको अर्थ-शून्य मानना कहां तक न्याय होगा ? इस पर शायद कोई कहे कि ऐसी भाषा जिसके प्रयोग सब प्रकार से वैयक्तिक हों, परखी ही नहीं जा सकती। लेकिन क्या यह सच है ? यदि वैयक्तिक भाषा के प्रयोक्ता ने सामान्य भाषा में अपने प्रयोगों का अर्थ दूसरों को समझाने का प्रयत्न किया तो क्या वह बिल्कुल सफल नहीं होगा ? और यह बात भी कहां तक सच है कि हम अपने प्रयोगों को भूलते रहते हैं तथा उन्हें याद रखने के लिए हमें बाह्य संदर्भों की जरूरत होती है ? शब्दों के पहली बार प्रयोग में लाए जाने के लिए भी ऐसे संदर्भों की आवश्यकता नहीं होती। किसी अनुभव के घटित होने पर उसका मानसिक आघात ही इतना तीव्र हो सकता है कि जिसके कारण हम उसके लिए एक नया शब्द गढ़ लें।

विट्गेन्स्टाइन का दूसरा तर्क यह है कि जब कोई 'मैं दुखी हूँ' जैसे वाक्यों का प्रयोग करता है तब वह अपने दु:ख की अपनी पहचान को किन्हीं तादात्म्य-निदर्शक चिह्नों या कसौटियों पर से सूचित नहीं करता। कसौटियों के प्रयोग की बात ही इस प्रसंग में अप्रयोज्य हैं। वैसे ही दु:ख की सत्ता के संबंध में संदेह की संभावना भी यहां कोई अर्थ नहीं रखती। यदि कसौटियों का प्रयोग होता तो दु:ख की पहचान में गलती भी हो सकती थी। यहां विट्गेन्स्टाइन पूर्व-निर्दिष्ट दुर्बल सिद्धान्त को दृढ़ सिद्धान्त में परिवर्तित करने के लिए शर्त का उपयोग करते हैं कि किसी वस्तु की पहचान के लिए उसके तादात्म्य-निदर्शक कसौटियों का उपयोग आवश्यक है। किन्तु यह शर्त सही नहीं है। 'लहसुन जैसा स्वाद' 'धात्वीय स्वाद'

आदि प्रयोगों के अर्थ सुस्पष्ट हैं। यहां स्वाद संवेद ही उसके पहचान की कसौटी प्रतीत होती है। हाँ, सामान्य भाषा में ऐसे स्वादों का निर्देश करने के लिए 'लहसुन जैसा', 'धात्वीय' जैसे सामान्य शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्टों के लिये 'कोंचना', 'बकोटना' जैसे शब्दों का उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियां न होने पर भी प्रयोग हुआ ही करता है। पहले जैसे इन उदाहरणों में भी दूसरों को समझाने के लिए ही सादृश्य बोधक ('कौंचना' जैसे) शब्द प्रयुक्त होते हैं। दु:ख की पहचान तो अपने-आप ही होती है।

दु:ख संवेद और रक्तवर्ण-संवेद इनमें सामान्यतया इतना साम्य है कि 'दु:ख' को दु:ख संवेद का नाम न मानना 'रक्त' को रक्त-वर्ण का नाम न मानने के बराबर है। किन्तु इन दोनों में यह वैषम्य है कि जो रक्त को देखता है उसे 'रक्त' नहीं कहा जाता किन्तु जो दु:ख अनुभव करता है उसे ही हम 'दु:खी' कहते हैं। इसी प्रकार बिना सामान्य कसौटियों (या लक्षणों) के हम किसी को 'दु:खी' कहते हुए हिचकिचाते हैं। 'दु:खी' और 'रक्त' के प्रयोगों के इस वैषम्य को एक उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। कोई स्थान गर्म होने पर वहां जाने वाला कोई भी मनुष्य कहता है कि 'यहां गर्मी अधिक है।' यदि गर्मी के समान दु:ख भी स्थान विशेष में फैलने वाली बात तो 'यहां दु:ख है' जैसा प्रयोग उचित होगा। किन्तु दु:ख के कारण बाह्य वस्तुएं होने या बाह्य वस्तुओं के साथ संपर्क होने पर भी दु:ख का स्थान बाह्य नहीं होता। अत: दु:ख संबंधी भाषा 'गर्मी' आदि का वर्णन करने वाली भाषा के समान सार्वजनिक नहीं हो सकती। यदि दु:ख के संबंध में कोई सार्वजनिक निर्देश करना हो तो उसका निर्देश दु:ख की दृश्य अभिव्यक्तियां ही होंगी।

ये सारी बातें सही होते हुए भी उनसे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि 'दु:ख' शब्द किसी संवेद का नाम नहीं हैं। अधिक से अधिक उक्त तर्क पर से यही सिद्ध होता है कि दु:ख संबंधी सामान्य भाषा का प्रयोग दु:खाभिव्यक्तियों पर आधारित होना चाहिए। किन्तु इसी बात में यह पूर्वकल्पित है कि सामान्यतया 'दु:ख' के संबंध में ऐसे दोनों प्रकार के वैयक्तिक प्रयोग संभव हैं। 'दुखानुभव' का विशेष स्वरूप ही उससे संबद्ध द्विविध भाषा के प्रयोग को आपादित करता है।

स्ट्रॉसन के उक्त विचारों से नार्मन मालकम् अंशत: भी सहमत प्रतीत नहीं होते। उनका कथन इस प्रकार है : स्ट्रॉसन ने विट्गेन्स्टाइन के विचारों के संबंध में यह विपर्यस्त धारणा बना ली है कि अदृश्य, अबाह्य, मानसिक या आन्तरिक बातों का प्रत्यय ही अस्वीकार्य है तथा इसी कारण उसके विचार में अप्रमाणीय संवेदादि के पहचान, नामकरण आदि की बातें करना तर्कसंगत नहीं है। विट्गेन्स्टाइन ने कई स्थानों में स्वप्नों का जिक्र किया है और कई प्रकार के वर्णनों का उल्लेख कर उनमें संवेदना के वर्णन का समावेश किया है। हाँ, यह हो सकता है कि विट्गेन्स्टाइन का उद्देश्य सामान्य भाषा में कुछ सुधार सूचित करना हो क्योंकि वह 'इन्वेटिस्टगेशन्स' में एक स्थान पर कहता है कि जब संवेद-संबंधी दार्शनिक समस्या पर विचार करते हैं तब 'वर्णन' शब्द भ्रान्ति निर्माण करता है। 'मैं अपने कमरे का वर्णन करता हूँ', 'मैं अपने संवेदों का वर्णन करता हूँ' 'वर्णन' शब्द के इन दो प्रयोगों में व्याकरण की दृष्टि से साम्य होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से बहुत वैषम्य है। स्ट्रॉसन ने 'रक्त' और 'दु:ख' शब्द के प्रयोगों के साम्य पर जोर दिया है। वैसे दोनों ही नाम हैं। किन्तु उनके प्रयोगों में जो वैषम्य है उसे उद्घाटित करना विट्गेन्स्टाइन का मुख्य लक्ष्य है। स्ट्रॉसन इस वैषम्य को पहचानता नहीं हो, यह बात नहीं है, किन्तु वह 'दु:ख' शब्द के वैयक्तिक प्रयोग में ही इस वैषम्य का प्रकटीकरण स्वीकार करता है। सामान्य भाषा में 'दु:ख' शब्द 'रक्त' के समान ही दृश्य अभिव्यक्ति को लेकर ही प्रयुक्त हो सकता है। वैयक्तिक अनुभव-संबंधी वैयक्तिक प्रयोगों में अभिव्यक्तियों का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वैयक्तिक शब्दों के निर्माण में स्ट्रॉसन किसी प्रकार की कठिनाई महसूस नहीं करता। किसी संवेद के पुन: पुन: घटित होने से प्रभावित होकर कोई व्यक्ति उस संवेद के लिए एक संकेत या चिह्न निर्धारित कर ले तो वह व्यक्ति बाद में कभी भी वह संवेद घटित होने पर उस संकेत का प्रयोग उसके लिये कर सकता है। इस संकेत के कारण वह संवेद उस व्यक्ति के स्मृति-पटल पर अंकित हो सकता है। किन्तु क्या इतने से ही कोई शब्द या संकेत किसी वस्तु का वाचक या निर्देशक हो जा सकता है ? शब्दों के द्वारा अर्थ निर्देशन की प्रक्रिया एक खेल या चमत्कार नहीं है कि किसी व्यक्ति के चाहने पर और किसी वस्तु की उपस्थिति में एक शब्द विशेष के प्रयोग करने पर ही वह शब्द उस वस्तु का वाचक हो जाएगा। भाषा एक वैविध्यपूर्ण व्यवहार या खिलवाड़ है जिसका अभिन्न घटक हुए बिना शब्द वस्तु-निर्देश का कार्य यथावत् नहीं कर सकता। यदि किसी शब्द को संवेद निर्देशक के रूप में स्वीकार करना हो तो उसका भी संवेद-संबंधी विविध व्यवहारों का अंग होना आवश्यक है। विभिन्न संवेदों की विभिन्न उत्कटताओं के अनुरूप प्रतिक्रियाएं व्यक्त करना, विभिन्न संवेदों में चुनाव करना, संवेदों के स्थानों को निर्धारित करना आदि बातें ही संवेद संबंधी व्यवहार हैं जिन में संवेद-बोधक शब्दों का उनके अर्थों के लिए प्रयुक्त होना अतीव सामान्य बात लगती है। किन्तु विचार कर देखने पर ज्ञात होगा कि यह बात उतनी सीधीसादी नहीं है जैसी वह लगती है। स्ट्रॉसन की यह धारणा है कि विट्गेन्स्टाइन ने इनमें वैयक्तिक भाषा के प्रत्यय का खंडन नहीं किया है, केवल उसने ऐसी भाषा के सामान्य प्रयोग के लिए कुछ शर्तों के पूर्ण करने की आवश्यकता प्रतिपादित की है। जैसे, संवेदों के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाय उनको सामान्य भाषा में लाना हो तो बाह्य पदार्थों के निर्देशों के साथ इन प्रयोगों को सहचरित होना चाहिए या संवेद की अभिव्यक्तियों का निर्देश इन शब्दों के द्वारा होना चाहिए। इस प्रकार संवेद-संबंधी वैयक्तिक भाषा वैयक्तिक होते हुए ही सामान्य प्रयोग में आ सकती है। इस धारणा का विट्गेन्स्टाइन ने इस प्रकार मजाक उड़ाया है, वह पूछता है क्या यह बात वैसी ही नहीं है जैसी 'रक्त' शब्द के साथ है जो शब्द कि प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनिक रूप से ज्ञात वस्तु का निर्देश करते हुए ही प्रत्येक व्यक्ति को केवल वैयक्तिक रूप से ज्ञात वस्तु का भी निर्देश करता प्रतीत होता है ?

वास्तविकता यह है कि यदि मेरे वैयक्तिक शब्द बाह्य वस्तुबोधक शब्दों के बिना केवल मेरे वैयक्तिक संवेदों का निर्देश ही कर सकते हों तो ये अन्य निर्देश मेरे वैयक्तिक निर्देशों के साथ बाह्यत: ही निगड़ित हो सकते हैं। इनका मेरे प्रयोगों पर इतना भी असर नहीं पड़ सकता कि उसके सहारे मैं और अन्य व्यक्ति एक-दूसरे के वैयक्तिक प्रयोगों को समझ सकें। जो संवेद एक व्यक्ति को रक्त संवेद के रूप में प्रतीत होता है वह दूसरे को नील संवेद जैसा भी प्रतीत हो सकता है। अत: संवेद-निर्देशक शब्दों के साथ 'रक्त', 'पीत' जैसे शब्दों का प्रयोग कोई महत्त्व नहीं रख सकता। वैयक्तिक शब्दों का प्रयोग संवेदादि के निर्देशार्थ हुआ करता है। यह निर्देश वर्ण्य नहीं हो सकता। निर्देश और वर्णन के विषय भिन्न-भिन्न हैं। स्वयं निर्देश यदि वर्णनातीत है तो बाह्य वस्तु-निर्देशों के सहचार मात्र से वह वर्णन-विषय नहीं हो सकता। स्ट्रॉसन की यह गलत धारणा है कि 'कौंचना' जैसे शब्द जैसे व्यक्तिमात्र-वेद्य संवेद का निर्देश करते हैं वैसे ही सर्वसामान्य अनुभव का भी (उनके अन्तर्गत बाह्य निर्देशों के कारण) निर्देश कर सकते हैं, उनके लिए विट्गेन्स्टाइन के इस मौलिक विचार के ग्रहण करने में बाधक हो रही है कि संवेदादि के पहचान की बात कोई मतलब नहीं रखती। यदि कोई कहे कि 'मैं नहीं जानता कि दु:ख क्या है' तो उसे 'दु:ख' शब्द का अर्थ समझाने का प्रयत्न कहा जा सकता है। किन्तु यदि पुन: वह कहे कि "मुझे 'दु:ख' शब्द का अर्थ तो ज्ञात है लेकिन अभी मुझे यह ज्ञात नहीं हो सका कि जो हो रहा है वह दु:ख है या और कुछ", तो उस पर कोई क्या कह सकता है ? अपने दु:ख आदि के संबंध में अज्ञान, संदेह, विपर्यास जैसी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करना यह न केवल अस्वाभाविक है बल्कि शायद असम्भव भी है।

वैसे देखा जाय तो 'पहचानना' जैसे शब्द व्यावहारिक और दार्शनिक ऐसे दो प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त माने जा सकते हैं। यह संभव है कि अपने भीतर एक विचित्र संवेदना को अनुभव कर कोई कहे कि 'मेरी समझ में नहीं आता कि मुझे क्या हो रहा है' और थोड़े समय के बाद कुछ स्मृतियां जागृत होने पर वही व्यक्ति कहे कि "अब मुझे याद आया कि थोड़ी देर पहले ऊंचाई पर से नीचे गिरने जैसी अनुभूति मुझे हुई थी।" इस प्रकार की पहचान में अपने संवेद की अभिव्यक्ति ही विषय के रूप में उपस्थित है। अत: यह पहचान गलत साबित होने का कोई कारण नहीं है। किन्तु 'पहचान' शब्द के दार्शनिक अर्थ को लें तो 'पहचान' में गलती होना असंभव नहीं। मैं ही अपने संवेदों को जान-पहचान सकता हूँ। दूसरों के लिए यह नितान्त असंभव है। तब क्यों मेरी पहचान सदैव गलत नहीं होती ? विट्गेन्स्टाइन इस वैयक्तिक संवेद की धारणा को निराधार सिद्ध करने के लिए एक कल्पना की सहायता लेने की सलाह देते हैं। कल्पना यह है कि 'हम मान लें कि हमारे संवेद बराबर बदल रहे हैं किन्तु हमारी स्मृति हमें धोखा देती रहने से इस परिवर्तन को हम नहीं जाने पाते।' यह कल्पना सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति धोखा देती है यह बात हम जान ही नहीं सकते। यदि दूसरी स्मृति पहली स्मृति की सचाई को उद्घाटित करे तो उसके विषय में भी हमें कैसे विश्वास हो ? अत:स्मृति के धोखा देने की कल्पना विचाराहं नहीं है। इसीलिए अपने वैयक्तिक संवेदों को स्वयं जान-पहचान कर दूसरों को उनके बारे में जानकारी-चाहे जिस भी उपाय से-देने की बात करना कोई मतलब नहीं रखता। अपने संवेदों के बारे में जानने या पहचानने की बात करना ही अर्थशून्य है। (जो बात जानी जा सकती है उसके संबंध में भ्रान्ति या संदेह भी संभव है किन्तु अपने संवेदों के संबंध में ऐसी बात की कल्पना ही तर्कत: अपवर्जित है)।

स्ट्रॉसन रक्त संवेद की दु:ख संवेद से तुलना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि जैसे रक्त को रक्त के रूप में पहचानने के लिए कोई बाह्य निकष या कारण अपेक्षित नहीं होता वैसे ही 'दु:ख' को दु:ख के रूप में पहचानने के लिये भी न तो किसी निकष की अपेक्षा है न कारण की। किन्तु स्ट्रॉसन भूल जाते हैं कि कभी-कभी रक्त वर्ण को पहचानने में भूल हो जाती है जैसे मंद प्रकाश में 'रक्त' धूसर सा प्रतीत होता है। किन्तु ऐसी भूल दु:ख-संवेद के संबंध में घटित होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसके संबंध में जो भाषीय व्यवहार हुआ करता है उसका आधार संवेदाधिष्ठित चेष्टायें ही हो सकती हैं जिनके बिना संवेदों में पहचान के द्योतक 'वही' जैसे शब्द प्रयुक्त नहीं हो सकते।

स्ट्रॉसन ने वैयक्तिक भाषा का समर्थन करते हुए कहा है कि अपने संवेदों को स्वयं ग्रहण कर ग्रहणकर्ता व्यक्ति उनके साथ अपने द्वारा संकेतित शब्दों को जोड़ सकता है। बाद में पीछे बताये मुताबिक सामान्य भाषा में इन शब्दों का प्रयोग भी (दूसरे शब्दों की सहायता से) कर सकता है। तथापि अपने प्रयोगों की सत्यता को व्यक्ति सदैव जान नहीं सकता। कभी-कभी स्मृति उसे धोखा दे सकती है। एक स्मृति की परीक्षा दूसरी स्मृति से की जाए तो उस स्मृति के संबंध में भी वही प्रश्न उठ सकता है। भाषा की वैयक्तिकता यदि तर्कत: उसकी बाह्य उपायों से अप्रमाणीयता को आपादित करती हो तो स्ट्रॉसन वैयक्तिक भाषा का कोई भी उचित समर्थन नहीं प्रस्तुत कर सकता।

संवेदादि की पुनरावृत्ति होने पर उनके संबंध में पहचान दर्शाने वाने 'वही' जैसे शब्द व्यक्ति अपने वैयक्तिक भाषीय व्यवहार में प्रयोग कर सकता है, ऐसी जो स्ट्रॉसन की धारणा है उसके संबंध में विट्गेन्स्टाइन का प्रतिवाद विचारणीय है। किसी विद्यार्थी को कहा जाए कि 'एक से हजार तक दो-दो के अन्तर से संख्या लिखो' तो वह 1,3,5,7.... इस क्रम से हजार तक अंक लिखेगा। यदि हजार के बाद वह दूसरे क्रम से संख्याएं लिखते हुए भी यही समझता है कि पहले ही क्रम से उसका लिखना जारी है तो उसे पहले क्रम का स्पष्टीकरण कर समझाया जा सकता है कि हजार के आगे जो क्रम उसने अपनाया

है वह 'वही' नहीं है जो वह चाहता है। यहां जैसे 'वही' शब्द के प्रयोग की कसौटी बाह्य है वैसे ही अन्यत्र भी वह बाह्य ही होगी। किसी आन्तरिक अनुभूति के आधार पर 'वही' होना या (किसी बात का) तादात्म्य निर्धारित करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

यही बात वैयक्तिक अनुभवों के संबंध में नियमों के अनुसरण को भी लागू होती है। मैंने शब्द-प्रयोग के या अन्य कोई नियम अपनी वैयक्तिक भाषा के क्षेत्र में ठीक तरह काम में लाए हैं या नहीं, यह जानने का साधन मेरे पास क्या है? इसका उत्तर यही होगा "मेरी नियमानुसरण की भावना या अनुभूति"। यह अनुभूति कभी-कभी भ्रान्त भी हो सकती है। जब मैंने नियमानुसारी प्रयोग नहीं किया तब भी मैं भ्रमवशात् सोच सकता हूँ कि मैंने नियमों का अनुसरण किया है। ऐसी परिस्थिति में कोई बाह्य कसौटी उपलब्ध न हो तो कैसे मैं निश्चय कर सकता हूँ कि मेरी वैयक्तिक भाषा मेरे बनाए नियमों की अनुवर्त्ती है? जो प्रयोग जब मुझे नियमानुसारी लगेगा वही मुझे नियमित मानना पड़ेगा।

अब तक जिन आपत्तियों की चर्चा की गयी वे सब वैयक्तिक भाषा के प्रत्यय की आंतरिक विसंगति का उद्घाटन करने वाली थीं। विट्गेन्स्टाइन ने एक और आपत्ति की चर्चा की है जो 'बाह्य' कही जा सकती है। वह यह है कि यदि (दु:ख) आदि का प्रत्यय वैयक्तिक अनुभव से ही प्राप्त या निष्कृष्ट हो तो उसका दूसरों के दु:ख के संबंध में प्रयोग कैसे किया जा सकता है? अपने दु:ख की वैयक्तिक अनुभूति के साथ जो 'मेरापन' जुड़ा हुआ है उसका दूसरों के अनुभव के संबंध में अनुभव कदापि संभव नहीं है। अपने अनुभवों पर से दूसरों के अनुभव पर संक्रमण (काल्पनिक) करना यह अपने शरीर के एक अंग के दु:ख से दूसरे अंग के दु:ख की कल्पना करने जैसा नहीं है। न ही वह अपने दु:ख को अपने शरीर से दूसरों के शरीर में महसूस करने जैसा है। यह तो 'जिस दु:ख को मैं कदापि महसूस नहीं कर सकता उसे, मैं ही जिसे महसूस कर सकता हूँ उस दु:ख के आधार पर,समझने का प्रयास ही है। इसका कारण यह है कि दूसरों के दु:ख की कल्पना का मेरा एकमेव और सर्वश्रेष्ठ आधार मेरा अपना दु:खानुभाव ही है। अत: ऐसे आधार पर की जाने वाली दूसरों के दु:ख की धारणा व्याघातपूर्ण होना अनिवार्य है। जैसे कोई कहे कि 'मैं जानता हूँ कि यहां (धरती पर) पांच बजे हैं, इस कथन का तात्पर्य क्या है, अत: मैं इस उक्ति का अर्थ भी जानता हूँ कि 'अभी सूरज पर पांच बजे हैं', तो सुनने वाला यही समझेगा कि वक्ता को अपने ही प्रयोगों का ठीक-ठीक अर्थबोध नहीं हुआ है। धरती पर पांच बजने के प्रत्यय को सूरज पर के समय पर किसी भी प्रकार संक्रमित नहीं किया जा सकता या धरती और सूरज के समयों के तादात्म्य के प्रत्यय का यहां न कोई वैयक्तिक आनुभविक आधार या बाह्य आधार प्रस्तुत किया जा सकता है।

स्ट्रॉसन और मॉलकम् की इस चर्चा में से कुछ विचारणीय बातें हमारे सामने आती हैं। स्ट्रॉसन की यह युक्ति कि वैयक्तिक भाषा सामान्य भाषा का भी काम करती है, समर्थनीय नहीं प्रतीत होती। यदि वैयक्तिक शब्दों का निर्देश्य वैयक्तिक अनुभव ही हो, जो वर्णनातीत हो, बाह्य वस्तुबोधक शब्दों के साहचर्य से भी वैयक्तिक शब्द इन निर्देश्यों को दूसरों तक संक्रमित नहीं कर सकते। यही बात स्ट्रॉसन के इस कथन पर भी लागू है कि यद्यपि वैयक्तिक भाषा का प्रयोग एक ही व्यक्ति कर सकता है तो भी उसके शब्दों को समझना दूसरों के लिए भी संभव है। यहां भी निर्देश्य और वर्ण्य के भेद को भुलाना उचित नहीं होगा।

स्ट्रॉसन का यह तर्क भी उचित नहीं लगता कि वैयक्तिक भाषा-संबंधी आक्षेप बाह्य पदार्थों के लिए प्रयुक्त वैयक्तिक भाषा को भी लागू हैं, क्योंकि उनके संबंध में भी परखने की वैयक्तिक कसौटियां ही उपलब्ध हो सकती हैं। आंतरिक और बाह्य पदार्थों के निर्देशन में जो फर्क है उसे भुलाया नहीं जा सकता। आंतरिक संवेदादि-निर्देश्य केवल व्यक्ति को ही ज्ञेय होते हैं किन्तु बाह्य निर्देश्य दूसरों को भी ज्ञात हो सकते हैं।

किन्तु यहां यह देखना आवश्यक है कि क्यों स्ट्रॉसन पुन: पुन: इस बात पर जोर देता है कि वैयक्तिक भाषा ही सामान्य प्रयोग के भी काम आ सकती है। यह बात तो स्पष्ट है कि एक व्यक्ति के संवेद कभी भी दूसरों के अनुभव-विषय नहीं हो सकते। तथापि इन संवेदों के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले शब्द सभी लोगों की समझ में आ सकते हैं, ऐसी यदि स्ट्रासन की धारणा है तो उसका कारण यह प्रतीत होता है कि 'दु:ख' 'कष्ट' आदि शब्द शुद्ध निर्देशक होते ही नहीं। ये शब्द निर्देश और वर्णन (वस्तु और भाव इन दोनों के वाचक होने से) ये दोनों कार्य करते हैं। शायद शुद्ध (वैयक्तिक) निर्देश करने वाले शब्द किसी भाषा में ही नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। भाषा पारस्परिक व्यवहारार्थ निर्मित हुई है। यदि उसमें केवल निर्देशक शब्द (जिनका व्यवहार के लिए कोई उपयोग न हो सकता हो) अन्तर्भूत हों तो वह भाषा का जो प्रमुख कार्य है वही नहीं कर पाएगी। स्ट्रॉसन तथा विट्गेन्स्टाइन दोनों को वैयक्तिक भाषा संबंधी चर्चा के लिए 'दु:ख' जैसे वर्णनात्मक शब्दों को लेना ही नहीं चाहिए था। मानलें कि स्ट्रॉसन ने 'वह', 'यह' जैसे सर्वनामों का अपने संवेदों के निर्देशार्थ प्रयोग किया है। यह भी मान लें कि इन सर्वनामों का एक प्रयोग-प्रसंग में एक ही निर्देश्य होता है। तब स्ट्रासन यह नहीं कह सकता कि उक्त सर्वनाम निर्देशक और भाववाचक दोनों है। इस अवस्था में वैयक्तिक भाषा की समस्या का रूपान्तर यह होगा कि 'क्या मात्र निर्देशपरक शब्द भाव वाचक भी हो सकते हैं?' किन्तु इस प्रश्न पर कोई विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। इस प्रश्न का उत्तर स्पष्टतया ही नकारात्मक होगा। यद्यपि बाह्य वस्तु-निर्देशक शब्दों के संबंध में भी यह प्रश्नोत्तर संभव है तथापि इन शब्दों के साथ भाववाचकता का जुड़ जाना स्वाभाविक होने से केवल वैयक्तिक अनुभूति-निर्देशक शब्दों को लेकर ही यह विचार किया जाना उचित होगा।

अब विचारणीय प्रश्न यह होगा कि क्या केवल निर्देशक शब्दों वाली भाषा संभव हैं? आंतरिक या बाह्य का विचार इस प्रसंग में लाने की जरूरत नहीं होगी। यदि सर्वनामों के, या अन्ततोगत्वा व्यक्ति-निर्देशक संज्ञाओं के, भाषागत स्थान को विट्गेन्स्टाइन स्वीकार करता है (ऐसा न करने का कोई कारण नहीं है) तो उसे भी मानना होगा कि ऐसी भाषा असंभव नहीं है। हाँ ऐसी भाषा के शब्द सभी भाषीय व्यवहार चलाने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते। केवल दूधमुहे बच्चों के जैसी यह भाषा होगी।

स्ट्रॉसन के इस कथन पर कि, किसी शब्द को प्रयोग में लाना बड़ी सरल बात है, मॉलकम् ने प्रतिवाद किया है कि, किसी के चाहने मात्र से कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक नहीं हो जाता। एक हद तक यह बात ठीक है। अपने अर्थ के साथ शब्द का नियत साहचर्य प्रस्थापित करना पड़ता है और यह एक जटिल प्रक्रिया है। तथापि इस प्रक्रिया में महत्त्व की बात है शब्दों को अर्थ के साथ संकेत संबंध में जोड़ना। दूसरों के द्वारा इस संबंध के दर्शाये जाने पर उसे समझ पाना कभी-कभी बहुत कठिन हो सकता है। जैसे एक अपरिचित भाषाभाषी प्रदेश में पहुँचे एक व्यक्ति को पानी की आवश्यकता होने पर वह मुंह की ओर हाथ ले जाकर पूछे कि, 'इस चीज को क्या कहते हैं?' तो देखने वाला उत्तर में 'मुंह के लिए,' 'मुंह खोलने के लिए', 'मुंह में हाथ डालने के लिए' या 'खाने के लिए' शब्द बतलाए तो कोई आश्चर्य नहीं। शब्दों के अर्थ समझने या समझाने की कठिनाई वस्तुओं की अपेक्षा क्रियाओं के संबंध में विशेष महसूस होती है। इसका कारण स्पष्ट है। क्रियाएं (अतीव सरल प्रतीत होने वाली भी) बहुत जटिल हुआ करती हैं। उनका नपातुला निर्देश या वर्णन करना उनके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य का वर्णन किए बिना बहुत कठिन होता है। किन्तु अपने ही संवेदों के नामकरण में ऐसी कठिनाई उपस्थित होने का कोई

कारण नहीं। स्ट्रॉसन का यह प्रतिपादन बिल्कुल युक्तिसंगत है कि कोई व्यक्ति अपने किसी अनुभव से इतना प्रभावित हो जाय कि उस अनुभव के लिए वह एक नाम गढ़ ले और उस अनुभव की पुनरावृत्ति होने पर प्रयोग में लाए।

यहां विट्गेन्स्टाइन के बाह्य आपत्ति के संबंध में भी कुछ कहना आवश्यक है। अपने अनुभवों पर से दूसरों के अनुभवों की कल्पना करना व्याघात-युक्त है, यह इस आपत्ति का मर्म है। आपाततः यह कथन ठीक लगता है। किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर वह बिल्कुल अनुभव-विरुद्ध प्रतीत होगा। जो व्यक्ति अत्यधिक भावनाशील होते हैं वे ही दूसरों की भावनाओं को अच्छी तरह समझ पाते हैं। अपनी भावना अपनी होते हुए भी उसके साथ 'अपनापन' चिपके रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'सहानुभूति' शायद उस स्वाभाविक मानसिक प्रक्रिया को कहते हैं जो भावनाओं की उत्कटता को कम होते न देकर उनमें से 'स्वत्व' की अनुभूति को अलग कर देती है। कम से कम अपनी भावनाओं को दूसरों पर प्रक्षिप्त या आरोपित करते समय यह स्वत्व की अनुभूति बाधक नहीं होती, यह बात मानना तो नितान्त आवश्यक है।

अब हम आयर के 'क्या रॉबिन्सन क्रूसो जैसा (एकान्त जीवी व्यक्ति) भाषा-निर्माण कर सकता है ?' इस लेख का संक्षेप प्रस्तुत करेंगे। आयर के विचार इस प्रकार हैं : वैयक्तिक भाषा संभव है क्योंकि ऐसी भाषाएं उपलब्ध हैं। वैयक्तिक भाषा उस भाषा को कहना चाहिये जो केवल एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति विशेषों के उपयोग के उद्देश्य से ही निर्मित है। ऐसी भाषा अनेक व्यक्तियों के समझ या प्रयोग में आ भी जाय तो कोई आश्यर्च नहीं। ऐसी अवस्था में यह भाषा वैयक्तिक नहीं रह जायगी। किन्तु दार्शनिक परिभाषा में वैयक्तिक का अर्थ उपर्युक्त जैसा नहीं है। दार्शनिक उस भाषा को वैयक्तिक कहते हैं जो अनिवार्यतया वैयक्तिक है, क्योंकि वह व्यक्ति मात्र वेद्य अनुभवों के लिए ही प्रयुक्त होती है। उदाहरणतः कार्नप मूल वाक्यों (प्रोटोकोल स्टेटमेंट्स) के संबंध में कहता है कि यदि इनके विषय वक्ता के सद्यः प्रदत्त संवेद हों तो एक व्यक्ति के मूल वाक्य दूसरों के समझ में नहीं आ सकते। अतः इन वाक्यों के विषय वक्ता की दृश्य अवस्थाओं को ही (शारीरिक या अन्य विध) मानना उचित होगा। किन्तु विट्गेस्टाइन का मत यह है कि जो व्यक्ति भाषा का वैयक्तिक अनुभवों के लिए प्रयोग करना चाहता है वह न केवल दूसरों के साथ, बल्कि अपने साथ भी कोई संपर्क प्रस्थापित नहीं कर सकता। इस बात को वह इस प्रकार स्पष्ट करता है: कल्पना करें कि मैं अपने एक संवेद की घटना को अपनी डायरी में (जब-जब वह घटित होती है) किसी संकेत के द्वारा दर्ज करता हूँ। ऐसा करने के लिए मुझे उस घटना की ओर ध्यान देना पड़ेगा क्योंकि ऐसा करने से ही वह घटना और उसका संकेत इनमें संबंध प्रस्थापित होगा और उसे मैं बाद में याद कर सकूंगा। किन्तु यदि गलत ढंग से मैं इस बात का स्मरण करूं तो क्या वह स्मरण गलत होगा ? नहीं। जो मुझे सही लगेगा वही मेरी स्मृति के लिए सही होगा। कह सकते हैं कि एक तालिका बनाकर उसकी सहायता से अपने संकेतों के सत्यासत्यता परखना मेरे लिए संभव है। लेकिन यदि यह तालिका भी काल्पनिक हो तो ? स्मृति पर से यह बात परखने की बात तभी की जा सकती है जब कोई स्मृति स्वतंत्र रूप से विश्वास योग्य सिद्ध हो। हर स्मृति को दूसरी स्मृति से ही प्रमाणित करना हो तो स्मृति का उक्त कार्य के लिए कोई उपयोग नहीं हो सकता।

यदि संवेदों को बाह्य अभिव्यक्तियों या घटनाओं के साथ संयुक्त किया जाय तो इस कठिनाई का निवारण हो सकता है। जैसे मानलें कि जब मुझे कोई संवेद हुआ उसी समय मेरा रक्तचाप बढ़ जाता है। इसी समय मैं अपने संवेद को पहचान कर उसके लिए कोई संकेत निर्धारित करता हूँ। अब मैं बाद में इस संवेद को ठीक तरह पहचानूं या नहीं, यदि मेरा रक्तचाप अनिवार्यतः बढ़ जाता है तो मैं यही मानूंगा कि मेरा पूर्वतन संवेद ही घटित हुआ है।

इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सार्वजनिक वस्तुओं के संबंध में भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने तत्संबधी अनुभवों पर से ही अपने शब्द-प्रयोगों की युक्तायुक्तता परखना संभव है। दूसरों के प्रयोगों को देखना, सुनना, समझना मुझे ही पड़ता है। किन्तु यदि बाह्य वस्तुओं के संबंध में यह परख मैं कर सकता हूँ तो अपने वैयक्तिक संवेदों के बारे में वही बात मैं क्यों नहीं कर सकता ? इस पर यह प्रतिवाद ठीक नहीं कि सार्वजनिक वस्तुओं की ओर इशारा कर उनके साथ अपने शब्द-प्रयोगों को मैं परिभाषया जोड़ सकता हूँ। अपने संवेदों की ओर भी मुझे इशारा करना संभव है। और केवल इशारे का तो कोई मतलब है नहीं। उसे मतलब तो मैं प्रदान करता हूँ। यह बात बाह्य या आन्तरिक बातों के लिए समान रूप से लागू है। इस पर यह प्रतिप्रश्न हो सकता है कि वस्तु की ओर इशारा करना दूसरों को अपने प्रयोगों का अर्थ समझाने के लिए आवश्यक है और यह बात संवेदों के संबंध में संभव नहीं। अत: मैं अपने वैयक्तिक शब्दों को दूसरों के लिए दृश्य रूप से (ओस्टेंसिवली) परिभाषित नहीं कर सकता। इस प्रश्न के दो पूर्वाभ्युपगम है। एक यह कि किसी संकेत को समझने के लिए उसके द्वारा निर्देश्य वस्तु का या इस वस्तु से सहचरित अन्य वस्तु का निरीक्षण आवश्यक है। दूसरा पूर्वाभ्युपगम यह है कि कोई संकेत तब तक अर्थपूर्ण नहीं माना जा सकता या उसे अर्थवाही नहीं बनाया जा सकता जब तक उसे अन्य लोग समझ न पाएं। ये दोनों अभ्युपगम असत्य हैं। पहले हम दूसरे अभ्युपगम का विचार करें। कल्पना करें कि कोई रॉबिन्सन क्रूसो जैसा आदमी शैशवावस्था से ही एक निर्जन द्वीप में किसी तरह पाला-पोसा जाकर बड़ा होता है। यद्यपि उसका दूसरे किसी मनुष्य के साथ संपर्क प्रस्थापित नहीं होता तो भी यह असंभव नहीं कि वह अपने इर्दगिर्द की वस्तुओं, घटनाओं आदि के लिए शब्दों का निर्माण करले। अब आगे यह कल्पना करें कि यह व्यक्ति अपने संवेदों के लिए भी संकतों का निर्माण करता है। इन दो प्रकार के शब्दों या संकेतों में परीक्षणीयता की दृष्टि से क्या अन्तर है ? दोनों की परख स्मृति से ही हो सकती है। आकाश में उड़ती चिड़िया के लिए गढ़े हुए शब्द के और अपने किसी संवेदों के लिए गढ़े हुए शब्द के पुन: प्रयोगों को परखने की स्मृति के सिवा और क्या कसौटी उस व्यक्ति के पास हो सकती है ? किन्तु स्मृति स्वयं विश्वसनीय न हो और एक स्मृति के प्रमापण के लिए दूसरी और दूसरी के प्रमापण के लिए तीसरी इस प्रकार स्मृति-परम्परा की शरण लेनी पड़े तो निश्चित शब्द-प्रयोग का आधार ही कहां रह जायगा ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि स्मृति के अतिरिक्त कोई पहचान का साधन उपलब्ध नहीं है तथापि संवेदों की पहचान ही नहीं हो सकती या जो पहचान होती है वह गलत या सही नहीं हो सकती ऐसा समझना ठीक नहीं है। जब तक क्रूसो अपने मनुष्य-विरहित द्वीप में अकेला रहता है उसके लिए बाह्य और अन्तर का भेद उसी बात पर आधारित है कि बाह्य बातों से उसके आन्तरिक अनुभव अधिक अस्थिर हैं। अब इस फर्क को ध्यान में रखते हुए हमें एक नयी परिस्थिति की कल्पना करनी है। वह यह है कि इस क्रूसो के द्वीप में अकस्मात् एक मनुष्य (जिसका क्रूसो संबंधी उपन्यास के लेखक ने 'मैन फाइडे' यह नाम रखा है) अवतीर्ण होता है। क्या इस मनुष्य के वहां उपस्थित होने मात्र से अपने अनुभवों को व्यक्त करने या उन्हें पहचानने या उनके लिए उपयुक्त शब्द प्रयोग में लाने की क्षमता क्रूसो में आ जाती है ऐसा मानना उचित होगा ? क्या क्रूसो अपने अनुभवों या परिवेश को जानकर या देखकर उनके स्वरूप को स्वयं ठीक पहचान नहीं सकता और पहचानने पर उनके लिए उपयुक्त शब्द स्वयं प्रयोग में नहीं ला सकता और जिन शब्दों का वह प्रयोग करेगा उन्हें अपनी डायरी में (बिना फाइडे की किसी प्रकार की मदद के) उतार नहीं सकता ? यहां क्रूसो के बाह्य परिवेश संबंधी तथा संवेद संबंधी अनुभवों में अन्तर यह है कि परिवेश के विषय में जानकारी की कोई भूल हो जाय तो उसे पुनरीक्षण के द्वारा क्रूसो सुधार सकता है। जैसे, किसी एक पक्षी को एक बार देखकर उसने उसका कुछ नाम रखा तो दूसरी बार उस जैसे किसी अन्य पक्षी को

देखकर पहले पक्षी का ही नाम उसे याद आया तो इस भूल को वह दूसरे पक्षी को दुबारा देखकर, याने बाह्य कसौटी की मदद से ही सुधार सकता है। यह बात संवेदों के संबंध में संभव नहीं है, क्योंकि एक संवेद दो-बार घटित नहीं होता। यहां स्मृति की ही शरण लेनी पड़ेगी। लेकिन स्मृति भी संवेद जैसा ही एक अनुभव है। अत: स्मृति पर से संवेदों को परखना किसी अखबार की एक प्रति की गलती को दूसरी प्रति पर से सुधारने के प्रयास जैसा होगा। किन्तु यदि ये प्रतियां इस तरह छपी हों कि एक की अशुद्धियां दूसरे में नहीं उतरतीं तो इस उपाय से भी अशुद्धियों को सुधारना संभव है। स्मृति अखबार की शुद्ध या अशुद्ध प्रति जैसी वस्तु न होने पर भी, संवेदों को परखने की प्रक्रिया की कहीं न कहीं परिसमाप्ति मानना आवश्यक ही है। किसी न किसी अनुभूति को अंतिम निर्णायक माने बिना किसी भी अन्तर या बाह्य परीक्षण का अन्त भी होगा ही नहीं। और मान भी लें कि परीक्षण पूर्ण नहीं होता तो भी संवेदों की सही या गलत पहचान ही नहीं हो सकती, यह समझना ठीक नहीं है। यह समझना भी ठीक नहीं है कि अपने जिन संवेदों की बाह्य दृश्य-अभिव्यक्तियां नहीं हैं उनके लिए स्वप्रयुक्त शब्दों को क्रूसो फ्राइडे को पढ़ा ही नहीं सकता। शब्द-प्रयोगों को दूसरों को पढ़ाने के लिए स्वयं उन्हें जानना नितान्त आवश्यक है किन्तु दूसरों के समझने की आवश्यकता अपने किये शब्द-प्रयोगों के लिए नहीं है। इसके आगे जाकर यह भी कहा जा सकता है कि बिना स्वयं अनुभव प्राप्त किये क्रूसो के संवेदों को फ्रायडे जान सकता है। पुर:स्थित वस्तु के निर्देशक शब्दों को जानना, जिसे प्रात्यक्षिक परिभाषा (ओस्टेंसिव डेफिनीशन) कहा जाता है-यह शब्द-प्रयोगों की अवगति का एकमेव उपाय नहीं है। प्राय: अभिव्यक्तियों की सहायता से ही बच्चों को 'दु:ख' जैसे शब्दों के सही प्रयोग समझाये जाते हैं। इसके विपरीत बातें भी देखने में आ सकती हैं। यदि दो व्यक्ति एक-दूसरे में इस तरह उलझ गये हों कि एक की जैसी ही अनुभूतियाँ दूसरे को भी हुआ करती हों तो दोनों को पारस्परिक संवेदों का ज्ञान एक-दूसरे की बाह्य अभिव्यक्तियों के निरीक्षण के बिना ही होगा (और वह अपनी सत्यता के विश्वास से सहचरित ही होगा)। इसी प्रकार फ्राइडे क्रूसो के वैयक्तिक प्रयोगों को, बिना क्रूसो की बाह्य चेष्टाओं के देखे भी, समझने की क्षमता रख सकता है। इस बात का प्रमाण यही होगा कि क्रूसो की अनुभूति और फ्राइडे की प्रतिक्रियाएं एक-दूसरे के अनुरूप होंगी। यह बात जरूर है कि यह अनुरूपता फ्राइडे की जानकारी का पूर्ण प्रमाण नहीं हो सकती। सार्वजनिक वस्तु-निर्देशक शब्दों के प्रयोग की जानकारी के संबंध में भी तो यह अनिश्चिता होती ही है ? एक का प्रयोग दूसरे ने ठीक तरह समझ लिया, यह किस आधार पर निश्चय से कहा जा सकता है ?

एक कदम आगे जाकर हम यह भी मान सकते हैं कि फ्राइडे क्रूसो के उन्हीं संवेदों को, जिन्हें उसने स्वयं अनुभव किया है, जान सकता है और उनके निर्देशक प्रयोगों को समझ सकता है, ऐसी बात नहीं है। जिनका फ्राइडे को तनिक भी अनुभव नहीं है ऐसे क्रूसो के संवेदों को जानकर वह उनके लिए उपयुक्त शब्द-प्रयोग भी कर सकता है। यह बात कुछ विचित्र तो लगती है किन्तु वह अतर्कोचित बिल्कुल नहीं है। किसी अनुभव को समझने के लिए उसे स्वयं प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अत: यदि दूसरों के अंतरंग अनुभवों का ज्ञान प्राप्त है तो "वैयक्तिक" और "सार्वजनिक" के प्रत्ययों को दूसरे ढंग से परिभाषित करने की आवश्यकता पड़ सकती है। कार्नप के अनुसार वैयक्तिकता संवेदों जैसी वस्तुओं का और सार्वजनिकता मेज, कुर्सी जैसी वस्तुओं का स्वाभाविक धर्म है। किन्तु संवेदों को हम मेज, कुर्सी के स्तर पर लाने के लिए सर्वसाधारण संवेद-बोधक संकेतों का निमार्ण कर सकते हैं और मेज, कुर्सी को प्रत्येक व्यक्ति के मेजादि विषयक संवेद के स्तर पर ले जाकर मेज, कुर्सी आदि के वैयक्तिक प्रत्ययों का पुरस्कार कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में सिरदर्द जैसी बातें सामान्य हो जायगी

और मेज, कुर्सी आदि वैयक्तिक संवेदों का स्थान ग्रहण कर लेंगे। इस तरह का परिवर्तन भाषा में संभव होने पर भी यदि नहीं किया जाता तो उसका कारण यही है कि वह असुविधाजनक है। यदि वह सत्य हो कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही मेज-संवेद को जानता है दूसरे के मेज-संवेद को नहीं, या यह भी सत्य हो कि कोई व्यक्ति दूसरे की भावनाओं को न महसूस कर सकता है न जान सकता है, तो भी दोनों अवस्थाओं में यह निष्कर्ष कदापि निकाला नहीं जा सकता कि एक व्यक्ति दूसरे के स्वीय संवेद-संबंधी प्रयोगों या वर्णनों को समझ ही नहीं सकता।

इन सब तर्कों का फलितार्थ यह है कि किसी व्यक्ति के किसी वर्णनात्मक भाषा के साथ प्रयोग के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई अन्य व्यक्ति उस प्रयोग को समझ सके, न ही किसी व्यक्ति को ऐसे प्रयोग को समझने के लिए यह आवश्यक है कि वह वर्ण्य वस्तु या उससे संबद्ध किसी वस्तु या घटना का स्वयं निरीक्षण करे।

एयर की यह चर्चा कई नयी बातें हमारे सामने उपस्थित करती है। उक्त समस्या के दो प्रमुख पक्ष-वैयक्तिक शब्द प्रयोग स्वयं समझना और इनका दूसरों को समझना या दूसरों के द्वारा इनका समझना-इन पर एयर ने जो बातें कही हैं वे विचारणीय हैं। पहले पक्ष के संबंध में एयर का मौलिक सुझाव यह है कि भाषीय व्यवहार (चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक) और उसकी सत्यासत्यता की परख, ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न और अंशत: परस्पर-निरपेक्ष बातें हैं। परखने का प्रश्न संदेह या भ्रान्ति की स्थिति में ही पैदा होता है। यदि किसी भाषीय व्यवहार का परीक्षण संभव न हो तो वह व्यवहार ही नहीं, ऐसा समझना दुराग्रह है। तर्कत: भी यदि कोई व्यवहार परीक्ष्य न हो तो उसे भाषीय माना जाय या नहीं, ऐसा कोई पूछ सकता है। इस प्रश्न का उत्तर एयर के कथनों से जो सूचित होता है वह यही है कि कोई भी व्यवहार तर्कत: अपरीक्ष्य नहीं है। क्रूसो गूंगा भी रहता तो भी फ्राइडे उसके अनुभवों को बिना उनकी किसी अभिव्यक्ति को देखे या जाने समझ सकता है और उनके लिए प्रयुक्त शब्दों के अर्थ को इसी कारण ग्रहण कर सकता है। विट्गेन्स्टाइन को यह बात असंभव लगने का कारण यह है कि वह वैयक्तिक अनुभवों और भाषा-प्रयोग के क्षेत्रों को एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न मानता है। यह बात एक सीमा तक सही भी है। गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूतियां शब्दातीत ही समझी जाती हैं। किन्तु ऐसी भी अनुभूतियों का मनन या चिन्तन अनुभविता स्वयं कर ही सकता है। इसके संबंध में विट्गेन्स्टाइन को जो आपत्ति है वह भी साधार नहीं प्रतीत होती। इसका एक कारण यह है कि सामान्यतया अपनी अनुभूतियों के संबंध में हम तटस्थ वृत्ति नहीं अपनाते तथापि कभी-कभी ऐसी वृत्ति से इनका अन्तर्निरीक्षण या मनन हम करते ही हैं। दूसरा कारण यह है कि हमारी सभी अनुभूतियों के संशयास्पद होने पर भी साक्षि प्रत्यक्ष, और अंततोगत्वा संशयातीत, मानना ही पड़ता है। विट्गेन्स्टाइन विभिन्न व्यक्तियों के संवाद को अंतिम प्रमाण मानता है। किन्तु यदि प्रत्येक व्यक्ति का ही अनुभव संशयास्पद हो तो उनका संवाद भी कैसे अन्तिम प्रमाण माना जाय ? विट्गेन्स्टाइन समझता है कि सभी परीक्षण बाह्य प्रक्रियाएं हैं। लेकिन वह भूल जाता है कि परीक्षण व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली आनुभविक प्रक्रिया है। इसका प्रारम्भ कहीं भी हो, इसकी परिसमाप्ति तो विभिन्न व्यक्तियों की वैयक्तिक अनुभूति में ही होना अनिवार्य है।

उक्त समस्या के दूसरे पक्ष के संबंध में भी एयर का कथन अतीव मौलिक तथा मननीय है। किसी वर्णनात्मक शब्द-प्रयोग को समझने के लिए वर्ण्य विषय का निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं, यह जो एयर कहता है उसका मर्म यह है कि शब्द-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष के जैसा सर्वदा नहीं होता। प्रत्यक्ष के लिए विषय का सम्मुख उपस्थित होना आवश्यक है। शब्द-बोध में परोक्ष वस्तु का भी सामान्य रूप से निर्देश किया जाता है। दूसरों के अनुभवों को स्वयं प्राप्त किये बिना भी उनके संबंध में

शाब्दिक (निर्देश) व्यवहार करना संभव ही नहीं अत्यन्त स्वाभाविक भी है। हाँ, किसी को किसी शाब्दिक व्यवहार के बारे में समझना हो तो स्वयं उस व्यवहार-विषय का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य या आवश्यक है। समझने-समझाने में यह जो अंतर है उसका कारण समझने वाले और समझाने वाले की भूमिकाओं का भेद है। समझाने वाला शब्दादि अभिव्यक्तियों का प्रयोग अपने अनुभवों को समझने वाले तक संक्रमित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अभिव्यक्तियां उसके लिए गौण होती हैं, अनुभव ही प्रधान होता है। समझने वाला यदि अभिव्यक्ति तक ही अपनी दृष्टि रखें तो उनके पीछे छिपे अनुभवों का वह आकलन ठीक तरह नहीं कर पाएगा। तो भी कुछ न कुछ जानकारी उसे प्राप्त होगी ही। हाँ, जिन गूढ़ अनुभूतियों के संबंध में अभिव्यक्तियों का कोई महत्त्व नहीं है उनके शाब्दिक आकलन का प्रश्न यदि उपस्थित किया जाय तो उसका उत्तर देना सरल नहीं होगा।

प्रारम्भ में ही इस बात का उल्लेख किया गया था कि वैयक्तिक भाषा की समस्या के अन्तर्गत दो-तीन उप समस्याएं हैं जिनकी विभिन्न दार्शनिकों ने स्वयं भी स्ववंत्र स्वतंत्र रूप से चर्चा की है। इस समीक्षात्मक संक्षेप में एक ही उप समस्या का-क्या वैयक्तिक भाषा संभव है-विचार तीन प्रमुख प्रतिनिधि दार्शनिकों के लेखों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। अन्य उप-समस्याओं संबंधी विचार तथा उनकी समीक्षा दूसरे प्रसंग में प्रस्तुत की जायगी।

***

8

विज्ञान दर्शन का स्वरूप*

वी.के. भारद्वाज

मेरे इस लेख का आधार लैम्बर्ट और बिट्टन की नई पुस्तक विज्ञान-दर्शन का परिचय[1] है। इस पुस्तक के आधार पर मैंने प्रयत्न किया है कि विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण में दर्शन शास्त्रियों ने किन-किन प्रश्नों तथा समस्याओं पर विचार किया है - उनका एक परिचय पाठकों तक पहुँचा सकूं। इस ध्येय की सिद्धि के लिए लेम्बर्ट तथा बिट्टन की प्रस्तुत पुस्तक से बेहतर कोई दूसरी पुस्तक इस समय मेरी नजर में नहीं है। इस पुस्तक को पढ़ने के लिए पाठकों की कोई विशेष पूर्वशिक्षा की जरूरत नहीं है। इसके लेखकों ने विज्ञान-दर्शन की जटिल समस्याओं को बड़े ही सरल और सुबोध रूप से उदाहरणों के साथ प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक की तीन विशेषताओं का उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूँ: पहली विशेषता यह है कि विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण में दर्शन-शास्त्रियों ने समय-समय पर जो तर्क दिए हैं, इस पुस्तक में उनका स्वरूप स्पष्ट करने पर जोर दिया गया है।

दूसरी विशेषता यह कि पिछले लगभग तीस वर्ष से विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण में रोडोल्ड कार्नेप, हरबर्ट फाईगल, कार्ल जी. हेम्पेल अर्नेस्ट नेगल तथा हान्स राईकनबैष ऐसे दर्शनशास्त्रियों का प्रभुत्व रहा है,। प्रस्तुत पुस्तक में लेखकों ने इन दर्शनशास्त्रियों के मत को प्रचलित अथवा रूढ़ दृष्टिकोण कहा है। और इसकी आलोचना करते हुए ऐसे अनेक तर्क दिए हैं जो अद्यतम विचारधारा के द्योतक हैं। रूढ़ दृष्टिकोण की आलोचना करने के बावजूद भी लेखकों ने उसे नि:शेषत: अस्वीकरणीय नहीं बताया है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस पुस्तक के दोनों लेखकों में से वरिष्ठ लेखक लैम्बर्ट ने तो रूढ़ दृष्टिकोण को मान्यता दी है, किन्तु कनिष्ठ लेखक ब्रिट्टन ने इस दृष्टिकोण को समूचे रूप से स्वीकार नहीं किया है। यह मतभेद होते हुए भी लेखक अपने विश्लेषण में निष्पक्ष रह पाये हैं। तीसरी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण पुस्तक में प्रस्तुत युक्तियों में एक क्रमबद्धता है तथा पुस्तक के अंतिम अध्याय में उन सबको एक सूत्र में जोड़ दिया गया है। फलत: लेखकों को विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण का स्वरूप स्पष्ट करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

समूची पुस्तक में कुल पाँच अध्याय हैं: - (1) परिचय, (2) गणित का स्वरूप, (3) वैज्ञानिक व्याख्या, (4) पुष्टीकरण और स्वीकार्यता, तथा (5) विज्ञान की परिसीमाएं। अब मैं इन पाँच अध्यायों की संक्षेप में व्याख्या करूंगा।

---

* *Lambert, Kard, and Gordon G, Brittan, Jr. An Introduction to the Philosophy of Science, Prentice-Hall, Inc. Englewood cliffs, N.J., 1970.*

(1)

पहला अध्याय - परिचय । इस अध्याय का शीर्षक है - 'परिचय'। इसमें समूची पुस्तक के विषय का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया गया है। दर्शनशास्त्रियों के कार्य को सामान्यत: दो भागों में बाँटा जाता है। एक विभाग वह जो ज्ञान तथा अनुभव के किसी विशेष क्षेत्र से संबंध रखता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का संबंध विज्ञान से है। अर्थात् इसमें विज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार का विश्लेषण करते हुए, इस क्षेत्र में, दर्शनशास्त्री प्रत्यय-संबंधी और कार्य-प्रणाली-सम्बन्धी प्रश्नों तथा समस्याओं पर विचार करता है और उन पर प्रकाश डालता है। उदाहरणत: क्या गणितशास्त्र में संख्याएँ आदि विषय हैं ? अथवा उन्हें समुच्चयों की शब्दावली में परिभाषित किया जा सकता है। गणितशास्त्र का विषय क्या है ? क्या वैज्ञानिक व्याख्या तथा प्रागुक्ति में सममिति अथवा समानता है ? इस प्रकार के प्रश्न करना तथा उनका उत्तर देने का प्रयत्न करना, विज्ञान के क्षेत्र में, दार्शन-शास्त्री का मुख्य उद्देश्य है। लेम्बर्ट तथा ब्रिट्टन की प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे, तीसरे, तथा चौथे अध्याय इस विभाग के अन्तर्गत आते हैं।

दर्शनशास्त्रियों के कार्य का दूसरा विभाग वह है जिसमें दर्शनशास्त्री ज्ञान तथा अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक संबंध की खोज करता है, ताकि वह उन विभिन्न क्षेत्रों की सीमाएं निर्धारित कर सके और ज्ञान तथा अनुभव का एक समूचा दर्शन प्रस्तुत कर सके। लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन की प्रस्तुत पुस्तक का पाँचवां यानि अंतिम अध्याय दर्शनशास्त्रियों के इस विभाग-क्षेत्र में आता है।

दर्शन के इन दोनों कार्य-विभागों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणत: वैज्ञानिक व्याख्या की सीमाएं निर्धारित करने के प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि वैज्ञानिक व्याख्या से हम क्या समझते हैं ? 'वैज्ञानिक व्याख्या' - इस प्रत्यय का क्या विश्लेषण है ? इसी प्रकार ज्ञान तथा अनुभव के किसी विभाग विशेष के स्वरूप-निर्धारण का प्रश्न उस विभाग-विशेष में उठने वाले धारणा तथा कार्य-प्रणाली-संबंधी प्रश्नों से बिलकुल अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन की प्रस्तुत पुस्तक, जैसा कि हमने पहले भी कहा है, विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण के संबंध में है। इस सिलसिले में प्रश्न उठता है कि 'विज्ञान' शब्द का अर्थ क्या है ? वास्तविकता यह है कि यह शब्द विभिन्न प्रसंगों में, विभिन्न उद्देश्यों के लिए, विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। अत: लेखक इस शब्द की परिभाषा देने की आवश्यकता नहीं समझते। ऐसा करने के दो मुख्य कारण हैं : पहला यह कि 'विज्ञान' से हम क्या समझते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण करने के साथ-साथ बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि 'विज्ञान' क्या है इस बारे में हम साधारण रूप से कुछ-न-कुछ तो जानते ही हैं। अत: 'विज्ञान' शब्द की परिभाषा देना अनिवार्य नहीं है।

विज्ञान के आधार पर अध्ययन हम गणित के स्वरूप के अध्ययन से आरम्भ करना अधिक स्वाभाविक समझते हैं। परम्परा से ही यह धारणा रही है कि गणितशास्त्र समस्त विज्ञान का आधार है, क्योंकि गणितशास्त्र में मात्रा-सम्बन्धी अध्ययन किया जाता है, और इस प्रकार के अध्ययन के बिना विज्ञान का अध्ययन सम्भव नहीं है। इस कारण के अतिरिक्त, दो दूसरे उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए भी गणित के स्वरूप का अध्ययन, विज्ञान के आधार के अध्ययन से पहले आता है। ये दो उद्देश्य ये हैं - पहला, कुछेक विचारकों ने विज्ञान को अनुभाविकी खोज तथा गणितशास्त्र को अननुभाविकी खोज कहा है। इन दोनों शास्त्रों का इस प्रकार से चरितार्थीकरण गणितशास्त्र के संबंध में एक विशेष धारणा पर आधारित है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों ने इस धारणा विशेष के पक्ष में दी गई युक्तियों की परीक्षा करते हुए उसकी संतुलित आलोचना प्रस्तुत की है।

गणित के स्वरूप के अध्ययन को विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण में प्राथमिकता देने में दूसरा उद्देश्य यह है : प्रस्तुत विश्लेषण में तकनीकी शब्दावली उदाहरणत: 'विश्लेषणात्मक', 'संश्लेषणात्मक', 'तार्किक-सत्य' इत्यादि का प्रयोग अनिवार्य है। इन तकनीकी शब्दों से परिचित होने के लिए तथा इनकी परिभाषा निश्चित करने के लिए भी गणित के स्वरूप का अध्ययन विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण से पहले आता है। अत: प्रस्तुत पुस्तक में पहले अध्याय 'परिचय' के बाद दूसरा अध्याय गणितशास्त्र के स्वरूप से संबंधित है।

तीसरे अध्याय में वैज्ञानिक व्याख्या के प्रश्न पर विचार किया गया है। बात यह है कि बहुत से दार्शनिकों ने विज्ञान के अनुभाविकी स्वरूप पर जोर दिया है, जबकि दूसरे दार्शनिकों ने वैज्ञानिक पद्धति में किस प्रकार की व्याख्याएँ दी जाती हैं, इस बात पर आग्रह किया है। इनका कहना है कि विज्ञान में दी गयी व्याख्याओं के आधार पर ही हम विज्ञान के स्वरूप का निर्धारण कर सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के तीसरे अध्याय में लेखकों ने पहले रूढ़ दृष्टिकोण की व्याख्या की है और उसके बाद इस दृष्टिकोण की समालोचना। अपने तर्क में उन्होंने तीन प्रकार की युक्तियाँ दी हैं जो इस प्रकार की हैं।

प्रथम प्रकार की युक्तियों के द्वारा लेखकों ने वैज्ञानिक व्याख्या के रूढ़ दृष्टिकोण का विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त निगमनात्मक बनाम आगमनात्मक व्याख्याओं के स्वरूप भौतिकीय नियमों के स्वरूप, और वैज्ञानिक व्याख्या तथा प्रागुक्ति में सममिति, इत्यादि के बारे में अनेक मान्यताओं को स्पष्ट किया है। इन मान्यताओं पर विचार तथा सम्यक् आलोचना करने के बाद यह भी बताया है कि वैज्ञानिक व्याख्या के रूढ़ दृष्टिकोण में कहाँ-कहाँ परिवर्तन एवं संशोधन की गुंजाइश है।

द्वितीय प्रकार की युक्तियों का सम्बन्ध रूढ़ दृष्टिकोण की उस धारणा से है जिसके अनुसार कुछेक दार्शनिकों का कहना है कि विज्ञान में केवल एक ही प्रकार की व्याख्या पायी जाती है। अत: सामाजिक विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की व्याख्या वैषम्य के आधार पर अलग-अलग नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों को व्याख्या के प्रकार के आधार पर भिन्न-भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि विज्ञान में एक से अधिक प्रकार की व्याख्याएँ होती ही नहीं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों ने इस दावे की परीक्षा करते हुए वैज्ञानिक व्याख्या की तीन विभिन्न पद्धतियों की चर्चा की है। इनके मतानुसार सामाजिक अथवा व्यवहारिक विज्ञानों में साध्यपरक व्याख्याओं का विशेष महत्त्व है। अत: प्राकृतिक तथा व्यवहारिक विज्ञानों के बीच कार्य-प्रणाली की दृष्टि से यदि कोई अन्तर है तो वह इस प्रश्न पर आधारित हो सकता है कि क्या साध्यपरक व्याख्याएँ अपरिहार्य अथवा अनवघटनीय है।

पुस्तक के चौथे अध्याय में पुष्टीकरण एवं स्वीकार्यता के बारे में प्रश्न उठाए गए हैं। इन प्रश्नों का संबंध दूसरे और तीसरे अध्याय में विवेचित प्रश्नों से इस प्रकार है : (क) प्राय: कहा जाता है कि विज्ञान अनुभाविकी है और गणितशास्त्र अननुभाविकी। यह इसलिए कहा जाता है कि वैज्ञानिक उपकल्पनाओं का पुष्टीकरण अथवा अपुष्टीकरण प्रेक्ष्य साक्ष्य के आधार पर होता है और गणितशास्त्रीय उपकल्पनाओं का प्रमाणीकरण इस प्रकार नहीं होता। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि जब हम कहते हैं कि कोई उपकल्पना विशेष तथ्यों के साक्ष्य पर पुष्टित हुई है अथवा उसका अपुष्टीकरण हुआ है, तो हम 'पुष्टीकरण' तथा 'अपुष्टीकरण' इन शब्दों से क्या समझते हैं ? अथवा क्या समझें ? दूसरे शब्दों में, 'पुष्टीकरण' तथा अपुष्टीकरण का क्या अर्थ है ? इन शब्दों की परिभाषा कैसे करें ? जब हम इन प्रश्नों की खोज में निकलते हैं तो अनेक विरोधाभास दिखाई देते हैं। चौथे अध्याय में लेखकों ने पुष्टीकरण के दो विरोधाभासों पर अपना ध्यान केंद्रित किया है तथा इनके समाधान की दिशा में सुझाव दिए हैं।

(ख) वैज्ञानिक व्याख्या के रूढ़ दृष्टिकोण से भी पुष्टिकरण तथा स्वीकार्यता के विषय में प्रश्न उठते हैं। वैज्ञानिक व्याख्या के रूढ़ दृष्टिकोण के अनुसार घटनाओं को संबंधित नियमों के अन्तर्गत आच्छादिक दिखाना ही उनकी वैज्ञानिक व्याख्या देना है। इस मतानुसार, नियम वे सामान्य वाक्य हैं जो अनुभाविकी साक्ष्य के आधार पर पुष्टित किए जाते हैं। किन्तु यहाँ भी प्रश्न उठता है कि वे कौन से हालात हैं जिनमें यह कह सकते हैं कि अमुक उपकल्पना संबंधित उदाहरणों के साक्ष्य से पुष्टित होती है।

इस प्रकार (क) और (ख) से स्पष्ट हो जाता है कि चौथे अध्याय में उठाए गए प्रश्नों का दूसरे और तीसरे अध्याय के प्रश्नों से गहरा संबंध है।

पाँचवें यानि अंतिम अध्याय में वैज्ञानिक व्याख्या की सीमाओं के प्रश्न पर विचार किया गया है। वैज्ञानिक व्याख्या के सीमित के होने के पक्ष में दिए गए तर्कों को तीसरे अध्याय- वैज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप-में बताई गई व्याख्या की तीन पद्धतियों के विश्लेषण से जोड़ा गया है। इस प्रकार, प्रथम तर्क के अनुसार यह कहा जा सकता है कि मानवीय कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि मानवीय कर्म ऐच्छिक होते हैं। स्पष्ट है, इस तर्क का संबंध साध्यपरक व्याख्याओं से है। द्वितीय तर्क के अनुसार यह कहा जा सकता है कि परमाणु-सिद्धांतों के आधार पर सब प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। अत: इस तर्क का संबंध अवघटनात्मक व्याख्या से है। तृतीय तर्क के अनुसार यह कहा गया है कि सृष्टि में होने वाली घटनाओं को बुद्धिगम्य बनाने की चेष्टा में वैज्ञानिक व्याख्याओं से अनिवार्यत: कुछ न कुछ छूट जाता है।

उपर्युक्त सभी प्रश्नों का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। उल्लेखनीय बात यह है कि इन सभी प्रश्नों का संबंध किसी-न-किसी तरह से विज्ञान के अनुभाविकी एवं व्याख्यात्मक स्वरूप से है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक के लेखकों के मतानुसार यदि हम विज्ञान को चरितार्थित करना चाहें तो हम कहेंगे कि विज्ञान अनुभाविकी तथा व्याख्यात्मक दोनों हैं।

इन प्रश्नों के अतिरिक्त प्रस्तुत पुस्तक में अनेक दूसरे संबंधित प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। उदाहरणत: विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक में व्यतिरेक, शब्द-प्रयोग पर आधारित तार्किक सत्यता का सिद्धांत, आगमन की समस्या, तथा क्या प्राकृतिक नियमों को सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है ? - इस प्रकार के प्रश्नों पर भी विचार करना संभव हुआ है।

(2)

पुस्तक का दूसरा अध्याय है - गणित का स्वरूप। इस अध्याय में कुल सात विभाग हैं - (1) परिचय,(2) तार्किक सत्य, (3) गणित का अवघटन, (4) तार्किक सत्यता का भाषात्मक सिद्धांत, (5) तर्कशास्त्र और गणितशास्त्र, (6) शब्दप्रयोग-सत्यता का मानदण्ड, तथा (7) गणितशास्त्र तथा विज्ञान।

(1) **'परिचय'** में लेखकों ने गणित के स्वरूप को एक सिद्धांत, विशेषत: गणितज्ञ तथा दर्शनशास्त्री, जान कैमिनी के मत का विवरण दिया है। इस मत के अनुसार गणित को सच्चा अनुभाविकी विज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुभव गणित का विषय नहीं है। गणित में हम युक्तियों के प्ररूपमात्र का अध्ययन करते हैं, अनुभव का नहीं। अनुभव विज्ञान का विषय है। कैमिनी के मतानुसार गणित सारे विज्ञान की मूल भाषा है : इसका उपयोग (क) अनुभाविकी उपकल्पनाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त, (ख) अनुभाविकी उपकल्पनाओं के विभिन्न परिणामों की परीक्षा करने के लिए जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है, उन विधियों को गणितशास्त्र से ही लिया जाता है। इस मत के अनुयायी अलबर्ट आइंस्टाइन के प्रसिद्ध कथन को दोहराते हुए कहते हैं : 'जहाँ' तक गणित के वाक्यों का तथ्यों से संबंध है, वे आबाध्य हैं, वे तथ्यों से संबंधित नहीं हैं।

उपर्युक्त मत के पक्ष में कैमिनी ने मुख्य रूप से दो तर्क दिए हैं : पहला : गणित के सत्य वाक्यों को तर्क के सत्य-वाक्यों में नि:शेषत: अभिव्यक्त किया जा सकता है। अर्थात् गणित के सत्यवाक्य, वास्तव में, तार्किक सत्यवाक्यों के इतर कुछ भी नहीं हैं। दूसरा-तार्किक सत्यवाक्य, स्वरूपत:, विश्लेषणात्मक है। अर्थात् किसी भी तार्किक वाक्य की सत्यता उस वाक्य में पाए जाने वाले शब्दों का अर्थ जान लेने मात्र से ही प्रदर्शित हो जाती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित गणित के सत्यवाक्यों को लीजिए :

(1) 365-1 = 364

(2) 365-1 = 367

यह स्पष्ट है कि पहला वाक्य (1) सत्य है और दूसरा वाक्य (2) असत्य। इसमें भी सन्देह नहीं कि ये दोनों वाक्य गणित ही के वाक्य हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इन दोनों वाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता निर्धारित करने के लिए हमें अनुभाविकी तथ्यों की सहायता नहीं लेनी पड़ती। इन वाक्यों में पाए जाने वाले शब्दों - "365", " -", "।", "=" -- "364" तथा "367" - का अर्थ जान लेने मात्र से ही हमें ज्ञान हो जाता है कि इन दो वाक्यों में से पहला वाक्य सत्य है तथा दूसरा वाक्य असत्य। जब किसी वाक्य की सत्यता अथवा असत्यता उसके वाक्यपदों के अर्थ बोध मात्र से ही निर्णित हो जाए तो इस प्रकार के वाक्यों को कैमिनी के मतानुसार विश्लेषणात्मक वाक्य कहा जाएगा। दूसरे शब्दों में, विश्लेषणात्मक वाक्यों की सत्यता उनके प्रारूपों के बोध मात्र से ही निर्णित हो जाती है। यदि यह सच है तो गणित के वाक्यों की सत्यता-असत्यता का निर्णय अनुभव के आधार पर नहीं बल्कि शब्दार्थ अथवा शब्द-प्रयोग के आधार पर ही किया जाएगा।

इसके अतिरिक्त, गणित के सत्यवाक्यों की सत्यता अबाध्य होती है। इनका कारण यह है कि जब अनुभव गणित का विषय नहीं है और गणित के वाक्यों की सत्यता निर्धारित करने के लिए अनुभव का आश्रय नहीं लेना पड़ता, तो उस स्थिति में यदि गणित का कोई वाक्य सत्य है तो उसे अनुभव के आधार पर असत्य घोषित नहीं किया जा सकता और यदि वह असत्य है तो अनुभव के आधार पर उसे सत्य भी घोषित नहीं किया जा सकता। वास्तव में कैमिनी के मतानुसार, गणित के वाक्यों की सत्यता-असत्यता निर्धारित करने के प्रश्न के संबंध में अनुभव पूर्णतया अनावश्यक है। इसी बात को ऐसे भी कहा जा सकता है कि गणित के सत्यवाक्य अनुभव निरपेक्ष, अबाध्य, एवं विश्लेषणात्मक होते हैं।

लैबर्ट और ब्रिट्टन ने गणित के स्वरूप के बारे में उपर्युक्त प्रचलित मत का खण्डन किया है। उनकी आलोचना निम्नलिखित प्रश्नों पर केन्द्रित है :

(1) 'तार्किक सत्य वाक्य' का क्या अर्थ है।

(2) गणित के तर्क वाक्यों की तार्किक सत्य वाक्यों द्वारा नि:शेष अभिव्यक्ति की जा सकती है - इस कथन से क्या तात्पर्य है ? और क्या यह कथन सत्य है।

(3) तार्किक वाक्यों की सत्यता-असत्यता का निर्णय शब्द-प्रयोग अथवा शब्दार्थ के आधार पर ही होता है - इस कथन में कहाँ तक सत्यता है ? क्या हम इसे पूर्णतया स्वीकार कर सकते हैं।

इन तीनों प्रश्नों पर एक-एक करके मैं नीचे विचार करूंगा, तथा लैम्बर्ट और ब्रिट्टन के मत को यथासम्भव ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा।

(2) तार्किक सत्यवाक्य क्या है ? इस प्रश्न को समझने के लिए दो प्रश्न समझ लेना अति आवश्यक है। पहला ही तार्किक सत्यवाक्यों को तार्किक कहने का मानदण्ड क्या है ? अथवा, हम किन सत्यवाक्यों को तार्किक सत्यवाक्यों के नाम से बोधित करेंगे ? दूसरा - तार्किक सत्यवाक्यों की सत्यता निर्धारित करने की विधि क्या है ? स्पष्ट है कि यह दोनों प्रश्न अलग-अलग हैं।

किसी भी वाक्य विशेष में दो प्रकार की शब्दावली होती है - तार्किक तथा वर्णनात्मक। उदाहरणत: 'सभी मनुष्य मनुष्य हैं' - इस वाक्य में 'सभी' और 'है', ये शब्द तार्किक शब्दावली के अन्तर्गत आते हैं, और 'मनुष्य', यह शब्द वर्णानात्मक शब्दावली के अन्तर्गत आता है। यह भी स्पष्ट है कि 'सभी' मनुष्य मनुष्य हैं' - यह वाक्य सत्य है। इस प्रकार के वाक्य में यदि हम 'मनुष्य' शब्द के स्थान पर कोई अन्य शब्द रख दें - उदाहरणत: 'पर्वत' - तो भी इस प्रकार का वाक्य सत्य ही होगा। विशेषत: 'सभी पर्वत पर्वत हैं' - यह वाक्य सत्य है। दोनों वाक्यों की सत्यता निर्णित करने की विधि एक ही है। अब हम 'तार्किक सत्यवाक्य' का अर्थ इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं - तार्किक सत्यवाक्य वह सत्यवाक्य है जिनकी वर्णनात्मक शब्दावली को तर्कसंगत ढंग से बदल देने के बाद भी उनकी सत्यता अबाध्य रहती है। विकल्पित रूप से तार्किक सत्यवाक्यों को इस प्रकार भी वर्णित किया जा सकता है - तार्किक सत्यवाक्य वे सत्यवाक्य हैं जो मूलत: तार्किक शब्दावली से ही बने होते हैं। स्पष्ट है कि 'सभी मनुष्य मनुष्य है' यह वाक्य तार्किक सत्यवाक्य का ही उदाहरण है।

ऊपर जो हमने तार्किक सत्यवाक्यता की परिभाषा की है, उसके बारे में तीन चीजें कही जा सकती हैं -

(1) तार्किक एवं वर्णनात्मक शब्दावली की पहचान करने के लिए हमारे पास कोई सुनिश्चित मानदण्ड नहीं है। हम मात्र इतना ही कह सकते हैं कि तर्कशास्त्री जिस शब्दावली को तार्किक कहते हैं वही शब्दावली तार्किक शब्दावली है।

(2) तार्किक सत्यवाक्यता निर्णित करने के लिए हमने जो मानदण्ड दिया है उससे यह लगता है कि समस्त तार्किक सत्यवाक्यों में दो प्रकार की - तार्किक तथा वर्णनात्मक - शब्दावली को होना अपरिहार्य है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ऐसे अनेक तार्किक सत्यवाक्य देखने को मिलते हैं जिनमें वर्णनात्मक शब्दावली का लगभग बिल्कुल अभाव होता है। उदाहरणत: 'सभी वस्तुओं का अपने आप से तादात्म्य संबंध होता है।'

(3) तार्किक सत्यवाक्यता के मानदण्ड का हमने परिभाषा के रूप में जो स्पष्टीकरण दिया है उसे स्वीकार कर लेने से कैमिनी के मत को मान्यता देने के लिए हमें बाध्य नहीं होना पड़ता। अर्थात् हमें यह नहीं मानना पड़ता कि तार्किक सत्यवाक्यों की सत्यता इन वाक्यों के शब्दार्थबोध के आधार पर ही निर्मित होती है। अत: हम तार्किक सत्यवाक्यता सृष्टि के मूलाधार तथ्यों का बयान करते हैं। अथवा यों कहें कि वे चिन्तना के मूलभूत नियमों की अभिव्यक्ति करते हैं।

दूसरे शब्दों में हम यह कहना चाहते हैं कि तार्किक सत्यवाक्यता का मानदण्ड क्या है ? और ऐसे वाक्यों की सत्यता निर्णित करने की विधि क्या है ? यह दोनों प्रश्न तार्किक दृष्टि से एक दूसरे से अलग-अलग हैं। इनमें से एक प्रश्न का उत्तर देने से दूसरे प्रश्न का उत्तर स्वयं ही प्राप्त नहीं हो जाता। (क) कौन से वाक्यों को तार्किक सत्यवाक्य कहा जाए ? इस बात का निर्णय शब्दार्थ अथवा शब्द प्रयोग के आधार पर किया जा सकता है। परन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते - इससे यह अनुमान नहीं निकलता - कि (ख) तार्किक सत्यवाक्यों की सत्यता अथवा अबाध्यता का निर्णय करने की विधि भी शब्द-प्रयोग पर ही आधारित है। दूसरे शब्दों में (क) को मान लेने पर भी (ख) को अस्वीकार करने में तार्किक दृष्टि से कोई असंगति नहीं। लैम्बर्ट और ब्रिट्टन के शब्दों में - उदाहरण : 'रेखागणित के प्रमेयों की सत्यता शब्द प्रयोग पर आधारित नहीं; चाहे उसके सत्य वाक्यों का प्रमेयत्व निस्सन्देह ही शब्दप्रयोग पर आधारित है।' (पृ. 7) उनका कथन है कि कैमिनी इन दो प्रश्नों में विवेक न करते हुए दोनों को एक-दूसरे पर अध्यस्त करता है। इसीलिए ही तो वह शब्द प्रयोग को तार्किक सत्यवाक्यता का मानदण्ड एवं उनकी सत्यता का निर्णय करने की विधि भी मानता है।

(3) गणित का अवघटन - कैमिनी के मतानुसार सारे गणित को विशुद्ध तर्कशास्त्र की शब्दावली में लिखा जा सकता है। इसे ही गणित के सत्यवाक्यों का तार्किक सत्यवाक्यों में अवघटन कहते हैं। इस मत के अनुसार गणित का मूलाधार तर्कशास्त्र ही है। उसका अलग से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह तर्कशास्त्र ही का दूसरा रूप है। इस मत को लॉजिसिज़्म के नाम से लक्षित किया जाता है। फ्रेगे, व्हाइटहैड और रसेल इसके प्रवर्तक माने जाते हैं।

इस मत के अनुयायी अपने मत की पुष्टि इस प्रकार करते हैं : उनका कहना है कि कुछेक तार्किक नियमों और थोड़ी सी तार्किक शब्दावली की सहायता से गणित के सारे वाक्य तर्कशास्त्र के सिद्धांतों से निगम्य हैं। इस कथन की सत्यता सिद्ध करने के लिए निम्न निर्दिष्ट विधि अपनायी जाती है- सर्वप्रथम गणित की विभिन्न शाखाओं - एनालिसिस, बीजगणित, रेखागणित - के वाक्यों को अंकगणित के वाक्यों में अभिव्यक्त करके सारे गणित को पूर्ण संख्याओं के सिद्धांत पर आधारित सिद्ध किया है और कहा जाता है कि सारे गणित का पूर्ण संख्याओं के सिद्धांत से तादात्म्य है। तत्पश्चात् पूर्णसंख्याओं के सिद्धांत को तर्कशास्त्र के सिद्धांतों का रूपान्तर मात्र दिखाया जाता है। निगमन के इस कार्य के लिए व्हाइटहैड तथा रसेल ने इटली के गणितज्ञ पियनो के पाँच अक्ष्यमों की सहायता ली है। उनके मतानुसार इन्हीं पाँच अक्ष्यमों के आधार पर सारे गणित का विकास हुआ है। यही नहीं, अपितु पूर्णसंख्याओं के सभी विशेष-गुण इन्हीं पाँच अक्ष्यमों से तर्कतया निगमित किए जा सकते हैं। वे पाँच अक्ष्यम निम्नलिखित हैं :-

अ-1 : 0 एक संख्या है।

अ-2 : किसी संख्या की अनुवर्ती संख्या भी एक संख्या है।

अ-3 : किसी दो संख्याओं का एक ही अनुवर्ती नहीं होगा।

अ-4 : 0 किसी भी संख्या का अनुवर्ती नहीं है।

अ-5 : यदि प कोई विधेय है जो 0 के बारे में सत्य है और यदि जब-जब प किसी भी संख्या न के बारे में सत्य होता है, तो वह उस संख्या न के अनुवर्ती के बारे में भी सत्य होता है , ऐसी स्थिति में प प्रत्येक संख्या के बारे में सत्य होता है।

इन पाँच अक्ष्यमों में केवल तीन ही अंकगणितीय प्रत्यय हैं - 0, 'संख्या' तथा 'अनुवर्ती'। यह तीनों प्रत्यय तार्किक शब्दावली में परिभाषित किए जा सकते हैं। इस सारे कार्य को संपन्न करने के लिए तार्किक शब्दावली के केवल चार ही शब्द - 'सभी', 'अथवा', 'नहीं', और 'का सदस्य है' - पर्याप्त है। दूसरे शब्दों में, गणित की समूची शब्दावली इन्हीं चार तार्किक शब्दों के आधार पर परिभाषित की जा सकती है। इस प्रकार कैमिनी के मतानुसार सारे का सारा गणित तर्कशास्त्र के एक विकसित रूप के सिवा और कुछ भी नहीं है। गणित के सारे सत्यवाक्यों को तर्कशास्त्र ही के प्रमेयों के रूप में प्रमाणित किया जा सकता है।

(4) तार्किक सत्यता का भाषात्मक सिद्धांत - हम ऊपर कह चुके हैं कि कैमिनी के मतानुसार तार्किक सत्यवाक्यों को अनुभव-निरपेक्ष एवं विश्लेषणात्मक कहा गया है। अर्थात् तार्किक वाक्यों की सत्यता-असत्यता का निर्णय उन वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ-बोध के ही आधार पर किया जाता है। इसी मत को तार्किक सत्यता का भाषात्मक सिद्धांत भी कहा गया है। इस सिद्धांतानुसार, क्योंकि तार्किक सत्यवाक्यों का विषय अनुभाविकी नहीं होता, इसलिए उनकी सत्यता-असत्यता, निर्णित करने के लिए अनुभाविकी तथ्यों का सहारा भी नहीं लेना पड़ता। 'घास हरी है अथवा हरी नहीं है', 'सभी मनुष्य मनुष्य हैं,' ''इत्यादि वे सब वाक्य तार्किक सत्य-वाक्यों के उदाहरण हैं। इस प्रकार के

सत्यवाक्य सृष्टि के तथ्यों का वर्णन नहीं करते। अत: अनुभाविकी साक्ष्य के आधार पर ये वाक्य झुठलाए भी नहीं जा सकते। वास्तव में, अनुभाविकी साक्ष्य इन वाक्यों की सत्यता-असत्यता के प्रश्न से बिल्कुल असंबद्ध है। तार्किक सत्यता के इस सिद्धांत को कभी-कभी यह कह करके भी प्रकट किया जाता है कि तार्किक (और गणितीय) सत्यवाक्य 'शब्दों की परिभाषा के आधार पर सत्य' होते हैं।

जब हम शब्दार्थ अथवा शब्दप्रयोग को तार्किक वाक्यों की सत्यता और असत्यता का निर्णायक मानदण्ड समझते हैं तो उस स्थिति में हमें स्पष्ट कर देना चाहिए कि 'शब्दप्रयोग' अथवा 'शब्दार्थ' से हमारा तात्पर्य क्या है। अर्थात् किस प्रकार के शब्द प्रयोग अथवा शब्दार्थ की बात हम कर रहे हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है : शब्द प्रयोग कम-से-कम दो प्रकार का है - एक वह जिसे हम परिभाषा के आधार पर निश्चित करते हैं; दूसरा वह जो रूढ़ि के आधार पर निश्चित होता है। जब प्रथम प्रकार के यानि परिभाषिक शब्द प्रयोग को तार्किक वाक्यों की सत्यता का आधार माना जाता है, तब हम उन्हें 'परिभाषा के आधार पर सत्य वाक्य' कहते हैं। और जब द्वितीय प्रकार के यानि रूढ़ शब्दप्रयोग को तार्किक वाक्यों की सत्यता का आधार माना जाता है, तब हम उन्हें 'परिभाषा के आधार पर सत्य वाक्य' कहते हैं। स्पष्ट है कि रूढ़ शब्द प्रयोग तथा पारिभाषिक शब्द प्रयोग में परस्पर संबंध है।

अब यदि शब्द प्रयोग को तार्किक (और गणितीय) वाक्यों की सत्यता-असत्यता का आधार मान लिया जाए और यह कहा जाए कि तार्किक सत्यवाक्य वे वाक्य हैं जिनकी सत्यता का आधार (रूढ़ अथवा पारिभाषिक) शब्द प्रयोग है तो उस स्थिति में हमें यह भी मानना पड़ेगा कि विभिन्न शब्द प्रयोगों की संभावना की दृष्टि से - जिन्हें हम आज तार्किक सत्यवाक्य कहते हैं कल वे ही असत्य घोषित कर दिए जाएँगे। अथवा यों कहा जाए कि आज जो तार्किक सत्यवाक्य हैं, कल वे ही वाक्य अलग तथा दूसरे शब्द-प्रयोग के आधार पर, तार्किक वाक्य नहीं कहलायेंगे।

कुछ भी हो कैमिनी को यह बात पूर्णतया स्वीकृत है। उनके मतानुसार विभिन्न शब्द प्रयोगों के आधार पर, विभिन्न शब्द संसारों में, विभिन्न वाक्यों-समूहों को तार्किक (और गणितीय) सत्यवाक्य कहा जाएगा।

परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि हम 'तार्किक' किसे कहते हैं ? अर्थात् तर्कशास्त्र का स्वरूप क्या है। इस प्रश्न को स्पष्ट करने के बाद ही हम इस बात का निर्णय कर पायेंगे कि यदि तार्किक सत्यता विषयक कैमिनी का सिद्धांत गलत है तो हम 'तार्किक सत्यता' की क्या परिभाषा करें तथा गणित के अवघटन का किस मानदण्ड से मूल्यांकन करें। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

(5) तर्कशास्त्र और गणितशास्त्र - हमने ऊपर कहा है कि गणित के मूलभूत तीन प्रत्ययों - '0', 'संख्या' तथा अनुवर्ती' - को तार्किक शब्दावली में परिभाषित किया जा सकता है। किन्तु ऐसा करने के लिए हमें 'समुच्चय' अथवा 'सेट' इस प्रत्यय की आवश्यकता पड़ती है। और यदि हम समस्त गणित को तर्कशास्त्र का रूपान्तर मात्र सिद्ध करना चाहें तो हमें यह कहना होगा कि 'समुच्चय' तर्कशास्त्र ही का प्रत्यय है। दूसरे शब्दों में 'समुच्चय सिद्धांत' पर 'सेट थ्योरी' तर्कशास्त्र का अभिन्न अंग है।

किन्तु क्या हम इस कथन को मान सकते हैं ? क्या समुच्चय सिद्धांत को तर्कशास्त्र का अभिन्न अंग माना जा सकता है ? लैम्बर्ट और ब्रिट्टन के अनुसार, इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही है। इसी आधार पर उनका कहना है कि गणित तर्कशास्त्र का रूपान्तरमात्र नहीं है, वह तर्कशास्त्र से स्वतंत्र शास्त्र है। और यदि ऐसा है तो गणित का अवघटन असम्भव है। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिए हैं -

यदि 'समुच्चय सिद्धांत' को तर्कशास्त्र का अभिन्न अंग मान लिया जाए तो व्हाईटहैड और रसेल के भाषात्मक मत, जिसे कैमिनी ने अपनाया है, के अनुसार कहना ही होगा कि 'समुच्चय सिद्धांत' अक्ष्यमों की सत्यता (रूढ़ अथवा पारिभाषिक) शब्दप्रयोग पर आधारित है। अर्थात्, इन अक्ष्यमों की (तार्किक तथा वर्णनात्मक) शब्दावली के समझने मात्र से ही इनकी सत्यता का निर्णय किया जा सकता है। इसके अलावा यह भी मानना होगा कि (2) समुच्चय सिद्धांत के सत्यवाक्यों की सत्यता सृष्टि के तथ्यों के आधार पर निर्णित नहीं होती तथा (3) ऐसे वाक्य विषयहीन होते हैं।

समीक्ष्य पुस्तक के लेखकों के मतानुसार उपर्युक्त तीनों कथनों की सत्यता संदिग्ध है। सर्वप्रथम समुच्चय सिद्धांत के दो अक्ष्यमों - (1) अनन्तता अक्ष्यम और (2) चयन अक्ष्यम - को ही लीजिए। व्हाईटहैड और रसेल का गणित - अवघटन का कार्य इन दो अक्ष्यमों के बिना चल नहीं सकता। परन्तु इन अक्ष्यमों की सत्यता का निर्णय शब्द प्रयोग के आधार पर होता है - ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनन्तता अक्ष्यम के अनुसार 'अनन्त इकाइयों की सत्ता है' - इस अक्ष्यम के वाक्य पदों को समझने मात्र से ही इसकी सत्यता सिद्ध नहीं हो जाती। इसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए तथ्यों की परीक्षा करना होता है। क्योंकि यह अक्ष्यम तभी सत्य माना जाएगा जब वास्तव में अनन्त इकाईयों की सत्ता होगी। अन्यथा, इसे सत्य नहीं माना जाएगा। इसी प्रकार चयन अक्ष्यम की सत्यता निर्णित करने के लिए शब्द प्रयोग को आधार नहीं माना जाएगा। ऐसी स्थिति में कैमिनी के भाषात्मक मतानुसार कम-से-कम इन दो अक्ष्यमों को तर्कशास्त्रीय सिद्धांत नहीं माना जा सकता। अत: सिद्ध हुआ कि समुच्चय सिद्धांत को भी तर्कशास्त्र का अंग नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त समुच्चय सिद्धांत में ऐसे अनेक वाक्य हैं जो प्राय: सत्तावाचक वाक्य माने गए हैं। उदाहरणत: इस वाक्य को लीजिए - शून्य समुच्चय की सत्ता है। स्पष्ट है कि यह वाक्य 'शून्य समुच्चय' के विषय में है और सत्य भी है। इस वाक्य की सत्यता का निर्णय शब्द प्रयोग के आधार पर नहीं हो सकता बल्कि तथ्यों के साक्ष्य के आधार पर ही संभव है। तथ्य ही ऐसे वाक्यों को सत्य बनाते हैं, शब्द-प्रयोग नहीं। शब्द प्रयोग से वाक्य के अर्थ का बोध होता है, उस वाक्य की सत्यता-असत्यता का नहीं।

हमने ऊपर जो कुछ कहा है उससे यह भी स्पष्ट होता है कि गणित तथा तर्कशास्त्र के अनेक सत्यवाक्यों को विश्लेषणात्मक नहीं कहा जा सकता। (दो उदाहरण हम दे चुके हैं, तीसरा यह है - अपने आप से तादात्म्य-संबंध रखने वाली वस्तु की सत्ता है) अत: कैमिनी की यह धारणा कि गणित तथा तर्कशास्त्र के सभी सत्य वाक्य विश्लेषणात्मक होते हैं - हमें मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, जहाँ तक गणित तथा तर्कशास्त्र के सत्यवाक्यों की सत्यता का निर्णय तथ्यों के आधार पर होता है, गणित के सत्य वाक्यों को विषय - शून्य नहीं कहा जा सकता। हम कहना चाहते हैं कि गणित के सत्यवाक्य निश्चय ही किसी-न-किसी विषय के संबंध में होते हैं। वास्तव में समुच्चय, संख्याएँ, इत्यादि ही उनका विषय होता है। यदि गणित के सत्यवाक्य किसी विषय विशेष के बारे में नहीं होते तो उस स्थिति में गणितशास्त्र को जिज्ञासा तथा ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र कभी नहीं माना जाता।

यह रहा जहाँ तक गणित तथा तर्कशास्त्र में पारस्परिक भिन्नता तथा उनके वाक्यों के तार्किक स्वरूप का संबंध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गणित का अवघटन असम्भव है। नीचे हम दो और तर्क प्रस्तुत करते हैं -

पहला, तर्कशास्त्र का एक भी वाक्य सत्तावाचक नहीं है, जबकि समुच्चय सिद्धांत के बहुत से वाक्य सत्तावाचक हैं। अत: समुच्चय सिद्धांत के माध्यम से गणित का प्रस्तावित अवघटन सम्भव नहीं है। (उल्लेखनीय बात यह है कि लॉजिसिज़्म के एक प्रर्वतक जी. फ्रेगे ने भी अपने अंतिम वर्षों में

स्वयमेव लॉजिसज्म की धारणा को छोड़ दिया था) । इस तर्क की महत्त्वपूर्ण बात है तर्कशास्त्र में सत्तावाचक वाक्याभाव की सम्भावना बताना । यह इस प्रकार है । लाईबनिज के मतानुसार तार्किक सत्य वाक्य वह है जिसकी सत्यता सभी सम्भव दृष्टियों में अबाध्य होती है। 'सम्भव दृष्टि' - इस प्रत्यय का विश्लेषण देना कठिन है। तथापि किसी भी सम्भव दृष्टि को वस्तुओं तथा उनके विशेष गुणों का एक समुच्चय माना जा सकता है। 'सम्भव दृष्टि' के इस विश्लेषण के अनुसार, सभी सम्भव दृष्टियों में 'शून्य समुच्चय' भी एक दृष्टि है। आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने विशेष रूप से लैम्बर्ट[10] ने तर्कशास्त्र की एक ऐसी तार्किक प्रणाली का विधान किया है जिसके सारे प्रमेय सभी सम्भव दृष्टियों में लागू होते हैं। प्रस्तावित प्रणाली में सत्तावाचक सत्य वाक्यों का नितान्त अभाव है। और यही तो हम चाहते हैं क्योंकि यदि इस प्रणाली में कोई भी सत्तावाचक वाक्य हुआ तो वह शून्य समुच्चयात्मक दृष्टि में असत्य घोषित हो जायेगा।

उपर्युक्त तर्क का तात्पर्य यह है कि ऐसी तार्किक प्रणाली अथवा तर्कशास्त्र पूर्ण रूप से सम्भव है जिसमें सत्तावाचक सत्यवाक्यों का विशेषत: अभाव हो। ऐसी स्थिति में समुच्चय सिद्धांत और गणित को इस प्रकार के तर्कशास्त्र पर अवघटित करना नितान्त असम्भव है। क्योंकि तर्कशास्त्र की प्रस्तावित प्रणाली में एक भी सत्तावाचक वाक्य नहीं होगा, जबकि गणित और समुच्चय सिद्धांत में अनेक सत्तावाचक वाक्य पाये जाते हैं।

गणित की अवघटन की असम्भवता के पक्ष में दूसरा तथा अंतिम तर्क गणितज्ञ और तर्कशास्त्री क. गोडेल की प्रसिद्ध खोज पर आधारित है। मोटे तौर पर यह तर्क इस प्रकार है। गोडेल के 'अपूर्णता प्रमेय' के अनुसार, किसी भी प्ररूपिक प्रणाली में गणित के सभी सत्यवाक्यों को सिद्ध प्रमाणित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में गणित के सारे सत्यवाक्यों का समुच्चय उस प्रणाली में सिद्ध हो सकने वाले प्रमेयों के समुच्चय के बराबर कभी नहीं होता । कहने का तात्पर्य यह है कि तर्कशास्त्र को प्ररूपिकीय बनाया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तर्कशास्त्र को प्ररूपिकीय बताया जा सकता है। अर्थात् तर्कशास्त्र को इस ढंग से संघटित किया जा सकता है कि इसके विधान में सिद्धि-सम्भव प्रमेयों को निर्दिष्ट अक्ष्यमों एवं वाक्य-प्रक्रिया संबंधी नियमों के आधार पर सान्तक्रमानुसार प्रमाणित किया जा सकता है। और गोडेल की एक अन्य खोज के अनुसार यह भी बताया जा सकता है कि तार्किक सत्यवाक्यों का समुच्चय तथा सिद्धि-सम्भव प्रमेयों का समुच्चय दोनों बराबर है। अब यदि गणित के सत्यवाक्यों का तार्किक सत्यवाक्यों पर अवघटन किया जाये तो उससे यह निकलेगा कि किसी प्ररूपिक प्रणाली में सिद्धि-सम्भव प्रमेयों का समुच्चय तथा गणितीय सत्यवाक्यों का समुच्चय दोनों बराबर हैं। परन्तु इसी बात को गोडेल का 'अपूर्णता प्रमेय' असम्भव बताया है। इससे सिद्ध हुआ कि जब तक समुच्चय सिद्धांत को तर्कशास्त्र का अभिन्न अंग नहीं माना जाता, गणित का अवघटन असम्भव है।

(6) शब्दप्रयोग- सत्यता का मानदण्ड - कैमिनी के इस मत पर भी हमें आपत्ति है कि शब्द प्रयोग ही गणित के सत्यवाक्यों की सत्यता का मानदण्ड है। स्पष्ट है कि यह मत सत्यता के भाषात्मक सिद्धांत का ही रूपान्तर है। इस संबंध में हम दो आपत्तियाँ प्रस्तुत करेंगे -

प्रथम आपत्ति - इस मत के अनुयायी इस बात में विवेक नहीं करते कि गणित के सत्यवाक्यों में क्या शब्द प्रयोग पर आधारित है और क्या नहीं। हम ऊपर बता चुके हैं कि किसी वाक्य विशेष को हम तार्किक वाक्य क्यों कहते हैं ? और उस वाक्य को किस प्रकार सत्य अथवा असत्य सिद्ध किया जाये। ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग हैं। इसी प्रकार गणित के सत्यवाक्यों में क्या शब्द-प्रयोग

पर आधारित हैं और क्या नहीं - इन दो भिन्न-भिन्न प्रश्नों में भी विवेक करना अत्यावश्यक है। गणित (अथवा तर्कशास्त्र) की किसी भी प्रणाली में कौन से सत्यवाक्यों के हम अक्ष्यम अथवा प्रमेय मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है - 'अपनी सुविधा एवं आवश्यकता अनुसार।' किन्तु वे अक्ष्यम अथवा प्रमेय वाक्य सत्य हैं कि नहीं - इस बात का निर्णय अपनी सुविधा अथवा आवश्यकता के आधार पर नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, किसी सत्य वाक्य के अक्ष्यमत्व अथवा प्रमेयत्व का निर्णय हम सुविधा एवं आवश्यकता के अनुसार अपने मन पसन्द शब्द प्रयोग के आधार पर कर सकते हैं। (वास्तव में प्राय: हम ऐसा करते भी हैं) गणित तथा तर्कशास्त्र में एक से अधिक प्ररूपिक प्रणालियों की सम्भावना इसी तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। परन्तु जैसा कि क्वाइन ने बताया है, अपनी सुविधा एवं आवश्यकता को हम इन अक्ष्यम तथा प्रमेय वाक्यों की सत्यता का मानदण्ड नहीं कह सकते।

द्वितीय आपत्ति यह है, तार्किक सत्यता के भाषात्मक सिद्धान्तानुसार 'शब्द प्रयोग अथवा शब्दार्थ के आधार पर ही गणित (एवं तर्कशास्त्र) के सत्यवाक्यों का निर्णय होता है परन्तु, इस कथन में एक अस्पष्टता है। तर्कशास्त्री किसी वाक्य की सत्यता का निर्णय करने के लिए किसी विधि का निर्माण करता है तथा उसे अपनाता है। (उदाहरणत: सत्य-सारिणी विधि एक ऐसी ही विधि है) गणितीय तर्कशास्त्र से जो परिचित हैं वे इस बात को भली-भाँति समझाते हैं कि इस प्रकार की विधि का निर्माण अपरिहार्यत: शब्दप्रयोग के आधार पर ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गणित (एवं तर्कशास्त्र) के किसी वाक्य की सत्यता-असत्यता का निर्णय करने की विधि शब्द प्रयोग पर आधारित है। किन्तु इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि इन वाक्यों की सत्यता का मानदण्ड भी शब्द प्रयोग ही है। कैमिनी और उसके मत के अनुयायी इन दो विभिन्न कथनों में विवेक नहीं करते। फलत:, भ्रांतिवश वे यही समझने लगते हैं कि किसी वाक्य की सत्यता निर्णित करने की जो विधि है वही उस वाक्य की सत्यता का मानदण्ड भी है। किन्तु वास्तविकता यह है कि शब्द प्रयोग किसी वाक्य की सत्यता को पहचानने की विधि का आधार जरूर है, परन्तु वह उस वाक्य की सत्यता का स्रोत नहीं है।

(7) गणित और विज्ञान - अभी तक हमने गणित तथा तर्कशास्त्र के परस्पर संबंध पर प्रकाश डाला है। अब हम गणित और विज्ञान के परस्पर संबंध पर विचार करेंगे। प्रचलित रूढ़ दृष्टिकोण के अनुसार गणित और विज्ञान - ज्ञान के इन दो क्षेत्रों को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग माना जाता है। कैमिनी का मत भी यही है। इस मत के पक्ष में अनेक तर्क दिए जाते हैं :-

(1) पहला तर्क इस बात पर आधारित है कि गणित के वाक्यों का कोई विषय ही नहीं होता, जबकि विज्ञान के वाक्यों का विषय होता है। गणित के वाक्य विषय-शून्य होते हैं जबकि विज्ञान के वाक्यों का विषय आनुभाविक तथ्य होते हैं।

इस तर्क के बारे में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं। वह यह है कि गणितीय वाक्यों का भी विषय होता है:- वे संख्याओं तथा समुच्चयों इत्यादि के बारे में होते हैं।

इस पर कोई कह सकता है कि गणित का विषय देशकालाधीन वस्तुओं से संबंधित नहीं होता जबकि विज्ञान का विषय अपरिहार्यत: देशकालाधीन वस्तुओं से संबद्ध होता है। अत: विषय के आधार पर गणित और विज्ञान एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु यहाँ एक कठिनाई है। गणित और विज्ञान की पारस्परिक भिन्नता सिद्ध करने के लिए इतना कहना ही पर्याप्त नहीं कि विज्ञान का विषय देशकालाधीन वस्तुओं से संबद्ध है और गणित का नहीं। इस संबंध में हम दो तर्क प्रस्तुत करते हैं। प्रथम यह कि एक ओर गणित की विषयभूत वस्तुओं को भी एक तरह से प्रेक्ष्य कहा जा सकता है और ऐसा किया भी गया है। दूसरी ओर, विज्ञान की विषयभूत अनेक वस्तुओं के उदाहरणत: अति सूक्ष्म परमाणुओं के प्रेक्ष्य होने में भी सन्देह किया गया है।

दूसरा तर्क यह है, प्रेक्ष्य —यह शब्द अपने-आप से स्पष्ट नहीं है। अत: 'प्रेक्ष्यता' के आधार पर गणित और विज्ञान में पारस्परिक भिन्नता सिद्ध करना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

(2) गणित और विज्ञान की एक-दूसरे से भिन्नता के पक्ष में जो दूसरा तर्क दिया गया है वह इस प्रकार है- गणित और विज्ञान के वाक्यों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए अलग-अलग विधियाँ अपनाई जाती हैं। गणित के वाक्यों की सत्यता निर्णित करने के लिए (उदाहरणत:) उपपत्ति अथवा तर्क प्रस्तुत किया जाता है, जबकि विज्ञान के वाक्यों की सत्यता निर्णित करने के लिए आनुभाविक साक्ष्य का सहारा लेना पड़ता है। अत: गणित और विज्ञान के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं।

हमारे विचार में उपर्युक्त तर्क मान्य नहीं है। क्योंकि भौतिकी के अनेक वाक्य जो संकल्पना की दृष्टि से उच्च-स्तर के हैं, उनकी सत्यता का निर्णय सीधे ही प्रेक्ष्य साक्ष्य के आधार पर सम्भव नहीं होता। उनकी सत्यता का निर्णय ठीक उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार से गणित के अनेक वाक्यों की सत्यता का। अर्थात् नि:शेषत: वैश्लेषिक विधियों द्वारा। इससे स्पष्ट होता है कि विधि के आधार पर गणित और विज्ञान में व्यतिरेक नहीं किया जा सकता।

(3) आलोचनाधीन मत के पक्ष में तीसरा तर्क इस प्रकार है। वैज्ञानिक वाक्यों और आनुभाविक तथ्यों में परस्पर गहरा संबंध है। परन्तु, गणित के वाक्यों के प्रकरण में इस संबंध का नितान्त अभाव है। अत: गणित और विज्ञान एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं।

इस दावे को कम-से-कम दो ढंग से समझा जा सकता है। पहला यह कि विज्ञान के द्वारा हमारा ज्ञान बढ़ता है, सृष्टि के तथ्यों के विषय में हमारी जानकारी बढ़ती है। परन्तु गणित के द्वारा ऐसा नहीं होता। इस दावे का आधार गणित की तथाकथित विषय-शून्यता ही है जिसे ऊपर हमने भ्रांतिमूलक बताया है : हम यह भी कहना चाहेंगे कि यह सच है कि गणित विज्ञान की भाषा है। इस भाषा के माध्यम से अनेकानेक तथ्यों एवं उनके पारस्परिक संबंधों को स्पष्टतया अभिव्यक्त किया जाता है। यदि मान भी लिया जाये कि अपने आप में अकेला गणित हमारी ज्ञानाभिवृद्धि करने में असमर्थ है किन्तु यह तो निश्चय ही कहना होगा कि गणित की सहायता के बिना विज्ञान हमारी ज्ञानाभिवृद्धि करने में अपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यदि विज्ञान के बिना गणित अन्धा है तो गणित के बिना विज्ञान भी लंगड़ा है। वास्तव में, गणित और विज्ञान में पारस्परिक पूरकता का संबंध है। ये एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग नहीं हैं।

उपर्युक्त दावे को दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। वह इस प्रकार है - गणित के सत्य-वाक्य प्रेक्ष्य साक्ष्य से बिलकुल असम्बद्ध हैं। अत: तथ्यों के आधार पर उन्हें कदापि असत्य घोषित नहीं किया जा सकता। किन्तु इसके विपरीत वैज्ञानिक सत्यवाक्यों को कभी भी विरोधी साक्ष्य उपलब्ध होने के आधार पर झुठलाया जा सकता है। अत: गणित और विज्ञान में पारस्परिक विषमता है।

इस दावे का आधार वाक्यों के विषय में विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक व्यतिरेक ही है। अर्थात् गणित के वाक्य विश्लेषणात्मक हैं, उनकी सत्यता तथ्य निरपेक्ष है। जबकि वैज्ञानिक वाक्य संश्लेषणात्मक हैं। उनकी सत्यता सापेक्ष है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इस व्यतिरेक की अपनी ही कठिनाइयाँ हैं। इसके अतिरिक्त कोई यह दावा भी तो कर सकता है कि गणितीय वाक्यों की सत्यता तथ्यों के सापेक्ष अबाध्य नहीं है। इस कथन की सत्यता दिखाने के लिए निम्नलिखित दो उदाहरण प्रस्तुत हैं - प्रथम, भौतिकी के इस सत्यवाक्य को लीजिये -

'गतिमात्रा तथा वेग अनुलोमानुपाती है'। इस वाक्य को सत्यता के तथ्यों के सापेक्ष अबाध्य बताया जाता है। अत: इसे विश्लेषणात्मक वाक्य कहना ही चाहिये। वास्तव में, यह वाक्य 'गतिमात्रा' को परिभाषित करता है -

गतिमात्रा = संहति x वेग (परिभाषा)

अब यदि इस वाक्य को हम क्लैस्सिकल (रूढ़) भौतिकी का अंग माने तो माईकलसनमारले प्रयोग से उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर इस वाक्य की सत्यता का बोध होता है। इस विरोध को दूर करने के लिए हमारे सामने दो रास्ते हैं -

पहला यह कि हम रूढ़ भौतिकी में आवश्यक परिवर्तन करें। ऐसा करना पूर्णरूपेण सम्भव है। दूसरा रास्ता यह है कि हम अपनी आवश्यकताओं के अनुसार 'गतिमात्रा' की परिभाषा में यथेष्ठ परिवर्तन करें और इस प्रकार माईकलसन-मारले प्रयोग से उपलब्ध साक्ष्य को अपने सिद्धांत में समाहित करलें। यह रास्ता आइनस्टाईन ने अपनाया है। इस दृष्टांत से हमें केवल इतना ही बताना अभिप्रेत है कि विश्लेषणात्मक वाक्यों की सत्यता का बाध असम्भव है - यह धारणा भ्रांतिमूलक है।

हमारा द्वितीय उदाहरण तर्कशास्त्र से लिया गया है - वह है मध्याभाव नियम -'प सत्य है अथवा सत्य नहीं है।' रूढ़ी से ही इस वाक्य की सत्यता को अबाध्य माना गया है। अत: इसे विश्लेषणात्मक वाक्य कहना ही चाहिए। परन्तु क्वांटम-यांत्रिकी के विकास के फलस्वरूप इस वाक्य की सत्यता में भी सन्देह होने लगा है। विशेषत: हाईजनबर्ग के अनिश्चितता के नियम के आधार पर जिसके अनुसार किसी कण की गतिमात्रा तथा स्थिति दोनों को एकदम निश्चित करना असंभव है। अत: अनेक दर्शनशास्त्रियों ने विशेषत: राइखनबाख ने, मध्याभाव नियम को छोड़ देने का सुझाव दिया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि तथ्यों के साक्ष्य के आधार पर मध्याभाव नियम जैसे विश्लेषणात्मक वाक्य की सत्यता को अबाध्य मानना कठिन है। अत: गणित और विज्ञान को विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक व्यतिरेक के आधार पर भिन्न-भिन्न नहीं माना जा सकता। जैसेकि ऊपर दिए गए दृष्टांतों से स्पष्ट है, यदि किसी सिद्धांत विशेष में किसी वाक्य विशेष को विश्लेषणात्मक वाक्य कहा गया है तो इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि उस वाक्य को किसी भी सिद्धांत में अथवा किसी भी काल में विश्लेषणात्मक वाक्य ही कहा जाना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक व्यतिरेक प्रसंग-सापेक्ष है अर्थात् यदि कोई वाक्य किसी एक प्रसंग में विश्लेषणात्मक माना गया है तो वही वाक्य किसी दूसरे प्रसंग में संश्लेषणात्मक माना जा सकता है। यही कारण है कि न्यूटन के दूसरे नियम - बल = संहति x त्वरण को कभी परिभाषिक वाक्य कहा गया है और कभी आनुभाविक वाक्य कहा गया है। अत: प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों का दावा है कि केवल प्ररूप अथवा विषय के आधार पर किसी भी वाक्य की सत्यता का निर्धारण नहीं किया जा सकता अपितु किसी सिद्धांत-विशेष में उस वाक्य का क्या कार्य-व्यापार है - इसी आधार पर ही उस सिद्धांत-विशेष में उस वाक्य की सत्यता अथवा विश्लेषणात्मकता-संश्लेषणात्मकता का निर्धारण किया जा सकता है। इस प्रकार किसी सिद्धांत-विशेष में हम उन वाक्यों को विश्लेषणात्मक वाक्य कहेंगे जिनकी सत्यता उस सिद्धांत-विशेष में अबाध्य मानी गयी है। यह सच है कि गणित के वाक्यों का प्रेक्ष्य-तथ्यों से उतना गहरा संबंध नहीं है जितना गहरा संबंध वैज्ञानिक वाक्यों का प्रेक्ष्य-तथ्यों से है, और यह भी सच है कि उनकी सत्यता के बाध होने की स्थितियाँ कम पैदा होती हैं। किंतु दोनों प्रकार के वाक्यों में केवल स्तरमात्र का अन्तर है। अत: गणित और विज्ञान में भिन्नता की एक साफ-सुथरी तथा प्रसंग-निरपेक्ष सीमारेखा खींचना शब्दजाल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

(3)

तीसरा अध्याय - वैज्ञानिक व्याख्या - यह अध्याय सात संदर्भों में बंटा हुआ है - (1) परिचय, (2) ह्यूमियन विश्लेषण, (3) आगमिक सांख्यिकीय व्याख्या,(4) प्रतिबन्धक वाक्य तथा निगम, (5) व्याख्या तथा प्रागुक्ति, (6) साध्यपरक व्याख्या, और (7) व्याख्या तथा अवघटन। अपने इस लेख में इन सात संदर्भों का एक-एक करके विवरण दूंगा।

(1) **परिचय** - विज्ञान का उद्देश्य घटनाओं की व्यवस्थित, बुद्धिगम्य और वैज्ञानिक व्याख्या देना है। संयोग अथवा ईश्वरीय शक्ति के हस्तक्षेप के फलस्वरूप ही सभी घटनाएँ घटती हैं - घटनाओं की इस प्रकार की व्याख्या को वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कहा जा सकता। क्यों ? इस शंका का समाधान वैज्ञानिक व्याख्या के स्वरूप को समझ लेने के साथ-साथ हो जायेगा। सम्प्रति हमें इतना ही कहना है कि विज्ञान में संयोग अथवा ईश्वरीय शक्ति पर आधारित व्याख्याओं के लिए कोई स्थान नहीं। विज्ञानशास्त्री को इस प्रकार की व्याख्याएँ मान्य नहीं हैं। उसकी रुचि केवल प्राकृतिक व्याख्याओं में है, अति-प्राकृतिक व्याख्याओं में नहीं। प्रस्तुत अध्याय में लैम्बर्ट और बिट्टन ने 'वैज्ञानिक व्याख्या' - इस प्रत्यय का दार्शनिक विश्लेषण दिया है।

'व्याख्या' शब्द अनेकार्थक है। इसके सारे अर्थों का विवरण हम नहीं देंगे। इसी प्रकार, 'क्यों' शब्द से प्रारम्भ होने वाले प्रश्न अनेकविध होते हैं। इन सब प्रकार के प्रश्नों के तार्किक विश्लेषण में भी हमारी रुचि नहीं है। इस अध्याय में हम केवल उन्हीं व्याख्याओं की चर्चा करेंगे जिनके द्वारा किसी कार्य अथवा घटना को उसके कारणों से सम्बद्ध किया जाता है। मोटे तौर पर, व्याख्याओं को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है - (1) कारणवाची व्याख्यायें - चूहा चक्रव्यूह में रखे हुए खाद्यान्न के बर्तन की तरफ क्यों दौड़ा ? क्योंकि वह भूखा था। (2) अभिप्रेरणापरक अथवा साध्यपरक व्याख्याएँ - उदाहरणत: चूहा चक्रव्यूह में रखे हुए खाद्यान्न के बर्तन की तरफ क्यों दौड़ा ? क्योंकि उसका उद्देश्य खाद्यान्न प्राप्त करना था। (3) अवघटनात्मक व्याख्याएँ - उदाहरणत: जल किन पदार्थों से बना है ? HO_2 से। कुछेक विज्ञानदर्शनशास्त्रियों के इन तीन प्रकार की व्याख्याओं को एक ही प्रकार में समाहित करने का प्रयत्न किया है, दूसरों ने इसको सर्वथा भिन्न- भिन्न प्रकार का बताया है। हमारी पुस्तक के लेखकों ने इन दोनों मतों पर सन्तुलित रूप से विचार किया है तथा द्वितीय मत के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाई है।

उपर्युक्त तीन प्रकार की व्याख्याएँ वास्तव में 'व्याख्या' प्रत्यय के तीन विश्लेषण ही हैं। 'व्याख्या' के भी विश्लेषण के औचित्य का निर्णय करने के लिए निम्नलिखित मानदण्ड निर्धारित किए गए हैं। इन्हें हम निर्दिष्ट विश्लेषण के औचित्य की शर्तें भी कह सकते हैं।

(1) पहली शर्त यह है कि हमारा विश्लेषण विज्ञान में उपलब्ध व्याख्याओं के सर्वसम्मत प्रतिमानों के अनुरूप हो।

(2) दूसरी शर्त यह है कि विश्लेषण किसी भी प्रकार का क्यों न हो, हमारी वैज्ञानिक व्याख्याएं आनुभाविक विषयवस्तु पर ही आधारित हों। अर्थात् उनमें कोई भी ऐसा वाक्य न हो जो आनुभाविक पहुँच से परे हो। उदाहरणत: ईश्वरीय शक्ति अथवा किसी अन्य प्रकार की अतिप्राकृतिक शक्ति पर आधारित व्याख्याएँ हमें मान्य नहीं हैं।

(3) तीसरी शर्त यह है कि हमारी व्याख्या से इस बात का पूरा-पूरा पता चले कि व्याख्याधीन घटना अपने पूर्ववर्ती प्रतिबन्धकों से अनिवार्यत: सम्बद्ध थी। अर्थात् घटना के पूर्ववर्ती प्रतिबन्धकों की जानकारी के आधार पर उस घटना की प्रागुक्ति करना सम्भव हो।

(2) **'ह्यूमियन' विश्लेषण** - हमारी पुस्तक के लेखकों के मतानुसार डेविड ह्यू म ने 'कारण' प्रत्यय संबंधी जो विश्लेषण दिया था वह वैज्ञानिक व्याख्या की उपर्युक्त तीनों शर्तों को पूरा करता है। अत: उन्होंने ह्यूमियन अर्थात् ह्यूम के दिए हुए विवरण को कारणवाची व्याख्याओं के विश्लेषण का मॉडेल माना है।

विज्ञानदर्शन में कारणवाची व्याख्याओं का रूढ़ी-प्रचलित विवरण हेम्पेल तथा ओपनहाईम ने दिया है। इनके मतानुसार जब विज्ञानदर्शनशास्त्री वैज्ञानिक व्याख्या का विश्लेषण देता है तब वह घटनाओं के पारस्परिक संबंध की बात नहीं करता; उसकी अभिरुचि उन घटनाओं का वर्णन करने वाले

वाक्यों के पारस्परिक संबंधों के अध्ययन में होती है। कारण यह है कि घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की जांच करना विज्ञान-शास्त्री का क्षेत्र है; दर्शन-शास्त्री का क्षेत्र उन घटनाओं को वर्णित करने वाले वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का तार्किक विश्लेषण करना है। प्रत्ययों, धारणाओं तथा वाक्यों का ही तार्किक विश्लेषण सम्भव है; घटनाओं का तार्किक विश्लेषण सम्भव नहीं, उनका तो वैज्ञानिक-विश्लेषण ही हो सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हेम्पेल तथा ओपनहाइम के मतानुसार किसी घटना की कारणवाची व्याख्या करने का अर्थ दूसरे शब्दों में, उस घटना का वर्णन करने वाले व्याख्याधीन वाक्य को दूसरे दो प्रकार के व्याख्याकारी सत्य तथा आनुभाविक वाक्यों से निगमनित करना है। इन दो प्रकार के वाक्यों में एक तो वे वाक्य होने चाहिए जो उस घटना से सम्बद्ध पूर्ववृत्त प्रतिबन्धकों का वर्णन करते हों; और दूसरे वे सम्बद्ध वाक्य जिन्हें हम सामान्य नियम अथवा व्याप्ति वाक्य कहते हैं। इन सामान्य नियमों का कार्यव्यापार व्याख्याधीन वाक्य को घटना के पूर्ववृत्त प्रतिबन्धकों का वर्णन करने वाले वाक्यों से संबंधित करना है। इस प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या का निम्न निर्दिष्ट रूपाकार होगा :-

व्याख्याकारी वाक्य	(1) $L_1.L_2.....L_r$	(वे एक या एक से अधिक सम्बद्ध सामान्य नियम होंगे)
	(2) $C_1.C_2.....C_1$	(ये व्याख्याधीन घटना के पूर्ववृत प्रतिबन्धकों का वर्णन करने वाले वाक्य होंगे।)
व्याख्याधीन वाक्य	(3) E	(यह व्याख्याधीन घटना का वर्णन करने वाला वाक्य होगा।)

इस प्रकार व्याख्याकारी वाक्य (1) और (2) से व्याख्याधीन वाक्य (3) को निगमित करना ही (3) की कारणवाची व्याख्या देना है। क्योंकि इस प्रकार की व्याख्याओं में व्याख्याधीन घटना को किसी सम्बद्ध सामान्य नियम के अन्तर्गत समावेष्ठित (अथवा आच्छादित) किया जाता है, अत: इस प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्याओं के मॉडेल को हम व्याख्या का आच्छादी नियम 'मॉडेल' कहेगें। संक्षेप में, हैम्पेल और ओपनहाइम के मतानुसार, सामान्य नियमों के अन्तर्गत निगमनीय समाविष्टी का दूसरा नाम वैज्ञानिक व्याख्या ही है।

कभी-कभी किसी घटना की व्याख्या करते हुए उससे सम्बद्ध सामान्य नियमों को स्पष्ट नहीं किया जाता,उन्हें अस्पष्ट ही रहने दिया जाता है। दैनिक जीवन एवं विज्ञान में प्राय: ऐसा होता है। ऐसे प्रकरणों में वैज्ञानिक व्याख्या को 'व्याख्या स्केच' ही कहा जाता है । 'गाँधी मर्त्य है, क्योंकि वह मनुष्य है।' यह व्याख्या स्केच का उदाहरण है। सम्बद्ध सामान्य नियमों का स्पष्ट निर्देश करके किसी भी व्याख्या-स्केच को पूर्णाङ्ग व्याख्या में अभिव्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण: गाँधी मर्त्य है, क्योंकि वह मनुष्य है और सभी मनुष्य मर्त्य हैं।

व्याख्या का 'आच्छादी नियम मॉडेल' हमारी उपर्युक्त तीनों शर्तों को पूरा करता है। वैज्ञानिकों तथा दर्शनशास्त्रियों को इस प्रकार की व्याख्याएँ सर्वथा मान्य हैं। तथापि उन्हें सार्वभौमिक नहीं माना जा सकता। थोड़ी ही देर में हम इस पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करेंगे। किन्तु उससे पहले कुछेक और बातें भी समझ लेनी चाहिए।

(3) आगमिक-सांख्यिकीय व्याख्याएँ - ऊपर दिये गये व्याख्या के विश्लेषण की दो विशेषताएँ हैं - (1) इस प्रकार की व्याख्या में व्याख्याधीन वाक्य व्याख्याकारी वाक्यों का तार्किक फलन होता है। और (2) व्याख्याकारी वाक्यों में कम-से-कम एक सामान्य नियम का होना अनिवार्य है।

वैज्ञानिक व्याख्या के उपर्युक्त विश्लेषण में हमने केवल उन्हीं व्याख्याओं पर विचार किया है जो सार्वभौमिक नियमों पर आधारित है। इन सामान्य नियमों का तार्किक प्ररूप इस प्रकार होता है - 'किसी जाति की सभी वस्तुओं में यदि कोई विशेष गुण F पाया जाता है तो उनमें कोई दूसरा विशेष गुण G भी पाया जायेगा। 'किन्तु विज्ञान में उपलब्ध सभी सामान्य नियमों का तार्किक प्ररूप इस प्रकार का नहीं होता।' विशेषत: क्वाण्टम भौतिकी में उपलब्ध सामान्य नियम सांख्यिकीय प्रकार के होते हैं। उनका प्ररूप कुछ इस ढंग का होता है - 'यदि यह-यह शर्तें पूरी हो जाये, तो इतनी-इतनी सांख्यिकीय सम्भाव्यता के साथ कहा जा सकता है कि इस-इस प्रकार की घटना घटेगी'। अथवा, 'किसी समष्टि के इतने प्रतिशत सदस्यों में यह-यह विशेष गुण पाये जायेंगे।' जब कभी वैज्ञानिक व्याख्या में इस प्रकार के सांख्यिकीय नियमों का प्रयोग होता है तब उस दशा में व्याख्याधीन वाक्य व्याख्याकारी वाक्यों का तार्किक फलन नहीं होता। उदाहरण :

(1) किसी निर्दिष्ट आयु के 90% व्यक्ति हृदय रोग से पीड़ित हैं।

(2) राम उस निर्दिष्ट आयु का है।

अत: (3) राम भी हृदय रोग से पीड़ित है।

स्पष्टहै कि इस व्याख्यात्मक तर्क के आधार वाक्य (1) और (2) सत्य है, तथा अनुमान वाक्य (3) असत्य है। अत: (3), (1) और (2) का तार्किक फलन नहीं है। अर्थात् व्याख्याधीन वाक्य व्याख्याकारी वाक्यों का तार्किक फलन नहीं है।

यहाँ दो और प्रत्ययों - 'सम्भावना' तथा 'सांख्यिकीय व्याप्ति' को समझ लेना अत्यावश्यक है। हम उस वाक्य को सांख्यिकीय व्याप्ति-वाक्य कहते हैं जिसके द्वारा हमें यह पता चले कि यदि किसी समष्टि के इतने प्रतिशत सदस्यों में कोई विशेषण F पाया जाता है तो उनमें कोई दूसरा विशेष गुण G भी पाया जायेगा। दूसरे शब्दों में, सांख्यिकीय व्याप्ति द्वारा हमें इस बात का पता चलता है कि किसी निर्दिष्ट प्रकार की घटनाओं के, किस अनुपाती बारंबारता से, किस प्रकार के परिणाम होंगे। याद रहे कि 'अनुपाती बारंबारता' की धारणा के द्वारा हम किसी दो विशेष घटनाओं के संबंध का नहीं, बल्कि किसी दो प्रकार की घटनाओं के पारस्परिक संबंध का निर्देश करते हैं। इसके विपरीत 'सम्भावना' प्रत्यय वाक्यों के परस्पर संबंध का सूचक है। इस प्रत्यय के प्रयोग से यह लक्षित किया जाता है कि किसी वाक्य से किसी दूसरे वाक्य की किस मात्रा में पुष्टि होती है। सम्भावना को, कभी-कभी 'आगमिक सम्भाव्यता' के नाम से बोधित करके इसकी 'सांख्यिकीय सम्भाव्यता' से विभिन्नता प्रदर्शित की जाती है। जिस तर्क का अनुमान वाक्य अपने आधार वाक्यों का तार्किक फलन नहीं होता परन्तु फिर भी उनसे न्यूनाधिक मात्रा में पुष्ट होता है - ऐसे तर्क को आगमिक तर्क कहते हैं।

आगमिक तर्क के स्वरूप में दो-एक और बातें भी ध्यान में रख लेना चाहिए। पहली बात यह है कि किसी तर्क में सांख्यिकीय व्याप्ति के प्रयोगमात्र के आधार पर ही उस तर्क को आगमिक तर्क नहीं कहा जाएगा, और न ही उसमें सांख्यिकीय व्याप्ति के अभाव मात्र से ही उसे निगमिक तर्क कहा जाएगा। हम केवल उसी तर्क को आगमिक तर्क कहेंगे जिस तर्क का अनुमान-वाक्य किसी एक विशेष घटना का वर्णन करता है और जिसके आधारभूत वाक्यों में कम-से-कम एक सांख्यिकीय व्याप्ति वाक्य है। इसके विपरीत, जिस तर्क के द्वारा हम सांख्यिकीय व्याप्ति के आधार पर किसी एक घटना विशेष की व्याख्या नहीं करते, अपितु किसी घटना समुच्चय की व्याख्या करते हैं, उस प्रकार के तर्क को हम

निगमिक तर्क ही कहेंगे। उदाहरणत: यदि किसी देश के 1, 00, 000, 000 व्यक्ति सिगरेट पीते हैं और उनमें से छह प्रतिशत व्यक्तियों को फेफड़ों का कैन्सर है तो इस आधार पर यह अनुमान निगमनित होता है कि उस देश के सिगरेट पीने वाले 6, 000, 000 व्यक्तियों को फेफड़ों का कैन्सर होने की संभावना है।

दूसरी बात जो मैं ध्यान में लाना चाहता हूँ, यह है : हमें किसी भी सामान्य नियम के तार्किक प्रारूप के प्रश्न को, अर्थात् क्या वह नियम सार्वभौमिक है अथवा सांख्यिकीय है ? इस प्रश्न को किसी सामान्य नियम के लिए पुष्टिकारी साक्ष्य की क्या मात्रा है ? इस प्रश्न से पृथक् रखना चाहिए। बात यह है कि किसी भी सामान्य नियम की सम्भाव्यता पुष्टिकारी साक्ष्य के सापेक्ष ही होती है। अर्थात् साक्ष्य ही के आधार पर उस नियम को कम सम्भाव्य अथवा अधिक सम्भाव्य* माना जाता है। किन्तु यह तथ्य एक दूसरे प्रश्न से बिल्कुल स्वतंत्र है। वह यह है कि कोई सामान्य नियम किस प्रकार का दावा करता है ? अर्थात् क्या वह किसी जाति विशेष के सभी सदस्यों के किसी एक विशेष गुण का निर्देश करता जैसे 'सभी कौओ काले होते हैं।' अथवा उसके द्वारा यह कहा जा रहा है कि किसी जाति विशेष के इतने प्रतिशत सदस्यों में अमुक विशेष गुण पाया जाता है, जैसे 90% श्वेत रंग के होते हैं।' किसी सामान्य नियम के पुष्टिकारी साक्ष्य के मात्रा-संबंधी प्रश्न को उस नियम के दावे के प्रश्न से पृथक् करने का हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि किसी भी व्याख्याकारी आगमिक तथा निगमनीय तर्क की पहचान सामान्य नियमों के पुष्टिकारी साक्ष्य के आधार पर नहीं अपितु उनके दावे के आधार पर ही की जाती है।

हेम्पेल और ओपनहाइम ने अपने उपरिनिर्दिष्ट लेख में इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी वैज्ञानिक व्याख्या में व्याख्याधीन वाक्य व्याख्याकारी वाक्यों से तर्कत: निगमनित होता है। किंतु यदि हम सांख्यिकीय व्याप्ति के आधार पर कोई व्याख्या करते हैं और इस बात पर आग्रह करते हैं कि वैज्ञानिक व्याख्या का उद्देश्य घटना-समुच्चय की व्याख्या करना नहीं, अपितु किसी घटना-विशेष की व्याख्या करना है, तो उस स्थिति में व्याख्याकारी तर्क निगमनीय स्वरूप का नहीं रहता। अब प्रश्न उठता है कि क्या हम केवल निगमनीय व्याख्याओं को ही सच्ची व्याख्याएँ मानें अथवा आगमिक व्याख्याओं को भी सच्ची व्याख्याएँ माना जा सकता है।

यह प्रश्न काफी विवादास्पद है। कुछ दर्शनशास्त्रियों का कहना है कि आगमिक व्याख्याएँ भी सच्ची वैज्ञानिक व्याख्याएँ हैं और कुछ दूसरे दार्शनिकों के मतानुसार ऐसा नहीं है। विज्ञान-दर्शन के अद्यतन इतिहास में दोनों पक्षों के समर्थन में अच्छे तर्क दिए गए हैं। उन सभी का ब्यौरा हम इस लेख में नहीं देंगे। सम्प्रति हमारा उद्देश्य 'नियम' प्रत्यय का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

(4) नियम और प्रतिबन्धक वाक्य - 'नियम' शब्द के अनेक अर्थ हैं। शब्दकोष इस बात का साक्षी है। किन्तु, हम उन वाक्यों को नियम कहेंगे जिनका प्रयोग नियमितता प्रकट करने के लिए होता है। अत: हम 'नियम' प्रत्यय के विश्लेषणार्थ केवल नियम-वाक्यों के ही तार्किक गुणों पर ध्यान देंगे। इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारी रुचि सब प्रकार के सामान्य वाक्यों का विश्लेषण प्रस्तुत करने में नहीं है। हम केवल उन्हीं वाक्यों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे जिन्हें असांख्यिकीय सामान्य प्रतिबन्धक वाक्य कहा जाता है। ऐसे वाक्यों का तार्किक प्ररूप सार्वभौमिक होता है - अर्थात् 'किसी जाति-विशेष की सभी वस्तुओं में यदि कोई विशेष-गुण F पाया जाता है तो उनमें कोई दूसरा विशेष गुण G भी पाया जायगा' - इस प्रकार का प्ररूप होता है। यदि इसी बात को तर्कशास्त्र की प्रतीकात्मक भाषा में रखा जाय तो सार्वभौमिक वाक्य का तार्किक प्ररूप होगा - $(x)\ (Fx \rightarrow Gx)$।

---

* *जब किसी आनुभाविक वाक्य की पुष्टि के लिए निर्णायक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता तो उस वाक्य को सम्भाव्य कहा जाता है। इस अर्थानुसार सारे सामान्य नियम अपरिहार्यत: सम्भाव्य तो होते ही हैं। यह बात केवल अनिर्बद्ध सामान्य नियमों पर ही लागू होती है, निर्बद्ध सामान्य नियमों पर नहीं।*

किन्तु, नियमों के तार्किक प्ररूप की पहचान कर लेना ही उनके स्वरूप को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनके तार्किक प्ररूप तथा नियमों के तार्किक प्ररूप में कोई भेद नहीं है। तथापि हम उन्हें नियम-वाक्य नहीं मान सकते। यह सच है कि सभी नियम तर्क की दृष्टि से सामान्य वाक्य ही होते हैं ; परन्तु सभी सामान्य वाक्यों को तो नियम नहीं माना जा सकता। अत: नियम और नियमेतर वाक्यों में व्यतिरेक करने के लिए हमें निश्चित मानदण्डों की आवश्यकता है। लैम्बर्ट और ब्रिट्टन ने निम्न निर्दिष्ट तीन मानदण्डों की विवेचना की है :-

पहला- नियम वे वाक्य हैं जो सामान्य तो होते ही हैं, किन्तु आनुभविक भी होते हैं। इस मानदण्ड के अनुसार अर्थहीन वाक्य (यथा - सभी गल्लव्बीकर विश्वसनीय हैं) विश्लेषणात्मक वाक्य (यथा - 'सभी कुंवारे अविवाहित मर्द होते हैं') अथवा इस प्रकार के दूसरे अनेक वाक्यों को नियम नहीं माना जायगा। इसमें संदेह नहीं कि यह मानदण्ड काफी आकर्षक है, और इसमें कुछ सच्चाई है, ऐसा भी जान पड़ता है। तथापि तार्किक दृष्टि से यह मानदण्ड स्पष्ट नहीं है, क्योंकि इसमें 'आनुभविक'- प्रत्यय को स्पष्ट नहीं किया गया है।

दूसरा - नियम वे वाक्य हैं जो सत्य होते हैं। अत: असत्य वाक्यों को (उदाहरणत: 'सभी हंस सफेद रंग के होते हैं') नियम नहीं माना जाएगा। इस मानदण्ड को लागू करने के रास्ते में कुछेक कठिनाइयाँ हैं - (1) यदि हम यह चाहें कि व्याख्याकारी नियमों को अनिवार्यत: सत्य होना ही चाहिए तो उस स्थिति में हमें यह भी कहना पड़ेगा कि गैलीलियों ने नतसमतलों पर प्राप्त होने वाली वस्तुओं के बारे में प्रेक्ष्य तथ्यों की या तो वैज्ञानिक व्याख्या ही नहीं की, अथवा उसकी व्याख्याओं के आधारभूत नियम तब सत्य थे किन्तु अब असत्य हो गए हैं। (2) अनिबद्ध सामान्य वाक्यों की सत्यता पूर्णत: सिद्ध करना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन जरूर है। (3) प्राय: नियमों को उस तार्किक कोटि का बताया जाता है जिस कोटि के वाक्यों को तर्क की दृष्टि से वर्णनात्मक नहीं माना जाता ; और फलस्वरूप उन्हें सत्य अथवा असत्य भी नहीं कहा जाता।

इन्हीं कठिनाइयों के कारण हम इस बात पर आग्रह नहीं करेंगे कि नियमों को अनिवार्यत: सत्य ही होना चाहिए। हम अपना ध्यान केवल नियम-तुल्य वाक्यों के विश्लेषण पर ही केन्द्रित करेंगे। हम उन वाक्यों को नियम-तुल्य वाक्य कहेंगे जो वाक्य नियमों विषयक सभी शर्तों को पूरा करते हैं परन्तु जिनकी सत्यता-असत्यता का निर्णय करने का प्रश्न नहीं उठाया जाता।

तीसरा-नियम यह है जिसमें तुल्य वाक्यों की सहायता से तथ्यविरोधात्मक प्रतिबंधक वाक्यों की पुष्टि की जाती है, किन्तु आपाती सामान्य वाक्यों को नहीं। आपाती सामान्य वाक्यों का उदाहरण यह है - 'इस बैंच पर बैठने वाले सभी व्यक्ति हिन्दुस्तानी हैं।' जाहिर है कि इस वाक्य के सामान्य होने के बावजूद इसे नियम अथवा नियम तुल्य नहीं माना जा सकता। तथ्यविरोधात्मक प्रतिबन्धक वाक्यों का उदाहरण यह है - 'यदि आज गांधीजी जीवित होते, तो हमारे देश में भ्रष्टाचार में काफी कमी हो जाती'। क्योंकि इन प्रतिबन्धकों के दशाबोधक-वाक्यांश सत्य नहीं होते, अर्थात् तथ्यों के विरोधी होते हैं, इसीलिए इन्हें तथ्यविरोधात्मक प्रतिबन्धक वाक्य कहा जाता है। इस प्रकार के वाक्यों की पुष्टि नियमतुल्य वाक्यों के आधार पर ही की जाती है।

इन वाक्यों के विश्लेषण की अपनी ही समस्याएँ हैं तथा इनके संतोषजनक विश्लेषण के संबंध में दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। कुछ दार्शनिक तो इन्हें सीधे-सादे वस्तुपरक-प्रतिबन्धक वाक्य ही मानते हैं, तथा कई इन्हें लुप्तावयवी युक्तियों का सम्मान देते हैं, और कुछ दूसरे दार्शनिक इन्हें सत्य अथवा असत्य वर्णनात्मक वाक्य ही नहीं कहना चाहते। कुछ भी हो, लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन के मतानुसार

तथ्य विरोधात्मक प्रतिबन्धक वाक्यों का स्वरूप पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं है और यही अस्पष्टता 'नियम-तुल्य' अथवा 'नियम' - इन प्रत्ययों के प्रस्तावित विश्लेषणों में साफ झलकती है। सम्प्रति हम इतना ही कहना चाहते हैं कि तीसरे मानदण्ड को नियम-तुल्यता की अनिवार्य शर्त तो हम भले ही मान लें परन्तु उसे पर्याप्त शर्त नहीं मान सकते।

स्पष्ट है कि हमारी पुस्तक के लेखकों को नियमितता के प्रचलित तीनों मानदण्ड सर्वथा मान्य नहीं हैं। उनके मतानुसार किसी प्रसंग अथवा सिद्धांत के अंतर्गत किन सामान्य वाक्यों को नियम अथवा नियमतुल्य वाक्य माना जायगा ? इस प्रश्न का निर्णय इस आधार पर किया जाता है कि उस प्रसंग अथवा सिद्धांत में उन सामान्य वाक्यों का कार्य-व्यापार क्या है।

(5) व्याख्या और प्रागुक्ति - इस संदर्भ में, लैम्बर्ट और ब्रिट्टन ने व्याख्या तथा प्रागुक्ति के पारस्परिक संबंध पर विचार किया है। हेम्पेल तथा ओपनहाइम के मतानुसार, व्याख्या तथा प्रागुक्ति के तार्किक ढांचों में सादृश्य पाया जाता है। जिस प्रकार किसी घटना की व्याख्या करना उस घटना का वर्णन करने वाले वाक्य को, अर्थात् घटनाधीन वाक्य को, सामान्य नियमों एवं पूर्ववत् प्रतिबन्धों का वर्णन करने वाले वाक्यों से, अर्थात् व्याख्याकारी वाक्यों से, तर्कतया निगमित करने का दूसरा नाम व्याख्या है, उसी प्रकार, किसी घटना की प्रागुक्ति करना उस घटना का वर्णन करने वाले वाक्य को, अर्थात् प्रागुक्ति वाक्य को, सामान्य नियमों एवं पूर्ववृत प्रतिबन्धों का वर्णन करने वाले वाक्यों से तर्कतया निगमनित करने का दूसरा नाम प्रागुक्ति ही है। इन दोनों के तार्किक ढांचे में इस प्रकार के सादृश्य के आधार पर ही यह कहा जाता है कि व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति है। ध्यान रहे कि तार्किक सममिति होने का यह अर्थ नहीं कि किसी घटना की व्याख्या करने और किसी घटना की प्रागुक्ति करने में कोई अन्तर ही नहीं। अन्तर इतना है कि हम उस घटना की व्याख्या करते हैं जो घट चुकी होती है परन्तु उस घटना की प्रागुक्ति करते हैं जिसे अभी घटना होता है। व्याख्या का विषय भूत घटनाएँ हैं, जबकि प्रागुक्ति का विषय भावी घटनाएँ होती हैं। एक का संबंध भूतकाल से है, दूसरे का संबंध भविष्यत् काल से।

यह सच है कि हेम्पेल तथा ओपनहाइम के मतानुसार वैज्ञानिक व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति है। और यह भी सच है कि जिन व्याख्याओं के आधार पर घटनाओं की प्रागुक्ति सम्भव है उन व्याख्याओं के औचित्य के बारे में हमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं होगा। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या हम व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति के सिद्धांत को मान सकते हैं ? हमारी पुस्तक के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है। इस पक्ष में मुख्य तर्क इस प्रकार है :-

यदि व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति मान ली जाय तो उस स्थिति में प्रागुक्ति वाक्य उसी प्रकार अनिवार्यत: सत्य होना चाहिए जिस प्रकार व्याख्याधीन वाक्य अनिवार्यत: सत्य होता है। किन्तु इसमें कठिनाई है, क्योंकि व्याख्याधीन वाक्य के असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत, प्रागुक्ति वाक्य को यदि सत्य मान लिया जाय तो प्रागुक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती है और यदि उसे सत्य न माना जाये तो उसके असत्य होने की संभावना बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त, अनेक दार्शनिकों का कथन है कि मनुष्यादि जीवों के स्वतंत्र कार्यों एवं उद्देश्यात्मक व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्याओं के आधार पर उनके भावी कार्यों तथा व्यवहार के बारे में प्रागुक्ति करना नितान्त असम्भव है। इसका कारण यह है कि मानवीय कार्यों के उद्देश्यों, अभिप्रेरणाओं एवं प्रयोजनों के बारे में सार्वभौम नियम बनाना ही असम्भव है। और यदि ऐसे नियम बना भी लिए जांय तो वे इतने कमजोर होंगे कि उनके आधार पर प्रागुक्ति असम्भव होगी। अत: व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिती के सिद्धांत को नहीं माना जा सकता।

(6) साध्यपरक व्याख्या - उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब कहा जा सकता है कि व्याख्याओं का आच्छादि नियम 'मॉडेल' विज्ञान में सार्वभौमिक नहीं है। अर्थात् सभी प्रकार की घटनाओं की व्याख्या करने के लिए इस मॉडेल को अपनाया नहीं जा सकता। विशेषत: जीव-विज्ञान, इतिहास तथा सामाजिक शास्त्रों में इस मॉडेल को अपनाना असम्भव है; क्योंकि इन शास्त्रों में उपलब्ध व्याख्याएँ उद्देश्य, प्रयोजन अभिप्रेरणा, अथवा साध्यपरक होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन साध्यपरक व्याख्याओं का स्वरूप क्या है ? इस संबंध में दो बातें ध्यान में रखने की है। पहली बात यह है कि व्याकरण की दृष्टि से साध्यपरक व्याख्याओं में उद्देश्यादिसूचक कोई-न-कोई शब्दावली होनी ही चाहिए। उदाहरणत: 'के उद्देश्य से', 'के प्रयोजन से' इत्यादि। दूसरी बात यह है कि इसप्रकार की व्याख्याओं में व्याख्याकारी वाक्य उस घटना का वर्णन करते हैं जो घटना व्याख्याधीन घटना के बाद घटित होती है। चूहे के उदाहरण में खाद्यान्न की प्राप्ति-नामक घटना उसके सही जगह पर पहुँचने की घटना के बाद ही घटित होती है।

रूढ़ दृष्टिकोण के समर्थक हेम्पेल तथा ओपनहाइम ने इस प्रकार की साध्यपरक व्याख्याओं को आच्छादि नियम मॉडेल के अनुकूल बनाने का प्रयत्न तो किया है किन्तु उस प्रयत्न में उन्हें सफल नहीं माना जा सकता। इसके मुख्य दो कारण हैं - प्रथम तो यह कि उद्देश्यों, इच्छाओं इत्यादि के बारे में सामान्य नियम बनाना असम्भव है, क्योंकि जब भी इस प्रकार के नियम बनाने का प्रयत्न किया जाता है तो ऐसे नियमों को प्रकट करने वाले वाक्य या तो शून्यप्राय अर्थात्मक होते हैं अथवा वे नितान्त असत्य होते हैं। बात यह है कि इच्छा और उस इच्छा की पूर्ति के लिए किए जाने वाले कार्य को एक-दूसरे से अलग-अलग करके वर्णित करना बिल्कुल असम्भव है। जब हम इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थं कार्य को दो घटनाएँ मानते हैं तो हमारे सामान्य वाक्य असत्य होते हैं और जब हम उन्हें एक ही घटना मानते हैं तो हमारे वाक्य विश्लेषणात्मक होने के फलस्वरूप शून्यप्राय अर्थात्मक हो जाते हैं। अत: इच्छाओं इत्यादि के बारे में सामान्य वाक्य बनाना तार्किक दृष्टि से असम्भव है।

दूसरा कारण यह है, अनेक मनोवैज्ञानिकों तथा कुछेक दार्शनिकों ने 'इच्छा' इत्यादि प्रत्ययों को व्यवहारिकीय अथवा भौतिकीय शब्दावली में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार यदि प्रस्तावित प्रयत्न सफल हो जाय तो उस स्थिति में इच्छाओं इत्यादि के बारे में उपयोगी सामान्य नियम बनाना सम्भव हो जायगा। इन विचारकों के इस दृष्टिकोण को हमारी पुस्तक के लेखकों ने 'विश्लेषणात्मक व्यवहारवाद' कहा है। विश्लेषणात्मक व्यवहारवाद सभी विचारकों को मान्य नहीं है। उनका मुख्य तर्क यह है कि इच्छा इत्यादि मानसिकीय शब्दावली को व्यवहारिकीय अथवा भौतिकीय शब्दावली में नि:शेषत: परिभाषित किया नहीं जा सकता। जब भी हम इसप्रकार की परिभाषाएँ देने का प्रयत्न करते हैं तो किसी न किसी स्तर पर विशेषत: प्रस्तावित परिभाषाओं के औचित्य संबंधी निर्णय करने के लिए - मानसिकीय शब्दावली का सहारा लेना ही होता है।

इस दिशा में विश्लेषणात्मक व्यवहारवाद के अतिरिक्त एक दूसरा प्रयत्न भी किया गया है। इस प्रयत्न के समर्थक मानसिकीय प्रत्ययों को व्यवहारिकीय अथवा भौतिकीय प्रत्ययों में परिभाषित नहीं करते, अपितु इच्छाओं इत्यादि का न्यूरोफिज्योलोजिकल दशाओं के साथ सहसंबंध बैठाते हैं अथवा उनमें तादात्म्य का संबंध बताते हैं। इस प्रकार के कार्यक्रम की सफलता के लिए आवश्यक है कि प्रस्तावित सहसंबंधता तथा तादात्म्य के संबंध को सन्तोषजनक रूप से समझा और समझाया जा सके। इसके अतिरिक्त इस स्तर पर पहुँचकर व्याख्याओं का प्रश्न दूसरा ही रूप ले लेता है। अर्थात् साध्यपरक व्याख्याओं का प्रश्न दूसरा ही रूप ले लेता। अर्थात् साध्यपरक व्याख्याओं की अवघटनीयता तथा अनवधटनीयता का प्रश्न मनस् तथा शरीर के पारस्परिक संबंध के तात्त्विक प्रश्न पर केन्द्रित हो जाता है।

(7) व्याख्या तथा अवघटनीयता - इस संदर्भ में हमारी पुस्तक के लेखकों ने व्याख्याओं के एक नये प्रकार - अवघटनात्मक व्याख्याओं - की चर्चा की है। इस प्रकार की व्याख्याओं में सम्मुच्चयों के विशेष गुणों की व्याख्या उनके अंशो के विशेष गुणों के आधार पर की जाती है। परन्तु व्याख्या के इस विश्लेषण के साथ-साथ यह भी कहा जाता है कि उन अंशों के विशेष गुण-जिनके द्वारा उन समुच्चयों के विशेष गुणों की व्याख्या की जाती है - समुच्चयों के विशेष गुणों से नितान्त भिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरणत: जल, जो एक आणविक समुच्चय है, इसके विशेष गुण - पारदर्शीयता - की व्याख्या इस समुच्चय के अंशों -अणुओं - के विशेष गुणों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार की व्याख्याओं का वैज्ञानिक बहुधा प्रयोग करते हैं। इन व्याख्याओं के समर्थकों के मतानुसार विज्ञान का मुख्य उद्देश्य सामान्य नियमों को बनाना और उनकी सहायता से घटनाओं की व्याख्या करना नहीं है। उनका आग्रह है कि घटनाओं का यथासम्भव पूर्णत: वर्णन करना, उनको भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित करना, तथा उन्हें एक-दूसरे से सम्बद्ध करना ही विज्ञान का मुख्य उद्देश्य है।

अब यदि हम अवघटनात्मक व्याख्याओं के तार्किक ढांचे पर ध्यान दें तो व्याख्या के स्वरूप के विषय में दो बातें निश्चित रूप से स्पष्ट हो जाती हैं - एक तो यह है कि अवघटनात्मक व्याख्याओं के प्रकरण में व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति का पूर्णतया अभाव है। इसके अतिरिक्त और यह हमारी दूसरी बात है - अवघटनात्मक व्याख्याओं के विश्लेषण से पता चलता है कि 'प्रागुक्ति' तथा 'अवघटनीयता' एक दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र धारणाएं हैं।

(4)

चौथा अध्याय - पुष्टिकरण तथा स्वीकार्यता : इस अध्याय में चार संदर्भ हैं - (1) परिचय, (2) स्वीकार्यता तथा पुष्टिकरण, (3) पुष्टिकरण संबंधी विरोधाभास, और (4) क्या प्राकृतिक नियम सत्य या असत्य होते हैं ?

(1) परिचय - व्याख्याओं और तथ्य विरोधात्मक प्रबन्धक वाक्यों के पारस्परिक संबंध के विषय में हमारे सामने कुछ इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। जब यह पूछा गया कि नियमतुल्य वाक्य कौन-से हैं ? तो उत्तर मिला - वे वाक्य जो तथ्यविरोधात्मक प्रबन्धक वाक्यों की पुष्टि करते हैं। और जब यह पूछा गया कि तथ्यविरोधात्मक प्रबन्धक वाक्य कौन-से होते हैं ? तो इस प्रश्न का उत्तर हमने नियमतुल्य वाक्यों की सहायता से दिया। इस प्रकार तर्क करते हुए हम एक घेरे में उलझ गये थे। इस घेरे से निकलने का रास्ता यह है कि हम नियमतुल्य वाक्यों को स्वतंत्रत: चरितार्थित करें। अर्थात् यह कहें कि नियमतुल्य वे व्याप्ति वाक्य हैं जिनकी पुष्टि अनुकूल साक्ष्य (अथवा उदाहरणों) के आधार पर की जाती है।

इस संबंध में दो प्रश्न उठते हैं - (1) अनुकूल साक्ष्य (अथवा उदाहरण) किसे कहते हैं ? और (2) वे कौन-सी स्थितियां हैं जिन स्थितियों में अनुकूल साक्ष्य के आधार पर किसी व्याप्ति वाक्यों की पुष्टि होती है ऐसा माना जाता है ? इन दोनों प्रश्नों को हम 'पुष्टिकरण की समस्या' का नाम देंगे।

पुष्टिकरण की समस्या को समझना बहुत जरूरी है। क्योंकि इसी के स्पष्टीकरण के आधार पर आपाती सामान्य वाक्यों तथा नियमों अथवा नियमतुल्य वाक्यों में, संतोषजनक ढंग से, व्यतिरेक किया जा सकता है। दूसरा, अनुकूल साक्ष्य के आधार पर वैज्ञानिक सिद्धांतों की पुष्टि किस प्रकार की जाती है ? इस प्रश्न का उत्तर भी पुष्टिकरण की समस्या की सही समाधान पर निर्भर है। वास्तव में, 'आगमन की समस्या' भी हमारी समस्या का एक रूपान्तर है। तीसरा, इसके अतिरिक्त किसी उपकल्पना तथा उनकी पुष्टि में प्रस्तुत साक्ष्य- इन दोनों में परस्पर क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर भी 'पुष्टिकरण की समस्या' के संतोषजनक समाधान पर आधारित है।

(2) स्वीकार्यता तथा पुष्टिकरण - 'स्वीकार्यता' की धारणा 'पुष्टिकरण' की धारणा से अधिक व्यापक है। वैज्ञानिक उपकल्पनाओं को, कुछ हद तक, इस आधार पर भी स्वीकार्य माना जाता है कि उनकी यथेष्ट पुष्टि हो चुकी होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त स्वीकार्यता के दूसरे मानदण्ड भी हैं। हम ऐसे दो मानदण्डों पर विशेष रूप से विचार करेंगे।

(1) सरलता एवं सुबोधता - प्राय: सरलता एवं सुबोधता को वैज्ञानिक उपकल्पनाओं की स्वीकार्यता का मानदण्ड बताया जाता है। सरल एवं सुबोध उपकल्पनाएं श्रेष्ठ होती हैं। उन्हें आसानी से याद रखा जा सकता, समझा और समझाया जा सकता है, इत्यादि। तथापि, विज्ञानदर्शनशास्त्रियों के लिए प्रश्न यह उठता है कि वैज्ञानिक उपकल्पनाओं की संरचना एवं सुबोधता से क्या समझा जाये ? इस प्रश्न के उत्तर में दो-एक बातें कही जा सकती हैं। (1) सरलता एवं सुबोधता की धारणा अनिवार्यत: सापेक्ष धारणा है, निरपेक्ष नहीं। विशेषत: उपकल्पनाओं को उनके गणित के सापेक्ष भी सरल एवं सुबोध कहा जाता है। यदि किसी दो बराबर की उपकल्पनाओं में से एक का गणित अधिक सरल एवं सुबोध है तो वह कल्पना अधिक स्वीकार्य मानी जायेगी। (2) किसी उपकल्पनाओं की सरलता एवं सुबोधता हमारे उद्देश्यों तथा प्रयोजनों इत्यादि के सापेक्ष भी होती है। किन्तु (3) हमारी पुस्तक के लेखकों के मतानुसार किसी दो उपकल्पनाओं में से कौन-सी उपकल्पना अधिक सरल एवं सुबोध ? इस प्रश्न का निर्णय उन दोनों उपकल्पनाओं को बाकी विज्ञान में उपलब्ध सिद्धांतों से बिलकुल अलग रख के नहीं किया जा सकता। अपितु, उन उपकल्पनाओं को सारे सिद्धांतों के प्रकाश में रख करके ही इस प्रश्न का निर्णय किया जा सकता है कि उन दोनों में से कौन-सी उपकल्पना अधिक सरल एवं सुबोध है। कहने का तात्पर्य यह है कि उपकल्पनाओं की सरलता एवं सुबोधता का प्रश्न अन्तर्सिद्धान्तीय है।

(2) अन्तर्सिद्धान्तीय सम्बद्धता - अन्तर्सिद्धान्तीय सम्बद्धता भी उपकल्पनाओं की स्वीकार्यता का मानदण्ड है। इस मानदण्ड के संबंध में तीन बातें कही जा सकती हैं। प्रथम, यदि कोई उपकल्पना अथवा सिद्धांत किसी दूसरे पूर्व स्वीकृत सिद्धांतों से निगमनित होता है तो इस आधार पर ही उस उपकल्पना अथवा सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार की स्थिति में, स्वीकार्य उपकल्पना अथवा सिद्धांत को दूसरे अधिक व्यापक सिद्धांत का विशेष पक्ष (अथवा स्पेशल केस) कहा जाता है। द्वितीय, यदि किसी उपकल्पना का किसी पूर्वस्वीकृत, दृढ़ नियम अथवा सिद्धांत से विरोध उत्पन्न हो तो उस स्थिति में भले ही उसकी पुष्टि में कितना भी अनुकूल साक्ष्य क्यों न हो, उस उपकल्पना की स्वीकार्यता कम हो जाती है। तृतीय, किसी भी आनुभाविक व्याप्ति वाक्य को, चाहे वह कितना भी पुष्ट क्यों न हो, हम नियम अथवा सिद्धांत नहीं मानेंगे, यदि किसी दूसरे नियम अथवा सिद्धांत के अन्तर्गत उस व्याप्ति वाक्य के अपवाद सम्भव पाये गये हों। अन्तर्सिद्धांतीय सम्बद्धता का महत्त्व संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है : - किसी उपकल्पना का अनुकूल साक्ष्य के आधार पर पुष्ट होना उस उपकल्पना की स्वीकार्यता का मानदण्ड है, परन्तु स्वीकार्यता और सरलता तथा सुबोधता का मानदण्ड अन्तर्सिद्धान्तीय ही है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारी अभिरुचि उन नियमों में है जिनका तार्किक प्ररूप इस प्रकार का होता है -

(क) $(x).(Fn \rightarrow Gx)$

इस प्रतीकात्मक वाक्य को इस प्रकार पढ़िए -

'यदि सभी वस्तुओं में कोई विशेष गुण F पाया जाता है तो उसमें कोई दूसरा विशेष गुण G भी पाया जाता है।

नियमों को अनुकूल उदाहरणों (अथवा साक्ष्य) के आधार पर पुष्ट किया जाता है। उपर्युक्त वाक्य (क) की पुष्टि के लिए वे प्रेक्ष्य वस्तुएं अनुकूल उदाहरण मानी जायेंगी जिनमें F है और G भी है और वे प्रेक्ष्य वस्तुएं प्रतिकूल उदाहरण मानी जायेंगी जिनमें F तो है किन्तु G नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि कोई वस्तुएं ऐसी हैं जिनमें F का अभाव है परन्तु G है अथवा नहीं है, तो ऐसी वस्तुओं को (क) की पुष्टि के लिए उदासीन उदाहरण माना जायगा। याद रहे कि किसी भी व्याप्ति वाक्य की पुष्टि में केवल उन्हीं वाक्यों को उद्धृत किया जाता है जिन्हें व्याकरण की दृष्टि से एकवचनात्मक वाक्य कहा जाता है।

(3) पुष्टिकरण संबंधी विरोधाभास - पुष्टिकरण संबंधी दो विरोधाभास हैं। इन दोनों का संबंध है कि 'अनुकूल उदाहरण' प्रत्यय का क्या विश्लेषण होना चाहिए, इससे है ? पहले विरोधाभास का ज़िक्र कार्ल हेम्पेल[7] ने किया है। इसे 'रेवन पैराडोक्स' (काकोल विरोधाभास) कहा जाता है। मान लीजिए कि हम निम्नलिखित उप-कल्पना H की पुष्टि करना चाहते हैं -

(H). सभी काकोल काले होते हैं। इसे तार्किक पदावली से इस प्रकार किया जा सकता है।

(H).(x) $(Rx \rightarrow Bx)$

इस वाक्य की पुष्टि के लिए सभी काले काकोल अनुकूल उदाहरण कहलायेंगे, किन्तु गणितीय तर्कशास्त्र के पक्षान्तरण (अर्थात् ट्रान्सपोज़िशन) नियमानुसार H, H' समतुल्य हैं : (H') वे सभी चीजें जो काली नहीं हैं, काकोल नहीं हैं। इसे तार्किक भाषा में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है -

(H').(x) $(\sim Bx \rightarrow \sim Bx)$

अब H' की पुष्टि करने के लिए वे सभी चीजें जो काली नहीं और काकोल भी नहीं - वे सब अनुकूल उदाहरण कहलायेंगी। क्योंकि H तथा H' दोनों तर्कशास्त्र की दृष्टि से समतुल्य वाक्य हैं, अत: जो उदाहरण अथवा साक्ष्य H की पुष्टि के लिए अनुकूल होगा वही साक्ष्य H' की पुष्टि के लिए भी अनुकूल होगा। इसी प्रकार, जो साक्ष्य H' की पुष्टि के अनुकूल होगा वही H की पुष्टि के लिए भी अनुकूल होगा। अर्थात् H की पुष्टि के लिए उन सभी चीजों को जो काली नहीं हैं और काकोल भी नहीं हैं अनुकूल साक्ष्य मानना चाहिए। विशेषत: सभी श्वेत हंस जो न तो काली चीजें हैं और न ही काकोल हैं, उन सबको H की पुष्टि के लिए अनुकूल साक्ष्य मानना चाहिए। परन्तु, किसी वैज्ञानिक को इस प्रकार का साक्ष्य स्वीकार्य होगा ? इतना ही नहीं, तर्कशास्त्र की दृष्टि से H' के समतुल्य किसी भी वाक्य की पुष्टि के लिए भी जो भी साक्ष्य अनुकूल होगा वही साक्ष्य H की पुष्टि के लिए भी अनुकूल माना जायगा। (इस शर्त को हम समतुल्यता का शर्त कहेंगे।) परन्तु, यह स्थिति किसे मान्य होगी ? यही विरोधाभास है।

हेम्पेल ने इस विरोधाभास को पूर्णरूप से स्वीकार किया है और अपने पक्ष के समर्थनार्थ अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार यह विरोध वास्तविक नहीं, केवल आभास मात्र है। हेम्पेल ने जो विवरण दिया है उसके संबंध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो यह है कि उन्होंने न तो अनुकूल साक्ष्य संबंधी अपनी धारणा को छोड़ा है, और न ही अपनी समतुल्यता की शर्त को। दूसरी बात यह है कि अनुकूल साक्ष्य संबंधी, अत: पुष्टिकरण संबंधी, उनकी धारणा पूर्णरूप से प्ररूपिक है।

अनेक दार्शनिकों ने हेम्पेल के मत की भरसक आलोचना की है। एक ओर तो उन्होंने हेम्पेल के प्ररूपिक दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है तथा दूसरी ओर उन्होंने अनुकूल एवं प्रतिकूल साक्ष्य की धारणाओं के संतोषजनक विश्लेषण की दिशा में कुछेक सुझाव दिये हैं।

हेम्पेल के प्ररूपिक दृष्टिकोण को अस्वीकार करने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस दृष्टिकोण को अपनाने के फलस्वरूप विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे विरोधाभास को आभास मात्र कहकर विसर्जित नहीं किया जा सकता।

जो सुझाव दिये गये हैं वे सब इस बात पर आधारित हैं कि हेम्पेल ने अपने पुष्टिकरण सम्बन्धी विवरण में वैज्ञानिक पद्धति एवं वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली का सही रूप से चित्रण नहीं किया। विज्ञान में, उपलब्ध नियमों तथा सिद्धांतों से विच्छिन्न करके किसी भी उपकल्पना की पुष्टि अथवा अपुष्टि नहीं की जाती। और न ही कोई वैज्ञानिक किसी भी उपकल्पना के केवल तार्किक प्ररूप के आधार पर ही इस बात का निर्णय करता है कि उस उपकल्पनाओं की पुष्टि के लिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य क्या होगा। वास्तव में साक्ष्य क्या है ? यह प्रश्न सिद्धांत-सापेक्ष है। सिद्धांत के आधार पर ही यह तय किया जाता है कि किसी भी वाक्य की पुष्टि के लिए किन वस्तुओं को अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य माना जायगा। प्राय: इस बात को उपकल्पना के विवरण में ही लिख दिया जाता है। उदाहरणत: उपर्युक्त उपकल्पना H के विवरण में इस प्रश्न का उत्तर भी शामिल है कि इस उपकल्पना की पुष्टि के लिए किन वस्तुओं को अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य माना जायगा। यदि ये तर्क सही हैं तो स्पष्ट है कि हेम्पेल के काकोल (विरोधाभास) की नि:शेषत: क्षति हो जाती है।

पुष्टिकरण के दूसरे 'विरोधाभास' का ज़िक्र नेलसन गुड्मैन ने किया है, इसे (व. विरोधाभास) कहा गया है। यह इस प्रकार है - मान लीजिए, किसी निश्चित समय स से पूर्व हमने सभी पन्नों को देखा और पाया कि वे सब हरे रंग के हैं। यह भी मान लीजिए कि किसी व्याप्ति वाक्य की पुष्टि अनुकूल साक्ष्य के आधार पर ही की जाती है। अत: अब हम कह सकते हैं कि उस निर्दिष्ट समय स पर हमारे प्रेक्ष्य-साक्ष्य के आधार पर इस उपकल्पना की पुष्टि होती है कि सभी पन्ने हरे रंग के हैं। यह भी मान लीजिए कि किसी व्याप्ति वाक्य की पुष्टि अनुकूल साक्ष्य के आधार पर ही की जाती है। अत: अब हम कह सकते हैं कि उस निर्दिष्ट समय स पर हमारे प्रेक्ष्य-साक्ष्य के आधार पर इस उपकल्पना की पुष्टि होती है कि सभी पन्ने हरे रंग के होते हैं। यहाँ तक बात बनती है।

अब एक दूसरा विधेय 'व' लीजिए। इस विधेय का अर्थ भी समझ लीजिए। हम केवल उन्हीं वस्तुओं को कहेंगे जो निर्दिष्ट समय स से पूर्व देखी गई हैं और हरे रंग की हैं, किन्तु दूसरी वस्तुओं को भी हम व. कहेंगे यदि वे नीले रंग की हैं। अब निम्नलिखित दो उपकल्पनाओं पर ध्यान दीजिए -

H.1 : सभी पन्ने हरे होते हैं।

H.2 : सभी पन्ने व होते हैं।

जिस प्रकार हमने 'व' शब्द को परिभाषित किया है उससे स्पष्ट होता है कि निर्दिष्ट समय स पर जो अनुकूल साक्ष्य की H.1 पुष्टि करता है वही साक्ष्य H.2 की भी पुष्टि करता है। दोनों उपकल्पनाओं के लिए समय स पर अनुकूल साक्ष्य एक ही है। परन्तु ऐसा करने में विरोधाभास है। क्योंकि दो विभिन्न उपकल्पनाओं H.1 और H.2 की पुष्टि के लिए अनुकूल साक्ष्य भी अलग-अलग होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में साक्ष्य एक ही है। अत: कहना ही पड़ेगा कि H.1और H.2 या तो एक ही उपकल्पना है अथवा ये दोनों परस्पर समतुल्य हैं। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि H.1 में 'हरा' और H.2 में 'व' यह दोनों विधेय परस्पर विरोधी है। मोटे तौर पर, गुड्मैन के 'व विरोधाभास' का यही विवरण है।

हमने ऊपर कहा है कि नियम-तुल्य वाक्यों तथा आपाती व्याप्ति-वाक्यों का एक-दूसरे से व्यतिरेक करने का एक तरीका यह भी है कि हम यह कहें कि केवल नियम-तुल्य वाक्यों की पुष्टि अनुकूल साक्ष्य के आधार पर होती है, आपाती व्याप्ति-वाक्यों की नहीं। किन्तु, 'व विरोधाभास' के प्रकाश में तो प्रस्तावित तरीका बेकार हो जाता है। क्योंकि H.2 जो निश्चय ही मनघड़न्त आपाती व्याप्ति-वाक्य

है, यदि इसकी पुष्टि भी उसी साक्ष्य के आधार पर होती है जिस वाक्य के आधार पर H.1 की पुष्टि होती है, तो स्पष्ट है कि अनुकूल साक्ष्यात्मक पुष्टि के आधार पर आपाती व्याप्ति-वाक्यों और नियम-तुल्य वाक्यों का एक-दूसरे से व्यतिरेक नहीं किया जा सकता।

इस 'विरोधाभास' को समझने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये हैं। पहला प्रयत्न गुड्मैन का अपना है। उनके अनुसार यदि हम H.1 और H.2 में परस्पर व्यतिरेक कर सकें तो 'व. विरोधाभास' को दूर किया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का व्यतिरेक न तो इन उपकल्पनाओं के तार्किक प्ररूप के आधार पर किया जा सकता है और न ही इनकी पुष्टि के लिए प्रस्तुत अनुकूल साक्ष्य के आधार पर, क्योंकि H.1 और H.2 का तार्किक प्ररूप एक ही है और पुष्टिकारक साक्ष्य भी एक ही है। इसके अतिरिक्त, क्योंक 'ग्र' और 'हरा' ये दोनों शब्द अर्न्तपरिभाषीय हैं, अत: H.1 और H.2 को शब्दार्थिकी के आधार पर भी एक-दूसरे से विभिन्न नहीं बताया जा सकता। एक ही उपाय रहता है, वह यह है कि यदि इन दो उपकल्पनाओं में कोई भिन्नता है तो वह इनकी किसी अप्ररूपिक, अशब्दार्थिक विशेषता पर ही आधारित होनी चाहिए। गुड्मैन के अनुसार उस विशेषता का संबंध 'व.' तथा 'हरे' इन दो विधेयों के भाषात्मक प्रयोग से है। वह विशेषता है 'प्रक्षेपीयता'। हम उन विधेयों को प्रेक्षेपीय कहते हैं जो अपने विधेयकों के सापेक्ष आगमिक होते हैं। अर्थात् जिन व्याप्ति-वाक्यों में वे पाये जाते हैं उनकी पुष्टि अनुकूल साक्ष्य के आधार पर ही होती है और वे वाक्य नियम-तुल्य भी होते हैं। इस अर्थ में 'व' प्रक्षेपीय विधेय नहीं है - 'व' की नियमितता के आधार पर भावी उदाहरणों की प्रागुक्ति (यानि 'प्रक्षेपण') करना सम्भव नहीं है। इस बात को एक उदाहरण से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि अब तक आपने जो पन्ने देखे वे सब हरे रंग के हैं - अत: 'व' भी है। अब इस प्रेक्ष्य व्याप्ति के आधार पर आप यह नहीं कह सकते कि भविष्यत् में उपलब्ध होने वाले पन्ने भी 'ग्र' रंग के होंगे। अर्थात् निर्दिष्ट व्याप्ति के आधार पर इस प्रागुक्ति की पुष्टि करना असम्भव है कि भविष्यत् में उपलब्ध होने वाले पन्ने भी 'व' रंग के होंगे। इसके विपरीत, 'हरे' - इस विधेय के प्रकरण में निर्दिष्ट व्याप्ति के आधार पर इस प्रकार की प्रागुक्ति की पुष्टि पूर्ण रूप से सम्भव है कि भविष्य में उपलब्ध होने वाले सभी पन्ने हरे रंग के होंगे।

H.1 और H.2 इन दो उपकल्पनाओं में व्यतिरेक करने के लिए गुड्मैन का यह सुझाव काफी आकर्षक है। परन्तु, इसे हम तभी स्वीकार कर सकते हैं जब प्रक्षेपीय और अप्रेक्षपीय विधेयों में व्यतिरेक करने का कोई संतोषजनक तरीका हो। गुड्मैन के कथनानुसार, कोई विधेय कितना 'परिखास्थापित' है ? इस प्रश्न के आधार पर इन दो प्रकार के विधेयों में व्यतिरेक किया जा सकता है। परन्तु, प्रश्न यह उठता है कि विधेयों की परिखास्थापनता से क्या समझा जाए ? गुड्मैन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है : किसी दो विधेयों को लीजिए और उनके प्रक्षेपण के इतिहास का परीक्षण कीजिए। उनमें से जिसकी प्रक्षेप-आवृत्ति अधिक होगी वह दूसरे की तुलना में अधिक परिखास्थापित कहा जायगा।

याद रहे कि किसी विधेय के भाषात्मक प्रयोग से सुपरिचितता को हम उस विधेय की परिखास्थापनता नहीं मानेंगे। अर्थात् हम यह नहीं कहेंगे कि क्योंकि हम 'हरे' से अधिक सुपरिचित हैं अत: यह विधेय परिखास्थापित है ? और 'व.' नहीं। परिखास्थापनता किसी विधेय की प्रयोगावृत्ति का फलन नहीं, अपितु उसकी प्रक्षेपावृत्ति का फलन है। विज्ञान में पाये जाने वाले कितने ही नये, अपरिचित से विधेय, साधारण जीवन में उपलब्ध कितने ही रूढ़ सुपरिचित विधेयों से कहीं अधिक परिखास्थापित हैं।

गुड्मैन का उपर्युक्त मत लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन को स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि परिखास्थापना की धारणा पर्याप्त स्पष्ट नहीं है। इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि 'हरा', 'व.' से अधिक प्रक्षेपीय विधेय है

क्योंकि वह अधिक परिखास्थापित है। गुड्मैन को वह भी स्पष्ट करना चाहिए कि 'हरा', 'ग्र.' से अधिक परिखास्थापित क्यों है ? ऐसा भी तो कहा जा सकता है कि यह मात्र संयोग की बात है कि 'हरा' अथवा 'नीला', 'व' अथवा 'बलीन' से अधिक प्रक्षेपित है।

विज्ञान के इतिहास में प्राय: देखा गया है कि अधिक परिखास्थापित शब्दावली को त्यागकर वैज्ञानिकों ने कम परिखास्थापित शब्दावली को अपनाया है। उदाहरणत: किसी वस्तु का क्या भार है ! इस प्रकार की 17वीं शताब्दी की अधिक परिखास्थापित शब्दावली को छोड़कर वैज्ञानिकों ने 'किसी वस्तु की क्या संहित है ?' इस प्रकार की कम परिखास्थापित शब्दावली को अपनाया है। गुड्मैन का मत वैज्ञानिक शब्दावली में समय-समय पर इस प्रकार के परिवर्तन तथा प्रगति को स्पष्ट नहीं करता।

गुड्मैन के 'व. विरोधाभास' का दूसरा समाधान उनके अपने समाधान पर सुधार पेश करता है। यह इस बात पर आधारित है : H.1 तथा H.2 की नियमतुल्यता का संबंध इस प्रश्न से भी है कि हम किन वस्तुओं को 'पन्ना' कहते हैं। विधेयों की प्रक्षेपणीयता का प्रश्न भी, काफी हद तक, विधेयकों के स्वरूप के प्रश्न पर आधारित है। बड़े ही सामान्य स्तर पर कहा जा सकता है कि उदाहरणत: 'पन्ने' वे भौतिक वस्तुएं हैं जिनमें कारण-कार्य श्रृंखला के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु, परिवर्तन तथा कारण-कार्य की धारणा 'व.' के प्रकरण में लागू नहीं होती। अत: 'पन्ना' जो एक भौतिक पदार्थ है उसके संबंध में 'व.' विधेय प्रक्षेपणीय नहीं है।

हमने दावा किया है कि किसी विधेय की प्रक्षेपणीयता का प्रश्न काफी हद तक इस प्रश्न पर आधारित है कि उस विधेय का विधेयक किस प्रकार का है। विशेषत: हम कहना चाहते हैं कि किसी सिद्धांत में वर्णित वस्तुओं को उस सिद्धांत के नियमों के अनुसार ही लक्षित किया जाता है और इस प्रकार उन वस्तुओं के सापेक्ष ही उनके आगमिक विधेयों का क्षेत्र निर्धारित होता है। 'सभी पन्ने 'व.' रंग के होते हैं - इस व्याप्तिवाक्य की नियमतुल्यता को अस्वीकार करने के लिए इतना ही स्पष्ट कर देना पर्याप्त है कि 'पन्ने' भौतिक पदार्थ हैं तथा भौतिक पदार्थों के प्रकरण में 'व.' सदृश विधेय लागू नहीं होते। दूसरे शब्दों में इसी बात को यों भी कहा जा सकता है - यदि आप पन्नों से सम्बद्ध प्रक्षेपणीय विधेयों को नहीं जानते तब आप यह भी नहीं जानते कि पन्ने क्या होते हैं। सच तो यह है कि सिद्धांत के आधार पर ही प्रक्षेपणीय विधेयों का क्षेत्र निर्धारित होता है, अत: सिद्धांत के आधार पर ही नियमतुल्य व्याप्ति-वाक्यों का क्षेत्र भी निर्धारित किया जाता है।

लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन के मतानुसार पुष्टिकरण संबंधी समस्या का समाधान संक्षेप में इस प्रकार है। विधेयों की प्रेक्षेपणीयता अन्ततोगत्वा सैद्धांतिक प्रसंग-विशेष के सापेक्ष है। जो विधेय किसी एक सैद्धांतिक प्रसंग में प्रक्षेपणीय कहे जाते हैं उन्हें किसी दूसरे सैद्धांतिक प्रसंग में अनिवार्य रूप से प्रक्षेपणीय नहीं माना जायगा। इसी प्रकार, 'अनुकूल साक्ष्य' की धारणा भी सैद्धांतिक प्रसंग-विशेष के सापेक्ष है। सिद्धान्त निरपेक्षत: किसी भी वस्तु के अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य नहीं माना जायगा। जब यह बात हमारे ध्यान से बिल्कुल निकल जाती है तभी विरोधाभास नजर आने लगते हैं। भ्रान्तिवश यदि यह माना जाय कि 'प्रक्षेपणीयता' अथवा 'साक्ष्य' का सिद्धान्त-निरपेक्ष वर्णन किया जा सकता है तब उस स्थिति में, पुष्टिकरण संबंधी विरोधाभासों का समाधान सम्भव नहीं। 'क्या साक्ष्य किसी सिद्धान्त विशेष की पुष्टि करता है ?' अथवा 'पन्नों के विषय में कौन से व्याप्ति वाक्य नियमतुल्य हैं ?' इस प्रकार के प्रश्न न्यायसंगत हैं ; किन्तु 'किसी सिद्धान्त विशेष के लिए' अनुकूल साक्ष्य 'किसे कहते हैं ?' अथवा 'किस प्रकार के विधेयों को प्रक्षेपणीय माना जाय ?' - इस कोटि के प्रश्न न्यायसंगत नहीं हैं।

(4) क्या प्राकृतिक नियमों को सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है ? प्राय: हम साक्ष्य अथवा तथ्यों को किसी सिद्धान्त विशेष की पुष्टि का आधार मानते हैं। किन्तु, हमने ऊपर कहा है कि साक्ष्य अथवा तथ्यों की धारणा सिद्धान्त-सापेक्ष है ; सिद्धान्त-निरपेक्ष साक्ष्य अथवा तथ्य कोई चीज नहीं होती। अब यदि हमारे मत को मान लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि किसी सिद्धांत विशेष की पुष्टि यदि साक्ष्य अथवा तथ्यों के आधार पर नहीं होती तो और किस आधार पर होती है ? दूसरे शब्दों में, सिद्धांत तथा साक्ष्य में परस्पर क्या संबंध है ?

लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं - किसी भी सिद्धांत विशेष के सर्वोच्च नियमों को वर्णनात्मक वाक्य कहने और उस आधार पर सत्य या असत्य कहने के बजाय उन्हें विनियामक वाक्य माना जा सकता है। अत: उन्हें सत्य अथवा असत्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के नियम उस सिद्धांत विशेष में उपलब्ध नीचे दरजे के व्याप्ति वाक्यों का स्वरूप, उनके पुष्टिकरण के लिए साक्ष्य, एवं गवेषणा-विधियों की प्रस्थापना के प्रतिमान निर्धारित करते हैं। इन्हीं नियमों से सैद्धान्तिक प्रसंग बनता है।

विभिन्न सिद्धांत (अथवा सैद्धांतिक प्रसंग) हमारे प्रकृति को देखने के अलग-अलग तरीके हैं। इन तरीकों को कम अथवा ज्यादा अच्छा कहा जा सकता है किन्तु सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता।

किन्हीं दो सिद्धांतों की पारस्परिक तुलना भी की जा सकती है। किंतु इस प्रकार की तुलना का आधार किसी सिद्धांत की सत्यता-असत्यता नहीं, अपितु इसका समूचा औचित्य होगा। औचित्य का निर्णय उस सिद्धांत की आभ्यान्तरिक विशेषताओं के आधार पर किया जाता है - उदाहरणत: आन्तरिक संबद्धता, सैद्धान्तिक उत्तमता, सरलता एवं सुबोधता, तार्किक फलन की विपुलता, इत्यादि के आधार पर।

स्मरण रहे कि किसी भी मानक सिद्धान्त को समूचे रूप से स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने के लिए कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है और न ही इस प्रकार की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए प्रत्येक प्रकरण में एक ही तरह के आधार दिए जाते हैं। तथापि किसी भी सिद्धांत विशेष के अन्तर्गत व्याप्तिवाक्यों की पुष्टि अथवा अपुष्टि करने के लिए, उस सिद्धांत के सापेक्ष निर्धारित सुनिश्चित मानदण्ड जरूर उपलब्ध हैं। विशेषत: अनुकूल साक्ष्य के आधार पर ही किसी सिद्धान्त विशेष के अन्तर्गत पाये जाने वाले व्याप्ति वाक्यों की पुष्टि तथा स्वीकृति होती है।

(5)

पांचवा अध्याय - वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं : इस अध्याय में चार संदर्भ हैं - (1) परिचय, (2) नियतिवाद और व्याख्या (3) अवघटन और व्याख्या, तथा (4) वर्णन और व्याख्या। हम इन चारों संदर्भों का अलग-अलग से विवरण देंगे और अपने विचार प्रकट करेंगे।

(1) परिचय - हमने ऊपर बताया है कि वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं निर्धारित करने के प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि 'वैज्ञानिक व्याख्या' - इस प्रत्यय का क्या विश्लेषण दिया गया है। जैसा विश्लेषण होगा, अर्थात् वैज्ञानिक व्याख्या का जो भी स्वरूप निर्धारित किया जाता है, उसी के आधार पर व्याख्या की परिसीमाएं भी निर्धारित की जाती हैं।

वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं क्या हैं ? इस प्रश्न के विज्ञान दर्शन में कम-से-कम तीन उत्तर दिए गए हैं। किन्तु, इन सब को समझने से पहले इस प्रश्न को स्पष्टत: समझ लेना आवश्यक है। एतदर्थ हम दो-एक बातें कहना चाहते हैं :-

पहला, यदि हम ह्यूमियन विश्लेषण को मानकर चलें तो स्पष्ट है कि किसी भी वैज्ञानिक व्याख्या में सामान्य नियमों का होना अनिवार्य है। अत: घटनाओं की, उनके किसी एक वर्णन-विशेष के सापेक्ष ही उनकी व्याख्या अथवा प्रागुक्ति हो सकती है। यदि किसी घटना विशेष को आप अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार से वर्णित करना चाहें और फिर यह भी चाहें कि नियमों के आधार पर उसकी व्याख्या अथवा प्रागुक्ति हो सके, यह सम्भव नहीं। बात यह है कि किसी भी दो विभिन्न घटनाओं को एक ही ढंग से वर्णित नहीं किया जा सकता। उन्हें दो कहना ही इस बात का प्रतीक है कि वे एक ही प्रकार की घटनाएं नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, किसी भी नियम-वाक्य के अन्तर्गत कम-से-कम दो विभिन्न घटनाओं का आच्छादित होना भी जरूरी है। अत: किसी भी घटना की यदि हम नियमाधारित व्याख्या देना चाहते हैं तो उस घटना को किसी विशेष प्रकार से लक्षित करना होता है। हम यह नहीं कह सकते कि उस घटना को किसी भी प्रकार से लक्षित करें और फिर यह चाहें कि उसकी नियमाधारित व्याख्या सम्भव हो। दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक व्याख्या तथा प्रागुक्ति, ह्यूमियन विश्लेषणानुसार हमेशा घटनाओं के कुछेक (पूर्वनिर्दिष्ठ) अंगों के सापेक्ष होती है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक व्याख्याएं सदैव परिसीमित हैं।

दूसरा, यदि हम ह्यूमियन विश्लेषण को अस्वीकार कर दें और यह कहें कि किसी घटनादि की व्याख्या करना उस घटना का ब्योरेवार वर्णन करना है तो उस स्थिति में वैज्ञानिक व्याख्याओं को हम दूसरे ही अर्थ में परिसीमित कहेंगे। अर्थात् यह कहेंगे कि वैज्ञानित व्याख्या के आधार पर घटनाओं के बारे में प्रागुक्ति करना असम्भव है ; अत: व्याख्याएं परिसीमित हैं।

वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाओं के प्रश्न पर विचार करते हुए हम दो अतिवादों से दूर रहेंगे। एक हम यह नहीं कहेंगे कि विज्ञान में व्याख्या होती ही नहीं। हमारा संबंध केवल इस प्रश्न से है कि क्या कोई इस प्रकार की घटनाएं भी हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या करना सम्भव नहीं ?

दूसरा, हम यह भी नहीं करेंगे कि वैज्ञानिक व्याख्या की कोई परिसीमाएं हैं ही नहीं। अर्थात् हम यह नहीं कहेंगे कि सृष्टि में होने वाली किसी भी घटना की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। हमारा संबंध केवल इस प्रश्न से है कि क्या कोई ऐसी (प्रेक्ष्य) घटनाएं हैं जिनकी व्याख्या करने का आशय रखते हुए वैज्ञानिक सिद्धांतत: उनकी व्याख्या कहीं कर सकता ?

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम उन तीन प्रकार की युक्तियों की समीक्षा करेंगे जिनके आधार पर वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं बांधी जाती हैं।

(2) नियतिवाद तथा व्याख्या - प्रथम युक्ति इस प्रकार है - मानवीय कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती ; क्योंकि यदि ऐसा करना सम्भव होता तो उससे यह निकलता है कि मानवीय कर्म नियत हैं, अर्थात् स्वतंत्र नहीं हैं, और यदि वे नियत हैं तो उससे यह निकलेगा कि वे ऐच्छिक नहीं हैं। परन्तु, मानवीय कर्म ऐच्छिक होते हैं। अत: उनकी वैज्ञानिक व्याख्या करना सम्भव नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि मानवीय कर्म वैज्ञानिक व्याख्या की परिधि में नहीं आते।

उपर्युक्त तर्क काफी आकर्षक है। क्योंकि यदि इसके आधार वाक्यों को सत्य मान लिया जाय तो निष्कर्ष वाक्य की सत्यता माननी ही पड़ती है। परंतु इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसके तीनों आधार वाक्यों की सत्यता संदिग्ध है।

सर्वप्रथम, तीसरे आधार वाक्य ही को लीजिए। इसके अनुसार, यदि सारे नहीं तो कम से कम असंख्य मानवीय कर्म ऐच्छिक होते हैं। इस कथन की सत्यता-असत्यता का निर्णय तथ्यों के आधार पर ही हो सकता है। परन्तु इस दिशा में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर जो भी साक्ष्य हमें मिलता है वह इसे सत्य बताने के बजाय असत्य सिद्ध करता है।

अब, पहले आधार-वाक्य पर विचार कीजिए। इसके अनुसार, व्याख्या अथवा नियतिवाद में घनिष्ट संबंध है। परन्तु इन दोनों में क्या संबंध है, इस प्रशन का उत्तर नहीं दिया गया है। और फिर यह तो अनिवार्य है नहीं कि प्रत्येक प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या के आधारभूत नियम नियतिपरक हों। वे सांख्यिकीय नियम भी तो हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त सभी वैज्ञानिक व्याख्याएं एक ही किस्म की नहीं हैं - साध्यपरक व्याख्याएं भी तो उपलब्ध हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नियतिवाद और वैज्ञानिक व्याख्या में वह संबंध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि मानवीय कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या करना ही नियतिवाद को स्वीकार करना है।

और जो लोग यह कहते हैं कि हाइजनवर्ग के 'अनिश्चितता नियम' के आधार पर सिद्ध हो जाता है कि मानवीय कर्म ऐच्छिक हैं, उन्हें इतना बता देना ही पर्याप्त है कि इस नियम के होने के बावजूद क्वांटम सिद्धांत में प्रागुक्ति सम्भव है। इस बात से यह पता चलता है कि प्रागुक्ति की सम्भावना तथा ऐच्छिक कर्म की धारणा इन दोनों में परस्पर असंगति नहीं है।

अब, दूसरे आधार-वाक्य को लीजिए। इसके अनुसार, मानवीय कर्मों के नियत होने तथा अनैच्छिक होने में परस्पर संबंध है। क्या संबंध है ? इस प्रश्न को स्पष्ट नहीं किया गया है। इसके अलावा, यह भी तो कहा जा सकता है कि नियतिवाद और मानवीय कर्मों की स्वतंत्रता की धारणा - इन दोनों में कोई भी असंगति नहीं है। इस दिशा में एरिस्टोटल तथा कान्ट के दो प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उदाहरणत:, एरिस्टोटल के मतानुसार, मानवीय कर्मों को तभी ऐच्छिक कहा जायगा जब उनके करने का कारण बाहर न होकर मनुष्य के भीतर ही होगा। इस प्रकार, आभ्यन्तर कारणों में इच्छा, अभिप्रेरणा इत्यादि शामिल होंगे। इन कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है, यह भी एरिस्टोटल को मान्य है, चाहे वह व्याख्या उस प्रकार की होगी जिसे हमने साध्यपरक व्याख्या कहा है।

कान्ट के मतानुसार, मानवीय कर्मों को घटनाएं माना गया है अत: उनकी वैज्ञानिक व्याख्या करना पूर्ण रूप से सम्भव है। तथापि, साध्यपरक व्याख्याओं को कारण-कार्य प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्याओं में अवघटित नहीं किया जा सकता। साध्यपरक व्याख्याओं का अलग से स्वतंत्र अस्तित्व है। उनकी आवश्यकता हमें उन मानवीय कर्मों की व्याख्या करने के सिलसिले में पड़ती है जिन कर्मों का संबंध नीतिशास्त्र के नियमों से होता है। कुछ भी हो, कान्ट के मतानुसार, नियतिवाद से न तो कर्मों का ऐच्छिक होना निकलता है और न ही उनका अनैच्छिक होना। इसके विपरीत, वे नियतिवाद और कर्मों के ऐच्छिक होने की धारणा को पूर्णरूप से परस्पर संगत मानते हैं।

यह सत्य है कि एरिस्टोटल और कान्ट के मतों को हम पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं करते। हमारा तात्पर्य केवल उनका निर्देश मात्र ही करना था, और यह बताना कि उपर्युक्त तर्क के दूसरे आधार वाक्य को भी नितान्त सत्य नहीं माना जा सकता।

(3) **अन्तर्भाव तथा व्याख्या** : विज्ञान (अथवा वैज्ञानिक व्याख्या) की परिसीमाओं के प्रश्न संबंधी द्वितीय युक्ति इस प्रकार है। कुछेक गोचर विषय (अथवा घटनाएं) ऐसी हैं जो कुछेक दूसरे गोचर विषयों (अथवा घटनाओं) के सापेक्ष उत्क्रमित (एमर्जेन्ट) होती हैं। ऐसी उत्क्रान्त घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या करना असम्भव है। क्योंकि यदि इनकी व्याख्या करना सम्भव माना जाय, तो उससे यह निकलेगा कि उत्क्रान्त घटनाओं का अन्तर्भाव दूसरी घटनाओं में हो सकता है। विशेषत: जीवविज्ञान का भौतिक विज्ञान में अर्न्तभाव किया जा सकता है। किन्तु, उत्क्रान्त घटनाओं का अन्तर्भाव असम्भव है। अत: कम से कम उत्क्रान्त घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। वे इस प्रकार की व्याख्या की परिधि से बाहर हैं।

इस युक्ति का तर्क काफी उलझा हुआ है। विशेषत: यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि किसी घटना के किसी अन्य घटना के सापेक्ष उत्क्रमित होने से क्या समझा जाय ? अपनी सुविधा के लिए हम उत्क्रान्ति को निम्नलिखित रूप से परिभाषित करेंगे। किसी घटना के सापेक्ष उत्क्रमित घटनाएं उन्हें कहा जायगा जो घटनाएं उस घटना में अन्तर्भूत नहीं की जा सकें।

'अन्तर्भाव' शब्द के भी कम से कम दो अर्थ हैं : (1) किसी एक प्रकार की घटना का किसी दूसरे प्रकार की घटना में अन्तर्भाव करने का अर्थ है पहले प्रकार की घटना का वर्णन करने वाले नियम-वाक्यों को दूसरे प्रकार की घटना का वर्णन करने वाले नियम-वाक्यों से तर्कत: निगमनित करना। उदाहरणत: ऊष्मा का यान्त्रिकता में अन्तर्भाव, जहां तक ऊष्मागतिकीय नियमों (जिनके द्वारा ऊष्मा का वर्णन किया जाता है) को सांख्यिकी-यांत्रिकीय नियमों से (जिनके द्वारा यांत्रिक स्थिति का वर्णन किया जाता है) निगमनित किया जा सकता है। (2) किसी एक प्रकार की घटना का किसी दूसरे प्रकार की घटना में अन्तर्भाव करने का अर्थ है पहले प्रकार की घटना को दूसरे प्रकार की घटना में विश्लेषण करना। उदाहरणत: जीवविज्ञान का भौतिकी विज्ञान में अन्तर्भाव। इस प्रकार का अन्तर्भाव इस आधार पर किया जाता है कि कोशों को अणुओं में विघटित किया जा सकता है।

इस मत से सम्बद्ध एक दूसरी धारणा भी है। वह है - विभिन्न श्रेणी स्तर की धारणा। इस धारणा के अनुसार सृष्टि में विभिन्न श्रेणी-स्तर है। प्रत्येक स्तर में अनोखापन है। अत: एक स्तर की वस्तुओं का दूसरे स्तर की वस्तुओं में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

उपर्युक्त स्पष्टीकरणों के प्रकाश में अब कहा जा सकता है कि किसी दो विभिन्न श्रेणी-स्तरों में संबंध का नाम 'अन्तर्भाव' है। 'अन्तर्भाव' शब्द के पहले अर्थानुसार, अन्तर्भाव एक तार्किक संबंध है, और इस शब्द के दूसरे अर्थानुसार यह अंश-अंशी के पारस्परिक सम्बन्ध के समान है। इसी प्रकार, 'उत्क्रमण' भी किसी दो विभिन्न स्तरों में संबंध है। (क) किसी एक स्तर के विषय को किसी दूसरे स्तर के विषय के सापेक्ष 'उत्क्रमित' कहेंगे यदि पहले वस्तुस्थिति का वर्णन करने वाले वाक्य दूसरे विषय का वर्णन करने वाले वाक्यों से निगमनित नहीं किये जा सकते। अथवा (ख) यदि एक स्तर का विषय किसी दूसरे स्तर के विषय में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता तो उस स्थिति में हम पहले स्तर के विषय के सापेक्ष 'उत्क्रान्त' कहेंगे।

वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाओं के प्रश्न के संबंध में उत्क्रान्तिवादियों का दावा है कि उत्क्रान्त घटनाओं (अथवा विषयों) की वैज्ञानिक व्याख्या करना असम्भव है। इस प्रकार की घटनाएं वैज्ञानिक व्याख्या की परिधि के बाहर हैं। ये लोग जब 'असम्भव' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका आशय नैमित्तिक असम्भवता से नहीं, अपितु सैद्धांतिक असम्भवता से होता है। इस प्रकार, स्पेन्सर, एलेग्जेण्डर, मार्गन, तथा ब्रॉड का दावा है कि उत्क्रान्त घटनाओं का अन्तर्भाव सिद्धान्तत: असम्भव है।

सी.डी. ब्रॉड के मतानुसार किसी भी वस्तु के स्थूल विशेष गुणों का उन वस्तुओं के अंशों के विशेष गुणों में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, और ना ही दूसरे प्रकार के विशेष गुणों के आधार पर पहले प्रकार के विशेष गुणों की वैज्ञानिक व्याख्या ही की जा सकती है। कारण यह है कि यदि ऐसा करना सम्भव हो तो उससे यह निकलेगा कि यदि हमारे पास किसी वस्तु के अंश उपलब्ध हों और साथ ही उन अंशों के विशेष गुणों का हमें ज्ञान हो तो उस स्थिति में उस वस्तु के स्थूल विशेष गुणों के विषय में प्रागुक्ति की जा सकती है। परन्तु यह असम्भव है, क्योंकि यदि हमें 'नीलत्व' के उदाहरणों का अनुभव न होता अर्थात् यदि हमने नीले रंग की वस्तुएं नहीं देखी होतीं, तो उस स्थिति में हम 'नीलत्व' की

अवधारणा ही नहीं कर सकते थे। अत: ब्रॉड के मतानुसार किसी वस्तु के सूक्ष्म विशेष गुणों तथा उनके ढांचे संबंधी प्रेक्ष्य साक्ष्य के आधार पर हम यह कदापि नहीं बता सकते कि उस वस्तु का रंग क्या होगा ? अथवा, वह वस्तु नीली होगी कि नहीं ?

लैम्बर्ट और ब्रिट्टन ने ब्रॉड की ऊपरिलिखित धारणा का खण्डन किया है। उनके मतानुसार, ब्रॉड के तर्क में 'अन्तर्भाव' के उपर्युक्त दो विभिन्न अर्थों को एक-दूसरे से उलझा दिया गया है। यदि इन दो अर्थों को एक-दूसरे से अलग-अलग रखा जाये तो उस स्थिति में स्पष्ट हो जायेगा कि ब्रॉड की धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि तब हम आण्विक-यांत्रिकीय सिद्धान्तों को, 'अन्तर्भाव' शब्द के दूसरे यानि विघटन के अर्थ में अन्तर्भावात्मक और व्याख्याकारी दोनों कह सकते हैं।

उत्क्रान्तिवादी एक दूसरा तर्क देते हैं। इस तर्क का संबंध 'अन्तर्भाव' शब्द के दूसरे अर्थ, यानि विघटन से है। तर्क इस प्रकार है : जिन्हें हम आनुषंगिक गुण कहते हैं, अर्थात् रंग, ध्वनि, रस, गन्ध, उष्ण तथा शीत, उनका प्राथमिक गुणों, अर्थात् रूप, आकार तथा गति में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा करना आनुषंगिक और प्राथमिक गुणों में तादात्म्य दिखाना है। परन्तु यह असंभव है। उदाहरणत: आनुषंगिक गुण अदेशीय होते हैं जबकि प्राथमिक गुण देशीय होते हैं। इन दो विभिन्न, परस्पर असंगत, प्रकार के गुणों का एक-दूसरे से तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

लैम्बर्ट और ब्रिट्टन के मतानुसार उपर्युक्त तर्क एक भ्रांति पर आधारित है। विशेषत: इस तर्क में अन्तर्भाव तथा तादात्म्य - इन दो प्रत्ययों में विवेक नहीं किया गया है। अन्तर्भाव का अर्थ तादात्म्य नहीं है। इन दो प्रत्ययों में विवेक न करना ही उत्क्रान्तिवादियों के तर्क की भ्रांति है। जब हम किसी एक विशेष गुण का किसी दूसरे विशेष गुणों में अन्तर्भाव करते हैं, अर्थात् विघटित करते हैं, तो उस स्थिति में पहले प्रकार के विशेष गुणों का दूसरे प्रकार के विशेष गुणों से तादात्म्य स्थापित नहीं होगा। अपितु एक का स्थान दूसरे गुण ले लेंगे। दूसरे शब्दों में, अन्तर्भाव अथवा विघटन के फलस्वरूप स्थानापन्न होता है, तादात्म्य नहीं।

(4) वर्णन तथा व्याख्या - वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाओं के प्रश्न पर तृतीय तर्क इस प्रकार है। वैज्ञानिक व्याख्या सदा ही किसी विशेष वस्तु के कुछेक विशेष गुणों के सापेक्ष ही होती है। ऐसी व्याख्या करते हुए कुछेक दूसरे विशेष गुणों को ध्यान में नहीं लिया जाता। परन्तु किसी वस्तु के स्वरूप को पूर्ण रूप से समझने के लिए इन दूसरे विशेष गुणों का तिरस्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे उस वस्तु के अभिन्न, अनिवार्य अंग है। अत: वैज्ञानिक व्याख्या, जिसमें किसी वस्तु को सर्वांगीणतया नहीं लिया जाता, परिसीमित ही मानी जायगी। कहने का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक व्याख्याएं अनिवार्यत: अपूर्ण होती हैं। उनसे कुछ -न-कुछ तो अवश्य ही छूट जाता है। उदाहरणत: वैज्ञानिक व्याख्याओं में केवल मात्रात्मक गुणों पर ही ध्यान दिया जाता है, अमात्रात्मक गुणों को छोड़ दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, इस तर्क के अनुसार अमात्रात्मक गुणों की व्याख्या सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त तर्क के विरोध में दो ही बातें कहना पर्याप्त हैं। पहली बात यह है कि वैज्ञानिक व्याख्या के हमारे विश्लेषण से वह अनुमान नहीं निकलता जो वास्तव में इस तर्क के अनुयायी उससे निकालना चाहते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि व्याख्याकारी नियमों के माध्यम से हम किसी भी वस्तु का नि:शेष वर्णन नहीं कर सकते। उनका संबंध व्याख्याधीन वस्तु के कुछेक निर्दिष्ट अंगों अथवा विशेष गुणों से होता है। फलत: यह स्वाभाविक ही है कि उस वस्तु के कुछेक दूसरे अंग अथवा विशेष गुण छूट जाते हैं। किन्तु व्याख्याओं संबंधी यह स्थिति उसका दोष नहीं, अपितु गुण ही मानना चाहिए।

दूसरी बात यह है, जैसा कि हाइजनवर्ग ने स्पष्ट किया है, यदि किसी सिद्धान्त के द्वारा किसी प्रकार की वस्तुओं के विशेष गुणों की सच्ची व्याख्या सम्भव है तो उस स्थिति में यह कदापि सम्भव नहीं कि उस सिद्धान्त की शब्दावली वही हो जो उस वस्तु के विशेष गुणों की है। उदाहरणत: यह कहना कि कोई वस्तु उसी रंग की है जो रंग उस वस्तु के अंशों का है, उस वस्तु की वैज्ञानिक व्याख्या करना नहीं बल्कि उसे टाल देना है। विज्ञान के इतिहास से भी यह बात स्पष्ट होती है कि किसी वस्तु के व्याख्याकारी विशेष गुणों को उसके व्याख्याधीन विशेष गुणों से अलग ही होना चाहिए।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है - और यही लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन का अपना मत है - कि उपरिनिर्दिष्ट तीन तर्कों के आधार पर वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं निर्धारित नहीं की जा सकतीं। वास्तविकता तो यह है कि वैज्ञानिक व्याख्या का क्षेत्र निस्सन्देह अपरिसीमित है।

***

सम्बन्धित ग्रंथों एवं प्रबन्धों की सूची -

1. *'Armstrong, D.M., A Materialist Theory of the Mind, Routledge and Kegan Paul Ltd. London; 1968*
2. *Frege, Gottlob, The Foundations of Arithmatic, translated by J.L. Austin, Harper & Bow, Publishers, New York; 1953*
3. *Goodman, Nelson, Fact Fiction, and Forecast, The Bobbs-Merrill Company, Inc., Indianapolis, Indiana; 1965*
4. *Hanson, N.R., Patterns of Discovery, Cambridge University Press, London, 1958*
5. *Hempl, Carl G., and Oppenheim, Paul, "Studies in the logic of Explanation" Philosophy of Science, 15 (1948); pp. 135-75. Reprinted in Readings in the Philosophy of Sciences (ed. Baruch A. Brody), Prentice-Hall, Inc. Englewood Cliffs, N.J., 1970; pp. 8-27*
6. *Hempel, Carl G., "A Purely Synatactical Definition of confirmation ?" Journal of symbolic Logic, VIII (1943); pp 122-43; and "studies in the logic of confirmation", Mind, LIV (1945); pp.1-26*
7. *Quoted by Hermann Weyl, in his book Philosophy of Mathematics and Natural Science (Princeton University Press, Princeton, N.J. 1949)*
8. *Kemeny, J.G., A Philosopher looks at Science, Van Nostrand Reinhold Co., New York; 1959.*
9. *Lambert, Karel, and Gordon G, Brittan, Jr. An Introduction to the Philosophy of Science, Prentice-Hall, Inc., Englewood cliffs, N.J., 1970*
10. *Lambert, Karel, "Free Logic and the concept of existence", Notre Dame Journal of Formal Logic, Vol. VIII (April, 1967); pp. 135-41.*

9

फिनोमिनोलोजिकीय दर्शन-प्रणाली*

यशदेव शल्य

यहां मैंने किसी एक पुस्तक को आधार बनाने के बजाय दो पुस्तकों से लेखों का चयन किया है - (1) फिनोमिनलोजी में से चार लेख लिये हैं और "फिनोमिनलोजी क्या है" में से दो लेख लिये हैं*। प्रथम पुस्तक में से निम्न चार लेखों का संक्षिप्त सार दिया गया है - "फिनोमिनलोजी क्या है" ले. मॉरिस मार्ल्यू पोंटी, (2) "पूर्वमान्यतारहित दर्शन का आदर्श" ले. मार्विन फार्बर, (3) "अन्तर्विषयिता" ले. क्वेंटन लायूर (4) फिनोमिनलोजी तथा अस्तित्ववाद : विषयापेक्षता पर हुस्सर्ल तथा सार्त्र के विचार, "ले. मॉरिस नटांसन। दूसरी पुस्तक में से संकलित लेख हैं - (1) "डेकार्ट तथा हुस्सर्ल में मूलगामी आरंभ-बिन्दुओं का अन्तर" और (2) "आन्तरबोध तथा आत्म की चेतना।" इस प्रकार मैंने एक ओर "फिनोमिनलोजी" के अधिकांश लेख छोड़ दिये हैं और दूसरी ओर एक अन्य पुस्तक से दो लेख लिये हैं। ऐसा दो कारणों से किया गया है - प्रथम, तेवनाज़ के दो संकलित लेख फिनोमिनलोजिकीय दर्शन-प्रणाली में एक भिन्न तथा महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण को सम्मुख लाते हैं। एक प्रकार से ये सार्त्र तथा मार्ल्यू पोंटी से विपरीत दिशा में उन्मुख हैं, जबकि हुस्सर्ल को मध्य में रखा जा सकता है। "फिनोमिनलोजी" के अधिकांश लेख इसलिये छोड़ दिये गये हैं क्योंकि ये छ: लेख इस दर्शन-प्रणाली का एक विहंगम दृश्य प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त हैं।

फिनोमिनलोजिकीय दर्शन-प्रणाली का प्रवर्तक जर्मन दार्शनिक हुस्सर्ल को माना जाता है। किन्तु इस प्रणाली के दार्शनिक अपने पूर्वजों के रूप में डेकार्ट, हेगल और बर्गसां को भी देखते हैं। जो भी हो, एक निश्चित विधि-प्रणाली-के रूप में सजगरूप से इसका सूत्रपात और विकास हुस्सर्ल ने ही किया। हमारे देश में यह प्रणाली बहुत कम परिचित है, अधिकांशत: इसके नाममात्र से ही परिचय है। इसका कारण हमारा अंग्रेजी-अमरीकी दर्शनों के प्रभाव में होना है। इन दो देशों में प्रत्यक्षवाद और वैज्ञानिकतावाद का ही प्राधान्य रहा है। इसलिये हमारे लिये भी यही दार्शनिक मत एक मान्य मत रहा

---

* *संकलित लेख*

1. *Phenomenolgy, ed. Joseph J. kockelmans, Anchor Books, 1976*
2. *What is Phenomenology, By Peirre The'venaz, auadrangle Books, Chicapc, 1962*

1. *What is Phenomenology, Maurice Merleau Ponty.*
2. *Ideal of a Presuppositionless Philosophy, Marvin Farber.*
3. *InterSubjectivity, Quentin Lauer.*
4. *Phenomenology and Existentialism, Maurice Natanson.*
5. *The Question of the Radical Point of Departure in Descartes and Husserl.*
6. *Reflection and Consciousness of Self.*

है और इसके अनुसार ही हमने फिनोमिनलोजी-दर्शन-प्रणाली की भावनापरक, अस्पष्ट एवं अतार्किक-धारणापरक दर्शन-प्रणाली माना है। इसी कारण हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसकी उपेक्षा हुई है और इसी से हमारे विचारकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। जिन्होंने कभी इस पर, अथवा अस्तित्ववाद पर (जिसका नाम हमारे साहित्यिक क्षेत्रों में बहुत आकर्षण का विषय है) कुछ लिखा भी है वह अधिकांशत: या तो सतही है या भ्रामक है, अथवा दोनों है। यहां लिखने के लिये इस विषय को मैंने मुख्यत: इसीलिये चुना। दूसरा कारण इधर के मेरे विचारों की इस दार्शनिक प्रणाली से निकटता है, जिसका पता मुझे केवल एक-डेढ़ वर्ष पूर्व ही चला। यदि मैं "ज्ञान और सत्" तथा "संस्कृति : मानव-कर्त्तृव्य की व्याख्या" पुस्तकें लिखने से पहले इस दर्शन-प्रणाली से परिचित होता तो इन पुस्तकों का रूप कुछ भिन्न होता। इनकी पदावली वास्तव में अंग्रेजी-अमरीकी दर्शन-प्रणाली के ही अधिक निकट है, यद्यपि प्रतिपाद्य उससे बहुत भिन्न है। वह फिनोमिनलोजिकीय-दर्शन-प्रणाली के बहुत अधिक अनुरूप है।

जैसाकि हमने कहा, फिनोमिनलोजी-दर्शन-प्रणाली का प्रवर्तन हुस्सर्ल ने किया। उसकी सृजन-वासना इतनी प्रबल थी कि वह चालीस हजार से अधिक पृष्ठ लिख कर भी कभी सन्तुष्ट नहीं हुआ और निरन्तर खोजता रहा। इन अनेक कृतियों में इस दार्शनिक का एक ही मूल-बोध अपने अन्वेष्य का निरन्तर सन्धान करता हुआ दिखाई देता है। तेवनाज के शब्दों में, हुस्सर्ल की प्रथम चिन्ता तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान का पृथक्करण थी, किन्तु वह तर्कशास्त्र तथा फिनोमिनलोजी के आधारों की खोज में निरन्तर मनोविज्ञान तथा चैतन्य के विश्लेषण में प्रवृत्त रहा। इसी प्रकार, यद्यपि वह एक वस्तुवादी (रीयलिस्ट) दार्शनिक था जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के नव्यकांटीय विज्ञानवाद (आइडियलिज़्म) के विरोध में "विषय की ओर लौटने" तथा "स्वलक्षण वस्तु की ओर लौटने" का नारा दिया, किन्तु तब भी जिसके दार्शनिक चिन्तन का मुख्य अभिनिवेश द्रष्टा विषयी एवं चैतन्य का विवेचन-विश्लेषण तथा अतिक्रान्त विज्ञानवाद (ट्रांसेंडेंटल आइडियलिज़्म) की स्थापना रहा। आधारों की खोज में वह चैतन्य के विश्लेषण की ओर उन्मुख रहा। किन्तु यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हो सकता था, क्योंकि मनोविज्ञान पूर्ण वास्तवता (एब्सोल्यूट ऑब्जेक्टिविटी)[1] और परिणामत: विज्ञान के निरपेक्ष आधार प्रस्तुत करने में असमर्थ है। परिणामत: हुस्सर्ल चैतन्य के एक भिन्न प्रकार के विश्लेषण में प्रवृत्त हुआ, क्योंकि उसका चैतन्य के विश्लेषण का प्रयोजन ज्ञानमीमांसा और तर्कमीमांसा के आधारों की खोज करना था। अत: यह विश्लेषण फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण था। यह विश्लेषण मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक विश्लेषण से किस अर्थ में भिन्न है ? फिनोमिनलोजिक दार्शनिक तर्कशास्त्री के समान सत्य निर्णयों अथवा प्रतिज्ञप्तियों की कारक अवस्थाओं (कंडीशन्स) का अध्ययन नहीं करता, न मनोवैज्ञानिक के समान यही अध्ययन करता है कि निर्णयों के समय चेतना में क्या घटित होता है। इसके विपरीत वह तात्कालिक रूप से अनुभव को मूक कर देता है, वस्तुगत सत् के प्रश्न को स्थगित कर देता है, जिससे चैतन्याहित (चैतन्य में निहित) सत् के रूप पर दृष्टि केन्द्रित की जा सके और विषयों को चैतन्य की अपेक्षाओं-आक्षेपों (इंटेंशंस)[2] के रूप में देखा जा सके। इस प्रकार उसका प्रश्न होता है:- हमारा क्या अभिप्राय होता है जब हम निर्णय करते हैं, स्वप्न देखते हैं, जीते हैं आदि ! किन्तु इसका अभिप्राय प्रत्ययात्मक (आइडियल) विषय-विधान (ऑब्जेक्टीफिकेशन) नहीं है, जो हमें मनोविज्ञान के स्तर पर रख देता है, न प्रत्ययात्मक सत्तावाद है, जो चैतन्य के प्रदत्तों का ठोस मूर्त्तीकरण करता है, यह फिनोमिना है। यह फिनोमिना क्या है ? इसे समझने के लिये पहले प्रतिभास और सत् के कांट-कृत भेद को भूलना आवश्यक होगा, क्योंकि फिनोमिनलोजी सत् का स्थगन[3] (रिडक्शन) करती है, परिणामत: यह उसे फिनोमिना के विपरीत के रूप में स्थापित नहीं कर सकती, क्योंकि स्थगन न सत् का प्रतिषेध है और न

किसी रूप में-अनुरूप या प्रतिरूप-स्वीकार है। फिनोमिनलोजी के लिये फिनोमिना वह है जो चेतना में अव्यवहित रूप से व्यक्त होता है, यह ऐसे सहज बोध में ग्रहण होता है जो किसी भी प्रकार के विकल्प (कंस्ट्रक्शन) अथवा निर्णय से प्राक् होता है। यह केवल अपने को प्रकाशित करता है। फिनोमिना वह है जो अपने को प्रस्तुत करता है, इसलिये फिनोमिना फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण और ज्ञान की अन्तर्वस्तुओं (कांटेंट्स) के मूल्य और सत् की ओर ध्यान नहीं देता, जोकि दर्शन की अबतक मुख्य प्रेरणा रही है, बल्कि शुद्ध अपेक्षाओं-अभिप्रायों-के रूप में जिस प्रकार चेतना में प्रकाशित होते हैं उस रूप में उनका तटस्थत: वर्णन करता है। इस प्रकार,विषय एकसाथ एक ओर प्रस्तुत के रूप में देखे जाते हैं और दूसरी ओर अभिप्रेत-अपेक्षागत के रूप में। पुन:, ये एकसाथ एक ओर स्वायत्त और दूसरी ओर आक्षिप्त-दिये गये सत्त्व वाले-हैं। किन्तु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि फिनोमिनलोजिकीय दार्शनिक इनके सत् असत्, निरपेक्षता-सापेक्षता आदि विषयक प्रश्नों से तटस्थ रहकर चेतना की वृत्तियों का वर्णन करता है। इसका प्रयोजन आगे क्रमश: स्पष्ट होगा।

ऊपर हमने "इंटेंशन" की व्याख्या देने का प्रयत्न किया। यहां हम बहुत संक्षेप में एक अन्य महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक पद "रिडक्शन" का अर्थ स्पष्ट करेंगे। यह पद इस दर्शन में 'इंटेंशन' के साथ केन्द्रीय महत्त्व का है। इसका अर्थ है विश्व को फिनोमिना-विषय-विश्व- के रूप में (विश्व में किसी प्रकार के विषय के रूप में नहीं) प्रस्तुत होने की स्वीकृति देना, अथवा कहें, इसके उस विधा में अवगत होने के लिये अपने को उन्मुख करना। 'रिड्यूस करने' का अर्थ निरास करना या सन्देह करना नहीं है, इसका प्रयोजन विश्व तथा चैतन्य के बीच उस मौलिक सम्पर्क को व्यक्त करना है जो सम्पर्क की प्राकृतिक-लौकिक-अभिवृत्ति में अस्पष्ट रहता है। रिडक्शन में विश्व यथावत् रहता है, किन्तु अब चेतना-दृक्-का इससे इतना सामीप्य नहीं होता कि वह इसका आशय ही नहीं समझ सके। वह अब इसका आशय ग्रहण करने के लिये इससे अपना विच्छेद घटित करती है, वह इससे निवर्तित होती है, और तब इसको इसके स्वरूप में पुन: प्रतिष्ठा देती है। इस प्रकार रिडक्शन वास्तव में लोकसुलभ अभिवृत्ति का स्थगन है, स्वयं विषय के सत्त्व (बींग) का स्थगन या प्रतिषेध नहीं है। विषयगत सत्त्व का स्थगन केवल परोक्षरूप से, तद्विधायक अभिवृत्ति के प्रतिषेध द्वारा, होता है।

हुस्सर्ल की स्थिति के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त प्राक्कथन के पश्चात् हम एक मौलिक फिनोमिनलोजिक चिन्तक मार्ल्यू पोंटी के लेख "फिनोमिनलोजी क्या है" के माध्यम से इस दर्शन-प्रणाली के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे। उनका यह लेख मूलत: उनकी पुस्तक "फिनोमिनलोजी ऑफ पर्सेप्शन"[4] से संकलित किया गया है।

फिनोमिनलोजी क्या है -

पोंटी के अनुसार, हुस्सर्ल की प्रथम कृतियों के प्रकाशन के 50 वर्ष बाद (और अब प्राय: बीस वर्ष और बाद) भी इस प्रश्न का प्रासंगिक बने रहना, कि फिनोमिनलोजी क्या है, और इसका कोई एक निश्चित और सम्यक् उत्तर नहीं दिया जा सकना, आश्चर्यजनक हो सकता है। एक ओर फिनोमिनलोजी धर्मों (एस्सेंसिज) का अध्ययन करती है, अर्थात् यह किसी भी विवेच्य विषय के धर्म को, स्वभाव को, परिभाषित करने का प्रयत्न करती है, किन्तु दूसरी ओर धर्मों का, धर्मसद्भाव का, निषेध कर अस्तित्व की, विशिष्ट की, घटना की, पूर्वता स्थापित करती है। इस प्रकार इसके अनुसार, जगत् एवं मनुष्य को इनकी तथ्यता के द्वारा समझा जा सकता है, धर्म-स्वभाव-के द्वारा नहीं। इसी प्रकार, यह एक ओर एक अतिक्रान्तवादी (ट्रांसेंडेंटलिस्ट) दर्शन है और परिणामत: हमारे सहज प्राकृतिक विश्वासों और निर्णयों (जजमेंट्स) को, उनके सम्यक् अवगमन के लिये, स्थगित अथवा अपवारित करता है, किन्तु दूसरी ओर इस दर्शन के लिये जगत् निरपेक्षत: और "पूर्वत:" विद्यमान है। फिनोमिनलोजी का सम्पूर्ण प्रयत्न

इस लोकधारणा के जगत् को नये सिरे से प्रतिष्ठित करना तथा एक दार्शनिक आधार देना है। इस दर्शन का लक्ष्य "सम्यक् विज्ञान" होना है, किन्तु उतना ही यह देश, काल और विश्व का भी, उनके अनुभूत रूप में, जीये गये रूप में, आकलन करना चाहता है। एक ओर यह अनुभव का मनोवैज्ञानिक, अथवा अन्य किसी प्रकार की कारणात्मक व्याख्या से निरपेक्ष, अव्यवहित रूप में वर्णन करना चाहता है और दूसरी ओर हुस्सर्ल ने अपनी अंतिम कृतियों में "जननात्मक फिनोमिनलोजी" (जेनेटिक फिनोमिनलोजी) अथवा "रचनात्मक फिनोमिनलोजी" की बात भी की है। मार्ल्यू पोंटी के अनुसार यह विरोधाभास स्वयं हुस्सर्ल में विद्यमान हैं।[5]

अब, फिनोमिनलोजी क्या है ? पोंटी के अनुसार, फिनोमिनलोजी कोई सिद्धान्त विशेष नहीं है, यह कोई मत भी नहीं है, यह फिनोमिनलोजिकीय विधि है। इस विधि का प्रथम सूत्र है कि दर्शन का कार्य व्याख्या देना अथवा विश्लेषण करना नहीं है बल्कि वर्णन करना, विवरण देना, है। व्याख्या मुझे और विश्व को सिद्धान्तसापेक्ष बना देती है, किन्तु मैं वास्तव में अपने को मनोविज्ञान, जीवविज्ञान अथवा रसायन विज्ञान आदि की व्याख्याओं से पूर्व जानता हूँ, बल्कि व्याख्याएं मेरे लिये जो कुछ अर्थ रखती हैं वह इस अव्यवहित अनुभव से ही उधार लिया गया होता है। इस प्रकार सब विज्ञान मेरे अपने और विश्व के अनुभव की न्यूनतर अभिव्यक्तियां हैं-खंडित और परोक्ष। विज्ञान कभी भी सत्ता (बींग) का वह ठोसपन अधिगत नहीं कर सकता जो प्रत्यक्ष को प्राप्त है, क्योंकि विज्ञान इस प्रत्यक्ष के ही निर्धारण और व्याख्या का प्रयत्न करता है। मेरा अस्तित्व विज्ञान, इतिहास और परिवेश पर निर्भर नहीं करता, बल्कि यह उनकी ओर अभिमुख होता और उनको धारण करता है।

किन्तु विषयी (द्रष्टा) अथवा चैतन्य की इस प्राथमिकता का यह प्रतिपादन न डेकार्टीय है और न काण्टीय, विज्ञानवाद (आइडियलिज्म) से तो यह कोसों दूर है। वास्तव में फिनोमिनलोजिक दार्शनिक 'प्रत्ययवादी' अभिधा को अपने पर सब से गंभीर आरोप मानेगा।

डेकार्ट और कांट के दर्शनों में चैतन्य और विश्व के बीच पारस्परिकता का सम्बन्ध नहीं है, यदि यह होता तो डेकार्ट के दर्शन में ज्ञान के साथ ही विश्व की प्रामाणिकता भी प्रदत्त होती, न ही काण्ट तब कोपर्निकीय क्रांति की बात करता। डेकार्ट को विश्व की प्रामाणिकता के लिए ईश्वर की सदाशयता का आश्रय लेना पड़ा और कांट को विश्व की रचना विषयी (द्रष्टा) में निहित अनुभव की संभावना (पूर्वापर अनुभव का संश्लेष-विधान कर सकने वाली कल्पना) के द्वारा करनी पड़ी। हुस्सर्ल ने कांट के विषयिमूलक विश्लेषण के विपरीत, जोकि विश्व को विषयी की संश्लेषणात्मक क्रिया पर निर्भर बना देता है, विषयमूलक चैतन्य (नोएमैटिक रीफ्लेक्शन) को स्वीकार किया। यह चैतन्य विषय को विकल्प बुद्धि (अंडरस्टैंडिंग) के द्वारा संवेदों पर आरोपित नहीं करता, बल्कि विषय रूप में अपने को प्रतिफलित करता है।

हुस्सर्ल के अनुसार, जैसा कि पोंटी उसे समझता है, वास्तव (वस्तु-स्वभाव) का वर्णन अपेक्षित है, उसकी रचना अथवा व्याख्या नहीं। व्याख्याएं सापेक्ष होती हैं, इनका व्याख्येय पर (और व्याख्येय का व्याख्या पर) आश्रित होना अनिवार्य है। यदि मेरे प्रत्यक्षों की वास्तवता एक आन्तर समंजसता (इनर काहरेंस) पर आश्रित होती तो मेरे लिये एक निरन्तर सन्देह की स्थिति अनिवार्य हो जाती, मुझे प्रतिक्षण भ्रमात्मक संश्लेषणों का निरास करते रहना पड़ता और असमंजस प्रत्यक्षों का, जिन्हें मैंने अवास्तव मानकर पहले छोड़ दिया था, वास्तव के साथ समायोजन करने के लिये प्रयत्नशील रहना पड़ता। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है। वास्तव अथवा विश्व हमारी स्वीकृति की प्रतीक्षा नहीं करता, सत्य का निवास अन्तरात्मा में नहीं होता, मनुष्य अपने को पाने से पूर्व अपने को विश्व में पाता है।

इस प्रकार फिनिमिनलोजिकीय वास्तवतावाद का प्रतिपादन करने के पश्चात् पोंटी फिनोमिनलोजिकीय स्थगन (रिडक्शन) की व्याख्या करता है, जो कि इस दर्शन-प्रणाली की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा केन्द्रीय अवधारणा है। इस प्रश्न पर हुस्सर्ल ने सबसे अधिक विचार किया है। पोंटी के अनुसार, स्थगन को हुस्सर्ल ने अतिक्रामी चैतन्य की ओर निवर्त्तन के रूप में प्रस्तुत किया है, जिस चैतन्य के सम्मुख विश्व पूर्ण पारदर्शी होकर वितत है, प्रसारित है। स्थगन साधारण विश्वास के विषयों की वास्तवता का, अथवा कहें, प्राकृतिक विश्व की वास्तवता का, क्षय है, अपवारण है, जिसका अर्थ है कि उसे अपनी प्रतिष्ठा पुन: प्राप्त करने के लिये चैतन्य के अर्थों से मंडित होना होता है।

ऐसा स्थगन उचित रूप से अतिक्रामी विज्ञानवाद (ट्रांसेंडेंटल आइडियलिज़्म) परक है, जो विज्ञानवाद विश्व को मूल्य (पुरुषार्थ) के ऐसे एकत्व के रूप में देखता है जो राम और श्याम द्वारा विभक्त नहीं किया जा सकता। इस विश्व में संवाद (भावों-विचारों का आदान-प्रदान) कोई समस्या नहीं, क्योंकि राम के अनुभव और प्रत्यक्ष उसके तथ्य नहीं हैं और न श्याम के प्रत्यक्ष उसके निजी हैं। चैतन्य के रूप में मेरा न कोई देश या काल में विशेष स्थल है और न कोई विशेष नाम है। हम सब एक महा सामान्य में सहभागी हैं।

किन्तु हुस्सर्ल के लिये अन्य व्यक्ति का भी अस्तित्व है और अतएव वह एक समस्या है तथा अन्य आत्म (विषयी) एक विरोधाभास है - यदि अन्य व्यक्ति का अपना निजी, मेरे से निरपेक्ष, अस्तित्व है, यदि हम एक-दूसरे के लिये हैं, तब यह आवश्यक है कि हम एक-दूसरे को दिखाई दें, मेरा अपने को और उसका उसको अवगमन होने के अतिरिक्त हमें परस्पर का भी ग्रहण हो। तब स्वभावत: ये दो परिप्रेक्ष्य एक-दूसरे के सहावस्थित नहीं हो सकते, क्योंकि तब यह "मैं" नहीं होऊंगा जो "उसे" दृष्टिगत होगा और न यह "वह" होगा जो मुझे दृष्टिगत होगा। इसके लिये आवश्यक है कि मैं अपना बाह्याकार होऊं और वह अपना शरीर हो। यह तभी संभव है यदि दर्शन '। आत्म में निवर्त्तन।' में अपनी पूर्णता नहीं देखे और यदि मैं आत्मचिन्तन में अपने को ही नहीं विदेशी द्रष्टा को भी उपस्थित पाऊं।

अब तक चिति (कोजिटी) के द्वारा अन्य व्यक्ति का अवमूल्यन ही हुआ था, क्योंकि इसके द्वारा मैं उस प्रत्यय से परिभाषित होता था जो केवल मुझे प्रदत्त हो सकता है। किन्तु यदि "अन्य व्यक्ति" शब्द को एक निरर्थक ध्वनि नहीं होना है तो मेरे अस्तित्व को "मेरे अस्तित्व की चेतना" तक सीमित नहीं होकर अन्य उपस्थिति की चेतना का भी उसमें समावेश करना होगा - यह आवश्यक होगा कि चिति मेरा परिस्थिति में ग्रहण करे। चिति वास्तव में आत्म को एतत् के विपरीत के रूप में नहीं पाती और न यह विश्व को प्रत्यय तथा अर्थ के रूप में पाती है। इसके विपरीत, यह मेरे प्रत्यय को एक नितान्त असन्दिग्ध तथ्य के रूप में तथा आत्म को विश्व-को-प्रस्तुति के रूप में पाती है।

इस प्रकार चिति (कोजिटो) का विश्वोन्मुखता के रूप में निरूपण करने के पश्चात् पोंटी फिनोमिनलोजी के केन्द्रीय सिद्धान्त स्थगन (रिडक्शन) का आशय स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार, विश्व के साथ हमारा सम्बन्ध इतना घनिष्ट तथा सहज है कि इसे देखने का एकमात्र उपाय इसे स्थगित करना है। हुस्सर्ल के एक सहयोगी यूजेन फिंक के शब्दों में, यह स्थगन "विश्व के सम्मुख विस्मय" है, यह विश्व से, उसके सम्यग्दर्शन के लिये, विलग होना है। विश्व का "एतत् अहं न" के रूप में, एक समस्या और अतिक्रान्तता के रूप में, केवल इसी से बोध संभव है। इस प्रकार फिनोमिनलोजी के अनुसार, चित् (रीफ्लेक्शन) अपने को अचित् पर निर्भर पाता है जोकि इसका आदि, स्थायी तथा अन्तिम अधिष्ठान है। इस प्रकार फिनोमिनलोजिकीय स्थगन, पोंटी के अनुसार, प्रत्ययवादी (आइडियालिस्टिक)[6] दर्शन का सूत्र नहीं होकर अस्तित्ववादी दर्शन का सूत्र है।

किन्तु हुस्सर्ल के दर्शन में धर्मों (एस्सेंसिज) का प्रत्यय भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है, जो प्रकटत: उसे प्लेटोवाद के निकट ला देता है। किन्तु हुस्सर्ल तथा अन्य फिनोमिनलोजिवादी दार्शनिक प्लेटोवाद के घोर विरोधी हैं। इसकी व्याख्या करते हुए पोंटी कहता है कि धर्मों का प्रत्यय हुस्सर्ल के दर्शन में अतिक्रामी स्थगन (ट्रांसेंडेंटल रिडक्शन) के प्रत्यय से निकटरूप से सम्बन्धित है। उसके अनुसार, स्थगन के लिये अतिक्रामी होना जितना आवश्यक है उतना ही धर्मात्मक-प्रत्ययात्मक (ईडैटिक) होना भी आवश्यक है। अर्थात् जब तक हम विश्व से अपने वासनात्मक सम्बन्ध का विच्छेद नहीं करते तबतक उसका दार्शनिक विवेचन सम्भव नहीं है। इस प्रकार तथ्यात्मक अस्तित्व वासनात्मक अस्तित्व है, यह हमें विश्व में आविष्ट रखता है, इसके विपरीत धर्मात्मक अस्तित्व इस आविष्टता की समाप्ति से ही सम्भव होता है। इस प्रकार धर्म विश्व के अभिज्ञान के साधन हैं, क्योंकि विश्व के तथ्यरूप से अधिगमन के लिए आवश्यक है कि वह प्रत्यय का माध्यम स्वीकार करें।

किन्तु यहां द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल के ये धर्म केवल सामान्यत्मक नहीं हैं। वियेनीय तार्किक प्रत्यक्षवादियों के विपरीत हुस्सर्ल आत्म अथवा चैतन्य को शब्दार्थ का फलन नहीं मानता, उनके विपरीत वह शब्दार्थ को मूक (शब्द-प्राक्) अनुभव द्वारा अपने अर्थ को अभिव्यक्ति का व्यापार मानता है। इस प्रकार हुस्सर्ल के धर्म अनुभव के साथ अपना सजीव सम्बन्ध बनाए रखते हैं। मूल चैतन्य (प्रीमोडियल कांश्यनेस) की मूकता (निश्शब्दता) के अन्तर्गत न केवल शब्दों के अर्थ ही जन्मते हैं बल्कि वस्तुओं के अर्थों का भी उदय होता है। सार्थकता की इस मूल धुरी के चारों ओर ही नामकरण तथा अभिव्यक्ति के व्यापार संगठित होते हैं। इसी प्रकार, चेतना के धर्म को खोजना किसी अवस्तु-विश्व को साधना नहीं है, यह विश्व में अपनी समर्थ विद्यमानता को पुन: प्राप्त करना है। यह शब्दगत प्रत्यय को पाना नहीं है बल्कि यह सब निर्धारणों और व्याख्याओं के पूर्वग सत् को पाना है। इसीलिये यह विश्व को हमारी चेतना के पसारे के रूप में देखना नहीं है, बल्कि उसे उसके निरपेक्षरूप में ग्रहण करना है। क्योंकि विश्व का अन्तर्भाव चैतन्य की अवस्तुओं के रूप में करने में, और सत्य तथा स्वप्न में भेद किसी कसौटी के आधार पर करने में विश्व का निरसन हो जाता है।[7] किन्तु यदि "सत्" और "स्वप्नगत" की चर्चा सार्थक है, यदि सत् में सन्देह किया जा सकता है, तो इसका अर्थ है कि मेरे लिये ये भेद मेरे विचार से पूर्व विद्यमान हैं - सत् और मिथ्या का भेद मेरे अनुभव के मूल में स्थित है। प्रत्यक्ष के द्वारा हम विश्व-सत्य के अन्तर में स्थित होते हैं, प्रमाण "सत्य का अनुभव" है।

इस सन्दर्भ में फिनोमिनलोजी-दर्शन की विषयापेक्षा (इंटेंश्नेलिटी) की अवधारणा का विवेचन प्रासंगिक होगा। फिनोमिनलोजी की यह अवधारणा संभवत: सब से अधिक आधारभूत है। 'विषयापेक्षा' का आरंभिक अर्थ है : "चैतन्य केवल विषय-चैतन्य है।" किन्तु इस रूप में इसमें कुछ भी नावीन्य नहीं है। कांट ने आन्तर प्रत्यक्ष को बाह्य प्रत्यक्ष पर निर्भर बताया था और बाह्य प्रत्यक्ष के एकत्व को आन्तर एकत्व के अनुभव पर निर्भर कहा था। इसके विपरीत, हुस्सर्ल ने चैतन्य के लक्ष्योन्मुखी (टीलियोलोजीकल) स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में निर्णयों के स्वरूप पर विचार किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव-चैतन्य ऐसे पूर्ण प्रत्यय की प्रतिलिपि है जो अपने लक्ष्यों को इस पर आरोपित करता है। हुस्सर्ल चैतन्य को विश्वोन्मुख रूप में देखता है, जिस विश्व को यह चैतन्य आवेष्टित और आत्मसात् नहीं कर सकता। यह विश्व को विषयत्व से प्राक् ऐसे अनुद्भिन्न रूप में देखता है जो ज्ञान को उसका लक्ष्य देता है।

विषयापेक्षा की इस विस्तृततर धारणा के कारण फिनोमिनलोजिकीय "अवधारणा" प्रतिष्ठित दर्शन की "तर्कणात्मकता" (रैश्नैलिटी) से मूलत: भिन्न है जो कि "सत्य एवं अपरिवर्त्तनीय" सत्ताओं (नेचर्स) तक सीमित है। "अवगमन" (टू अंडर्स्टैंड) का अर्थ है, प्रत्येक सत्ता को उसके निजी वैशिष्ट्य

में ग्रहण करना—प्रत्यक्षगत वस्तु के गुणों का, ऐतिहासिक तथ्यों की धूल का, किसी सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत विचार का, उनके निजी वैशिष्ट्य में ग्रहण करना। विषयापेक्षा को उसकी समग्रता में ग्रहण करने का अर्थ है किसी अस्तित्व की अद्वितीय विधा का अवग्रहण करना, जो विधा अद्वितीयत: एक कंकड़ के गुणों में, एक क्रांति के सब तथ्यों में, तथा एक दार्शनिक के सब विचारों में व्यक्त होती है।

फिनोमिनलोजी की सब से महत्त्वपूर्ण देन उसके द्वारा आत्यन्तिक विषयिनिष्ठितावाद तथा आत्यन्तिक विषयनिष्ठतावाद को मिला देना है। यह दर्शन तर्कणा (रैश्नैलिटी) को उन अनुभवों की ठीक समव्यापी देखता है जिनमें यह अपने को व्यक्त करती है। 'तर्कणा है' का अर्थ है कि परिप्रेक्ष्य परस्पर परिव्याप्त होते हैं, प्रत्यक्ष परस्पर का समर्थन और प्रमाणीकरण करते हैं और इस प्रकार अर्थ प्रकट होते हैं। किन्तु इसे पृथक् अस्तित्व देकर निरपेक्ष आत्मतत्त्व, अथवा वास्तववादी (रीयलिस्टिक) अर्थ में विश्व, के रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता है। फिनोमिनलोजिकीय विश्व शुद्ध सत् नहीं है, बल्कि वह ऐसा अर्थ है जो मेरे अनुभवों के सम्मिलन बिन्दु पर उत्पन्न होता है। दार्शनिक चिन्तन पहली बार आत्मालोचन का वह स्तर प्राप्त कर सका है कि वह अपने निष्कर्षों का विश्वगत सत् अथवा विश्व के आधार सत् का स्तर नहीं दे। इसमें चिंतक पूर्व-प्रदत्त तर्कणा के साथ अपने को एकाकार नहीं देखता, वह अपने को तथा अपनी तर्कणा को सप्रयोजन स्थापित करता है, जिस प्रयोजन के विश्वगत सत् होने का कोई आश्वासन नहीं है किन्तु जिसकी साधारता उसकी प्रभावक शक्ति के द्वारा तथा हमें इतिहास-कर्त्ता बनाने के द्वारा असन्दिग्ध है। सम्यक् दार्शनिकता (जेनुइन फिलॉसफी) विश्व को देखने के लिये नये सिरे से शिक्षा पाना है, और इस दृष्टि से एक कहानी विश्व की सार्थकता को उतनी ही गहराई से धारण कर सकती है जितनी गहराई से एक दार्शनिक ग्रंथ कर सकता है।

पूर्वमान्यता-रहित दर्शन का आदर्श

पूर्वमान्यताराहित्य, इस शब्द के एक साधारण अर्थ में, सभी दर्शनों का आदर्श रहा है, कम से कम ऐसा सब ने दावा किया है। किंतु इस शब्द का एक पारिभाषिक अर्थ भी है, जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग शायद डेकार्ट ने सब से पहले किया था। किन्तु इस पारिभाषिक अर्थ का पूरा महत्तव सर्वप्रथम शायद हुस्सर्ल ने समझा और इसे अपने दार्शनिक अन्वेषण का एक मौलिक आदर्श बनाया। इस लेख में फार्बर ने फिनोमिनलोजी-दर्शन की इस महत्त्वपूर्ण दृष्टि का ही विवेचन किया है। किन्तु इस दृष्टि को व्यापकता तथा गहराई में हम तेवनाज के लेखों में देखेंगे जिनका सार हम इस लेख के बाद दे रहे हैं।

फार्बर के अनुसार, हुस्सर्ल ने सब प्रकार के अ-फिनोमिनलोजिकीय प्रयोजनों का प्रतिषेध किया है, वे चाहे प्राकृतिक विश्व से गृहीत हों अथवा अन्य किसी क्षेत्र से। सब प्रकार की पूर्वमान्यताओं (पूर्वाग्रहों) का प्रतिषेध सब प्रकार की तार्किक (आकारीय) एवं तथ्यात्मक मान्यताओं के प्रतिषेध की, स्थगन की, भी अपेक्षा करता है। इससे जिस प्रकार के चैतन्य की अवधारणा उपलब्ध होती है उसे न केवल शारीरिकता से पूर्णत: मुक्त होना चाहिये बल्कि उसे अनुभव एवं विचार के सब वास्तव एवं विकल्पात्मक (आइडियल) निर्धारणों से भी मुक्त होना चाहिये। इससे ऐसा प्रतीत होगा कि सब विचार का आधार अनिवार्यत: अहम्मात्रवाद (सोलिप्सिज्म) ही हो सकता है। किन्तु यदि विकल्पवृत्ति (अंडर्स्टैंडिंग) के आत्यन्तिक आधार की खोज इस ओर उन्मुख करती है तब अहम्मात्रवाद का भी अतिक्रमण अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि तब यह भी एक पूर्वाग्रह ही होगा।

पूर्वाग्रहराहित्य की अवधारणा के इतिहास का संक्षिप्त विवरण देते हुए फार्बर लिखते हैं- हुस्सर्ल ने इस शताब्दी के आरम्भ में ज्ञानमीमांसा के द्वारा तर्कमीमांसा (लॉजिक) के विवेचन की आवश्यकता पर बल दिया था, जिसके परिणामस्वरूप उसे स्वयं ज्ञानमीमांसा के आधार का भी

अन्वेषण करना पड़ा। जब हुस्सर्ल ने दार्शनिक चिन्तन आरम्भ किया तब पूर्वाग्रहराहित्य का यह अन्वेषण काफी महत्त्व प्राप्त कर चुका था। वोकेट (Vokelt) ज्ञान के प्रामाण्य के विवेचन के प्रसंग में देखा कि सब विज्ञानों में ज्ञान-प्रामाण्य पूर्वकल्पित रहता है, केवल ज्ञानमीमांसा ही इसका अपवाद है। अत: इसे मनोवैज्ञानिक, तार्किक एवं तत्त्वमीमांसात्मक पूर्वाग्रहों से रहित होना चाहिये। इस प्रकार के पूर्वाग्रह-रहित आधार की खोज में उसने अपने चैतन्य से आरम्भ किया और वह उसी में इस प्रकार अवगुंठित हो गया कि उसके लिए उससे बाहर कुछ भी जानना असम्भव हो गया।

वोकेट ने गणित, तर्क तथा विज्ञान के स्वतन्त्र प्रामाण्य को अस्वीकार किया और इस प्रकार ज्ञान तथा विश्वास के आधार-मात्र की मूलगामी आलोचना का आदर्श रखा। कांट तथा अन्य बहुत से दार्शनिकों ने अतिक्रान्तता की पूर्वकल्पना (प्रीसप्पोजीशन आफ ट्रांसेंडेंस) कर विज्ञान के "अतिक्रामी" आधारों की खोज की थी, इसके विपरीत वोकेट ने ज्ञानमीमांसा को "ज्ञान की सम्भावना की आलोचना" का विज्ञान प्रतिपादित कर इसे पूर्णत: पूर्वाग्रह-रहित बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रसंग के रेंके (Rehmke) तथा शुप्पे (Schuppe) का उल्लेख भी समीचीन होगा। शुप्पे ने पूर्वमान्यताराहित्य को इस प्रकार परिभाषित किया है- "जिसमें केवल ये ही पूर्वकल्पनाएं हैं-चेतन सत्त्व (कांश्यस बींग), ज्ञानमीमांसक का सन्देह, सत्यासत्य की अवधारणा, तथा विचार की वांछित क्रिया। रेंके ने पूर्वमान्यता तथा पूर्वनिर्णयात्मकता में भेद किया और कहा कि पूर्वमान्यता-रहित विज्ञान असम्भव है। उसके अनुसार, आधारभूत विज्ञान वह है जो "केवल प्रदत्तता" को स्वीकार करता है।

इस प्रकार दर्शन को "आधारभूत विज्ञान" के रूप में विकसित करने के प्रयत्न हुस्सर्ल के पूर्व भी हुए, किन्तु सामान्य लक्ष्य के रूप में इसकी कल्पना तथा इसे प्राप्त करने के लिए एक निश्चित विधि के विकास के बीच बहुत बड़ा अन्तर है, और हुस्सर्ल की विशेषता इसकी निश्चित विधि का विकास करने में ही है।

इसके पश्चात् तर्क-व्यवस्था के आधारों (फाउंडेशंस्) का फिनोमिनलोजिकीय विवेचन करते हुए फार्बर कहते हैं-निगमन का आदर्श समग्र ज्ञान की एक समंजस व्यवस्था का निर्माण करना है, दूसरे शब्दों में, एक आधार की रचना करना है। किन्तु तर्कशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का निर्धारण आकारी तर्क (फार्मल रीजनिंग) की चक्रिकता से ही संभव हो सकता है, क्योंकि एक समग्र व्यवस्था में सब पदों को परिभाषित नहीं किया जा सकता-या तो कुछ पदों को स्वत: सिद्ध स्वीकार करना पड़ता है अथवा उन्हें परस्परत: परिभाषित करना पड़ता है। चक्रिकता की इस समस्या का सम्बन्ध मनुष्य की सामर्थ्य की सीमितता से नहीं है, इसका सम्बन्ध तर्कशास्त्र सहित, कुछ प्रतिज्ञाओं को पूर्वमान्य कर अग्रसर होती हैं। तर्कशास्त्र के किन्हीं भी सिद्धान्तों का प्रामाण्य प्रदर्शित करने के लिये कुछ पूर्वप्रतिज्ञाओं को स्वीकार कर चलना अनिवार्य होता है। इस प्रकार तर्कणा का स्वरूप ही सन्दिग्ध हो जाता है।

आकारी तर्क का लक्ष्य विशुद्ध रूप से आकारी संरचनाओं (फार्मल स्ट्रक्चर्स) का ही व्यवहार करना है। किन्तु निगमन में संज्ञान (कोग्नीटिव) वृत्ति का भी समावेश रहता है, कम से कम संभाव्य रूप में, जैसे मानो ये क्रियाएं घटित हुई हों। यह क्रमश: स्पष्ट होता जा रहा है कि तर्क (लोजिक) को अर्थ तथा सत् की अवधारणा के विश्लेषण की पूर्वपिक्षा है। विषय का निर्देश ऐसी समस्याएं उत्पन्न करता है जिसके लिये अर्थ एवं प्रतीकों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। निगमन के सन्दर्भ में पूर्वमान्यता-रहित दर्शन के लिये आधारभूत समस्या यह है कि वह ज्ञान के आधारों एवं प्रक्रियाओं की इस प्रकार परीक्षा करे कि मूलगामी अवधारणाएं एवं सिद्धान्त तर्क-क्रिया के पूर्वगामी के रूप में प्रकाश में आ जाय।

संक्षेप में, तर्कशास्त्र की कुछ पूर्वमान्यताएं हैं जो इसके संज्ञानात्मक (कोग्नीटिव) पक्ष से सम्बन्धित हैं, जो इसे अर्थ के तत्त्व एवं कसौटी से मंडित करती हैं और इस प्रकार जो इसकी विषयवस्तु बनती हैं तथा इसे विषय-जगत् से सम्बन्धित करती हैं।

फिनोमिनलोजिकीय विकल्प-वृत्ति (अंडर्स्टैंडिंग) विश्लेषण, और अतएव आकारी तर्कणा (रीजनिंग), के उच्चतर स्तर पर प्रयुक्त सभी प्रत्ययों एवं अवधारणाओं का उद्गम उस अनुभव में खोजती है जो निर्णय-वृत्ति से पूर्वगामी हैं। विवेचन की इस विधि को जननिक (जेनेटिक) विधि की संज्ञा दी गयी है। किन्तु यह संज्ञा किसी तथ्यात्मक, प्रयोगात्मक (एम्पीरिकल) अथवा इतिहासात्मक अर्थ में नहीं दी गयी है बल्कि इस अर्थ में दी गयी है कि सब प्रत्यय (आइडियाज) अथवा सिद्धान्त अपने ''मौलिक'' प्रमाणों के प्रति विषयापेक्षात्मक (इंटेंश्नल) रूप से अनुयुक्त होते हैं।

हुस्सर्ल के लिये ''लोजिक'' का अर्थ इसके पारंपरिक अर्थ से बहुत व्यापक है, वह इसे अनुभव के सभी स्तरों पर सक्रिय देखता है। तर्काभिकेन्द्रिक (लोगोसेंट्रिक) दुविधा तर्क की इसी व्यापकता से घटित होती है। इसका निरास केवल ऐसे स्थगन से ही संभव हो सकता है जिसके द्वारा आकारिक संरचनाओं तथा इनकी विषयपरक (अनुभवमूलक) विवेचनाओं के बीच, तथा इन दोनों एवं उन वस्तुस्थितियों के बीच जो प्रतीकों एवं विवेचनाओं को सार्थक एवं प्रामाणिक बनाती हैं, स्पष्ट विच्छेद अनिवार्य हो जाता है। किन्तु आकारीय (फार्मल) विच्छेद से, जिसमें सब ठोस, संवेद्य अर्थों से निष्क्रमण घटित होता है, ज्ञानमीमांसीय विच्छेद अधिक मूलगामी एवं व्यापक है, क्योंकि यह सब तार्किक, मनोवैज्ञानिक तथा सत्तामीमांसात्मक सिद्धान्तों से निष्क्रमण घटित करता है।

हुस्सर्ल के लिये पूर्वमान्यताराहित्य का अर्थ था ऐसे सब प्रतिपादनों का वर्णन जिनका समर्थन फिनोमिनलोजिकीय रूप से - अर्थात् विशुद्धत: अव्यवहित अनुभव की पदावली में - संभव नहीं हो सकता। यद्यपि विचार-वृत्ति अज्ञेय, अस्तित्त्व-रहित तथा असंभव विषयों की ओर भी उचित रूप से निर्दिष्ट हो सकती है किन्तु ऐसी निर्दिष्टताओं का अर्थ केवल अनुभव के आधार पर ही ग्रहण हो सकता है। ऐसी 'मानस' अथवा 'भौतिक' सत्ताओं की कल्पना जो चेतनातिक्रामी हैं, ज्ञान के सम्यक् सिद्धान्त के लिये उपयुक्त नहीं हैं। यह सही है कि ज्ञानमीमांसा विचार के विकल्पात्मक (आइडियल) स्वभाव तथा अर्थ की सामान्यात्मक व्याख्या की दृष्टि से ऐसे वास्तव (स्वतन्त्र) विषयों के ज्ञान की संभावना के प्रश्न पर भी विचार करती है जो उन अनुभवों से अतीत हैं जिनके द्वारा वे जाने जाते हैं, किन्तु इसका सम्बन्ध इस तथ्यात्मक प्रश्न से नहीं है कि मनुष्य वास्तव में ऐसा ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है अथवा नहीं।

हुस्सर्ल के अनुसार, दर्शन का कार्य ''मूलगामी विश्लेषण'' है। इस पद से उसका अभिप्राय था विज्ञानों तथा लोकसंज्ञानमूलक दर्शनों द्वारा वास्तवता, सत् अथवा अस्तित्व की सहज स्वीकृत धारणाओं का अतिक्रमण करना एवं चैतन्य के उस मूल का विवरण देना जो सब वैषयिकता, सत्ता अथवा अस्तिता का विधायक है। परिणामत: फिनोमिनलोजी वस्तु की सत्ता अथवा अस्तिता का निषेध नहीं करती, उसके लिये यह प्रश्न ही अप्रासंगिक है। यह अभिवृत्ति (रवैया) वस्तु-सत् का आक्षेप किये बिना शुद्ध धर्म-मूलक संज्ञा (इन्ट्यूशन आफ प्योर एस्सेंसिज) के द्वारा संभव होती है। धर्म उतने ही अव्यवहित रूप से ''देखे'' जा सकते हैं जितने अव्यवहित रूप से स्वर सुना जा सकता है। हुस्सर्ल ने फिनोमिनलोजी को विशुद्ध धर्मों के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया था। क्रियाविधि (मैथोडोलोजी) की आत्यंतिक मूलगामिता के लिये यह आवश्यक है कि किसी प्रकार की ''प्राग्प्रदत्तता'' को स्वीकार नहीं किया जाय; आरम्भ करने के लिये कुछ भी प्रदत्त स्वीकार नहीं किया जाय। यदि दर्शन को वास्तव आरम्भों अथवा मूल स्रोतों के विज्ञान के रूप में परिभाषित करना है तो इसे अपनी क्रियाविधि में सर्वथा

मूलगामी होना होगा। संक्षेप में, दर्शन की विधि अव्यवहित संज्ञान (इंट्यूशन) की विधि है। धर्मों का फिनोमिनलोजिकीय अधिगमन (ग्रांस्पिंग) किसी भी प्रकार के परोक्ष प्रतीकों के माध्यम के बिना घटित होता है, न इसे अनुमान एवं प्रमाणों की अपेक्षा ही रहती है।

तब क्या फिनोमिनलोजी की कोई पूर्वमान्यताएं हैं ? इस प्रश्न पर विचार के सन्दर्भ में फार्बर लिखते हैं-हुस्सर्ल के अनुसार "अनुभव-प्रवाह अनादि और अनन्त है।" (आइडियाज, पृ.236) यही बात चेतना के लिये भी कही जा सकती है। किन्तु व्यक्तियों की चेतनाएं अथवा अनुभव तो सादि और सान्त होते हैं। तब हुस्सर्ल का अभिप्राय किस चेतना अथवा अनुभव से है ? स्पष्टत: यह एक सार्वभौम अनुभव-सन्तान होने चाहिये और इसका फिनोमिनलोजिकीय स्वरूप स्थिर होना चाहिये। हुस्सर्ल के दार्शनिक विधि विषयक विभिन्न परामर्शों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पूर्वस्वीकृत तत्त्वों (एलीमेंट्स) एवं रचनाओं (कंस्ट्रंक्शंस्) के उपयोग को स्वीकार नहीं करता। वास्तव में ऐसे तत्त्वों एवं रचनाओं के लिये उस दर्शन में कोई स्थान हो भी नहीं सकता जिसे चरम आधारभूत विज्ञान के रूप में कल्पित किया जा रहा है। इसके लिये अपेक्षित मूलगामी चिन्तन ज्ञान की ऐसी मूलभूत पूर्वमान्यताओं की व्यवस्थित परीक्षा करता है जिनके आगे जाना संभव नहीं है। अन्तरोन्मुख (रीफ्लेक्सिव) परीक्षा सर्वप्रथम ऐसे "सार्वभौम आत्मसत्व (विषयि-सत्व) एवं जीवन" की ओर संकेत करती है जो सब प्रकार के सिद्धान्तीकरण में विज्ञान के पूर्वग् के रूप में कल्पित किया जाता है, और तब यह "अतिक्रामी विषयिता" (ट्रांसेंडेंटल सब्जेक्टिविटी) की ओर उन्मुख होती है, जोकि सब अर्थाधान एवं सत्त्व (बींग) के प्रामाण्य का मूल है।

इस प्रकार फार्बर के अनुसार दर्शन का आदर्श पूर्वमान्यताराहित्य मानने का यह अर्थ नहीं है कि दर्शन सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं का निषेध करता है। दर्शन अपने लिए जिस निरपेक्ष आधार को प्राप्त करने में सफल होता है उसे हुस्सर्ल ने ऐसी पूर्वमान्यताओं की समग्रता कहा है जिन्हें स्वत:प्रमाण अथवा स्वप्रकाश कहा जा सकता है। (आइडियाज, पृ.28) फिनोमिनलोजी पर अपने एक लेख में हुस्सर्ल ने यह अधिक स्पष्ट रूप से कहा है जहाँ उसने लिखा है कि अतिक्रान्तता की समस्या का सुलझाव अस्तिता के ऐसे स्तर से सम्भव होता है जिसे यह पूर्वकल्पित करता है और जिसे यह अपने अन्वेषण की पहुँच से अतीत रूप में स्थापित करता है। इसे वह चैतन्य मात्र की विशुद्ध विषयिता-द्रष्टृत्व-(प्योर सब्जेक्टिविटी) का आयाम कह कर परिभाषित करता है। उसने सब कुछ का स्रोत इसी अतिक्रामी मूल में देखा और विषयात्मक सत्ता को सापेक्ष सत्ता माना। इससे उसके दर्शन का अध्यात्मवादी झुकाव स्पष्ट है। किन्तु फार्बर के अनुसार हुस्सर्ल विज्ञानवादी नहीं है, क्योंकि वह इस दर्शन की पूर्वमान्यता को, कि "आत्मतत्त्व की सत्ता है," अथवा "केवल आत्मतत्त्व की सत्ता है," स्वीकार नहीं करता। न वह भौतिकवादी अथवा वास्तवतावादी (रीयलिस्ट) ही है, क्योंकि वह भौतिक अस्तित्व, अथवा भौतिक-मानसिक अस्तित्व की पूर्वमान्यता को भी स्वीकार नहीं करता है। परिणामत: वह वैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्वतन्त्र सत्यता को भी स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार, उसके लिये अपना तथा अन्य का अस्तित्व भी केवल पूर्वाग्रह और अवएव दार्शनिक आलोचना द्वारा खण्डनीय विषय ही हैं। "विश्व" उसके लिये अवश्य ही "पूर्वप्रदत्त" है, किन्तु पूर्व प्रदत्तता का यह क्षेत्र, जिसका स्वीकार उसे विषयिनिष्ठ विज्ञानवाद (सब्जेक्टिव आइडियलिज्म) से पृथक् करता है, रचनात्मक विधि[8] (कांस्टीट्यूटिव मैथड) के सन्दर्भ में कोई स्थान नहीं पाता। इसका केवल संकेत के रूप में, उस दिशा-निर्देश के रूप में, उपयोग किया जाता है जिसमें चैतन्य अपने स्वरूप को क्रियान्वित करता है। यही बात पारम्परिक तर्क के लिए भी कही जा सकती है। ये (विश्व तथा तर्क) केवल साधनभूत पूर्वमान्यताएं हैं।

इस दर्शन में अनुभव तथा निर्णय (जजमेंट) के स्वरूप पर विचार करते हुए फार्बर कहते हैं-हुस्सर्ल के मत में विश्व का सत्त्व (बींग) निर्णय के माध्यम से ग्रहण नहीं होता, बल्कि निर्णय विश्व को पूर्वापेक्षित करते हैं। इस प्रकार हमें प्रभावित करता हुआ सम्पूर्ण अस्तित्व विश्व में अधिष्ठित है। किन्तु उसके अनुसार यह पूर्वापेक्षा अतिक्रामी फिनोमिनलोजी के मूलगामी विवेचन में एक नया अर्थ ग्रहण करती है। फिनोमिनलोजी इस स्थिर आक्षिप्त (पोजिटिड) सत्त्व पर भी विच्छेद-क्रिया (इपोखे) घटित करती है और इस प्रकार पूर्वप्रदत्त विश्व अन्तत: अतिक्रामी आत्म द्वारा रचित रूप में देखा जाता है।

डेकार्ट तथा हुस्सर्ल में मूलगामी आरम्भों का लक्ष्य-भेद

इस लेख में तेवनाज ने दर्शन के स्वरूप पर विचार किया है और इस संदर्भ में डेकार्ट तथा हुस्सर्ल के दर्शनों की मूल प्रेरणाओं का विशद एवं अत्यधिक सूझपूर्ण विवेचन किया है। तेवनाज हुस्सर्ल की विषयोन्मुखता के विपरीत डेकार्ट की अन्तरोन्मुखता का समर्थक है। इस प्रकार, एक अर्थ में, वह फिनोमिनलोजीवादी नहीं है। किन्तु उसकी विधि मूलत: फिनोमिनलोजिकीय है। इसलिए उसे इस दर्शन की मूल अवधारणा का विस्तारक भी कहा जा सकता है। हुस्सर्ल के दर्शन में वास्तव में द्विमुखीनता परिलक्षित होती है-वह विषय से पराङ्मुखता को सम्यक् विषयोन्मुखता के लिए स्वीकार करता है। किन्तु उसमें विषय-पराङ्मुखता की प्रेरणा इतनी बलवती है कि बहुत बार उसे विज्ञानवादी कहा गया है। तेवनाज में यह अन्तरोन्मुखीनता और अधिक प्राथमिकता ग्रहण कर लेती है। इसके विपरीत पोंटी में विषयोन्मुखी प्रेरणा की प्राथमिकता दृष्टिगत होती है। किन्तु ये दोनों समानरूप से फिनोमिनलोजीवादी दार्शनिक हैं। (यहाँ यह अवान्तर टिप्पणी अस्थाने नहीं होगी कि तेवनाज ने डेकार्टीय दर्शन की मूल प्रेरणा का जो निरूपण किया है वह अत्यंत उपयुक्त और सूझपूर्ण है, विशेषत: हमारे लिए जिन्होंने डेकार्ट को आंग्ल-अमेरिकी टीकाकारों के माध्यम से देखा है।)

तेवनाज ने दर्शन के स्वरूप के विवेचन से अपना लेख आरम्भ किया है। उसके अनुसार दर्शन की परिभाषा "प्रथम-आदिम-के अन्वेषण का प्रयत्न" यह की जा सकती है। किन्तु 'आदिम' का दुहरा अर्थ है और यह दुहरापन आरम्भ से ही दर्शन के लिए एक दुहरा परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह आदिम-प्रथम-या तो अकालिक मूलकण (प्रोटन) होता है जिसकी आदिमता सदात्मक (ओंटोलोजीकल) अथवा तार्किक होती है अथवा यह कालात्मक मूलकण होता है जिसकी आदिमता काल-क्रमात्मक (ऐतिहासिक) होती है-यह एक आरम्भ होता है। इस प्रकार दर्शन या तो सिद्धान्तों का विज्ञान है अथवा आरम्भ-अथ-का विज्ञान। प्रथम अर्थ में यह सिद्धान्त दर्शन की मूल में-आधार में-स्थापना है, यह प्रामाण्य (विनिश्चय-सर्टिट्यूड) और समाधान है। इस आदिम का आख्यान दार्शनिक पूर्णता का आख्यान है, इस आख्यान के बाद कुछ शेष नहीं रह जाता, केवल निगमित करने अथवा व्याख्या करने की आवश्यकता शेष रह जाती है।

इस अर्थ में "आदिम" एक खुला प्रश्न रहता है, यह सत्य के मूल में प्रतिष्ठित होने के लिए आकुल दार्शनिक की विह्वलता का पर्याय होता है, यह प्रवेशद्वार से च्युत नहीं हो जाने की उत्कण्ठा है। इसका अर्थ है कि हम सत्य के स्तर पर नहीं होते और परिणामत: प्रवेश तथा पथ की समस्या प्रस्तुत होती है। और क्योंकि आरम्भ करना, और सही आरम्भ करना, आवश्यक है इसलिए आरम्भ एक समस्या हो जाता है। इस प्रकार आरम्भ-अथ-का दार्शनिक प्रश्न स्वयं दार्शनिक प्रश्न का ही आरम्भ होता है। किन्तु यदि आरम्भ-बिन्दु ही एक समस्या है तब क्या हमारी नियति ही यह नहीं है कि हम कभी

आरम्भ कर ही नहीं सकते ? अथवा, क्या हम यह स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं कि यह प्रश्न करना पहले से ही पथ पर चल रहे होना है और हमारा प्रश्न अर्थहीन है ? यह कि इसका निर्णय पहले से ही हो चुका है ? किन्तु तब इसका अर्थ हुआ कि कोई आरम्भ सम्भव ही नहीं है।

किन्तु वास्तव में यह प्रश्न न तिरोहित होता है और न इसका समाधान होता है, दार्शनिक के लिए परिभाषया कोई आरम्भ-बिन्दु नहीं होता-वह या तो आरम्भ ही नहीं कर सकता अथवा वह पहले से ही आरम्भ कर चुका होता है। इस प्रकार आरम्भ एक समस्या-एक असमाधेय अथवा निर्मूल समस्या-नहीं, बल्कि एक मूलगामी दार्शनिक समस्या है। समस्यात्मक आरम्भ की इस स्थिति का बोध दर्शन का अपने एक मूलगामी समस्या के रूप में प्रस्तुत होना है। इसका कार्य तब केवल सत् का आदि नियम खोजना नहीं है बल्कि स्वयं अपने प्रयत्न के आधार की खोज करना भी है। यह अनिवार्यत: मूलगामी आंतरबोध (रीफ्लेक्शन) है, अथवा कहें, आत्मोन्मुखता की मूल प्रतिष्ठा पर मनन है।

आरम्भ की समस्या, कालक्रम में प्रथम रहने पर भी, केवल विधि की समस्या नहीं है। वास्तव में आरम्भ की कालक्रमात्मक प्रथमता एवं नियम की सदात्मक (ओंटोलोजीकल) प्रथमता संयुक्त रूप से एक एवं अभिन्न प्रश्न को जन्म देती हैं। यह इतना अधिक सही है कि यह कहना असम्भव होगा कि मूल नियम आन्तरबोध की प्रथम क्रिया को जन्म देता है याकि आन्तरबोध की प्रथम क्रिया नियम की सर्जक होती है - विधि सत्ता की ओर निर्दिष्ट करती है अथवा सत्ता विधि की प्रतिष्ठापक होती है ?

आरम्भ की मूलगामिता केवल इस बात में नहीं है कि जो द्वन्द्वात्मक आरम्भ (डायलेक्टिकल बिगिनिंग) निरपेक्ष को उद्घाटित करता है वही उसका सर्जक भी होता है, अथवा, ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं है जो अपने अन्वेषण के प्रयत्न से स्वतन्त्र हो। हमने अपने आपको निष्कर्ष के स्तर पर ही स्थापित नहीं किया है, बल्कि प्रयत्न के प्रथम चरण पर भी स्थापित किया है, और यही निरपेक्ष सत् तथा स्वत: प्रामाण्य का उद्गमस्थल है। आरम्भ का प्रश्न दर्शन के प्रश्न की मूल प्रतिष्ठा (रैडीकलाइज़ेशन) के द्वारा, और वास्तव में मनुष्य की समस्या की मूल प्रतिष्ठा के द्वारा भी, अभिव्यक्ति पाता है। यह स्पष्ट है कि मूलगामी नवांरम्भ-बिन्दु की अवधारणा केवल आन्तरबोधात्मक दर्शन में ही सम्भव है, अर्थात् ऐसे दर्शन में जिसमें स्वयं मनुष्य तथा उसका विषयी (द्रष्टा) होना दर्शन के लिए जिज्ञास्य होते हैं। यदि मनुष्य ही मूलगामी प्रश्न का विषय बना दिया जाता है, यदि वह अपने स्वरूप पर मौलिक रूप से मनन करता है, तब उसके लिए अनिवार्य होगा कि वह अपना अवगमन एक निरपेक्ष एवं प्रथम क्रिया द्वारा, एक क्रिया-नियम (एक्ट-प्रिंसिपल) द्वारा, करे।

सब प्रकार की दार्शनिक मूलगामिता मनुष्य के संकल्प एवं उत्तरदायित्व को निरपेक्ष-सिद्धांत तथा स्वत:-आलोकित प्रामाण्य के मूल में स्थापित कर देती है, क्योंकि संकल्प ही आरम्भ का संकल्प कर सकता है और आन्तरबोध को अनवरत रूप से उसकी अपनी ओर निवर्त्तित कर सकता है। प्रकृति हमें मूलारम्भ से दूर दिशा में ले जाती है और अपने सद्भाव (बींग) में स्थिर रखती है। यह आरम्भ केवल प्रयत्नपूर्वक ही सम्भव है। जागना सदैव उन्मूलन करना है, यह परित्याग एवं विच्छेद के लिए प्रयत्नशीलता है। जो दर्शन-व्यापार को मौलिक रूप से सम्पादित करना चाहता है और सच्चा आरम्भकर्ता होना चाहता है उसे प्रथम चरण के लिए ही कीमत चुकानी पड़ती है और उसी का उसके लिए महत्त्व होता है।

मूलगामी दार्शनिक व्यापार के अनेक रूप हो सकते हैं - प्रोटागोरस, सुकरात, सन्देहवादी अथवा डेकार्ट, फिख्ते अथवा हेगल, कीर्केगार्ट, नीत्शे एवं बर्गसां, अनेकों ने अपने अपने ढंग से मूलगामी रूप से यह किया है। किन्तु यहाँ हम केवल डेकार्ट एवं हुस्सर्ल के मूलगामितावाद (रैडीकलिज़्म) पर विचार करेंगे। हुस्सर्ल ने ज्ञानपूर्वक अपने को डेकार्ट की परम्परा में रखा और कहा कि फिनोमिनलोजी

डेकार्ट के मूलगामितावाद को ही आगे बढ़ाती है। तेवनाज़ ने इन दो मूलगामितावादों को एक-दूसरे के माध्यम से समझने का प्रयत्न किया है तथा हुस्सर्ल द्वारा डेकार्ट की इस आलोचना की परीक्षा की है कि डेकार्ट ने अपनी ही खोज (अतिक्रामी विषयितावाद) का आशय ठीक से नहीं समझा था।

मूलगामितावाद का आशय स्पष्ट करते हुए तेवनाज कहते हैं: डेकार्ट तथा हुस्सर्ल दोनों दर्शन का कार्य सम्यग्विज्ञान (ट्रू साइंस) के मूलगामी एवं असंदिग्ध आधार की खोज करना मानते थे; किन्तु दोनों के प्रयोजन बहुत भिन्न थे। डेकार्ट के समय विज्ञान तथा दर्शन की स्थिति सन्दिग्ध थी और परिणामत: उसने नये सिरे से आरम्भ करना चाहा। वह असन्दिग्ध प्रामाण्य के आधार की खोज करना चाहता था जिस पर भावी विज्ञान की प्रतिष्ठा की जा सकती। उसका मूलगामितावाद पृष्ठोन्मुखी था, उसने प्रथम के इस ओर से आरम्भ किया।

इसके विपरीत, हुस्सर्ल के समय विज्ञान की स्थिति सन्दिग्ध नहीं थी; वह पूर्ण तथा सुरक्षित था, उसके निष्कर्ष असन्दिग्ध तथा परिणाम अत्यन्त प्रभावशाली थे। अत: उसके लिये प्रश्न विज्ञान के आधार तथा अर्थ का था। ऐसे विज्ञान के, जिसका अभी आविर्भाव होना है, आधारों की खोज स्वभावत: तत्त्वमीमांसा की ओर प्रेरित करती है; किन्तु पहले से पूर्ण विज्ञान के आधारों की खोज, विशेषत: ऐसे पूर्ण विज्ञान की जिसका विकास तत्त्वमीमांसा के विरोध में हुआ है, सर्वथा दूसरी बात है। ऐसी स्थिति में तर्क एवं ज्ञानमीमांसा के क्षेत्रों में अनुसन्धान के लिये तत्त्वमीमांसा की उपेक्षा स्वाभाविक हो जाती है, यदि विरोधी अभिवृत्ति नहीं भी हो तो। और ऐसी अवस्था में यदि कोई सापेक्षतावाद अथवा ऐन्द्रियानुभववाद की उथली स्थिति स्वीकार नहीं करना चाहता है तो उसके लिये कांट एवं हुस्सर्ल के समान अतिक्रान्ततावाद का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है।

डेकार्ट तथा हुस्सर्ल के मूलगामितावाद (रैडीकलिज्म) में इस दृष्टि से समानता है कि दोनों स्पष्ट तथा सहज को अस्वीकार करते हैं। इस अस्वीकार को हुस्सर्ल इपोखे (विच्छेद) की संज्ञा देते हैं। किन्तु इस अस्वीकार का प्रयोजन दोनों में पर्याप्त भिन्न है। डेकार्ट प्राविधिक सन्देह के द्वारा सन्दिग्ध एवं अपरीक्षित का निरास कर देते हैं। विज्ञान की अनिश्चित स्थिति में यह अस्वाभाविक था। किन्तु हुस्सर्ल इसका निरास-प्रतिषेध-नहीं करता, वह इसका स्थगन करता है, क्योंकि विषय का सही स्वरूप समझने के लिये उसका दृष्टि से पार्थक्य घटित करना आवश्यक है। स्थगन यही प्रयोजन सिद्ध करता है। यह स्थगन धर्मों एवं आधारों से साक्षात् करा देता है। किन्तु ये आधार वास्तव के आधार हैं। फिनोमिनलोजिकीय स्थगन परिप्रेक्ष्य से साक्षात् तथा विषयापेक्षावृत्ति (इंटेंश्नेलिटी) के परिवर्त्तन की ही दूसरी संज्ञा है, यह प्रदत्त-दृश्य के अर्थ की परिपृच्छा है। इस प्रकार स्थगन आरम्भ से ही अतिक्रामी संरचना को जानने का प्रयत्न है।

इस प्रकार हुस्सर्ल में भी सहज स्पष्ट से आत्म की ओर, असत्य प्रमाण से ज्ञातृत्त्वाभिमान (इगो) की ओर, संक्रमण की प्रक्रिया दृष्टिगत होती है। किन्तु इस प्रकार अनुरूपता के बावजूद दोनों के मूलानुगामी अनुभवों में आधारभूत अन्तर है। डेकार्ट में दैत्य का पूर्ण रूप से तत्त्वमीमांसीय (मैटाफिजीकल) अनुभव है और हुस्सर्ल में अतिक्रामी स्थगन का अनुभव है।

दैत्य के हस्तक्षेप की इस विशुद्ध तत्त्वमीमांसीय कल्पना ने डेकार्ट के लिये न केवल लोकसाधारण विश्व में सन्देह सम्भव किया बल्कि तार्किक निर्णयों में भी सन्देह संभव किया। लोकसाधारण विश्व में सन्देह के लिये स्वप्न ही पर्याप्त था, किन्तु "2+3=5" की प्रामाणिकता का इस संन्देह से निरास संभव नहीं था। किन्तु दैत्य का हस्तक्षेप इस प्रामाण्य को भी सन्दिग्ध बना सकता है-कौन जानता है कि मेरे से अधिक शक्तिशाली कोई मेरे लिये सदैव 2 और 3 के योग को 5 के बराबर घटित कर रहा हो? इस प्रकार डेकार्ट के लिये पूर्ण मूलगामिता संभव हो सकी, इस दैत्य ने डेकार्ट को पूर्णत: सन्देहातीत के

समक्ष प्रस्तुत कर दिया-यदि दैत्य मुझे भ्रमित कर रहा है तो मेरा होना सिद्ध है। अन्य प्रामाण्यों के विपरीत यह प्रामाण्य इसलिये मूलगामी है क्योंकि यह ''मैं हूं'' कहने वाले ज्ञातृत्त्वाभिमान से सब इतरताओं-अन्यत्वों-का निरास कर देता है, क्योंकि यह उस भ्रांति की संभावना को समाप्त कर देता है जो ''कल्पना करता हूँ'' तथा ''मैं हूँ'' में भेद कर मुझे मेरे से पृथक् कर सकती है।

हुस्सर्लीय स्थगन एक सर्वथा भिन्न प्रश्न का उत्तर है। यह विश्व में (जिस प्रामाणिकता भ्रमात्मक नहीं है) लोक-विश्वास को निष्प्रभाव करके अतिक्रामी आन्तरबोध-वृत्ति (ट्रांसेडेंटल रीफ्लेक्सिव मोड) में स्थित होना है। यह विश्व से, उसका अर्थ ग्रहण करने के लिये, पृथक् होना है। इस प्रकार यह स्थगन हमें विश्व के साथ एक भिन्न, किन्तु अधिक गम्भीर, विधा में संयुक्त करता है। स्थगन के द्वारा आत्म का विश्व से बाहर ग्रहण हमें विश्व का अधिक विविक्त ज्ञान देता है। इस प्रकार यह संवेद्य के अपवारण द्वारा ज्ञातृत्त्वाभिमान की उपलब्धि नहीं है, यह ज्ञातृत्त्वाभिमान (इगो) का, तथा विश्व के साथ इसके सम्बन्ध का, रूपान्तरण है, यह विषयापेक्षा-वृत्ति (इंटेंश्नेलिटी) का परिवर्त्तन है। अतिक्रामी विषयापेक्षा-वृत्ति (विषय चैतन्य) का अभिप्राय विश्वाभिमुखता है। इस (हुस्सर्लीय) स्थगन के द्वारा चैतन्य अपने को विश्व में खोने से बचाकर विषय के स्रोत के रूप में ग्रहण करता है और इस प्रकार विषय को-विश्व को-पुन: अर्थमय प्रतिष्ठा देता है। इसके विपरीत, डेकार्ट में विश्वाभिमुखता चैतन्य की अविवेक की स्थिति है जिसका निरास चैतन्य की अपने में प्रतिष्ठा द्वारा होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि डेकार्ट के लिए मूलगामी आरम्भ-बिन्दु आत्मस्थ एवं आत्मोन्मुख चैतन्य के केन्द्र में स्थित है जबकि हुस्सर्ल के लिए इसकी स्थिति बहिर्मुख विषय-चैतन्य के अन्तिम निवर्त्तन-बिन्दु पर है। डेकार्ट के लिए एक प्रत्यक्ष केवल अपने विषय की चेतना ही नहीं है बल्कि साथ ही साथ यह अपनी चेतना भी है। इस आत्मचेतना में ही ज्ञातृत्त्वाभिमान का अपने साथ सहभाव-सहावस्थान-घटित होता है। यद्यपि यह सहावस्थान सदैव विद्यमान रहता है किन्तु विषय पर केन्द्रित होने के लिए यह अवधान (अटेंशन) आत्मभाव की उपेक्षा कर देता है। किन्तु जब अवधान आत्म के उत्तानीकरण (इंटेंसीफिकेशन) के लिए अपनी ओर उन्मुख होता है तब यह अत्यन्त ठोस किन्तु अस्फुट सहावस्थान अत्यन्त स्फुट हो जाता है। अवधानमय चैतन्य के लिए ''मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं हूँ'' ''मैं हूँ'' हो जाता है, यह स्वत:सिद्ध अनिवार्यता का रूप ले लेता है।

हुस्सर्ल की रुचि ब्रेंटानों की मनोवैज्ञानिक स्तरीय चेतना की दुहरी संरचना (स्ट्रक्चर) में, अर्थात् विषयोन्मुख चेतना की सहगामी अस्फुट आत्मचेतना में नहीं थी। हुस्सर्ल के लिए चेतना पुरी तरह विषयापेक्षी (इंटेंश्नल) है; अथवा कहें, वह आत्म की, चेतना की, अन्य किसी प्रकार से कल्पना ही नहीं कर सकता सिवाय विषयापेक्षावृत्ति के केन्द्र में परिवर्तन के। उसके लिए अवधानमय (अटेंटिव) चेतना के द्वारा आत्म के अपने साथ सहभाव की बात अचिन्त्य है। उसके लिए मूलगामी उत्स का लक्ष्य केवल विश्व की पुनराप्ति है। इस उत्स को विश्व की निरंतर सघनतर होती समग्र पुनराप्ति के सिवाय किसी और प्रकार से नहीं समझा जा सकता: अर्थात् एक ओर ''समग्र विषयोन्मुखता'' के रूप में-तटस्थ द्रष्टा के सम्मुख दृश्य के रूप में-और दूसरी ओर ऐसी रचनावृत्तिक (कांस्टीट्यूटिव) ''अन्तर्हित लक्ष्योन्मुखता'' (इंप्लिसिट डाइरेक्श-नेलिटी) के रूप में, जो विश्व को अर्थ देती है।

रचनात्मक विषयापेक्षावृत्ति के अतिक्रामी परिप्रेक्ष्य में भी चैतन्य के अपने साथ सहभाव की बात की जा सकती है, किंतु इसका इसके अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं है कि अतिक्रामी चैतन्य अपनी समग्र विषयवृत्तिकता के साथ सहभाव को प्राप्त करता है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट और हुस्सर्ल दोनों में मूलगामी आरम्भ (रैडीकल प्वाइंट आफ डिपार्चर) अपनी स्थिति ग्रहण करने के साथ ही अपना स्वत:-प्रामाण्य खोकर सापेक्षता से रंजित हो

जाता है-डेकार्ट का ज्ञातृत्त्वाभिमान ईश्वर के समक्ष अपनी सीमितता के बोध से और हुस्सर्ल का अतिक्रामी ज्ञातृत्वाभिमान आन्तर बोध के पूर्वगामी अस्फुट (प्री-रीफ्लेक्सिव) अनुभव के सम्मुख अपनी गौणता की स्वीकृति से।

किन्तु, तेवनाज के अनुसार, डेकार्ट तथा हुस्सर्ल के बीच बहुत बड़ा व्यवधान है। प्रथम ऐसे आरम्भ को खोजता है जो पहले से विद्यमान नहीं है, जबकि दूसरा पहले से विद्यमान के वास्तव आरम्भ को खोजता है। डेकार्ट और हुस्सर्ल की काल की अवधारणा में भी मौलिक अन्तर है। फिनोमिलोजिकीय उद्घाटन की क्रिया में "पूर्वत: विद्यमान" का, एक अतीत-एक इतिहास-का उद्घाटन अभिप्रेत है और इस पूर्वगामी की आकांक्षा (इन्टेंशन) युगपत् रूप से लक्ष्यकृत भविष्य की भी आंकक्षा है। हुस्सर्ल ऐतिहासिकता, परिस्थिति, अथवा कालबोध में जीता है, क्योंकि उसके लिये एक निहित आशय (रीजन) है जो स्फुट रूप लेता है। वास्तव में हुस्सर्ल इसी अर्थ में प्लेटोवादी है, इस अर्थ में नहीं कि वह विशुद्ध धर्मों (एस्सेंसिज) के अव्यवहित संज्ञान (इंट्यूशन) का प्रतिपादन करता है। इसके विपरीत डेकार्ट के लिये सिद्धि सदैव प्रस्तुत है-वह अवधानात्मक चेतना की क्रिया में निहित है, हुस्सर्ल के समान भविष्य में चरितार्थ्य नहीं है।

इस प्रकार हम दो मूलगामिताओं को देखते हैं-आदिम सत्य को स्थापित करने के अभिनिवेश के रूप में अथवा सत्य के आधार की पुनराप्ति के रूप में। इस प्रकार ये दो मूलत: भिन्न-भिन्न अभिवृत्तियां हैं--अव्यवहित आत्मस्थिति की और अतिक्रांततावाद की। इस प्रकार, डेकार्ट अतिक्रांततावादी नहीं था, जैसाकि हुस्सर्ल ने समझा और जिसमें असफल रहने का दोषारोपण उसने उस पर किया। डेकार्ट के प्रभाव के कारण ही वास्तव में फ्रांस में कभी अतिक्रांततावाद की जड़ नहीं जमी।

इस प्रकार मूलगामितावाद के लिये अतिक्रांततावाद एकमात्र रास्ता नहीं है। इसके विपरीत, अतिक्रान्ततावाद पूर्णत: मूलगामी हो ही नहीं सकता (अन्य बातों के अतिरिक्त, तत्त्वमीमांसा में अनास्था के कारण भी।) अतिक्रान्ततावादी के लिये मानव-तर्कणा वास्तव में मूलगामी परीक्षा की विषय नहीं बनती-यह बात हम कांट तथा हुस्सर्ल दोनों में देखते हैं। इसके विपरीत डेकार्ट में मानव-तर्कणा दैत्य के हस्तक्षेप की कल्पना द्वारा अपने मूल से हिला दी गयी है। वास्तव में दार्शनिक मूलगामितावाद इस मूलगामी त्रास का ही समानुपाती है। हुस्सर्ल का अतिक्रान्ततावाद मूलगामी होने की वास्तव इच्छा के बावजूद मानव-तर्क तथा विश्व के प्रामाण्य के प्रति इस आधारभूत चुनौती को अनुभव नहीं करता। हुस्सर्ल के तर्क तथा विज्ञान में अबाध विश्वास की ओर प्राय: ही संकेत किया गया है। उसने इस मूल चुनौती के बजाय एक अपेक्षाकृत निर्बल चुनौति को स्वीकार किया है-वह है विज्ञान की अर्थ-हानि की चुनौती। वह "यूरोपीय विज्ञान" के संकट का भय देखता है, तर्क के संकट का भय नहीं

आन्तर बोध एवं आत्म की चेतना

इस लेख में तेवनाज ने आत्म की उपलब्धि के दो मार्गों में भेद किया है-आत्म की विषयरूप में उपलब्धि और आत्म की अपने निजत्व में उपलब्धि में, और तब दूसरे मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार दर्शन आत्म को जानने की ही एक विधा है और इसका यही लक्षण इसे विज्ञान से भिन्न करता है। दूसरे शब्दों, किसी भी ज्ञान द्वारा अपने आधारों की खोज दर्शन है। यदि सुकरात का सूत्र "आत्मानं विद्धि" दार्शनिक आत्मनिष्ठतावाद की उद्घोषणा है तब साथ ही यह सच्चे अर्थों में मूलगामी विषयनिष्ठतावाद (आब्जेक्टिविटी) के दार्शनिक अन्वेषण का भी द्योतक है।

आत्मोन्मुखता दर्शन की अनिवार्य कार्यविधि भी है, क्योंकि इसके बिना विषयी अपने को नहीं पा सकता। किन्तु विषयित्व की यह खोज हमें एक आधारभूत विकल्प के सम्मुख प्रस्तुत कर देती है। प्रथम विकल्प यह है: कि या तो हम विषयी-आत्म-का उसके स्पष्ट निर्धारणों (डिटर्मिनेशंस्) के साथ

ग्रहण करें, जिसका अर्थ होगा विषयी का (द्रष्टत्व का) विषय में (दृश्यत्व में) रूपांतरण करना, अथवा इसको क्रमश: ऐसे उत्स के रूप में उद्घाटित करें जो हमारी चेतना के सीमांतों पर उद्भासित रहता है। तब क्या आत्मोन्मुखता के लिए इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है कि वह या तो आत्म को प्रकृति (विषय) के रूप में ग्रहण करे अथवा इसे अव्यक्त विषयी के रूप में अनवगम्य बनाए ?

दूसरा विकल्प 'रीफ्लेक्शन' के दुहरे अर्थ पर निर्भर है– या तो इसका अर्थ एक नये स्तर पर अपने को प्रक्षेपित (प्रोजेक्ट) करना है और इस प्रकार यह आत्म का अपने से पृथक् कर ग्रहण करना है, अथवा यह अपने बिखराव को समेटना, अपने को अपने केन्द्र पर संकलित करना, आत्म-केन्द्राभिमुखी होना, है। प्रथम में "एकोऽहं बहुस्याम" की आकांक्षा द्वारा आत्म का अपने केन्द्र के चारों ओर अनन्त प्रसार है, दूसरे में अपवारण द्वारा, निर्वस्त्रीकरण द्वारा, अपने को अव्यवहितत्व में पाना है। तब क्या यहाँ भी आत्म परत्व के अनन्त आवलयन तथा अव्यवहितत्व के ऐसे विकल्प के बीच भटकने को बाध्य है जिसका कोई प्रमाण और कसौटी नहीं है ? यहाँ यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि क्या आत्म की अस्फुट चेतना और स्फुट चेतना में अन्तर मात्रात्मक है अथवा आधारभूत है ? फिनोमिनलोजी की यह स्थापना कि चेतना प्रकृत्या विषयापेक्षात्मक है, इस प्रश्न के अर्थ को पूर्ण स्पष्टता के साथ सम्मुख ला देती है। यह स्पष्ट है कि चैतन्य के ऐसे किसी भी अवधारणा में, जिसमें विषयाभिमुखी (इंटेश्नेलिटी) का विशिष्ट स्थान है, विषयी द्वारा अपने ज्ञान को विषयापेक्षा वृत्ति की ही एक विशिष्ट विधा के रूप में स्वीकार किया जायगा तथा विषयी के अस्फुट एवं स्फुट अवगमनों (बोधों) के बीच मूलगामी पार्थक्य देखा जायगा। इस बिन्दु पर ब्रेंटानों तथा हुस्सर्ल के प्रतिपादनों के अन्तर पर विचार करना बहुत उपयोगी होगा।

ब्रेंटानों की समस्या मानसिक तथा भौतिक के बीच मौलिक अन्तर दिखाना थी। उसे "मानसिक" के दो विच्छेदक गुण दिखाई दिये : प्रथम, विषयापेक्षा अथवा विषयाभिमुखता, और दूसरा, मानसिक घटनाओं का आंतर बोध। दूसरे शब्दों में, विषय की अपेक्षा-विषयवृत्ति-में प्रदत्तता के साथ विषय की अवगति की अवगति भी रहती है। किन्तु इसका अर्थ होगा कि अवगमन के अवगमन का अवगमन भी होता है, और इस प्रकार अनन्तक्रम (अनवस्था प्रसंग-दोष) होगा। ब्रेंटानों में इसका समाधान यह है कि अपेक्षित (इंटेंडिड) विषय मुख्य होता है और अपेक्षाभिक्रिया गौण विषय होती है। गौण विषय अस्फुट अथवा सीमांतीय मात्र होता है। इसका अवगमन इसके मुख्य विषय में रूपांतरण के बिना नहीं हो सकता। "जब हम अभिक्रिया (एक्ट) में रहते हैं (उदाहरणत: जब हम एक कहानी पढ़ने में निमग्न होते हैं) तब हमें निष्पन्न अभिक्रियाओं के केन्द्र के रूप में इस मैं (आत्म) का कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता।"[9] इस प्रकार चेतना का पूर्णत: विषयवृत्तिक (इंटेंश्नल) होना सिद्ध है। इस आत्म की आत्मोपलब्धि का केवल एक ही उपाय है और वह है अन्तरोन्मुखता-आन्तर बोध-"यदि हम अभिक्रिया का निष्पादन करते हैं और उसमें रहते हैं तब स्वभावत: हम उसके विषय की उपेक्षा करते हैं, उसके अर्थ की नहीं। यह अर्थ आन्तर बोध की अभिक्रिया के बिना विषय नहीं हो सकता।"[10]

अब, तेवनाज के अनुसार फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण ठीक इस बिन्दु पर ही आरंभ होता है-जब आत्म (विषयी) अपने को (विषय में) खोना नहीं चाहता और अपने प्राकृतिक स्वभाव का प्रतिरोध करता है। यह आन्तरवृत्ति (रीफ्लेक्शन) ही फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण को मूलत: अन्त:वृत्तिक बनाती है। किन्तु यह अन्त:वृत्तिकता प्राकृतिक विषय को विलुप्त नहीं कर देती। यह विषय गौण रूप से विद्यमान रहता है। उदाहरणत: मैं एक ध्वनि सुन रहा हूँ=मैं सुनी गई ध्वनि हूँ, पूर्णत: ध्वनिभूत। तब आन्तरवृत्ति (रीफ्लेक्शन) द्वारा मैं श्रवणाभिक्रिया को विषय बनाता हूँ और इस प्रकार मैं ध्वनि-श्रवण के अनुभव के प्रति चेतन होता हूँ। किन्तु स्वयं के सुनते होने की चेतना में सदैव श्रुत (ध्वनि) की अन्तर्हित (इम्प्लिसिट) चेतना भी रहती है (कहना चाहिये, श्रुत ध्वनि विषयभूत

श्रवणाभिक्रिया के अंग रूप में प्रदत्त होती है:-अवगत है कि, सुन रहा हूँ : ध्वनि)। इस अभिक्रिया में, जो प्रकृति-विरुद्ध अभिवृत्ति में उपलब्ध होती हैं, प्राकृतिक विषय का ह्रास घटित होता है, यह (विषय) गौण हो जाता है-यह ब्रेंटानों से ठीक उलट स्थिति है, जिसमें अभिक्रिया गौण रूप में, परिपार्श्वों पर, रहती है। हुस्सर्ल में अभिक्रिया की गौण, पारिपार्श्विक, प्रस्तुति असम्भव है-अभिक्रिया या तो मुख्य विषय रूप में प्रस्तुत हो सकती है, अन्यथा वह पूर्णत: अप्रस्तुत ही रह सकती है।

किन्तु यह आत्माभिमुखी अभिक्रिया अनन्तक्रमेण निवर्त्तन कर सकती है - यथा, अवगत है कि सुन रहा हूँ (ध्वनि), अवगत है कि अवगत है कि (सुन रहा हूँ ध्वनि) आदि। किन्तु तब भी, अतिक्रामी आन्तरवृत्तियों (ट्रांसडेंटल रीफ्लेक्शंस्) की यह अनन्त् शृंखला विषयी को विषयी के रूप में, उपलब्ध नहीं करती, बल्कि एक भिन्न स्तरीय विषयवृत्ति (इंटेंश्नेलिटी) के रूप में ही प्रस्तुत करती है। इस प्रकार, सार्त्र के शब्दों में, चेतना में एक "अनवगाह्य अपारदर्शिता की गांठ" रहती है, जिसका निरास सार्त्र एक ओर चेतना की शून्यात्मक (नथिंगनेस) अवधारणा से, और दूसरी ओर "आत्म की चेतना" की अवधारणा से, करता है।

हुस्सर्ल के लिये आन्तरवृत्ति की समस्या सदैव विश्वोन्मुखी चैतन्य की समस्या रही है-अतिक्रामी धर्मों (ट्रांसेंडेंटल एस्सेंसिज) को विषयों के रूप में आक्षिप्त करते हुए चैतन्य की समस्या। इस (विषयवृत्तिक) चैतन्य का कुछ आन्तर नहीं है और फिनोमिनलोजिकीय स्थगन केवल चैतन्य को अधिकाधिक तटस्थ द्रष्टृत्व (विषयित्व-सब्जेक्टिविटी) के रूप में स्थापित करता है। इस प्रकार फिनोमिनलोजी अनन्त आन्तरवृत्तियों का दर्शन है, क्योंकि यह ऐसी आत्मचेतना का विषयाक्षेपन (विषय रूप में आक्षेप) करती है जो एकसाथ आवश्यक और असंभव (आत्म के अविषय रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकने से) है।

आत्म के स्फुट अथवा अस्फुट बोध विषयक विकल्प पर उपरोक्त विमर्श हमें स्वभावत: दूसरे विकल्प - अव्यवहितत्व अथवा अनन्त निवर्त्तन के विकल्प - की देहरी पर ला छोड़ता है।

एकदार्शनिक की अव्यवहितत्त्व में अनास्था स्वाभाविक है, क्योंकि इसका अगोचरत्व इसे सर्व प्रमाणातीत, और अतएव अप्रामाणिक, बना देता है। यह एक असाध्य (साधन-असंभव) विषयिमूलक अचेतनता की स्थिति है। किन्तु क्या यह आवश्यक है कि आत्मचेतनता की इस प्रकार चाक्षुष रूपक के अनुसार अवधारणा की जाय और इससे अव्यवहितत्व की अवधारणा का निर्धारण किया जाय ? यदि आन्तरवृत्ति को चाक्षुष रूपक के अनुसार नहीं बल्कि क्रिया के रूप में कल्पित किया जाय, तब क्या आन्तरवृत्ति को भी अव्यवहितत्त्व की एक विधा के रूप में ही नहीं देखा जा सकता ? (ऐसे अव्यवहितत्त्व की विधा के रूप में जिसका स्वरूप अनिवार्यत: मनोवैज्ञानिक नहीं हो) ? दूसरी ओर, हम अभ्यासवश समझते हैं कि एकमात्र मनोवैज्ञानिक आत्मचेतना ही ऐसी है जो दुहरेपन से रहित है। और क्योंकि दर्शन अनिवार्यत: अन्तर्दर्शन है इसलिये दर्शन में चेतना का दुहरापन (द्वित्व) अनिवार्य है। किन्तु क्या दर्शन के लिये अन्तर्दर्शनात्मक चेतना के अव्यवहितत्त्व की कल्पना संभव नहीं है ? यह अन्तर्दर्शन, जोकि अवलोकन नहीं होकर क्रिया होगा, अव्यवहितत्त्व की ऊर्ध्व स्तर की ओर एक ऐसी प्रगति घटित कर सकता है जो वास्तव अर्थ में दार्शनिक होगी। फ्रांसीय परम्परा में अन्तरोन्मुखता इसी रूप में अवधारित की गयी है। यह आन्तरवृत्ति, जोकि डेकार्टीय चिति (कोजिटो) अथवा बाइरेनीय संकल्प (वोलो) की ओर ले जाती है, सरल आन्तरवृत्त्यात्मक विश्लेषण नहीं है। इसी प्रकार यह मनोविज्ञान को उत्तीर्ण करता हुआ भी अतिक्रान्तता की ओर उन्मुख नहीं है, फिर चाहे वह कांटीय अतिक्रान्तता हो और चाहे हुस्सर्लीय। यह विश्लेषण के द्वारा किसी अन्तर्हित संरचना के उद्घाटन का प्रयत्न नहीं है, यह आत्म की चेतना का संश्लेषणात्मक एवं अव्यवहित रूप में, अन्तरोन्मुखता की क्रिया के साथ युगपद् रूप से, उद्घाटन है।

उदाहरणत:, डेकार्ट जब प्राविधिक सन्देह द्वारा विश्व का निवारण कर देता है तब वह अपने को भी विषय के रूप में देखने से इन्कार कर देता है। उसका लक्ष्य मन की अभिक्रिया को स्वयं अपने घटित होने में आत्मचेतन करना, और इस प्रकार एक उत्कृष्टतर अव्यवहितत्त्व प्राप्त करना है। चिति (कोजिटो) का यह अव्यवहितत्त्व मनोवैज्ञानिक अव्यवहितत्त्व से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें दार्शनिक ज्ञान के लिये अपेक्षित अनिवार्य प्रामाण्य (नेसेसेरी वैलिडिटी) के सभी लक्षण हैं। उसने सन्देहात्मक स्थगन द्वारा विषय को अन्तर्हित (इंप्लिसिट) बना कर अन्तर्हित चैतन्य को आत्मचेतना की अभिक्रिया के रूप में परिस्फुट होने दिया।

इसके अतिरिक्त, "जानामि अत: अस्मि" (कोजिटो एर्गो सम) के द्वारा व्यक्त चैतन्य की अभिक्रिया सद्भाव (बींग) की चेतना है। डेकार्ट के अतिक्रान्ततावादी नहीं होने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है ? हुस्सर्ल तथा कांट के अतिक्रान्तवाद का अभिप्राय गोचर अस्तित्व का स्थगन है। इसके विपरीत, अपने को "ज्ञान-क्रिया" में स्फुट कर अस्फुट चेतना सद्भाव की चेतना हो जाती है अर्थात् मैं चेतन हो जाता हूँ विचार-अभिक्रिया अपने अस्तित्व के लिये पूर्णत: आत्मनिर्भर है। डेकार्ट के अनुसार सब्स्टांस का यही अर्थ है।

आन्तरवृत्ति, अथवा कहें आत्मनिवर्तन, के उपरोक्त निरूपण के पश्चात् तेवनाज मेने बाइरेन तथा बर्गसां की आन्तरवृत्ति की अवधारणा के माध्यम से अपने उपर्युक्त प्रतिपादन की व्याख्या करता है। उसके अनुसार, उपर्युक्त दो प्रकार की आंतरवृत्तियों में विरोध को संक्षेप में इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है: एक, जो फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण को विशेषित करती है और दूसरी, आन्तरवृत्तिक (रीफ्लेटिव) विश्लेषण को, अर्थात् (1) विषयापेक्षी आन्तरवृत्ति, तथा (2) अवधान (अटेंशन) अथवा प्रयत्न पर आधारित आन्तरवृत्ति। दोनों ही मतों का लक्ष्य आन्तरवृत्ति द्वारा चेतना को अपना स्वत्व देना है। किन्तु यदि विषयवृत्तिकता चेतना की एकमात्र संरचना है तब चेतना स्वरूपत: बहिरोन्मुखी, और अतएव स्वत्वरहित, होती है। इसलिये इसकी पुनराप्ति (री-कवरी) आवश्यक हो जाती है। "स्थगन" इसी लक्ष्य की सिद्धि करता है। किन्तु क्योंकि चेतना अंतरोन्मुखी प्रक्रिया में भी अविरामत: नवीन विषयापेक्षावृत्तियों में संक्रमित होती है, इसलिये इसमें या तो चैतन्य का कोई सत्त्व (बींग) नहीं रहता अथवा इसका सत्व शून्यता हो जाता है।

इस प्रकार फिनोमिनलोजी प्राकृतिक अभिवृत्ति के विपरीत दिशा में आन्तरवृत्तिपरक होने पर भी अन्तत: प्रकृतिपरक ही रह जाती है। यह विषयोन्मुखता को प्रचलित धारणा (नाइवेटे) बताकर इसके स्रोत, अभिक्रिया, की ओर निवर्तन का समर्थन करती है, किन्तु इस अभिक्रिया के विषयोन्मुखता का ही एक सूक्ष्मतर रूप होने से अतिक्रामी विषयी की ओर संक्रमण पर्याप्त नहीं है। चैतन्य के "आभिजात्यकरण" का ढंग यह ज्ञान है कि इसके लिये विषयों के माध्यम के बिना आत्मोपलब्धि सम्भव है।

किन्तु तेवनाज के अनुसार, जबकि आन्तरवृत्तिक विश्लेषण (रीफ्लेटिव एनेलेसिस) आन्तरवृत्तिकता की उचित अवधारणा पर प्रतिष्ठित है, इसके सत्त्व (बींग) की अवधारणा पर्याप्त विकसित नहीं है। इसके विपरीत फिनोमिनलोजी की सत्त्व की अवधारणा जबकि उपयुक्त है, इसकी आन्तरवृत्तिकता की अवधारणा अत्यधिक विषयपरक है। तेवनाज के अनुसार, विषयापेक्षा विषय-विश्व की सम्यक् विधातृ है, किन्तु यह भी सत्य है कि आत्मा की अव्यवहित अन्तश्चेतना विषयापेक्षा-वृत्ति से अधिक आदिम एवं अधिक मौलिक, और अतएव स्वयं विषयपेक्षा वृत्ति की विधातृ है।

अन्तर्विषयित्व

अन्तर्विषयित्व (इन्टर्सब्जेक्टिविटी) की समस्या, अन्य सब दार्शनिक समस्याओं के समान, प्रत्येक दर्शन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत होती है। ऐन्द्रियानुभववादी (एंपिरिसिस्ट) दर्शन में यह समस्या इस रूप में प्रस्तुत की गयी है-"मैं केवल अपने अनुभवों को जानता हूँ, अत: अन्य किसी अनुभव को परिभाषया जानने में असमर्थ हूँ।" एक प्रकार से यह समस्या न होकर समाधान हुआ। किन्तु जब इस समाधान को हम मूल प्रश्न के-"अन्य हैं, किन्तु अनुभववादी दर्शन "अन्य" को किस प्रकार अर्थ देगा ?"- प्रसंग में देखते हैं तब यह समाधान मूल प्रश्न को सन्तुष्ट नहीं कर पाने से समस्यात्मक हो जाता है। किन्तु वास्तव में ऐन्द्रियानुभववाद में स्वयं "मैं" भी एक समस्या है, ठीक कहें तो, वह दर्शन "मैं" का अन्तर्भाव संवेदों में करके उसे समाप्त कर देता है, अत: उसमें अन्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। किन्तु आश्चर्यजनक रूप से, बहुत से अनुभववादियों ने इस पर विचार किया है। इधर इन दार्शनिकों द्वारा अपने दर्शन की वैज्ञानिक अभिप्रेरणा पहिचान लेने के बाद इसका समाधान "मैं" का "ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत अन्य" में अन्तर्भाव करके किया गया है। इस प्रकार का एक दूसरा समाधान मैंने "मैं" तथा "अन्य" का एक सामान्य में अन्तर्भाव करके प्रस्तुत किया है।[11] किन्तु संभवत: मेरे द्वारा प्रस्तुत समाधान में यह एक मूलभूत कमी कहीं जा सकती है कि यह चेतना का, आत्मत्व का, निरास नहीं करके भी अस्तित्वात्मक अनुभूति का निरास कर देता है जोकि "मैं" का एकमात्र आधार है। फिनोमिनलोजी बहुत दूर तक इस अनुभूति की रक्षा करके इस प्रश्न के समाधान का प्रयत्न करती है। पीछे पोंटी के लेख में हमने इस प्रश्न के फिनोमिनलोजिकीय समाधान का एक प्रयत्न संक्षेप में देखा था। यहाँ हम इस प्रश्न के उत्तर का एक दूसरा प्रयत्न देखेंगे।

लायुर के अनुसार, फिनोमिनलोजी के लिए अन्तर्विषयित्व की समस्या निम्न रूप में प्रस्तुत होती है : विषयता (ऑब्जेक्टिविटी) की एक निश्चित संरचना (कांस्टीट्यूशन) है जिसका आधान-धारण-उसकी अभिक्रिया में होता है। इसी प्रकार विषयी की भी एक निश्चित संरचना है जिसका आधान आन्तरवृत्ति (आत्मवृत्ति) में होता है। किन्तु इस रूप में यह विषयी एक भिन्न प्रकार और भिन्न स्तर का विषय मात्र है। विषयी की विषयी रूप में भी एक संरचना कल्पनीय है-कि यह विषयों को, परिदृश्य को, अपने सम्मुख प्रस्तुत देखता है। इन दोनों पक्षों को संयुक्त रूप से कहें तो कहा जायगा कि, विषयी की संरचना द्रष्टा का आत्मदृश्यत्व है।

इस सन्दर्भ में "अन्य विषयी" का क्या अर्थ हो सकता है ? "अन्य विषयी" के लिए एक सर्वथा भिन्न संरचना की आवश्यकता है-मेरे लिए उसका ऐसे स्वत:प्रतिष्ठित द्रष्टा के रूप में प्रस्तुत होना आवश्यक है जिसके दृश्य का वह स्वयं केन्द्र है और उसके दृश्य का उसके केन्द्र से निर्धारित रूप में प्रस्तुत होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, अन्य का द्रष्टृत्व और दृश्यत्व मुझे उसके द्रष्टृत्व और दृश्यत्व के रूप में प्रस्तुत होने आवश्यक हैं। (किन्तु उतना ही आवश्यक यह भी है कि मैं विषय रूप में अन्य को और मेरा यह अन्य के लिए विषयत्व (दृश्यत्व) मुझे, विषय रूप में प्रस्तुत हों।) हुस्सर्ल के विषयापेक्षात्मक सिद्धान्त की पदावली में इसे कहा जा सकता है कि, विषयी एक ऐसा विषय है जिसकी संरचना एकसाथ विषय और विषयी दोनों रूपों में होती है। वास्तव में, यह समस्या विषयापेक्षात्मक संरचना की अवधारणा के मूल में ही निहित है, विशेषत: तब जब यह ज्ञातृत्वाभिमान (इगो) की संरचना के रूप में देखी जाती है। इस ज्ञातृत्वाभिमान का एकसाथ संरचनावृत्ति (कांस्टीट्यूशन) और संरचित विषय होना आवश्यक है।

''अन्य के ज्ञान'' की समस्या इस बात में है कि विषयी होने का अर्थ अनुभवकर्त्ता होना है और अतएव विषयी के रूप में विषय होने का अर्थ है अनुभव-कर्त्ता के रूप में अनुभूत होना। इस प्रकार, अन्य विषयी के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि किसी प्रकार अन्य के अनुभव के मेरे अनुभव हुए बिना मेरी विषयवृत्ति (इंटेंशन) को प्रदत्त हो सकें। इसके लिए हुस्सर्ल परानुभूति (एम्पेथी) की अवधारणा का आश्रय लेता है। एम्पेथी में हुस्सर्ल एक ऐसे संरचित विश्व की कुंजी देखता है जो वास्तव और संभाव्य सब विषयों के लिए उपयुक्त है। इस ''एम्पेथी'' की उसने अपने विषय-वृत्तिकता के सिद्धान्त में व्याख्या खोज ली हो, ऐसी बात नहीं है, और न उसे ऐसा कोई भ्रम ही था; उसने इसे केवल तात्कालिक रूप से, विस्तृत व्याख्या पाने तक के लिए, स्वीकार किया था। यूजेन फिंक के शब्दों में, हुस्सर्ल को 'एम्पेथी' की व्याख्या करने की कोई उत्सुकता नहीं थी, बल्कि वह इसका उपयोग स्थगन की व्याख्या के लिए करना चाहता था, जिसके द्वारा कि अन्य विषयिओं (अनुभव-कर्त्ताओं) के साथ लोक-स्तर के सम्पर्क को अतिक्रामी-स्तर पर उठाया जा सकता है।

इसके पश्चात् फिंक विषयित्व के अतिक्रामी स्तर पर संरचना का निरूपण करता है। उसके अनुसार, संरचित विश्व में से अपवारण (एब्स्ट्रेक्शन) के द्वारा एक ऐसा अंश पृथक् किया जा सकता है जो केवल मुझे ही ग्राह्य हो ; यह मेरा सप्राण शरीर है। अपने शरीर का अनुभव शेष प्रकृति के अनुभव से मूलत: भिन्न प्रकार का है। शरीर एक आत्मा द्वारा सप्राणीकृत रूप में अव्यवहित रूप से प्रदत्त होता है और परिणामत: आत्मा भी उसी प्रामाण्य में युगपद्रूप से अपने को व्यक्त करता है। इसी अभिक्रिया में अभिमान (अहं) अपने को ''शरीरात्मा'' के रूप में संरचित कर सकता है। विषय रूप में संरचित होने से यह विषयात्मक विषयी (दृश्यभूत द्रष्टा) होता है। विषयित्व के इसगौण स्तर पर ही, जिस पर कि विषयी रूप में ग्रहण किया जाता है, यह भेद करना संभव है कि विषयी का क्या निजी है और क्या पर। और इसी स्तर पर पहली बार अन्य के अनुभव का ग्रहण संभव है। विशुद्ध अतिक्रामी आत्म के अन्तर्गत वैयक्तिक विषयिओं की संभावना विषयित्व की सामान्य अवधारणा के विशिष्ट उदाहरणों के रूप में देखी जा सकती है। अपना विषयित्व विशुद्ध अतिक्रामी आत्म के द्वारा संरचित होने से वह विषयित्व की सामान्य रचना का एक उदाहरण मात्र होता है। पुन:, विश्व पहले अतिक्रामी ''हम'' के एक विषयात्मक प्रतिपक्ष के रूप में प्रदत्त होता है, किन्तु इस ''हम'' के अन्तर्गत विषयिओं का यह प्रथम विभेद ''मैं'' तथा ''अन्य'' के विभेद से पूर्वगामी है, और इस प्रकार विषयों की सर्वसाधारणता का स्रोत विषयापेक्षी (इंटेंश्नल) संरचनात्मकता के प्रागनुभविक नियम हो जाते हैं। ये नियम उस विशुद्ध द्रष्टृत्व के स्तर पर संरचित होते हैं जो स्तर द्रष्टा-भेद (मैं तथा पर के भेद) से प्राक् है। किन्तु यदि उक्त प्रतिपादन सही है तो यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि क्या तब अन्य द्रष्टा वास्तव में प्रदत्त होते हैं याकि केवल द्रष्टृत्व का एक सामान्य प्रत्यय प्रदत्त होता है, जिसके अन्तर्गत अन्य विषयी ''कोई-एक विषयी'' के रूप में ग्राह्य होते हैं।

हुस्सर्ल का अन्तर्विषयित्व का यह सिद्धान्त हेगल की ''फिनोमिनलोजी ऑफ स्पिरिट'' के विषयिओं (आत्माओं) के समाज के सिद्धान्त के बहुत निकट है। विषयी अपनी संरचना में सर्वप्रथम विशुद्ध अतिक्रामी और विषयत्व मात्र का अपेक्षी है। इसके अनन्तर ही विषयी अवगम्य विषय के रूप में संरचित होता है। अन्य विषयी में यह प्रक्रिया पूर्णत: उलट हो जाती है : उसका ग्रहण पहले विषय के रूप में होता है और तब विषयी के रूप में।

विषय-पक्ष में यह सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण भेद का सन्निवेश करता है, जिसकी चर्चा हुस्सर्ल की बाद की कृतियों में हुई है। इसके अनुसार, वैयक्तिक ''विषयी'' के अतिरिक्त एक उच्चतर

स्तर का विषयी - सामाजिक विषयी, सांस्कृतिक व्यक्तित्व - भी होता है और परिणामत: वैयक्तिक विश्व के अतिरिक्त सांस्कृतिक विश्व भी होता है। इस सांस्कृतिक विश्व में यह अन्तर्विषयित्व प्रागनुभविक (अ-प्रायरायी) रूप से संरचित होता है।[12]

फिनोमिनलोजी एवं अस्तित्ववाद

नटांसन के अनुसार, सार्त्र का अस्तित्ववाद अधिकांश में हुस्सर्ल के विषयापेक्षा (इंटेश्नेलिटी) के सिद्धान्त की एक व्याख्या अथवा रूपान्तरण कहा जा सकता है। किन्तु, उसके अनुसार, सार्त्र ने जहाँ-जहाँ हुस्सर्ल से अपना रास्ता बदला है वहाँ उसकी न्यूनताएं ही प्रकट होती हैं, और यह भेद हुस्सर्ल की उपलब्धियों की और भी स्पष्टता से प्रकट करता है।

हुस्सर्ल के अनुसार, विषयापेक्षता का मुख्य लक्षण निर्दिष्टता (डाइरेक्शनेलिटी) है - चैतन्य स्वरूपत: विषयोन्मुखी (विषयवृत्तिक) है। इसका अनुपूरक स्थगन का सिद्धान्त है जो विषय की स्वायत्तता को अक्षुण्ण रख कर भी उसकी सत्ता को स्थगित कर देता है। परिणामत: सत्य, कल्पनाजन्य, स्वप्नगत आदि विषय अपेक्षा-विषयों के रूप में एक ही स्तर के हो जाते हैं। वही स्थिति आत्म की होती है।

फिनोमिनलोजी के कुछ आलोचकों ने अपेक्षी चैतन्य की इस अवधारणा को विषयिनिष्ठतावाद तथा आत्माद्वितीयतावाद (सोलिप्सिज़्म) के कठोरतम प्रतिपादन के रूप में देखा है, किन्तु इसके विपरीत सार्त्र के लिए हुस्सर्ल के अपेक्षा-सिद्धान्त का मुख्य आकर्षण विषयिनिष्ठतावाद से मुक्ति दिलाने में ही है। उसके अनुसार, हुस्सर्ल के चेतना के सिद्धान्त की विशिष्टता उसके विषयि-विषय-भेद के अतिक्रमण में है - यह दोनों का समानरूप से स्थगन करता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में विषयापेक्षा विषयि-मूलक ध्रुव (सब्जेक्टिव पोल) का फलन नहीं है, बल्कि यह विषय-भाव (ज्ञान-वस्तु: नोएमा) है; चैतन्य हमें वस्तुसत् के सम्मुख प्रस्तुत करता है और उसी के माध्यम से अहं का उद्भव होता है। इस प्रकार अहं विषय का समवर्ती है - यदि इसे अनुवर्ती नहीं भी कहें तो। अनुभव दोनों का पूर्ववर्ती है।[13] सार्त्र हुस्सर्ल की चैतन्य की इस अवधारणा का रूपान्तरण कर अहं के असत्व (नानबींग) को आदिम वृत्ति (डाटम) का पद देता है। हुस्सर्ल का चैतन्य की निरहंता का सिद्धान्त (नान-इगोलोजीकल थीयरी) (नास्तिता: निहिलेशन) के दर्शन में रूपान्तरित हो जाता है।

सार्त्र के अनुसार, विषयापेक्षा की अवधारणा का वास्तविक अभिप्राय चैतन्य और विषय की सह-प्रदत्तता करना है। वह ज्ञान की संधारक-रूप अवधारणा को स्वीकार नहीं करता और विषयापेक्षा के सिद्धान्त को इस भ्रम के निवारक के रूप में ही देखता है। उनके अनुसार "ज्ञान को संधारण (पोज़ेशन) से उचितरूप में उपमित नहीं किया जा सकता .... चैतन्य विशुद्ध है, यह महा वात (ग्रेटविंड) के समान विस्पष्ट है, इसमें कुछ आहित (रखा हुआ) नहीं है सिवाय उस गति के जो इसे अपने में निहित होने से बचाती है, जो इसमें आत्म-निष्क्रमण घटित करती है, अपने से परे ले जाती है। यदि कोई पूर्ण असंभाव्यता के बावजूद चैतन्य के "भीतर" प्रवेश कर भी ले तो वह एक दुर्दान्त वात्याचक्र द्वारा लपेटा जाकर बाहर फेंक दिया जायगा, क्योंकि चेतना का कोई "अन्त: प्रदेश" नहीं है, यह अपने "बाह्य" के अतिरिक्त कुछ नहीं है, और यह एक ऐसा आत्म-निष्क्रमण है, तत्त्व होने का ऐसा निषेध है जो इसे चैतन्य बनाता है।" (सिचुएशंस् - 1 पैरिस, गैल्लिमर्ड, 1947)। इस प्रकार सार्त्र के लिये चैतन्य का अपेक्षीभाव (इंटेंश्नेलिटी) वास्तव में अस्तित्ववादी सिद्धान्त ही है।

विषयापेक्षा-वृत्ति के इस अस्तित्ववादीकरण के आधार पर सार्त्र अपने विश्व की रचना करता है। मनुष्य के सत्व की सभी संरचनाएं, जिनकी वह जाँच करता है, जैसे शरीर, अन्य व्यक्तियों के साथ ठोस सम्बन्ध, आवेग, कल्पनाएं सब चैतन्य के विषय-वृत्तिक स्वरूप के द्वारा ही ग्राह्य हो सकते हैं।

हुस्सर्ल तथा सार्त्र प्रकृतिवादी अथवा वैज्ञानिक विश्वदृष्टि को अस्वीकार करने में एकमत हैं। भौतिक विज्ञान तथा गणित को ये बौद्धिक अनुशासनों के निदर्शों के रूप में नहीं देखते। यदि कोई दर्शन तथा सामाजिक शास्त्रों के अद्वितीय एवं ठोस प्रश्नों पर विज्ञान के लोक-धारणामूलक दृष्टिकोण का आरोपण करता है तो वह केवल अनधिकार चेष्टा का अपराध ही करता है। किन्तु विज्ञानवादिता के निषेध का अर्थ प्राकृतिक विज्ञान का निषेध नहीं है, यह केवल विश्व का उसकी असंस्कृत प्रदत्तता में ग्रहण करने का आग्रह है।

किन्तु हुस्सर्ल तथा सार्त्र के बीच अनेक सहानुभूतिक सम्बन्ध होने के बावजूद इनमें अनेक मतभेद हैं जो मात्र पारिवारिक कलह से कहीं अधिक गहरे हैं। मतभेद के दो बिन्दु अधिक मूलगामी हैं - ये हैं फिनोमिनलोजिकीय स्थगन एवं अतिक्रान्तता का निषेध। उसके अनुसार: विषय की सत्ता विषयि-मूल में कल्पित करना तथा इसकी विषयता को असद्भाव में प्रतिष्ठित करना उपयुक्त नहीं हो सकता। विषयिभाव का निर्विषयता से एवं भाव का अभाव से आविर्भाव नहीं हो सकता। हुस्सर्ल चैतन्य को अतिक्रामिता से परिभाषित करता है। यह वास्तव में उसकी महत्त्वपूर्ण खोज है। किन्तु जैसे ही वह ज्ञान-विषय (नोएमा) को अवास्तविक, ज्ञानाश्रयी, बना देता है - ऐसा, जो संवेद-स्वभाव है, तब वह स्वयं अपने ही सिद्धान्त का अपलाप कर देता है। सार्त्र के अनुसार, फिनोमिनलोजिकीय स्थगन विषयापेक्षी चैतन्य को अव्यवहित रूप से प्रदत्त विश्व का बाध करके विषयापेक्षा को उसके स्वरूप से ही निरस्त कर देता है। किन्तु, नटेंसन के अनुसार, हुस्सर्ल पर यह आपत्ति सही नहीं है, और न वास्तव में यह सार्त्र की आपत्ति ही है, यह केवल इनके भाष्यकारों की सूझ है। स्थगन के विरुद्ध सार्त्र की आपत्ति वास्तव में उसकी इस धारणा से प्रसूत है कि अवस्तूकृत (इर्रियलाइज़्ड) ज्ञान-विषय (नोएमा) विषय-तथ्यता के मूल सत्व को ही खो बैठता है और इस प्रकार हुस्सर्ल का विषयापेक्षा के सिद्धान्त का प्रयोजन ही निरस्त हो जाता है। चैतन्य का विषय की दिशा में आत्मातिक्रमण (सेल्फ ट्रांसेंडेंस) होने के बजाय चैतन्य अपनी दिशा में आकुंचित हो जाता है। सार्त्र के अनुसार, "हुस्सर्ल द्वारा अवधारित चैतन्य विश्व, भूत अथवा भविष्य की ओर आत्मातिक्रमण नहीं कर सकता। (बींग एण्ड नथिंगनेस, पृ. 109)"

नटांसन के अनुसार, सार्त्र के विषयापेक्षा एवं अतिक्रामी आत्म विषयक उक्त प्रतिपादन में कुछ ऐसी न्यूनताएं हैं जो हुस्सर्ल के सिद्धान्त में नहीं हैं। सार्त्र का सिद्धांत आत्म के एकत्व एवं आत्म के पर से भेद की ऐसी समस्याओं को जन्म देता है जिनका सन्तोषजनक समाधान उसके अन्तर्गत नहीं मिलता। सार्त्र के अनुसार "मेरे आत्म का सत्व उतना ही जागतिक है जितना पर-आत्म का सत्व है, इसीलिये यह पर के अहं से अधिक असंदिग्ध नहीं है। यह केवल अधिक इंटीमेट - निजी - है।" (दि ट्रासेंडेंस आफ दि इगो ; न्यूयार्क, नून डे प्रेस, 1953) इस प्रकार आत्म के एकत्व की व्याख्या के लिये इंटीमेसी (निजता) की फिनोमिनलोजी का आश्रय लिया गया है, जबकि आत्म के बोध मात्र के लिये बोध-कर्ता की पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य है।

ऊपर हमने फिनोमिनलोजिकीय दर्शन-प्रणाली की रूपरेखा देने का प्रयत्न किया। निश्चय ही यह रूपरेखा इस दर्शन का ज्ञान देने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती, किन्तु यह इस दर्शन के रूप का कुछ अनुमान अवश्य दे सकती है। इस दर्शन के तीन बिन्दु हैं जिनसे इसकी रेखाएं परिसीमित होती हैं और इस प्रकार एक आकार बनाती हैं। ये बिन्दु हैं : (1) चेतना की विषयापेक्षा - विषयवृत्ति, (2) फिनोमिनलोजिकीय स्थगन तथा (3) धर्ममूलक संज्ञान (इण्ट्यूशन आफ एस्सेंसिज़)। ऊपर के लेखों में इनका ही निरूपण हुआ है। किन्तु तेवनाज़ के दो लेखों को छोड़कर शेष चार में मुख्यत: इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक हुस्सर्ल के विचारों का ही विमर्श हुआ है। यहाँ हम संक्षेप में इस संप्रदाय के अन्य तीन मुख्य दार्शनिकों - हाइडेगर, सार्त्र तथा पोंटी के विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

विषयापेक्षा तथा स्थगन हुस्सर्ल के दर्शन में चैतन्य को अर्थ-विधायक के रूप में, विश्व को चैतन्यान्तर्भूत के रूप में, तथा आत्म को अतिक्रामी आत्मबुद्ध के रूप में स्थापित करते हैं। किन्तु "चैतन्यान्तर्भूत विश्व" पारंपरिक दर्शन का प्रातिभासिक विश्व नहीं है, क्योंकि यह 'स्वलक्षण वस्तु' का विपरीतार्थक नहीं है, यह उतना ही विषयभूत चैतन्य है जितना यह चैतन्यभूत विषय है। वास्तव में स्थगन चैतन्य की अभिमुखता का दिशान्तरण घटित करता है, यह विषयभूत चैतन्य विषय की स्थिति उपलब्ध कराता है। किन्तु अभिमुखता का यह दिशांतरण चेतना को निर्विषय नहीं बनाता, चेतना अनिवार्यत: विषयापेक्षात्मक ही है। दिशांतरित आपेक्षिकता अपनी पूर्व अवस्था से केवल इस बात में भिन्न है कि अब इसका विषय अपेक्षी चैतन्य के विषय के रूप में अवगम्य होता है। इसे हमने अन्यत्र[14] "अवगत है कि (अवगत है कि वृक्ष है) के रूप में लिखा है, जहाँ कोष्ठांतर्गत पद "अवगत है" की अन्तर्भूत वस्तु (कांटेंट) का वाचक है। परिणामत: यहाँ "यह वृक्ष है" का अपना कोई सत्व नहीं है, सिवाय "वृक्ष-की-अवगति" होने के। किन्तु प्रथम 'अवगत है' का सत्व दूसरे से भिन्न है, इसका सत्व "अवगत है कि (यह वृक्ष है)" की अवगति होना है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जबकि स्थगन चैतन्य का विश्व से निश्चित निवर्त्तन है, यह विश्व का क्षय नहीं करता, विश्व इसमें चैतन्य के आत्म-अव्यवहितत्व के माध्यम से प्रस्तुत रहता है।

यह निवर्त्तन "निवर्त्तित होने के प्रयत्न" का प्रतिफल है, जोकि मनुष्य (दार्शनिक) अपने संकल्प से घटित करता है। इस प्रकार मानव-प्रयत्न विश्व के सत्व को एक नया आयाम देता है। यद्यपि यह आयाम सदैव निहित रूप में विद्यमान था, क्योंकि विश्व का अन्य कोई सत्त्व नहीं है सिवाय चैतन्य की अपेक्षा के, किन्तु मानव-प्रयत्न इसे व्यक्त करता है - एक ओर विश्व को अपने में अन्तर्भूत करके और दूसरी ओर आत्म की अतिक्रामिता को - अर्थ विधायकता को - व्यक्त करके। इस प्रकार मानव-प्रयत्न चैतन्य तथा विश्व के सत्व का प्रकाशक बनता है। इसके विपरीत हाइडेगर सत्व को गहनतर स्तर पर अवधारित करता है। वह सत्व को अस्फुट तथा गुह्य शक्ति के रूप में कल्पित करता है। जो अपने को व्यक्त करने का संकल्प करती है, जो अपने को उद्घाटित करने के उपयुक्त स्थल का चयन करती है और अपने को मनुष्य को प्रस्तुत करने के लिए, अपने कूट से बाहर आने के लिए, अपने को व्यक्त करने तथा अपने अर्थ-धारण करने के लिए, स्वीकृति देती है। इस प्रकार हुस्सर्ल के विपरीत और फिनोमिनलोजिकीय दार्शनिक प्रेरणा के विपरीत भी, हाइडेगर में मानवप्रयत्न, सजग फिनोमिनलोजिकीय अन्वेषण, अस्थाने हो जाता है, क्योंकि यदि सत्व मानव की ओर अभिमुख होता है, अथवा कहें, यदि अपने को उद्घाटित करने के क्रम में यह वहाँ (दा) की, स्थल को और इस प्रकार स्वयं मानव की संभावना को, जन्म देता है, तब मानव-प्रयत्न के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता। इस प्रकार हाइडेगर हुस्सर्लीय विषयापेक्षा को, और उसके साथ स्वयं चैतन्य को भी, स्थगित कर देता है। ये विश्व के साथ ही कोष्ठांतर्गत हो जाते हैं।

हाइडेगर के समान ही सार्त्र ने भी हुस्सर्ल की अतिक्रामी आत्म की अवधारणा का निषेध किया, किन्तु उसका यह निषेध हाइडेगर से ठीक विपरीत दिशा में उन्मुख था, उसने सत्त्व के विपरीत चैतन्य के विषयापेक्षी स्वरूप को प्राधान्य दिया। हुस्सर्ल के दर्शन में स्थगन विश्व के सीमांतों पर अतिक्रामी आत्म को स्थापित करता है, जो विश्व का आक्षेप करता है तथा इसे अर्थ देता है। इस प्रकार यह स्थगन केवल अनुभवगत (मनोवैज्ञानिक) आत्म का ही अन्तर्भाव करता है। किन्तु सार्त्र के अनुसार यदि चेतना का स्वरूप विषयापेक्षात्मक है तब अतिक्रामी आत्म का अध्यारोप अनावश्यक है, अनुभवों के संश्लेषण तथा व्यक्ति-विधान (इंडिविजुअलाइजेशन) के लिए इसकी आवश्यकता नहीं है। उसके अनुसार "अतिक्रामी-आत्म चेतना की मृत्यु है।" चेतना को परिस्फुट करने के लिए न केवल विश्व का

स्थगन ही आवश्यक है बल्कि अतिक्रामी आत्म का स्थगन भी आवश्यक है, अर्थात् आत्म को भी विश्व पक्ष में स्थापित करना आवश्यक है, क्योंकि "आत्म" भी अन्य विषयों के समान चेतना का एक विषय मात्र है।[15] इस प्रकार सार्त्र चेतना से वस्तु मात्र को निष्कासित कर उसे शून्य बना देता है। चेतना यदि अनिवार्यत: विषय-की-चेतना है तो चेतना का आन्तर कुछ नहीं हो सकता, अतिक्रामी आत्म भी नहीं, सब कुछ इसका बहिर्भूत ही हो सकता है। इस प्रकार सार्त्र आत्म का भी निषेध घटित करता है। परिणामत: सार्त्र के लिए स्थगन का लक्ष्य आन्तर बोध नहीं होकर प्रतिषेध (निहिलेशन) है। यह आन्तर-शून्य (नान-रीफ्लेक्सिव) चैतन्य अपने आप में शुद्ध मात्र-चेतना है। इस चेतना को सार्त्र "स्थिति-शून्य," "अविभक्त" मात्र-चेतना कहता है। इस प्रकार सार्त्र, हुस्सर्ल के विपरीत, चेतना को पूर्णरूप से विषयापेक्षी मानता है।

इस प्रकार प्रतिषेध के फलस्वरूप पूर्णत: निश्शेषकृत चेतना धर्म-शून्य हो जाती है। इसका कोई स्वभाव-धर्म-नहीं हो सकता, यह विशुद्ध प्रेरणा, विशुद्ध अस्तित्व है। यह चेतना पूर्णत: पारदर्शी, मात्र-चेतना है।

'अस्तित्व' का आशय यहाँ इसके प्रचलित अर्थ से भिन्न है : इसका अर्थ सत्त्व का क्रियान्वयन, अथवा मात्र तार्किक संभावना के विपरीत अस्तिता, विद्यमानता, नहीं है। (इसके विपरीत सार्त्र का "शून्यता-नत्व-है।") यह अस्तित्ववादी का जीया गया अस्तित्व भी नहीं है, इसका अर्थ पूर्णत: फिनोमिनलोजिकीय है : यह अस्तित्व स्वत:स्फूर्त चेतना का निषेधात्मक स्थगन है।

इस प्रकार चेतना अपने आपको सत्त्व और धर्मता से विरहित कर मात्र आयोजनात्मक (प्रोजेक्ट) हो जाती है, यह अपनी अपेक्षा (इंटेंशन) के उत्स पर उत्पन्न होकर अपने को होने के लिए अभियोजित करती है। प्रकार चेतना की स्वतंत्रता उसकी निस्स्वभावता, धर्म-शून्यता, के कारण है। किंतु यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि चेतना की यह निस्स्वभावता अनिवार्यत: इसकी विषयापेक्षात्मकता के कारण है-चेतना पूर्णत: आन्तरशून्य, नत्व, केवल इसीलिए है क्योंकि यह विषयापेक्षी-विश्वविधायक-है। इस प्रकार, चेतना की स्वतंत्रता विश्व के बिना कुछ नहीं है, यह विश्वात्मक है। स्थगन विश्व का प्रध्वंस नहीं करता, केवल उसका प्रतिषेध करता है, उसे भिन्न रूप में अभियोजित करने के लिए। इस प्रकार चेतना के लिए 'होना' 'कर्म करना' का पर्याय है। कर्म के द्वारा, अभियोजन के द्वारा, चेतना सब कुछ का, अपने सहित,सर्जन करती है। इस प्रकार यह अशेषत: स्वातंत्र्य है। सार्त्र के लिए फिनोमिनलोजिकीय स्थगन मनुष्य के अपने आपको सब निर्धारणों से-अतीत के निर्धारण से भी-मुक्त करने, विच्छिन्न करने, का तथा भविष्य में प्रक्षेपित करने का, वाचक है,"अपनी चेतना के अवगाहन का, इसके सन्धान का, प्रयत्न करो तो पाओगे कि यह पूर्णत: रिक्त है, वहाँ तुम केवल भविष्य को पाओगे।"[16] इस प्रकार सार्त्र ने फिनोमिनलोजिकीय स्थगन को चेतना की रिक्तता की दिशा में उन्मुख किया। इसके द्वारा उसने विश्व का निषेध नहीं किया; किंतु उसके अनुसार विश्व की पुन: प्रतिष्ठा केवल चेतना की पूर्ण रिक्तता के आधार पर ही संभव है। इसके विपरीत मार्ल्यू पोंटी चेतना को विश्व में निमग्न और उससे परिपूर्ण देखता है। उसके अनुसार, "हम कभी भी शून्यता में बंद नहीं रहते। हम सदैव भावित और सत्त्व में स्थित रहते हैं उस चेहरे के समान, जोकि प्रसुप्तावस्था में भी, मृतावस्था में भी, कुछ अभिव्यक्त करने को बाध्य है अथवा.......... उस मूकता के समान जोकि (निश्शब्दता में भी) ध्वनि के विश्व की ही एक विधा है।"[17]

पोंटी विश्व को मूलभूत प्रदत्त (प्राइमरी डाटम) मानता है। उसके लिए स्थगन न तो अतिक्रामी चेतना की ओर संक्रमण है, जिसके सम्मुख कि विश्व अपने को पूर्ण पारदर्शी रूप में (चेतना के अर्थों से रचित रूप में) प्रस्तुत करता है, और न आंतर उत्स की ओर निवर्तन है, बल्कि यह विषयी को विश्व से

अनुबंधित रूप में देखना है। पोंटी के अनुसार, सार्त्र का नत्व विज्ञानवादी आंतरबोध (आइडियलिस्टिक रीफ्लेक्शन) के समान अपने को ऐसी विषयिनिष्ठता में बंद कर देता है जिसका कोई उपचार नहीं है।

पोंटी विश्व को स्वायत्त और अपारदर्शी प्रस्तुति मानता है, और उसके अनुसार फिनोमिनलोजिकीय स्थगन का प्रयोजन विश्व को इसी रूप में दर्शाना है। बोध (रीफ्लेक्शन) केवल तभी बोध है यदि यह अपने को असंज्ञात के संज्ञान के रूप में देखता है।[18] इस प्रकार मार्ल्यू पोंटी के लिए चेतना आदिम मूल नहीं है। उसके लिए वास्तविक विश्व है, चेतना नहीं है।

x x x x x x x x x

इस प्रकार हमने चेतना और विश्व के सम्बन्धों विषयक चार दृष्टिकोणों का विहंगावलोकन किया। चेतना की विषयापेक्षात्मक अवधारणा ये चार, और कुछ दूसरे भी, विकल्प उपस्थित करती भी है। (एक मेरी पुस्तक "ज्ञान और सत्" में प्रस्तुत हुआ है) हुस्सर्ल की इस सम्बन्ध की अवधारणा में उसका अन्तर्मुखी झुकाव और, उसके स्पष्ट विरोध के बावजूद, उसकी विज्ञानवादी (आइडियलिस्टिक) अभिवृत्ति स्पष्ट है। वह एक ओर कांट के समान चेतना को विषय के संरचनात्मक नियम के रूप में देखता है और दूसरी ओर डेकार्ट के समान अतिक्रामी आत्म को स्वत: प्रकाश भी मानता है। यद्यपि वह विश्व को सत् के विपरीत प्रतिभास मात्र नहीं मानता, किन्तु वह इसे पोंटी के समान स्वायत्त और स्वप्रतिष्ठित भी नहीं मानता। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि इस प्रकार वह विश्व को चेतना के अन्तर्भूत मानता है, ऐसा कहना उसके दर्शन पर पारम्परिक दर्शन की कोटियों का आरोप करना होगा, किन्तु तब भी उसका दर्शन "विषयोन्मुखी दर्शन" नहीं है-पोंटी के दर्शन के समान, अथवा एक सीमा तक, सार्त्र के दर्शन के समान भी। वास्तव में विषयापेक्षी चैतन्य की कल्पना हुस्सर्ल के समान अन्तर्मुखीन और पोंटी के समान बहिर्मुखीन हुए बिना भी सम्भव है, जैसाकि "ज्ञान और सत्" तथा उसके बाद की मेरी कृतियों में द्रष्टव्य है। किन्तु तब भी, हुस्सर्ल की दार्शनिक अवधारणा हाइडेगर, सार्त्र एवं पोंटी से अधिक व्यापक और गम्भीर है, यह धर्म, रहस्यानुभव तथा मूल्य-बोध का अपने अवधारण की सीमा में, इनकी अर्थ-हानि के बिना, समावेश कर सकती है। वास्तव में उसकी व्यापकता इससे भी सिद्ध है कि ये तीनों दार्शनिक विकल्प उसके दर्शन के एक-एक पक्ष का अतिरेकीकरण हैं। हाइडेगर का दर्शन हुस्सर्ल की अन्तर्मुखीनता को और गहरे में भीतर ले जाता है और सार्त्र के समान सब कुछ को, और उससे भिन्न स्वयं चेतना को भी, आश्रित रूप में देखता है, जिसका अन्तिम आश्रय चेतना का भी अतिक्रमण करने वाला शुद्ध सत्त्व है। किन्तु यह अभिवृत्ति विश्व को उचित स्थान नहीं दे सकती और रहस्यावाद की ओर ले जाती है। हाइडेगर पूर्णत: अवाच्य सत्त्व की बात करता है जो उसके अनुसार, अन्तिम मूल है और जिसमें सब कुछ का समाहार होता है। इस सत्त्व का वचन और विचार दोनों सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उसका न नाम है और न विचार की कोटियां उस तक पहुँच सकती हैं। "मनुष्य को बोलने से पहले स्वयं सत्त्व को अपने प्रति बोलने देना चाहिये, चाहे इसके परिणामस्वरूप इस आह्वान के उत्तर में उसे मूक ही क्यों न होना पड़े। केवल इस प्रकार ही शब्द को उसका मौलिक अर्थ पुन: उपलब्ध हो सकेगा तथा मनुष्य को सत्त्व के सत्य में आश्रय का वरदान प्राप्त हो सकेगा।"[19] हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि यह दर्शन अयुक्त है, दर्शन का प्रयोजन मूल्योद्घाटन और जीवन का संयोजन स्वीकार करने पर सम्भवत: यह दर्शन सर्वथा युक्त दर्शन होगा, और इस दृष्टि से सार्त्र का दर्शन, जो मनुष्य को मूल्यों का सर्जक और उसकी अनधिष्ठितता (अधिष्ठान से रहितता) को मूल्यों का एकमात्र आधार मानता है, उतना युक्त नहीं होगा, क्योंकि यह मनुष्य को पूर्ण रिक्तता में धकेल कर छोड़ देता है। यदि मनुष्य असत्त्व (नानबींग), नत्व तथा निस्स्वभाव चेतना है, यदि वह केवल

आत्म-बाह्यता (सेल्फ एक्स्टर्नेलिटी) है, तब वह जो कुछ भी करता है वह या तो अनिवार्यत: मूल्य ही होगा अथवा सर्वथा मूल्य नहीं होगा। किन्तु सार्त्र के मनुष्य को निरन्तर सजग रह कर, प्रयत्न से, अपनी निस्स्वभावता प्राप्त करनी होती है। उसके अनुसार, स्वतन्त्र चेतना को निरन्तर स्थिरता-जड़ता-अपने दलदल में लपेटती है जिससे उसे अपने को निकालना होता है। किन्तु इसकी सफलता अन्तत: असफलता में परिणत होती रहती है। "हत्या करके मैंने अपने को एक स्वभाव-धर्म-दे दिया। पहले मैंने अपने अपराध के द्वारा यह सिद्ध करने की कल्पना की कि मैं स्वभावता-धर्मता-का निरास कर रहा हूँ, किन्तु पीछे मेरा स्वभाव मेरा अपराध हो गया, इसने मुझे अपने फौलादी पंजों में जकड़ लिया।"[20] किन्तु यह समझना कठिन है कि मनुष्य धर्मता का ग्रहण कैसे करता है, वह अनिार्यत: निस्स्वभाव क्यों नहीं रहता। सम्भवत: इसका कारण उसका निरन्तर "निजता में सत्त्व" (बींग इन-इट्सेल्फ) से आक्रांत रहना हो, यद्यपि "निजता में सत्त्व" को भी धर्मता कहना उतना उचित नहीं लगता। धर्मता विषयों की, विश्व की, घटक होनी चाहिये, किन्तु विषय (विश्व) सार्त्र के दर्शन में उस प्रकंप के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं जो "निजता में सत्त्व" के अचल वक्ष में "निज के लिये सत्त्व" (चेतना) का स्फोट होने से होता है। सार्त्र के शब्दों में :

"वैज्ञानिकों के अनुसार, यदि विश्व के घटक परमाणुओं में से एक भी नष्ट हो जाये तो उससे ऐसा प्रलय होगा जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर लेगा, और विशेषरूप से यह पृथ्वी तथा सौरमंडल के विलय का कारण होगा। यहाँ यह रूपक हमारे लिये उपयोगी हो सकता है। निजता के लिये सत्त्व ऐसे लघु निषेध के समान है जिसका मूल सत्त्व के वक्ष में है, और यह निषेध निजता में, सत्त्व में, एक व्यापक प्रकंप को घटित करने के लिये पर्याप्त है। यह प्रकंप ही विश्व है।"[21]

इस प्रकार विश्व का सत्त्व केवल रिक्त चैतन्य की भविष्यता के परिणामस्वरूप है। तब क्या भविष्यता भी घटित होने पर अतीत, और परिणामत: अ- विश्व, अचित, "निजता में सत्त्व" हो ज़ाती है।

जो भी हो, यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि मनुष्य निस्स्वभाव होने से मूल्यों का सर्जक है, विश्व भी उसकी मूल्य-सृष्टि है क्योंकि वह उसकी निषेध-क्रिया से उत्पन्न है। किन्तु तब क्या अपनी निस्स्वभावता को प्रमाणित करने के लिये हत्या करना भी मूल्य-सृष्टि है ? और क्या दया, अहिंसा, जोकि अहिंसक कर्म के संपादन के बाद अनिवार्यत: स्वभाव हो जायेंगे, निर्मूल्यता हैं ?

पोंटी के दृष्टिकोण में यह कठिनाई नहीं है। उसके अनुसार, हम विश्व में हैं। विश्व अर्धस्फुट अर्थों की रचना है। प्रत्यक्षीकरण विश्व के साथ हमारे अव्यवहित सम्बन्ध का माध्यम है। अर्धस्फुट अर्थों का स्फुटीकरण इतिहास है : - "यदि सब कुछ अर्थपूर्ण हो तथा यदि विश्व का विकास एक तर्क-योजना का स्पष्ट क्रियान्वयन मात्र हो, तब इतिहास नहीं होगा .... और न तब ही होगा यदि सब कुछ निरर्थक (एब्सर्ड) हो और यदि घटनाक्रम कुछ स्थूल तथा अपरिवर्तनीय तथ्यों द्वारा निर्धारित हो।" इस प्रकार, उसके अनुसार चेतना पूर्वत: विद्यमान अर्धस्फुट अर्थों के विश्व में उत्पन्न होती है और उसका जीवन इन अर्थों के अवगमन, परिमार्जन तथा नियोजन का इतिहास होता है।

यह स्थापना कुछ तार्किक-तत्त्वमीमांसीय कठिनाइयां उत्पन्न करती है, किन्तु यह दर्शन-प्रणाली, विशेषत: अस्तित्ववादी दर्शन-प्रणाली, इन कठिनाइयों को दार्शनिक विचार के लिये प्रासंगिक नहीं मानती प्रतीत होती। तेवनाज़ के शब्दों में, फिनोमिनलोजी "एक विधि है - विश्व के उत्कट संज्ञान के लिये उसके साथ हमारे सम्बन्धों को बदलने की विधि। किन्तु साथ ही, और इसी कारण, यह विश्व के प्रति हमारी अभिवृत्ति है, अथवा कहें, विश्व के साथ हमारे सम्बन्ध के प्रति अभिवृत्ति। किन्तु इसका अर्थ हुआ कि यह दर्शन-प्रणाली चैतन्य, विश्व अथवा मूल्यों के सम्बन्ध में कोई सत्य प्रकट नहीं

करती, बल्कि इसके अनुसार ये सब अभिवृत्ति विशेष के व्यापार की संरचना (स्ट्रक्चर) के घटक अवयव मात्र हैं। एक प्रकार से, मार्ल्यू पोंटी का उपरोक्त उद्धरण इसका समर्थन करता है, वास्तव में सार्त्र भी इससे सहमत होंगे, किन्तु हुस्सर्ल और हाइडेगर इतनी सरलता से इससे सहमत नहीं होंगे। किन्तु तब सार्त्र और पोंटी के विरुद्ध कहा जा सकता है कि यदि दर्शन अभिवृत्ति को ही व्यक्त करता है तब एक दर्शन-सम्प्रदाय अन्य से अधिक उचित होने का दावा कैसे कर सकता है ? यहाँ इस प्रसंग पर चर्चा करना स्थाने नहीं होगा, किन्तु मैंने एक दूसरे प्रसंग में इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया है।''[22]

इस दर्शन प्रणाली के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात इसकी मूल्यों-पुरुषार्थों - के प्रति उत्कट जागरूकता है। इस प्रकार यह दर्शन वैज्ञानिकतावाद के, जोकि ऐन्द्रियानुभववादी तथा तार्किक प्रत्यक्षवादी दर्शन-सम्प्रदायों का मूल है, विपरीत अभिवृत्ति को व्यक्त करता है। किन्तु तेवनाज़ के अनुसार, जैसाकि हमने उसके डेकार्ट एवं हुस्सर्ल विषयक लेख में देखा, हुस्सर्ल पाश्चात्य विज्ञान का संकट ही देखता है, वह स्वयं तर्क-बुद्धि का संकट नहीं देखता। किन्तु संभवत: यह हुस्सर्ल के प्रति पूर्ण न्याय नहीं है। उसके दर्शन में स्थगन की न कोई सीमा है और न शर्त है, और वास्तव में उसका तर्कशास्त्र के आधारों का अन्वेषण तर्कशास्त्र को कोष्ठकांतर्गत किये बिना सम्भव हो ही नहीं सकता था। किन्तु हुस्सर्ल का स्थगन डेकार्ट के समान विश्व (फिनोमिना) के किसी आयाम को अप्रामाणिक नहीं बनाता, वह केवल उसके प्रामाण्य की संरचना का अन्वेषण करता है। इस दृष्टि से वह कांट का अनुयायी है, केवल इस भेद के साथ कि कांट ''विश्व'' को विज्ञान में निश्शेषत: अन्तर्भूत देखता है और हुस्सर्ल उसे उसके केवल एक आयाम के रूप में देखता है। हाइडेगर की स्थिति हुस्सर्ल से भिन्न है, वह पूर्णातिक्रामी-अनवगम्य (ट्रांसेंडेंट) सत्त्व को एकमात्र स्वीकार करता है और उसके अनुसार चेतना, आन्तर बोध, मनुष्य इस सत्त्व की आत्म-परिपृच्छा हैं। यह सत्त्व ईश्वर का भी अतिक्रामी है, ईश्वर केवल अनेकों में एक सत्त्व और इस प्रकार विश्व की एक वस्तु है। इस प्रकार हाइडेगर का सत्त्व प्राय: ब्रह्म है - शांकर ब्रह्म उतना नहीं, औपनिषदिक ब्रह्म अधिक। किन्तु सार्त्र की स्थिति बहुत भिन्न है, उसका सत्त्व जड़प्राय है - अनवलोक्य, अगम्य हिमशिखर जैसा। मनुष्य एक ओर इसका निषेध है और दूसरी ओर इस निषेधजन्य ''विश्व'' का निषेध है, किन्तु वह इन दोनों विपरीत सत्ताओं से निरन्तर और चहुं ओर से घिरा हुआ निरन्तर इनके द्वारा लील लिये जाने से भयाक्रांत है ; मृत्यु चेतना के अस्तित्व की पूर्ण समाप्ति-विलय-का त्रास और विषाद उत्पन्न करती है । मनुष्य के, चेतना के, एक अस्तित्वमात्र होने से उसका होना निरुद्देश्य और अहैतुक है, क्योंकि सत्त्व स्वयं अहैतुक है । इस प्रकार सार्त्र का दर्शन उत्कंठा, विह्वलता और व्यग्रता का दर्शन (अस्तित्ववाद) बनता है । सार्त्र के ''बींग एण्ड नथिंगनेस'' में और उसकी कुछ अन्य दार्शनिक कृतियों में ये अस्तित्ववादी प्रवृत्तियां प्रकट नहीं हैं जैसी उसके उपन्यासों और कुछ अन्य कृतियों में। किन्तु इस दर्शन का किसी न किसी प्रकार के निराशावाद में परिणत होना अनिवार्य था। पोंटी का दृष्टिकोण अनिवार्यत: इस ओर प्रेरित नहीं करता, क्योंकि वह चेतना को रिक्त और एक घटना नहीं मानता, उसकी चेतना ''विश्व से आपूर्ण'' है, इसलिये उसका दर्शन अनिवार्यत: कर्म का दर्शन है - किन्तु निश्चित रूप से निष्काम कर्म का नहीं।

यहाँ अन्त में इस दर्शन-प्रणाली को यूरोपीय संस्कृति के सामान्य संदर्भ में देखना प्रासंगिक होगा। हुस्सर्ल का दर्शन यद्यपि विज्ञान का दर्शन नहीं है किन्तु वह विश्व का दर्शन, विश्व के बौद्धिक अर्थ (रेशनल मीनिंग) का दर्शन है । उसकी चेतना यद्यपि वैज्ञानिक चेतना नहीं है, किन्तु वह वैश्व-अर्थपरक चेतना ही है। यद्यपि पोंटी के विपरीत वह केवल विश्वोन्मुखी नहीं है : उसके अतिक्रमण की दिशा आन्तर है, किन्तु उसका अन्तरोन्मुखी अतिक्रमण बाह्याभियोजन के लिये ही है । सार्त्र का दर्शन

अवैज्ञानिक दर्शन है - पूर्ण रूप से, और यह उसका एक स्पृहणीय गुण है, किन्तु वह हमें विज्ञान से आगे नहीं ले जाता। वह हमें अहैतुक, निरर्थक और विच्छिन्न बनाता है - विज्ञान के अर्थ-राहित्य और हेतु-राहित्य के विपरीत ? विज्ञान-वैज्ञानिकतावाद-उत्कंठा नहीं देता, क्योंकि उसके लिये उत्कंठा की संभावना ही विद्यमान नहीं है, किन्तु सार्त्र इसी असंभावना से परिव्याप्ति की उत्कंठा देता है। पोंटी इसके विपरीत इस परिव्याप्ति को चेतना की भरितता स्वीकार करता है। इस प्रकार यह दर्शन विज्ञान से परिवेष्टित दर्शन है; मूल्य, इतिहास तथा भविष्यता का दर्शन होने से यह अवैज्ञानिक भी है, और हाइडेगर की दिशा में तो यह रहस्यवादी भी है।

***

संदर्भ-सूची : -

1. *'ऑब्जेक्टिविटी' के लिये मैंने 'वास्तवता' का प्रयोग इसलिये किया है क्योंकि यहां ऑब्जेक्ट (विषय) का विकल्पमूलक (कंस्ट्रक्शनल) पक्ष अभिप्रेत नहीं है, बल्कि इससे स्वतंत्र पक्ष अभिप्रेत है। किन्तु 'विषय' शब्द अधिकांशत: प्रथम अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। 'वस्तु' शब्द विषय के इस पक्ष का ही वाचक है। इसी कारण ऊपर 'रीयलिज़्म' शब्द के लिए मैंने 'वास्तववाद' शब्द का प्रयोग किया है। मैंने इस लेख में पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय शब्दों का प्रयोग करने में बहुत सावधानी और स्वतन्त्रता से काम लिया है। शब्दावली आयोग द्वारा तैयार किये गये पारिभाषिक शब्द-कोश में इस दर्शन-णाली के शब्दों का आकलन नहीं किया गया है। किन्तु मैंने इस अर्थ में भी स्वतंत्रता ली है कि प्रसंगानुसार एक ही अंग्रेजी शब्द के लिये प्रसंग-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न हिन्दी-पर्याय दिये हैं। मैंने प्राय: सर्वत्र कोष्ठकों में अंग्रेजी-पर्याय शब्द दे दिये हैं। किन्तु संभवत: मेरे प्रयुक्त हिन्दी शब्द विषय को समझने में अधिक सहायक होंगे।*
2. *इस शब्द के लिये मैंने अधिकांशत: 'विषयापेक्षा' पर्याय का प्रयोग किया है, क्योंकि हुस्सर्ल के दर्शन में विषय इस अर्थ में चैतन्यमूलक हैं कि "रिडक्शन" के द्वारा उनकी स्वतंत्र स्थिति का निषेध किया जाता है और उन्हें "अर्थों" के रूप में समझा जाता है। दूसरी ओर, उनके अनुसार, चेतना उतनी ही विषयमूलक भी है क्योंकि निर्विषय चैतन्य की संभावना को वे अस्वीकार करते हैं। इसलिये वास्तव में विषय उतना ही अपेक्षा भी है जितना आक्षेप है।*
3. *'रिडक्शन' का अन्य दर्शनों में प्रयोग 'अन्तर्भाव' के अर्थ में होता है, किन्तु इस दर्शन-प्रणाली में इसका प्रयोग सर्वथा भिन्न अर्थ में होता है। इस दर्शन-प्रणाली में यह शब्द अत्यन्त आधारभूत अवधारणा को व्यक्त करता है। इस दर्शन में वास्तव में इसका अर्थ "स्थगन" और "प्रतिषेध" अथवा "अपवारण" के बीच का है, किन्तु यदि एक शब्द का ही प्रयोग करना हो तो 'स्थगन' अधिक उपयुक्त है। यहां "स्थगन" शब्द को इस व्यापकतर अर्थ में ही समझना चाहिए।*
4. *फिनोमिनलोजी आफ पर्सेप्शन, रुतलज एंड केगन पॉल, लंडन, अंग्रेजी संस्करण 1962।*
5. *इसके विपरीत तेवनाज़ हुस्सर्ल की सब दार्शनिक कृतियों में एक मूलभूत ऐक्य देखता है। उसके अनुसार, हुस्सर्ल की विभिन्न कृतियों को न तो पृथक्-पृथक् देखना चाहिये और न इन्हें विभिन्न विषयों में एक ही विधि के क्रमश:प्रयोग के रूप में देखना चाहिये। उसके अनुसार, इन कृतियों को इस रूप में देखना चाहिये कि एक मूल दृष्टि अपने को निरन्तर उद्भिन्न करने का, प्रथमत: अस्पष्ट और अनिश्चित रूप से अवबोधित निज निगूढ़ार्थ को विस्फुट रूप में ग्रहण करने का, निरन्तर प्रयत्न कर रही है। हुस्सर्ल के सम्बन्ध में यह इतना सही है कि उसकी पहले की कृतियों का अभिप्राय ठीक-ठीक समझने के लिये बहुत बार उसकी बाद की कृतियों को देखना अनिवार्य है। "ह्वाट इज़ फिनोमिनलोजी" पृ. 40.*

6. यहां हमने 'आइडियलिज़्म' का हिन्दी पर्याय 'विज्ञानवाद' इसलिये नहीं दिया है क्योंकि यहां लेखक को आइडियलिज़्म का केवल रैश्नलिस्टिक रूप ही अभिप्रेत प्रतीत होता है।

7. पोंटी का यह प्रतिपादन हुस्सर्ल की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वपरक है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। यहां यह द्रष्टव्य है कि सांख्य के द्वैतवादी दार्शनिक अभिमत को इसके अनुसार समझना उपयोगी हो सकता है। यद्यपि पोंटी द्वैतवादी नहीं हैं, किन्तु सांख्य द्वारा वेदांत के विरुद्ध प्रधान को पुरुष के समान ही आदिम मानने के पीछे प्रेरणा को पोंटी की इस पदावली में समझना उपयोगी हो सकता है।

8. जो विधि विषय की आन्तर रचना को, उस वृत्ति को जो विषय की रचना करती है, उद्घाटित करती है।

9. हुस्सर्ल-लोजीकल अंडरस्टैंडिंग, पृ. 396,

10. वहीं, पृ. 103,

11. द्रष्टव्य-इतिहास-बोध, तत्त्वचिंतन, शरद् 1969।

12. इस प्रसंग पर मैंने अपनी पुस्तक "संस्कृति: मानव-कर्तृत्व की व्याख्या" के दूसरे अध्याय में तथा "इतिहास-बोध" एवं "प्रजातंत्रवाद : पुनरालोचन की आवश्यकता" (तत्त्वचिंतन-ग्रीष्म 1968) लेखों में विस्तृत रूप से विचार किया है।

13. यहां ह्यूम से इसकी अनुरूपता स्पष्ट है, किन्तु दोनों के दर्शन में इतना मौलिक भेद है कि यह साम्य केवल प्रकट साम्य रह जाता है। यों सांख्य और कुछ दूसरे भारतीय दर्शनों ने भी अहंकार को उत्तरवर्ती माना है।

14. द्रष्टव्य-"ज्ञान और सत्" पुस्तक में 'मानसिक और भौतिक' अध्याय।

15. मैंने "ज्ञान और सत्" के "मानव प्रतिमा" अध्याय में आत्म (ज्ञातृत्वाभिमान) को इसी प्रकार स्पष्टत: एक विषय कहा है। किन्तु मैं कर्तृत्वाभिमान को कल्पना द्वारा और चैतन्य और विषय को अवियोज्य मानने के द्वारा सार्त्र से बहुत भिन्न हो जाता हूं। सार्त्र के विपरीत मैंने स्वंतत्रता की भी विषयापेक्षता के अंतर्गत ही व्याख्या की है। द्रष्टव्य "संस्कृति: मानव-कर्तृत्व की व्याख्या" में "मानव-स्वातंत्र्य" अध्याय।

16. सिचुएशंस् - 1 पृष्ठ 79।

17. फिनोमिनलोजी आफ पर्सेप्शन, पृष्ठ 516।

18. वहीं, पृ. 76।

19. वहीं, पृ. 78

20. बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ. 786।

21. वहीं, पृ. 786।

22. द्रष्टव्य-भारतीय संस्कृति: - जीवित या मृत ? बिन्दु, 1971।

10

फिनोमिनोलोजी तथा अस्तित्ववाद*

बसन्त कुमार लाल

पुस्तक में जिन लेखों का संकलन किया है वे सभी (एक अपवाद-ग्लेन ग्रे का हाईडेगर पर लेख-के अतिरिक्त) जान हॉपकिन्स विश्वविद्यालय के 1966 बसन्त में दिये गए भाषण-माला के अंग हैं। इन लेखों का उद्देश्य फिनोमिनोलोजी एवं अस्तित्ववाद का परिचय देना नहीं है, अपितु यहाँ यह मान लिया गया है कि पाठक इन विचारधाओं से अपरिचित नहीं है। यहाँ फिनोमिलोजी अथवा अस्तित्ववाद का ऐतिहासिक विवरण भी नहीं दिया गया है। यद्यपि लेखों के संकलन और उनकी अनुक्रम व्यवस्था के पीछे एक बृहत् एवं सामान्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण अवश्य परिलक्षित होता है।

मुख्यत: इन लेखों के संकलन के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि फिनोमिनोलोजी एवं अस्तित्ववाद के कुछ प्रमुख प्रसंगों पर प्रकाश डाला जाय। प्रत्येक लेख जटिल विचार के किसी विशेष अंग का विश्लेषण करता है और चेष्टा करता है कि उससे-सम्बधित सभी समस्याएं प्रकाश में आ जांय। दूसरी बात यह है कि इसी विश्लेषण के द्वारा इन दोनों विचारधाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इन विचारधाराओं के संबंध में प्रचलित विचार है कि अस्तित्ववाद वस्तुत: फिनोमिनोलोजी से केवल प्रभावित ही नहीं, उस पर आधृत भी है। ऐसा विश्वास है कि मानवीय अनुभव एवं चेतना के विश्लेषण में अस्तित्ववाद फिनोमिनोलोजी की विधि का ही उपयोग करता है। इस सामान्य धारणा में कितना तथ्य है-यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

लेख - 1

ब्रेंटानों और विवरणात्मक मनोविज्ञान एवं विषयापेक्षा[1]

इस लेख में ब्रेंटानों के विषयापेक्षा (इंटेंश्नेलिटी) के सिद्धांत का विवेचन दिया गया है, और इस विवरण में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि इस अवधारणा का विवरणात्मक मनोविज्ञान में क्या स्थान है और यह भी कि कैसे यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कौन से भाव अभिप्रेत हैं और कौन से नहीं, और किस आधार पर दोनों में अन्तर किया जा सकता है।

किश्होम का कहना है कि ब्रेंटानों के अनुसार जननिक मनोविज्ञान से विवरणात्मक मनोविज्ञान भिन्न है, क्योंकि यह निश्चित निष्कर्ष देता है। उनके अनुसार, विवरणात्मक मनोविज्ञान का संबंध मूल

* *Edward N Lee and M. Mandelbaum., Ed., Phenomenology and Existentialism Balfissore, John Hopkins Press. 1969.*

मनोवैज्ञानिक तथ्यों की समग्रता से है। इसे स्पष्ट करने के लिये इच्छामूलक क्रिया का उदाहरण लिया जा सकता है। इस क्रिया का स्रोत 'कमी' की भावना है, इस कमी को दूर करने के लिये इच्छा जागती है। इच्छा को संतुष्ट करने के लिये संकल्प किया जाता है -एक निर्णय लिया जाता है। इस निर्णय के पीछे यह विश्वास है कि अपने प्रयत्नों से निर्णय को कार्यान्वित किया जा सकता है। तो, इस क्रिया के विश्लेषण में हमें कई तत्त्व मिल जाते हैं - उद्वेग, विश्वास, निर्णय और क्रियाशीलता। इन तत्त्वों को मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं, किन्तु, इन सभी तत्त्वों की समग्रता इच्छामूलक क्रिया है। यह विवरण जननिक मनोविज्ञान से भिन्न हैं, क्योंकि इसमें मानसिक तत्त्वों के अतिरिक्त एक ऐसे तत्त्व का समावेश है जिसे 'अपेक्षित' तत्त्व कह सकते हैं। इस विवरण के अनुसार इच्छामूलक क्रिया में क्रियात्मकता है जिसका कोई अपेक्षित विषय अवश्य होगा।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी विषय का होना आवश्यक है ? आरम्भ में ब्रेंटानों ने अपेक्षात्मक अनस्तित्त्व (इंटेंशनल इनेग्जिस्टेंस) की बात की थी और इसी अवधारणा के द्वारा उन्होंने मानसिक एवं भौतिक में भेद करने का प्रयत्न किया था। इसका स्वरूप क्या है ?

ब्रेंटानों स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि मानसिक क्रियाओं का एक अपेक्षित विषय होता है। अपने विश्लेषण में उन्होंने तीन बातों को स्पष्ट किया: (1) हमारी मानसिक क्रिया का कुछ विषय होता है, (2) यह विषय कोई भौतिक वस्तु नहीं होता, और (3) इसका अपना भौतिक वस्तुओं से भिन्न अस्तित्व होता है। यूनीकार्न (ग्रीक पुराणों का एक सींग वाला घोड़ा) का उदाहरण लेते हुये लेखक कहते हैं, जब यूनीकार्न के विषय में सोचते हैं तब इसे अपेक्षात्मक अनस्ति विषय कहा जा सकता है। विचार के प्रारंभ होते ही यह अस्तित्ववान् हो जाता है, और विचार के रूकते ही इसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

तो क्या ब्रेंटानो के अनुसार मन में अपेक्षात्मक अनस्ति विषय को उत्पन्न करने की शक्ति है ? लेखक दिखलाते हैं कि ब्रेंटानो के अनुसार कुछ ऐसी सत्तावान वस्तुएं हैं जो भौतिक वस्तुओं से भिन्न हैं। लेखक इसे वर्ले की युक्तियों से सहायता लेते हुए स्पष्ट करते हैं। ''मैं तुम्हें एक बैल देने का वादा करता हूँ'' इस निश्चय का कोई विषय तो है, किन्तु वह निश्चित बैल नहीं है। तो, यह कौन सा बैल है? अब यह मानना पड़ता है कि यह बैल है, किन्तु इसका भौतिक अस्तित्व नहीं है, क्योंकि भौतिक अस्तित्व तो किसी विशेष बैल का ही होगा। यह बैल हमारे मन की कृति नहीं है। तब तो एक विचित्र विषय को स्वीकार करना पड़ता है-जो नहीं है और फिर भी हमारे संकल्प का विषय है। इसे 'अपेक्षाकृत अनस्ति वस्तु' कहा जा सकता है।

किन्तु बाद में ब्रेंटानों को स्वयं इसे स्वीकारना असंगत प्रतीत हुआ। जिस बैल की बात हो रही है वह कोई विशेष बैल न हो, किन्तु है कोई वास्तविक बैल ही, अस्तित्व-रहित-बैल नहीं। इसी कारण ब्रेंटानों ने कहा कि मैं जो सोचता हूँ वह केवल विचार का विषय, कोई वास्तविक विषय या वस्तु है। अपेक्षात्मक अनस्ति वस्तु को स्वीकार करने में निहित कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए ब्रेंटानो कहते हैं कि यदि सचमुच 'हैं' शब्द के वास्तविक अर्थ में ऐसी वस्तुएं हैं, तो हर आत्म-व्याघातक विचार और भावना की वास्तविकता स्वीकार कर लेनी पड़ेगी। यदि सोचने की क्रिया अपने 'विषय' को सत्ता दे देती है, तो यदि आत्म-व्याधातक विचार के विषय में सोचे तो उसे भी सत्ता मिल जायगी। फिर, 'ब्रेंटानो' कहते हैं कि, इस विचार को स्वीकार करने से मध्याभाव नियम (लॉ ऑफ एक्सक्लूडेड

मिडिल) का उल्लंघन हो जाता है। यदि बैल के उदाहरण में पूछा जाय कि क्या बैल का भार 817 पौण्ड है ? और फिर यह पूछा जाय कि क्या उसका भार 817 पौण्ड नहीं है ?, तो दोनों का उत्तर 'नहीं' में ही होगा। इस प्रकार मध्याभाव नियम का उल्लंघन हो जाता है। इन्हीं कारणों से बाद में ब्रेंटानो अपेक्षात्मक अनस्ति वस्तु को स्वीकार नहीं करते।

अब ब्रेंटानो प्राय: निश्चित रूप से कहते हैं कि यदि कुछ है-और 'है'-शब्द के वास्तविक अर्थ में है -तो वह अवश्य ही कोई वस्तु है। यदि भाषा में ऐसे शब्द मिलते हैं जिनसे कोई 'अ-वस्तु' सूचित होती है। जैसे अभावात्मक संख्या (नेगेटिव नंबर) तो ब्रेंटानों उन्हें सुविधाजनक-किंतु काल्पनिक ही कहेंगे। उदाहरणत: 'रोटी नहीं है' का अर्थ अभावात्मक अस्तित्व नहीं है, किसी वस्तु (रोटी) के अस्तित्व का निषेध है। 'लाली है' का अर्थ है 'सचमुच लाल वस्तुएं हैं'। 'लाल एक रंग है'- इसका वास्तविक अर्थ है-कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो लाल हैं '।

इस प्रकार ब्रेंटानों सभी निर्देशात्मक वाक्यों (ओस्टेंसिव अटरेंसिज़) को प्रज्ञप्त्यात्मक वस्तुओं में परिवर्तित कर देते हैं। उनके अनुसार भाषा, व्यक्ति और प्रतिज्ञप्ति के बीच संबंध है। ''उसे विश्वास है कि लाल घोड़े हैं ''- इसका अर्थ बस वही है कि विश्वास करने वाला लाल घोड़े के अस्तित्व को स्वीकार कर रहा है।

ब्रेंटानो के प्रारंम्भिक और बाद के मतों के समन्वय का भी प्रयत्न हुआ है। सूरेज ने कहा कि जब हम यूनीकार्न के विषय में सोचते हैं तो सोचने की क्रिया में यूनीकार्न उत्पन्न हो जाता है। इसे अपेक्षात्मक अनस्ति-वस्तु के सादृश्य में समझा जा सकता है, फलत: यह ब्रेंटानो के प्रारंम्भिक विचार केअनुरूप है। किन्तु, यह तो कहा जा सकता है कि जो यूनीकार्न उत्पन्न हुआ है वह कोई भौतिक वस्तु नहीं बन गया है। यह ब्रेंटानो के बाद के मत के समान है। इस प्रकार के समन्वय का एक दूसरा रूप भी हो सकता है। जब हम यूनीकार्न के विषय में सोचते हैं, तो सचमुच एक अपेक्षात्मक अनस्ति-वस्तु बन जाती है ,किन्तु तब 'एक अपेक्षात्मक अनस्ति-वस्तु है, इस वाक्य का अर्थ बस इतना ही है कि 'हम यूनीकार्न के विषय में सोच रहे हैं।'

किन्तु, लेखक के मत में इस प्रकार के समन्वय में कठिनाई है। एक प्रश्न पर विचार करने से यह कठिनाई स्पष्ट हो जाती है। ''राम यूनीकार्न के विषय में सोच रहा है''- इस वाक्य में यूनीकार्न शब्द का प्रयोग किस ढंग से हो रहा है ? यह किसी निश्चित वस्तु को सूचित तो नहीं कर रहा, तो क्या यह राम के सोचने की क्रिया का वर्णन है ? यदि ऐसा है तो फिर प्रश्न उठ जायगा कि यूनीकार्न के संबंध में इस सोचने में राम के संबंध में क्या कहा जा रहा है ? इस प्रकार इस कठिनाई का समाधान नहीं हो पाता।

अब, एक समस्या रह जाती है। अपेक्षित अनस्ति-वस्तु को मान कर 'भौतिक' और 'मानसिक' का अन्तर किया जा रहा था। अब यदि इस सिद्धांत को मान्यता न दें तो ब्रेंटानों के दर्शन में इस अन्तर का आधार क्या रहा जायगा ? कहा जा सकता है कि ''मानसिक'' के विवरण में प्रयुक्त भाषा के कुछ ऐसे तार्किक लक्षण हैं जो ''भौतिक'' के विवरण की भाषा में नहीं हैं। कह सकते हैं कि मानसिक के विवरण में अपेक्षा वाचक पदों का व्यवहार आवश्यक है, जबकि 'भौतिक' के विवरण में यह आवश्यक नहीं है। अपेक्षा वाचक वाक्य एक ऐसा निरूपाधिक (केटेगोरीकल) कथन है जिसमें वस्तु-सूचक पदों का व्यवहार तो होता है, किन्तु, यह स्पष्ट नहीं होता है कि सचमुच उन पदों से सूचित कोई वस्तु है या नहीं

है। लेखक को अपेक्षा वाचक की यह परिभाषा अतिव्याप्ति पूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत ऐसे कथन भी आ जाते हैं जिनमें अपेक्षावाचक पद नहीं होते। उदाहरणार्थ-'उस स्त्री का ढाँचा शैतान के ढाँचे जैसा है'।

तो लेखक अपेक्षावाचक वाक्य का विवरण दूसरे ढंग से देते हैं। उनके अनुसार कोई वाक्य अपेक्षावाचक है यदि उसमें अपेक्षात्मक अभिव्यक्ति है (जैसे, 'विश्वास करता है कि न्यूयार्क का मेयर है') और उनके अतिरिक्त कुछ पदचर तथा परिमाणन (Qunntifier) रहें।

लेख-2

हुस्सर्ल का चेतना की अपेक्षात्मकता का सिद्धान्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में [2]

इस लेख के दो उद्देश्य हैं। एक तो लेखक यह दिखाना चाहते हैं कि हुस्सर्ल के अनुसार पाश्चात्य दर्शन का मुख्य उद्देश्य क्या रहा है ? हुस्सर्ल का अपना दार्शनिक लक्ष्य पाश्चात्य दर्शन के लक्ष्य से सर्वथा भिन्न नहीं है। उनका यही कहना है कि उनसे पहले के दार्शनिक इस लक्ष्य की ओर उचित ढंग से बढ़ नहीं पाए। लेख का दूसरा उद्देश्य यह जानना है कि पाश्चात्य दर्शन की इस असफलता का कारण क्या है ? फलत: लेख दो भागों में बट जाता है। प्रथम भाग में हुस्सर्ल के दर्शन का ऐतिहासिक आधार ढूढ़ा गया है और दूसरे भाग में हुस्सर्ल के अपेक्षा के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

लेखक हुस्सर्ल की समस्याओं का आधार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ढूढ़ने की चेष्टा करते हैं, और इस संदर्भ में उनके निष्कर्ष प्राय: निश्चित हैं। उनके अनुसार हुस्सर्ल की समस्याओं के निम्नलिखित स्रोत दिखाए जा सकते हैं: (1) उन्होंने डेकार्ट के विषयी-मुखीन दृष्टिकोण एवं आत्मनिष्ठ विधि को आधार बना कर कुछ सामान्यीकरण किये। डेकार्ट की सन्देह-क्रिया से लेकर आत्म की स्थापना तक की क्रिया आत्मनिष्ठ क्रिया है। फिर, जब डेकार्ट भौतिक पदार्थ-जैसे लोहे का टुकड़ा-के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तो वहाँ भी उसके अस्तित्व का आधार यह अनुभूति है कि वह चेतना से संबद्ध है। चेतना अथवा अनुभव से भौतिक पदार्थ के इसी अनिवार्य संबंध को मूर्त रूप देने का प्रयत्न फेनोमेनोलाजी-दर्शन करता है। यही कारण है कि हुस्सर्ल अनुभव को उसके सभी प्रकृत पूर्वाग्रहों से मुक्त कर परखने का प्रयत्न करते हैं जिसे वे अतिक्रामी स्थगन (ट्रांसेंडेंटल रिडक्डन) कहते हैं। (2) हुस्सर्ल की समस्याओं का दूसरा आधार डेकार्ट का द्वैतवाद तथा उस पर आधृत प्रत्ययात्मक प्रतिनिधित्व का सिद्धांत है। डेकार्ट ने सत्ता को दो भागों में बांट दिया-मानसिक जगत् एवं दैशिक-जगत्। भौतिक पदार्थ इसी दैशिक-जगत् की वस्तुएं अथवा निर्धारण माने गये हैं एवं मानसिक अवस्थाएं चेतना अथवा मानसिक जगत् की घटनाएं अथवा निर्धारण मानी गयी हैं। दोनों के बीच संबंध किसी माध्यम से ही सम्भव है। फलस्वरूप डेकार्ट कुछ ऐसे प्रत्ययों का उल्लेख करते हैं जो दोनों जगतों को मिलाते हैं। अब हुस्सर्ल के लिये यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि ऐसे प्रत्यय हैं जो चेतन मन एवं दैशिक जगत् के बीच मध्यस्थ हैं, तो उनके ज्ञान एवं उनकी सत्ता का क्या स्वरूप है ? (3) बर्कले एवं ह्यूम, (मुख्यत: ह्यूम) ने ऐन्द्रिय संवेदों को प्रतिनिधि नहीं माना, ह्यूम ने कहा कि हमें अपने प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की जानकारी का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। फलस्वरूप उन्होंने प्रत्यय को ही ज्ञान-वस्तु माना। ह्यूम के समक्ष अब एक समस्या आ गयी- हम किसी वस्तु का प्रत्यय भिन्न भिन्न समय में प्राप्त करते हैं, कैसे हम विश्वास करते हैं कि सभी एक ही वस्तु के प्रत्यय हैं। इसी समस्या में हुस्सर्ल को अपना प्रश्न दिखाई दे जाता है-क्या प्रत्ययों में वस्तुओं की ओर इंगित करने की प्रवृति निहित है ?

अब हुस्सर्ल की विषयापेक्षा (इंटेंश्नेलिटी) का प्रयोजन समझा जा सकता है। इसे साधारणत: 'विषयोन्मुखता' के अर्थ में समझा जाता है - जो स्वभावत: किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित है। किन्तु, यदि विषयापेक्षा की यह परिभाषा दी जाय तो एक कठिनाई रह जाती है, सम्भव है कई क्रियाएँ एक ही लक्ष्य की ओर प्रेरित हों, तो उस लक्ष्य के अभेद की चेतना कैसे होगी ? ऐसा प्रतीत होता है कि विषयापेक्षा के अर्थ में अभिन्नता एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटक है। इसे स्पष्ट करने के प्रयत्न में हुस्सर्ल उदाहरण स्वरूप 'पदार्थ' के अवगमन की व्याख्या करते हैं। उदाहरणत: इन पदों को लें - औस्टरलीज का विजेता एवं फ्रांसीसी कानून का जन्मदाता'। ये दोनों एक ही व्यक्ति-नोपोलियन-को सूचित करते हैं। इस प्रकार दोनों पदों के वाच्य में अभेद हैं, किन्तु तब भी दोनों में अन्तर है किन्तु अभेद एवं भेद दोनों 'अभिप्रेत' लक्ष्य पर ही आधृत हैं। दोनों के अभिप्राय में समानता होते हुए भी अर्थ-भेद हैं। यदि 'ग्रीनलैण्ड' का नाम ले, तो मेरा अभिप्राय ग्रीनलैण्ड में रहने वालों के अभिप्राय से भिन्न होगा, और फिर भी दोनों मे अभेद हो सकता है क्योंकि अभिप्रेत देश एक ही है। इससे हुस्सर्ल एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं: अनेक अर्थों की अभिप्रेत-वस्तु एक ही हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई 'अर्थ' वस्तु का निश्शेषत: ग्रहण नहीं करता। तो इस अर्थ में वस्त्वर्थ एवं वस्तु में भेद किया जा सकता है, इसी वस्त्वर्थ को नोएमा कहते हैं।

हुस्सर्ल के अनुसार चेतना मनोवैज्ञानिक क्रिया तो है ही, साथ ही यह 'नोएमा' भी है, बिना इस गुण के चेतना की अवधि की व्याख्या नहीं हो सकती। यही कारण है कि हुस्सर्ल चेतना एवं अर्थ में आवश्यक संबंध मानते हैं।

अब एक प्रश्न और उठता है, वस्त्वर्थ एवं वस्तु में किस प्रकार का संबंध है ? लेखक इस प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार नहीं करते, केवल एक पक्ष पर प्रकाश डालते हैं, और वह यह कि वस्तुओं की स्वायत्तता भी वस्त्वर्थ पर आधारित है। यदि हम एक ही स्थान से एक ही ढंग से किसी एक वस्तु को देख रहे हैं और यदि हर पल अपनी आँखों को खोलते हैं और मूंदते हैं, तो वस्तु तो एक ही देखते हैं, किन्तु वस्त्वर्थ भिन्न-भिन्न हैं। यदि वस्त्वर्थ भी एक ही होता तो वस्तु को भी आत्मनिष्ठ माना जा सकता था, किन्तु यह अनुभूति कि भिन्न-भिन्न वस्त्वर्थों की अपेक्षा एक ही वस्तु है वस्तु को स्वायत्तता दे देती है। इस प्रकार लेखक ने यह दिखलाया है कि विषयापेक्षा का सिद्धान्त हुस्सर्ल के दर्शन का मूल स्रोत भी है और उनकी दार्शनिक व्याख्या का आधार भी।

लेख - 3

हाईडेगर के सौन्दर्य पर कुछ विवेचनात्मक टिप्पणियां [3]

इस लेख में हाईडेगर के सौदर्य-सिद्धान्त के विवेचन का प्रयत्न किया गया है। दार्शनिक परम्परा ने तत्त्व-दर्शन को तो महत्त्व दिया, किन्तु सौन्दर्य-सिद्धान्त पर ध्यान नहीं दिया। मारले पोन्ती को उससे प्रेरणा मिली थी - लेकिन उसे पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं कर सके। पोन्ती ने सौन्दर्य-बोध में सत्ता भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखी, किन्तु यहाँ वे हाईडेगर के विचारों का ऊपरी रूप ही देख सके। हाईडेगर की सत्त्व (बींग) की अवधारणा ही भिन्न है। एक अस्तित्ववान् वस्तु का अस्तित्व और सत्त्व एक ही नहीं है, पहला प्रश्न अस्तित्व-मीमांसा (ओंटिक्स) का है, दूसरा सत्ता-सीमांसा (ओंटोलाजी) का।

इसी अंतर के कारण कुछ लोग कहते हैं कि हाईडेगर का सौन्दर्य-सिद्धान्त पूर्णरूपेण फिनोमिनोलोजिकीय नहीं है, किन्तु सौन्दर्यानुभूति में प्राथमिक **'देखने'** की है, और देखने का अर्थ प्रदत्त को प्रदत्त-रूप में ही देखना है। इस प्रकार यह विश्लेषण (फिनोमिनलोजिकीय) ही है।

यदि कला की व्याख्या इस ढंग से की जाय तो प्रश्न उठता है, क्या कला सत्य का प्रतिनिधित्व करती है। क्या वस्तुओं के अनुभव को, जिस रूप में उनका अनुभव हुआ है, उसी रूप में प्रतिबिम्बित करना कला है ? इसे समझने के लिये पहले हाईडेगर के अनुसार सत्य के स्वरूप को समझें और तब कला को। हाईडेगर ने 1935-36 में 'कला-कृति के उद्भव' पर तीन भाषण दिये थे। हाईडेगर के अनुसार अस्तित्व की अनुभूति में सत्य की अनुभूति भी होती है। मानव-अस्तित्व परिवेशात्मक है।

मानव और परिवेश के संबंधों को तीन प्रकार से समझा जा सकता है- भावनात्मक सम्बन्धों, निर्णय-बुद्धिमूलक बोध और भाषा के द्वारा। हाईडेगर भावनात्मक सम्बन्धों को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और निर्णय-बुद्धि अथवा भाषा को भी उसी के अनुरूप बना देते हैं। इसी भावनात्मक बोध में चिन्ता, क्लेश, उदासीनता, तटस्थता आदि की अनुभूति होती है। निर्णय-बुद्धि, भाषा और भावना - इन्हीं के द्वारा सत्ता का रूप प्रस्फुटित होता है। और इसी प्रकार सत्ता के रूप के स्फोट में सत्य की अभिव्यक्ति होती है।

हाईडेगर के अनुसार 'सत्य' का मौलिक रूप तार्किक या वैज्ञानिक नहीं है - बल्कि तात्त्विक है, और उसके तात्त्विक होने के कारण भाषा-प्रयोग में सत्य 'तार्किक भाव'बन जाता है और ज्ञानात्मक बोध में वैज्ञानिक भाव। किन्तु प्राथमिक रूप में सत्य किसी भी खुले चेतना-क्षेत्र में सत्ता के व्यक्त रूप का दर्शन है। इस प्रकार सत्य मानव-अस्तित्व से ही संबंधित है।

हाईडेगर का कहना है कि कला में सत्य ही घटित होता है। इसे समझने के लिए कल्पना करें कि कैसे कोई दृश्य वस्तु कलात्मक हो जाती है। कुछ सौन्दर्यशास्त्री कहते हैं कि यह द्रष्टा की मनोवृत्ति एवं दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, किन्तु, हाईडेगर के अनुसार यह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टिकोण से कलात्मक वस्तु कलात्मक नहीं बनती, बल्कि उस वस्तु से दृष्टिकोण बनता है। हाईडेगर का कहना है कि कलात्मक वस्तु अपने को वस्तु रूप में - पर रूप में - व्यक्त करती है, बल्कि यह कि जब उसका कलात्मक रूप निखरता है तो उसका वस्तुरूप नष्ट प्राय हो जाता है। वस्तु का कलात्मक रूप उसके साधारण अर्थ-संदर्भ से ऊपर उठ जाता है।

इस स्थल पर एक आपत्ति उठायी जा सकती है - कलाकार के कलात्मक कार्य का माध्यम तो साधारण, गोचरगत वस्तु ही है। तो, यदि कला-रूप के निखरने के लिए वस्तु-रूप का हनन आवश्यक है, तो कला का माध्यम ही नष्ट हो जाता है। हाईडेगर के अनुसार इसमें कोई विरोध नहीं है, कलाकार की भावनाएं किसी स्थूल माध्यम से व्यक्त अवश्य होती हैं, किन्तु कला-बोध में माध्यम का स्थान गौण हो जाता है। कला के रूप में कला की सम्भावना-मात्र रहती है, जब वह सम्भावना प्रस्फुटित होती है स्थूल रूप दिखाई ही नहीं देता। कला में सत्व-धर्म (एस्सेंस आफ बींग) प्रकट होता है - दृश्य जगत् से अलग, उससे ऊपर वह एक अलग संसार है। हाईडेगर बैन गो के 'किसान के दो जूतों' के चित्र का उदाहरण लेकर इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं। उस चित्र की कलात्मक अनुभूति में 'वस्तु-जूते' का कोई महत्त्व नहीं रहता, मजदूर के परिश्रमी पैर और धरती पर उस पैर की शक्ति का आभास मिलता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए कलात्मक इमारत का उदाहरण भी लिया गया है - ''पायेस्टम के हेरा मन्दिर'' का चित्र

दिया गया है। इस चित्र में एक ओर धरती दिखाई देती है और दूसरी ओर एक नया संसार। धरती के अनुभव में मिट्टी और ईंटों का अनुभव नहीं - शांति का अनुभव है, विचित्र एकान्त का अनुभव है, ग्रीक सभ्यता का अनुभव है। और 'नये संसार' की अनुभूति में यह मन्दिर ईश्वरीय प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य का अर्थ, कला कृतियों में सत्य का प्रस्फुटन है। यह सत्य स्थूल सत्य नहीं - रंग रूप-आकार का सत्य नहीं, तात्त्विक सत्य है, और इसी तात्त्विकता की अनुभूति सौन्दर्य-बोध है।

इस सौन्दर्य-बोध का फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण सम्भव है। कहा जा सकता है कि कला की अनुभूति में वस्तुओं का स्थूल रूप अप्रस्तुत (ब्रेकेटेड-कोष्ठगत) हो जाता है, और अनुभूति रूप मुख्य हो जाता है। किसी भी अभिव्यक्ति में अनुभव कुछ व्यक्त करता है तो कुछ छिपा भी देता है। अनुभव में जो 'स्पष्ट' रूप में प्रदत्त हैं वह तो व्यक्त है, किन्तु उसी प्रदत्त ने अनुभव-क्षेत्र के अन्य पहलुओं को छिपा दिया। सौन्दर्य-बोध में वस्तुओं का अस्तित्व रूप (ओंटिक्स) छिप जाता है और उसका धर्म प्रस्तुत हो जाता है। यही कारण है कि हाईडेगर के सौन्दर्यशास्त्र का आधार सत्ता मीमांसात्मक (ओंटोलोजिकल) है।

इसके सदात्मक होने का एक और कारण है जो हाईडेगर के अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। सौन्दर्यबोध की सत्प्रतिष्ठा इसी में है कि वह मानव-अस्तित्व को प्रभावित करता है, एक निश्चित दिशा देता है। साधारणत: मनुष्य अपने साधारण अर्थ-संदर्भ में रहता है। कलात्मक अनुभूति में एक नए संदर्भ का मार्ग खुल जाता है। मानव-अस्तित्व को अपने सदात्मक अस्तित्व की अनुभूति हो जाती है।

लेख - 4

कवि और विचारक-मार्टिन हाईडेगर के दर्शन में उनके कार्य की अनुरूपता[4]

ग्लेन ग्रे ने अपने लेख में हाइडेगर के दर्शन के एक विशेष पक्ष पर विचार किया है। साधारणत: दर्शन काव्य की अपेक्षा विज्ञान की ओर अधिक झुकता रहा है। दर्शन की परम्परा समझती रही है कि विज्ञान 'सत्ता' का विश्लेषण करता है, जबकि काव्य व्यक्ति की वैयक्तिक मनस्थिति पर निर्भर करता है। फिर भी, जर्मनी में सदा से कवि और विचारकों के बीच कुछ सम्बन्ध रहा है। हाईडेगर भी उस परम्परा का निर्वाह करते हैं। उनके अनुसार भी कवि एवं विचारक में एक निकट सम्बन्ध है, एक को दूसरे के दृष्टिकोण से जाँचा जा सकता है। इस लेख में इसी तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

किन्तु, इसके स्पष्टीकरण के लिए भी यह तय कर लेना आवश्यक है कि दर्शन का उद्देश्य क्या है। हाईडेगर के अनुसार यह धारणा गलत है कि दर्शन किसी भी देश का सांस्कृतिक आधार है। वे यह भी नहीं मानते कि दर्शन विज्ञान, संस्कृति, जीवन आदि की मूल अवधारणाओं का स्पष्टीकरण है। हाईडेगर के अनुसार दर्शन मानव की सृजनात्मक प्रवृत्तियों एवं मानव-कर्त्तृत्व की सम्भावनाओं की रूपरेखा खींचता है। यह किसी दूसरे अनुशासन या अध्ययन पर आधृत नहीं है और न यह किसी समाज की संस्कृति का स्रष्टा है। दर्शन पुरानी पद्धतियों एवं भावों पर पुन: विचार करने की एक प्रेरणा है - और केवल इसी अर्थ में यह नया मार्ग-निर्देश करता है। दर्शन का एक ही लक्ष्य है - मनुष्य को सतत विचारशील रखना। विचार की गति में अवरोध मानव-अस्तित्व के लिए घातक है। यही कारण है कि हाईडेगर आधुनिक दार्शनिकों से अधिक प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों को महत्त्व देते हैं, वे सोचने से कभी थकते नहीं थे। और, उन दार्शनिकों का जीवन विचारमय भी था और काव्यमय भी।

कहा जा सकता है कि प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के विचार का विषय-वस्तु भौतिकी था। यह ठीक है, किन्तु यह द्रष्टव्य है कि उस भौतिकी का आधार स्थूल जगत् का अनुभव नहीं था - उसका आधार वह अनुभव था जिसे वे 'सत्य का अनुभव, कहा करते थे। उनका यह अनुभव ज्ञानात्मक भी था और भावनात्मक भी, बौद्धिक भी था और काव्यात्मक भी। यही कारण था कि उनकी भौतिकी में धरती भी थी और स्वर्ग भी, जीव भी थे और अजीव भी। उनकी भौतिकी में सत्व का प्रस्फुटन था। इस प्रकार दर्शन सत्व का द्रष्टा है - सत्य का द्रष्टा है, दार्शनिक जीवन उस अनुभूति की झलक है।

विचारक का लक्ष्य सत्ता की सम्भावनाओं को व्यक्त करना है। इसके लिए आवश्यक है कि वह सत्ता की अनुभूतियों को ग्रहण करने के योग्य हो। इस कारण विचारक में निरीक्षण-शक्ति एवं ग्रहण-शक्ति का विकास अनिवार्य है। उसके लिए अनुभूति-प्रवण होने की सीख आवश्यक है।

वस्तुत: यहीं विचारक के लिए काव्य सहायक हो जाता है, क्योंकि काव्य में यह शक्ति है कि वह सत्ता की अनुभूति कुछ इस ढंग से करा दे कि पाठक या श्रोता के विचार एवं भावनाएं आलोड़ित हो जाँय। ध्यान देने की बात यह है कि अपने इस विचार में हाईडेगर काव्य के कला-पक्ष पर जोर नहीं दे रहे हैं - उसके तात्त्विक पक्ष पर जोर दे रहे हैं। काव्य में तत्त्व-दर्शन की शक्ति निहित है। इस अर्थ में, हाईडेगर के अनुसार, काव्य और दर्शन का लक्ष्य एक ही हो जाता है।

कवि इस अनुभूति का निर्देश स्पष्ट एवं साक्षात् ढंग से कर देता है, क्योंकि काव्य का ढंग रहस्यात्मक नहीं, भावनात्मक रूप से विचारोत्पादक है। यही कारण है कि ग्रीक दार्शनिकों ने 'होमर' को महत्त्व दिया। हाईडेगर का कहना है कि सच्चा काव्य तो युग की वास्तविक अनुभूतियों को रूप और अभिव्यक्ति देता है। विचारक का निर्लिप्त मन, जो साधारणत: इनसे उदासीन रहता है, काव्यमय चेतना के आविर्भाव से अपनी अनभिज्ञता से मुक्त हो जाता है और अस्तित्व के मूल धर्मों पर विचार करने की सामर्थ्य पा लेता है।

इस प्रकार काव्य मानव एवं जगत् की स्पष्ट अनुभूति जगा कर विचारक को जाग्रत कर देता है। विचारक को सत्ता-बोध तर्क के द्वारा नहीं हो सकता, व्यावहारिकता या उपयोगिता के चक्कर में नहीं हो सकता; हो सकता है तो सत्ता की अनुभूति में, जो काव्य के द्वारा सम्भव भी है और सरल भी। तब यह अवश्य है कि **सत्ता-बोध विचारक की प्रेरणा है, बौद्धिकता, विचारक का जीवन।**

लेख - 5

अस्तित्ववाद के द्वारा हेगेल और मार्क्स की खोज[5]

जार्ज क्लाइन ने अपने लेख में अस्तित्ववाद के दर्शन में हेगेल एवं मार्क्स को ढूंढने का प्रयत्न किया है। अस्तित्ववाद से वे प्राय: सार्त्र का अस्तित्ववाद ही समझते हैं और दिखलाते हैं कि कैसे सार्त्र के दर्शन की कुछ मुख्य अवधारणाऐं हेगेल तथा मार्क्स के दर्शन से ली गयी हैं।

लेखक के मत में सार्त्र हेगेल के दर्शन के प्रारम्भिक पक्ष को ही महत्त्व देते हैं - विशेषत: उनके "फिनोमिनोलोजी आफ दि माइंड" पर। लेखक ने अपने इस अध्ययन को कई खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम दो खण्ड तो ऐतिहासिक हैं, जिनसे ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर वे हेगेल एवं मार्क्स के विचारों का सार्त्र पर प्रभाव तथा उन विचारों से सार्त्र के विचारों की समाना दिखलाते हैं। इस संदर्भ में वे उन लेखों का उल्लेख करते हैं - विशेषत: ऐसे लेखों का जो 1930 से 1940 के बीच प्रकाशित हुए थे - जिनमें अस्तित्ववादी दर्शन ने हेगेल एवं मार्क्स का उल्लेख कर उन्हीं से अपने सृजनात्मक विचारों की सामग्री ली थी।

इस संदर्भ में क्लाइन यह भी दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि अस्तित्ववाद ने कुछ अर्थों में हेगेल एवं मार्क्स का भी 'अस्तित्ववादीकरण' कर दिया है। जैसा कि हर्बर्ट मार्कूस ने कहा है, सार्त्र का 'बींग एंड नथींगनेस' हेगेल की 'फिनोमिनलोजी आफ दि माइंड' एवं हाईडेगर के 'बींग एंड टाइम' का मिश्रण है। यही कारण है कि सार्त्र के दर्शन की कुछ अवधारणायें - जैसे चेतना, आत्म-चेतना, सत्व एवं असत्व आदि हेगेल के दर्शन से ही ली गयी प्रतीत होती हैं। यह अवश्य है कि हेगेल के भावों के वे पूर्ण परिवर्तित रूप हैं। उदाहरणत: हेगेल के अनुसार निजता में सत्व (बींग इन इट्सेल्फ) एवं निजार्थ सत्व (बींग फार इट्सेल्फ) बौद्धिक प्रगति के दो अमूर्त क्षण हैं, दोनों अपूर्ण हैं, एकांगी हैं, दोनों का समन्वय किसी अन्य संश्लेषण में आवश्यक है किन्तु सार्त्र के अनुसार, यह समन्वय असम्भव है। उनके अनुसार भी निजता में सत्व एवं निजार्थ सत्व का अन्तर असत् ही है। किन्तु, यह असत् हेगेल का निषेध-भाव नहीं है।

इस संदर्भ में स्वामी-दास के द्वैत का उदाहरण लिया गया है। हेगेल के समान सार्त्र भी स्वीकार करते हैं कि दोनों के बीच प्रारम्भिक विरोध एवं संघर्ष है, हेगेल के समान वे यह भी मानते हैं कि यह विरोध शाश्वत नहीं है - यह टूट जाता है। किन्तु हेगेल के समान वे यह नहीं मानते कि इस टूटने का आधार तार्किक (डायलेक्टिकल), अनिवार्यता है। इस विरोध का निराकरण असत्व में है। यहाँ मार्क्सवाद की झलक मिलती है, साथ-साथ असत्व की महत्ता इस बात को स्पष्ट कर देती है कि मार्क्सवादी स्वामी-दास-सिद्धांत को सार्त्र के दर्शन में अस्तित्ववादी रूप दे दिया गया है।

अस्तित्ववादी विचारधारा में हेगेल एवं मार्क्स की खोज में लेखक 'अलगाव' (एलिअनेशन) एवं विषयकरण (ऑब्जेक्टीफिकेशन) के भावों के विश्लेषण में उलझ जाते हैं। हेगेल का कहना है कि व्यक्ति अपनी स्वाभाविक शक्तियों का विकास संस्कृति के अनुरूप करता है। संस्कृति के विभिन्न पहलू सार्वभौम भावों के रूप में व्यक्ति के मन को प्रभावित करते हैं जिससे उसका व्यक्तित्व निखरता है। हेगेल के अनुसार, ये भाव वैयक्तिक नहीं, सार्वभौम हैं। मानव संस्कृति से प्रभावित तो होता है, पर अपनी वैयक्तिक अनुभूति में उसे उन सार्वभौम रूपों से अपनी पृथकता का बोध होता है। यही मनुष्य का 'अलगाव' है। मार्क्स ने हेगेल के इस विचार की सराहना की है, किन्तु, साथ-साथ यह भी कहा है कि हेगेल ने 'अलगाव' एवं विषयकरण के सूक्ष्म अन्तर को नहीं समझा। मार्क्स के अनुसार, अलगाव का भाव केवल पूंजीवादी समाज में ही उत्पन्न होता है। किन्तु, हर समाज में अर्थपूर्ण सामाजिक कार्य संस्कृति पर प्रभाव डालते हैं और यह प्रभाव विषयगत होता है। इसी प्रकार के विषयगत प्रभावों के फलस्वरूप पूंजीवादी समाज के समाप्त होने की संभावना उत्पन्न होती है। मार्क्स का कहना है कि पूंजीवाद के मिटने के बाद 'अलगाव' की भावना लुप्त हो जाती है। सार्त्र ऐसा नहीं मानते, उनके अनुसार अलगाव की भावना मानव-अस्तित्व में निहित है, उसके लुप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मानव-अस्तित्व की चेतना में योजनाओं की विफलता एवं कार्यों की निष्प्रयोजनता की चेतना है। फलत: जीवन-पर्यन्त मनुष्य में अलगाव की भावना बनी रहती है।

अपने लेख में क्लाइन सार्त्र के बाद के विचार का भी उल्लेख करते हैं जिसमें सार्त्र मार्क्सवादी बन जाते हैं। अपनी हाल की पुस्तक में सार्त्र ने मार्क्सवाद को 'युग का दर्शन' कहा है और अपने अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद में मिलाने का प्रयत्न किया है। लेखक के मत में सार्त्र का मार्क्सवाद आधुनिक पदावली में प्राचीन भौतिकवाद ही है। एक अन्तर और है। सार्त्र के विचार मार्क्स के समान

मूलत: आर्थिक विश्लेषण पर आधृत नहीं हैं बल्कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर आधृत है। यही कारण है कि सार्त्र अपने मार्क्सवादी विचारों में सामाजिक, ऐतिहासिक मानव-परिस्थिति की वस्तुनिष्ठता और इस परिस्थिति के विकास-क्रम की अनिवार्यता पर जोर देते हैं। अपने प्राचीन वैयक्तिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को उन्होंने सामाजिक-ऐतिहासिक-मानव-परिस्थिति (सोश्योहिस्टारिकल पेरेक्सिस) के सिद्धान्त में लीन कर दिया है।

लेख - 6

सार्त्र : फिनोमिनोलोजिक दार्शनिक तथा अस्तित्ववादी मनोवैज्ञानिक के रूप में[6]

इस लेख में सार्त्र के दर्शन के दो पक्षों (फेनोमिनोलोजी एवं मनोविश्लेषण) पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इसके लिए लेखक एक विशेष विधि अपनाते हैं। वे सार्त्र के चेतना-सिद्धान्त को अपना केन्द्र बिन्दु बनाते हैं, उसकी परीक्षा में सार्त्र की विधियों को स्पष्ट करते हैं और उनके परिणामों को भी। पहले हम सार्त्र की फिनोमिनोलोजी पर विचार करेंगे।

अपने फिनोमिनोलोजिकीय विश्लेषण में सार्त्र सत्ता की व्याख्या चेतना के स्वरूप के आधार पर करते हैं। लेखक के अनुसार सार्त्र की चेतन अनुभूति का प्रत्यय दो प्रत्ययों के बीच झूलता रहता है, और वे दोनों प्रत्यय डेकार्ट एवं हुस्सर्ल के विचारों से प्रभावित हैं। ये दो प्रत्यय हैं - (क) वैयक्तिक चेतना में स्वतंत्रता की अनुभूति, जिसमें किसी निश्चित वस्तु-रूप में ढल जाने के भय से त्राण की भावना निहित है, और (ख) यह पहचान कि चेतना का कोई निश्चित स्वभाव-धर्म नहीं है, इसे इसके विभिन्न रूपों में समझना आवश्यक है।

(क) की व्याख्या में ही असत् की अनुभूति का प्रश्न भी उठ खड़ा होता है। चेतना की स्वतंत्रता पर आघात निजता में सत्व की ओर से होता है। सार्त्र ने अपनी कृति 'नौसिया' में 'चेस्टनट वृक्ष की जड़' का जो चित्र खींचा है और उसकी चेतन-अनुभूति का जो चित्रण किया है उसमें चेतना स्थूल, निष्प्राण एवं निरर्थक 'सत्'से घिर जाती है। सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन में विवेचन किया गया है कि कैसे चेतना अपने को इस 'घेरे' से बचाने में समर्थ होती है और कैसे फिर अपनी स्वतंत्रता को महत्त्व दे देती है। इस बच निकलने का साधन 'असत्' की चेतना है। जब व्यक्ति की चेतना स्थूल सत् से घिर जाती है तो उसे अपना अस्तित्व अर्थहीन प्रतीत होता है। इसी 'अर्थहीनता' के बोध का सार्वभौम रूप असत् की चेतना है। इसी कारण चेतना की परिभाषा देते हुए सार्त्र कहते हैं, ''यह वह नहीं है जो यह है, और यह वह है जो यह नहीं है।''

यह वाक्य शब्द-जंजाल नहीं है, सार्त्र के अनुसार, यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण वाक्य है। इसे समझने के लिये इसके दोनों भागों की व्याख्या आवश्यक है।

पहले भाग को देखें। चेतना क्या है ? साधारणत: चेतना से विषयी, मानसिक स्थितियाँ, इसके परिणाम आदि को ही समझा जाता है। सार्त्र के अनुसार चेतना यह सब नहीं है। सार्त्र चेतना के स्वरूप से इन सभी विकल्पों को अलग कर देते हैं। हुस्सर्ल ने अपनी अनुभव-व्याख्या में अनुभव से सभी विकल्पों को अलग कर अनुभव को शुद्ध प्रदत्त रूप में समझने की चेष्टा की थी। सार्त्र, हुस्सर्ल से एक कदम और आगे बढ़ जाते हैं और दिखलाते हैं कि चेतना से विषय, विषयी, अहं, मन इत्यादि सभी को पृथक् करना है। चेतना में सत् का अंश नहीं है। यही कारण है कि चेतना सत् में (अथवा अहं में भी) न कुछ जोड़ पाती है न उसे किसी अर्थ में प्रभावित कर पाती है। तो, पहले भाग का अर्थ यही है, कि चेतना 'यह सब' नहीं है।

अब दूसरे भाग को देखें। चेतना वह है जो वह नहीं है। सार्त्र इसकी व्याख्या करते हुये कहते हैं कि चेतना "है"। यह निजता में सत्त्व के अर्थ में अस्तित्त्वान नहीं बल्कि अपनी निषेधात्मक क्रियाओं में ही इसका अस्तित्व है। इन्हीं क्रियाओं में चेतना मानव-जगत् की भी सृष्टि कर लेती है। चेतना का प्रादुभाव "ना" से होता है। हर क्रिया का प्रारम्भ इसी 'ना' से है। दास की अपने स्वामी के प्रति प्रथम प्रतिक्रिया 'ना' की है। जगत् के प्रति हर चेतना की प्रथम प्रतिक्रिया 'ना' की है। इसे एक दूसरे ढंग से समझा जा सकता है। हर चेतन-अनुभव में अनुभव-वस्तु की चेतना के पहले सभी अन्य वस्तुओं का-'निषेध' आवश्यक है। उदाहरणत:, मैं एक कैफे में जाता हूँ। मुझे वहाँ अपने मित्र श्याम से मिलने की आशा है। मैं चारों ओर देखता हूँ और 'उसकी अनुपस्थिति का अनुभव' करता हूँ। उसकी अनुपस्थित का अनुभव किसी विशेष स्थल पर नहीं हुआ है, मैं पूरे कैफे को देखता हूँ, श्याम सम्पूर्ण कैफे से अनुपस्थित है। कैफे की सारी सामग्रियाँ अपने में अस्तित्ववान हैं; किन्तु मेरी चेतना में-श्याम की अनुपस्थिति के अनुभव में-सम्पूर्ण कैफे एवं उसकी सारी सामग्रियों का **निषेध** हो गया है। यह निषेध ही श्याम की अनुपस्थिति के अनुभव का आधार बन जाता है। इसे सार्त्र 'असत्' का अनुभव कहते हैं। असत् का अनुभव सत् के अनुभव का एक आवश्यक अंग है। यह असत् शून्य नहीं है, अनस्तित्व नहीं है, यह चेतना की निषेधात्मक क्रिया का विषय है।

इस प्रकार, सार्त्र के फिनोमिनोलोजी के निष्कर्ष प्राय: निश्चित हो जाते हैं। चेतना का अपेक्षित विषय होता है। यह विषय कोई भावात्मक एवं अस्तित्ववान सत्ता नहीं होता, बल्कि निषेधात्मक क्रिया का विषय होता है। इसी से असत् भाव उत्पन्न होता है। इसी असत् की अनुभूति में स्वतंत्रता की अनुभूति निहित है, क्योंकि अपनी निषेध-क्रिया में चेतना स्थूल सत्ता से अपने को मुक्त कर लेती है। यही कारण है कि सार्त्र निज में सत्व (बींग इन इट्सेल्फ) और निजार्थ सत्व (बींग फार इट्सेल्फ) में अन्तर करते हैं, और इस अन्तर का आधार असत् की अनुभूति को मानते हैं।

अब हम सार्त्र के मनोविश्लेषण के विषय में विचार करेंगे। लेखक के अनुसार सार्त्र अपनी फिनोमिनलोजी में ज्ञानात्मक स्वतंत्रता स्थापित करते हैं। किन्तु, जब व्यक्ति अपने से बाहर उठता है, जब व्यक्ति और परिवेश, व्यक्ति और अन्य, तथा व्यक्ति और भौतिक जगत् के सम्बन्धों का प्रश्न उठता है, तब चेतना को एक नयी अनुभूति होती है। वह फिर अपने को तथ्यों तथा परिस्थितियों से घिरा पाता है, फिर यहाँ उसकी स्वतंत्रता प्रकट होती है। इस स्वतंत्रता का रूप ज्ञानात्मक नहीं है, क्रियात्मक है। अपने मनोविश्लेषण में सार्त्र इसी क्रियात्मक स्वतंत्रता का विवरण देते हैं।

सार्त्र का मनोविश्लेषण मन: चिकित्सा की कोई नई विधि नहीं है। यहाँ तो यह तय करने का प्रयत्न किया गया है कि मनुष्य के मूल निर्णयों या निश्चयों का स्वरूप क्या है। मनुष्य अपने को व्यवस्थित एवं संगठित करने की योजनाओं में सतत संलग्न रहता है। सार्त्र उन्हीं योजनाओं के माध्यम से मनुष्य को समझने का प्रयत्न करता है। सार्त्र स्वयं कहते हैं कि उनका प्रमुख उद्देश्य एवं उत्कट अभिलाषा 'मनुष्य' को समझने की है।

इस विश्लेषण में एक तथ्य तो प्राय: स्पष्ट ही है, मनुष्य को किसी पूर्व निश्चित अथवा सामान्य रूप में नहीं ढाला जा सकता। मनुष्य की विशेषता उसकी विशिष्टताओं में है न कि उसके सामान्य गुणों में। व्यक्ति मौलिक रूप में स्वतंत्र है, इसी कारण सार्त्र अपने मनोविश्लेषण को मानवीय स्वतंत्रता का अध्ययन मानते हैं।

सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य अपने कार्यों में समग्रत: नियुक्त होता है। इसी कारण अपने मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन में सार्त्र व्यक्ति, उसकी योजनाओं एवं योजनाओं की स्थिति इन तीनों को एक एकक के रूप में लेते हैं और जाँचने का प्रयत्न करते हैं कि मनुष्य के कौन से मौलिक निर्णयों से यह एकक पूर्ण रूपेण प्रभावित होता है।

सार्त्र फ्रायड के अचेतन विषयक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि फ्रायड ने अपने अचेतन को रहस्यमय बना दिया है। सार्त्र स्वीकार करते हैं कि हर क्रिया के कुछ निहितार्थ होते हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं अनभिज्ञ रहता है। किन्तु, उन अर्थों की खोज भूत में निरर्थक है, क्योंकि व्यक्ति की सभी योजनाएं उसे आगे की ओर खींचती है। भूत मेरा जीवन नहीं है बीते हुए जीवन की अनुभूति है। मेरा जीवन तो मुझसे आगे चलता है। मैं जो हूँ वह पूर्व निश्चित नहीं, स्वनिर्मित है, और इसलिये मैं अभी जो कर रहा हूँ वह मेरा भविष्य रूप है। एक दृष्टिकोण से अभी तो मैं 'असत्' हूँ, क्योंकि मैं भविष्य में ही रहता हूँ। सार्त्र के अनुसार व्यक्ति योजनाओं का संगठन है, उसकी क्रियाएं अपने निर्णयों के फलस्वरूप हैं। तब, निर्णयों की प्राथमिकता, स्वतंत्रता की अनुभूति, योजनाओं का जीवन और इन सब में निहित अस्तित्व की चिन्ता इत्यादि के द्वारा वैयक्तिक जीवन को समझा जा सकता है। लेखक के अनुसार, सार्त्र का यह विश्लेषण मूलत: नैतिक है क्योंकि यह क्रियात्मक पक्ष पर ही बल देता है।

लेखक सार्त्र के इस विश्लेषण को सार्त्र के ही एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं - यह दिखलाते हुए कि कैसे किसी विशेष जीवन-योजना का अर्थ इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। यह उदाहरण ''जैनेट'' का है। जैनेट के जीवन की कहानी में ही सार्त्र के मनोविश्लेषण की कहानी प्रतिबिम्बित होती है। लेखक के मत में जेनेट हमारे सम्मुख 'दर्पण रख देता है, हम उस दर्पण में अपने आप को देख सकते हैं।

लेख - 7

मार्ले पोन्ती के दर्शन की एक केन्द्रीय प्रतिज्ञा[7]

इस लेख में लेखक ने मार्ले पोन्ती के दर्शन की सामान्य दार्शनिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए उनके प्रत्यक्ष-सिद्धान्त का एक समीक्षात्मक विवरण दिया है। साधारणत: मर्ले पोन्ती को अस्तित्ववादी कहा जाता है, किन्तु उनका दर्शन प्रचलित अस्तित्ववादी का एक और उदाहरण मात्र नहीं है। उनके दर्शन में युवा अस्तित्ववाद की उच्छृङ्खलता नहीं है, यूरोपीय दार्शनिक परम्परा का गाम्भीर्य है। उसका एक विशेष कारण है। अन्य अस्तित्ववादियों के समान पोन्ती उन्नीसवीं शताब्दी के दर्शनों के भावनात्मक पक्ष से उतने प्रभावित नहीं हैं। उनका अपना दृष्टिकोण कुछ स्वतंत्र सा है, यहाँ तक कि हुस्सर्ल (जिनके विचारों और पोन्ती के विचारों में अनुरूपता भी है) के विरुद्ध भी पोन्ती अपना स्वतंत्र मत देते हैं और उसकी पुष्टि दार्शनिक युक्तियों के द्वारा करते हैं।

साधारण अस्तित्ववादी विचारधारा से मार्ले पोन्ती के दर्शन का अन्तर अन्य दो कारणों से भी है। मार्ले पोन्ती का विज्ञान तथा मनोविज्ञान से परिचय था। यों, सार्त्र तथा हाईडेगर के संबंध में भी कहा जाता है कि उनकी सूझ मनोवैज्ञानिक थी। किन्तु, उन लोगों ने मनोविज्ञान के शोध-परिणामों को अपने दर्शन में कभी महत्त्व नहीं दिया। लेकिन मार्ले पोन्ती ने गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के प्रयोगों का अपने प्रत्यक्ष-सिद्धान्त में उपयोग किया। वे तो भौतिक विज्ञान तथा दर्शन के बीच भी अनिवार्य सहयोग-संबंध मानते थे, उनके अनुसार इन दोनों के बीच विरोध का प्रश्न ही नहीं है। दूसरी बात, जिसे मार्ले

पोन्ती के दर्शन की एक विशिष्टता कहा जा सकता है, वह यह है कि उनके अनुसार दार्शनिक विचार में भी सामाजिक समस्याओं का महत्त्व है। इसकी पुष्टि सार्त्र ने भी की है और कहा है कि मार्ले पोन्ती तो अपने विचार की प्रारम्भिक अवस्था में ही राजनैतिक एवं सामाजिक यथार्थवादी थे। समाज-संबंधी समस्याओं को यह महत्त्व अन्य अस्तित्ववादी दर्शनों में नहीं मिला है।

लेखक के मत में, इन अन्तरों के रहते हुए भी कहा जा सकता है कि मार्ले पोन्ती ने बहुत-सी ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डाला है और उनका सरलीकरण किया है जो अस्तित्ववादी दर्शन की पृष्ठ भूमि तैयार करता है। यह ठीक है कि कुछ अर्थों में मार्ले पोन्ती को स्वयं हुस्सर्ल से प्रकाश मिला, किन्तु उन्होंने हुस्सर्ल की समस्याओं पर अपने ढंग से विचार किया, अपने ढंग से जांचने का प्रयत्न किया कि कैसे डेकार्ट के दर्शन की कुछ मूल भूलों को दूर किया जा सकता है।

सच पूछा जाय तो फिनोमिनलोजी और अस्तित्ववादी दर्शन प्रत्ययवादी दर्शन के विरुद्ध प्रतिक्रियाएं हैं। मार्ले पोन्ती का "फिनोमिनलोजी ऑफ पर्सेप्शन" भी इसका अपवाद नहीं है। किन्तु, इनके विरोध का केन्द्र समीक्षात्मक प्रत्ययवाद (क्रिटिकल आइडिअलिज़्म) है, और इस विरोध का आधार तार्किक अथवा ज्ञानमीमांत्मक है, नैतिक, धार्मिक या तात्त्विक नहीं। इस लेख में मार्ले पोन्ती के प्रत्यक्ष-सिद्धान्त को 'मॉडल' बना कर यह दिखलाया गया है कि कैसे वे समीक्षात्मक प्रत्ययवाद की आलोचना करते हैं और उसी आलोचना के आधार पर अपने प्रत्यक्ष-सिद्धान्त की रूप रेखा बनाते हैं।

समीक्षात्मक प्रत्ययवाद ऐन्द्रिय अनुभव एवं 'बौद्धिक विचार' के द्वैत को मान कर चलता है। यह प्रदत्त से आरम्भ तो करता है, किन्तु दिखलाता है कि ऐन्द्रिय-प्रदत्त (सेंस डाटम) का अनुभव 'वस्तु' का प्रत्यक्ष नहीं है। वस्तु-भाव तो बौद्धिक क्रिया का परिणाम है। बौद्धिक क्रिया, जैसा कि कांट ने कहा है, इन्द्रियों से प्राप्त 'प्रदत्त' को 'निर्णयों' में बदल देती है। निर्णय करने की शक्ति एक विशिष्ट मानसिक शक्ति है जो मन में निहित है।

मार्ले पोन्ती ने समीक्षात्मक प्रत्ययवाद के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। यदि इस सिद्धान्त की विवेचना की जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि यह निर्णय ऐन्द्रिय प्रदत्त तथा बौद्धिक क्रिया—दोनों से परे किसी 'वस्तु' की ओर इंगित करता है। किन्तु, यहाँ एक तार्किक कठिनाई उपस्थित हो जाती है। कैसे ये क्रियाएं अपने से 'परे' चली जाती है ? शायद इसी कारण हुस्सर्ल ने अपने विषयापेक्षा-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस बात पर जोर दिया कि चेतना स्वरूपत: विषयापेक्षात्मक है।

समीक्षात्मक प्रत्ययवाद के इस सिद्धान्त में मार्ले पोन्ती को एक और दोष दिखाई देता है। उनके अनुसार यह सिद्धान्त प्रदत्त या बौद्धिक क्रिया की व्युत्पत्ति अथवा विकास की व्याख्या नहीं कर पाता। इस प्रकार के सभी सिद्धान्त प्रत्यक्ष-वस्तु की सत्ता एवं स्वरूप को मानकर चलते हैं और उसी मान्यता के अनुरूप बौद्धिक या मानसिक क्रिया की व्याख्या करते हैं। फलत: वे प्रत्यक्ष को आदिम और अविश्लेष्य नहीं मानते।

पोन्ती प्रत्यक्ष-प्रक्रिया का एक अपना विवरण देते हैं जिसे हम समीक्षात्मक प्रत्ययवादी तथा भौतिकवादी विवरणों का मध्यवर्ती कह सकते हैं। इसे समझने के लिए पोन्ती ने प्रत्यक्ष के बौद्धिक विवरणों की आलोचना की है और अपनी आलोचना में प्रत्यक्ष से संबंधित तीनों प्रमुख तत्त्वों को ध्यान में रखा है - (क) वस्तु का प्रत्यक्ष, (ख) शरीर का प्रत्यक्ष और (ग) अन्य के मन का प्रत्यक्ष।

पोन्ती का कहना है कि इन सिद्धान्तों के तर्कों के आधार पर ही कहा जा सकता है कि वे वस्तु के प्रत्यक्ष की सफल व्याख्या नहीं कर पाते। यह तो सभी मानते हैं कि यदि हम सचमुच किसी वस्तु को देख रहे हैं तो उसके कुछ पक्ष ही मेरी दृष्टि में हैं - अन्य पक्ष 'छिपे' रहते हैं। अब यदि इस तर्क को आगे बढ़ाएं तो कहना होगा कि जिसे हम वस्तु कहते हैं वह किसी विशेष प्रत्यक्ष का परिणाम नहीं, परिप्रेक्ष्यों के क्रम का परिणाम है। इसका अर्थ हो जाता है कि कोई 'वस्तु' हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं रह जाती, जो वस्तु रूप हम देखते हैं वह कुछ अनुभवों के संबंधों का परिणाम है। एक विचित्र बात हो जाती है, हमें ऐसे अनुभव तो मिलते हैं जो किसी ओर संकेत करते हैं (ऐक्ट्स आफ रेफरिंग), किन्तु उनका कोई संकेतित विषय उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि कैसे किसी विशेष 'वस्तु' का प्रत्यक्ष होता है। मार्ले पोन्ती कहते हैं कि इन सिद्धान्तों के बल पर हम प्रत्यक्ष-अनुभव के विषय की व्याख्या नहीं कर पाते, अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि इन अनुभवों का विषय भविष्य के कुछ 'अनुभव-क्रम' हैं।

'शरीर' के प्रत्यक्ष के संबंध में भी उसी प्रकार का निष्कर्ष निकल आता है। शरीर के जो हमारे साधारण अनुभव हैं वे शरीर के बौद्धिक अनुभव से भिन्न हैं, और इसी कारण इन बौद्धिक सिद्धान्तों को मान्यता नहीं मिल पाती। मार्ले पोन्ती के अनुसार वस्तुओं का प्रत्यक्ष शरीर की 'क्रिया' पर आधृत है। 'शरीर' में विश्वास आदिम एवं सहज विश्वास है और इसी कारण 'शरीर' का प्रत्यक्ष रूप गौण हो जाता है।

'अन्य मन' के संबंध में मार्ले पोन्ती प्राय: निश्चित रूप से ही कहते हैं कि 'अन्य मन' से साक्षात् होता है। यह प्रत्यक्ष भले न हो, साक्षात्कार अवश्य है। साधारणत: इस सिद्धान्त को समझने में कठिनाई होती है, क्योंकि लोग अपने शरीर के संबंध की ही व्याख्या नहीं कर पाते। किन्तु यदि 'शरीर' में विश्वास कर लिया जाय तो शरीर के माध्यम से ही यह भी समझा जा सकता है कि 'मैं' एवं 'मेरा अनुभव-जगत्' किसी 'अन्य' के भी अनुभव के अंग हैं।

अन्त में, लेखक मार्ले पोन्ती के प्रत्यक्ष संबंधी विचार और आधुनिक भाषा-दर्शन के एतत्संबंधी विचार के बीच समानता दिखलाते हैं। उनके अनुसार दोनों गोचर-जगत् के गोचर-रूप को महत्त्व देते हैं। भौतिकी में भी कभी-कभी कहा जाता है कि प्रत्यक्ष-वस्तु का तथ्य उनके प्रत्यक्ष-रूप में नहीं, अपितु भौतिक अणु-रूप तथ्यों में है जिनके संघात-भौतिक पदार्थ हैं। लेखक का मत है कि इस स्थल पर मार्ले पोन्ती भी 'नूतन विट्गेन्स्टाइनीय' के समान यह तर्क देते हैं कि एक दृष्टिकोण से भौतिकी के द्वारा बताए तथ्य वस्तुओं के गोचर रूप पर ही निर्भर करते हैं, क्योंकि यदि हमें भौतिक जगत् का भान ही न हो तो इन तथ्यों की बात हमारे लिए निरर्थक होगी।

ऐसी समानताएं दिखाने का यह तात्पर्य नहीं है कि लेखक दोनों विचारों की भिन्नताओं अथवा विषमताओं को भुला देते हैं। नहीं, वे स्पष्ट कहते हैं कि दोनों विचारधाराओं में कम से कम दो मौलिक बातों में अन्तर है। पहली बात तो यह है कि मार्ले पोन्ती यह स्वीकार नहीं करते कि उनके विवेचन का उद्देश्य शुद्ध रूप में तार्किक या भाषा-विश्लेषणात्मक है। दूसरी बात, भाषा-दर्शन के विपरीत, मार्ले पोन्ती के दार्शनिक विवेचन की प्रेरणा मानव-आन्तरिकता (ह्यून सब्जेक्टिविटी) का विचित्र स्वरूप है जिसकी झलक मानव-अनुभव के विश्लेषण में मिलती है।

लेख - 8

हुस्सर्ल एवं विट्गिन्स्टाइन के भाषा-संबंधी विचार[8]

प्रारम्भ में ही लेखक यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनका उद्देश्य कोई नयी 'खिचड़ी' तैयार करना नहीं है। वे सतर्क हैं कि हर दर्शन के स्वरूप एवं विकास की उसकी अपनी पद्धति होती है। फिर भी, इस प्रकार के दो दार्शनिक विचारों को एक साथ देखने पर एक को दूसरे के द्वारा समझने का प्रयत्न किया जा सकता है और इस आदान-प्रदान के फलस्वरूप कुछ नयी समस्याओं को प्रकाश में लाया जा सकता है।

अपने इस तुलनात्मक अध्ययन को लेखक दो भागों में विभक्त कर देते हैं। पहले भाग में हुस्सर्ल के 'लॉजीकल इन्वेस्टीगेशंस्' और विट्गेन्स्टीन के 'ट्रक्टेटस' के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर भाषा के स्वरूप पर विचार किया गया है, और दूसरे भाग में भाषा के स्वरूप पर विचार विट्गेन्स्टीन के (इन्वेस्टीगेशंस्) और हुस्सर्ल के अन्तिम लेखों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधृत हैं।

हुस्सर्ल 'लॉजिकल इन्वेस्टीगेशंस्' में एक अर्थ-सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। इसके पहले 'प्रोलेगोमेना' में उन्होंने एक तार्किक सिद्धान्त की रूपरेखा खींची थी और कहा था कि तार्किक तथ्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों से पूर्णतया स्वतन्त्र है। तार्किक तथ्य से उनका आशय प्रतीकात्मक चिह्नों की व्यवस्था से है। अत: तार्किक तथ्य भाषा के तथ्य हैं क्योंकि ये 'चिह्न' भाषा के ही भिन्न स्तरीय चिह्न हो सकते हैं। किन्तु, हुस्सर्ल के अनुसार भाषा के कथन तो विषयापेक्षा पर आधृत हैं, क्योंकि भाषा जिन क्षेत्रों को घेरती है (जैसे, प्रत्यक्ष, कल्पना, इच्छा, संकल्प आदि) वे सब विषयापेक्षा के ही अंग हैं। तो, अब भाषा के स्वरूप को समझने के लिए दो स्तरों में अन्तर करना आवश्यक है। एक तो भाषा का आदर्श होगा, दूसरा उसका आधार। हुस्सर्ल के अनुसार, भाषा का आदर्श उन चिह्नों की तार्किकता है, अर्थात्, इनकी बौद्धिक अर्थ-पूर्णता है। भाषा का आधार यह चेतना है कि जिससे भाषा उत्पन्न होती है। हुस्सर्ल के अनुसार भाषा का वास्तविक स्वरूप इन दोनों स्तरों का मध्यवर्ती है। तार्किक दृष्टिकोण से भाषा तक दोनों ओर से पहुँचा जा सकता है, ऊपर से उसके आदर्श की ओर से, और नीचे से उसके चेतन आधार की ओर से। अपने में भाषा दोनों के बीच है। इन चिह्नों की तार्किकता और विषयापेक्षी चेतना के बीच।

लेखक के मत में इस सिद्धान्त और विट्गेन्स्टीन के 'चित्र-सिद्धांत' में एक दृष्टिकोण से भिन्नता है तो दूसरे दृष्टिकोण से समानता है। यदि हम दोनों के संदर्भ पर विचार करें तो दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। प्रथमत: हुस्सर्ल तार्किक सत्यों की निरपेक्षता से ऊपर उठना चाहते हैं और विट्गेन्स्टीन पुनरोक्ति की अर्थहीनता से। फिर, ट्रैक्टेटस विश्व से संबंधित प्रतिज्ञप्तियों से आरम्भ करता है, इसी कारण वहाँ तथ्य, वस्तु आदि का विवेचन चित्र की व्याख्या के पहले ही है। चित्र स्वयं तथ्य का ही चित्र है। फिनोमिनलोजी में संदर्भ सर्वथा भिन्न है। ट्रैक्टेटस के जो प्रारम्भिक विवेचन हैं, वे हुस्सर्ल के अनुसार, फिनोमिनलोजी परक विवेचन के विषय हो ही नहीं सकते, क्योंकि वह विवेचन मानव की प्राकृतिक अभिवृत्ति (नैचुरल एटीट्यूड) के अनुसार किया गया है।

फिर भी, दूसरे दृष्टिकोण से इन दोनों विचारों में समानता है। विट्गिंस्टीन का 'चित्र' और हुस्सर्ल का 'अर्थ', जिन्हें ये भाषा के लिए आवश्यक तत्त्व मानते हैं, एक दृष्टिकोण से एक ही हैं। दोनों की व्याख्या में भाषा के सभी रूपों पर (कथन, चिह्न, नक्शे, रेखा-चित्र, फोटोग्राफ आदि) ध्यान देना

आवश्यक प्रतीत होता है। फिर, एक दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि चित्र जो कहता है वही उसका अर्थ है। इस प्रकार दोनों में समानता दिखाई जा सकती है। किन्तु, लेखक के मत में यहाँ भी एक भिन्नता है। चित्र उस वस्तु को सूचित कर सकता है जिसका रूप चित्र में है, किन्तु चित्र-रूप (पिक्टोरियल फोर्म) को सूचित नहीं करता, उसका प्रदर्शन करता है। चित्र और अर्थ की पूर्ण समानता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। चित्र से पूर्ण अर्थ का निर्देश नहीं होता, उसका चित्र-रूप उसका अर्थ नहीं है।

अब दूसरे स्तर में हुस्सर्ल और विट्गेन्स्टीन के भाषा-विचार का अध्ययन करें। हुस्सर्ल ने अपने अन्तिम लेखों में भाषा के रूप पर पुन: विचार किया है। उसके अनुसार चिह्न तो चिह्न है, इसलिए रिक्त है। अब कैसे इन रिक्त चिह्नों को पूरित किया जा सकता है ? हुस्सर्ल के लिए इस 'पूर्णन' की समस्या (प्रॉब्लेम ऑफ फुल्फिल्मेंट) एक नवीन समस्या हो जाती है। यहाँ पुन: हुस्सर्ल अपने निरोधन अथवा स्थगन (रिडक्शन) तथा प्रश्न के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं। साधारण भाषा में, इन चिह्नों की रिक्तता भरने के लिए भाषा को फिर पीछे लौटकर देखना पड़ता है - उन मौलिक अनुभवों की ओर देखना पड़ता है जिनकी ओर भाषा संकेत करती है। इस प्रकार हुस्सर्ल तार्किक भाषा से पुन: पीछे चल पड़ते हैं - साधारण भाषा की ओर।

विट्गेन्स्टीन ऐसा नहीं करते। अपने 'इन्वेस्टीगेशंस्' में वे साधारण भाषा पर प्रत्यक्ष रूप में आते हैं, परोक्ष ढंग से नहीं। उनका संदर्भ अर्थ नहीं, व्यवहार है। एक प्रकार से उनके इस व्यवहार की तुलना हुस्सर्ल के 'डोक्सा' से की जा सकती है। अन्तर यही है कि विट्गेन्स्टीन भाषा के साधारण एवं वास्तविक व्यवहार का विश्लेषण करते हैं, किन्तु, हुस्सर्ल इस व्यवहार के अतिक्रामी (ट्रांसेंडेंटल) उपादानों का विश्लेषण करते हैं।

विट्गेन्स्टीन की दृष्टि में एक लाभ है। इसके अनुसार किसी निश्चित निदर्श (मॉडल) की आवश्यकता नहीं रहती। फलत: भाषा के अनगिनत व्यवहार दिखाई दे जाते हैं, भाषा में खेल के अनुरूप व्यवस्था और निर्बन्धता आ जाती है। 'भाषा के खेल' पर जोर देने में विट्गेन्स्टीन एक और तथ्य पर प्रकाश डालते हैं। वे भाषा-व्यवहार को भी जीवन की एक क्रिया मानते हैं, यह जीवन का अंग है। हुस्सर्ल के भाषा-सिद्धान्त में जीवन-जगत् परोक्ष रूप से देखा जाता है, इस जगत् की ओर तार्किक-सत्य संकेत करते हैं। किन्तु, विट्गेन्स्टीन दैनिक अनुभव-जगत् में आ उतरता है और भाषा-व्यवहार को खाने-पीने-सोने के समान जीवन-क्रिया बना देता है।

लेख - 9

मनोविज्ञान के लिए फिनोमिनलाजी दर्शन की प्रासंगिकता[9]

इस लेख का एक विशेष संदर्भ है। कुछ विचारक मनोविज्ञान तथा फिनोमिनलोजी के बीच आवश्यक संबंध मानते हैं, लेकिन कुछ अन्य विचारक दोनों को सर्वथा भिन्न मानते हैं। इसी मतभेद के कारण लेखक दोनों के पारस्परिक संबंध की सम्भावनाओं पर विचार करते हैं।

इसका एक ढंग तो यह हो सकता था कि दोनों के ऐतिहासिक संबंध का निर्देश कर दिया जाता। दूसरा ढंग इनकी मौलिक अवधारणाओं तथा प्रयोजनों का विवेचन कर इन में अनुरूपता और संबंध देखना हो सकता है। यह दूसरा ढंग ही अधिक उपयुक्त तथा दार्शनिक है। इसी कारण लेखक दोनों के मूल अवधारणाओं तथा मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करता है।

लेखक के अनुसार एक दृष्टिकोण से मनोविज्ञान फिनोमिनोलोजी को मान कर चलता है। इसे स्पष्ट करने के लिए लेखक एक विशेष उदाहरण लेते हैं। इस उदाहरण की व्याख्या तो बाद में होगी किन्तु, रुचिकर बात यह है कि दोनों को पारस्परिक सहयोग की सम्भावना का ज्ञान नहीं है। प्रारम्भ में तो हुस्सर्ल ने स्वयं फिनोमिनलोजी को विवरणात्मक मनोविज्ञान (डिस्क्रिप्टिव साइकोलोजी) कहा था, किन्तु, बाद में इसका खण्डन किया। बाद में फिनोमिनलोजी को उन्होंने चेतना के अनुभव का विज्ञान कहा। उनके अनुसार चेतना के अनुभव के अन्तर्गत केवल चेतना ही नहीं, बल्कि अपेक्षा विषय भी आ जाते हैं। लेख में फिनोमिनोलोजी को उसके इसी अर्थ में लिया जा रहा है और उसके इसी अर्थ में मनोविज्ञान के लिए इसकी प्रासंगिकता का प्रश्न उठाया जा सकता है।

लेखक के अनुसार कोई विश्वास किसी अन्य के लिए निम्नलिखित ढंग से प्रासंगिक हो सकता है (क) सबसे सशक्त प्रासंगिकता तब आती है जब कोई किसी का आवश्यक एवं पर्याप्तकारण हो। उदाहरणत: रसेल के अनुसार गणित में तर्कशास्त्र की प्रासंगिकता इसी प्रकार की है। (ख) कारण आवश्यक हो, किन्तु पर्याप्त नहीं हो। ऐसी प्रासंगिकता भौतिकी के लिए गणित की है। (ग) इसमें कुछ कमज़ोर प्रासंगिकता आती है और वह तब जबकि कारण आवश्यक नहीं हो किन्तु पर्याप्त हो। जैसे, किसी भाषा के अध्ययन में, उसमें निहित सिद्धांत के निरूपण की प्रासंगिकता। यह अंतिम प्रासंगिकता का सबसे प्रचलित रूप है। 'क' 'ख' के लिए न आवश्यक है न यथेष्ठ, फिर भी 'क' की उपस्थिति से 'ख' की परिस्थिति में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर पड़ जाता है। तो कहा जा सकता है कि 'ख' के लिए 'क' प्रासंगिक है।

लेखक प्रासंगिकता के इन चारों उपादानों में उलझते नहीं हैं, उनका उद्देश्य यह दिखलाना है कि यदि किसी प्रकार यह सिद्ध किया जा सके कि फिनोमिनलोजी के मनोविज्ञान के लिए अनिवार्य नहीं होने पर भी वह मनोविज्ञान को प्रभावित करता है - उसमें कुछ अन्तर ला देता है, तो मनोविज्ञान में फिनोमिनलोजी की प्रासंगिकता सिद्ध हो जाती है।

हुस्सर्ल ने मनोवैज्ञानिकतावाद (साइकोलोज़िस्म) का बड़ा सशक्त खण्डन किया था। किन्तु, लेखक के अनुसार इससे हुस्सर्ल का मनोविज्ञान के प्रति विरोध सिद्ध हीं होता, क्योंकि उन्होंने मनोविज्ञान के उस रूप के विरुद्ध आवाज उठायी थी जिसमें तर्कशास्त्र को भी मनोविज्ञान का अंग बनाने का प्रयत्न किया गया था। सच पूछा जाय तो हुस्सर्ल के अनुसार भी फिनोमिनलोजी तथा मनोविज्ञान में आवश्यक संबंध है। लेखक के मत में कई स्थलों पर हुस्सर्ल ने कुछ ऐसे विश्लेषण किए हैं जो मनोविज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे, हुस्सर्ल के 'आईडीन' में प्रत्यक्ष का विश्लेषण, हाईडेगर के द्वारा सम्पादित भाषणों में काल की चेतना का विश्लेषण आदि। इनमें सबसे स्पष्ट मनोवैज्ञानिक महत्त्व चेतना की विषयापेक्षा वृत्ति के विश्लेषण का है। अनुभव की चेतना, उसके द्वारा अपेक्षित विषय, तथा इन दोनों का आवश्यक संबंध आदि के विश्लेषण से मनोवैज्ञानिक अध्ययन में योगदान स्वाभाविक ही है।

लेखक आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का उदाहरण लेते हैं और दिखलाते हैं कि ये हुस्सर्ल के फिनोमिनलोजी से प्रभावित हैं। गोटीन्जेन के युवा मनोवैज्ञानिक काट्ज ने स्वीकार किया है कि उन्होंने जो धरातलीय रंग एवं फिल्मी रंग में भेद किया वह हुस्सर्ल के प्रत्यक्ष के विश्लेषण से प्रभावित था। फिर, कुल्पे के शोध-कार्यों में हुस्सर्ल का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। कुछ गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों ने भी हुस्सर्ल के कार्यों की सराहना की और उनका उपयोग अपने अध्ययन में किया।

इन ऐतिहासिक प्रभावों के अतिरिक्त लेखक ने यह भी दिखलाया है कि फिनोमिनलोजी-दर्शन में कुछ ऐसी बातें निहित हैं जिनसे मनोविज्ञान अछूता नहीं रह सकता। प्रथमत: यह तो स्वीकार करना ही है कि अनुभव के मनोविज्ञान में चेतना-वृत्तियों की व्याख्या आवश्यक है। चेतना अनिवार्यत: विषयापेक्षात्मक है। विषयापेक्षा की व्याख्या फिनोमिनलोजी में ही उपलब्ध है। फिर, अनुभव-मनोविज्ञान कुछ मूल भावों तथा मानसिक क्रियाओं (जैसे, व्यवहार, प्रत्यक्षीकरण, अवगति आदि) को मानकर चलता है। किन्तु, इनका स्पष्ट विवरण मनोविज्ञान नहीं दे पाता; बल्कि, इनके मनोवैज्ञानिक विवरण तो इन भावों के साधारण भाषा-प्रयोगों पर आधृत होते हैं। फिनोमिनलोजी इनके मूल अनुभव-प्रदत्त रूप की व्याख्या करता है। स्पष्ट है कि ऐसी व्याख्या मनोविज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण होगी ही। एक बात और है, मनोवैज्ञानिक अध्ययन यह स्पष्ट कहीं कर पाते हैं कि कैसे चेतना के विभिन्न विषय अनुभव में संगठित होते हैं। मनोविज्ञान के पास इस ज्ञान का कोई साधन नहीं है। यहाँ फिनोमिनलोजी-दर्शन मनोविज्ञान की सहायता कर सकता है। हुस्सर्ल कहते हैं कि कम से कम तीन क्रियाओं के स्पष्टीकरण के बिना मनोविज्ञान निश्चित विज्ञान नहीं हो सकता - शुद्ध वैयक्तिक अनुभव का विवरण, अनुभव के आवश्यक तत्त्वों का निरूपण, और अनुभव-जगत् के संगठन का निर्देश। फिनोमिनलोजी का उद्देश्य ही इनका स्पष्टीकरण है, और इस रूप में फिनोमिनलोजी की विधि मनोविज्ञान के लिए प्रासंगिक हो जाती है।

अपने इस मत को एक उदाहरण के द्वारा पुष्ट करने के उद्देश्य से लेखक प्रत्यक्ष के क्षेत्र-सिद्धान्त (फील्ड थीयरी) का उदाहरण लेते हैं, और दिखलाते हैं कि कैसे इस अध्ययन में फिनोमिनलोजी एवं मनोविज्ञान के सहयोग की सम्भावना है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन में प्रत्यक्ष-क्षेत्र के संबंध में अनेक अवधारणाएं प्रकाश में आयी हैं। सबसे प्रमुख तो संवृत्ति-जगत् (फिनोमिनल वर्ल्ड) का भाव है। इससे विषयगत-प्रत्यक्ष-क्षेत्र में अन्तर किया जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक इसी आधार पर 'अनुभव-जगत्' की बात करते हैं। सौल रोजेन्ज़वीग ने तो व्यक्ति की क्रियाशीलता को अनुभव के संगठन का आधार माना है। इन सभी भावों में अनुभव-क्षेत्र की अनुभव निरपेक्षता को गौण बना दिया गया है और क्षेत्र की वास्तविकता अनुभवगत संबंधों से सिद्ध की गयी है। लेखक का कहना है कि हुस्सर्ल का लेख 'यूरोपीय विज्ञानों का संकट एवं अतिक्रामी-फिनोमिनोलोजी' (क्राइसिस आफ दि यूरोपियन साइंसिस एण्ड ट्रांसेंडेंटल फिनोमिनोलोजी), जो उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हुआ, यह स्पष्ट करता है कि कैसे इन मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं के स्पष्टीकरण में फिनोमिनलोजी सहायक हो सकती है। इसमें जीव-जगत् की व्याख्या की गयी है, जिस व्याख्या का केन्द्र अनुभवकर्त्ता है। इस लेख में कुछ ऐसे भावों की व्याख्या की गयी है और उन्हें अनुभव में स्थान दिया गया है जिनकी व्याख्या वस्तु-निष्ठ विज्ञान वस्तु-निष्ठ ढंग से कर ही नहीं सकता-जैसे दूरता-निकटता, ऊपर-नीचे, दांए-बाएं आदि का प्रत्यक्ष। इस लेख में अनुभव के उन भावनात्मक लक्षणों का भी उल्लेख हुआ है जिनकी ओर विज्ञान देखता भी नहीं, जैसे आत्मीय-पर, प्राचीन-नवीन, परिचित-अपरिचित आदि। स्पष्ट है, मनोविज्ञान की नवीनतम अवधारणाओं (जैसे विषय-जगत् अथवा संवृत्ति-जगत्) के अध्ययन में हुस्सर्ल के इस प्रकार के विवेचन से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

लेख - 10

अस्तित्ववाद तथा मानव-अलगाव[10]

लेखक के अनुसार आधुनिक संस्कृति के विश्लेषण में 'अलगाव' की भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने लेख में लेखक पहले 'अलगाव' के शब्दिक अर्थ और उसकी विषमताओं का वर्णन करते हैं, फिर इस भाव के आवश्यक लक्षण का स्पष्टीकरण करते हैं, और अन्त में, यह दिखलाते हैं कि 'अलगाव' की भावना का अस्तित्ववादी विचारधारा द्वारा मानव के स्वरूप विवेचन में क्या स्थान है। अपने इस उद्देश्य की परिपूर्ति वे एक सामान्य ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करते हैं, जिसके प्रथम भाग में हेगेल, मार्क्स एवं टानीस के विचारों का विवरण दिया गया है, और दूसरे भाग में कुछ प्रमुख अस्तित्ववादी विचारकों-सार्त्र, हाईडेगर एवं यास्पर्स-के विचारों का।

'एलिअनेशन' शब्द लैटिन '**एलियेनेसिया**' अथवा इसके क्रिया-रूप '**एलियेनो**' से निकला है। लैटिन में शब्द के विभिन्न अर्थ बताए गये हैं - अपने से अलग, तनाव, मानसिक विकृति, आदि। विशेषण रूप में लैटिन शब्द '**एलियेनो-अम**' है जिसके अर्थ विपरीत, विरोधी, असंगत आदि हैं। धीरे-धीरे इस शब्द के तीन प्रकार के अर्थ सहचारी हो गये - (क) सम्पत्ति का हेरफेर, (ख) तनाव या कमी, और (ग) पागलपन या मानसिक विकृति। स्पष्ट है, दर्शन की परम्परा में (ख) को ही महत्त्व दिया गया है।

इस भाव के दार्शनिक इतिहास के सिंहावलोकन में लेखक सर्वप्रथम **हेगेल** का उल्लेख करते हैं। हेगेल अपने 'फिनोमिनोलाजी' में 'अलगाव' को **तात्त्विक** अर्थ-देते हैं। विषयी और विषय के द्वैत में अलगाव-भाव को स्थान दिया गया है। प्रथमत: विषयी अपने को एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में समझता है और अपने अन्तर में किसी द्वैत की अनुभूति नहीं करता। किन्तु, उसकी चेतना उसे 'विषय' की ओर ले चलती है। अब उसकी आत्म-चेतना में विषय की चेतना प्रवेश कर जाती है। पहली चेतना को प्रथम पक्ष (थीसिस) कहा कहा गया है और दूसरी चेतना उसका प्रतिपक्ष (एंटीथीसिस) है। हेगेल के अनुसार यह विरोध शाश्वत नहीं है, इसके दोनों पद उच्च संश्लेषण में समविष्ट हो जाते हैं। किंतु इस विरोध की अपनी वास्तविकता है, और इसी विरोध में 'अलगाव' की अनुभूति होती है। हेगेल के अनुसार यह अलगाव दो ढंगों का है। एक तो चित् अपने अन्तर में ही अलगाव अनुभव करता है, और फिर यह अनुभूति बाह्य विषय-चेतना में भी होती है। प्रथम प्रकार के अलगाव की अभिव्यक्ति कला-कृतियों अथवा सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में होती है, और दूसरे की विषय-जगत् में। हेगेल यह भी समझते हैं कि अलगाव-भाव में स्थायित्व नहीं है, जब विषयी और विषय का द्वैत एक उच्च समायोजन में समाविष्ट हो जाता है तो अलगाव का भाव समाप्त हो जाता है।

मार्क्स ने इस भाव की विवेचना अपने प्रारम्भिक लेखों में की है। उनकी विवेचना तात्त्विक नहीं है, **आर्थिक संदर्भ** में है। मार्क्स के अनुसार अलगाव-भाव पूंजीवादी समाज में ही रहता है। सर्वहारा-वर्ग मजदूरी करता है, वह अपनी मजदूरी करता है, किन्तु वह अपनी मजदूरी के फल से वंचित रहता है। एक तो यही अलगाव है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पूंजीवादी 'मजदूर एवं मजदूरी' को अपनी पूंजी बढ़ाने का एक साधन बना लेता है, अर्थात्, मजदूर के व्यक्तित्व तथा मनुष्यत्व का अपहरण कर लेता है और उसे मात्र 'साधन' बना देता है। परिणाम यह होता है कि उसे अपने कार्यों से, कार्यों के फल से, अपने आप से 'अलगाव' की अनुभूति होती है। 'पूंजी' अब मनुष्य से अलग एक

मूल्य बन जाता है और पूंजीवादी समाज उसकी पूजा करता है। मार्क्स भी, हेगेल के समान, अलगाव को स्थायित्व नहीं देते। उनका भी कहना है कि पूंजीवादी समाज के नाश के साथ ही यह भावना समाप्त हो जाती है।

अलगाव-भाव के इतिहास में लेखक फर्डिनान्ड टौनीस को भी एक विशिष्ट स्थान देते हैं। उनका विवेचन हेगेल के समान तात्त्विक नहीं है और न मार्क्स के समान अर्थ-संदर्भ में है। वे अलगाव की व्याख्या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते हैं। उन्होंने समुदाय तथा समाज में भेद किया है। समुदाय, जिसका उदाहरण समाज की प्राचीन व्यवस्था में मिलता है, पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, विश्वास, रक्त-संबंध आदि पर आधृत रहता है। इसके विपरीत आधुनिक समाज कुछ समझौतों, कुछ प्रयोजनों के सूत्र से व्यक्तियों को एक साथ सूत्रित कर देता है। यही कारण है कि प्राचीन ढंग के समुदाय में '**अपनेपन**' का भाव रहता है, आधुनिक समाज में '**अलगाव**' का।

इस ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'अलगाव' का एक विशिष्ट अर्थ है जो किसी न किसी रूप में अपने हर विवेचन में वर्तमान है। 'अलगाव' विमूल्य (डिस्वेल्यू) है, एक निषेधात्मक वाक्य का उद्देश्य है, कुछ मूल्यों के ह्रास को सूचित करने का संकेत है। लेखक के मत में, अलगाव से मुख्यत: निम्नलिखित मूल्यों का निषेध होता है, एकता (हेगेल में), मानवीय संगठन (मार्क्स में) और सहजता (टौनीस में)। हर अलगाव की भावना में द्वैत-भाव रहता है। पहले में एकता एवं विषमता का द्वैत है, दूसरे में मानवीय संगठन एवं अमानवीयकरण का द्वैत है, और तीसरे में सहजता एवं कृत्रिमता का द्वैत है।

अलगाव के इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए इसके अस्तित्ववादी विवेचन पर विचार किया जा सकता है। हेगेल, मार्क्स आदि के विचारों से अस्तित्ववादी विचार में एक मौलिक अन्तर है। हेगेल, मार्क्स आदि ने अलगाव को मानव-स्थिति का तथाकथित स्थायी लक्षण नहीं माना। अस्तित्ववाद के अनुसार यह मानव-अस्तित्व का अनिवार्य स्थायी गुण है, इसके निषेध अथवा इसे मर्यादित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सार्त्र के दर्शन में अलगाव की भावना कई रूपों में प्रकट होती है। विश्वास, भावनात्मक मनोवृत्ति, क्रियाशीलता अथवा क्रिया-रूप; इनमें से किसी भी रूप में अलगाव भाव उत्पन्न हो सकता है। आन्तरिक विक्षोभ, स्वतंत्रता पर आक्षेप, विश्व की अर्थहीनता, योजनाओं की विफलता-इन सब से अलगाव-भाव उत्पन्न हो सकता है। संक्षेप में, व्यक्ति के अशुभ विश्वास (bad faith) का अलगाव-भाव एक आवश्यक लक्षण माना गया है। व्यक्ति अपने आन्तरिक संघर्षों में इस विश्वास से ऊपर उठने की चेष्टा करता है, किन्तु, उस चेष्टा में 'अलगाव' का निषेध नहीं होता, उसका रूप बदल जाता है।

सार्त्र के दर्शन में एक अन्य स्थल पर भी 'अलगाव' की व्याख्या की गयी है- जहाँ सार्त्र व्यक्ति और अन्य के संबंध की विवेचना करते हैं। अन्य की दृष्टि में ''मैं'' एक 'वस्तु' बन जाता हूँ। व्यक्ति का वस्तु बन जाना से व्यक्ति के मानव-रूप का अलगाव है।

हाईडेगर ने भी अलगाव को व्यक्ति और अन्य के संबंध में ही रखा है। 'अन्य' भी अपने ढंग से मानव-अस्तित्ववाद का आधार है। यह अन्य कोई निश्चित व्यक्ति नहीं, अन्य के अन्तर्गत सामान्य ढंग से '**वे सभी**' आ जाते हैं। इस समाजिकता का अर्थ है उस स्तर तक वैयक्तिक जीवन का ह्रास। इस प्रकार मानव-अस्तित्व अन्य से संबंधित हो कुछ सीमा तक अपने को खो देता है, यही मानव-अलगाव है।

वैसे, हाईडेगर अलगाव से 'सत्ता का ह्रास' ही समझते हैं, और इस ह्रास को मानव-अस्तित्व का अनिवार्य लक्षण मानते हैं। जब जब मानव-अस्तित्व अपने दैनिक जीवन की सहज-क्रियाओं में खो जाता है, जब जब वह मानव-अस्तित्व को जीवन पर उभार कर रख नहीं पाता, तब तब उसकी सत्ता असत्ता में डूब जाती है। यह मानव-अस्तित्व का अलगाव है।

यास्पर्स ने भी अपने ढंग से अलगाव की विवेचना की है। व्यक्ति की अनुभूति में ऐसी अवस्था आती है जब वह सब कुछ 'टूटता' देखता है। अपनी उपलब्धियों से भी उसे विरक्ति आ जाती है, और उसमें एकाकीपन की भावना जागती है। फलत: यास्पर्स के दर्शन में अलगाव के दो संदर्भ हैं - एक सामाजिक, दूसरा विश्व-जनित। एकाकीपन समाज से व्यक्ति को अलग करता है, इसकी भयानकता की अनुभूति अलगाव-भावना है। और फिर, जब अपने एकाकीपन में उसे सब कुछ टूटता-गिरता सा प्रतीत होता है, तो उसे विश्व से अलगाव की अनुभूति होती है। यही कारण है कि यास्पर्स के अनुसार यह भावना सार्वभौमता या ईश्वर की ओर उठने का एक अनिवार्य उपादान माना गया है।

इस प्रकार, लेखक दिखलाते हैं कि अस्तित्ववादी दर्शन 'अलगाव' की व्याख्या में आधुनिक मानव की वर्तमान स्थिति को ही आधार बनाते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि यह आधुनिक मानव-जीवन का यथार्थ वर्णन है।

***

संदर्भ-सूची : -

1. *R.M. Chilsholm, Brentano on Descriptive Psychology and the Intentional.*
2. *Aron Gurwitsch, Husserl's Theory of Intentionality of Consciousness in Historical Perspective.*
3. *E.F. Kaelin, Notes toward on Understanding of Heidegger's Aesthetics.*
4. *J. Glem Gray, Poets and Thinkers : Their Kindred Rolex in the Philosophy of Martin Heidegger.*
5. *George L. Kline, The Existentialist Rediscovery of Hegel and Marx.*
6. *Games M. Edie, Sartre as Phenomenologist and as Existentialist Psychoanllyst.*
7. *F.A. Olafson, A Central Them of Meraeau-Ponty's Philosophy.*
8. *Paul Ricoeur, Husserl and Wittgenstein on Language.*
9. *Herbert spiegelberg, the Relevance of Phenmenological philosophy for psychology.*
10. *Albert W. Levi, Existentialism and the Alienation of Man.*

11

तर्कशास्त्र का दर्शन*

रूपरेखा वर्मा

प्रसिद्ध दार्शनिक क्वाइन[1] की इस पुस्तक का उद्देश्य यद्यपि केवल परिचयात्मक है, फिर भी यह मात्र परिचय से कहीं अधिक है तर्कशास्त्र की दार्शनिक समस्याओं के परिचय के साथ-साथ इस पुस्तक में क्वाइन की पहले लिखी गई एक दर्जन से भी अधिक पुस्तकों में बिखरे अधिकांश विचारों का सारांश मिल जाता है। क्वाइन मुख्य रूप से तर्कशास्त्र के दार्शनिक रहे हैं और बहुधा उनके विचारों की गहनता उन्हें जटिल बना देती है। दर्शन-शास्त्र के प्रचलित, जीवित विवादों में से अधिकांश पर क्वाइन की मान्यताएं न केवल प्राचीन, पारंपरिक विचारधारा से पृथक् हैं, अपितु आधुनिक विश्लेषणात्मक दार्शनिकों से भी एकदम भिन्न हैं। स्थान-स्थान पर क्वाइन के विचार तार्किक प्रत्यक्षवाद (लॉजिकल पॉजिटिविज़्म) तथा अन्य समान विचारधाराओं की सशक्त आलोचनायें प्रस्तुत करते हैं। यह नवीनता तथा मौलिकता क्वाइन की किसी भी रचना को विशेष महत्त्व देने के लिए पर्याप्त हैं।

तर्कशास्त्र की दार्शनिक समस्याओं पर और भी अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ क्वाइन के ही समकक्ष प्रसिद्ध दार्शनिकों द्वारा संपादित अथवा रचित हैं। अत: इस पुस्तक का महत्त्व उस अर्थ में किसी अभाव की पूर्ति करने में नहीं है। इसका महत्त्व इसके विचारों की नवीनता तथा मौलिकता में है। इसके अलावा, स्वयं क्वाइन के समस्त दर्शन को समझने के लिए भी यह पुस्तक एक समृद्ध भूमिका के रूप में कार्य कर सकती है।

पुस्तक में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'अर्थ एवं सत्यता' पर है। इस अध्याय में क्वाइन जिस सिद्धांत का खण्डन करना चाहते हैं वह है कि हर वाक्य का अर्थ एक प्रतिज्ञप्ति (प्रोपोज़ीशन) होती है जिसे वह वाक्य अभिव्यक्त करता है (अथवा जिसमें वह प्रतिज्ञप्ति सूत्रबद्ध होती है) और प्रतिज्ञप्तियां वाक्यों से भिन्न प्रकार की वस्तुएं हैं - वाक्यों से परे, स्वतन्त्र, अमूर्त अस्तित्व रखने वाली वस्तुएं। मान लें कि एक जर्मन-भाषी व्यक्ति यह वाक्य कहता है : "Der Schnee ist weiss" (क)। इस वाक्य की सत्यता का एक साधारणत: मान्य विवरण यह होगा : वाक्य (क) का अर्थ है कि बर्फ सफेद होती है, और तथ्य भी यही है कि बर्फ सफेद होती है। अथवा यों कहा जाय कि इन दो वाक्यों का नाम एक ही है। इसलिए जर्मन वाक्य सत्य माना जायगा। ठीक यही विवरण अंग्रेजी वाक्य "Snow is white" का होगा। क्वाइन मानते हैं कि इस विवरण का एक निर्लिप्त रूप भी हो सकता है जिसमें अर्थ एवं तथ्यों की बात का कोई अन्य निगूढार्थ नहीं हो, यह केवल मूर्त वाक्यों एवं केवल मूर्त घटनाओं या वस्तुओं के

---

* *W.V. Quine : Philosophy of Logic, Prentish Hall Foundations of Philosophy series, 1970*

विषय में कुछ कहने की एक शैली मात्र हो। इस रूप में इस विवरण में अर्थों की प्रतिज्ञप्तियां मानकर उन्हें वाक्यों से परे एवं स्वतन्त्र अस्तित्व वाला मानने की बात निहित नहीं है। परन्तु वास्तव में तर्कशास्त्र के दर्शन में 'अर्थ' का यह निर्लिप्त प्रयोग सर्वत्र नहीं मिलता। अनेक दार्शनिक 'वाक्यार्थ' का प्रयोग उपर्युक्त विवादास्पद ढंग से करते हैं, अर्थात् वे वाक्यों के अर्थों को वाक्यों से स्वतन्त्र, अमूर्त अस्तित्व वाली प्रतिज्ञप्तियों का रूप दे देते हैं। ये प्रतिज्ञप्तियां ही प्राथमिक रूप से सत्य अथवा असत्य मानी जाती हैं, इन्हीं को विश्वास, अविश्वास, ज्ञान आदि का विषय माना जाता है। और इन प्रतिज्ञप्तियों को ही आपादान (इम्प्लीकेशन) आदि तार्किक सम्बन्धों का प्राथमिक रूप से आधार माना जाता है।

क्वाइन की मुख्य आपत्ति अर्थ व प्रतिज्ञप्तियों के इस तादात्म्यीकरण के ही विरुद्ध है। ऐसे तादात्म्यीकरण के विरुद्ध, और साधारणत: किसी भी प्रकार के अमूर्त अस्तित्व के विरुद्ध, आपत्तियाँ नई नहीं हैं, अनेक दार्शनिक क्वाइन से पूर्व ही इन्हें उठा चुके हैं। परन्तु क्वाइन की आलोचना का आधार उन दार्शनिकों से नितांत भिन्न है। यह भिन्नता ही क्वाइन की नवीनता है। प्रतिज्ञप्तियों के विरुद्ध क्वाइन की आपत्ति का कारण ''दार्शनिक मितव्ययता'' नहीं है, और न ही किसी प्रकार का विशेषवाद (पर्टिकुलरिज़्म) है। इस प्रकार, सत्तामीमांसा में प्रतिज्ञप्तियों के प्रवेश को जब क्वाइन अनुचित मानते हैं तो इसका कारण प्रतिज्ञप्तियों की अमूर्तता नहीं है ; क्वाइन की अस्वीकृति के पीछे कुछ अधिक ठोस तार्किक कारण हैं जिन्हें वे अधिक गम्भीर तथा अति आवश्यक मानते हैं। (पृ. 3)

संक्षेप में क्वाइन का तर्क यह है : यदि प्रतिज्ञप्तियाँ हैं, तो वाक्यों के बीच समानार्थकता तथा समानता के कुछ सम्बन्ध होने चाहिए, क्योंकि तब हम यह निश्चित रूप से कह सकेंगे कि जो वाक्य एक ही प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त करते हैं वे समान होते हैं।परन्तु वाक्यों के स्तर पर इस प्रकार के समानता-सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं होता। इस विचार की पुष्टि एवं स्पष्टीकरण क्वाइन इस प्रकार करते हैं : यद्यपि साधारणत: हम वाक्यों की समानार्थकता अथवा भिन्नार्थकता की बात करते हैं, फिर भी यदि हम दार्शनिक रूप से देखें तो पायेंगे कि यह प्रत्यय अस्पष्ट है। इसका प्रयोग एवं मापदण्ड आवश्यकतानुसार बदलता रहता है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी अभिवृत्तियों आदि की समानता भी अर्थ के लिए अनिवार्य मानी जाती है, और कभी केवल विषयगत सूचना। इस समस्या का समाधान कठिन नहीं है। यह माना जा सकता है कि विषयगत सूचना ही अर्थों एवं प्रतिज्ञप्तियों की समानता के लिए अनिवार्य एवं पर्याप्त है। और ऐसा वस्तुत: अनेक दार्शनिकों ने माना है। परन्तु मुख्य कठिनाई यह है कि स्वयं विषयगत सूचना का प्रत्यय पर्याप्त स्पष्ट नहीं है। सूचना का प्रत्यय संदर्भ-विशेष की सापेक्षता में तो स्पष्ट है, अर्थात् यदि पहले से निश्चित हो कि चिह्नों के एक समूह (वाक्य अथवा अभिव्यक्ति के अन्य सांकेतिक साधन) द्वारा दी गई सूचना निर्धारित करने में कौन से विकल्प प्रासंगिक हैं और उन विकल्पों, तत्त्वों की जानकारी एवं गणना कैसे हो, तो सूचना का प्रत्यय स्पष्ट भी होगा और परिणामस्वरूप पर्याप्त निश्चितता के साथ प्रयुक्त भी किया जा सकेगा। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में सूचना (अर्थ या प्रतिज्ञप्ति) की समानता का प्रत्यय भी पूर्णत: स्पष्ट होगा। परन्तु साधारण भाषा के वाक्यों के संदर्भ में ऐसी स्पष्टता उपलब्ध नहीं होती। वास्तविक जीवन में प्रयुक्त साधारण भाषा के वाक्यों की समानार्थिकता निर्धारित करने के लिए कौन से विकल्प प्रासंगिक एवं उपयुक्त हैं और विभिन्न विकल्पों को कैसे निर्धारित और एक-दूसरे से अलग किया जाय, यह स्वयं स्पष्ट नहीं है।

इस समस्या का एक सम्भव उत्तर आधुनिक अनुभववादियों की ओर से मिल सकता है और क्वाइन ने इस उत्तर की आलोचना विस्तार से की है। अर्थ के सत्यापन-सिद्धांत के आधार पर विषयगत

सूचना निर्धारित करने के लिए सत्यापित अथवा असत्यापित करने वाले अनुभवों को एकमात्र उपयुक्त तत्त्व माना जा सकता है। और इनकी समानता या असमानता ही वाक्यों की समानार्थकता-असमानार्थकता (प्रतिज्ञप्ति-समानता अथवा प्रतिज्ञप्ति-भेद) निर्धारित करेगी।

इस प्रस्ताव के विरुद्ध क्वाइन जो कुछ कहते हैं वह साररूप में उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त है - कि कोई भी वाक्य (विज्ञान का कोई अंश) शेष वाक्यों से सर्वथा स्वतंत्र तथा पृथक् नहीं होता। जहाँ तक अनुभवात्मक प्रमाण की बात है, साधारणत: कोई भी विशिष्ट अनुभव किसी एक अकेले वाक्य का विरोधी या समर्थक नहीं होता, अपितु यह एक पूरे तन्त्र को सत्यापित अथवा असत्यापित करता है। और तन्त्र एवं अनुभव के बीच का विरोध केवल यह दिखाता है कि उस तन्त्र को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता, कि उस तन्त्र में कहीं कुछ परिवर्तन अनिवार्य है, यदि हम उस अनुभव को निराभ्रम नहीं मानते हैं तो। परन्तु ठीक कहाँ परिवर्तन करना है, तन्त्र के किस वाक्य को अस्वीकार करना है, यह वह विरोध स्वयं निर्धारित नहीं करता। तन्त्र का अनुभव से समायोजन करने के अनेक विकल्प होते हैं, कौन सा विकल्प चुना जाय, यह सदैव कुछ व्यावहारिक तत्त्वों से निश्चित होता है।[2] इस पुस्तक में क्वाइन एक प्रकार के अपवाद को स्वीकार करते हैं, और ये अपवाद हैं तथाकथित प्रेक्षणात्मक वाक्य। एक प्रेक्षणात्मक वाक्य अकेला ही एक विशिष्ट अनुभव द्वारा निश्चित रूप से सत्यापित या असत्यापित हो सकता है। क्योंकि एक ऐसा वाक्य दो विरोधी अनुभवों में से किसी एक को बताता है, अत: कोई भी अनुभव उस वाक्य के लिए पूर्ण प्रमाण है जो उसे बताता है और उसके विरुद्ध पूर्ण प्रमाण है जो उसका उल्टा बताता है। ऐसे वाक्यों को, जो अन्य वाक्यों से बिल्कुल पृथक् एवं स्वतंत्र रहकर अलग-अलग सत्यापित या असत्यापित हो सकें इतने स्पष्ट रूप से क्वाइन ने इसी पुस्तक में स्वीकार किया है। "टू डौग्माज़ आफ एम्पीरिसिज़्म" लेख में तथा अन्य पुस्तकों में क्वाइन ने स्पष्टत: कहा है कि भाषा की इकाई सम्पूर्ण विज्ञान अथवा हमारे विश्वासों का सम्पूर्ण समूह होता है। वहाँ वे इस सिद्धांत को पूर्णत: सामान्य रूप से रखते हैं कि कोई भी वाक्य दूसरों से पृथक् होकर अकेला सत्यापित या असत्यापित नहीं हो सकता। अपवादों का वहाँ न तो कोई उल्लेख है और न ही वहाँ उन्हें कोई स्थान दिया जा सकता है। बाद की अन्य पुस्तकों ("वर्ड एण्ड औब्जेक्ट", आदि) में भी इन अपवादों की स्वीकृति स्पष्ट नहीं है, यद्यपि क्वाइन के अन्य विचारों की उपलक्षणा के रूप में यह वहाँ पाई जा सकती है। परन्तु तब यह स्पष्ट नहीं होता कि इस प्रकार की परोक्ष स्वीकृति क्वाइन के सामान्य सिद्धांत का अन्तर्विरोध दिखाती है अथवा वह उनके अपने सिद्धांत का ही एक अंग है। दूसरे विकल्प में यह मानना होगा कि क्वाइन विचाराधीन सिद्धांत को सामान्य रूप में स्वीकार करते ही नहीं। प्रस्तुत पुस्तक में क्वाइन ने जिस प्रकार अपने मत को रखा है उसमें वह इन कमजोरियों से मुक्त है। इसीलिए बहुत सी आलोचनाएं जो क्वाइन के मत की की गई थीं, यहाँ लागू नहीं की जा सकतीं। इस पुस्तक में यह स्पष्ट है कि क्वाइन का सिद्धांत यह नहीं है कि भाषा का कोई भी वाक्य अलग से सत्यापित अथवा असत्यापित नहीं किया जा सकता। अपितु उनका सिद्धांत है कि हर वाक्य निरीक्षणात्मक वाक्य की भांति दूसरों से पृथक् एवं स्वतन्त्र नहीं है, और यह उस सिद्धांत की अपूर्णता दिखाने के लिए पर्याप्त है जिसकी क्वाइन यहाँ आलोचना कर रहे हैं : यह सिद्धांत कि हर वाक्य का अर्थ एक प्रतिज्ञप्ति होती है और इस प्रतिज्ञप्ति का निर्धारण (क्वाइन के शब्दों में 'विशिष्टीकरण') अनुभवात्मक प्रमाणों द्वारा होता है।

प्रतिज्ञप्ति-निर्धारण अथवा वाक्य-समानार्थकता के एक और सुपरिचित मापदण्ड की आलोचना क्वाइन ने यहाँ की है : 'इन्टरचेन्जेबिलिटी सेल्वा वेरिटेट'। क्वाइन द्वारा इसकी आलोचना से हम पूर्वपरिचित हैं। मुख्य युक्ति वही है जो क्वाइन व अन्य अनेक दार्शनिक इसके विरुद्ध पहले ही दे चुके

हैं। इन आलोचनाओं के आधार पर क्वाइन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'प्रतिज्ञप्ति' का प्रत्यय अत्यन्त अस्पष्ट और व्यर्थ है। क्वाइन के मतानुसार प्रतिज्ञप्तियों को पृथक् वस्तुएं मानने की कोई दार्शनिक आवश्यकता भी नहीं है। क्योंकि इस प्रत्यय से जो भी प्रयोजन सिद्ध करना अभिप्रेत है वह वाक्य के प्रत्यय से भी सिद्ध हो सकता है।

इस अध्याय क अन्तिम दो खण्डों में क्वाइन सत्यता के विषय में कुछ टिप्पणियाँ देते हैं। प्रतिज्ञप्तियों को वस्तुएं मानने वालों के साथ क्वाइन इस बात पर सहमत हैं कि सत्यता का आधार या निर्णायक भाषा नहीं अपितु वास्तविकता अथवा सत् होता है। किसी भी वाक्य को याथातथ्यता ही सत्य बनाती है। परन्तु क्वाइन कहते हैं कि इसका अर्थ यह नहीं है कि वाक्यों को सत्य अथवा असत्य नहीं कहा जा सकता। अपितु सत्यता के प्रत्यय की उपयोगिता ही वहीं है जहाँ याथातथ्यता से सम्बन्धित होते हुए भी हमें कुछ कारणों से वाक्यों का उल्लेख करना पड़ता है। क्वाइन कहते हैं कि ''यहाँ सत्यता विधेय वाक्य के माध्यम से याथातथ्यता की ओर संकेत करता है, यह एक प्रकार के स्मारक के रूप में कार्य करता है, कि यद्यपि वाक्यों का उल्लेख हुआ है, फिर भी बात याथातथ्यता के विषय में है।''(पृ. 11) सत्यता के विषय में क्वाइन का यह सिद्धांत सत्यता-विधेय से सम्बन्धित इस विवाद के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि भाषा में इस विधेय की कोई आवश्यकता है या कि यह केवल एक अनावश्यक शैलीगत शब्द है, और यदि आवश्यक है तो इसके प्रयोग से हम क्या नई सूचना देते हैं जो इसके प्रयोग के बिना नहीं दी जा सकती।

क्वाइन का विचार है कि सत्यता-विधेय कुछ सामान्यीकरणों के लिए अपरिहार्य होता है, क्योंकि उन सामान्यीकरणों के अन्तर्गत इतने विविध प्रकार के तथ्य होते हैं कि उन्हें वैज्ञानिक सामान्यीकरणों की भांति सीधे रूप में, वस्तुपरक भाषा में, नहीं रखा जा सकता। उस विविधता का समावेश करने के लिए वाक्यों का उल्लेख करना अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ, 'गोपाल नश्वर है', 'हरि नश्वर है' आदि का सामान्यीकरण आसानी से इस वाक्य द्वारा हो सकता है, 'सभी मनुष्य नश्वर हैं।' (यह माना गया है कि 'गोपाल', 'हरि' आदि मनुष्यों के नाम हैं))। परन्तु 'गोपाल या तो नश्वर है अथवा नहीं, 'वर्फ सफेद है अथवा नहीं' आदि का सामान्यीकरण इस प्रकार सम्भव नहीं है। इनका सामान्यीकरण करने के लिए हमें उच्चतर स्तर की भाषा का प्रयोग करना होगा : 'प अथवा प' प्रकार का हर वाक्य सत्य होता है। क्वाइन के अनुसार, यहाँ वाक्यों का उल्लेख होते हुए भी हमारी विषय-वस्तु स्वयं वाक्य नहीं, अपितु वस्तुस्थिति ही होती है, यह स्पष्ट करने के लिये सत्यता-विधेय का प्रयोग किया जाता है। क्वाइन के शब्दों में, यहाँ ''हमारी बात में अर्थपरक स्वर आ जाता है।'' यहाँ पर एक आपत्ति उठाई जा सकती है : क्वाइन के लिए इस प्रकार के वाक्यों का सामान्यीकरण बिना अर्थपरक स्वर के नहीं हो सकता : ''अ क है अथवा अ क नहीं है'', ''ब ख है अथवा ब ख नहीं है'' आदि। यहाँ पर अ, ब, आदि विभिन्न प्रकार की वस्तुएं होंगी। मेरे विचार से, एक सामान्यीकरण ऐसा सम्भव है जिसमें कोई भी अर्थपरक स्वर न हो, अर्थात् जिसमें वाक्यों का कोई उल्लेख न हो। यह सामान्यीकरण इस प्रकार हो सकता है : ''प्रत्येक य के लिए और प्रत्येक गुण फ के लिए, या तो य में गुण फ है अथवा य में गुण फ नहीं है।''

द्वितीय अध्याय व्याकरण पर है। इस अध्याय में क्वाइन व्याकरण के स्वरूप की विवेचना करते हैं और उस विवेचना का प्रयोग प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की कृत्रिम भाषा के विश्लेषण के रूप में करते हैं। प्रथमत:, क्वाइन यह बताते हैं कि व्याकरण तथा तर्कशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण भेद है, और वह यह कि तर्कशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों में वाक्यों का उल्लेख होते हुए भी उनका सम्बन्ध मात्र भाषा

से ही नहींहोता, उनके विशिष्ट उदाहरण अनिवार्यतः भाषा-विषयक नहीं होते। क्वाइन के शब्दों में, उनमें पाई जाने वाली अर्थपरकता का कारण उनका भाषा-विषयक होना नहीं है, अपितु उनके दृष्टान्तों में एक विशेष प्रकार की विविधता का होना है। इस प्रकार तर्कशास्त्र के सिद्धान्त भाषा-विषयक शब्दावली में इसलिए सूत्रबद्ध किये जाते हैं कि अन्य किसी प्रकार से उनकी सामान्यता को अभिव्यक्ति दी ही नहीं जा सकती। इसके विपरीत ''व्याकरण का उद्देश्य ही भाषा-विषयक होना है''। (पृ. 15)

क्वाइन का यह विचार भी तर्कशास्त्र के स्वभाव के विषय में प्रचलित विवाद में एक नया आयाम जोड़ देता है। तर्कशास्त्र को मात्र व्याकरण अथवा व्याकरण का विज्ञान मानने वाले विट्गेंस्टाइन के अनुसारी दार्शनिकों और तर्कशास्त्र को सृष्टि की संरचना का विज्ञान मानने वाले कुछ अल्प संख्यक दार्शनिकों के विवाद से हम सभी परिचित हैं। तर्कशास्त्र के विषय में क्वाइन की विचारधारा इन सभी से भिन्न और नवीन है।

क्वाइन के अनुसार एक व्याकरणविद् का उद्देश्य, संक्षेप में, यह है - ध्वनि-ग्रामों की शृंखलाओं के उस वर्ग को आकारिक (फारमल) रूप से निश्चित करना जिसमें व्यावहारिक रूप से समस्त (देखे, सुने गए) कथन निहित हों, और जो कथन कभी भी देखे, सुने नहीं जायेंगे वे, व्यवहारिक रूप से जहाँ तक सम्भव हो, उसमें निहित न हों। (पृ. 22) क्वाइन बताते हैं कि निरपेक्ष रूप से एक व्याकरणविद् का कार्य केवल इस प्रकार ही बताया जा सकता है। व्याकरणता का कोई संतोषजनक निरपेक्ष (ट्रान्सेन्डेंट) प्रत्यय उपलब्ध नहीं होने से व्याकरण के स्वरूप और व्याकरणविद् के लक्ष्य का कोई निरपेक्ष विवरण ठीक तरह से देना सम्भव नहीं है। इसे प्रत्ययों के माध्यम से ही बताया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में सापेक्ष अथवा भाषा-अन्तर्भूत और निरपेक्ष अथवा भाषा-बहिर्भूत प्रत्ययों का भेद क्वाइन ने ही प्रथम बार किया है। यह भेद दो प्रकार के भाषा-सम्बन्धी प्रत्ययों का भेद है। प्रथम प्रकार के प्रत्यय भाषा-सापेक्ष हैं। ये किसी विशिष्ट भाषा के लिए परिभाषित होते हैं; और भाषा-निरपेक्ष प्रत्यय वे हैं जो सामान्य रूप से किसी भी भाषा के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। क्वाइन के अनुसार 'वैयाकरण-कोटि' और 'संरचना' के प्रत्यय भाषा-सापेक्ष होते हैं। इसी प्रकार 'शब्द' अथवा 'रूपग्राम' (मौरफीम) का प्रत्यय भी वे भाषा-सापेक्ष ही मानते हैं। क्वाइन का विचार है कि किसी विशिष्ट भाषा का व्याकरण निश्चित करते समय हम उस भाषा में पाए जाने वाले ध्वनिग्रामों (फोनीम्स) की शृंखलाओं के वर्ग को आकारिक रूप से अलग कर लेते हैं, अर्थात् यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि उस भाषा के ध्वनिग्रामों की कौन सी शृंखलाएं उस भाषा की हैं, अर्थात्, उस भाषा का प्रयोग करने वाले समुदाय में साधारण भाषा के रूप में कौन सी शृंखलामें (कथन) बोली या लिखी जा सकती हैं। यह कार्य ऐसी शृंखलाओं की एक सूची मात्र बना देने से भी हो सकता है। परन्तु चूंकि इनकी संख्या अनन्त है इसलिए व्याकरणविद् को आवर्तन (रिकर्शन) से काम लेना पड़ता है। उसे शब्द-सूची और कुछ व्याकरणीय संरचनाएं इस प्रकार निश्चित करनी होती हैं कि उनके माध्यम से वह अपना उद्देश्य पूर्ण कर सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि संरचना के द्वारा शब्द-सूची से प्राप्त हुई ध्वनिग्राम-शृंखलाएं सामान्य बोलचाल में शामिल होने योग्य होनी चाहिए और इसी प्रकार जो भी ध्वनिग्राम-शृंखला सामान्य बातचीत में निहित हो सकती हो वह शब्द-सूची से संरचनाओं द्वारा उपलब्ध होनी चाहिए।

व्याकरणीय कोटियों के रूप में शब्द-सूची का विभाजन संरचनाओं के विवरण के लिए अनिवार्य है। संरचनाओं से न केवल कोटियों के जटिल सदस्यों की वृद्धि होती है अपितु नई कोटियों का भी जन्म हो सकता है; उदाहरणार्थ वाक्यों की कोटि। यहीं पर क्वाइन व्याकरणीय कोटि की एक सामान्य परिभाषा का प्रश्न उठाते हैं। स्कौलैस्टिक दर्शन में प्रयुक्त और पी. टी. गीच द्वारा दुहराये गये

प्रत्यय 'इन्टरचेंजेबिलिटी सेल्वा कौन्यु इटेट' द्वारा दी गई परिभाषा को क्वाइन असन्तोषजनक पाते हैं। क्वाइन का अपना विचार है कि व्याकरणीय कोटि की भाषा-निरपेक्ष परिभाषा न केवल अनुपलब्ध है, यह अनावश्यक भी है। किसी भाषा की शब्द-सूची के विभिन्न वर्गों को विभिन्न कोटियाँ मानने के पीछे केवल व्यावहारिक सुगमता का ही सिद्धान्त है। और दूसरी भाषाओं में भी कुछ शब्द-समूहों को इसी नाम से पुकारने का कारण कोटि का कोई भाषा-निरपेक्ष प्रत्यय नहीं है, अपितु दोनों भाषाओं के शब्द-समूहों में कुछ ऊपरी समानताओं का होना ही है।

रूपग्राम के विषय में क्वाइन यह स्वीकार करते हैं कि यदि रूपग्राम को 'लघुतम सार्थक इकाई' के रूप में ही माना जाय तो यह प्रत्यय निश्चित ही भाषा-निरपेक्ष हो जायगा। परन्तु क्वाइन यह दिखाने के लिए तर्क देते हैं कि यह परिभाषा स्वयं असन्तोषजनक है। और ऐसी किसी अन्य सन्तोषजनक परिभाषा के अभाव में रूपग्राम का प्रत्यय भी भाषा-सापेक्ष ही मानना उचित होगा। स्पष्ट है कि यदि यह प्रत्यय भाषा-सापेक्ष है तो शब्द-सूची का प्रत्यय भी भाषा-निरपेक्ष नहीं हो सकता।

एक स्थान पर (पृ. 21) क्वाइन अपने इस कथन का पुन: परीक्षण करते हैं कि एक व्याकरणविद् का उद्देश्य भाषा-विशेष की उन ध्वनिग्राम-शृंखलाओं को बताना है जो उस भाषा का प्रयोग करने वाले समुदाय की साधारण भाषा में कभी भी बोली जाती हैं अथवा बोली जा सकती हैं। इस कथन को दो कारणों से अस्पष्ट एवं असन्तोषजनक माना जा सकता है। प्रथमत: इसलिए कि इसमें न केवल वास्तव में बोली जाने वाली शृंखलाओं का संकेत है अपितु उनका भी संकेत है जो उस साधारण भाषा में बोली जा सकती हैं। इस प्रकार यहाँ समुदाय के वास्तविक भाषा-सम्बन्धी व्यवहार के अलावा भाषा-सम्बन्धी अभिवृत्ति का भी उल्लेख है। विज्ञान-दर्शन में प्रवृत्ति विषयक प्रत्ययों, प्रतितथ्यात्मक सोपाधिक वाक्यों आदि पर चलने वाले विवाद से हम परिचित ही हैं, और इसलिए इस विषय में क्वाइन के अपने मत का स्पष्टीकरण उचित जान पड़ता है। पुन:, उस विवाद के सन्दर्भ में क्वाइन का मत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। क्वाइन मानते हैं कि प्रवृत्तियों के विषय में हम सार्थकता से बात कर सकते हैं, और ऐसे कथन वर्तमान सन्दर्भ में, और किसी अन्य विज्ञान में भी, प्रयुक्त होने चाहिए। उनके अनुसार अभिवृत्ति एक ऐसी परिकल्पित आंतरिक स्थिति है जो व्यवहार का आंशिक कारण होती है और व्यवहार उस अभिवृत्ति का प्रमाण होता है।

दूसरी अधिक गम्भीर कठिनाई 'साधारण भाषा' पद के कारण है। साधारणता, का प्रत्यय अस्पष्ट है और इसका कोई निश्चित मापदण्ड उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं साधारणता का प्रत्यय व्याकरण के प्रत्यय पर निर्भर करता है। भाषा-विशेष में क्या साधारण भाषा के अन्तर्गत माना जाय और क्या नहीं, यह व्याकरणविद् बहुत अंश तक अपनी सुविधानुसार निश्चित कर लेता है। इस प्रकार 'वाक्य' का प्रत्यय भी भाषा-निरपेक्ष न होकर भाषा-सापेक्ष हो जाता है।

व्याकरण की इस विवेचना के पश्चात् क्वाइन प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की भाषा का व्याकरणीय विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण की एक-दो बातों को छोड़कर शेष से प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का कोई प्रारम्भिक छात्र भी परिचित होगा। कहीं-कहीं प्रचलित चिह्नों से भिन्न चिह्न अपनाये गये हैं। जैसे, चल प्रतीक X,Y,Z के अलावा यदि अन्य चल प्रतीकों की आवश्यकता हो जो साधारणत: U,V,W का प्रयोग होता है। परन्तु क्याइन X,Y,Z इत्यादि का प्रयोग करते हैं। चल प्रतीक X',X" आदि को वे व्याकरण की दृष्टि से जटिल मानते हैं, क्योंकि ये शब्दसूची में पाये जाने वाले X,Y,Z पर 'स्वरांकन' (ऐक्सेन्चुशन) की रचना प्रयुक्त करने से प्राप्त होते हैं। एकाश्रित, द्विआश्रित आदि विधेयों का सुपरिचित भेद किया गया है। 'स्वरांकन' के अलावा अन्य व्याकरणीय रचनाएं भी मानी गई हैं, जैसे,

एकाश्रित विधेय का गुणारोपण, द्वि-आश्रित विधेय का गुणारोपण, निषेध, संयोजन तथा अस्तित्वपरक परिमाणन (एग्जिस्टेंशियल क्वांटीफिकेशन) कुछ। अन्य तार्किक प्रतीकों को क्वाइन अनावश्यक मानते हैं, उदाहरणार्थ विकल्प, सोपाधिक चिह्न, सार्वभौमिक परिमाणक (यूनीवर्सल क्वांटीफायर) आदि, क्योंकि इन प्रतीकों द्वारा बनाये गये वाक्यों को दूसरे वाक्यों में परिवर्तित किया जा सकता है। अभिव्यक्ति के लिए ये प्रतीक अपरिहार्य नहीं हैं। नामों की अनावश्यकता के लिए क्वाइन की युक्ति यह है : मान लें कि 'अ' एक नाम है और 'फ' एक वाक्य है। 'फ' इस वाक्य के समान है :

'$(\exists_{\text{य}}) (\text{अ} = \text{य} \cdot \text{फ}^{\text{अ}}_{\text{य}})$'। 'अ' केवल सन्दर्भ 'अ = $\overset{\text{अ}}{\ldots\ldots}$' में ही घटित होता है और 'अ = ... ' को सदैव एक सरल विधेय 'आ' के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। अतः 'फ$_{\text{य}}$' का परिवर्तित रूप यह होगा : $(\exists_{\text{य}}) (\text{आ}_{\text{य}} \cdot \text{फ})_{\text{य}}$'। नाम की अनन्यता सुरक्षित रखने के लिए वाक्य इस प्रकार भी रखा जा सकता है : $\sim(\exists_{\text{य}}) (\exists_{\text{व}}) (\text{आं}_{\text{य}}\, \text{आं}_{\text{व}} \sim (\text{य}=\text{व}))$'।

यहाँ यह मानना होगा कि 'अ से तादात्म्य होना', 'ब से तादात्म्य होना' आदि एकाश्रित विधेय हैं। परन्तु ऐसा मानना कहाँ तक सही है, इसमें सन्देह है। फलन-संकेतों (फंक्टर्स) को भी क्वाइन इसी प्रकार अनावश्यक मानते हैं। यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि नाम और फलन-संकेत दोनों ही भाषा को सुगमता प्रदान करते हैं।

किसी शब्द के शब्द-सूची में सम्मिलित होने का अर्थ यह नहीं है कि वह नाम है। विधेयों को भी शब्द-सूची में ही शामिल किया जाता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि विधेयों को नामों का स्तर देना अनिवार्य है। बल्कि विधेय नाम हो ही नहीं सकते। क्वाइन के अनुसार नाम की विशेषता यह है कि यह किसी चल प्रतीक के स्थान पर संगतिपूर्वक रखा जा सकता है, और यदि सत्य सार्वभौमिक परिमाणकों (यूनीवर्सल क्वांटीफायर्स) के उदाहरण देने के लिए इसे प्रयुक्त किया जाय तो परिणाम सत्य ही होता है। (पृ. 27)

क्वाइन स्पष्ट करते हैं कि विधेयों को नाम न मानने का अर्थ यह नहीं है कि गुण भी नहीं हैं। गुण हैं कि नहीं यह एक भिन्न प्रश्न है। परिमाणन के चल प्रतीकों के मूल्यों में गुणों का भी समावेश करके उन्हें सत्तामीमांसा में स्थान दिया जा सकता है, और यदि हम अपनी भाषा में नामों का समावेश करें तो उन्हें भी नाम दिये जा सकते हैं। परन्तु वे नाम एक-वाचक पद होंगे जो चल प्रतीकों के स्थान पर रखे जा सकेंगे, न कि विधेय। क्वाइन का मुख्य उद्देश्य यहाँ विधेय तथा गुण के नाम के तार्किक भेद को स्पष्ट करना है।

अन्त में, क्वाइन उल्लिखित तार्किक व्याकरण की पूर्णता का प्रश्न उठाते हैं। इस संदर्भ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या तथाकथित प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिरुचियाँ अभिव्यक्त करने वाले पदों के विषय में उठती है। इन पदों से बने वाक्यों की व्यवस्था करने के लिए क्वाइन मुख्यतः तीन विधियाँ सुझाते हैं। इन तीनों की कुछ न कुछ कठिनाइयाँ हैं अतः कोई भी पूर्णरूप से संतोषजनक नहीं है। प्रथम विधि यह हो सकती है कि एक ऐसी नई संरचना मानी जाय जो एक वाक्य से निपात (पार्टिकिल) 'कि' जोड़कर एक नए नाम की रचना करें। इस अवस्था में नामों को भाषा में स्वीकार करना होगा और यह प्रश्न भी उठेगा कि ये नाम किसके हैं। संभवतः इन्हें प्रतिज्ञप्तियों के नाम मानना पड़ेगा। दूसरी विधि है एक ऐसी संरचना मानना जो एक द्वि-आश्रय विधेय और एक वाक्य से, 'कि' निपात का प्रयोग करके, एक एकाश्रय विधेय का निर्माण करे। इस विधि में प्रतिज्ञप्तियों का बहिष्कार नहीं होता, परन्तु प्रतिज्ञप्तियों को नाम देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। तृतीय विधि में 'विश्वास करता है', 'विचार

करता है' आदि की एक नवीन कोटि स्वीकार करनी होगी। इस कोटि को 'अभिवृत्त्यात्मक पद' (ऐटीट्यूडिनल्स) यह नाम दिया जा सकता है। इसके अलावा एक ऐसी संरचना भी माननी होगी जिसकी सहायता से एक अभिवृत्त्यात्मक पद (उदा. 'विश्वास करता है') तथा एक वाक्य (उदा, 'प्लेटो का सिद्धान्त सही है') को जोड़कर एक एकाश्रित विधेय ('विश्वास करता है कि प्लेटो का सिद्धान्त सही है') की रचना हो सके। इस विधि को अपनाने के बाद हम प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिवृत्तियों के विषयों की बात नहीं कर सकते, और फिर हम इस प्रकार के कथन भी सार्थकता से प्रयुक्त नहीं किये जा सकते कि अमुक व्यक्ति कुछ न कुछ विश्वास करता है। अर्थात् जो विश्वास किया जा रहा है उसको किसी चल प्रतीक के मूल्य-रूप में नहीं मान सकते।

प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिवृत्तियाँ अभिव्यक्त करने वाले पदों के अलावा कुछ दूसरे समस्यात्मक शब्द भी हैं, यथा निश्चयवाचक (मोडल) पद, उदाहरणार्थ 'अनिवार्यत:', 'संभवत:' आदि। तार्किक रूप से ये भी उसी प्रकार की समस्या प्रस्तुत करते हैं जैसी प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिवृत्तियाँ अभिव्यक्त करने वाले पद। नई संरचनाएं स्वीकार करके इनकी व्यवस्था भी सम्भव है। परन्तु जैसा हम पहली समस्या में देख चुके हैं, इस प्रकार की व्यवस्थाएं पूर्णत: संतोषजनक नहीं हैं।

तृतीय अध्याय का विषय है, 'सत्यता'। सत्यता के विषय में क्वाइन का सिद्धान्त अनुरूपता-सिद्धान्त (कौरेसपौन्डेन्स) का समर्थक है, यद्यपि क्वाइन के दर्शन में इसका रूप इसके प्राचीन पारंपरिक रूप से अन्यन्त भिन्न है। क्वाइन का सत्यता सिद्धान्त शुद्ध तार्किक विचारों पर आधारित है और इसलिए यह इस विषय में की गई अधिकांश विवेचनाओं से कहीं अधिक सारगर्भित प्रतीत होता है। इस विषय की विवेचना करने से पहले क्वाइन इस संदर्भ में तर्कशास्त्र एवं व्याकरण के सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं। हम देख चुके हैं कि इन दोनों का भेद क्वाइन के अनुसार क्या है। परन्तु क्वाइन, अधिकांश आधुनिक दार्शनिकों की भांति, इनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। और यह सम्बन्ध यह है कि तर्कशास्त्र वाक्यों की व्याकरणीय संरचना के आधार पर ही उनकी सत्यता-स्थितियाँ खोजता एवं निर्धारित करता है। इसीलिए सत्यता के विषय में एक सामान्य दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त का निर्धारण तर्कशास्त्री के लिए अनिवार्य है।

यों तो क्वाइन के सम्पूर्ण तर्क-दर्शन पर टार्स्की का प्रभाव परिलक्षित होता है, फिर भी उनके सत्यता सम्बन्धी विचारों पर यह प्रभाव सबसे अधिक गहरा जान पड़ता है। टार्स्की के प्रसिद्ध कथन '' 'बर्फ सफेद है' सत्य है यदि, और केवल यदि, बर्फ सफेद है'' को क्वाइन भी मानकर चलते हैं, यद्यपि अन्य अनेक बातों में क्वाइन एवं टार्स्की में पर्याप्त भिन्नताएं हैं। वस्तुत:, विभिन्न प्रकार के वाक्यों की सत्यता के लिए दिये गये क्वाइन के सिद्धान्तों एवं विस्तृत विवेचना के पीछे अन्तिम रूप से एक यही मान्यता है जो ऊपरी रूप से पूर्णत: निर्दोष एवं निर्विवाद प्रतीत होती है।

'सत्यता' की अवधारणा को समझाने के लिए क्वाइन टार्स्की द्वारा प्रयुक्त अवधारणा 'संतुष्टि' का प्रयोग करते हैं और 'संतुष्टि' की ''आवर्ती'' अथवा ''आगमनात्मक'' परिभाषा देते हैं। अन्य तर्कशास्त्रियों की भांति क्वाइन भी यह मानते हैं कि खुले वाक्यों (वे वाक्य जिनमें मुक्त चल प्रतीक आते हैं) को 'सत्य' अथवा 'असत्य' नहीं कहा जा सकता, वे तो केवल कुछ वस्तुओं अथवा घटनाओं द्वारा संतुष्ट किये जा सकते हैं। (यह उल्लेखनीय है कि आगे क्वाइन स्वयं 'सत्यता' का एक अर्थ देते हैं जिसमें खुले वाक्य भी सत्य अथवा असत्य कहे जा सकते हैं। (पृ. 38) परन्तु मेरे विचार से यह क्वाइन के सिद्धान्त में कोई वैचारिक विरोध नहीं लाता, क्योंकि क्वाइन का विचार यह प्रतीत होता है कि साधारण अर्थ में, अथवा तर्कशास्त्रियों द्वारा साधारणत:, ''सत्य'' का प्रत्यय खुले वाक्यों पर लागू नहीं किया

जाता, यद्यपि उससे भिन्न एक ऐसा अर्थ भी हो सकता है जिसमें खुले तथा बन्द दोनों प्रकार के वाक्यों को सत्य या असत्य कहा जा सके। वस्तुत: क्वाइन एक ऐसा ही सामान्य अर्थ 'सत्यता' को देने का प्रयत्न करते हैं।) उदाहरणार्थ, ''य शासन करता है'' एक खुला वाक्य है और इसे प्रत्येक शासक संतुष्ट करता है, जो शासक नहीं है, वह इसे संतुष्ट नहीं करता। ''य व का मित्र है'' को दो व्यक्तियों का प्रत्येक ऐसा जोड़ा संतुष्ट करता है जिनमें मित्रता है। वस्तुओं के वे समूह जिनके द्वारा खुले वाक्यों की संतुष्टि या असंतुष्टि की बात हम करते हैं, क्रमबद्ध समूह होने चाहिए। क्वाइन बताते हैं कि क्रमबद्ध जोड़े तथा कुलक (सेट) की अवधारणा उस वस्तुपरक भाषा में शामिल नहीं है जिसका अध्ययन किया जा रहा है अपितु वे उस स्वाभाविक, साधारण अधिभाषा (मैटालैंग्वेज) में है जिसके द्वारा हम वस्तुपरक भाषा की विवेचना कर रहे हैं। यह बात तर्कशास्त्र में आधारभूत स्थान रखती है; विशेषत: सेट आदि से सम्बन्धित विरोधाभासों के कारण यह भेद सर्वमान्य सा हो गया है।

'संतुष्टि' की यह संक्षिप्त भूमिका देने के बाद क्वाइन 'अनुक्रम' (सीक्वेन्स) की अवधारणा का प्रयोग करते हैं। क्वाइन इस शब्द का कुछ असाधारण, पारिभाषिक प्रयोग करते हैं। इस प्रयोग के अनुसार वस्तुओं या घटनाओं का कोई भी समूह अनुक्रम के नाम से पुकारा जा सकता है। चूंकि तार्किक दृष्टिकोण से ऐसे 'समूह' भी माने जा सकते हैं जिनमें केवल एक ही सदस्य हो, अत: एक अकेली वस्तु को भी एक 'अनुक्रम कहा जायगा। किसी अनुक्रम द्वारा एक वाक्य की संतुष्टि को इस प्रकार समझाया गया है-मान लें कि एक अनुक्रम क है और वाक्य ख। यदि हम ख के प्रथम चल प्रतीक (य) को क की प्रथम वस्तु का मूल्य दें, द्वितीय चल प्रतीक (व) को क की द्वितीय वस्तु का मूल्य दें और इसी प्रकार क्रमबद्ध रूप से आवश्यकतानुसार मूल्य देते जांय, तो परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ वाक्य यदि सत्य है तो हम कहेंगे कि क ख को संतुष्ट करता है, अन्यथा नहीं। यदि क की लम्बाई ख के चल प्रतीकों की संख्या से अधिक है तो भी क द्वारा ख की संतुष्टि की बात की जा सकती है। क की अतिरिक्त वस्तुयें ख के लिए केवल अप्रासंगिक होंगी। इसी प्रकार यदि क में ख के चल प्रतीकों से कम सदस्य हैं तो भी क ख को संतुष्ट कर सकता है। ऐसी स्थिति में निर्णायक सिद्धान्त यह है : यदि अनुक्रम के अन्तिम तत्त्व को बार-बार जोड़ने से बना अनुक्रम वाक्य को संतुष्ट करता है तो प्रथम अनुक्रम भी उस वाक्य को संतुष्ट करेगा। इस प्रकार य $\leqq$ व को अनुक्रम (1) संतुष्ट करता हुआ माना जायेगा।

उल्लिखित विवरण से यह स्पष्ट है कि जबतक हम 'सत्य' व 'असत्य' शब्द को कोई नया प्रयोग न दें तबतक हम साधारणत: खुले वाक्यों के विषय में सत्यता-असत्यता का प्रश्न निरपेक्ष रूप से नहीं उठा सकतें। हम यह नहीं पूछ सकते कि 'फय' सत्य है या असत्य; हमें यह पूछना चाहिए कि 'फय' को अमुक वस्तु संतुष्ट करती है या नहीं; दूसरे शब्दों में, 'फय' अमुक वस्तु या तथ्य के लिए सत्य है या नहीं। परन्तु एक ऐसा प्रयोग क्वाइन मानते हैं जिसके आधार पर खुले वाक्यों को निरपेक्ष रूप से भी सत्य या असत्य माना जा सकता है। इस प्रयोग के अनुसार एक खुला वाक्य केवल तब सत्य कहा जायगा जब उसे सभी अनुक्रम संतुष्ट करते हों और तब असत्य कहा जायगा जब कोई भी अनुक्रम उसे संतुष्ट नहीं करता हो।

क्वाइन सत्यता की यह परिभाषा न केवल खुले वाक्यों के लिए स्वीकार करते हैं अपितु बन्द वाक्यों के लिए भी प्रयुक्त करते हैं। अत: जैसा कि क्वाइन स्वयं कहते हैं, 'संतुष्टि' के माध्यम से 'सत्यता' को परिभाषित करना अत्यन्त सरल है। इस परिभाषा के अनुसार सत्यता का अर्थ है समस्त अनुक्रमों द्वारा संतुष्टि (पृ. 38)। यदि इसी परिभाषा को अन्तिम रूप से पर्याप्त माना जाय और सत्यता निर्धारित करने के लिए इसे मापदण्ड के रूप में भी माना जाय तो स्पष्टत: यह एक व्यर्थ परिभाषा होगी। क्योंकि

जैसाकि हम देख चुके हैं, 'अनुक्रम द्वारा संतुष्टि' की व्याख्या में सत्यता के प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। अतः पुनः 'सत्यता' को 'अनुक्रम द्वारा संतुष्टि' से परिभाषित करना चक्रिकता दोष से दूषित होगा परन्तु यह दोष क्वाइन की व्याख्या में नहीं पाया जाता। क्योंकि, जैसाकि हम देखेंगे, क्वाइन 'अनुक्रम द्वारा सन्तुष्टि' की एक और परिभाषा देते हैं जिसे वे ''आवर्त्ती'' अथवा ''आगमनात्मक'' कहते हैं। इस परिभाषा में 'सत्यता' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वस्तुतः अन्तिम रूप से ये दोनों ही प्रत्यय एक-दूसरे से कम अथवा अधिक आधारभूत या सरल नहीं है, दोनों एक ही स्तर के प्रतीत होते हैं और दोनों की एक-दूसरे से व्याख्या की जा सकती है। क्वाइन ने जो परिभाषा 'अनुक्रम-संतुष्टि' की दी है वही थोड़े से शाब्दिक परिवर्तनों के बाद 'सत्यता' के लिए भी दी जा सकती है और फिर 'अनुक्रम संतुष्टि' को 'सत्यता' से परिभाषित कर सकते हैं।

हम देख चुके हैं कि जिस प्रकार की तार्किक भाषा का अध्ययन क्वाइन कर रहे हैं उसमें नामों का समावेश नहीं हुआ है। अतः इसमें एकमात्र प्रकार के बंद वाक्य अस्तित्वपरक परिमाणन वाले वाक्य हैं। इन वाक्यों के विषय में क्वाइन कहते हैं कि किसी अनुक्रम की सभी वस्तुएं ऐसे वाक्य के लिए अप्रासंगिक हैं जिसमें एक भी मुक्त चल प्रतीक नहीं होता, अर्थात् जिसके सभी चल प्रतीक बद्ध होते हैं। और इस आधार पर क्वाइन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि एक बंद वाक्य सत्य है तो इसे सभी अनुक्रम संतुष्ट करते हैं, और यदि असत्य है तो कोई भी अनुक्रम उसे संतुष्ट नहीं करता। इस प्रकार यहाँ भी सत्यता का अर्थ केवल 'सभी अनुक्रमों द्वारा संतुष्टि' ही हुआ।

'अनुक्रम-संतुष्टि' की आगमनात्मक परिभाषा देने से पूर्व क्वाइन वाक्यों को जटिलता के आधार पर विभाजित करते हैं। गुणारोपण वाले वाक्यों में न्यूनतम जटिलता होती है, अर्थात् वे सरलतम होते हैं। अतः उन्हें शून्य मात्रा की जटिलता वाला माना जा सकता है। निषेधात्मक एवं अस्तित्वपरक परिमाणन वाले वाक्यों में उन वाक्यों से एक मात्रा अधिक जटिलता होगी जिनका निषेध अथवा परिमाणन करके वे बनाये गये हैं। एक बार निषेधात्मक, संयोजक तथा अस्तित्वपरक वाक्यों की संतुष्टि-स्थितियाँ जान लेने पर (अर्थात् यह जान लेने पर कि कोई अनुक्रम किन दशाओं में इन्हें संतुष्ट करता है।) सामान्य रूप से यह जान लेना आसान है कि किसी भी अंश की जटिलता वाले वाक्य की संतुष्टि-स्थितियाँ क्या हैं। इसी योजना के आधार पर 'अनुक्रम-संतुष्टि' की एक सामान्य आगमनात्मक परिभाषा देना संभव है। यह परिभाषा तार्किक भाषा में कुछ सूत्रों द्वारा दी गयी है। इस परिभाषा में विभिन्न प्रकार के गुणारोपणों वाले वाक्यों के लिए अलग-अलग संतुष्टि-स्थितियाँ बताई जाएगी। नमूने के रूप में केवल एकाश्रित और द्वि-आश्रित विधेय ही लिये गये हैं। इसके पश्चात् निषेधात्मक, संयोजक एवं अस्तित्वपरक वाक्यों के लिए संतुष्टि-स्थितियाँ बताई गई हैं। इसके कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं : वर्णमाला के 'प' वें, 'फ' वें आदि चल प्रतीकों के लिए 'च.प्र. (प.)', 'च.प्र. (फ)' आदि का और किसी भी अनुक्रम 'य' की 'प' वीं, 'फ' वीं आदि वस्तुओं के लिए 'य$_{प}$' 'य$_{फ}$' आदि का प्रयोग किया जा सकता है। मान लें कि 'अ' वस्तुपरक भाषा का एक एकाश्रित विधेय है, और 'ब' एक द्वि-आश्रित विधेय है। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रतीक अन्य प्रकार के विधेयों के लिये लिए जा सकते हैं। परिभाषा निम्न प्रकार है : (पृ. 41-42)

(1) जो भी य तथा प हो : 'अ' और उसके बाद च.प्र.(प) जोड़ने से बने वाक्य को य तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब अ$_{य_{प}}$ शब्द सूची में उपलब्ध प्रत्येक एकाश्रित विधेय के लिए एक ऐसा सूत्र दिया जायगा :

(2) जो भी प, फ, तथा य हो : 'ब' और उसके बाद च.प्र. (प.) तथा च.प्र. (फ) को जोड़ने से बने वाक्य को य तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब ब $_{य_प}$ $_{य_फ}$ यहां भी हर द्वि-आश्रित विधेय के लिए एक ऐसा सूत्र दिया जायेगा।

(3) जो भी अनुक्रम य तथा वाक्य व हो : य ~ व को तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब य व को सन्तुष्ट न करता हो।

(4) जो भी अनुक्रम य तथा वाक्य व एवं व' हों : य व तथा व' का संयोजन तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब य व को सन्तुष्ट करता हो तथा य व' को सन्तुष्ट नहीं करता हो।

(5) जो भी अनुक्रम य, खुले वाक्य व तथा च. प्र. प हो : व के च.प्र. (प) के लिए किये गये अस्तित्वपरक परिमाणन को य तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब व को एक ऐसा अनुक्रम य' सन्तुष्ट करता हो कि $य_{फ}$ = '$य_{फ}$', जहाँ कि फ $\neq$ य।

अन्तिम सूत्र अस्तित्वपरक परिमाणन वाले वाक्य के लिए दिया गया है। इसका अर्थ अधिक सरल भाषा में इस प्रकार दिया गया है। एक अस्तित्वपरक परिमाणन में एक वाक्य (मौलिक रूप से खुला वाक्य) होता है जिसके पहले अस्तित्वपरक परिमाणक जुड़ा होता है जिसका चल प्रतीक, मान लें वर्णमाला का 'प' वां अक्षर है। यह वाक्य किसी भी अनुक्रम के लिए केवल तब सत्य माना जायगा यदि इसका घटक वाक्य किसी ऐसे अनुक्रम के लिए सत्य हो जो प्रथम अनुक्रम से इसके 'प' वें अंश के अलावा सभी प्रकार से समानता रखता हो। स्पष्ट है कि यदि वाक्य में एक भी चल प्रतीक नहीं है तो अस्तित्वपरक वाक्य के घटक वाक्य का एक अनुक्रम द्वारा भी सन्तुष्ट होना यह अनुमानित करने के लिए पर्याप्त होगा कि सभी अनुक्रम अस्तित्वपरक वाक्य को सन्तुष्ट करेंगे। एक बंद वाक्य की सन्तुष्टि-स्थितियों के ऐसे नियम के प्रकाश में क्वाइन का वह उलझन पैदा करने वाला कथन समझ में आ जाता है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, अर्थात् यह कथन कि चूंकि एक स्वतन्त्र चल प्रतीकों से रहित वाक्य के लिए किसी भी अनुक्रम की सभी वस्तुएं अप्रासंगिक हैं इसलिए यदि वह वाक्य सत्य है तो सभी अनुक्रम उसे सन्तुष्ट करेंगे, और असत्य है तो कोई भी उसे सन्तुष्ट नहीं करेगा।

परन्तु फिर भी, 'अप्रासंगिकता', 'सत्यता' और 'असन्तुष्टि' के प्रत्ययों का प्रयोग यहाँ विचित्र एवं असाधारण प्रतीत होता है। इसीलिए नियम (5) बहुत कुछ निरंकुश सा प्रतीत होता है। यह ठीक है कि एक अस्तित्वपरक वाक्य के घटक वाक्य का एक भी अनुक्रम से सन्तुष्ट किया जाना पूरे वाक्य को सत्य मानने के लिए पर्याप्त होगा, ऐसा मानना सामान्य धारणा के अनुरूप भी है। परन्तु जो अनुक्रम अप्रासंगिक हैं उनके लिए भी वाक्य को सत्य मानना विचित्र जान पड़ता है। सम्बद्ध प्रत्ययों के इस प्रयोग की असाधारणता इस बात से और भी बढ़ जाती है कि उल्लिखित अर्थ में चाहे वाक्य की सत्यता के लिए पर्याप्त प्रमाण मिले, चाहे असत्यता के लिए मिले, दोनों ही स्थितियों में सभी अनुक्रम अप्रासंगिक माने जायेंगे, और अप्रासंगिक होते हुए भी प्रथम स्थिति में उन्हें वाक्य को सन्तुष्ट करने वाला माना जायगा और द्वितीय में वाक्य को असन्तुष्ट करने वाला। यह आलोचना शब्दों के प्रयोग से ही सम्बन्धित है क्वाइन अथवा टार्स्की के सिद्धान्त से नहीं, क्योंकि शब्दों का प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर हो सकता है।

'सन्तुष्टि' की इस प्रकार परिभाषा देने के बाद क्वाइन इसका स्वरूप समझाते हैं। परिभाषाएं दो स्तरों की बताई गई हैं। प्रथम, वे परिभाषाएं जिनके माध्यम से परिभाषित पद का भाषा में बहिष्कार किया जा सके। क्वाइन इन्हें सीधी (डाइरेक्ट) परिभाषाएं कहते हैं और इन्हें उस भाषा से एक अधिक ऊंचे स्तर की भाषा मानते हैं जिसका पद परिभाषित किया जा रहा हो। निम्नतर स्तर की परिभाषाएं

परिभाषित पदों का बहिष्कार करने में समर्थ नहीं होतीं, यद्यपि यह उन पदों का प्रयोग पूर्णत: निश्चित कर देती हैं। क्वाइन की परिभाषा इसी प्रकार की है। परन्तु इस परिभाषा को प्रथम प्रकार का रूप दिया जा सकता है।

क्वाइन सेट सिद्धान्त की सहायता से 'य व को सन्तुष्ट करता है' की यह सीधी परिभाषा देते हैं -

(6) $(\in_{\text{ल}})$ $(\text{स र}_{\text{ल}} \angle \text{य, व} \angle \in \text{ल})$

''(य, व)'' ∈ ल''का अर्थ है कि य का व से ल सम्बन्ध है। अब यदि उल्लिखित आगमनात्मक परिभाषा के पाँचों सूत्रों में ''सन्तुष्ट करती है'' के स्थान पर सर्वत्र ''सम्बन्ध ल रखती है'' रखा जाय तो स्पष्ट है कि ये पाँचों सूत्र लिखकर 'ल' सम्बन्ध का इस प्रकार निश्चित निर्धारण करेंगे कि यह सम्बन्ध 'सन्तुष्टि सम्बन्ध' ही होगा। उपरोक्त सीधी परिभाषा के पद 'स $\text{र}_{\text{ल}}$' को आगमनात्मक परिभाषा के परिवर्तित पाँचों सूत्रों के लघु रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार सूत्र (6) सन्तुष्टि सम्बन्ध की सीधी परिभाषा देता है।

यहाँ पर क्वाइन एक और प्रश्न उठाते हैं कि क्या परिभाषा (6) को पुन: वस्तुपरक भाषा में रखा जा सकता है ? और यदि रखा जा सकता है, तो इस पुनर्परिवर्तन में कोई तार्किक कठिनाइयाँ तो नहीं उत्पन्न होती हैं ? प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की सुपरिचित विधियों से क्वाइन यह दिखाने में सफल होते हैं कि यदि सेट सिद्धान्त के चिह्न को वस्तुपरक भाषा में शामिल कर लें तो सूत्र (6) की रचना इस प्रकार की जा सकती है कि उसमें 'स $\text{र}_{\text{ल}}$' '∈' चल प्रतीकों, सत्यतता-फलनों तथा परिमाणनों के अलावा अन्य कोई चिह्न प्रयुक्त नहीं होता। 'स$\text{र}_{\text{ल}}$' को पुन: कुछ और कठिन विधियों से इस प्रकार रखा जा सकता है कि उसमें भी वस्तुपकर भाषा में स्वीकृत चिह्न ही आयें। इस प्रकार (6) का वस्तुपरक भाषा में पुनर्गठन सम्भव है। परन्तु यहां ग्रेलिंग के विषय-तर्कमूलक विरोधाभास (हेटरोलाजिकल पैराडौक्स) जैसा विरोधाभास हमारे समक्ष आता है। यह विरोधाभास संक्षेप में यह है : खुला वाक्य ''य कुछ वाक्यों को सन्तुष्ट करता है'' स्वयं कुछ वाक्यों को सन्तुष्ट करता है, और इस प्रकार स्वयं को भी सन्तुष्ट करता है। बहुत से खुले वाक्य स्वयं को सन्तुष्ट नहीं करते। विरोधाभास खुले वाक्य ''य स्वयं को सन्तुष्ट नहीं करता'' के सन्दर्भ में उठता है। यदि यह स्वयं को संतुष्ट नहीं करता तो यह स्वयं को सन्तुष्ट करता है, और यदि करता है तो स्वयं को सन्तुष्ट नहीं करता। यह विरोधाभास दिखाता है कि यह खुला वाक्य वस्तुपरक भाषा के वाक्य में परिवर्तनीय नहीं होना चाहिए। परन्तु यदि 'य व को सन्तुष्ट करता है' इस प्रकार के वाक्य वस्तुपरक भाषा में परिवर्तित हो सकते हैं तो ''य व को सन्तुष्ट नहीं करता'' को भी परिवर्तनीय होना चाहिए। अत: यह विरोध वस्तुपरक भाषा के लिए अपरिहार्य जान पड़ता है।

इस विरोधाभास का निराकरण भी क्वाइन सेट सिद्धान्त के आधार पर ही करते हैं। ग्रेलिंग और रसेल के विरोधाभासों की शिक्षाओं के आधार पर क्वाइन यह बताते हैं कि वर्तमान विरोधाभास का मुख्य कारण सेट 'ल' को वास्तविक मान लेना है। यदि सेट 'ल' वास्तविक है तब तो सूत्र (6) 'य व को सन्तुष्ट करता है' की एक सन्तोषजनक परिभाषा माना जा सकता है, अन्यथा यह केवल असत्य है। सेट 'ल' अवास्तविक मानना होगा। अत: सूत्र (6) उपयुक्त परिभाषा नहीं माना जा सकता। क्वाइन यह स्वीकार करते हैं कि यदि 'यव को सन्तुष्ट करता है' को हम अधिभाषा में मानें तो सूत्र (6) सन्तोषजनक परिभाषा के रूप में कार्य कर सकता है। परन्तु तब भी (6) स्वयं अधिभाषा में ही समाहित किया जायगा।

चौथे अध्याय में तार्किक सत्य तथा उससे सम्बन्धित अन्य तार्किक प्रत्ययों के स्वरूप का विवेचन किया गया है। क्वाइन तार्किक सत्य की विभिन्न परिभाषाओं को समझाते और उनका परीक्षण करते हैं, इन परिभाषाओं से तर्कशास्त्र के अधिकांश विद्यार्थी सुपरिचित होंगे। व्याकरण की शब्दावली

के माध्यम से एक अपेक्षाकृत नई परिभाषा भी दी गई है। वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को क्वाइन भी तर्कशास्त्र के अध्ययन का ही विषय मानते हैं। इस प्रकार का एक सम्बन्ध है तार्किक आपादन (लोजीकल इम्प्लीकेशन)। वह सम्बन्ध वाक्यों की तार्किक संरचना पर पूर्णत: निर्भर करता है (पृ. 48)। 'तार्किक संरचना' से क्वाइन का अर्थ है कि सत्यता-फलन, परिमाणन तथा चल प्रतीक किस प्रकार संगठित हैं। खुले वाक्यों के बीच भी यह सम्बन्ध है। एक खुला वाक्य दूसरे खुले वाक्य को आपादित करता है, यदि दोनों को बिल्कुल एक ही अनुक्रम अन्तुष्ट करे और यह कि, दोनों एक ही अनुक्रम से सन्तुष्ट किये जाते हैं, यह वाक्यों की तार्किक संरचना पर ही पूर्णत: निर्भर होना चाहिए।

क्वाइन बताते हैं कि तार्किक-ज्ञानमीमांसात्मक प्रत्ययों का एक ऐसा समूह है जिसके सभी सदस्य परस्पर परिभाषित किये जा सकते हैं।[3] तार्किक विरोध, तार्किक सत्यता, तार्किक असत्यता आदि ऐसा ही समूह बनाते हैं। तार्किक आपादन भी इसी समूह का प्रत्यय है। क्वाइन का प्रस्ताव है कि इस समूह में हम तार्किक सत्यता का प्रत्यय प्रधान या केन्द्रीय मानें और अन्यों को इसके द्वारा परिभाषित करें।

एक परिभाषा के अनुसार तार्किक रूप से सत्य वाक्य वह है जिसकी सत्यता इसकी तार्किक संरचना द्वारा ही पूर्णरूप से निश्चित हो जाती है। इसी बात को क्वाइन और भी स्पष्टरूप से इस प्रकार रखना अधिक उचित समझते हैं : एक वाक्य तार्किकरूप से सत्य है यदि वे सभी वाक्य सत्य हैं जिनकी तार्किक संरचना इसकी तार्किक संरचना के ही समान है। तार्किक रूप से असत्य वाक्य वह होगा जिसकी असत्यता इस प्रकार निश्चित हो जाती हो; दूसरे शब्दों में, यह वह वाक्य है जिसका निषेध तार्किकरूप से सत्य हो। वे वाक्य परस्पर तार्किक रूप से विरोधी होंगे जिनका संयोजन तार्किक रूप से असत्य हो। एक वाक्य दूसरे को तार्किक रूप से आपादित करता है यदि प्रथम वाक्य तथा द्वितीय वाक्य का निषेध परस्पर विरोधी हों। 'तार्किक समानता' को 'तार्किक आपादन' द्वारा परिभाषित किया गया है : वे वाक्य तार्किक रूप से समान होते हैं जो एक-दूसरे को आपादित करते हैं।

तार्किक सत्य की एक और परिभाषा इस प्रकार है : एक वाक्य तार्किक रूप से सत्य है यदि इसके विधेयों के सभी प्रकार के परिवर्तनों में वह सत्य ही रहे। जैसाकि कुछ अन्य तर्कशास्त्री भी कर चुके हैं, क्वाइन इस परिभाषा की कुछ कठिनाइयों के कारण इसके स्थान पर यह परिभाषा स्वीकार करते हैं : एक तार्किक वाक्य एक ऐसा वाक्य है जिसके सरल वाक्यों के स्थान पर अन्य कोई भी वाक्य रखने पर सत्य वाक्य ही प्राप्त होते हैं। (पृ. 50) इस परिभाषा के आशय को एक दूसरे रूप में भी रखा जा सकता है।

वैध तार्किक संयोजन (स्कीमा) की पहले परिभाषा देकर इस परिभाषा को इस प्रकार रखा गया है : यदि एक संयोजना की सरल-वाक्य संयोजनाओं के स्थान पर वाक्य रखने से सत्य वाक्य ही प्राप्त हो तो वह संयोजना वैध मानी जायगी। और एक तार्किक सत्य वह सत्य है जो एक वैध तार्किक संयोजना से इस प्रकार प्राप्त हो सके। परिभाषा का चाहे जो भी रूप अपनाया जाय, वाक्यों या संयोजनाओं का स्थानान्तरण एक-सा ही होना चाहिए; अर्थात् , सर्वत्र एक सरल वाक्य या समाकृति के लिए एक ही वाक्य रखना चाहिए। वैध समाकृति की परिभाषा एक दूसरे प्रकार से भी दी जा सकती है। सेट सिद्धांत का प्रयोग करके हमें प्रतिमान (माडेल) का प्रत्यय मिलता है। 'प्रतिमान' का अर्थ है, सेटों का एक अनुक्रम जिसमें संयोजना के हर विधेय पद के स्थान पर सेटों और व्यक्तिक चल प्रतीकों के मूल्य-क्षेत्र के लिए एक और सेट का समावेश होता है। पहले वाली परिभाषा में संयोजना की सरल-

वाक्य संयोजनाओं का वाक्यों से स्थानान्तरण किया जाता है और नई परिभाषा में प्रतिमानों द्वारा संयोजनाओं की सन्तुष्टि की बात की जाती है। यदि एक संयोजना को इसके सभी प्रतिमान सन्तुष्ट करते हैं तो वह वैध मानी जायगी। तार्किक सत्य की परिभाषा पहले जैसी ही रहेगी।

इन दोनों परिभाषाओं के एक महत्त्वपूर्ण भेद की ओर क्वाइन संकेत करते हैं। यह भेद यह है कि कुछ ऐसे खुले वाक्य हैं जो कोई भी सेट निर्धारित नहीं करते, और कुछ ऐसे सेट हैं जिनका निर्धारण कोई भी वाक्य नहीं करता। रसेल का विरोधाभास प्रथम बात दर्शाता है और ग्रेलिंग का दूसरी। यदि ऐसा न होता तो इन परिभाषाओं में कोई ऊपरी विषमता भी न होती। परन्तु क्वाइन दिखाते हैं कि फिर भी इन परिभाषाओं में कोई विषमता नहीं आती; अर्थात् जिन वाक्यों को एक परिभाषा के आधार पर तार्किक सत्य माना जायगा उन्हीं को दूसरी के आधार पर भी ऐसा माना जायगा। क्योंकि वस्तुत:, जो समाकृतियाँ वाक्यों को उपरोक्त समस्त स्थानान्तरणों में सत्य परिणाम ही देती हैं उन्हें सभी प्रतिमान भी संतुष्ट करते हैं। क्वाइन संक्षेप में यह दिखाते हैं कि यह किस प्रकार तार्किक रूप से सिद्ध किया जा सकता है। क्वाइन वैध संयोजना की प्रथम परिभाषा को अधिक पसंद करते हैं क्योंकि इसके आधार पर वैधता तथा तार्किक सत्य के प्रत्यय सेट सिद्धान्त के अधिकांश से स्वतंत्र हो जाते हैं, जबकि दूसरी परिभाषा को मानने पर इन प्रत्ययों को सेट सिद्धान्त पर अधिकाधिक निर्भर मानना पड़ेगा।

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में 'सत्यता' का प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है। क्वाइन एक और परिभाषा की चर्चा करते हैं जिसमें 'सत्यता' को प्रयुक्त नहीं किया जाता, अपितु 'प्रमाण-विधियों' का प्रयोग किया जाता है। इस परिभाषा के लिए पहले कुछ पूर्ण प्रमाण-विधियों का वर्णन किया जाता है और फिर वैध संयोजना को इस तरह परिभाषित किया जाता है कि यह वह संयोजना है जिसे ऐसी किसी प्रमाण-विधि से सिद्ध किया जा सके। तार्किक सत्य, पुन:, पूर्ववत् परिभाषित किया जायगा। चूंकि कुछ प्रमाण-विधियाँ ऐसी हैं जिनमें संयोजनाओं की आवश्यकता नहीं होती, अपितु सीधे वाक्यों पर ही प्रयुक्त की जा सकती हैं, ऐसी किसी विधि का चुनाव करने से तार्किक सत्य की सीधी, सरल परिभाषा इस प्रकार हो सकती है : एक तार्किक सत्य ऐसा वाक्य है जिसे इस प्रकार की किसी प्रमाण-विधि से बनाया या प्राप्त किया जा सके। इस सम्बन्ध में क्वाइन एक सिद्धान्त (पूर्णता-उपपत्ति) का उल्लेख करते हैं : यदि कोई संयोजना सभी प्रतिमानों द्वारा संतुष्ट की जाती है तो इसे सिद्ध किया जा सकता है।

अंत में क्वाइन यह तर्क देते हैं कि चूंकि उपरोक्त सभी परिभाषाएं, अन्य विभिन्नताओं के होते हुए भी, तीन वैयाकरणिक संरचनाओं-निषेध, संयोजन, परिमाणन-पर निर्भर करती हैं, तार्किक सत्य को वैयाकरणिक संरचना के माध्यम से भी परिभाषित किया जा सकता है। यह परिभाषा इस प्रकार है : एक तार्किक सत्य वह वाक्य है जो शब्द-सूची के शब्दों में परिवर्तन करने पर सदैव सत्य ही रहता है। विभिन्न वस्तुपरक भाषाओं की वैयाकरणिक संरचनाएं भिन्न हो सकती हैं, और इस प्रकार उनमें विभिन्न वाक्य तार्किक सत्य हो सकते हैं।

क्वाइन के विचार से, वस्तुपरक भाषा के लिए उपरोक्त सभी परिभाषाएं संतोषजनक हैं। अन्य भाषाओं के लिए इस अंतिम परिभाषा का महत्त्व है। यह परिभाषा भी भाषा-निरपेक्ष नहीं है। इसमें 'वैयाकरणिक संरचना' का प्रयोग किया गया है। और हम देख चुके हैं कि क्वाइन के मतानुसार यह प्रत्यय भाषा-सापेक्ष ही है। एक सामान्य निष्कर्ष इस पूरे विवेचन से यह निकाला गया है कि तार्किक सत्यों के निर्धारण में दो तत्त्व प्रमुख हैं : व्याकरण और सत्यता।

पांचवा अध्याय 'तर्कशास्त्र के क्षेत्र' पर है। इस अध्याय में क्वाइन मुख्यत: पिछले अध्याय में दी गई परिभाषाओं के संदर्भ में तादात्म्य (आइडेंटिटी) सिद्धान्त एवं सेट सिद्धान्त का स्थान निश्चित

करते हैं। तादात्म्य-सिद्धान्त के लिए यह समस्या उठती है कि यदि तादात्म्य-चिह्न को हम अतार्किक विधेय मानें तो पूरा तादात्म्य-सिद्धान्त तर्कशास्त्र से बहिष्कृत हो जायगा। क्योंकि तब तादात्म्य-सिद्धान्त के सत्य तार्किक सत्य नहीं माने जा सकते। और यदि तादात्म्य-चिह्न को तार्किक चिह्न ही मानें तो हमें यह भी मानना होगा कि कुछ सामान्य तार्किक सिद्धान्तों को वस्तुपरक भाषा में परिमाणन के सीधे प्रयोग से प्राप्त किया जा सकता है, जैसेकि '(य) (य=य)'। परन्तु तब हमें यह भी अस्वीकार होगा कि अर्थपरक स्वर अथवा वाक्य का उल्लेख तार्किक सिद्धान्तों की विशेषता है। इसके अलावा पूर्ण प्रमाण-विधियों की प्राप्यता आदि के कारण तादात्म्य-सिद्धान्त तर्कशास्त्र के अत्यंत निकट भी प्रतीत होता है। अत: क्वाइन के विचार से तर्कसास्त्र में इसका समावेश करना ही अधिक उपयुक्त है।

समस्या का समाधान क्वाइन उन वाक्यों को, जिनमें तादात्म्य-चिह्न प्रयुक्त हुआ हो, दूसरे ऐसे वाक्यों में परिवर्तित करके प्रस्तुत करते हैं जिनमें वह चिह्न नहीं हो, अपितु दूसरे स्वीकृत तार्किक चिह्न हों, उदाहरणार्थ, यदि किसी भाषा में एक एकाश्रित विधेय 'अ' है, दो द्वि-आश्रित विधेय 'ब' और 'स' हैं और एक त्रयाश्रित विधेय 'द' है, तो वाक्य 'य=ब' को इस रूप में रखा जा सकेगा :-

$$\text{अ}_{\text{य}} \equiv \text{अ}_{\text{व}} \,.\, (\text{र})\, (\text{ब}_{\text{र य}} \equiv \text{ब}_{\text{र व}} \,.\, \text{ब}_{\text{य र}} \equiv \text{ब}\,\text{व र} \,.\, \text{रय} \equiv \text{स}_{\text{र व}} \,.\, \text{स}_{\text{य र}} \equiv \text{स}_{\text{व र}} \,.\, (\text{र}')\, (\text{द}_{\text{र र' य}} \equiv \text{द}_{\text{र र' व}} \,.\, \text{द}_{\text{र य र'}} \equiv \text{द}_{\text{र व र'}} \,.\, \text{द}_{\text{य र र'}} \equiv \text{द}_{\text{व र र'}}))$$

इस प्रकार के रूपान्तरण के आधार पर तादात्म्य सम्बन्धी सभी सिद्धान्त परिमाणन सम्बन्धी तर्कशास्त्र के सिद्धान्त हो जायेंगे।

सेट सिद्धान्त को तर्कशास्त्र के रूप में मानने के पीछे 'सदस्यता' तथा 'गुणारोपण' को समान मानने की भूल है। ऐसा मान लिया गया है कि इन दोनों में एक तारतम्य है, और इस तारतम्य का आभास देने वाला एक प्रत्यय है 'गुणों के गुणारोपण' का। त्रुटि का आधार क्वाइन यही मानते हैं। जैसाकि द्वितीय अध्याय में भी क्वाइन ने बताया था, विधेयों का परिमाणन गलत है। विधेय चिह्न वास्तव में मूल्य प्राप्त करने वाला चल प्रतीक होता ही नहीं, वह तो केवल एक ऐसा संयोजनापरक (स्कीमैटिक) चिह्न होता है जो विधेय के लिए, उसके स्थान पर, रख दिया जाता है। अर्थात् उसको विधेय की स्थिति दर्शाने के लिए उसके प्रतिरूप-सा प्रयुक्त किया जाता है। विधेयों का परिमाणन तभी उचित होता है जब वाक्य में उनकी स्थिति विधेयों की न होकर नाम की होती हो, और यह असम्भव है। यदि हम विधेय-चिह्न, उदाहरणार्थ फ, को गुणों के लिए एक चल प्रतीक के रूप में मानें तो अवश्य ही फ को परिमाणन के बद्ध चल प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करना ठीक होगा। परन्तु तब इस प्रकार के वाक्यों-'(य) (फ) $\text{फ}_{\text{य}}$' अथवा (∋ य) (∋ फ) $\text{फ}_{\text{य}}$ के स्थान पर स्पष्टत: इस प्रकार के वाक्यों- '(य) (फ) य में फ है' अथवा '(∋ य) (∋ फ) फ य में है' — का प्रयोग करना चाहिए जिससे कि यह स्पष्ट हो कि दूसरा परिणामाणन गुणों का किया गया है और गुणवाचक चिह्नों को नाम का स्थान दिया गया है।

ठीक इसी प्रकार यदि हम सेटों को परिमाणन-योग्य चल प्रतीकों के मूल्यों के रूप में मानना चाहते हैं तो स्पष्टत: 'य ∈ व' प्रकार के वाक्य इस्तेमाल करने चाहिए। विधेय चिह्न को परिमाणन योग्य चल प्रतीक के रूप में प्रयुक्त कर लेने पर हम अपने तर्क-सिद्धान्त में आधारभूत रूप से एक नई बात जोड़ लेते हैं, एक बुनियादी परिवर्तन कर लेते हैं, जिसे दार्शनिक रूप से अधिक निर्दोष, प्राथमिक तर्कशास्त्र से नहीं निकाला जा सकता। यही बात सेटों के परिमाणन के लिए भी लागू होती है। अत: क्वाइन के मतानुसार यह मानना भ्रामक है कि रसेल सेट सिद्धान्त, और उसके साथ ही गणित को, प्राथमिक तर्कशास्त्र से ही निकालने में सफल हुए।

क्वाइन यह मानते हैं कि सेटों की प्रसंगाधीन परिभाषा (कान्टेक्स्चुअल परिभाषा) देकर सेटों की अस्तित्वमीमांसात्मक स्वीकृति से बचा जा सकता है। इस प्रकार की परिभाषाएं क्वाइन विस्तार से देते हैं। इसमें मुख्य परिभाषा वह है जो सदस्यता तथा अमूर्तीकरण या अपाकर्षण (एब्स्ट्रेक्शन) दोनों के ही प्रत्ययों को एकसाथ परिभाषित करती है। इसके अनुसार 'व ∈ (य : फ$_{\text{य}}$)' के स्थान पर केवल 'फ$_{\text{य}}$' लिखा जायगा। इसी प्रकार चिन्हों '{र}' '{र,र'}','Λ' 'V' के स्थान पर क्रमशः निम्नलिखित चिन्ह रखे जायेंगे।

{य: (य=र)}

{य:य = र अथवा य = र'}

{य : ~ (य = य)}

{य : य = य}

इसके पश्चात् क्वाइन सेटों के बूलियन बीजगणित में प्रयुक्त चिह्नों को भी प्राथमिक तर्कशास्त्र के चिह्नों में परिवर्तित करने की विधि बताते हैं। इन सभी परिवर्तनों (अथवा परिभाषाओं) में अमूर्त्तितों (एब्स्ट्रेक्ट्स) - '{य: फ$_{\text{य}}$}' प्रकार के पदों - के स्थान पर कुछ संयोजनापरक चिह्न प्रयुक्त किये गये हैं जो परिमाणन-योग्य नहीं होते।

क्वाइन बताते हैं कि चूँकि उपरोक्त परिभाषाओं में अमूर्त्तितपद '{य: फ$_{\text{य}}$}' के लिये चिन्ह '∈' की बाईं ओर कोई स्थान नहीं दिया जाता इसलिए इनमें केवल उन्हीं वर्गों के प्रतिरूप उपलब्ध हो सकते हैं जो अन्तिम नहीं हैं, अर्थात् जो स्वयं किसी न किसी वर्ग के सदस्य हैं। इसी से वह इन परिभाषाओं से प्राप्त तार्किक सिद्धांत को वर्गों का यथार्थ सिद्धांत (वर्चुअल थ्योरी) अथवा यथार्थ वर्गों (वर्चुअल क्लासेस) का सिद्धांत कहते हैं।

यह सिद्धांत वास्तविक सेट-सिद्धांत से भिन्न है, क्योंकि उपरोक्त परिभाषा अथवा रूपान्तरणीयता की भी सेट सिद्धांत में सीमा है, अर्थात् अन्त में सेट-सिद्धान्त का एक अंश ऐसा बचा रहता है जिसे इस प्रकार रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, यथार्थ सिद्धान्त सम्पूर्ण सेट सिद्धान्त का प्रतिरूप प्रस्तुत नहीं कर पाता। इसके अलावा, यथार्थ सिद्धान्त में न तो चिह्न ∈ जो सेट-सिद्धान्त का विशेष चिन्ह है, एक वास्तविक विधेय माना जायगा और न ही उसमें परिमाणन-योग्य चल प्रतीकों के मूल्यों के रूप में वर्गों को माना जायगा। परन्तु वास्तविक सेट-सिद्धान्त में '∈' एक वास्तविक विधेय है और वर्गों का परिमाणन किया जाता है। क्वाइन स्वीकार करते हैं कि बहुत सी ऐसी बातें हैं जो वास्तविक सेट सिद्धान्त से अनुमानित होती है परन्तु यथार्थ सिद्धान्त से नहीं। अतः उनका निष्कर्ष है कि वास्तविक सेट-सिद्धान्त तर्कशास्त्र का अंग नहीं है, यद्यपि यथार्थ सिद्धान्त को शुद्ध तर्कशास्त्र माना जा सकता है।

क्वाइन का यह मत ऐतिहासिक रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। फ्रेगे से पूर्व बहुमत यह था कि गणित और तर्कशास्त्र स्वतन्त्र हैं। फ्रेगे, व्हाइटहैड और रसेल के बाद यह मत अधिक प्रचलित हो गया कि गणित को तर्कशास्त्र से निकाला जा सकता है। परन्तु चूँकि क्वाइन के अनुसार सेट-सिद्धान्त शुद्ध तर्कशास्त्र नहीं है और गणित को तर्कशास्त्र से निकालने के लिए सेट-सिद्धान्त अनिवार्य है, इसलिए क्वाइन का यह मत रसेल, और व्हाइटहैड की एक सशक्त आलोचना प्रस्तुत करता है।

छठा अध्याय अपारंपरिक तर्कशास्त्र पर है। पारंपरिक तर्क-सिद्धान्तों की अपरिहार्यता आधुनिक काल में सन्दिग्ध रही है। एक ओर वैकल्पिक तर्क-व्यवस्थाओं की रचना करने के प्रयत्न हुए हैं, दूसरी ओर विकल्प रूप में इन व्यवस्थाओं की कड़ी आलोचनाएं की गई हैं। विवाद अभी भी पर्याप्त जीवन्त है। निश्चत ही, प्रश्न तर्कशास्त्र के दर्शन के लिए अत्यन्त आधारभूत है। इस विषय में क्वाइन का एक मत यह है कि पारंपरिक तर्क-सिद्धान्तों का उस रूप में खण्डन असम्भव है जिसमें आधारभूत चिह्नों - निषेध, संयोजन आदि का प्रयोग ठीक उसी अर्थ में हो जिसमें पारम्परिक सिद्धान्त करते हैं और फिर भी उनको अस्वीकार किया जाय। क्योंकि क्वाइन के मतानुसार इन चिह्नों का प्रयोग करने में जो नियम हम प्रयुक्त करते हैं उनके अलावा इन चिह्नों के अर्थ अथवा सार में कुछ भी अवशेष नहीं होता। अत: इन चिन्हों का उन्हीं अर्थों में प्रयोग करते हुए भी इन नियमों को अस्वीकार करना असम्भव होगा। अत: यदि 'विकल्प' को इस प्रकार के खण्डन के रूप में समझा जाय तो पूरा विवाद ही अर्थहीन हो जाता है। क्वाइन के शब्दों में, 'अपारंपरिक तर्क-शास्त्री की दुविधा यही है : जब वह सिद्धांत अस्वीकार करने का प्रयत्न करता है तो वह विषय ही परिवर्तित कर देता है।' (पृ. 81) क्वाइन के अनुसार, तार्किक नियमों को हम स्पष्टत: सत्य मानकर चलते हैं। और यहाँ स्पष्टता से उनका तात्पर्य किसी प्रकार की अनिवार्यता से नहीं, अपितु केवल व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक स्पष्टता से है। तार्किक सिद्धान्तों को हम बिना किसी सन्देह के सत्य मानना उसी प्रकार स्वाभाविक समझते हैं जैसे कि वर्षा में "पानी बरस रहा है" वाक्य को सत्य मानना। यदि किसी पूर्णत: अपरिचित भाषा का अपनी भाषा में हमें अनुवाद करना हो तो किसी भी ऐसे वाक्य को हम अपनी भाषा के वाक्य "पानी बरस रहा है" से अनुवादित नहीं करेंगे जिसे वर्षा में भी उस भाषा को बोलने वाले स्वीकार न करते हों। ठीक इसी प्रकार हम उस प्रकार के अनुवाद गलत मानेंगे जो हमारे तार्किक सिद्धान्तों के विरुद्ध हों। इस तरह क्वाइन के मतानुसार, हम तर्कशास्त्र का अनुवाद में निर्माण करते जाते हैं - सर्वाधिक आधारभूत मान्यताओं के रूप में, क्योंकि उन्हें हम सर्वाधिक स्पष्ट रूप से सत्य मानकर चलते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तार्किक नियमों में उस प्रकार की अनिवार्यता है जैसी कि साधारणत: मानी जाती है।

इस अध्याय में क्वाइन मध्याभाव नियम (लॉ आफ एक्स्क्लूडिड मिडल) का परित्याग कर किसी विकल्प को मानने के लिए दी गई कुछ युक्तियों की परीक्षा करते हैं। इन युक्तियों के विरुद्ध दी गई लगभग सभी आपत्तियाँ सुविदित हैं तथा लगभग सही प्रतीत होती हैं। मध्याभाव नियम का विकल्प मानने का अर्थ है उस 'निषेध' प्रत्यय का परित्याग करना जिसे यह नियम प्रस्तुत अथवा परिभाषित करता है। इस निषेध प्रत्यय का परित्याग कभी-कभी अनिवार्य मानने के पीछे इन दो बातों के बीच घपला रहा है : (अ) यह ज्ञान कि कोई वाक्य सत्य अथवा असत्य है और (ब) यह ज्ञान कि कोई वाक्य सत्य है, अथवा यह ज्ञान कि वह असत्य है। मध्याभाव नियम हर वाक्य के लिए (अ) का प्रतिपादन करता है, (ब) का नहीं। अत: (ब) का अभाव इस नियम के विरुद्ध कोई दृष्टांत उपस्थित नहीं करता।

सेट-सिद्धान्त के विरोधाभासों के संदर्भ में मध्याभाव नियम की उपयुक्तता पर संदेह करना क्वाइन उतना स्पष्ट रूप से गलत नहीं मानते। परन्तु वहाँ भी वे सेट सिद्धान्त में ही कुछ सुधार करना मध्याभाव नियम का परित्याग करने से कहीं अधिक उचित मानते हैं। मध्याभाव नियम के परित्याग की आवश्यकता हाइजेनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धान्त के कारण क्वान्टम भौतिकी में भी मानी गई हैं। क्योंकि उनके अनुसार गणित की प्रामाणिकता वहीं तक है जहाँ तक वह प्रकृति का एक सुसंगठित विज्ञान बनाने में सहायक हो। परन्तु चूंकि क्वाइन प्रेक्षण-वाक्यों को छोड़कर अन्य किसी भी वाक्य की

स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए 'कम से कम परिवर्तन' तथा 'सरल तथा अधिक परिचित मान्यताओं का संरक्षण' के सिद्धान्तों को मानते हैं, यहाँ भी मध्याभाव नियम का परित्याग वह युक्तियुक्त नहीं मानते हैं।

मध्याभाव नियम के विरुद्ध सबसे अधिक गंभीर आपत्ति सहजबोधवादियों (इन्ट्यूशनिस्टों) की ओर से उठाई गई है। सहजबोधवाद, जैसाकि क्वाइन बताते हैं, गोयडेल के प्रमाण के पहले से ही है। परन्तु गोयडेल का प्रमाण सहजबोधवाद को अतिरिक्त बल देता है। सहजबोधवाद संरचनावाद (कन्स्ट्रक्टिविज्म) का ही एक सम्प्रदाय है। गणितीय संरचनावाद उन विधियों को स्वीकार नहीं करता जिनके आधार पर हमें किसी प्रकार की वस्तुओं का अस्तित्व मानना पड़ता है, यद्यपि उन वस्तुओं को पहचाना या ढूंढ़ा कैसे जाय, यह नहीं बताते। क्वाइन संरचनावाद की इस मान्यता को सराहनीय मानते हुए भी सहजबोधवादी तर्कशास्त्र को उचित नहीं मानते। क्योंकि उनके अनुसार संरचनावाद के लिए पारंपरिक तर्कशास्त्र और इसलिए मध्याभाव नियम, का परित्याग करना अनिवार्य नहीं है। सहजबोधावादी तर्कशास्त्र को क्वाइन पारंपरिक तर्कशास्त्र से कहीं कम सुविधाजनक मानते हैं। उनका विचार है कि पारंपरिक तर्कशास्त्र को मानते हुए भी हम संरचनावाद को स्वीकार कर सकते हैं।

सहजबोधवादी तर्कशास्त्र और पारंपरिक तर्कशास्त्र की विषमता केवल प्रतिज्ञप्त्यात्मक तर्कशास्त्र तक ही सीमित नहीं है। परिमाणन सम्बन्धी विषमताएं भी हैं, और ये विषमताएं अधिक रोचक हैं क्योंकि यह क्वाइन का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि किसी भी सिद्धान्त की अस्तित्वमीमांसा इससे सुनिश्चित हो जाती है कि उस सिद्धान्त में परिमाणन के चल प्रतीकों के मूल्य-रूप में कौनसी वस्तुएं स्वीकार की गई हैं। क्वाइन के अनुसार, सहजबोधवादी तर्कशास्त्र का अपारंपरिक परिमाणन 'अस्तित्व' का एक अपारंपरिक प्रत्यय देता है।

क्वाइन के अन्य मौलिक विचारों की भांति ये विचार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक अनुभववाद की यह मान्यता कि तर्कशास्त्र तथा अस्तित्वमीमांसा में किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, आधुनिक काल में प्राय: सर्वमान्य सी हो गई है। क्वाइन का मत, निश्चित रूप से, बिल्कुल नवीन है और इसलिए विवादास्पद भी।

इस अध्याय के अन्त में क्वाइन कुछ अपारंपरिक परिमाणन विधियों की चर्चा करते हैं। जैसे, मान लें, फलन $\text{फ}_{\text{यवरल}}$ के लिए हम य, व, र, तथा ल का परिमाणन इस प्रकार करना चाहते हैं कि य तथा र को सार्वभौमिक रूप से परिमाणित करें और व तथा ल को अस्तित्वपरक रूप से, और यह प्रदर्शित करना चाहें कि व का चुनाव य पर तथा ल का चुनाव 'र' पर निर्भर करता है। इसके लिए निम्नलिखित दोनों ही प्रतीकीकरण गलत होंगे :-

(1) $(\text{य})(\exists_{\text{व}})(\text{र})(\exists_{\text{ल}})\,\text{फ}_{\text{यवरल}}$

(2) $(\text{र})(\exists_{\text{ल}})(\text{य})(\exists_{\text{व}})\,\text{फ}_{\text{यवरल}}$

क्योंकि प्रथम में ल का चुनाव य पर भी निर्भर हो जाता है और द्वितीय में व का र पर। परिमाणन की एक नवीन विधि इस प्रकार प्रस्तुत की गई है :-

$$\begin{matrix}(\text{य}) & (\exists_{\text{व}}) \\ (\text{र}) & (\exists_{\text{ल}})\end{matrix}\ \text{फ}_{\text{यवरल}}$$

परिमाणन को एक ही पंक्ति में उस स्थिति में रखा जा सकता है जब हम फलनों को भी परिमाणित करें :-

$(\exists_{\text{त}})(\exists_{\text{थ}})(\text{य})(\text{र})\,\text{फ}_{\text{यव}}(\text{त}_{\text{य}})(\text{थ}_{\text{व}})$

परन्तु इस अन्तिम प्रकार के प्रतीकीकरण में हम एक प्रकार के अमूर्त्तों (एब्स्ट्रेक्ट्स)-फलनों-का अस्तित्व मान लेते हैं। और क्वाइन के अनुसार ऐसा करने से हम शुद्ध तर्कशास्त्र की सीमा से बाहर सेट-सिद्धांत में चले जाते हैं।

अन्तिम अध्याय का विषय है, तार्किक सत्य का आधार। इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय यही है। इसमें क्वाइन ने अपना नव्यव्यावहारिकतावाद संक्षेप में प्रतिपादित किया है और तार्किक नियमों सम्बन्धी भाषात्मक सिद्धांत (लिंग्विस्टिक थ्योरी), जिसका प्रतिपादन तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने किया है, की आलोचना मुख्य रूप से की है। जैसाकि हम देख चुके हैं, स्वयं क्वाइन के अनुसार तार्किक सत्य दो तत्त्वों पर निर्भर करता है : व्याकरण तथा सत्य। व्याकरण पूर्णत: भाषापरक वस्तु है परन्तु सत्य वास्तविकता से सम्बन्धित है। क्वाइन बताते हैं कि तार्किक सत्य की उनके द्वारा दी गई परिभाषा (कोई वाक्य तब तार्किक रूप से सत्य है जब उसके जैसी वैयाकरणिक संरचना के अन्य सभी वाक्य भी सत्य हों) को इस प्रकार नहीं रखा जा सकता : कोई वाक्य तार्किक रूप से सत्य होता है यदि वह वैयाकरणिक संरचना के कारण सत्य हो। क्वाइन इस प्रकार की परिभाषा के विरुद्ध इसलिए हैं कि यह भाषात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित करता सा प्रतीत होता है, और भाषात्मक सिद्धान्त को क्वाइन स्वीकार नहीं करते। क्वाइन इस विश्वास का विरोध करते हैं कि कभी कभी एक ही वैयाकरणिक संरचना वाले सभी वाक्य इसलिए सत्य होते हैं क्योंकि वैयाकरणिक संरचना अथवा भाषा ही उनको सत्य बनाती है। प्रथम आपत्ति तो क्वाइन यह उठाते हैं कि भाषात्मक सिद्धान्त मानने वाले दार्शनिकों का यह विचार निराधार है कि यदि किसी वाक्य के सत्यता-मूल्य के निर्धारण में केवल वैयाकरणिक संरचना ही निर्णायक हो तो वह वाक्य वास्तविकता से, तथ्यों से, पूर्णत: असंबद्ध होगा। यदि सभी शब्द-सम्बन्धी परिवर्तनों के बाद भी कोई वाक्य सत्य रहता है तो यह कहना तो ठीक है कि उस वाक्य की सत्यता संसार की उन विशेषताओं पर निर्भर नहीं करती जो शाब्दिक भेदों में लक्षित होती है, परन्तु क्वाइन के अनुसार जिस प्रकार शब्दों का प्रयोग संसार के विषय में बात करने के लिए किया जाता है उसी प्रकार वैयाकरणिक संरचना का भी प्रयोग किया जाता है। और फिर क्या यह नहीं कहा जा सकता कि तार्किक सत्य संसार की उन विशेषताओं पर निर्भर करते हैं जिन्हें किसी भाषा की वैयाकरणिक संरचनाएं प्रदर्शित करती हैं ?

भाषात्मक सिद्धान्त के लिए यह प्रश्न प्रस्तुत करने के लिए क्वाइन यह प्रतिपादित करते हैं कि, तार्किक नियम भाषा के ही कारण सत्य हैं या नहीं, प्रश्न अर्थहीन है। इसके लिए क्वाइन की युक्ति यह है कि किसी भी वाक्य को किसी परिस्थिति 'अ' के ही कारण सत्य मानने का एक ही अर्थ समझ में आता है कि उस वाक्य को 'अ' का वर्णन करने वाले वाक्य आपादित करते हैं। परन्तु चूंकि तार्किक सत्य हर वाक्य द्वारा आपादित होते हैं, अत: उन्हें हर परिस्थिति-भाषा, संसार आदि के कारण सत्य मानना होगा। क्वाइन यह भी स्पष्ट करते हैं कि अनुवाद तथा तर्कशास्त्र की अपार्थक्यता, जिसे क्वाइन मानते हैं, भाषात्मक सिद्धान्त के पथ में किसी भी प्रकार नहीं आती। इस अपार्थक्यता के पीछे अधिक से अधिक इस सिद्धान्त का समर्थन है कि स्पष्टत: सत्य वाक्यों का अधिकाधिक संरक्षण तथा कम से कम परिवर्तन होना चाहिये न कि किसी प्रकार की अनिवार्यता (अथवा विश्लेषणात्मकता) जिसे भाषात्मक सिद्धान्त तार्किक सत्यों में मानता है।

इसी सन्दर्भ में क्वाइन अपना यह प्रसिद्ध सिद्धान्त भी प्रतिपादित करते हैं कि 'अनिवार्य' तथा 'आपातिक' अथवा 'विश्लेषणात्मक' तथा 'संश्लेषणात्मक' वाक्यों का भेद निराधार तथा अर्थहीन है। कोई भी ऐसा वाक्य नहीं होता जो आनुभविक प्रमाणों से पूर्णत: तटस्थ हो। तर्कशास्त्र तथा गणित के

सिद्धान्त भी, सिद्धान्ततः, आनुभविक प्रमाणों के आधार पर खण्डित किये जा सकते हैं। संक्षेप में, क्वाइन का सिद्धान्त यह है कि निरीक्षणात्मक वाक्यों को छोड़ कर अन्य कोई भी वाक्य अन्य वाक्यों से अलग होकर अकेले ही आनुभविक प्रमाणों से सत्यापित अथवा खण्डित नहीं किये जाते। अनुभव हमारे विश्वासों के पूर्ण समूह को समग्रता में प्रभावित करते हैं। कोई 'विरोधी' अनुभव केवल यह दर्शाता है कि कहीं कोई परिवर्तन करना है। कौन-सा परिवर्तन करना है, यह अनुभव स्वयं निर्धारित नहीं करता। परिवर्तन के, अर्थात् विरोधी अनुभव के सामंजस्य के, अनेक विकल्प संभव होते हैं। एक विकल्प यह भी हो सकता है कि हम अपने किसी गणितीय या तार्किक विश्वास का परित्याग करें। परन्तु चूँकि यह विश्वास हमारे विज्ञान में, हमारे विश्वास-समूह में, अत्यन्त केन्द्रीय स्थान रखते हैं इसलिए इनका परित्याग करने से हमें उस समूह में और भी अनेक परिवर्तन करने पड़ेंगे। तात्पर्य यह है कि इन विश्वासों के परिवर्तन अथवा परित्याग के साथ जो दूसरे परिवर्तन आवश्यक हैं वे अन्य विकल्पों के परिवर्तनों से कहीं अधिक होते हैं। इसलिए व्यावहारिक सुविधा के लिए हम यह नियम बना लेते हैं कि कम परिवर्तन वाले विकल्प से ही विरोधी अनुभव का समायोजन किया जाय। परन्तु सिद्धान्त रूप में तार्किक सत्य भी उसी प्रकार विसत्यापित किये जा सकते हैं जैसे विज्ञान के सैद्धान्तिक नियम।[4]

***

लेख में प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय

अचल प्रतीक	=	constant
अधिभाषा	=	metalanguage
अमूर्त्तीकरण	=	abstraction
अर्थपरक स्वर	=	semantic accent
अस्तित्वपरक	=	existential
आपातिक	=	contingent
कोटि	=	category
खुला वाक्य	=	open sentence
चल प्रतीक	=	variable
तंत्र	=	system
ध्वनिग्राम	=	phoneme
निपात	=	particle (grammatical)
प्रेक्षणात्मक वाक्य	=	observation sentence
परिमाणत	=	quantification
पूर्णता उपपत्ति	=	completeness theorem
प्रतितथ्यात्मक सोपाधिक	=	counterfactual conditional
प्रतिमान	=	model
प्रतिज्ञप्ति	=	proposition
प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिवृत्ति	=	propositipnal attiude
प्रवृत्ति प्रत्यय	=	disposition concept

प्रसंगाधीन परिभाषा	=	contextuil definition
फलन संकेत	=	functor
बन्द वाक्य	=	closed sentnce
मध्याभाव नियम	=	law of excluded middle
रूपग्राम	=	morpheme
विधेय	=	predicate
विधेयन	=	predication
एकाश्रित विधेय	=	one-place predicate
द्विआश्रित विधेय	=	two-place predicate
व्यक्तीकरण	=	individuation
स्वर	=	accent
समायोजना (संस्थान)	=	schema
समानार्थकता	=	synonymy
समुच्चय	=	set
सत्यापन	=	verification
संवादिता सिद्धान्त	=	correspondence theory

संदर्भ-सूची : -

1. *W. V. O. Quine : Philosophy of Logic, (प्रेंटिस हाल फाउण्डेशंस् आफ फिलासफी सीरीज; 1970, प्रेंटिसहाल; ऐंगेलवुड क्लिफ्स, ए. जे.)*
2. *अपने प्रसिद्ध लेख "टू डौग्माज् आफ एम्पीरिसिज्म" में भी क्वाइन ने इसी विचाराधारा को प्रस्तुत किया था। वहां से इस प्रकार के चुनाव का आधार एक उपयोगितावादी सिद्धांत को मानते हैं : 'कम से कम परिवर्तन का सिद्धांत'। अपनी इन्हीं विचारधाराओं के आधार पर क्वाइन स्वयं को जेम्स से भी अधिक कट्टर उपयोगितावादी मानते हैं।*
3. *क्वाइन की यह सर्वविदित मान्यता रही है कि 'अनिवार्यता', 'विश्लेषणात्मकता', प्रागनुभविकता' आदि कुछ प्रत्ययों की संतोषजनक परिभाषा नहीं दी जा सकती है। अत: ये शब्द अस्पष्ट एवं व्यर्थ हैं। इस विचार का उनके समान अन्य नव्य उपयोगितावादी भी मानते हैं। व्हाइट ने, क्वाइन के समान ही, यह तर्क दिया है कि जिन प्रत्ययों से इनकी परिभाषा दी जाती है वे स्वयं उसी समूह के हैं जिनके ये परिभाषित किये जाने वाले प्रत्यय। अत: इन सभी के सम्बन्ध में एक सी ही कठिनाइयाँ उठती हैं और इसलिए इनमें से एक को दूसरे से परिभाषित करना व्यर्थ होगा। (मौर्टन व्हाइट : टुवर्ड री-यूनियन इन फिलॉसफी पृ. 149).*
4. *क्वाइन के इस सिद्धान्त की आलोचना के लिये देखिये मेरा लेख :-"नव्यव्यावहारिकतावाद और अनिवार्यत: सत्य", तत्त्वचिन्तन, शरद्, 1969, अंक 2, पृ. 27-30।*

12

धर्म-दर्शन* - 1

बसन्त कुमार लाल

धर्म-दर्शन के विवेचन में दो प्रश्नों पर विचार अनिवार्य है, (क) धर्म क्या है ? तथा (ख) दर्शन क्या है ? समीक्ष्य पुस्तक में प्रथम प्रश्न पर विचार पहले हुआ है, किन्तु दूसरे प्रश्न पर पहले विचार करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इससे पहले प्रश्न के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है। वैसे, लेखक का स्पष्ट मत है कि दर्शनशास्त्र तथा धर्मदर्शन की प्रमुख धाराएँ प्राय: साथ ही प्रवाहित होती रही हैं। दोनों का उद्देश्य विश्व एवं सत्ता के सम्बन्ध में ऐसा ज्ञानोपार्जन है जिसके अनुरूप जीवन को ढाला जा सकता है। सार्थक दर्शन तथा यथार्थ धर्म में अन्तर नहीं है, बौद्धिक जीवन धार्मिक जीवन है तथा धार्मिक जीवन मूलत: बौद्धिक जीवन ही है।

इस निष्कर्ष की स्थापना की चेष्टा में पुस्तक दर्शन की मुख्य समस्याओं में उलझ जाती है। दार्शनिक दृष्टिकोण और दर्शन की समस्याओं के निरूपण के आधार पर धर्म के स्वरूप तथा धर्म-दर्शन की समस्याओं पर विचार होता है। तो, पुस्तक की जिज्ञासा तात्त्विक भी है और धार्मिक भी। पहले हम तात्त्विक विचारों का उल्लेख करेंगे।

प्रारम्भिक तत्त्व तथा विधि

तात्त्विक विचार के प्रारम्भिक प्रश्न हैं - विचार के मूल तत्त्व क्या हैं तथा विचार की प्रगति की विधि क्या है ? एक दृष्टि से दोनों प्रश्नों में आन्तरिक सम्बन्ध है, क्योंकि विधि की खोज प्रारम्भिक 'तत्त्व' की उपलब्धि पर ही आधृत है।

प्रारम्भिक तत्त्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण इस कारण भी है कि किसी पूर्वमान्यता पर आधृत दर्शन संकुचित तथा उस मान्यता के दोष से दूषित हो जाता है। इसी कारण सन्त आगस्टीन तथा डेकार्ट ने संशय-विधि का मार्ग अपनाया था। पैटर्सन इस विधि से प्रभावित हैं, किन्तु उनके मत में इस विधि का स्पष्टीकरण आवश्यक है, क्योंकि इस विधि को प्राय: गलत ढंग से समझा जाता है।

इस विधि के विरूद्ध सामान्य आपत्ति है कि 'सार्वभौम-संशय' असम्भव है और अमनोवैज्ञानिक भी। किन्तु, ऐसी आपत्ति इस विधि के स्वरूप को नहीं समझने के कारण ही उठायी जाती है। इस विधि के उपयुक्त प्रयोग का अर्थ हर अस्तित्व अथवा हर ज्ञान पर सन्देह करना नहीं अपितु यह देखना है कि क्या सार्वभौम संशय सम्भव है ? संशय का लक्ष्य उस तत्त्व की खोज है जिसे संशय की कोई आँधी डिगा न सके।

---

* *Robert Lee Patterson, A Philosophy of Religion, Duke University Press, 1970*

संशय-विधि का अर्थ शून्य से प्रारम्भ करना नहीं है। इस विधि के प्रयोग में मस्तिष्क से सभी अनुभव-तत्त्वों का बहिष्कार आवश्यक नहीं है। यदि मन में कोई भाव या विचार रहे ही नहीं तो संशय का विषय ही लुप्त हो जायगा। इस विधि का महत्त्व और इसके उचित प्रयोग की यथार्थता इतने से ही सिद्ध हो जाती है कि इसी प्रकार की संदेह-प्रणाली से सन्देह-कर्त्ता अथवा विचारक अथवा आत्म के अस्तित्व की चेतना होती है। पैटर्सन डेकार्ट की संशय-विधि को बड़ा महत्त्व देते हैं, यहां तक कि उनका प्राय: निश्चित निष्कर्ष है कि हर ज्ञान का प्रारम्भिक आधार है 'आत्म-अस्तित्व की चेतना'। अनुभूति का अर्थ ही है - अनुभूति कि 'मुझे अनुभूति है'। आत्म-अस्तित्व संशय के परे है। आत्म-अस्तित्व का ज्ञान अनुमानजन्य नहीं, यह तो हर अनुभूति में अन्तर्निहित चेतना है।

इस स्थल पर एक आपत्ति उठायी जा सकती है, कहा जा सकता है कि कोई आत्म-अस्तित्व की चेतना के साथ जन्म नहीं लेता। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अहं-बोध (इगो-सेन्स) वास्तविकता तथा भौतिक जगत् से सम्पर्क के फलस्वरूप ही प्रकट होता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आत्म-अस्तित्व की चेतना मौलिक नहीं, जन्मजात नहीं, बल्कि परोक्ष है, क्योंकि यह कुछ उपादानों के अनुभव के फलस्वरूप ही विकसित होती है ?

लेखक इस आपत्ति का समाधान बड़े ही सरल ढंग से करते हैं। इस चेतना का प्रादुर्भाव कैसे हुआ - यह महत्त्वपूर्ण नहीं। प्रश्न यह है कि आत्म-अस्तित्व पर संदेह किया जा सकता है या नहीं ? स्पष्ट है, यदि आत्म-अस्तित्व पर संदेह किया गया तो सभी ज्ञान, साक्षात् हो या परोक्ष, अनुभवजन्य हो या अनुमान-जन्य, असम्भव हो जायेंगे। आत्म-अस्तित्व के निषेध के विचार में भी आत्म-अस्तित्व निहित है।

अब, दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है - आत्म-अस्तित्व की चेतना में किस विषय या किन विषयों की अनुभूति होती है ? इस चेतना के अंशभूत मूलतत्त्व क्या हैं ? कुछ लोगों का विचार है कि आत्म की अनुभूति तो हमें होती है, उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। हमें यह ज्ञात हो जाता है कि 'आत्म है' , किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि वह क्या है। लेखक को यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। यदि हमें आत्म-अस्तित्व का ज्ञान है तो आत्म-स्वरूप का भी कुछ ज्ञान अवश्य है। ह्यूम ने आत्म-ज्ञान की सम्भावना का खण्डन किया, क्योंकि अनुभव में उन्हें आत्म-अस्तित्व का कोई आधार नहीं मिलता। किन्तु, वे भूल जाते हैं कि आत्म-अस्तित्व की आलोचना भी आलोचक ह्यूम को माने बिना सम्भव नहीं। सी.डी. ब्रॉड ने कहा कि 'अनुभव की आवृत्ति' के फलस्वरूप हम आत्म तथा विषय का अन्तर कर लेते है, किन्तु, 'अनुभव की आवृत्ति' के विश्लेषण में ब्रॉड प्रागनुभविक तथा संप्रत्ययात्मक तत्त्वों में उलझ जाते हैं। फलत: आत्म-भाव पुन: तात्त्विक तथा सत्तामूलक कठिनाइयों से घिर जाता है। ब्रॉड को स्वीकार करना पड़ता है कि आत्म कोई तत्त्व (इगो) नहीं बल्कि मानसिक स्थितियों की शृंखला-मात्र है। लेखक के मत में इससे मूल समस्या का निराकरण नहीं होता। यदि आत्म की मानसिक स्थितियों का क्रम मान लिया जाय तो फिर मूल प्रश्न रह ही जाता है : इन स्थितियों अथवा इस क्रम की अनुभूति का आधार क्या है ? यदि यह अनुभूति मुझे ही होती है तो क्या इसे आत्म-अनुभूति नहीं कहेंगे ? यदि ऐसा नहीं कहते तो एक विचित्र निष्कर्ष निकलता है : 'मुझे अनुभूति है कि 'आत्म' है, किन्तु यह अनुभूति नहीं होती कि 'मैं आत्म हूँ'।'

इस कठिनाई से निकलने का एक सरल मार्ग पैटर्सन को मिल जाता है, जो डेकार्ट का समर्थक भी है और लोक-संज्ञान के अनुरूप भी। आत्म-स्वरूप की विवेचना के लिए हम यह सोचें कि आत्म-निरीक्षण अथवा अन्तर्निरीक्षण से हमें क्या ज्ञात होता है ? इतना तो स्पष्ट है कि ज्ञान, भावना, कर्म आदि

शून्य में नहीं होते, उनके लिए हमें ज्ञाता, भोक्ता अथवा कर्त्ता को मानना पड़ता है। उनके स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं, शंकाएँ उठ सकती हैं, किन्तु उन्हें स्वीकार किये बिना अन्तर्निरीक्षण भी सम्भव नहीं। तो अन्तर्निरीक्षण से आत्म का ज्ञान ज्ञाता, भोक्ता, कर्त्ता आदि के रूप में होता है। इस स्थल पर आपत्ति उठायी जा सकती है कि इस प्रकार का ज्ञान, ज्ञान के स्वरूप से संगत नहीं है। ज्ञान में अनिवार्यत: ज्ञाता तथा ज्ञेय का द्वैत रहता है। इसी मूल कारण के फलस्वरूप आत्म-ज्ञान को असम्भव कहा जाता है। पैटर्सन के मत में अन्तर्निरीक्षण की क्रिया की सम्भावना ही इस आपत्ति का खण्डन कर देती है। आत्म-अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का विलयन हो जाता है, इसी कारण तो आत्म-अनुभूति को विशिष्ट ज्ञान कहा गया है। मैक्टैगार्ट ने तो स्पष्ट दिखलाया है कि आत्म-अस्तित्व का निषेध ही आत्म-व्याघातक है।

चिन्तन के मूलतत्त्व

आत्म-अस्तित्व की अनिवार्यता स्वीकार करते ही दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि आत्म चिंतक के रूप में ज्ञात होता है तो चिन्तन के मूल तत्त्व क्या हैं ? अथवा, हम पूछ सकते हैं कि आत्म-निरीक्षण में हमें कौन से अनिवार्य तत्त्व प्राप्त होते हैं ? आत्म की अनुभूति एक ऐसे विषयों के रूप में होती है जो एक विशिष्ट वातावरण में विषयों से घिरा है और जिसका स्वरूप इन विषयों के प्रति उसकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से निर्धारित होता है। इन क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के उपकरणों की व्याख्या से चिन्तन के मूल विषयों का स्पष्टीकरण हो जाता है। इनकी जानकारी मूलत: अन्तर्निरीक्षण से होती है, या फिर अन्तर्निरीक्षण से प्राप्त तत्त्वों पर और चिन्तन करने से।

गुण :

प्रथमत: गुण की व्याख्या की गई है। गुणों के साधारण उदाहरण के रूप में आह्लाद, दु:ख, आशा आदि आन्तरिक स्थितियों की अनुभूति का उल्लेख किया जा सकता है। गुणों में मात्रा-भेद भी होता है, किन्तु कुछ गुणों में मात्रा-भेद नहीं भी होता है। प्रसन्नता में अधिक या कम का अन्तर हो सकता है, गोलाई में नहीं। गुणों की इन विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए इनके स्वरूप को समझने की चेष्टा की जा सकती है।

मैक्टैगार्ट का कहना है कि गुण की परिभाषा नहीं दी जा सकती। गुण को अपरिभाष्य कहने का तात्पर्य है कि गुण की व्याख्या ऐसे तत्त्वों के द्वारा नहीं हो सकती जो गुण नहीं हैं। किन्तु मैक्टैगार्ट स्वयं इस बात को भूल जाते हैं और गुण की व्याख्या में विभिन्न प्रकार के गुणों का विवरण देते हैं। उनके विवरण में सरल गुण, मिश्रित गुण, अभावात्मक गुण, सम्बन्धसूचक गुण आदि विभिन्न प्रकार के गुणों का उल्लेख है। लेखक मैक्टैगार्ट के इन गुणों का विशद विवेचन करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन गुणों को भिन्न-भिन्न कोटि का गुण मानना युक्ति-संगत नहीं है। उनके मत में गुणों की व्याख्या में चिन्तन से परे जाने की आवश्यकता नहीं है। तब यह है कि कुछ गुण चिन्तन के आन्तरिक गुण हैं तथा कुछ गुण (जैसे इन्द्रिय गुण) बाह्य हैं।

द्रव्य :

अन्तर्निरीक्षण में हमें आत्म के गुणों की अनुभूति होती है तथा उन गुणों को धारण करने वाले आधार - आत्म-की भी। एक के बिना दूसरे की अनुभूति असंभव है। अनुभूत गुण द्रव्य में अन्तर्निहित हैं। साधारणत: 'द्रव्य' शब्द उस शाश्वत तत्त्व को सूचित करता है जो परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता, जो घटित नहीं होता। लेखक को द्रव्य तथा घटना का यह अन्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। जलप्रपात के उदाहरण में कहा नहीं जा सकता कि जलप्रपात का शाश्वत तत्त्व क्या है और उसके

परिवर्तित तत्त्व क्या हैं ? तो क्या द्रव्य वही है जो घटित होता है ? लेखक के अनुसार यह भी ठीक नहीं। द्रव्य तथा घटना सर्वथा भिन्न नहीं, किन्तु, पूर्णतया अभिन्न भी नहीं। घटना में सापेक्षता अनिवार्य है, द्रव्य एक अर्थ में निरपेक्ष तत्त्व माना जा सकता है।

लेखक के अनुसार ऐसी कठिनाइयां इस कारण उपस्थित होती हैं क्योंकि द्रव्य को गुणों से पृथक् एक अलग तत्त्व के रूप में सोचा जाता है। इस प्रकार से सोचने का ढंग ही विचित्र है, क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हम यह जानना चाहते हैं कि द्रव्य में जो गुण है उनके अतिरिक्त और क्या गुण है। स्पष्टत: यह प्रश्न बेतुका है। तब यह अवश्य है कि जिस अर्थ में गुण द्रव्य में है उस अर्थ में द्रव्य विश्व में नहीं। गुणों के रहने से द्रव्य का स्वरूप निर्धारित होता है, गुण द्रव्य को विशेषित करते हैं। उस प्रकार से द्रव्य विश्व को विशेषित नहीं करता।

अत: लेखक का कहना है कि द्रव्य विशेषित होता है, किसी अन्य को विशेषित नहीं करता, यह अन्य से सम्बन्धित होता है किन्तु स्वयं सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, यह स्वयं कोई घटना नहीं किन्तु घटनाओं से सम्बन्धित है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक भौतिक तत्त्व को अनौपाधिक रूप से द्रव्य की संज्ञा दे देते हैं। लेखक का निष्कर्ष विज्ञानवाद का समर्थक है, क्योंकि उनके अनुसार द्रव्य की सत्ता आत्म से सम्बन्धित है। आत्म और उसकी अनुभूति की व्याख्या द्रव्य, द्रव्यत्व का स्पष्टतम उदाहरण, आत्म ही है, क्योंकि आत्म ही घटनाओं का चरम आधार है।

अब दूसरी समस्या उपस्थित हो जाती है, 'शरीर' को द्रव्य कहा जा सकता है या नहीं ? यदि शरीर को भी द्रव्य माना जाय तो नई उलझनें समक्ष आ जाती हैं। क्या आत्म तथा शरीर दो पृथक् द्रव्य हैं? यदि हैं, तो उनमें सम्बन्ध कैसे सम्भव है ? पाश्चात्य दर्शन की परम्परा सदा इन दोनों को दो पृथक् द्रव्यों के रूप में मानती रही है। किन्तु प्लेटो से लेकर डेकार्ट तक प्रधानता प्राय: आत्म को ही दी गई है। डेकार्ट ने तो एक दृष्टि से दोनों का एकीकरण भी कर दिया था। इस उलझन की विशद व्याख्या किये बिना इतना तो माना जा सकता है कि आत्म-द्रव्य को प्रधानता दी गई है, और इसे सरलतम, अविभाज्य, विभु-रूप में स्वीकारा गया है।

किन्तु लेखक को आत्म द्रव्य की इस व्याख्या में अपूर्णता दिखाई देती है। यहाँ 'बनावट' तथा 'स्वरूप' पर ध्यान दिया गया है, अवधि पर नहीं। यदि आत्म को सरलतम तथा अविभाज्य भी माना जाय तो इससे आत्म का द्रव्यत्व सिद्ध नहीं होता, अनन्तता सिद्ध होती है। आत्म का द्रव्यत्व सिद्ध करने के लिए आत्म के आत्म-चेतन-रूप की प्राथमिकता स्वीकार करनी होगी। आत्म को 'स्व' की साक्षात् अनुभूति होती है - परिवर्तित अनुभवों में भी अपने अभेद तथा एकात्मता की अनुभूति होती है। इसी कारण लेखक आत्म को एक नित्य 'विषयी' के रूप में स्वीकार करते हैं।

अवस्था :

अन्तर्निरीक्षण में आत्म किसी चिद्बिन्दु के रूप में प्रकट नहीं होता बल्कि कुछ अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। अवस्था से लेखक का तात्पर्य उन रूपों से है जिनमें आत्म के गुण प्रकट होते हैं। जैसे हम चिन्तावस्था, दु:ख की अवस्था, संशय की अवस्था आदि की बात करते हैं। किन्तु अवस्था को आन्तरिक अनुभव का तथ्य नहीं का जा सकता। 'तथ्य' शब्द के प्रयोग में सत्यता-असत्यता का प्रश्न अनिर्वायत: निहित है, 'अवस्था' शब्द के प्रयोग में ऐसी बात नहीं। यह कहा जा सकता है कि 'यह तथ्य है कि तीन दिन पहले अमुक व्यक्ति को पागलपन का दौरा आया था', किन्तु यदि हम कहें कि 'तीन दिन पहले बीमार पड़ना अमुक व्यक्ति की अवस्था थी' तो यह अयुक्त भाषा-प्रयोग होगा। पुन:, एक अवस्था

के अन्तर्गत अन्य अवस्थाएं भी रह सकती हैं, बीमारी की अवस्था में संकटावस्था भी रह सकती है। किन्तु, तथ्य के साथ ऐसा नहीं होता। इन भेदों को ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि अन्तर्निरीक्षण में आत्म की अवस्थाओं का ज्ञान होता है।

सम्बन्ध :

गुण के समान सम्बन्ध की भी परिभाषा नहीं दी जा सकती और न इसका सरल भागों में विश्लेषण किया जा सकता है। सम्बन्ध की यथार्थता सम्बन्ध के उदाहरणों के द्वारा ही सिद्ध हो जाती है। इसके उदाहरण आत्म-तत्त्वों में भी उपलब्ध हैं। आत्म की अवस्थाओं में क्रम होता है, भावनाओं में प्रखरता का अन्तर होता है। इनका ज्ञान सम्बन्ध के ज्ञान पर ही निर्भर करता है। इनके अतिरिक्त अन्य उदाहरणों के द्वारा भी सम्बन्ध की यथार्थता की पुष्टि होती है। सम्बन्ध एक-एक का हो सकता है, जैसे क = ख, तथा एक-अनेक का भी हो सकता है, जैसे क को ख, ग, घ आदि की चेतना है। उसी प्रकार समबन्ध विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, जैसे सममित, असममित तथा न-सममित सम्बन्ध, संचारी, असंचारी सम्बन्ध आदि।

मैक्टैगार्ट ने सम्बन्धों को परावर्ती, (रीफ्लेक्सिव) अपरावर्ती तथा न-परावर्ती सम्बन्धों में बांटा है। उदाहरणत: यदि सम्बन्ध का कोई ऐसा उदाहरण हो जो अपने-आप से सम्बन्धित नहीं हो सकता तो उसे अपरावर्ती कहा गया है। न-परवर्ती सम्बन्ध में ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। उदाहरणत: श्लाघा का उदाहरण लिया जा सकता है। अन्य के प्रति मेरी ऐसी भावना हो सकती है एवं आत्म-श्लाघा भी सम्भव है। परावर्ती सम्बन्ध का उदाहरण अभेद-सम्बन्ध (रिलेशन ऑव आईडेंटिटी) दिया है। अभेद दो प्रकार के होते हैं - गुणात्मक तथा संख्यात्मक। गुणात्मक अभेद में परावर्ती सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। संख्यात्मक अभेद को परावर्ती मानने में भी कठिनाईयाँ हैं, किन्तु लेखक के मत में एक विशेष अर्थ में इसे परावर्ती माना जा सकता है, किन्तु तब इसे आत्म की अनुभूति से सम्बन्धित करना अनिवार्य है। दो अनुभवों का संख्यात्मक अभेद तभी मान्य होगा जब किसी व्यक्ति की अनुभूति इसकी पुष्टि करेगी। इसके अतिरिक्त लेखक सरल-सम्बन्ध, मिश्र-सम्बन्ध आदि की भी विवेचना करते हैं तथा उनसे सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं।

बाह्य तथा आन्तरिक सम्बन्ध की समस्या की भी विवेचना की गई है। लेखक का निष्कर्ष डॉ. इविंग के विचारों से प्रभावित होता है। डॉ. इविंग के द्वारा दिये गए आन्तरिक सम्बन्ध के दस अर्थों का स्पष्टीकरण किया गया है, किन्तु उनमें चार पर विशेष ध्यान दिया गया है : (क) सम्बन्ध के आन्तरिक होने का अर्थ है कि सम्बन्ध के न रहने पर सम्बन्धित अपरिवर्तित नहीं रह सकता। (ख) यदि दो पदों में ऐसा सम्बन्ध है कि उस सम्बन्ध के ज्ञान और एक पद के किसी लक्षण के ज्ञान के आधार पर दूसरे पद के किसी निश्चित लक्षण के विषय में अनुमान किया जा सके तो वह सम्बन्ध आन्तरिक सम्बन्ध है। (ग) कार्य-कारण निर्भरता- सम्बन्ध भी आन्तरिक सम्बन्ध है। (घ) तार्किक निर्भरता का सम्बन्ध भी आन्तरिक सम्बन्ध का उदाहरण है। लेखक का निष्कर्ष है कि इन सभी अर्थों में कुछ सम्बन्ध आन्तरिक हैं, किन्तु ऐसे भी सम्बन्ध हैं जिन्हें आन्तरिक नहीं कहा जा सकता।

क्रिया :

अन्तर्निरीक्षण में आत्म की क्रियात्मकता की चेतना होती है। किन्तु, क्रियात्मकता की परिणति क्रिया में है। क्रिया निर्णय का फलित रूप है। निर्णय कभी चिन्तन के फलस्वरूप होता है और कभी एकाएक। ध्यान भी एक क्रिया ही है। ध्यान की क्रिया से तो चेतनावस्था मुक्त हो ही नहीं सकती। 'क्रिया' शब्द के इन विभिन्न उदाहरणों को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि लेखक इस शब्द का प्रयोग एक

विशेष अर्थ में कर रहे हैं। साधारणत: क्रिया को मानसिक निर्णय की परिणति के रूप में समझा जाता है। किन्तु लेखक का अर्थ इससे अधिक विस्तृत है, लेखक के अर्थ में क्रिया का यह साधारण अर्थ भी समाविष्ट है। उनके अनुसार, जो ध्यान के केन्द्र तथा प्रवाह को प्रभावित तथा परिवर्तित करे वही क्रिया है।

कारण-भाव :

क्रिया के स्वरूप के विवेचन में क्रिया एवं क्रियात्व (एक्ट एण्ड एक्टिविटी) में अन्तर किया गया है। यदि 'ध्यान' क्रिया के वातावरण में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं कर पाती तो यह कार्यकारिता है, क्रिया नहीं। क्रिया किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए की जाती है, फलत: कार्य के फलस्वरूप वातावरण में परिवर्तन अनिवार्य है। इस अन्तर का कारण-भाव के लिए लिए विशेष महत्त्व है, क्योंकि इस भाव के मूल में आत्म की क्रियाशीलता की अनुभूति है। आत्म-अनुभूति में आत्म एक चेतन द्रव्य के रूप में ज्ञात होता है। सम्भव है कि आत्म-अनुभूति आत्म की क्रियाशीलता की अनुभूति हो, इस अनुभूति में यह भी चेतना रहती है कि आत्म की क्रियाशीलता वातावरण में परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है। यही कारण-भाव की चेतना है। इसी अर्थ में प्लेटो ने आत्म की गति को चरम कारण कहा था।

कार्य-कारण सम्बन्ध का यह क्रिया-सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। साधारणत: इस सिद्धान्त की यथार्थता जगत् में ही प्रतीत होती है। यदि इसका भौतिक जगत् के कारण-कार्य-सम्बन्ध की व्याख्या में उपयोग किया जाय तो हमारा दृष्टिकोण मानवत्वारोपी बन जायगा। फलत: कारण-भाव की समझ के लिए कारण-कार्य-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है।

कारण-भाव के क्रिया-सिद्धान्त के अतिरिक्त नियमितता-सिद्धान्त (रेगुलेटरी थ्योरी) तथा आपादन सिद्धान्त (एंटेल्मेंट थ्योरी) को महत्त्व दिया गया है। नियमितता सिद्धांत के गुण-दोषों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह लोक-संज्ञान (कामनसेंस) के अनुकूल प्रतीत होता है, किन्तु इस सिद्धांत से एक ओर तो तथ्यों का अवबोध सुगम नहीं होता और दूसरी ओर इससे केवल नियमितता स्थापित होती है, कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं। यदि पासा फेंकने पर हर बार छ: ही आता है तो यह कहना यथेष्ठ नहीं कि पासा फेंकने तथा छ: में नियमित सम्बन्ध है, यहां हमें मानना पड़ता है कि बार-बार छ: आने का कोई कारण अवश्य है। इसी कमी को दूर करने की चेष्टा में आपादन सिद्धान्त का प्रादुर्भाव होता है। इसके अनुसार कारण तथा कार्य के मध्य एक आन्तरिक तथा अनिवार्य सम्बन्ध माना गया है। कारण-कार्य-सम्बन्ध की व्याख्या में यह नियमितता-सिद्धान्त से अधिक बौद्धिक प्रतीत होता है, किन्तु 'अनिवार्य तथा आन्तरिक' सम्बन्ध का भाव अस्पष्ट तथा रहस्यमय ही प्रतीत होता है। क्रिया-सिद्धान्त को भी पूर्ण मान्यता देने में कठिनाई प्रतीत होती है क्योंकि यह स्वयं इच्छा-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त पर आधृत है, और इच्छा-स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त भी विवादास्पद है।

इस प्रकार तीनों सिद्धान्तों में कुछ न कुछ त्रुटि है। लेखक के मत में इस विवेचन का सम्भावित निष्कर्ष हो सकता है कि साधारण अनुभव-तथ्यों की व्याख्या में आपादन-सिद्धान्त अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है तथा चरम कारण की खोज में क्रिया-सिद्धान्त को अधिक मान्यता देना उचित है।

विचार के नियम :

साधारणत: अनन्यता-नियम, व्याघात-नियम तथा मध्याभाव नियम को मूल विचार-नियम माना जाता है। इन्हें 'चिन्तन के विषय' के अन्तर्गत रखने का विशेष कारण है। साधारणत: इन नियमों को केवल विचार-प्रणाली का नियम माना जाता है, किन्तु इन नियमों की यथार्थता आत्म-अस्तित्व तथा बाह्य-अस्तित्व दोनों में सिद्ध होती है। उदाहरणत: जब हम कहते हैं कि क ख तथा

नहीं - ख दोनों नहीं हो सकता, तब इसका केवल यह अर्थ नहीं कि ऐसा विचार-जगत् में सम्भव नहीं, बल्कि इस नियम का यह भी अर्थ है कि यदि क में 'ख' गुण विद्यमान है तो क में ख के व्याघातक गुण नहीं रह सकते।

विधि की समस्या

आत्म के मूल तत्त्वों के विवेचन के बाद विश्व के स्वरूप पर विचार आवश्यक है। लेखक का स्पष्ट मत है कि अज्ञेयवाद चिन्तन के मार्ग में व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकता। पूर्ण संदेहवाद भी आत्म-व्याघातक है। संदेहवादी को भी अपनी प्रतिज्ञप्ति की यथार्थता स्वीकार करनी पड़ती है। संदेहवाद की हर उक्ति संशयवाद का खण्डन है और ज्ञान की सम्भावना की स्वीकृति है। संदेहवादी कह सकते हैं कि उनकी मूल प्रतिज्ञप्ति दूसरे स्तर की प्रतिज्ञप्ति है, जिसका प्रयोग तथ्य तथा सत्ता-सम्बन्धी उक्तियों पर किया जाता है। इस प्रकार वे आत्म-व्याघातकता के आरोप से बचने की चेष्टा करते हैं। किन्तु इस दृष्टि से तो 'सभी वाक्य सन्देहात्मक हैं' वाक्य का प्रयोग अन्य वाक्यों पर हो सकता है, अपने-आप पर नहीं। तब प्रश्न होता है कि इस वाक्य की सत्यता कैसे सिद्ध होती है ? आगमनात्मक विधि से तो यह सिद्ध नहीं होता। तो क्या यह वाक्य अनुभवातीत है ? इस प्रकार संशयवादी दृष्टिकोण और भी अधिक उलझ जाता है।

अज्ञेयवाद तथा संदेहवाद की कमजोरियों पर प्रकाश डालने से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान असम्भव नहीं है। किन्तु, ज्ञान की सम्भावना में सत्यता-असत्यता का प्रश्न निहित है।

'सत्यता' शब्द का निहितार्थ क्या है ? इस शब्द के इतने विभिन्न अर्थ दिये गए हैं और इनके सम्बन्ध में इतने सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं कि इस शब्द के मूल अर्थ पर ही ध्यान देना उचित है। यह मूल अर्थ सामान्यत: साधारण दृष्टिकोण से भी स्वीकार्य है तथा इसका दार्शनिक आधार भी है। इस साधारण अर्थ में यदि कोई प्रस्तावना तथ्य को सूचित करती है तो वह सत्य है। लेखक सत्य के अनुरूपता-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं तथा अपने निष्कर्ष की स्थापना के निमित्त सत्य के अन्य सिद्धान्तों की परीक्षा करते हैं।

सत्य के व्यावहारिकतावादी सिद्धान्त के अनुसार किसी भाव की सत्यता उसकी उपयोगिता में निहित है, मत को मान्यता नहीं दी जा सकती। एक तो, उपयोगिता से सत्यता-असत्यता निर्धारित नहीं होती है। सम्भव है कि किसी विशेष परिस्थिति में कोई पूर्णतया असत्य भाव उपयोगी सिद्ध हो अथवा कोई सत्य विचार किसी परिस्थिति में पूर्णतया अनुपयोगी सिद्ध हो। और फिर, उपयोगिता का सम्बन्ध व्यक्ति से है, सम्भव है कि जो एक के लिए उपयोगी है अन्य के लिए उपयोगी न हो। तो क्या सत्य का आधार व्यक्ति है ? क्या सत्य वैयक्तिक है ? इस प्रकार इस सिद्धान्त की परीक्षा कर यह दिखलाया जा सकता है कि इसमें यदि कुछ यथार्थता है तो केवल उन्हीं स्थलों पर जिनमें वह तदनुरूपता-सिद्धान्त का समर्थक है।

सत्य के सत्यापन-सिद्धान्त को भी बीसवीं सदी में मान्यता मिली है। यह सिद्धान्त (वेरीफिकेशन थ्योरी) अर्थ-सिद्धान्त के रूप में विकसित हुआ और इसमें सत्यापन की सम्भावना को अर्थ का आधार माना गया। प्रस्तावनाओं की सत्यता-असत्यता का आधार भी सत्यापन ही बन गया। किन्तु, जिस गति से इस सिद्धान्त का विकास हुआ उसी गति से इसकी आलोचना भी हुई। लेखक इस सिद्धान्त के विरूद्ध उठाई गई आपत्तियों का उल्लेख करते हैं। लेखक स्वीकार करते हैं कि कभी-कभी सत्यापन की क्रिया से सत्यता-असत्यता स्थापित होती है। किन्तु उनका कहना है कि इस सिद्धान्त के समर्थक भूल जाते हैं कि सत्यापन की क्रिया से वाक्यों की सत्यता प्रमाणित हो सकती है, किन्तु यह

क्रिया वाक्यों का अर्थ नहीं है। 'खेत में घोड़ा है' - इस वाक्य की सत्यता सत्यापन-क्रिया से प्रमाणित हो सकती है, किन्तु यदि यह क्रिया न भी हो, यदि इसकी परीक्षा न भी की जाय, तो भी यह वाक्य अर्थहीन नहीं हो जाता।

सत्यापन-सिद्धान्त के इन्हीं दोषों के कारण बाद के दार्शनिकों ने 'अर्थ-भाव' के स्थान पर 'व्यवहार' पर ध्यान दिया। उनके अनुसार अर्थ की खोज ही अयुक्त है, क्योंकि शब्द तो चिन्ह-रूप हैं जिनका उपयोग हम अपनी सुविधा के लिए करते हैं। किसी शब्द-चिन्ह से क्या सूचित होता है यह जानने के लिए यह देखना आवश्यक है कि उस शब्द का प्रयोग या व्यवहार किस प्रकार होता है। किन्तु लेखक का मत है कि इस नवीन दर्शन में शब्दों के व्यवहार, उपयोग आदि की समस्या ही प्रधान हो जाती है, अत: इससे भी सत्यता-असत्यता के प्रश्न पर कोई नूतन प्रकाश नहीं पड़ता। सच पूछा जाय तो, यह कहना कि किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोगों अथवा व्यवहारों में निहित हैं, कोई नवीन या गम्भीर बात नहीं, अपितु एक सर्वमान्य सत्य की पुनरावृत्ति है। लेखक के मत में भाषा अथवा भाषा-प्रयोग को इतना महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं कि हमारा मस्तिष्क, जो भाषा का स्त्रष्टा है, भाषा का दास बन जाय।

सत्य के सामंजस्यता-सिद्धान्त में अनेक दोष हैं। प्रथमत: यह स्वीकारना कठिन है कि सामंजस्य सत्य का मापदंड है। सामंजस्य किसी नवीन अनुभव को सत्य या असत्य सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि सामंजस्य-सम्बन्ध विश्वासों के बीच हो सकता है, विश्वास तथा तथ्यात्मक अनुभव के बीच नहीं। इस सिद्धान्त के समर्थक तो सामंजस्य को सत्य की परिभाषा बना देते हैं। उनका यह भी कहना है कि सामंजस्य में मात्रा का अन्तर भी हो सकता है जिसके फलस्वरूप कोई भाव अधिक सत्य होता है कोई कम। इस परिभाषा में एक स्पष्ट दोष तो यह है कि यह असत्यता की सम्भावना को प्राय: समाप्त ही कर देता है। हर भाव में थोड़ा सामंजस्य रहता ही है, और इस कारण हर भाव में सत्य की कुछ मात्रा रहेगी ही। पुन:, किसी भाव में सत्य की मात्रा बहुत अधिक नहीं हो सकती क्योंकि सामंजस्य की जांच की क्रिया ही स्पष्ट नहीं। पुन:, यदि इस सिद्धान्त को आधार माना जाय तो इसी आधार पर सामंजस्य-सिद्धांत स्वयं असत्य सिद्ध हो जाता है क्योंकि इस सिद्धांत का सामंजस्य सिद्ध करना असम्भव है। लेखक का कहना है कि इसमें अनवस्था दोष भी है। दो भावों के सामंजस्य की परीक्षा के लिए एक अन्य निर्णय की आवश्यकता होगी। इस निर्णय और उन भावों का सामंजस्य एक तीसरे निर्णय पर निर्भर करेगा, और इस प्रकार अनवस्था दोष स्पष्ट हो जाता है।

एक अन्य मत के अनुसार, सत्य तथ्य का पर्यायवाची माना जाता है। लेखक इस मत को भी मान्यता नहीं देते। इन दो पदों के सामान्य प्रयोगों से ही स्पष्ट है कि दोनों को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। पुन: हर सत्य या असत्य कथन का कुछ अर्थ होता है। 'तथ्य' एवं 'अर्थ' को भी पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। किसी कथन का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है किन्तु, उसमें निहित तथ्य से हम अनभिज्ञ रह सकते हैं। उदाहरणत: यदि कहा जाय कि 'दिवंगत आत्मा की अन्तिम इच्छा अमुक थी' तो इसका अर्थ तो स्पष्ट है, किन्तु इसें निहित तथ्य की स्थापना नहीं हो सकती।

अत: निष्कर्ष यही होता है कि सत्य कथन में जो सूचित होता है वह तथ्य है। असत्य कथन में अर्थ है किन्तु, तदनुरूप तथ्य नहीं है। अत: सत्य को वाक्य एवं तथ्य की अनुरूपता कह सकते हैं। इस प्रकार लेखक सत्य के अनुरूपता-सिद्धान्त (कोरेस्पोंडेंस थ्योरी) का ही समर्थन करते हैं।

अब यह कहा जा सकता है कि दर्शन विश्व का अध्ययन कर सकता है क्योंकि तथ्यों के सम्बन्ध में सत्य कथन किये जा सकते हैं। किन्तु, इस अध्ययन की विधि क्या होगी ?

अनुभववादी अनुभव को प्रधानता देते हैं। किन्तु, उनमें भी मतभेद है। संकीर्ण अनुभववाद इन्द्रिय-अनुभव को ही सर्वोपरि मानता है। किन्तु यह आमान्य है। क्योंकि आत्म-ज्ञान, जो हर ज्ञान का आधार है, इन्द्रिय अनुभव से प्राप्त नहीं होता। कुछ अनुभववादी कहते हैं कि आत्म-ज्ञान अन्तर्निरीक्षण पर आधृत है और अन्तर्निरीक्षण एक प्रकार का आन्तरिक इन्द्रिय-अनुभव है। किन्तु, यदि अन्तर्निरीक्षण को इन्द्रिय-अनुभव माना जाय तो सभी अनुभव - नैतिक अथवा धार्मिक अनुभव एवं सौन्दर्यानुभूति भी-विषयीगत हो जायेंगे तथा अनुभवों में जो विषयनिष्ठता है, उसकी व्याख्या नहीं हो पाएगी।

इस बात की व्याख्या एक दूसरे ढंग से भी हो सकती है। यदि विश्व का दार्शनिक अध्ययन अनिवार्यत: अनुभव पर ही आधृत रहे तो इसका अर्थ हो जाता है कि दर्शन की विधि 'आगमनात्मक साधारणीकरण' है। किन्तु, इसके विरूद्ध दो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। एक, आगमनात्मक विधि, विशेषत: अपनी प्रारम्भिक प्रक्रिया में, उदाहरणों की संख्या अथवा गणनात्मक प्रणाली पर आघृत है। किन्तु, इस प्रकार की गणनात्मक प्रणाली विश्व के स्वरूप के अध्ययन की विधि नहीं हो सकती। पुन:, निश्चित है कि आगमनात्मक विधि में अनिवार्यत: कुछ प्रागनुभविक तथ्य रहते ही हैं। आगमन के मूल सूत्र में ही यह स्पष्ट हो जाता है। कुछ उदाहरणों के ज्ञान के आधार पर जब हम सब का अनुमान करते हैं तो यह अनुमान हमारे इस पूर्व विश्वास पर निर्भर करता है कि ऐसे उदाहरणों में कुछ अनुभव के आधार पर सब का अनुमान सम्भव है। इस प्रकार आनुभविक विधि में भी प्रागनुभविक तत्त्वों को स्वीकारना अनिवार्य हो जाता है। फलत:, लेखक मैक्टैगार्ट के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि विश्व के दार्शनिक अध्ययन की विधि प्रागनुभविक विधि ही हो सकती है।

किन्तु, पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में इस विधि के समर्थक प्राय: बुद्धिवादी ही रहे हैं। बुद्धिवादियों की मान्यता रही है कि विश्व का स्वरूप बौद्धिक है। तो अब प्रश्न यह है कि किस स्तर तक तथा किस अर्थ में विश्व को बौद्धिक कहा जा सकता है ?

बौद्धिक विश्व की अवधारणा

इस अवधारणा के स्पष्टीकरण में दो प्रश्नों पर विचार अनिवार्य है : 'बौद्धिक विश्व' का तात्पर्य क्या है ? तथा 'क्या विश्व को बौद्धिक माना जा सकता है ?' स्पष्ट है, दूसरे प्रश्न का उत्तर पूर्णतया पहले प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है।

साधारणत: नियम, व्यवस्था, सामंजस्य आदि से ही बौद्धिकता की पहचान होती है। नियमितता (रेगुलेरिटी) बौद्धिकता का एक स्पष्ट उदाहरण है। कांट ने नियमितता का आधार मन को माना। उनकी 'कौपरनिकीय कान्ति' में विषयिभाव (सब्जेक्टिविटी) बौद्धिकता के स्रोत के रूप में उभरी है। उनके अनुसार मन अपने ढंग से दिक् एवं काल के रूपों के द्वारा और फिर मानसिक कोटियों के द्वारा आनुभविक विषयों में व्यवस्था स्थापित करता है। विभिन्न मनों के अनुभव-जगत् की समानता का आधार इन भावों अथवा कोटियों की सार्वभौमता है। एक जापानी बौद्ध सम्प्रदाय होसो ने अपने ढंग से इसी प्रकार का मत प्रतिपादित किया है। कांट के बाद के निरपेक्ष विज्ञानवादी दर्शन ने विश्व की बौद्धिकता को सिद्ध करने के लिए एक 'परम मन' की कल्पना की और उसे ही परम सत्ता बना दिया। हेगेल जैसे दार्शनिकों ने दिखलाने का प्रयत्न किया कि विश्व का स्वरूप ही बौद्धिक है तथा बौद्धिक विधि की अनिवार्य परिणति 'परम मन' में है। यही कारण है कि शुद्ध बौद्धिक मीमांसा से विश्व के स्वरूप का स्पष्ट विश्लेषण हो जाता है। कांट तथा निरपेक्ष विज्ञानवादियों में अन्तर यही है कि कांट के अनुसार विश्व की बौद्धिकता का आधार सीमित मन का बौद्धिक रूप है जबकि विज्ञानवादियों के अनुसार यह आधार असीम मन का बौद्धिक रूप है।

प्लेटो ने विश्व की बौद्धिकता सर्वथा भिन्न ढंग से स्थिर की थी। उनके अनुसार विश्व की वास्तविकता प्रत्ययों (आइडियाज) के जगत् में है, परिवर्तनशील अनुभव-जगत् में नहीं। बाह्य-जगत् उसी भाव-जगत् की अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र है। प्रत्यय-जगत् का स्वरूप अनिवार्यत: बौद्धिक है। प्रत्यय-जगत् को शृंखलाबद्ध कर प्लेटो भी एकाएक परम शुभ के प्रत्यय (आइडिया ऑफ दि गुड) तक पहुँच जाते हैं, जिसे वे ईश्वर की संज्ञा दे देते हैं। प्लेटो के मत के गुण-दोषों की विवेचना किये बिना यह तो कहा जा ही सकता है कि बाद के बुद्धिवादी दार्शनिक भी प्लेटो से प्रभावित हो विश्व की बौद्धिकता को दर्शन की मान्यता के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। फलत: यह जानना आवश्यक हो जाता है कि बुद्धिवादी दर्शन के दावे में कितनी यथार्थता हैं।

बुद्धिवाद का दावा

लेखक के मत में इस प्रश्न पर विशद् विचार मैक्टैगार्ट ने किया है। अपने 'स्टडीज इन हेगेलियन डायलेक्टिक' के पाँचवे अध्याय (खण्ड १६०-१६७) में उन्होंने तीन पूर्व कल्पनाओं की परीक्षा की है - (क) विश्व पूर्णतया अबौद्धिक है (ख) विश्व में बौद्धिक तथा अबौद्धिक दोनों तत्त्वों का समावेश है, तथा (ग) विश्व एक आकस्मिक तथा अन्धे नियम का परिणाम है जिसके लिए बौद्धिकता-अबौद्धिकता का प्रश्न ही निरर्थक है। इन तीनों सम्भावनाओं की परीक्षा करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बुद्धिवाद के दावे की यथार्थता या अयथार्थता सिद्ध करने के लिए दो समस्याओं को सुलझाना आवश्यक है। साधारणत: विश्व की बौद्धिकता के पक्ष या विपक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं वे सभी 'विशेषों' के अनुभव के आधार पर ही दिये जाते हैं। किन्तु, केवल विशेष के आधार पर इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। बौद्धिकता का भाव ही एक सामान्य है। तो क्या 'विशेष' के अनुभव के आधार पर 'सामान्य' का ज्ञान सम्भव है ? सामान्य से सम्बन्धित कुछ अन्य समस्याएँ भी हैं। बुद्धिवाद हमें इन सभी समस्याओं में उलझा देता है। और फिर, बौद्धिकता तथा अबौद्धिकता की समस्या अनिवार्यत: मूल्यों की समस्या से जुड़ी है। यदि हम 'व्यवस्था' अथवा 'नियमितता' का हवाला देते हैं तो इससे कुछ 'मूल्यों' का ही निर्माण होता है। सच पूछा जाय तो मूल्य दोनों स्तरों में विद्यमान हैं। विश्व के अबौद्धिक तत्त्वों पर जोर देने वाले भी कुछ मूल्यों के आधार पर ही अपना निष्कर्ष देते हैं।

तो, मूल्य एक ऐसा भाव है जो दोनों पक्षों में समान रूप से विद्यमान है। अब, यह कहा जा सकता है कि विश्व का स्वरूप 'मूल्यों' से ही निर्धारित होता है, कम से कम विश्व के स्वरूप के विश्लेषण का आधार तो मूल्य हैं ही। अब यदि बुद्धिवाद के दावे में कुछ बल है तो इन मूल्यों के चरम आधार के रूप में एक 'परम शुभ मन' को मानना आवश्यक हो जाता है। किन्तु, इस निष्कर्ष की स्थापना के पहले बुद्धिवाद के लिए भी यह आवश्यक है कि वह 'विश्व में मूल्यों का स्थान' की विवेचना कर ले। उसे एक ओर तो यह सिद्ध करना है कि विश्व का स्वरूप मूल्यों से निर्धारित होता है और दूसरी ओर यह दिखलाना है कि विश्व का यह मूल्य-रूप अशुभ तथा अबौद्धिक तत्त्वों की उपस्थिति से खण्डित नहीं होता।

फलत: लेखक के समक्ष अब दो समस्याएँ उपस्थित हो जाती है - सामान्य की समस्या तथा मूल्य की समस्या।

सामान्य

साधारण अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ वस्तुओं में कुछ लक्षणों की समानता पायी जाती है तथा कुछ बातों में अन्तर भी। 'समानता' तथा 'अन्तर' की क्या व्याख्या हो सकती है ? क्या ये भी वस्तुओं के विशेष लक्षण हैं या इन्हें 'सामान्य' कहा जा सकता है ? इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं।

(क) एक उत्तर नाममात्रवाद (नोमिनलिज्म) का है। इसके अनुसार सभी लक्षण विशेष ही हैं। गुण या सम्बन्ध-सूचक शब्द नाममात्र हैं, वे किसी सामान्य गुण अथवा सामान्य सम्बन्ध का बोध नहीं कराते। समानता का सम्बन्ध भी नाममात्र होने के कारण विश्लेष्य नहीं है। किन्तु समानता, सम्बन्ध आदि को केवल नाममात्र कह देने से इन गुणों की व्याख्या नहीं हो पाती। इस मत का यही दोष है।

(ख) अवधारणावाद (कांसेप्चुअल्जिम) भी नाममात्रवाद के समान मानता है कि विश्व में विशेष ही हैं। किन्तु इसके अनुसार मस्तिष्क में अवधारणा निर्माण करने की शक्ति है। मस्तिष्क भावों का विश्लेषण कर सकता है, लक्षणों को अन्य लक्षणों से पृथक् कर सोच सकता है। उदाहरणत: यह सेब, गुलाब, रक्त आदि के भावों से लाल के भाव को पृथक् कर लाल की अवधारणा बना सकता है।

(ग) एक तीसरे मत के अनुसार ये सभी लक्षण सामान्य हैं। सामान्य वास्तविक एवं वस्तुनिष्ठ हैं। मस्तिष्क उनका निर्माण नहीं करता, बस उन्हें ढूंढ लेता है। तब यह अवश्य है कि सामान्य का अस्तित्व विशेष से अलग नहीं है। इस मत को सीमित वास्तववाद (रेस्ट्रिक्टेड रियलिज्म) कहा जा सकता है।

(घ) कुछ विचारक सामान्य को विशेष से अलग एक विशिष्ट सत्ता दे देते हैं। एक दृष्टि से विशेष ही सामान्य पर आधृत है। यदि विशेष से सामान्य को अलग कर लिया जाय तो विशेष अस्तित्वरहित हो जाएगा। इसी कारण कहा गया है कि सामान्य सत्तावान् है (सब्सिस्ट्स) और विशेष अस्तित्ववान (एग्जिस्ट्स)। इस मत को असीमित वास्तववाद (अन्रेस्ट्रिक्टिड रियलिज्म) के नाम से पुकारा जा सकता है।

(ड) असीमित वास्तववाद का अतिवादी रूप प्लेटो के दर्शन में मिलता है। प्लेटो ने विशेष में भी सामान्य की ही सत्ता देखी। उनके अनुसार वास्तविक सत्ता सामान्य की ही है, जिसे विशेष अपूर्ण तथा सीमित ढंग से प्रतिबिम्बित करता है।

लेखक इन सिद्धान्तों के गुण-दोषों की विवेचना करते हुए दिखलाते हैं कि दोनों ओर का अतिवाद अयुक्त है। सामान्य को परम सत्ता की स्थित दे देना अथवा सामान्य की सत्ता का पूर्ण निषेध, दोनों विचार का अतिक्रमण करते हैं। लेखक के मत में असीमित वस्तुवाद (संख्या घ) के पक्ष में सर्वाधिक साक्ष्य है। सामान्य की यथार्थता तथा वास्तविकता स्वीकार करना अनिवार्य है और इसके लिए सामान्य को, प्लेटो के समान, एक अलौकिक स्थान देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सामान्य तो साधारण आनुभविक जीवन का अंग है। लेखक को सत्तावान् तथा अस्तित्ववान् का अन्तर बड़ा सुविधाजनक प्रतीत होता है। विशेष में सत्ता है, किन्तु सामान्य स्वयं सत्ता है। अब, सामान्य को सत्तावान् मानने से दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है -क्या सामान्य काल में है ? यों तो काल का प्रश्न एक अलग प्रश्न है, किन्तु एक दृष्टि से सामान्य को काल के परे माना जा सकता है। यों, प्लेटो के अनुसार, सामान्य परिवर्तित नहीं होते, वे नित्य हैं। किन्तु उनकी युक्तियां एक विशेष मान्यता पर आधृत हैं। अत: उनकी युक्तियों का सहारा लिए बिना इतना तो कहा जा ही सकता है कि सामान्य का मौलिक स्वरूप विशेषों के सम्बन्धों से निर्धारित नहीं होता। उस अर्थ में सामान्य को 'काल के परे' कहा जा सकता है।

सामान्य के उदाहरण के रूप में गुण तथा सम्बन्ध के अतिरिक्त क्रिया तथा संख्या का भी उल्लेख हुआ है। 'क्रिया' शब्द के अर्थ में प्राय: व्यामिश्र हो ही जाता है, किन्तु सामान्य के अन्तर्गत जिस क्रिया का उल्लेख आया है वह 'ऐच्छिक क्रिया' है - ऐसी क्रिया है जिसके फलस्वरूप वातावरण में

नवीन गति उत्पन्न हो सके। इसे सामान्य का एक पृथक् उदाहरण मानने का कारण बस इतना ही है कि इसे न गुण कहा जा सकता है और न सम्बन्ध, इसी कारण संख्या को भी सामान्य का एक उदाहरण माना गया है। एक, दो, तीन - सभी सामान्य हैं, जैसे प्रत्येक विशेष युगल दो का उदाहरण है।

सामान्य के सम्बन्ध में एक और तथ्य द्रष्टव्य है। सामान्य का ज्ञान विशेष के अनुभवों से भिन्न है। सामान्य का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी हर विशेष के ज्ञान के साथ सामान्य ज्ञान भी होता है। अत: इस ज्ञान को प्रागनुभविक कहा गया है।

मूल्यों का जगत्

सामान्य की एक विशेष उपजाति है मूल्य। अत: यदि सामान्य की वास्तविकता स्वीकार्य है तो मूल्यों की वास्तविकता का निषेध अयुक्त होगा। किन्तु, इस स्थल पर एक शंका की जा सकती है। हमें मूल्यों की अवगति अन्य सामान्यों के समान नहीं होती। अन्य सामान्यों की अवगति में तो इन्द्रियाँ भी सहायक होती हैं, मूल्यों के साथ ऐसा नहीं होता।

किन्तु, इस शंका के समाधान में तीन बातों पर प्रकाश डाला जा सकता है : (क) कुछ मूल्यों की अवगति में इन्द्रियाँ सहायक होती हैं, जैसे सौन्दर्यनुभूति में। (ख) यह कठिनाई या तो इस मान्यता पर आधृत है कि इन्द्रिय-अनुभव ही चेतन क्रिया का एकमात्र साधन है अथवा इस मान्यता पर कि केवल इन्द्रिय-अनुभव से ही साक्षात् ज्ञान सम्भव है। दोनों मान्यताएँ अमान्य हैं। (ग) यह कहना भी ठीक नहीं कि मूल्यों के अतिरिक्त अन्य सभी सामान्यों की अवगति में इन्द्रियाँ सहायक हैं। तार्किक सामान्य, वाक्यों के बीच सामंजस्य तथा आपादान-सम्बन्ध आदि का ज्ञान इन्द्रियों पर निर्भर नहीं करता।

अत: यह कहा जा सकता है कि मूल्यों की अवगति भी प्राय: अन्य सामान्यों की अवगति जैसी ही है। मूल्यों के उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मूल्यों के दो विशिष्ट प्रकार हैं - सद्गुण तथा सौन्दर्य। सद्गुण का अर्थ नैतिक शुभ है। नैतिक शुभ के अन्तर्गत उन भावनाओं को भी रखा जा सकता है जो नैतिक शुभ के पोषक हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में इतनी निश्चितता नहीं। सुन्दर दृश्य, गगन-चुम्बी पर्वत आदि को भी सुन्दर कहा जाता है, संगीत, काव्य, चित्र आदि को भी सुन्दर कहा जाता है तथा स्त्री-पुरूष के प्रभावशाली व्यक्तित्व को भी। यदि कहा जाय कि इन सभी उदाहरणों की समानता सौन्दर्य है तो फिर सौन्दर्य-प्रत्यय अस्पष्ट ही रह जाता है, क्योंकि ये सभी उदाहरण एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अत: लेखक सौन्दर्य के विभिन्न-रूप मान लेते हैं। इससे उन्हें कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती क्योंकि इससे निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

साधारणत: सुख को मूल्य का एक विशेष उदाहरण कहा जाता है। जिन अनुभवों से सुख-प्राप्ति हो उन्हें शुभ अथवा मूल्यवान् माना जाता है तथा दुख, कष्ट आदि उत्पन्न करने वाले अनुभवों को विमूल्य (डिस्वेल्यू) की कोटि में रखा जाता है। लेखक के अनुसार सुख के कुछ उदाहरण ही इस मत का खण्डन कर देते हैं। उनका कहना है कि 'शुद्ध सुख' तथा 'मिश्र सुख' में भेद किया जा सकता है। शुद्ध सुख नैतिक शुभ का उदाहरण नहीं, क्योंकि उसके साथ नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता : जैसे, शतरंज खेलने का सुख। इसे अपने ढंग से शुभ भी माना जा सकता है। मिश्र सुख का सम्बन्ध सुख-प्राप्ति के साधन से भी है - उन उचित-अनुचित कर्मों से भी है जिनके द्वारा सुख मिलता है। यदि वे कर्म भी उचित हैं तो वह सुख वांछनीय है, अन्यथा नहीं। अत: यहां केवल सुख मूल्य नहीं रहा, सुख-प्राप्ति के साधन का भी महत्त्व हो जाता है।

साधारणत: सत्य तथा धार्मिक मूल्य को भी आन्तर मूल्यों के अन्तर्गत रखा जाता है। किन्तु सत्य को आंतर मानने में कठिनाई प्रतीत होती हैं क्योंकि सत्य का सम्बन्ध तथ्यों से भी है। अत: सत्य को भाव तथा तथ्य की अनुरूपता के अर्थ में समझा जा सकता है। इस तदनुरूपता का ज्ञान कदाचित् साधन-मूल्य (इन्स्ट्रमेंटल वेल्यू) का उदाहरण माना जा सकता है क्योंकि इससे हमें कार्य निर्देश प्राप्त होता है। उसी प्रकार धार्मिक मूल्यों को भी आन्तर कहना उपयुक्त नहीं। धार्मिक मूल्यों के अन्तर्गत ऐसे कोई मूल्य नहीं आते जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं। उदाहरणत: धार्मिक उपासना, आराधना या वन्दना को धार्मिक मूल्य का शुद्ध उदाहरण माना जा सकता है। किन्तु, इसके विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि यह श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, भक्ति आदि का सम्मिश्रण है और ये सारी भावनाएँ मानव के साधारण जीवन में भी विशिष्ट स्थान रखती हैं। शायद यह कहा जा सकता है कि इन भावनाओं का धार्मिक रूप साधारण रूप से भिन्न तथा अधिक भावमय है। किन्तु, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि इससे धार्मिक मूल्यों की विशिष्टता सिद्ध नहीं होती।

मूल्यों के विश्लेषण के आधार पर यह दिखलाया गया है कि मूल्यों के अंगभूत तत्त्व तो प्रागनुभविक हैं किन्तु मूल्यों का ज्ञान अनुभव से ही होता है। लेखक मूल्यों को विषयिगत नहीं मानते। यदि मूल्यों को विषयिगत माना जाय तो मूल्यों का अर्थ मूल्यीकरण अथवा मूल्यन हो जाता है। किन्तु, मूल्यन मूल्यों को विषयी से सम्बन्धित करना है, स्वयं मूल्य से नहीं। पुन:, मूल्यों को विषयिगत मानने पर मूल्यों के स्वरूप का एक आवश्यक तत्त्व - उनका सामाजिक आधार - ही नष्ट हो जाता है। उस अवस्था में तो मूल्य व्यक्ति की रूचि अथवा पसन्द पर निर्भर करेंगे। इन दोषों के अतिरिक्त मूल्यों को विषयिगत मानने में एक अन्य कठिनाई है। यदि मूल्य विषयिगत है तो मूल्य का आधार व्यक्ति ही हो जाता है। उस दशा में दायित्व के भाव की व्याख्या नहीं हो सकती।

इन कठिनाइयों के समाधान की चेष्टा में एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ जिसे विषयिनिष्ठ-वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त (सब्जेक्टिव-ऑब्जेक्टिव थ्योरी) कहा जा सकता है। एक प्रकार से यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष के सापेक्षता-सिद्धान्त का एक रूप है। प्रत्यक्ष के इस सिद्धान्त के अनुसार दृश्य-वस्तु का रूप दृष्टिकोण पर आधृत है। एक ही वस्तु को यदि विभिन्न दृष्टिकोण से देखा जाय तो विभिन्न लक्षण प्राप्त होंगे। उसी प्रकार मूल्य भी दृष्टिकोण पर ही आधृत है। दृष्टिकोणों पर आधृत रहने के कारण ये विषयिगत हैं एवं अन्य दृष्टिकोणों की सम्भावना के कारण ये विषयगत हैं। किन्तु, लेखक के मत में यह सिद्धान्त भी मूल्यों को अन्तत: विषयिगत ही बना देता है। इस सिद्धान्त में भी विषयी से पृथक् मूल्यों की यथार्थता नहीं मानी गई। दृष्टिकोण बदलते रहते हैं, मूल्य दृष्टिकोण पर आधृत हैं, अत: मानना पड़ता है कि हर दृष्टिकोण के साथ मूल्य परिवर्तित होते रहेंगे। इस प्रकार का मूल्य वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता।

मूल्यों के स्वरूप के सम्बन्ध में इतने मतभेद और विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों के रहने के फलस्वरूप आधुनिक काल में कुछ ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ जिनके अनुसार मूल्यों के वैयक्तिक अथवा वस्तुनिष्ठ होने का प्रश्न ही नहीं उठता। विशेषत: इन सिद्धान्तों का उपयोग नैतिकता के विश्लेषण के संदर्भ में हुआ। ऐसे एक सिद्धान्त के अनुसार नैतिक निर्णय निर्देशात्मक हैं - यह विशेष प्रकार का कार्य या विशेष ढंग का जीवन यापन करने का निश्चय है। ऐसे ही एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार नैतिक निर्णय आवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। जिस प्रकार अनायास हँसी या उच्छवास के सत्य-असत्य होने का प्रश्न नहीं उठता उसी प्रकार इन निर्णयों के भी सत्य-असत्य होने का प्रश्न नहीं उठता। नैतिक निर्णय ज्ञानात्मक कथन नहीं, आवेगात्मक उक्तियाँ हैं।

यदि नैतिक वाक्यों को निर्देशात्मक माना जाय तो प्रश्न होता है, निर्देश देने वाला कौन है ? यह भी पूछा जा सकता है कि इसे निर्देश क्यों माना जाय, क्या मजबूरी या कौन सा दायित्व-भाव इस निर्देश को पवित्रता दे देता है ? इस मत के समर्थकों के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। उसी प्रकार नैतिक निर्णय को आवेगात्मक उक्तियाँ कहने में भी कठिनाई है। हर आवेगात्मक अभिव्यक्ति का आधार कोई पूर्वमान्यता अथवा विश्वास होता है। उसी मान्यता या विश्वास को छोड़ने पर भावनाएं जागती हैं। उसी प्रकार मूल्यों के पूर्व ज्ञान पर ही मूल्य सम्बन्धी भावनात्मक अभिव्यक्तियां होती हैं।

इन सभी सिद्धान्तों की विवेचना एवं परीक्षा करते हुए लेखक वस्तुनिष्ठ मूल्यों की यथार्थता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सामान्य को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है - मूल्य, विमूल्य तथा तटस्थ सामान्य (वेल्यू, डिस्वेल्यू एण्ड न्यूट्रेल यूनीवर्सल)। सामान्य वस्तुनिष्ठ है, अर्थात् इन तीनों की वस्तुनिष्ठता भी सिद्ध है। लेखक के अनुसार विश्व इन तीनों मण्डलों का सम्मिश्रण है, इसी कारण विश्व की प्रवृत्ति मूल्यात्मक प्रतीत होती है।

विश्व का मूल्यात्मक अभिविन्यास

यदि मूल्य मन की कल्पना नहीं और यदि वे विषयगत हैं तो विश्व में आत्म की वास्तविकता के साथ मूल्यों की वास्तविकता भी स्वीकारनी होगी। लेखक के मत में आत्म का मूल्यों के साथ कर्त्तृत्त्व-सम्बन्ध है और स्पष्टत: यह सम्बन्ध आन्तरिक है। विश्व का स्वरूप इसी सम्बन्ध के द्वारा निर्धारित होता है। मूल्यहीन विश्व की कल्पना विश्व को तटस्थ नहीं, अर्थहीन बना देती है। यही कारण है कि विश्व शुभ-अशुभ दोनों हो सकता है, विश्व में मूल्य एवं विमूल्य के अनुरूप शुभ-अशुभ दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। मूल्य आकर्षित करते हैं, विमूल्य विकर्षित करते हैं, और इन्हीं सम्बन्धों के अनुरूप विश्व के स्वरूप को समझा जा सकता है।

तो क्या विश्व को मूल्यात्मक कहने का अर्थ है कि विश्व में मूल्य है ? क्या ऐसा कथन किया जा सकता है ? मूल्य तो विश्व के घटक तत्त्वों से सम्बन्धित है - आत्म से अथवा अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित है। क्या सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है ? मैक्टेगार्ट के अनुसार यह कहना उतना ही अयुक्त है जितना यह कहना कि "सारा शहर पियक्कड़ है"। यदि यह ठीक भी हो कि शहर के अधिकांश लोग शराब के नशे में डूबे रहें तो भी क्या सम्पूर्ण शहर को पियक्कड़ कहा जा सकता है ? उसी प्रकार जब मूल्यों का सम्बन्ध मनुष्यों से है तो सम्पूर्ण विश्व को मूल्यात्मक कहना ठीक नहीं। मैक्टेगार्ट के इस विचार के पीछे एक अन्य विचार भी है। उनके मत में मूल्यों का प्रश्न चेतन जीव के सम्बन्धों के साथ ही उठता है, अत: विश्व, जिसमें अचेतन तत्त्व भी हैं, मूल्य-रूप नहीं हो सकता।

लेखक मैक्टेगार्ट के इस मत से सहमत नहीं। उनके अनुसार मूल्य विषयगत हैं और वे वस्तुओं में भी रह सकते हैं। उदाहरणत: सौन्दर्य, संगठन, व्यवस्था आदि की पहचान भी मूल्य की पहचान है। विश्व इन्हीं मूल्यों का संगठन है। विश्व के सभी विशेषों में भी आन्तरिक सम्बन्ध है, जिसकी अवगति साक्षात् या परोक्ष ढंग से हो सकती है। लेखक के मत में विश्व की व्यवस्था का विश्लेषण आत्म, मूल्य तथा अमूल्य में हो सकता है। इस प्रकार विश्व का स्वरूप बौद्धिक भी है और मूल्यात्मक भी। इस निष्कर्ष की पुष्टि एक अन्य ढंग से भी हो जाती है। चेतन जीव की सीमाएं अथवा अचेतन तत्त्वों का सीमित रूप - ये सभी विश्व की कमी या सीमा के रूप में समझे जा सकते हैं। इसी कारण तो सृष्टि की प्रक्रिया के लक्ष्य अथवा आत्म के चरम आदर्श की बात की जाती है। इसी कारण यह विश्वास उत्पन्न होता है कि हमारा साधारण जीवन हमारे अस्तित्व तथा जीवन का आदर्श नहीं बल्कि जीवन का आदर्श सर्वोच्च मूल्य है।

अन्य मन का ज्ञान

लेखक के मत में अन्य मन के ज्ञान की समस्या भौतिक पदार्थों के ज्ञान की समस्या से भिन्न है। भौतिक पदार्थों के अस्तित्व पर ही शंका की जाती है, अन्य मन के साथ ऐसी बात नहीं है। अन्य मन के अस्तित्व को स्वीकारने में प्रत्ययवादी दर्शन को भी झिझक नहीं। यहां मूल समस्या है - अन्य मन का ज्ञान कैसे होता है ? क्या अन्य मन की साक्षात् अनुभूति होती है ? क्या यह ज्ञान अनुमानजन्य है ?

सामान्यत: लोकसाधारण बुद्धि (कामन-सेंस) यह मान लेती है कि हमें भौतिक पदार्थों तथा अन्य मन की अवगति साक्षात् ज्ञान के रूप में होती है। हमें अन्य मन का एवं उसके व्यवहारों का अनुभव होता है। किन्तु, लोकसाधारण बुद्धि के इस विश्वास को दार्शनिक मान्यता देने में कठिनाई है। भ्रान्ति या भ्रम की व्याख्या लोकसाधारण बुद्धि के समर्थकों के पास नहीं। उसी प्रकार हमें अन्य मन के चिन्तन या विचारों की साक्षात् अनुभूति नहीं होती क्योंकि हर मन का चिन्तन उसके वैयक्तिक जगत् का व्यापार है। इस प्रकार दार्शनिक समस्या उठ खड़ी होती है - यदि लोक साधारण बुद्धि की बातें मान्य नहीं तो अन्य मन का ज्ञान होता कैसे है ?

लेखक के मत में यह ज्ञान अनुमानजन्य ही है। किन्तु इस निष्कर्ष की स्थापना में एक कठिनाई है। कुछ विचारक अनुमान की क्रिया या अन्य किसी शुद्ध बौद्धिक प्रणाली को उतना महत्त्व नहीं देते, क्योंकि उनके अनुसार इन विधियों से बहुधा गलत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अत: उनका कहना है कि अन्य मन का ज्ञान एक प्रकार की आन्तर अनुभूति है। आंतर-प्रत्यक्ष (इन्ट्यूशन) दोषाक्षम होता है, भौतिक विधियों के समान दोषक्षम नहीं। किन्तु लेखक के मत में आंतर प्रत्यक्ष का सिद्धान्त समस्या को सुलझाने के स्थान पर उलझनों को और बढ़ा देता है। इसके समर्थकों से कई प्रश्न पूछे जा सकते हैं - इस निष्कर्ष का आधार क्या है ? कौन से उदाहरण अन्य मन की आंतर अनुभूति के लिए दिये जा सकते हैं ? आंतर-प्रत्यक्ष में अन्य मन किस रूप में जाना जाता है - निरवयवी या अवयवी रूप में ? स्पष्ट है, इन प्रश्नों का उत्तर सम्भव नहीं। अत: आंतर-प्रत्यक्ष सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी जा सकती। कुछ अन्य विचारकों का कहना है कि हमें मन के अस्तित्व का तो साक्षात् ज्ञान हो जाता है, मन के रूप अथवा व्यापार अथवा मन की क्रियाओं का साक्षात् ज्ञान नहीं हाता। लेखक को यह भी अयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि अपने स्वरूप, व्यापार, क्रियाओं आदि से पृथक् मन का अस्तित्व ही नहीं है।

सच पूछा जाय तो हमें अन्य मन की साक्षात् अनुभूति नहीं होती, बल्कि कुछ रूप, व्यापार व्यवहार आदि की अनुभूति होती है। हम कुछ मुद्राओं तथा व्यवहारों को देखते हैं और उसके आधार पर 'अन्य मन' का अनुमान करते हैं। अत: अन्य मन का ज्ञान अनुमानजन्य ही है। इस अनुमान का आधार अन्य मन की क्रियाओं की अभिव्यक्तियां हैं जिनका हमें साक्षात् अनुभव होता है।

बाह्य जगत् का ज्ञान

साधारणत: बाह्य जगत् के ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष को माना जाता है। प्रत्यक्ष का साधारण अर्थ ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष से सम्बन्धित समस्याएँ सदा से दार्शनिक विचार का ध्यान आकर्षित करती रही हैं। फलत: इन समस्याओं के विवेचन के बिना बाह्य जगत् के ज्ञान की समस्या का समाधान भी सम्भव नहीं। इनमें कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं - क्या हम वस्तु के वास्तविक रूप का प्रत्यक्ष करते हैं ? यदि हां तो भ्रम क्यों होता है, यदि नहीं तो प्रत्यक्ष से क्या ज्ञात होता है ? कैसे किसी भाग या अंश को देखकर उसके पूर्ण रूप का ज्ञान हो जाता है ? क्या प्रत्यक्ष में केवल गुणों या लक्षणों का ज्ञान होता है या उन गुणों के आधार-तत्त्व का भी ? प्रत्यक्ष तथा संवेदन में क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि।

यह तो माना जा सकता है कि प्रत्यक्ष अथवा संवेदन में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण प्रत्यक्ष-ज्ञान साक्षात् तथा तात्कालिक होता है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान ही साक्षात् ज्ञान है और अन्य सभी ज्ञान परोक्ष। साक्षात् एवं परोक्ष ज्ञान का अन्तर एक अर्थ में अस्पष्ट ही है, क्योंकि इस अन्तर का एक आधार काल भी है। इसी कारण कुछ प्रत्ययवादी इन्द्रियानुभूति को भी पूर्णतया साक्षात् नहीं मानते। उसके अनुसार इन्द्रियानुभूति से वस्तुज्ञान की उपलब्धि के बीच मानसिक निर्णय की विधि कार्य करती है। निर्णय अनुमान नहीं, वह इन्द्रियानुभूति को व्यवस्थित करता है। यदि यह ठीक है तो प्रश्न होगा कि क्या प्रत्यक्ष एवं निर्णय के संयोग से बाह्य जगत् का ज्ञान होता है ? बाह्य जगत् के ज्ञान के सम्बन्ध में इस प्रश्न को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। फलत: पाश्चात्य दर्शन की परम्परा में इस प्रश्न के अनेक उत्तर हैं। उनकी विवेचना के आधार पर ही कुछ नूतन निष्कर्ष स्थापित किये जा सकते हैं।

लोकबुद्धिपरक वास्तववाद

इस सिद्धान्त के अनुसार बाह्य जगत् अथवा भौतिक पदार्थों का ज्ञान किसी अनुमान से प्राप्त नहीं होता, साक्षात् अनुभूति से प्राप्त होता है। साधारणत: इस निष्कर्ष पर संशय नहीं होता। इसके अनुसार वस्तु के प्रत्यक्ष के पहले कोई अन्य प्रदत्त नहीं होता, हम वस्तु का उसके वास्तविक रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। इस सिद्धान्त का खण्डन प्रत्यक्ष की विभिन्न विसंगतियों के द्वारा ही हो जाता है। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न दर्शकों को भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देती है तथा एक ही दर्शक को विभिन्न समयों में भिन्न दिखाई देती है। उसी प्रकार भ्रम अथवा भ्रान्ति भी प्रत्यक्ष की विसंगति है। यदि प्रत्यक्ष से वस्तु के वास्तविक रूप का ज्ञान होता तो प्रत्यक्ष में विसंगतियों का प्रश्न नहीं होता।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक और आपत्ति उठाई जाती है। यदि हम प्रत्यक्ष से वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान पाते हैं और उन्हें उसी रूपी में जानते हैं जिस रूप में वे हैं, तो इसका अर्थ है कि इन्द्रिय-संवेदना से लेकर अवगति तक जो क्रियाएं हुई उनका कोई प्रभाव वस्तु के ज्ञान पर नहीं पड़ा। तो, इन क्रियाओं की सार्थकता क्या है ? एक अन्य कठिनाई भी है। बहुधा हमें प्रत्यक्ष होता है वस्तु के किसी भाग का और हमें अवगति होती है सम्पूर्ण वस्तु की। यदि लोकबुद्धिपरक वास्तववाद सही है तो ऐसे उदाहरणों में हमें केवल उस भाग की अवगति होनी चाहिये जिसका प्रत्यक्ष हुआ है, पूर्ण वस्तु की नहीं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि लोकबुद्धिपरक वास्तववाद के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की समस्या सुलझ नहीं सकती।

साक्षात् वास्तववाद के संशोधित रूप

लोकबुद्धिपरक वास्तववाद के दोषों को ध्यान में रखते हुए वास्तववादी दार्शनिकों ने वास्तववाद का संशोधन किया। एक संशोधन प्रत्यक्ष के क्षेत्र में प्रतीति एवं सत्ता के अन्तर के आधार पर किया गया। रसेल ने कुछ इसी प्रकार का मत दिया है। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो वह दिखाई देती है विशेष रूप में। इस प्रकार वस्तु को विशेष नहीं कहा जा सकता, उसे विशेष जाति कह सकते हैं, जो भिन्न-भिन्न दर्शकों को विभिन्न तथा विशेष रूपों में दिखाई देती है। इस सिद्धान्त में वस्तु तथा उसकी प्रतीति दोनों की वस्तुनिष्ठता अथवा वास्तविकता मानी गई है। किन्तु इस मत में कुछ तार्किक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं। प्रथमत: यदि हमें प्रतीति का प्रत्यक्ष होता है तो वस्तु की सत्ता स्वीकार करने का आधार नहीं रहता। पुन:, इस मत के अनुसार वस्तु को 'प्रतीतियों का संघात' मानना पड़ेगा, किन्तु तब वस्तु के वस्तु-रूप का निषेध हो जायगा। और, प्रत्यक्ष के कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जिनकी व्याख्या इस मत के द्वारा नहीं हो सकती, जैसे बम के फटने का प्रत्यक्ष, तारे के टूटने का प्रत्यक्ष आदि।

इस मत के दोषों की जड़ में बस इतनी ही बात है कि यह अपनी व्याख्या में 'मन' का कोई स्थान देना नहीं चाहता- शायद इस डर से कि 'मन' को महत्त्व देने से वास्तववाद का महत्त्व कम हो जाएगा। कुछ वास्तववादी 'मन' के प्रति इतने अनुदार नहीं है। अत: वास्तववाद के दो अन्य रूप भी मिलते हैं जिन्हें बहुविध न्यस्तता सिद्धान्त (थ्योरी ऑफ मल्टीपल इन्टीयरेन्स) तथा प्रतीति का बहुविध सम्बन्ध सिद्धान्त (मल्टीपल रिलेशन थ्यारी ऑफ अपीयरिंग) कहा जा सकता है।

बहुविध न्यस्तता-सिद्धान्त एक प्रकार से वस्तुनिष्ठ सापेक्षता सिद्धान्त ही है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष में द्वयात्मक सम्बन्ध नहीं त्रयात्मक सम्बन्ध है। अत: यह कहना उपयुक्त नहीं कि 'क लाल है', बल्कि यह कहना ठीक है कि 'अमुक दृष्टि से क लाल है'। तब यह है कि एक दृष्टिकोण से प्राप्त प्रत्यक्ष-ज्ञान की यथार्थता बस उसी दृष्टिकोण से है। इस मत के सम्बन्ध में कहा जा सकता कि एक दोष से बचने की चेष्टा में यह अन्य उलझनों में उलझ जाता है। यदि प्रत्यक्ष की यथार्थता दृष्टिकोणों पर निर्भर करती है तो फिर वस्तु क्या है अथवा वस्तु-रूप के ज्ञान का आधार क्या है ? क्या दृष्टिकोणों की संसृष्टि है ? यदि 'हां' कहा जाय तो वास्तववाद नष्ट हो जाता है और वस्तु का ज्ञान विषर्भिगत हो जाता है।

इस सिद्धान्त का परिवर्तित रूप प्रतीति का बहुविध सम्बन्ध सिद्धान्त है। इसके अनुसार भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु की प्रतीति भिन्न होती है, किन्तु इसके अनुसार किसी एक विशिष्ट दृष्टिकोण से वस्तु के वास्तविक रूप का प्रत्यक्ष होता है। एक सिक्का भिन्न-भिन्न दूरियों पर भिन्न आकार का दिखाई देता है किन्तु किसी विशेष दृष्टिकोण से उसके वास्तविक आकार-उसकी गोलाई-का भी प्रत्यक्ष होता है। इस सिद्धान्त के विरूद्ध इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह किसी विशेष दृष्टिकोण को अकारण ही आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देता है और यह स्पष्ट नहीं कर पाता कि क्यों किसी विशेष दृष्टिकोण से प्राप्त ज्ञान को वास्तविक मान लिया जाय।

ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद

लेखक के मत में ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद प्रत्यक्ष का प्रतिनिधित्ववादी सिद्धान्त ही है जिसे कभी-कभी संवेदपरक सिद्धान्त (सेंसम थ्योरी) भी कहा जाता है। इस मत के विरोधी इस सिद्धान्त को प्रत्ययवाद का समर्थक मानते हैं, किन्तु लेखक के अनुसार यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष-सम्बन्धी समस्याओं की बौद्धिक विवेचना पर आधृत है। इसके अनुसार भौतिक पदार्थों की सत्ता है, किन्तु उनकी साक्षात् अनुभूति नहीं होती। साक्षात् अनुभूति होती है संवेद-प्रदत्त (सेंस-डाटा) की, जैसे लाल, चौकोर आदि।

इस सिद्धान्त का एक गुण तो यह है कि यह भ्रम की व्याख्या सुगमता से कर देता है। जब मैं पानी में एक छड़ी देखता हूँ तो मुझे सीधी छड़ी की साक्षात् अनुभूति नहीं होती, मुड़ी छड़ी की होती है। अब इस सिद्धान्त के समर्थकों से पूछा जा सकता है कि छड़ी सीधी है - इस ज्ञान का क्या आधार है। सच पूछा जाय तो इस सिद्धान्त के विरूद्ध आपत्ति ही यही उठायी जाती है कि यह भ्रम की व्याख्या तो कर देता है, भौतिक विषय के ज्ञान की व्याख्या नहीं कर पाता। यदि प्रत्यक्ष से हमें इन्द्रिय-प्रदत्त का ज्ञान होता है तो भौतिक वस्तु का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का समाधान किया गया है। इस मत के समर्थकों का कहना है कि इन्द्रिय -प्रदत्त के साक्षात् ज्ञान के आधार पर भौतिक पदार्थों का अनुमान नहीं किया जाता। सच पूछा जाय तो भौतिक पदार्थों के अस्तित्व में तो हमारा सहज विश्वास है। हमारी सम्पूर्ण प्रत्यक्ष-प्रक्रिया (प्रदत्त का प्रत्यक्ष भी) उसी सहज विश्वास पर आधृत है। अनुमान की सहायता इस विश्वास के औचित्य-समर्थन के लिए ली जाती है।

अब, पूछा जा सकता है कि इस सहज विश्वास का आधार क्या है ? यदि साक्षात् या अनुमान-जन्य कोई ज्ञान इस विश्वास का आधार नहीं तो यह विश्वास उत्पन्न कैसे होता है ? लेखक के मत में इस कठिनाई के समाधान की चेष्टा में ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद का सिद्धान्त परिवर्तित हो जाता है। या तो इसे पूर्णतया प्रत्ययवाद की ओर झुकना पड़ता है, अथवा डॉ. इविंग के समान, आंतर-प्रत्यक्ष की बात कर बीच का रास्ता अपनाना पड़ता है। यदि संवेद-प्रदत्त को पूर्णतया मन पर निर्भर मान लिया जाय तो भौतिक विषयों के अस्तित्व पर विश्वास की प्रत्ययवादी व्याख्या मिल सकती है। कहा जा सकता है कि भौतिक पदार्थ मन की प्रतिमाओं (इमेजिज) के द्वारा निर्मित भाव ही हैं और यही आधार है उनके अस्तित्व में विश्वास का। दूसरा मार्ग आंतर-प्रत्यक्ष का है। कहा जा सकता है कि भौतिक पदार्थों के अस्तित्व का ज्ञान हमें आंतर-प्रत्यक्ष से होता है, प्रत्यक्ष इस विश्वास की युक्तता अथवा तर्कसंगतता स्थापित कर देता है। किन्तु, इनमें से किसी मार्ग को अपनाने का अर्थ है कि ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद का अपनी सीमा के परे चले जाना।

इस प्रकार लेखक भौतिक पदार्थ के ज्ञान की समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं देते, केवल सभी सम्भावनाओं को प्रकाश में ला देते हैं।

संवेद-प्रदत्त तथा सामान्य

कुछ समीक्षात्मक वास्तववादी संवेद-प्रदत्त को भी सामान्य के रूप में समझने की चेष्टा करते हैं। ये प्रदत्त के विशेष रूप का निषेध नहीं करते, यह भी मानते हैं कि प्रदत्त-विशेष में उसके कुछ लक्षण निहित हैं। पर वे यह भी मानते हैं कि प्रदत्त में सामान्य-बोध भी है, और ये सामान्य प्रदत्त में समाविष्ट गुण नहीं हैं। उनके अनुसार इन सामान्यों को मान कर भ्रम की सुगम व्याख्या की जा सकती है। बहुविध न्यस्तता-सिद्धान्त से भी इस बात की पुष्टि होती है। कहा जा सकता है कि एक दृष्टि से वस्तु की एक प्रतीति होती है, उस दृष्टि से वही प्रतीति वास्तविक है, अन्य प्रतीतियां भ्रामक हैं। बहुविध न्यस्तता-सिद्धान्त की इस व्याख्या में त्रयात्मक सम्बन्ध की पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाती। यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि प्रदत्त तथा विषयी एवं प्रदत्त तथा वस्तु में किस प्रकार का सम्बन्ध है। अत: लेखक पुन: साक्षात् वास्तववाद, इन्द्रियपरक सिद्धान्त आदि की विवेचना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कम से कम भ्रम की व्याख्या के लिए प्रदत्त का सामान्य-रूप स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। यदि प्रदत्त विशेष है तो वह जिस दृष्टि से प्रदत्त है उस दृष्टि से वास्तविक है। अत: इस दृष्टि से भ्रम की व्याख्या असम्भव हो जाती है। किन्तु यदि हम यह मानें कि साक्षात् प्रत्यक्ष में प्रदत्त के साथ कुछ ऐसे सामान्य का प्रत्यक्ष भी होता है जो प्रदत्त में समाविष्ट लक्षण नहीं, तो भ्रम की व्याख्या का एक साधन मिल जाता है और फिर प्रदत्त-विशेषों की समानता अथवा भिन्नता भी सामान्य ही है। अत: इन्द्रिय-प्रदत्त की व्याख्या में सामान्य के लिए स्थान निकल जाता है।

***

13

धर्म-दर्शन - 2

बसन्त कुमार लाल

अब प्राय: यह स्पष्ट हो चला है कि पैटर्सन का उद्देश्य यह दिखलाना है कि विश्व का स्वरूप व्यवस्थित, संगठित तथा मूल्यात्मक है। उनका ध्येय एक प्रकार के मूल्यमीमांसात्मक आदर्शवाद (एग्ज़िओलीजीकल आइडिअलिज़्म) की स्थापना है। ऐसी उनकी स्वीकारोक्ति भी है। इसी कारण उनका विचार आत्म, मूल्य, सामान्य आदि की यथार्थता को स्वीकार कर ही अग्रसर होता है। मूल्यात्मक आदर्शवाद की मान्यता के रूप में उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि विश्व काल-क्रम में एक विशिष्ट आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है। अत: सर्वप्रथम काल की समस्या भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

काल की समस्या

काल की समस्या का दार्शनिक विवेचन केवल काल के स्वरूप पर ही विचार नहीं करता बल्कि काल की यथार्थता के सम्बन्ध में भी प्रश्न करता है। क्या काल प्रतीति-मात्र है ? यदि हाँ तो यह किसकी प्रतीति है ? सत्ता तथा काल में क्या सम्बन्ध है ? और यदि काल को वास्तविक माना जाय तो प्रश्न होता है कि क्या सब कुछ 'काल' में ही है ? कालातीत भी कुछ है क्या ? काल की अवधि का क्या अर्थ है ? क्या भूत, वर्तमान, भविष्यत् सभी वास्तविक हैं ? इन प्रश्नों की विविधता काल की समस्या की जटिलता सिद्ध करती है।

इस समस्या की विवेचना रसेल के मत की विवेचना से आरम्भ होती है। रसेल के अनुसार, काल का साधारण बोध भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि यह प्रस्तावना ही भ्रान्तिपूर्ण अवधारणा पर आधृत है। इस भाव का मूल प्रस्तावना के उद्देश्य-विधेय रूप में है। प्राचीन तर्कशास्त्रीय दृष्टि से उद्देश्य तथा विधेय में भिन्नता तथा समानता दोनों रहती हैं, अत: माना जाता है कि हर वस्तु भिन्न-भिन्न काल में भिन्न होते हुए भी वस्तुत: एक ही है। एक वस्तु में अनेक गुणों का आरोपण होता है, हर ऐसे आरोपण के फलस्वरूप वस्तु भिन्न प्रतीत होती है। फिर भी उसका उद्देश्य-रूप भिन्न नहीं होता, वह एक दृष्टि से एक ही वस्तु है जिसमें भिन्न-भिन्न गुणों का आरोपण होता है। अत: उसकी आत्म-अभिन्नता बनी रहती है।

रसेल के अनुसार यह विचार अयुक्त है। उनके अनुसार 'विधेय' सम्बन्धों पर आधृत हैं। हर 'विषय' का सम्बन्ध काल के भिन्न-भिन्न क्षणों से होता है तथा हर ऐसे सम्बन्ध एक-दूसरे से भिन्न ही होते हैं। अत: यह कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि जो वस्तु सदा काल में परिवर्तित होती रहे उसकी भी आत्म-अभिन्नता मूलत: बनी ही रहे। उदाहरणत: यदि आरे का लोहा किसी सोमवार को गर्म हो जाता है, तो यह लोहे के साथ किसी विशेष काल में घटित घटना है। यह भी ठीक है कि यह घटना

परिवर्तित नहीं होती, किन्तु, इस घटना से लोहा तो परिवर्तित होता ही है। एक काल है जिसमें लोहे के साथ यह घटना घटी और एक काल ऐसा भी है जब लोहे के साथ यह घटना नहीं घटती। दोनों कालों में लोहा भिन्न है, अत: लोहे की आत्म-अभिन्नता बने रहने का प्रश्न नहीं उठता।

मैक्टेगार्ट रसेल के इस मत में दोष दिखलाते हैं। उनके अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में यह कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि गर्म होने की घटना के फलस्वरूप लोहा अपनी पूर्व स्थिति से भिन्न हो गया। सच पूछा जाय तो लोहे का किसी सोमवार को गर्म हो जाना, तथा किसी दिन गर्म नहीं होना - दोनों उस लोहे के ही गुण हैं। लोहे के सम्बन्ध में यदि कहा जाय कि 'वही लोहा सोमवार के दिन गर्म था तथा अमुक दिन गर्म नहीं था' तो इस उक्ति में कोई विसंगति नहीं है। अत: मैक्टेगार्ट के मत में रसेल का यह कहना कि परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु भिन्न हो जाती है, उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उनके मत में परिवर्तन एक घटना है, जो वस्तु की अपरिवर्तनशील स्थितियों तथा गुणों को प्रभावित नहीं करती।

रसेल की आलोचना करते हुए मैक्टेगार्ट काल-सम्बन्धी अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार, 'काल' के भाव में 'पहले' तथा 'बाद में' का भाव अन्तर्निहित है। फिर भी, उनका कहना है कि भूत, वर्तमान, भविष्यत् के भाव स्थायी या स्थिर भाव नहीं हैं। वर्तमान भूत हो सकता है और भविष्यात् वर्तमान हो सकता है। यह तो साधारण अनुभव की बात है कि भविष्यत् हमारी ओर आता रहता है तथा भूत हमसे पीछे खिसकता रहता है। इस साधारण अनुभव के सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर तो काल वास्तविक नहीं प्रतीति मात्र ही प्रतीत होता है। मैक्टेगार्ट इस विचार का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार काल की कल्पना भी भूत, वर्तमान, भविष्यत् के भाव के बिना सम्भव नहीं, तथा उस दृष्टि से काल का कोई वास्तविक 'क्षण' नहीं। यदि हम वर्तमान को पकड़ने की चेष्टा करें तो हर ऐसी चेष्टा के क्रम में ही वर्तमान भूत होता जायगा। अत: काल को वास्तविक नहीं माना जा सकता।

मैक्टेगार्ट के इस मत में पैटर्सन को एक दोष दिखाई देता है। उनका कहना है कि मैक्टेगार्ट के द्वारा दी गई इस व्याख्या के आधार पर साधारण अनुभवों को भी समझना असम्भव हो जायगा। उदाहरणत: 'परिवर्तन' के अनुभव को ही लें। यदि काल को वास्तविक न मानें तो परिवर्तन की क्या व्याख्या होगी ? काल को अवास्तविक मानने से तो किसी घटना की व्याख्या कठिन हो जायगी। उदाहरणत:, मैं कमरे में जाता हूँ, वहाँ कुछ क्षण ठहरता हूँ, फिर बाहर चला जाता हूँ। इस पूरी घटना की व्याख्या काल-क्रम की वास्तविकता को स्वीकार करने पर ही सम्भव है। मैक्टेगार्ट इस स्पष्ट तथ्य की उपेक्षा करते हैं, अत: पैटर्सन उनके मत को मान्यता नहीं देते। सी.डी. ब्रॉड ने भी मैक्टेगार्ट के विचार के इस स्पष्ट दोष को दूर करने की चेष्टा की है। इस चेष्टा में वे भूत तथा वर्तमान को तो महत्त्व देते हैं, किन्तु भविष्यत् की यथार्थता को अस्वीकार कर देते हैं। ब्रॉड का विश्वास है कि उनकी व्याख्या परिवर्तन की व्याख्या की समस्या भी सहजता से सुलझा देती है। उनके अनुसार ''काल क्षणिक वर्तमान है जो सदा-सतत भूत में तिरोहित हो रहा है।'' भविष्यत् की यथार्थता को वे अस्वीकार करते हैं क्योंकि उसे स्वीकारने का कोई आधार हमारे पास नहीं है। घटनाएँ वर्तमान में घटती हैं, जो घट जाती हैं वे भूत के गर्त में चली जाती है। अत: भविष्यत् सम्बन्धी हमारी कोई उक्ति न तो सत्य है और न उन्हें असत्य ही कहा जा सकता है। अत: ऐसी सभी उक्तियाँ अर्थहीन हैं।

मैक्टेगार्ट ने ब्रॉड के इस मत का खण्डन किया है तथा कुछ अर्थों में इस खण्डन से लेखक की भी सहमति है। प्रथमत: उनके अनुसार भविष्य-सम्बन्धी वाक्यों को निरर्थक कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह अनुभव-सिद्ध है कि ऐसे वाक्य सत्य भी होते हैं तथा कभी-कभी असत्य भी। उनके सत्य-असत्य होने की सम्भावना उन वाक्यों की अर्थपूर्णता सिद्ध करती है। पुन: यह भी सत्य है कि कभी-कभी

भविष्यत्, भूत तथा वर्तमान को प्रभावित करते ही हैं। किन्तु, पैटर्सन के मत में ब्रॉड के विचारों का स्पष्ट खण्डन उनके विचारों में निहित आत्म-विरोध को दिखाता है। वे भविष्यत् की यथार्थता को अस्वीकार करते हैं किन्तु यदि ऐसा किया जाय तो भूत को स्वीकारना भी असंगत हो जाता है। जिस अदृश्यता अथवा अनिश्चयता के आधार पर भविष्यत् की यथार्थता अस्वीकार की जाती है उसी आधार पर भूत को भी अस्वीकार करना पड़ेगा। उस दशा में केवल वर्तमान को भी यथार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि निश्चित वर्तमान का निर्धारण भी असम्भव है।

अत:, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि काल का सम्बन्ध किसी घटना के घटित होने से है। हर घटना किसी पदार्थ अथवा वस्तु को एक विशेष स्थिति प्रदान करती है। यह स्थिति कभी भी पूर्णत: नष्ट नहीं होती। ऐसी ही स्थितियों का क्रम उस वस्तु का इतिहास है। अत: हर वस्तु में जो घटित होता है वह वह उस वस्तु के इतिहास का एक अंग है। काल इसी इतिहास का दूसरा नाम है। इस इतिहास की प्रमुख तथा स्पष्ट प्रस्तुति वर्तमान है। वर्तमान का निश्चित निर्देश नहीं किया जा सकता क्योंकि यह काल की निकटतम प्रस्तुति है। प्रत्यक्ष वस्तु को आँखों से बिल्कुल सटा लेने पर वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार वर्तमान का निश्चित निर्धारण सम्भव नहीं। इसी कारण काल के भाव में वर्तमान के साथ भूत तथा भविष्यत् भी जुट जाते हैं।

मानव का भाग्य

यदि काल की सम्भावना वस्तुओं के इतिहास का निरूपण करती है तो काल-क्रम में वस्तुओं की अन्तिम चरम-स्थिति का प्रश्न उठ खड़ा होता है। यदि इस प्रश्न को मानव-इतिहास के संदर्भ में उठाया जाय तो स्पष्टत: दर्शन की एक प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण समस्या उपस्थित हो जाती है - मानव का चरम भाग्य क्या है ?

सभी धर्मों में यह समस्या उठी है तथा प्राय: हर धर्म इस समस्या के समाधान में कल्पना को पूर्ण छूट दे देता है। सर्वप्रचलित धार्मिक मत के अनुसार मनुष्य का भाग्य भी ईश्वर की इच्छा पर ही निर्भर करता है। किन्तु, ऐसे सभी मत प्राय: श्रुतियों पर आधृत हैं तथा विश्वास के बल पर खड़े हैं। श्रुतियों को जो मान्यता दी गई है पैटर्सन उसका खण्डन नहीं करते, किन्तु वे इस विषय पर स्वतंत्र रूप से विचार करने के पक्ष में हैं। यह ठीक है कि रहस्यात्मक अनुभव की प्रामाणिकता स्वीकार करने पर यह स्वीकारा जा सकता है कि विश्व का कोई चरम लक्ष्य है जिस ओर सृष्टि अग्रसर हो रही है। ऐसे अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि मनुष्य का अन्तिम भाग्य उस लक्ष्य की प्राप्ति है। ऐसी अनुभूतियों के प्रति पैटर्सन तटस्थ दृष्टिकोण ही रखते हैं, किन्तु कहते हैं कि बहुत से धर्म भी रहस्यात्मक अनुभव के आधार पर मानव के चरम-भाग्य की रूपरेखा खींचने में हिचकते हैं। अत: इस विषय पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए कुछ प्रचलित मतों की परीक्षा अनिवार्य है।

भारतीय दर्शन में मनुष्य का चरम लक्ष्य एक विशिष्ट अवस्था है जो प्राप्य है तथा जो जीवन और आवागमन की परिणति भी है। सभी भारतीय दर्शन अपने-अपने ढंग से उस अवस्था की कल्पना करते हैं, किन्तु यह सभी मानते हैं कि इस अवस्था की प्राप्ति में जन्म-मरण तथा दु:ख से मुक्ति मिल जाती है। कुछ भारतीय दार्शनिक इस अवस्था को शान्ति तथा आनन्द की अवस्था भी बताते हैं। प्लेटो के दर्शन में भी आत्मा का चरम लक्ष्य एक ऐसे शुद्ध भाव-जगत् को बताया गया है जिसकी प्राप्ति आत्मा के वास्तविक स्परूप तथा शुद्धबौद्धिकता की प्राप्ति है।

इन सभी मतों का विश्लेषण कम से कम इतना तो स्पष्ट कर देता है कि ये सभी मूल्यात्मक आदर्श की बात करते हैं। जिन मूल्यों को जीवन में श्रेष्ठ समझा जाता है - (जैसे, शान्ति, आनन्द

बौद्धिकता आदि) उन्हें ही आदर्श रूप देकर जीवन का लक्ष्य तथा मानव का अन्तिम भाग्य बना दिया गया है। अत: पैटर्सन के लिए मानव के भाग्य के सम्बन्ध में ऐसा निष्कर्ष देना सरल हो जाता है जो उनके मूल्यात्मक आदर्शवाद के अनुरूप हो। मानव के भाग्य-सम्बन्धी हर विचार को आत्म की यथार्थता एवं वास्तविकता स्वीकार करना ही है। पैटर्सन भी इसे मान लेते हैं। वे यह भी कहते हैं कि आत्म के सम्बन्ध में मूल्य, अमूल्य तथा विमूल्य की यथार्थता भी स्वीकारना अनिवार्य है। उनकी तीसरी मान्यता है कि आत्म अन्य पदार्थों से कारण-रूप में सम्बन्धित है। उनकी एक और मान्यता है कि आत्म तथा मूल्य-विमूल्य के सम्बन्ध का आधार एक आन्तरिक उत्तरदायित्व है। इसी दायित्व-बोध के कारण चरम-भाग्य का स्वरूप मूल्यात्मक हो जाता है।

अत: मनुष्य के भाग्य के सम्बन्ध में पैटर्सन के निष्कर्ष की रूपरेखा निम्नलिखित ढंगों से खींची जा सकती है -

(1) प्रथमत: उन्हें यह स्वीकार्य है कि आत्म एक मौलिक सत्ता है, क्योंकि इसे माने बिना मानव-भाग्य का प्रश्न निरर्थक हो जाता है।

(2) आत्म की क्रियाओं तथा विचारों से मूल्यों की सृष्टि होती है। मूल्य के साथ मूल्य, विमूल्य तथा अ-मूल्य के भाव भी जुड़े हैं। अत: मानव-भाग्य की समस्या में इनकी प्रासंगिकता सिद्ध होती है।

(3) अन्तिम स्थिति अथवा चरम भाग्य के भाव की कल्पना दायित्व-भाव के आधार पर ही की जा सकती है।

(4) इन विचारों के साथ पैटर्सन यह भी मानते हैं कि आत्म स्वयं कोई क्रिया या घटना नहीं। आत्म के साथ कुछ घटित होता है, इसी से मूल्य-विमूल्य बनते हैं तथा लक्ष्य-प्राप्ति की सम्भावना जागती है।

(5) यदि आत्म स्वयं कोई क्रिया या घटना नहीं, तो निष्क्रिय होना आत्म का अन्त नहीं हो सकता।

(6) अत: चरम-स्थिति के लिए क्रियाशीलता कोई अनिवार्य घटक नहीं, चरम-स्थिति पूर्णतया स्थिर तथा शान्त अवस्था भी हो सकती है।

काल तथा नित्यता

चरम-स्थिति की विवेचना में काल-क्रिया के अन्त का प्रश्न उठ जाता है। कालान्त की तो कल्पना भी की जा सकती है किन्तु कालारम्भ की समस्या स्पष्टत: जटिल है; कैसे कालारम्भ ऐसी सत्ता से सम्भव है जो स्वयं कालातीत हो ?

पैटर्सन का कहना है कि यह समस्या जटिल केवल इसी कारण प्रतीत होती है कि हम सरल द्रव्यों की शाश्वत सत्ता तथा नित्यता स्वीकारने में हिचकते हैं। फलत: हमें आत्म की नित्यता पर भी सन्देह हो जाता है। पैटर्सन के मूल्यात्मक आदर्शवाद की मान्यता है कि विश्व-सम्बन्धी हर व्याख्या आत्म की यथार्थता एवं नित्यता को स्वीकारने पर ही सम्भव है। आत्म की सत्ता स्वीकारने पर यह भी मानना पड़ता है कि आत्म में कुछ गुण अनिवार्य हैं तथा कुछ आकस्मिक। आकस्मिक गुण आत्म के साथ जुड़ जाते हैं, वे आत्म-सत्ता में निहित नहीं है। इस प्रकार के गुणों की उपलब्धि होती है; उन्हें किसी प्रयोजन हेतु, किसी विशेष स्थिति में आत्म प्राप्त कर लेता है। पैटर्सन के अनुसार बौद्धिकता तथा नैतिकता के गुणों को भी आकस्मिक गुणों की कोटि में ही रखा जा सकता है। अत: नैतिक तथा बौद्धिक मूल्य आत्म के तात्त्विक मूल्य को छू नहीं पाते। अब यह कहा जा सकता है कि काल की समस्या विश्व के बौद्धिक तथा नैतिक मूल्यात्मक विन्यास से सम्बन्धित है, तात्त्विक मूल्य से नहीं। नैतिकता तथा

बौद्धिकता का विकास तथा उनसे जनित जीवन-संघर्ष आत्म के तात्त्विक रूप को नहीं छूते। काल का सम्बन्ध इसी विकास अथवा संघर्ष से है, अत: वह आत्म तत्त्व-रूप के लिए प्रासंगिक नहीं। काल-प्रक्रिया की अनिवार्यता विश्व के मूल्यात्मक स्वरूप में है - किन्तु यह उसके बौद्धिक तथा नैतिक रूप से ही सम्बन्धित है, तात्त्विक रूप से नहीं।

अन्तिम अवस्था

अब काल क्रम की अन्तिम परिणति का प्रश्न विचारणीय हो जाता है। पैटर्सन को इस समस्या के समाधान में कोई कठिनाई नहीं होती। उनके अनुसार कालान्त तथा मनुष्य का चरम-भाग्य दोनों एक ही स्थिति है। जब आत्म अपनी मौलिक सत्ता एवं स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो वहाँ काल-क्रिया का भी अन्त होता है।

अनेक विचारकों ने इस अवस्था के सम्भावित स्वरूप पर विचार किया है। यह ठीक है कि इस अवस्था का विवरण सामान्यत: काल्पनिक ही प्रतीत होता है, किन्तु पैटर्सन को विश्वास है कि इस विवरण को बौद्धिक रूप भी दिया जा सकता है। उनके अनुसार सांसारिक अनुभवों के आधार पर तथा उनके विरोधाभास से अनुमान किया जा सकता है कि इस अवस्था में ज्ञान, चेतना, प्रेम आदि सभी रहेंगे-किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में वे साधारण जीवन में प्राप्य हैं। 'प्रेम' की विवेचना करते हुए पैटर्सन कहते हैं कि इसे साधारण सहानुभूति अथवा करुणा की भावना मात्र नहीं मानना है, यह भी एक शुद्ध संकल्प है, भावना से बहुत श्रेष्ठ। भावना में कुछ पाने की इच्छा होती है, इसे भावनात्मक प्रतिक्रिया की अपेक्षा होती है। किन्तु प्रेम 'अन्य' के लिए कुछ करने का संकल्प है। प्रेम अपने शुद्ध रूप में अवैयक्तिक होता है। इस संदर्भ में पैटर्सन ने बौद्ध मत तथा इसाई मत-दोनों का उल्लेख किया है तथा दिखलाने की चेष्टा की है कि चरम-अवस्था में किस प्रकार का प्रेम आत्म का जीवन बन जाता है। यह प्रेम सीमित प्रेम नहीं, अनित्य पदार्थों से भावनात्मक लगाव नहीं, बल्कि पूर्ण प्रेम है - नित्य के प्रति प्रेम है, एक ऐसी अवस्था है जिसमें सभी सम्भावनाएं पूर्णतया प्रस्फुटित प्रतीत होती हैं। आलंकारिक भाषा में पैटर्सन कहते हैं कि यह प्रेम स्वर्ग का मार्ग नहीं, स्वर्ग ही है।

इस अवस्था की दूसरी उपलब्धि है स्वतन्त्रता। इसकी अपूर्ण झलक काल-जगत् में दिखाई देती है। किन्तु, काल-जगत् में स्वतंत्रता निर्णयों तथा निश्चयों की स्वतंत्रता है। चरम अवस्था में यह आत्म का स्वरूप है - उसकी आत्म-अनुभूति है। इस स्वतंत्रता के भाव में 'सर्वमुक्ति' का भाव भी निहित है। आत्म की वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ ही है 'तात्त्विक एकत्व का ज्ञान।' अत: स्वतंत्रता की अनुभूति में सर्वमुक्ति की अनिवार्यता की चेतना भी निहित है।

ईश्वर की समस्या

तत्त्व-दर्शन के कुछ प्रमुख भावों के स्पष्टीकरण के प्रयास में पैटर्सन स्वयमेव धर्म दर्शन की समस्याओं में उलझ जाते हैं। उनकी यह स्पष्ट धारणा है कि धर्म-दर्शन की विवेचना तत्त्व-दर्शन पर आधृत है। मूल्यात्मक आदर्शवाद की विशालधारा में दोनों प्रकार की समस्याएँ समाविष्ट हैं। अत: धर्म-दर्शन की एक प्रमुख समस्या-ईश्वर-भाव-विवेचन-पर प्रकाश डालना भी अनिवार्य हो जाता है।

ईश्वरवाद की समस्या पर विचार करने का पैटर्सन का ढंग पारम्परिक विचारधारा से सर्वथा भिन्न है, उसका मुख्य कारण है मूल्यात्मक आदर्शवाद की मान्यताएँ जो आत्म तथा अन्य सामान्यों की अनेकता को स्वीकार कर ही अग्रसर होती हैं। पैटर्सन के अनुसार पारम्परिक ईश्वरवाद में एक मूल दोष रहा है, वह सदा ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में ही स्वीकारता है। इसी कारण ईश्वरवाद को सदा जड़वादियों से जूझना पड़ा है। सृष्टि के सभी ईश्वरवादी सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए पैटर्सन

दिखलाते हैं कि 'सृष्टि', 'प्रलय' आदि के भावों को मान्यता देना या यथार्थ मानना उपयुक्त नहीं, क्योंकि इन्हें यथार्थ मानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं। और यदि सृष्टि की अवधारणा ही अमान्य हो तो 'सृष्टिकर्त्ता' का प्रश्न ही नहीं उठता।

ऐसा प्रतीत होता है कि पैटर्सन ईश्वर-भाव को ही महत्त्व नहीं देते, कम से कम उसे 'केन्द्रीय' भाव तो नहीं ही मानते। उनके अनुसार केन्द्रीयता आत्म की है। आत्म की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व मूल्यात्मक रूप से संगठित है। इस सम्पूर्णता को निरपेक्ष सत्ता कहा जा सकता है, ईश्वर नहीं। पैटर्सन का दावा है कि धर्म की यथार्थता के लिए ईश्वर-भाव अनिवार्य नहीं, यह तो सम्पूर्णता अथवा निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार कर भी सिद्ध की जा सकती है। यह भी दिखलाया जा सकता है कि पूर्ण सत्ता के भाव पर आधृत धर्म अधिक व्यापक है क्योंकि यह पूर्ण ईश्वरवादी धर्मों को भी संतुष्ट कर सकता है। यह धार्मिक प्रवृत्ति अथवा धार्मिक आकाँक्षा की समुचित व्याख्या तो प्रस्तुत करता ही है, धार्मिक सन्तुष्टि भी कुछ उसी प्रकार की दे सकता है जैसी इस्लाम, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म आदि ईश्वरवादी धर्मों में प्राप्त है।

पैटर्सन का उद्देश्य ऐतिहासिक धर्मों के उद्देश्य को गौण बनाना नहीं है। ईश्वरवादी धर्म के ऐतिहासिक महत्त्व तथा प्रभाव से वे परिचित हैं, वे स्वीकार करते हैं कि व्यक्तित्त्वपूर्ण ईश्वर के प्रति आस्था हर देश तथा काल में धार्मिक संगठन तथा मानसिक सन्तुष्टि का आधार रही है। किन्तु इस विश्वास के दार्शनिक विवेचन के लिए इस भाव में अन्धविश्वास उपयुक्त नहीं, इस विश्वास और आस्था के उपकरणों का विश्लेषण आवश्यक है।

धार्मिक अनुभव एवं ईश्वरभाव की समस्या

ईश्वरभाव की समस्या के दार्शनिक विवेचन के मूल में 'धार्मिक अनुभव' की व्याख्या है। कुछ विद्वानों के अनुसार ईश्वरभाव की यथार्थता का आधार कुछ विशिष्ट द्रष्टाओं की अनुभूति है। कहा जाता है कि ऐसी अनुभूतियाँ ईश्वर के साक्षात्कार की अनुभूतियाँ हैं। किन्तु ईश्वरभाव की समस्या का **दार्शनिक** विवेचन इन अनुभूतियों को 'मान' कर नहीं चल सकता। दर्शन में तो साधारण 'धार्मिक अनुभव' की व्याख्या के आधार पर ईश्वरभाव को यथार्थ सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। यह ठीक है कि इस प्रश्न के दो रूप हो सकते हैं- (1) क्या ईश्वर का साक्षात् अनुभव होता है ? और (2) क्या साधारण धार्मिक अनुभूतियों में ईश्वर-अस्तित्त्व का कोई प्रमाण मिलता है ?

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं। प्रथमत: यह तो प्राय: अनिश्चित ही है कि साक्षात् अनुभव में क्या उपलब्ध होता है। ईश्वरीय अनुभव का दावा करने वाले भी निश्चित रूप से अपने अनुभव की विशिष्टता अथवा साधारण अनुभव से इस अनुभव की भिन्नता स्पष्ट नहीं कर पाते। ऐसे अनुभवों को 'आध्यात्मिक' अनुभव कहा जाता है; किन्तु यह किस आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक अनुभव का विषय 'ईश्वर-अस्तित्व' हैं ? इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी है कि यदि किसी को यह विश्वास भी हो कि उसे 'ईश्वरानुभूति' है तो वह अपनी इस अनुभूति की यथार्थता दूसरों के लिए सिद्ध कैसे कर पायेगा ? उसका अनुभव, उसका साक्षात् ज्ञान उसका वैयक्तिक अनुभव है, ऐसे अनुभव को तर्क या युक्तियों के द्वारा अन्य तक पहुँचाया नहीं जा सकता। वैयक्तिक विश्वास को सार्वभौम अस्तित्व का आधार नहीं बनाया जा सकता। तो, पैटर्सन के मत में आध्यात्मिक अनुभव का प्रमाण ईश्वर-अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न नहीं कर पाता। यह किसी विशेष व्यक्ति के लिए तो क्या तर्कों के द्वारा अथवा धार्मिक अनुभव पर आधृत युक्तियाँ के द्वारा ईश्वर-अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता हैं ?

धार्मिक अनुभव पर आधृत तर्क

ईश्वर-अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दो प्रकार की युक्तियाँ दी जाती हैं। कुछ विचारक धार्मिक अनुभव को ही आधार बना कर युक्तियाँ देते हैं तथा कुछ विचारकों की चेष्टा बौद्धिक तर्कों के द्वारा ईश्वर-अस्तित्व को सिद्ध करने की हैं।

प्राय: सभी धर्मों में तथा सभी काल एवं देशों में धार्मिक अनुभव को ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में दी गयी युक्तियों का आधार बनाया गया है। धार्मिक गाथाओं में 'द्रष्टाओं' का उल्लेख मिलता है तथा उनके विशिष्ट अनुभवों को मान्यता दी जाती है। कहीं-कहीं इस प्रकार की युक्ति की सत्यता सिद्ध करने के लिए धार्मिक अनुभव तथा कलात्मक अनुभूति की समानता पर ज़ोर दिया जाता है। कहा जाता है कि जिस प्रकार कलात्मक अनुभूति में व्यक्त स्थूल जगत् से ऊपर उठ कुछ अदृश्य, अलौकिक तत्त्वों की अनुभूति करता है उसी प्रकार धार्मिक अनुभव भी व्यक्ति को दृश्य-जगत् से ऊपर उठाकर दिव्य तथा अलौकिक तत्त्वों का अनुभव प्रदान करता है।

पैटर्सन का कहना है कि इस प्रकार की युक्ति से दिव्य तत्त्वों की वास्तविकता सिद्ध नहीं होती। कलात्मक अनुभूति की उपमा से न तो इस प्रकार की युक्ति को बल ही मिलता है और न यह उपमा उपयुक्त ही है। यह उपमा उपयुक्त नहीं क्योंकि कलात्मक अनुभूति वैयक्तिक होते हुए भी पूर्णतया व्यक्तिपरक नहीं है। कलाबोध अन्य को भी हो सकता है। एक ही विषय की कलात्मकता एक साथ अनेक विषयिओं को प्रभावित कर सकती है। इस प्रकार की सार्वभौमिकता धार्मिक अनुभूति में नहीं है। वैसे तो सभी ईश्वरवादी कहते हैं कि धार्मिक अनुभव सबों के लिए सम्भव है किन्तु 'कला' में यह सम्भावना स्पष्ट है, धार्मिक अनुभव में यह सम्भावना भी यथार्थ प्रतीत नहीं होती।

धार्मिक अनुभव की चरम तथा प्रखर अवस्था को रहस्यानुभूति कहा गया है। किन्तु यदि रहस्यात्मक अनुभूति को ईश्वर-अस्तित्व सिद्ध करने का आधार बनाया जाय तो पुन: यह प्रयास असफल ही होगा। इस प्रकार की अनुभूतियाँ रहस्यात्मक हैं, अत: किसी साधारण, बौद्धिक कोटि में इन्हें नहीं रखा जा सकता। फलत: इन अनुभूतियों में किसी प्रकार के संशय-निवारण की शक्ति नहीं है तथा इन्हें मान्यता देने का अर्थ इन पर अन्धविश्वास ही है। इस सम्बन्ध में एक अन्य बात विचारणीय है। यह ठीक है कि इस प्रकार की अनुभूति की यथार्थता पर ज़ोर दिया गया है, किन्तु यह भी ठीक है कि बहुत से विचारकों ने इस प्रकार के अनुभव को भ्रांतिपूर्ण भी बताया है। इन अनुभवों के विरुद्ध दिये गये तर्क भी बड़े सबल तथा अकाट्य प्रतीत होते हैं। कुल लोगों ने तो यहाँ तक कहा है कि रहस्यात्मक अनुभूति में विश्वास किसी मानसिक व्याधि का परिणाम है। पैटर्सन के मत में इन दोनों पक्षों के सम्बन्ध में निश्चित निर्णय देना तो सम्भव नहीं किन्तु धार्मिक अनुभवों के विरुद्ध दिये गए तर्कों को सर्वथा महत्त्वहीन भी नहीं कहा जा सकता। अत: यह कहना अयुक्त नहीं कि विचार की वर्त्तमान अवस्था में धार्मिक अनुभवों के आधार पर ईश्वर तथा अन्य तात्त्विक सत्ताओं के अस्तित्त्व को सिद्ध करने की चेष्टा पूर्णतया सफल नहीं हो सकती। तो, अब ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में दी गई अन्य प्रकार की युक्तियों की परीक्षा वांछनीय है।

ईश्वर के पक्ष में दी गई विभिन्न युक्तियाँ

इस श्रेणी में पैटर्सन ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में दी गई वैसी युक्तियों की विवेचना करते हैं जिन्हें बौद्धिक कहा जा सकता है। वैसे, ईश्वरवादियों ने धार्मिक अनुभव पर आधृत युक्तियों को सर्वाधिक महत्त्व दिया है किन्तु शायद उन्हें भी यह आभास है कि इन युक्तियों के 'प्रभाव' का आधार धार्मिक 'आस्था' है, जो हर व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। अत: ईश्वरवादियों ने कुछ बौद्धिक युक्तियों का भी सहारा लिया है।

पैटर्सन के अनुसार बौद्धिक युक्तियों में सर्वाधिक महत्त्व तात्त्विक युक्ति (Ontological argument) को दिया गया है। इस युक्ति का अपना इतिहास है। सन्त अंसलम ने सर्वप्रथम इस युक्ति का उपयोग किया। उनके अनुसार ईश्वर-भाव सर्वोच्च सत्ता का भाव है। सर्वोच्च के भाव में परमशुभ रूप तथा अस्तित्व का भाव निहित है। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वोच्च सत्ता परमशुभ भी है तथा अस्तित्ववान् भी। किन्तु पैटर्सन के अनुसार इस युक्ति में कोई तर्क उपस्थित नहीं होता। एक प्रकार से यह युक्ति सर्वोच्च सत्ता-भाव को मान कर ही अग्रसर होता है। इस युक्ति का मूल तर्क है कि यदि सर्वोच्च सत्ता-भाव को स्वीकारा जाय तो उसके अस्तित्व को भी स्वीकारना आवश्यक हो जाता है, किन्तु यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि सर्वोच्च सत्ता-भाव को स्वीकारा ही क्यों जाय ? पुन:, सर्वोच्च शब्द के व्यवहार से ही स्पष्ट हो जाता है कि सन्त अंसलम सत्ता में स्तर-क्रम (Degrees of Being) में विश्वास करते हैं, क्योंकि क्रम के भाव में क्रम की परिणति का भाव निहित है। क्रम के भाव में सर्वोच्च का भाव निहित है ही। पुन:, इस युक्ति में 'वैचारिक अस्तित्व' तथा 'वास्तविक अस्तित्व' में भेद किया गया है, किन्तु पैटर्सन को इस प्रकार का भेद युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। वैचारिक अस्तित्व कम से कम उस व्यक्ति के अस्तित्व को तो स्वीकार करता ही है जो विचार कर रहा है, तथा वास्तविक अस्तित्व में वैचारिक अस्तित्व समाविष्ट है। और यह भी कहा जा सकता है कि शुद्ध वैचारिक अस्तित्व है ही नहीं, क्योंकि अस्तित्व के लिये वास्तविक होना अनिवार्य है।

सच पूछा जाय तो तात्त्विक युक्ति की पूर्वमान्यता है ईश्वर-भाव, इसी भाव के विश्लेषण के आधार पर ईश्वर-अस्तित्व की स्थापना की चेष्टा होती है। किन्तु इस युक्ति के समर्थक भूल जाते हैं कि ईश्वर-भाव यथार्थ अवधारणा ही नहीं बल्कि एक दृष्टि से आत्म-विरोधी है। इस भाव की यथार्थता स्वीकार करने का अर्थ है यह मानना कि नित्य, असीम तथा स्वत: अस्तित्ववान् तत्त्व सीमित व्यक्ति के मन की अवधारणा है। यदि ऐसा हो तो यह अवधारणा मन की अन्य अवधारणाओं के समान व्यक्ति पर निर्भर हो जाती है।

पैटर्सन का कहना है कि सन्त टौमस भी तात्त्विक युक्ति को महत्त्व देने में हिचकते हैं। उन्होंने दो प्रकार की तात्त्विक युक्तियों का उल्लेख किया तथा दिखलाया कि दोनों युक्तियों में किसी तथ्य के मानसिक अस्तित्व के आधार पर उसके वास्तविक अस्तित्व की स्थापना की चेष्टा होती है। पैटर्सन के मत में यह युक्ति तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती। उनके अनुसार इस युक्ति के द्वारा मानसिक अस्तित्व से वास्तविक अस्तित्व की ओर बढ़ने का कोई आधार नहीं मिलता। अधिक से अधिक यह वास्तविक अस्तित्व की सम्भावना की ओर संकेत भर कर सकता है। पैटर्सन के मत में इन सारी कठिनाइयों की जड़ है व्यक्तित्वयुक्त सृष्टिकर्ता ईश्वर को अनिवार्य सिद्ध करने की चेष्टा। उनका विश्वास है कि अनिवार्यतया केवल विश्व की सम्पूर्णता की ही सिद्धि की जा सकती है, सृष्टिकर्ता की नहीं। संत अंसलम के द्वारा दी गई युक्ति के साथ वे देकार्त के द्वारा दी गई तात्त्विक युक्ति की भी परीक्षा करते हैं और इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस युक्ति के द्वारा ईश्वर-अस्तित्व की स्थापना सम्भव नहीं।

ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में दी गई युक्तियों में एक प्रचलित युक्ति कारणतापरक युक्ति है। इस युक्ति में जगत् को कार्यरूप में दिखलाया जाता है तथा इसकी व्याख्या के लिए एक अन्तिम कारण की बात की जाती है। जगत् के हर पहलू को सीमित तथा अन्य उपादानों पर निर्भर बताया जाता है। फलत: एक स्व-निर्भर असीम सत्ता की अनिवार्यता सिद्ध की जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए कुछ विचारक कहते हैं कि यदि कारण-रूप ईश्वर को अनिवार्य न माना जाय तो विचार कारण-कार्य की अनन्त श्रृंखला में अनिश्चित रूप से बंध जाता है। इसी अनवस्था दोष से बचने के लिए कारण-रूप ईश्वर को मानना पड़ता है।

किन्तु, पैटर्सन दिखलाते हैं कि इस प्रकार की अनवस्था से यदि कोई अनिवार्यता सिद्ध भी होती है तो वह ईश्वर की नहीं, अपितु जगत् की सम्पूर्णता की - एक निरपेक्ष सत्ता की। निर्भरता के विश्लेषण के आधार पर सृष्टिकर्ता के अस्तित्व की स्थापना नहीं हो सकती। यदि जगत् में ऐसे तत्त्व हैं जो सीमित हैं, निर्भर हैं, तो इतना ही कहा जा सकता है कि ये सभी तत्त्व अन्ततः जगत् की सम्पूर्णता पर निर्भर हैं, जो पूर्ण होने के कारण स्वयं किसी अन्य पर निर्भर नहीं। अतः पैटर्सन के मत में इस युक्ति के द्वारा भी उसी प्रकार के निष्कर्ष की पुष्टि होती है, जिसकी स्थापना मूल्यात्मक आदर्शवाद का लक्ष्य है।

इसी प्रकार पैटर्सन के अनुसार प्रयोजनवादी युक्ति के द्वारा भी ईश्वर-अस्तित्व स्थापित नहीं हो पाता। इस युक्ति के द्वारा कुछ सम्भावनाओं की ओर संकेत मिलता है, किसी निश्चित सत्ता की स्थापना नहीं हो पाती। यह युक्ति दृश्य-जगत् में उपलब्ध संगठन, व्यवस्था, प्रयोजन आदि के उदाहरणों पर आधृत है। किन्तु इन उदाहरणों की विवेचना इतना तो स्पष्ट कर ही देती है कि ऐसे सभी उदाहरण मूलतः अचित् जगत् के हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे अनुभव-जगत् का अधिकतर भाग अचेतन द्रव्यों से ही निर्मित है। अब, इन अचेतन द्रव्यों की समुचित व्याख्या 'प्रयोजन' के द्वारा नहीं हो सकती। प्रयोजन-युक्ति का मूल दोष यह है कि वह प्रयोजन-व्याख्या की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। पुनः, यदि प्रयोजन, संगठन आदि के उदाहरण को मान्यता दी भी जाय तो इसके आधार पर किसी अतिमानवीय मन को मानने का कोई स्पष्ट कारण दिखाई नहीं देता। यह भी पूछा जा सकता है कि जगत् इसी निश्चित संगठन में व्यक्त क्यों होता है ? क्या इस प्रकार की व्याख्या तथा संगठन की अनिवार्यता सृष्टिकर्ता को सीमित नहीं करती ? अथवा, क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यह व्यवस्था आकस्मिक है ? अनन्त सम्भावनाओं में इसी सम्भावना का फलित होना आकस्मिकता नहीं तो और क्या है ? अधिक से अधिक प्रयोजनवादी इतना ही कह सकते हैं कि संगठन, व्यवस्था आदि की व्याख्या के लिए अनेक विकल्पों में एक सम्भावना अतिमानवीय मन के द्वारा व्याख्या की है।

इस प्रकार ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में दी गई सभी प्रमुख युक्तियों की परीक्षा के आधार पर पैटर्सन कहते हैं कि इन युक्तियों के द्वारा ईश्वर-भाव की यथार्थता सिद्ध नहीं होती। उनके मत में धर्म के लिए किसी ईश्वर-अस्तित्त्व को स्वीकारना अनिवार्य नहीं है। 'ईश्वर'शब्द से एक व्यक्तित्त्वपूर्ण शुभ सत्ता का बोध होता है। ईश्वरवादियों ने इस सत्ता को सृष्टिकर्त्ता, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञानी, परमशुभ सत्ता के रूप में स्वीकारा है। पैटर्सन का कहना है इस प्रकार के ईश्वर को धर्म के लिए अनिवार्य समझना भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। शक्ति तथा सृजनात्मकता के भावों से तो ईश्वर-भाव का मुक्त होना आवश्यक है। ईश्वर-भाव के स्थान पर यदि सम्पूर्ण सत्ता को धार्मिक भावना एवं प्रतिक्रिया का विषय माना जाय तो इस विचार में सभी धार्मिक विचारों का समावेश हो जाता है।

धर्म-दर्शन की रूपरेखा

अतः दर्शन की प्रमुख समस्याओं के विश्लेषण तथा ईश्वर-भाव की विवेचना के आधार पर पैटर्सन धर्म-दर्शन की रूपरेखा खींचने की चेष्टा करते हैं। इस विवेचना से स्पष्ट हो चुका है कि पैटर्सन के मत में धर्म-दर्शन पर विचार मूल्यात्मक आदर्शवाद की परिधि के अन्तर्गत ही उपयुक्त हो सकता है।

धर्म-दर्शन के सम्मुख सबसे पहली समस्या धर्म की परिभाषा की है। धर्म की असंख्य परिभाषाएं दी गई। सभी परिभाषाओं में धर्म के कुछ पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु कोई परिभाषा पूर्णतया सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं होती। साधारणतः कहा जाता है कि किसी भी परिभाषा में परिभाष्य के

सार तथा सार्वभौम तथा आवश्यक गुणों का निर्देश होना चाहिये। किन्तु धर्म के सन्दर्भ में यह निर्देश भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म के सार्वभौम तथा आवश्यक गुणों को पा लेना शायद सम्भव नहीं। किसी गुण के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वह धर्म के सभी उदाहरणों में उपस्थित है।

यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है जब धर्म से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं की जटिलता में हम उलझ जाते हैं। उदाहरणत: प्राचीनतम धर्म में धर्म एवं जादू एक-दूसरे के अभिन्न अंग थे। पुन:, कुछ धर्मों में धार्मिक विश्वास तथा अन्धविश्वास में भी अन्तर नहीं रहता। प्राय: सभी धर्मों में भावना तथा रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड आदि धर्म-जीवन के साथ जुड़े रहते हैं। कुछ धर्मों में आत्म को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है तो कुछ धर्मों के अनुसार आत्म-निषेध ही धर्म है। कहीं 'ईश्वर' धर्म के लिए अनिवार्य माना गया है तो कुछ धर्मों में ईश्वर-भाव का उल्लेख भी नहीं। अत: धर्म के सार्वभौम तथा सार लक्षणों की खोज निरर्थक ही प्रतीत होता है।

इन्हीं उलझनों के चलते कुछ लोगों ने धर्म की परिभाषा में धर्म के व्यावहारिक रूप धर्म की अभिव्यक्तियों पर ध्यान न देकर धर्म शब्द के व्यवहार पर ही जोर दिया है। किन्तु पैटर्सन के मत में ऐसी परिभाषा भी धर्म की वास्तविक परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि यह नामवादी परिभाषा हो जायगी। नामवादी परिभाषा से धर्म की वास्तविकता, प्रचलन तथा व्यावहारिकता पर प्रकाश नहीं पड़ता।

पैटर्सन स्वीकार करते हैं कि धर्म की वास्तविकता धार्मिक व्यवहारों, क्रियाओं या धर्म की अन्य अभिव्यक्तियों में नहीं मिल सकती, उसके लिये मनुष्य की आन्तरिक प्रतिक्रिया - उसकी आन्तरिकता को समझना आवश्यक है। पैटर्सन का कहना है कि धर्म मनुष्य के आन्तरिक-जीवन से सम्बन्धित है, अत: धर्म को भी 'मूल्य' के रूप में ही समझा जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि धर्म का समबन्ध केवल व्यक्ति से है। धर्म में वैयक्तिकता के साथ सार्वभौमिकता भी है, किन्तु यह मानना ही पड़ता है कि धर्म का मूल आधार मनुष्य का आन्तरिक जीवन है-कुछ ऐसी प्रतिक्रियाएं हैं जो विशेष परिस्थिति में उठती हैं तथा व्यक्ति या समाज के लिये कुछ विशेष मूल्यों को रूप देती हैं।

पैटर्सन का कहना है कि कुछ ऐसे ही दृष्टिकोण से मैक्टेगार्ड ने धर्म की परिभाषा दी है। उनके अनुसार धर्म व्यक्ति एवं सम्पूर्ण विश्व की सामञ्जस्यता में विश्वास से फलित भावना है। पैटर्सन का कहना है कि इस परिभाषा की विशेषता यह है कि यह धर्म के प्रतिक्रियात्मक रूप तथा मूल्यात्मक रूप दोनों पर प्रकाश देता है। किन्तु, इस परिभाषा में भी कुछ बातें अस्पष्ट रह जाती हैं। उदाहरणत: यह तो पूछा ही जा सकता है कि इस प्रकार की सामञ्जस्यता का क्या अर्थ है। पूर्ण सामञ्जस्यता का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अत: यह पूछा जा सकता है कि सामञ्जस्यता के किस अनुपात (अथवा मात्रा) से धार्मिक विश्वास का प्रारम्भ सम्भव है। मैक्टेगार्ड स्वयं सामञ्यस्यता की मात्रा में विश्वास करते हैं, अत: धर्म में भी मात्रा-भेद की बात उठ जायगी। यह ठीक है कि मैक्टेगार्ड के अनुसार जो इस सामञ्जस्यता में जितना अधिक विश्वास कर सकेगा, वह उतना ही अधिक धार्मिक होगा। किन्तु, इसमें कुछ ऐसे संशय-स्थल रह जाते हैं जिनकी व्याख्या मैक्टेगार्ड भी नहीं कर सकते। उदाहरणत: यह तो मानना ही है कि सामञ्जस्यता में विश्वास का आधार हमारे जीवन की ऐसी ही प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं जिन्हें 'श्रेष्ठ' या 'उच्च' कहा जाता है। किन्तु, उस दशा में प्राचीनतम धार्मिक व्यवहारों को धार्मिक प्रतिक्रिया नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन व्यवहारों का आधार साधारण इच्छा-पूर्ति से ही सम्बधित था- कोई श्रेष्ठ या उच्च उद्देश्य से नहीं। एक अन्य कठिनाई भी उपस्थित हो जाती है, विचार को मानने से धार्मिक

प्रतिक्रिया के क्रमिक विकास का प्रश्न उठ खड़ा होता है, तथा प्राथमिक प्रतिक्रिया कहने में भी हिचक होगी। अत: पैटर्सन के विचार में मैक्टेगार्ड की परिभाषा भी धर्म के सभी उदाहरणों को अपने में पूर्णतया समाविष्ट नहीं कर पाती।

इस कठिनाई का कारण शायद यह है कि मैकटेगार्ट के अनुसार धर्म को भावना माना गया है- एक ऐसी भावना जो व्यक्ति तथा विश्व के सामञ्जस्य के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। किन्तु, क्या धार्मिक-प्रतिक्रिया बस भावनात्मक प्रतिक्रिया ही है ? क्या भावना इस प्रतिक्रिया का यथेष्ठ उपकरण है ? स्पष्टत: इसे स्वीकारा नहीं जा सकता। कम से कम इस प्रतिक्रिया में उस विश्वास को तो स्थान देना ही होगा जिसके कारण यह भावना जागती है। पुन: विश्वास की अभिव्यक्ति केवल भावनाओं में नहीं होती, बल्कि आचरण-व्यवहार आदि में भी होती है, अत: धार्मिक प्रतिक्रिया इस व्यवहारों की भी उपेक्षा नहीं कर सकती। तो, पैटर्सन मैक्टेगार्ड के द्वारा दी गयी धर्म की परिभाषा के महत्त्व को समझते हुए तथा उस परिभाषा की त्रुटियों पर ध्यान देते हुए धर्म के स्परूप को समझने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार धर्म के लिए मानव-स्वभाव के उच्चतम लक्षणों तथा सम्पूर्ण आनुभविक जगत् की सामञ्जस्यता में विश्वास आवश्यक है। यदि विश्वास ही न हो कि हमारे श्रेष्ठ व्यवहारों के बाद भी वातावरण हमारे अनुकूल न होगा तो धार्मिक प्रतिक्रिया सम्भव नहीं। अत: यह विश्वास धर्म का प्राण है, किन्तु केवल विश्वास ही धर्म नहीं है। इस विश्वास से उत्पन्न भावना तथा इस विश्वास तथा भावना से प्रेरित आचरण-ये सब मिलकर धर्म को रूप देते हैं।

धर्म का स्वरूप

उपरोक्त विवरण के आधार पर पैटर्सन धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष देते हैं। प्रथमत: यह तो कहा ही जा सकता है कि धर्म मानव मन के तीनों पहलुओं को संतुष्ट करता है। इस प्रकार की सन्तुष्टि देना मूल्यात्मक आदर्शवाद से भी संगत है। धर्म का लक्ष्य कुछ मूल्यों की ओर प्रेरित होना है। मूल्य-भाव में, ज्ञान, भावना तथा आचरण तीनों अनिवार्यत: संलग्न हैं। पुन: यह भी कहा जा सकता है कि धर्म आत्म के आत्म-संगठन तथा सम्पूर्णता के एकत्व को स्वीकार कर ही चल सकता है। यह ठीक है कि विश्व में आत्म की विसंगतियाँ, विघटन आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। मानसिक व्याधि, विस्मृति, पालगपन आदि इसके उदाहरण हैं। किन्तु ये सभी उदाहरण आत्म के मौलिक आत्म-संगठन का निषेध नहीं करते। इन उदाहरणों से बस इतना ही सिद्ध होता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछ उपादानों के कारण आत्म-अनुभव जगत् से अपने को पूर्णतया अभियोजित नहीं कर पाता।

धर्म के स्वरूप पर विचार करने पर एक अन्य तथ्य भी प्रकाश में आता है। यह संभव है कि किसी धर्म में या किसी धार्मिक प्रतिक्रिया में इन तीनों पहलुओं में किसी एक पर अधिक ज़ोर दे दिया जाय। विशेषत: भावना-पक्ष पर कभी-कभी बड़ा ही ज़ोर दे दिया जाता है। धर्म के कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जो शुद्ध ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं, भावना को नहीं। कहीं-कहीं धर्म की यथार्थता धार्मिक व्यवहारों एवं आचरण में देखी जाती है। किन्तु, यदि ध्यान से देखा जाय तो इन उदाहरणों में भी तीनों पक्ष वर्तमान रहते हैं। किसी में कोई एक पक्ष प्रबल हो जाता है, किन्तु अन्य पक्ष लुप्त नहीं होते, गौण हो जाते हैं। पैटर्सन का कहना है कि किसी एक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देने से धर्म का रूप विकृत हो जाता है। उदाहरणत: भावना-पक्ष को आवश्यकता के अधिक प्रबल बनाने का परिणाम होता है- धर्मन्धता तथा धार्मिक उन्माद। उसी प्रकार धर्म के क्रियात्मक पहलु को अत्याधिक महत्त्व देने का परिणाम धर्म के स्वरूप का हनन है। एक तो इसके फलस्वरूप धर्म में 'नैतिकता' का महत्त्व अधिक हो जाता है, धर्म का लक्ष्य नैतिक ढंग से सबल जीवन जीना हो जाता है। अत: धार्मिक आदर्शों का तथा

आध्यात्मिक लक्ष्यों का महत्त्व कम हो जाता है। इस अवस्था में दोष यह भी है कि इस अवस्था में व्यक्ति आत्म-विश्लेषण में इस प्रकार उलझ जाता है कि वह अपने निश्चित लक्ष्य को ही भूल जाता है। इसी कारण तो नीतिशास्त्री कहते हैं कि नैतिक प्रगति का अनिवार्य उपकरण है निश्चित लक्ष्य निर्धारित करने की चेष्टा का परित्याग। किन्तु, पैटर्सन के मत में इस प्रकार नैतिक प्रगति भले ही हो, धार्मिक प्रगति सम्भव नहीं ? कर्मों पर अत्याधिक ज़ोर देने के परिणामस्वरूप एक प्रकार का व्यक्तिवाद भी उत्पन्न हो जाता है। जैसाकि रसेल ने दिखलाया है नैतिकता में वैयक्तिक चुनाव की केन्द्रियता है ही। अत: नैतिकता का अन्तिम मापदण्ड किसी न किसी रूप में व्यक्ति हो ही जाता है। इस प्रकार पैटर्सन दिखलाते हैं कि धर्म में कर्म अथवा आचरण को प्रमुखता देने से धर्म की धार्मिकता का हनन हो जाता है।

पैटर्सन के मत में धार्मिक रीति-रिवाज़ों को भी धर्म का अनिवार्य अथवा प्रमुख अंग नहीं मानना चाहिये। पैटर्सन स्वीकार करते हैं कि इतिहास में इन धार्मिक रीति-रिवाज़ों का धार्मिक संगठन के लिए महत्त्व रहा है। इन रीति-रिवाज़ों का सामूहिक प्रचलन ही धार्मिक संगठन का आधार रहा है, किन्तु यदि इन्हें धर्म के लिये अनिवार्य माना जाय तो उसका अर्थ हो जाता है कि ये धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। एक तो यह विचारना कि इन कर्मों के द्वारा मुक्ति सम्भव है या नहीं यह दर्शन की समस्या ही नहीं, तथा यह भी मानना पड़ता है कि इन रीति-रिवाज़ों पर अत्यधिक ध्यान देना धर्म की वास्तविकता से दूर हटना है। कभी-कभी तो ये रीति-रिवाज़ इतने प्रबल हो जाते हैं कि धार्मिक लक्ष्य तो गौण हो ही जाता है, नैतिक व्यवहार भी इन रीति-रिवाज़ों पर आधृत हो जाता है।

इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि धर्म का वास्तविक स्वरूप इन तीनों पहलुओं- (ज्ञानात्मक, क्रियात्मक, भावनात्मक) का समन्वय है, किसी एक पहलु पर अत्याधिक ज़ोर देना धर्म के स्वरूप को विकृत करना है।

धर्म के स्वरूप को समझने के लिए एक अन्य तथ्य भी द्रष्टव्य है। धर्म के इतिहास में धर्म के द्वारा जनित कुछ अशुभ के उदाहरण मिलते हैं ; उदाहरणत: नरबलि, धर्म के नाम पर अत्याचार, लड़ाई आदि। साधारणत: ऐसे उदाहरणों को धर्म की विकृति कह दी जाती है। इस प्रकार के कर्म करने वाले व्यक्तियों में धर्म के प्रति अटूट विश्वास होता है, तथा उनमें धार्मिक भावना का उद्वेग भी बड़ा प्रबल होता है। पैटर्सन के मत में यह धर्म के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश देता है तथा पैटर्सन के द्वारा दिये गए धर्म के स्वरूप के विवरण को और भी पुष्ट करती है। इन उदाहरणों से इतना तो सिद्ध होता ही है कि धर्म व्यक्ति की वातावरण के प्रति पूर्ण प्रतिक्रिया है जिसमें ज्ञान (अथवा विश्वास), भक्ति तथा कर्म के बीच समन्वय रहता है। धर्म की विकृतियों में भी यह समन्वय उतना ही स्पष्ट रहता है जितना धार्मिक अभिव्यक्तियों में। अत: कहा जा सकता है कि धर्म की विशिष्टता मानव जीवन को संगठित करने में है। यह तथ्य प्राचीनतम धर्मों में भी उपलब्ध था तथा धर्म के नवीनतम रूपों में भी।

धर्म के स्वरूप को समझने के लिए धार्मिक सम्प्रदायों के महत्त्व पर भी प्रकाश देना अनिवार्य है। अनेक धर्मों में (जैसे, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम, यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म) धार्मिक सम्प्रदायों को बड़ा महत्त्व दिया गया है। साधारणत: इन धर्मों के अनुयायियों का विश्वास है कि इन सम्प्रदायों के द्वारा ही धार्मिक संगठन तथा धार्मिक दायित्व का बन्धन सुदृढ़ होता है। यदि व्यक्ति को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी जाय तो मतैक्य असंभव हो जायगा तथा फलत: धार्मिक संगठन भी सम्भव नहीं ही होगा। धार्मिक सम्प्रदाय वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा धार्मिक संगठन के मध्य समन्वय की चेष्टा करते हैं। साथ ही साथ उपरोक्त उदाहरणों में कुछ धर्म अपनी धर्म-सीमा के अन्तर्गत किसी प्रकार का बंधन

स्वीकार नहीं करते। ईसाई धर्म में अनेक प्रकार के सम्प्रदाय हैं, किन्तु कोई ईसाई अपने को साम्प्रदायिक नहीं कहता। इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म में स्पष्टत: सम्प्रदाय की अनिवार्यता स्वीकारी गयी है, उसके अनुसार संघ धार्मिक जीवन का अनिवार्य अंग है। किन्तु, पैटर्सन के मत में धार्मिक साम्प्रदायिकता व्यावहारिकता का एक लक्षण-मात्र है। कुछ व्यावहारिक लाभ या उपयोगिता के उद्देश्य से धर्म इस प्रकार के सम्प्रदायों में उलझ जाता है, किन्तु धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए इन सम्प्रायों की साम्प्रदायिकता से ऊपर उठना आवश्यक है। धर्म की वास्तविकता को समझने के लिये महत्व धार्मिक सत्यों को देना है न कि धार्मिक सम्प्रदायों को। धार्मिक जीवन के इन सत्यों में आस्था तथा अटुट विश्वास अनिवार्य है। आस्था सम्प्रदायों के द्वारा निर्मित नहीं हो सकती, इसके लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा आन्तरिकता को महत्त्व देना आवश्यक है।

धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है। सर्वोच्च धर्म बड़ा ही सरल होता है। अत: वास्तविक धर्म साधारण मनुष्यों के सरल ढंगों से सम्बन्धित है। यह ठीक है कि साधारण मनुष्य अपने ढंग से धर्माचरण करता है, यह भी सम्भव है कि वह अपने ढंग से वैयक्तिक आस्था एवं विश्वास उत्पन्न कर ले। किन्तु पैटर्सन के मत में यह धार्मिक स्वतन्त्रता सिद्ध करता है, धर्म में वैयक्तिकता नहीं। वैयक्तिकता का अर्थ है व्यक्ति को धर्म का आधार बना देना। वास्तविक धर्म इस दृष्टि से वैयक्तिक नहीं, वह सार्वभौम होता है क्योंकि वास्तविक धर्म में हर व्यक्ति को धर्म अपनाने की स्वतन्त्रता है। इस दृष्टि से धर्म की सार्वभौमिकता धर्म के वैयक्तिकरण में ही है।

धर्म के स्वरूप पर पौराणिक गाथाओं के द्वारा भी प्रकाश मिलता है। अनेक धर्मों में पुराण उनका अनिवार्य अंग है, किन्तु, पैटर्सन के मत में पुराण अथवा पौराणिक गाथाएं अविकसित मन की कृतियाँ हैं। इसी कारण धर्म के प्रारम्भिक अवस्था में इन कहानियों का बाहुल्य है। मस्तिष्क की बौद्धिक सूझ जब तक समर्थ नहीं हो पाती, कल्पना को पर लग जाते हैं। विचार की इसी अवस्था में पौराणिक गाथाओं का संग्रह होता है। हर देश के धर्म का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है। उदाहरणत: ग्रीस या भारत में इन गाथाओं का काल उसी समय आया था, जब मन के लिए कल्पना पर झुकना अनिवार्य हो गया था। इन देशों में भी जैसे-जैसे बौद्धिक व्याख्या का सामर्थ्य बढ़ता गया इन गाथाओं का महत्त्व घटता गया है। अत: इन पौराणिक गाथाओं को धर्म का-विकसित धर्म का-अनिवार्य अंग नहीं मानना है, केवल देखना है कि विचार की किस अवस्था में ये धर्म के अभिन्न अंग बने रहते हैं।

धर्म के इतिहास में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रकाश में आता है, जिससे धर्म के स्वरूप की समझ में सहायता मिलती है। धर्म सदा कला से सम्बन्धित रहा है। पैटर्सन को इसमें कोई विसंगति दिखाई नहीं देती। कलात्मक अनुभूति का माध्यम अनुभवजन्य वस्तु ही है, उन्हीं वस्तुओं में किसी 'भाव' की अनुभूति कला-बोध है। धार्मिक चेतना में इस प्रकार की अनुभूति के लिए प्रचुर स्थान रह जाता है क्योंकि धार्मिक चेतना अथवा आध्ययात्मिकता को स्थूल माध्यमों के द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा रुचिकर भी है तथा प्रभावशाली भी। फलत: धर्म के स्वरूप को समझने में धर्म की कलात्मक अभिव्यक्तियों से भी सहायता मिलती है। कहा जा सकता है कि एक दृष्टि से धर्म तथा कला एक-दूसरे के पूरक हैं। धार्मिक अनुभूति कला-बोध में सरल हो जाती है, तथा कला को धर्म में सदा ही कलात्मक कृतियों के लिए नवीन सामग्री मिलती रहती है।

इन सभी तथ्यों के सिंहावलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म सदा दो विरोधी प्रवृत्तियों के मध्य पनपता है तथा अग्रसर होता है। एक को "परम्परा" कह सकते हैं, दूसरे को 'प्रगति'। स्पष्टत: दोनों विराधी तत्त्व हैं। परम्परा में बंध जाने से प्रगति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न होता है। जीवन के कुछ

अनुभव तो स्पष्टत: दिखलाते हैं कि परम्परा के बन्धन को तोड़ने पर ही प्रगति सम्भव है। किन्तु, पैटर्सन का कहना है कि धर्म में इन दोनों का समावेश ही नहीं; विचित्र मिलन भी है। परम्परा का तो धर्म में महत्त्व है ही। धार्मिक अवधारणाएं तथा मूल धार्मिक विश्वास तो परम्परा से ही प्राप्त होता है, और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलता जाता है। कठोर प्रगतिवादी भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर पाते, उन्हें भी इन 'भावों' के लिए परम्परा पर झुकना पड़ता है। उदाहरणत: प्रोटेस्टेन्ट मत का प्रादुर्भाव तो प्रचलित ईसाई मत के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ था। किन्तु, उनका नारा भी मौलिक ईसाई मत का वरण ही था। इस सम्बन्ध में एक और बात विचारणीय है। हर नया कदम एक नयी परम्परा आरम्भ कर देता है और धर्म इन्हीं परम्पराओं के माध्यम से जीवित रह पाता है।

किन्तु परम्परा के बन्धन में यदि धर्म पूर्णतया जकड़ा हुआ होता तो धर्म का अन्त कब का हो गया होता। धर्म के सतत् विकास से यह सिद्ध होता है कि धर्म में सदा ही प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ कारगर रही हैं। इतिहास साक्षी है कि धर्म को नवीन तथा मौलिक विचारों द्वारा नवीन दिशा देने वाले महान व्यक्ति-धर्मगुरु आदि होते रहे हैं। यह ठीक है कि धर्म की परिधि के अन्तर्गत सदा से परम्परा तथा नवीन विचारों के मध्य तनाव-संघर्ष रहा है। किन्तु इस संघर्ष के कारण ही दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ धर्म में जीवित रही हैं, तथा इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के कारण धर्म जीवित रहा है।

इसी कारण अपनी विकसित-बौद्धिक अवस्था में धर्म परम्परा तथा कुछ प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं के प्रति बड़ा ही उदार रहा है। विशेषत: महान व्यक्तियों के जीवन को तो धर्म ने सदा ही बड़ा महत्त्व दिया है। जोरस्टर धर्म में जोरस्टर का व्यक्तित्व एवं जीवन इस धर्म का केन्द्रित प्रसंग है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐतिहासिक घटनाओं के प्रति धर्म की मनोवृत्ति सदा ऐसी ही रही हो। हिन्दू धर्म में धर्मगुरुओं के जीवन को वह केन्द्रियता प्राप्त नहीं जो जोरास्टर धर्म में जोरास्टार को प्राप्त है। कभी-कभी किसी देश में एक प्रकार की ऐतिहासिक घटना को अत्यधिक धार्मिक महत्त्व दिया जाता है, तो दूसरे देश में ठीक उसी प्रकार की घटना की उपेक्षा की जाती है। अत: इतना ही कहा जा सकता है कि इन ऐतिहासिक तथ्यों के द्वारा भी धर्म के स्वरूप की समझ में कुछ सहायता अवश्य मिलती है।

धर्म का प्रादुर्भाव

साधारणत: धर्म के प्रादुर्भाव का प्रश्न संस्कृतिशास्त्री तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं का प्रश्न समझा जाता है, किन्तु पैटर्सन के मत में इस प्रश्न की प्रासंगिकता दर्शन में भी है। किसी अनुभव के उत्पन्न होने के ढंग से भी उस अनुभव के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलती है। कभी-कभी तो उत्पन्न होने के ढंग पर ही अनुभव की यथार्थता-अयथार्थता निर्भर करती है। अत: धर्म के उत्पन्न होने के ढंग की जानकारी धर्म के स्वरूप पर भी प्रकाश देती है।

धर्म के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, उनमें कुछ को तो अब मान्यता भी नहीं दी जाती। उदाहरणत: धर्म की उत्पत्ति की जीववादी व्याख्या अब स्वीकार्य नहीं। सांसारिकता तथा अध्यात्मिकता के भेद में भी धर्म की उत्पत्ति नहीं, क्योंकि यह भेद स्वयं धार्मिक मनोवृत्ति के आधार पर ही किया जाता है।

प्राचीनतम गिरोहों के जीवन में एक ऐसी निश्चित अवस्था आयी थी जब वे सामूहिक जीवन, सम्मिलित भोज, रीति-रिवाज़ आदि को महत्त्व देने लगे थे। इसी अवस्था में धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। इस समय गिरोहों के जीवन में जादू-टोना का विशेष स्थान था, इसी कारण प्राचीनतम धर्मों में जादू उनका अभिन्न अंग बन गया था। इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर पैटर्सन को टाइलर के सिद्धान्त में कुछ तथ्य दिखाई देता है। टाइलर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति के मूल में आत्म की अनुभूति है। यह ठीक

है कि उस समय आत्म की अवधारणा विकसित नहीं थी। फिर भी इतनी अनुभूति तो स्पष्ट थी कि दृश्य शरीर ही सब कुछ नहीं। उन्हें प्रतीत होता था कि शरीर के अतिरिक्त कुछ दिव्य सत्ता है जो निद्रावस्था तथा बेहोशी में कुछ क्षणों के लिये शरीर से पृथक् हो जाती है तथा मृत्यु में शरीर को सदा के लिये छोड़ जाती है। उस 'दिव्य सत्ता' की चेतना तथा उसके अज्ञात रूप के कारण उपजा भय इन्हीं को धर्म की उत्पत्ति का आधार माना जा सकता है। पैटर्सन को इस मत से असहमति नहीं; केवल वे इतना और कहते हैं कि धर्म की उत्पत्ति के मूल इन भावनाओं के अतिरिक्त एक और अन्य भावना है-मनुष्य को अपनी असमर्थता की चेतना तथा मनुष्य का अपने को वातावरण के साथ पूर्णतया अभियोजित न कर सकने की चेतना। प्राचीनतम गिरोहों के मनुष्य का वातावरण के साथ वास्तविक अभियोजन तो सही ही था-यह अभियोजन मानसिक स्तर पर भी सम्भव नहीं था। सम्भवत: इसी कारण प्राचीनतम धर्म अनेकेश्वादी बन गया, क्योंकि हर स्थल पर भिन्न-भिन्न देव-देवी को मान लेने पर अभियोजन सरल हो जाता था।

फिर भी पैटर्सन का कहना है कि इस सम्बन्ध में हम अटकल ही लगा सकते हैं, निश्चित निष्कर्ष नहीं दे सकते। तब यह है कि अटकल के लिए जो आनुभविक आधार उपलब्ध हैं, उनके द्वारा प्राचीनतम धर्मों के रीति-रिवाज़, व्यवहार आदि की जानकारी हो जाती है, तथा उस जानकारी के द्वारा धर्म के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है।

दर्शन और धर्म

जैसाकि हमने देखा है, दर्शन के सम्बन्ध में पैटर्सन का निश्चित निष्कर्ष है कि यह सत्ता के प्रति एक दृष्टिकोण है। जब दृष्टिकोण बदलते हैं तो नवीन दर्शन का उद्भव होता है, किन्तु हर दृष्टिकोण सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में एक निर्णय है। हाल के दार्शनिक चिन्तन में तत्त्वमीमांसक वाक्यों को अर्थहीन कहा जाना भी सत्ता के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण ही है। इस प्रकार दर्शन अनिवार्यत: परम-सत्ता से सम्बन्धित है।

धर्म विश्वास पर आधृत है। किन्तु यदि धर्म शुद्ध विश्वास पर ही आधृत है तो धर्म में बौद्धिकता के लिये स्थान नहीं रह जाता। उस दशा में धर्म तथा दर्शन सर्वथा भिन्न (शायद विरोधी भी) हो जाते हैं। इसी बात को कभी-कभी-दार्शनिक भाषा में व्यक्त करते हुए कहा जाता है कि दर्शन का सम्बन्ध तथ्यात्मक निर्णयों से है तथा धर्म का सम्बन्ध मूल्यात्मक निर्णयों से है। यदि इसे स्वीकारा जाय तो धर्म तथा दर्शन का क्षेत्र ही भिन्न हो जाता है तथा उनके बीच विरोध का प्रश्न नहीं उठता। मूल्यात्मक निर्णयों के द्वारा तथ्यात्मक निर्णयों के खण्डन या समर्थन का प्रश्न ही नहीं उठता।

पैटर्सन का कहना है कि धर्म तथा दर्शन को इस प्रकार भिन्न तभी दिखलाया जा सकता है जब मूल्यों को पहले से ही पूर्णतया विषयिगत मान लिया जाय। इसके विपरीत यदि मूल्य वस्तुपरक हैं तो उनका सम्बन्ध तथ्यों से रहेगा ही। उदाहरणत: यदि प्रेम को सर्वोच्च मूल्य माना जाय, तो यही एक तथ्य हो जाता है। अत: पैटर्सन के मत में तथ्यात्मक निर्णय एवं मूल्यात्मक निर्णय के अन्तर के आधार पर धर्म तथा दर्शन का भेद वांछनीय नहीं है।

पैटर्सन का कहना है कि धर्म तथा दर्शन के भेद करने का आधार विश्वास तथा बौद्धिकता का अन्तर ही है। किन्तु उनके मत में दोनों में समानता भी है। कम से कम दोनों भावों के दार्शनिक विश्लेषण के द्वारा इनकी समानता स्पष्ट की जा सकती है। एक ओर तो दिखलाया जा सकता है कि धार्मिक विश्वास एवं श्रुति भी बौद्धिकता के अनुकूल हैं, तथा दूसरी ओर यह भी दिखलाया जा सकता है कि दार्शनिक बौद्धिकता भी अन्तत: एक प्रकार का विश्वास ही है।

श्रुति की अवधारणा में तार्किक दोष तो नहीं ही है क्योंकि श्रुति की अवधारणा ईश्वर की मान्यता पर आधृत है। यदि ईश्वर एक परमशुभ व्यक्तित्ववान सत्ता है, तो यह मानने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं कि इस व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति को कुछ ज्ञान प्राप्त हो। इस स्थल पर कहा जा सकता है कि इस तर्क में पुनरावृत्ति दोष है क्योंकि यहाँ श्रुति को मान्यता देने के लिए ईश्वर को माना जाता है, तथा ईश्वर को सिद्ध करने के लिए श्रुति का सहारा लिया जाता है। अत: पैटर्सन श्रुति की बौद्धिकता इस ढंग से सिद्ध नहीं करते, उन्हें ज्ञात है कि किसी अज्ञात तत्त्व के विषय में बौद्धिक विश्वास तभी जग सकता है जब उस तथ्य के अनुमान के आधार समुचित हों। अन्धविश्वास तथा बौद्धिक विश्वास में अन्तर है। विश्वास अपने में अबौद्धिक नहीं, जब वह तर्क, युक्ति, अनुभव आदि से आँखे मूँद लेता है, तभी वह अबौद्धिक हो जाता है। अत: श्रुति की बौद्धिकता की परीक्षा के लिए देखना है कि श्रुति के आनुभाविक आधार यथेष्ट तथा समुचित हैं या नहीं। पैटर्सन यह भी कहते हैं कि श्रुति को व्यक्ति पर लादना अबौद्धिक है, व्यक्ति स्वयं श्रुति के आनुभविक आधारों से प्रभावित हो अपने अन्तर में विश्वास उत्पन्न करे तथा श्रुति में उसे तथ्य दिखायी दे। इस प्रकार से बौद्धिक परीक्षा पर आधृत विश्वास अबौद्धिक नहीं हो सकता, श्रुति अबौद्धिक प्रतीत तब होता है जब इसे व्यक्ति पर लादने की चेष्टा होती है।

इस प्रकार के विश्वास के उदय होते ही दर्शन तथा धर्म का अन्तर मिट जाता है। तब बौद्धिकता को धर्म में स्थान मिल जाता है तथा धर्म बौद्धिक हो जाता है। इसी कारण पैटर्सन का कहना है कि 'सच्चा धर्म दर्शन है तथा सत्य दर्शन धर्म।'

***

14

धर्म और ऐहिकता*

याकूब मसीह

यह पुस्तक ''न्यू स्टडीज इन फिलासफी एंड रिलीजन'' के अन्तर्गत 15 प्रस्तावित पुस्तकों में से तीसरी पुस्तक है। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य है कि समकालीन धर्मदर्शन की समस्याओं को विश्लेषणात्मक रूप से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। पाश्चात्य देशों में, विशेषकर अमेरिका और इंग्लैंड में, ईश्वरवाद के स्थान पर ऐहिकता (सेक्यूलरिज्म) को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। इस क्षेत्र में बिशप जे.ए.टी. रोबिंसन कृत ''**ऑनेस्ट टू गॉड**'' (1963), पॉल वान् बेवन कृत ''**दी सेक्यूलर मीनिंग ऑफ दि गोस्पल**'' (1963), हार्वे कोक्स कृत ''**दि सेक्युलर सिटी**'' (1965) थॉमस जे.जे.अल्टाइजर तथा विलियम हेमिल्टन कृत ''**दि डेथ ऑफ गॉड**'' (1966), डब्लू. एल. पेल्ज कृत '**गॉड इज नो मोर**'' (1966) इत्यादि उल्लेखनीय रचनााएं हैं। परंतु इन सभी पुस्तकों में ऐहिकता को अपनाने पर भी ऐहिकता का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है। इसका मुख्य कारण है कि इस संदर्भ में इतनी विभिन्न दृष्टियों से इतने विभिन्न अंशों पर बल दिया जा रहा है कि 'ऐहिकता' अनेकार्थक शब्द हो गया है। इस पुस्तक '**रिलीजन एंड सेक्युलेराइजेशन**' में ऐहिकता के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है।

पाश्चात्य देशों में ऐहिकता का पदार्पण धर्मसुधार-आन्दोलन (रिफोर्मेशन) तथा वैज्ञानिक नवजागरण (रिनेसंस) के साथ ही हुआ। फिर विज्ञान तथा तकनीकी के प्रचार तथा प्रसार के साथ-साथ ईश्वर में लोगों का विश्वास क्षीण पड़ता गया और इस युग में ऐहिकता का प्रचार प्राय: सभी पाश्चात्य देशों में द्रुत गति से हो रहा है। ऐहिकता में निहित निरीश्वरवाद से ध्वनित विसंगति का नारा भी कला, साहित्य तथा दर्शन में प्रसारित होता जा रहा है। इस ऐहिकता के प्रसार में दार्शनिक विश्लेषण, समाज-दर्शन तथा ऐतिहासिक अध्ययन बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इन सब प्रकार के अध्ययनों की प्रतिध्वनि इस समीक्ष्य पुस्तक में देखने में आती है। यद्यपि इस पुस्तक के अध्याय 1 में ऐहिकता के लक्षणों का स्पष्टीकरण किया गया है तो भी समीक्षक के द्वारा ऐहिकतावाद का अति संक्षिप्त विवेचन इस पुस्तक को समझने में सुगम हो सकता है।

मोटे रूप से भारत में 'ऐहिकता' शब्द के स्थान पर 'धर्म-निरपेक्षतावाद' शब्द का व्यवहार किया जा रहा है, परन्तु इन दोनों शब्दों के तात्पर्य में अन्तर है। ऐहिकतावाद इस बात का बोध कराता है कि इस विश्व के अतिरिक्त अन्य कोई पारलौकिक सत्ता नहीं है जिसकी सहायता से इस लोक का कल्याण हो सकता है। अत: ऐहिकता ईश्वर-विरोधी है और पूर्णतया मानवतादी है। इसलिये

** रिलीजन एण्ड सेक्युलराइज़ेशन, ले. वर्नोन प्रैट, मैक्मिलन प्रेस, 1970*

ऐहिकतावाद मानवतावाद का वह रूप है जिसके अनुसार मानव अपनी तर्कबुद्धि की सहायता से (न कि श्रुति की सहायता से) विज्ञान, तकनीकी एवं औद्योगिकीकरण के आधार पर (बिना पारलौकिक सत्ता की आकांक्षा से) इस लोक का हित प्राप्त कर सकता है। इस पुस्तक में भी बताया गया है कि ऐहिकता विज्ञान-प्रधान सिद्धान्त है और वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने पर पारलौकिकता को अमान्य करना अपरिहार्य हो जाता है। यही कारणा है कि 'ऐहिकता' को 'धर्मनिरपेक्षता' का पर्याय नहीं माना जा सकता है। फिर, चुकि पाश्चात्य देशों में पारलौकिक सत्ता ईश्वर का बोध कराती है इसलिये ऐहिकता मं निरीश्वरवाद का पक्ष सबल रूप में पाया जाता है। ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवाद से भिन्न समझना चाहिये। ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद ईश्वरवाद का सम्पूर्णतया उल्मूलन करता है और इस प्रकार के निरीश्वरवाद सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मनौवैज्ञानिक चेतना से सम्बद्ध माना जाता है। समकालीन युग में ईश्वर मानव-चेतना से इसलिये ओझल हो गया है हि मानव को अब ईश्वर से प्रार्थना नहीं करता है वह नहर,कूप,नलकूप इत्यादि की ही चिन्ता करता है। इसी प्रकार बीमार पड़ने पर पश्चात्य देशवासी जप-जाप नहीं करता है : वह डाक्टर और औषधि की शरण लेता है। यही बात पाश्चात्य लोगों में उनकी सभी समस्याओं के समाधान में लागू होती है। अत: ऐहिकतावाद उसी को कहा जाता है जहाँ मानव अपनी बुद्धि और कौशल के आधार पर (नकि किसी पारलौकिक सत्ता द्वारा) अपने जीवन की समस्याओं का समाधान करता है। पाश्चात्य देशों में ईश्वर की पूजा उसी प्रकार लुप्तप्राय होती जा रही है जिस प्रकार जीऊस, जूपिटर, अपोलो इत्यादि देवताओं की पूजा को हास्यापद मानकर उसका लोप हो गया है। परंतु इस ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद से कुछ नवीन समस्याएं भी उपस्थित हो गयी हैं।

पाश्चात्य जगत् में नीति तथा अन्य मूल्यों का आधार ईश्वर माना जाता था। नैतिक आदेशों को ईश्वर की आज्ञा मानकर उनका पालन ईश्वर-भय से संचालित समझा जाता था। परंतु यदि ईश्वर-चेतना का ही विलय हो जाय तो फिर इन नैतिक आदेशों की किस प्रकार अनुशास्ति होगी। यही बात अन्य मूल्यों के लिये भी कही जा सकती है। सभी मूल्यों के आधार में जीवन की सार्थकता का प्रश्न है। सार्थकता का प्रश्न जीवन के उद्देश्य से जुड़ा हुआ है। अभी तक जीन के उद्देश्य को ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व से जुड़ा माना जाता था। परतुं इस विश्व के सृष्टिकर्त्ता तथा जगन्नियंता में लोगों का यदि विश्वास ही नहीं हो, तो जीवन की उद्देश्यपूर्णता की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है ? वर्णोन प्रैट ने अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में इस प्रश्न पर पूरा विचार व्यक्त किया है।

वर्णोन प्रैट ने अपनी पुस्तक को तीन अध्यायों में सीमित रखा है। अध्याय-1 में उन्होंने पारलौकिक सत्ता का विलयन, अध्याय-2 में पारलौकिक सत्ता के बिना धर्म और अध्याय-3 में पारलौकिक सत्ता के बिना जीवन-यापन का उल्लेख किया है। इसी क्रम में हम वर्णोन प्रैट की पुस्तक की समीक्षा करेंगे।

पारलौकिक सत्ता का विलयन*

ऐहिक जीवन के लक्षण को बिना जाने हुये हम ऐहिकतावाद को नहीं समझ सकते हैं। यह ठीक है कि पाश्चात्य देशों में अधिकांश व्यक्ति चर्च (गिरजाघरों) में नहीं जाते हैं। पर क्या चर्च नहीं जाने से ऐहिकता को अपनाना कहा जायगा ? नहीं, क्योंकि अनेक व्यक्ति चर्च नहीं जाते और तो भी उनमें अनेक प्रकार के अंध-विश्वास पाये जाते हैं (8-9)। इसलिये ऐहिकवादी नागरिक के जीवन को देखकर ही हम ऐहिकता को स्पष्ट कर सकते हैं।

---

* *कोष्ठक में लिखे गये अंक "रिलीजन एण्ड सेक्यूलराइज़ेशन" नामक पुस्तक की पृष्ठ संख्या के सूचक हैं। पुस्तक-निर्देश समीक्षा के अन्त में दिया जाएगा।*

कौक्स[1] और विल्सन[2] ने ऐहिक नागरिकों के संबंध में उनके लक्षणों का उल्लेख किया है। सहिष्णुता तथा अनेकत्ववाद, उपयोगितावाद अथवा साधनतावाद, युक्तिपूर्ण प्रविधि अथवा तकनीकी और पवित्रता के स्थान पर लौकिक वस्तुओं के प्रति अभिमुखता इत्यादि लक्षणों का उल्लेख किया गया है। कौक्स के अनुसार नगरीकरण में अनामत्व और अवैयक्तिकता दो विशेष लक्षणों का उल्लेख किया गया है। कौक्स के अनुसार नगरीकरण के फलस्वरूप ही ऐहिकता दृढ हो पायी है और आधुनिक नगरीकरण में अनामत्व और अवैयक्तिकता दो विशेष लक्षण देखने में आते हैं। उदाहरणार्थ, किसी भी आधुनिक नगर में तार, बैंक, रेल इत्यादि की जटिल व्यवस्था है। प्रत्येक नागरिक जब बैंक में रूपया जमा करने या निकालने जाता है तो बैंक के कर्मचारी बिना किसी व्यक्तिगत संभाषण के अपने ग्राहकों का काम कुशलता और सतर्कता के साथ सम्पादित कर देते हैं। यही बात रेल के टिकट लेने या तार भेजने इत्यादि के काम में देखी जाती है। इन सब जटिल व्यापार में मानव को मानव मानते हुये प्रत्येक व्यक्ति के साथ अवैयक्तिक रूप से बर्ताव किया जाता है। इस व्यक्तिहीनता का कारण नागरिकों की गतिशीलता भी है। प्राय: नागरिक अपनी स्थिति में सुधार लाने के लिये एक नगर से दूसरे नगर में जाया करते हैं और फिर एक ही शहर के एक भाग से दूसरे भाग में भी स्थान बदलते रहते हैं। इसी गतिशीलता के कारण नागरिकों में निर्मूलता तथा आत्मविमुखीपन अथवा अन्यदेशीपन चला आता है।

यदि नगरीकरण के साथ व्यक्तिगत बंधन में शिथिलता आ जाय, सामाजिक व्यापार में अनामत्व* बरता जाय तो जीवन की सभी समस्याओं के प्रति अवैयक्तिक व्यवहार चला आयेगा। चूंकि ईश्वर के साथ मैं-तू का अत्यधिक वैयक्तिक प्रकार का निकटतम संबंध पाया जाता है, इसलिये नगरीकरण के साथ व्यक्तिहीनता के कारण ऐहिकतावाद का होना निश्चित मालुम देता है। कौक्स के अनुसार[3] नगरीकरण और ऐहिकता का संबंध तथ्यात्मक है जिसे ऐतिहासिक अध्ययन के द्वारा पुष्ट किया जा सकता है। कौक्स ने ऐहिकता के साथ नगरीकरण का संबंध जोड़कर ऐहिकता के दो अन्य लक्षणों का भी उल्लेख किया है, अर्थात् व्यावहारिकतावाद और लौकिकता।

व्यावहारिकता को अर्थक्रियावाद के दार्शनिक सिद्धान्त से भिन्न समझना चाहिये। कौक्स के अनुसार इसे टास्क (उद्देश्यपूर्ण कार्य) और प्रायोजना (प्रोजेक्ट) की आधारभूमि में समझना चाहिये। यहाँ व्यवहारिकता का अर्थ है कि समस्याविशेष को ध्यान में रखकर ऐसी व्यवस्था को अपनाना चाहिये जिससे उस समस्या का समाधान हो जाय।[4] इसी बात को विल्सन ने करणात्मक मूल्य (4) की संज्ञा दी है, अर्थात् बहुमत से प्राप्त उद्देश्यों के द्वारा पूर्ति। दूसरे शब्दों में, ऐहिकतावादी व्यक्ति सभी स्थानों पर उन साधनों पर बहुत अधिक विचार करता है जिनके द्वारा सर्वसम्मति से प्राप्त उद्देश्यों की पूर्ति हो जाय। इसी संदर्भ में विल्सन युक्तिपूर्ण विधि एवं प्राविधिक प्रणालियों का भी उल्लेख किया, अर्थात् किसी समस्या विशेष (उदाहरणार्थ, पैदावार को बढ़ाने की समस्या, या रोजगार बढ़ाने का प्रश्न) के समाधान के लिये ऐहिकवादी बुद्धि की मदद लेता है, तकनीकी उपायों का व्यवहार करता है, पारलौकिक सत्ता या श्रुति का नहीं। चूंकि प्राविधिक (तकनीकी) साधनों को ही ध्यान में रखा जाता है इसलिये ऐहिककता देखने में आती है।

अंग्रेजी में लौकिकता को प्रोफेविटी कहा गया है। यहाँ प्रोफेविटी को पवित्र (सेक्रेड) का विपरीत माना गया है। पवित्र पारलौकिक तथा मानव से अतीत सत्ता होती है जिसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर व्यक्ति अपने को जीवन में स्थिर समझता है। अत:, पवित्र (सेक्रेड) को विलक्षण, अद्भुत,

---

* *अर्थात् जहाँ किसी के व्यक्तिगत नाम को जानने की आवश्यकता ही नहीं पड़े। प्राय: नगरों में व्यक्ति परिचित रहते हुए भी अज्ञातनामा रहते हैं। इसी अवस्था को अनामत्व की अवस्था कहा जाता है।*

विस्मयपूर्ण इत्यादि माना जाता है और पवित्र सत्ता के संबंध में व्यक्ति को सतर्क रहना पड़ता है। उसकी कथा भी शुभ अवसर पर नियत स्थान और दिन में की जाती है। इसके विपरीत लौकिक वह है जो साधारण घटनाओं में पाया जाता है, जिसकी कथा सभी समय सभी स्थान पर की जाती है। अत: पवित्र वस्तु धर्म का विषय मानी जाती है और और लौकिक वस्तु विज्ञान का विषय समझी जा सकती है। लौकिक के इसी भेद को ध्यान में रखकर कहा गया है कि ऐहिकतावादी लौकिक होता है। उसे इस विश्व को छोड़कर किसी अन्य पारलौकिक तथा पवित्र अतीत ईश्वर की याद नहीं आती है। वह ईश्वर के विषय में उसी प्रकार बातचीत करता है मानो वह साधारण व्यक्ति है। ऐहिकतावादी ईश्वर के विषय में कहता है कि अब वह बूढ़ा हो गया है, दुर्गंध उड़ाता रहता है, इत्यादि। ऐहिकतावादी व्यक्ति इसी विश्व की बात सोचता है, इसी को सुधारने की धुन में लगा रहता है और मानवजाति के कल्याण के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है [5]। इसी बात को नकारात्मक रीति से विल्सन ने बताया है कि ऐहिकतावादी वह है जिसमें पवित्रता के विचार तथा जीवन की पवित्रता के भाव का अभाव और धार्मिक अनुभूति का अभाव रहता है (3)। यही कारण है कि ऐहिकतावादी व्यक्ति में धार्मिक विचार, व्यवहार तथा अनुष्ठान का अभाव पाया जाता है।

इसके पूर्व कि कौक्स के द्वारा ऐहिकताकरण के दो अन्य लक्षणों अनेकत्व और सहिष्णुता पर प्रकाश डाला जाय, यहाँ वर्णोन प्रैट की उन दो टिप्पणियों का उल्लेख करना चाहिये जो उन्होंने व्यावहारिकता और युक्तिपूर्णता के प्रसंग में प्रस्तुत की हैं। विल्सन ने बताया है कि ऐहिकतावादी व्यक्ति बुद्धिपरक साधनों की मदद लेता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पारलौकिकतावादी धार्मिक व्यक्ति अबौद्धिक साधनों के अधीन रहता है। प्रैट का कहना है कि ऐहिकतावादी और पारलौकिकतावादी दोनों ही अपने साधनों को युक्तिपूर्ण समझते हैं। अन्तर केवल इनकी युक्तिपूर्णता की कसौटी में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, प्रैट का कहना है (4) कि मध्ययुगीन व्यक्ति के लिये श्रुति का आश्रय लेना, सन्तों के मत को प्रस्तुत करना, इत्यादि युक्तिपूर्ण माना जाता था, 20वीं शताब्दी के विचारकों के लिये यह अमान्य है।

फिर प्रैट की टिप्पणी है कि करणवाद कुछ नयी बात नहीं है। ऐहिकतावादी और ईश्वरवादी दोनों अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति अभीष्ट साधनों के द्वारा करते हैं। अन्तर इतना ही है कि ईश्वरवादी का उद्देश्य पारलौकिक हुआ करता है (4)। उदाहरणार्थ, ईश्वरवादी उन्हीं सब कार्यों की सहायता लेते हैं जिनके द्वारा उन्हें 'अनंत जीवन' प्राप्त होगा।

मेरी समझ में प्रैट की टिप्पणियों को सही समझा जायगा। परन्तु इनका उल्लेख करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। इसका कारण है कि ऐहिकतावादी का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। वह जानता है कि धार्मिक व्यक्ति भी मानव हैं और मानव होने की हैसियत से वे बुद्धियुक्त व्यक्ति हैं और बुद्धियुक्त होने के कारण उनके व्यवहार में उद्देश्य और साधन का अभाव नहीं रहता है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर न तो पारलौकिक सत्ता को ही स्वीकार किया जा सकता है और न उस पर आधृत उद्देश्यों और उनकी प्राप्ति के लिये साधनों को। टिप्पणियों पर टिप्पणी इसलिये की गयी है कि कौक्स और डी. जैड. फिलिप्स[6] मानते हैं कि ऐहिकतावादी युग में मतमतान्तरों को प्रश्रय दिया जाता है और सभी मतवादों के प्रति सहिष्णुता बरती जाती है। भारत में रहने वाले भी ऐहिकतावाद को अपने संविधान में स्वीकार करते हैं। यह ऐहिकतावाद अनेकत्ववाद (अथवा सापेक्षतावाद) और सहिष्णुतावाद (अथवा सहास्तित्ववाद) दोनों को स्वीकार करता है (2-5)। धर्म में आत्मबद्धता पायी जाती है। धार्मिक व्यक्ति ईश्वर को मनसा, वाचा और कर्मणा स्वीकार करता है। इसलिये ईश्वर में उसकी आस्था इतनी अटूट मालूम देती है कि वह धार्मिक सत्यता को निरपेक्ष रूप से सत्य मानता है। अपने धर्म को छोड़ अन्य सभी

के देवी-देवताओं तथा धर्मों को वह भ्रम कहकर उनके प्रति असहिष्णु हुआ करता है। मध्य युग में यूरोप में ईसाई धर्म को छोड़कर अन्य धर्मों को कोई प्रश्रय नहीं मिला था। मध्ययुगी ईसाई न तो परम्परागत विचार को छोड़कर अन्य बात सुनना चाहता था और न किसी अन्य धर्म के प्रति उदार होना चाहता था। मुसलमानों के प्रतिक्रूसेड की कथा सर्वज्ञात है ही। अत: धर्म में निरपेक्ष भाव की दृष्टि होती है। परन्तु इसके विपरीत ऐहिकतावादी अन्य मतों और दृष्टियों को भी प्रश्रय देता है। अत: कौक्स और फिलिप्स इस निष्कर्ष पर आते हैं कि धार्मिक दृष्टि एकात्मक और निरपेक्ष होती है और ऐहिकताकरण के साथ अनेकत्वभाव तथा सहिष्णुता का विचार जड़ पकड़ता जाता है (3)।

क्या सहिष्णुता अनेकत्व, करणवाद, युक्तिपूर्ण प्रविधि, तकनीकी विधि, पवित्रता, भावहीनता के साथ लौकिकता को ऐहिकतावाद का तात्त्विक तथा सारगर्भित लक्षण मान लिया जाय ? ऐहिकताकरण की गति में अनेक लक्षण विभिन्न रूप में दिखाई देते हैं। इन लक्षणों को सभी प्रकार की ऐहिकता का सामान्य और सारगुण नहीं समझना चाहिये। परन्तु प्रैट के अनुसार ऐहिकता को स्पष्ट करने के लिये उन लक्षणों का उल्लेख करना चाहिये जिनमें पारिवारिक समानता पायी जाती है। प्रैट ने पारिवारिक समानता के तार्किक प्रत्यय का विश्लेषण बाद में किया है जिसका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि ऐहिकताकरण किन कारणों से संभव हो सका है ? क्या ऐहिकताकरण सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है, या क्या यह मानव की बौद्धिक दृष्टि के बदलने से ही संभव हो सका है ? प्रैट के अनुसार इन दोनों प्रकार के कारणों में सम्बन्ध अवश्य है और वे बौद्धिक आधार को ही विशेष स्थान देने को तैयार हैं (11)। परन्तु मैकेंटायर[7] सामाजिक स्थितियों को ही ऐहिकता का विशेष आधार मानते हैं, और यद्यपि प्रैट इस प्रसंग में कौक्स का नाम नहीं लेते तो भी उल्लेखनीय है कि कौक्स के अनुसार[8] ऐहिकताकरण सामाजिक परिवर्तन और विभेदीकरण (सामाजिक विशिष्टीकरण) से उत्पन्न हुआ है।

मैकेंटायर ऐहिकता के विषय में सामाजिक परिवर्तनों को विशेष स्थान प्रदान करते हैं। मैकेंटायर के अनुसार परम्परागत ईसाई विश्वास अनुष्ठान तथा संस्था से निरीश्वरवादी विश्वास और अनुष्ठान में संक्रमण को ही ऐहिकताकरण की संज्ञा दी जा सकती है। चूंकि अमेरिका में अभी भी ईसाई अनुष्ठान और संस्थाओं में कमी नहीं आयी है इसलिये मैकेंटायर अमेरिका को ब्रिटेन की तुलना में ऐहिकतावादी देश नहीं मानते हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब 17वीं शताब्दी तक ईसाई विश्वास सभी यूरोपीयों के लिये स्वाभाविक मालूम देता था (7) तब कौन सी ऐसी घटनायें घटित हुई हैं जिनके कारण समकालीन युग में अनेक व्यक्ति ईश्वर की वास्तविकता में संदेह प्रकट करते हैं, कुछ विचारक ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं और फिर कुछ दार्शनिक ईश्वर प्रत्यय को अर्थहीन बकवास समझते हैं ? (11)। जहाँ तक ब्रिटिश समाज की बात है, वहाँ मैकेंटायर के अनुसार ऐहिकतावाद औद्योगिक क्रान्ति तथा तदुपरान्त समाज में वर्गों के विभाजन से उत्पन्न हुआ है (9)। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि परम्परागत ईसाई दृष्टि का क्या स्वरूप मानना चाहिये ? ईसाई दृष्टि वह है जिसमें व्यक्ति पारलौकिक सत्ता के प्रति अभिमुख रहे और पार्थिव जीवन को स्वर्ग-नरक की प्राप्ति का रंगमंच स्वीकार करें[9] (7)। पारलौकिकता के प्रति अभिमुखता के कारण ईसाई नरक-दंड, स्वर्गदूत, जादू-डाईन में विश्वास भी रखता था (10,24)। मैकेंटायर के अनुसार ईसाई दृष्टि के परित्याग के दो मुख्य कारण बताये जा सकते हैं। (क) ईसाई प्रत्ययों का सम्बन्ध व्यवहार से है। जब व्यक्तियों का व्यवहार बदल गया तो ईसाई प्रत्यय पुराने पड़कर क्षीण हो गये। (ख) फिर वे सब प्रत्यय, जिनके आधार पर सामाजिक और बौद्धिक जीवन की कार्यवाहियों को स्पष्ट किया जाता है, वे सब प्रत्यय नगरीकरण तथा औद्योगीकरण से उत्पन्न समाज में विसंगत मालूम देने लगे हैं। उदाहरणार्थ, न्यूटन के उद्भव से पूर्व

लोग अरस्तू के विचार को स्वीकार कर समझते थे कि इस विश्व की व्याख्या आद्य चालक के द्वारा हो सकती है। परन्तु विज्ञान के प्रचार और प्रसार के बाद कारणतामूलक नियतिवाद के द्वारा ही विश्व की सभी घटनाओं की व्याख्या की जाती है। अत: सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप ईश्वर, जादू-टोना, स्वर्ग-नरक इत्यादि पारलौकिक सत्ताओं में लोगों को अविश्वास हो गया है।

प्रैट वस्तुत: मैकेंटायर की व्याख्या को सम्पूर्णतया सत्य नहीं मानते हैं। परन्तु प्रैट सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा बौद्धिक परिवर्तन को ऐहिकताकरण के विकास में प्रमुख स्थान देना चाहते हैं। प्रैट के अनुसार स्वयं औद्योगीकरण का मूल कारण विज्ञान का उदय है और विज्ञान का उदय रिफोर्मेशन (सुधारान्दोलन) तथा वैज्ञानिक रिनैसंस (नवजागरण) के आधार पर हुआ है। अत: बौद्धिक दृष्टि के परिवर्तन से ही ऐहिकतावाद की व्याख्या की जा सकती है (10,11)।

प्रैट के अनुसार विज्ञान-प्रसार के द्वारा ही ईश्वरवाद का लोप हुआ है, क्योंकि वैज्ञानिक प्रत्ययों का ढांचा ऐसा है जिसमें पारलौकिकता को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मध्य युग में लोग ईश्वर, स्वर्ग-नरक, डाईन-जादू इत्यादि विषयों की बात किया करते थे और इन विचारों का संज्ञापन भी आसानी से होता था। परन्तु समकालीन युग में वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुए इन प्रत्ययों को आत्मविरोधी और विसंगत पाया जाता है[10] (12-13)। अब वैज्ञानिक पद्धति की यह मान्यता है कि बिना कारण-कार्य के सिद्धान्त को अपनाए बिना प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती है। साथ ही साथ यह भी अब धारणा है कि प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या केवल प्राकृतिक कारणों के द्वारा हो सकती है और प्राकृतिक कारण वे ही हैं जिन्हें बार-बार दुहराया जा सकता है (आवृत्तीय)। चूंकि कारण-कार्य से बाहर घटनाओं की व्याख्या नहीं हो सकती है, इसलिये ईश्वर को आश्चर्यकर्मों की व्याख्या के लिये सही कारण नहीं माना जा सकता है। फिर, चूंकि ईश्वर को प्राकृतिक कारण नहीं माना जा सकता है इसलिये ऐहिक घटनाओं का स्पष्टीकरण करने के लिये ईश्वर की दुहाई नहीं दी जा सकती है। अपितु, प्राकृतिक कारण आवृत्तीय होता है और जिसे आश्चर्यकर्म कहा जाता है वह आवृत्तीय नहीं होता, इसलिये आश्चर्यकर्म को विश्वसनीय नहीं स्वीकार किया जा सकता है। वहाँ विशेष बात है कि उसी आवृत्तीय घटना को विश्वसनीय माना जाता है जिसे परीक्षण और प्रत्यक्ष का विषय समझा जाता है। अत:, विज्ञान में न तो श्रुति (शास्त्र) को और न प्रत्यक्षातीत अत्योचर पारलौकिक सत्ता को कोई स्थान प्रदान किया जा सकता है।

चूंकि धर्म और विज्ञान में विरोध होने पर प्रारम्भ में जो कुछ भी विज्ञान के विरोध में सोचा जा सकता था वह धीरे-धीरे वैज्ञानिक सफलता और व्यावहारिक फलदायकता की कसौटी के आधार पर दूर हो गया है और विज्ञानों की प्रतिष्ठा धर्म की तुलना में बहुत अधिक दृढ़ हो गयी है। इसलिये धीरे-धीरे यह सामाजिक और सांस्कृतिक धारणा बन गयी है कि ऐहिक घटनाओं की व्याख्या केवल वैज्ञानिक पद्धति के ही आधार पर सम्पन्न की जा सकती है। पर क्या ईश्वर को इस यांत्रिक विश्व का दूरस्थ और अन्तिम कारण नहीं माना जा सकता है ?

तटस्थ देववाद में ईश्वर को विश्व का दूरस्थ और अन्तिम कारण स्वीकार किया गया है परन्तु डब्ल्यू.टी. स्टेस ने [11] स्पष्ट कर दिया है कि अन्त में इस प्रकार के ईश्वर के प्रति लोगों को अनास्था ही हो गयी। अत: प्रैट का कहना है कि वैज्ञानिक विधि का ऐसा स्वरूप ही है कि इसका अनुसरण करने से आश्चर्यकर्म, पारलौकिक सत्ता तथा श्रुति में विश्वास को स्थिर नहीं किया जा सकता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए प्रैट ने सत्यापन-सिद्धान्त के प्रभाव को ईश्वर-प्रत्यय के प्रसंग में प्रस्तुत किया है (18-20)।

वैज्ञानिक भाषा को मानदंड मानकर ए. जे. एयर ने[12] स्वीकार किया है कि उसी को वास्तविक अथवा तथ्य स्वीकार किया जायगा जो अन्त में निरीक्षणों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। चूंकि ईश्वर को निरीक्षण का विषय नहीं माना जा सकता है, इसलिए ईश्वर को वास्तविक नहीं स्वीकारा जा सकता है। इसी बात को जॉन विज्डम[13] ने बागवान के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। विज्डम का कहना है कि यदि ईश्वर को इस विश्व का अदृश्य, अगोचर और इन्द्रियातीत बागवान स्वीकार किया जाय तो ईश्वर को कैसे वास्तविक समझा जा सकता है ? विज्डम ने बताया है कि वास्तव में पारलौकिक ईश्वर का सही अर्थ इसी वास्तविक जगत् की सर्वव्यापी दृष्टि के रूप में निश्चित किया जा सकता है। परन्तु विज्डम की व्याख्या के अनुसार तो ईश्वर की पारलौकिकता ही समाप्त हो जाती है। फ्लू[14] ने विज्डम के दृष्टान्त को दूसरे रूप में रखकर बताया है कि यदि ईश्वर ऐसी सत्ता हो जिसे न देखा जा सकता, न सूंघा जा सकता, न छूआ जा सकता है और न जिसे किसी अन्य प्रकार से गोचर किया जा सकता है, तो इस ईश्वर को किस प्रकार वास्तविक स्वीकार किया जा सकता है ? स्वयं फ्लू का निष्कर्ष है कि ईश्वर-प्रत्यय निरर्थक है।

इसीलिए प्रैट के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा बौद्धिक परिवर्तन को ऐहिकताकरण का अधिक महत्त्वपूर्ण कारण माना जायगा।

ईश्वर के बिना धर्म

यदि ईश्वर सम्बन्धी कथन निरर्थक और आत्मविरोधी हों तो कम से कम तीन प्रकार के विकल्प माने जा सकते हैं -

(1) या तो ईश्वर-सम्बन्धी कथन निरर्थक होंगे (ए. जे. एयर. का मत)

(2) या ये कथन पारलौकिक स्थिति को स्पष्ट नहीं करके इसी विश्व के सम्बन्ध में बोध कराते हैं (जे. विज्डम)

(3) या ये कथन तथ्यात्मक न होकर वास्तव में कहानी के द्वारा नैतिक कार्य-नीति को विहित करने के संकल्प का बोध कराते हैं।

इस संदर्भ में प्रैट ने एक प्रमुख विकल्प का उल्लेख नहीं नहीं किया है। पॉल तीलिख इत्यादि धर्मदार्शनिकों का कहना है कि ईश्वर-सम्बन्धी कथन प्रतीकात्मक होते हैं। चूकि प्रैट ने प्रतीक सिद्धान्त की अवहेलना की है इसलिये इनकी रचनात्मक देन में बड़ी कमी आ गई है।

प्रैट ने एयर के मत का विशेष उल्लेख इसलिये नहीं किया है कि अब शायद स्वयं एयर भी ईश्वर-सम्बन्धी कथनों को निरर्थक नहीं कहेंगे। उसने विज्डम के मत की व्याख्या बाद में की है। यहाँ प्रैट आर.बी. ब्रेथवेट[15] के मत की समीक्षा करना अभीष्ट समझते हैं।

ब्रेथवेट अनुभववादी हैं और अनुभववादी होने की हैसियत से वे धार्मिक कथनों का अर्थ-निरूपण करना चाहते हैं, न कि उनकी सत्यता का। ब्रेथवेट यह भी स्वीकार करते हैं कि सत्यापन-सिद्धान्त को उपयोग सिद्धान्त के रूप में काम में लाकर देखना चाहिये कि धार्मिक कथनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। फिर ब्रेथवेट धार्मिक कथनों के प्रसंग में इस महत्त्वपूर्ण संशोधन को प्रस्तुत करते हैं कि धार्मिक कथनों को पृथक्-पृथक् वाक्य न मानकर उन्हें व्यवस्थित रूप में लेकर उनका स्पष्टीकरण करना चाहिये। इन दोनों संशोधनों को ध्यान में रखकर ब्रेथवेट के अनुसार[16] ईश्वरविषयक कथन विशेषतया नीतिमूलक हुआ करते हैं (25-26)। परन्तु इस कार्यनीति को स्पष्ट करने के लिये समस्त ईश्वर-विषयक कथनों को उनके सामूहिक रूप में ध्यान में रखना चाहिये। द्वितीय, शुद्ध नैतिक कथनों की तुलना में ये धार्मिक कथन अमूर्त रूप में नहीं, वरन् दृष्टान्तों के आधार पर अभिव्यक्त होते हैं। साथ ही साथ धार्मिक कार्यनीति पर चलने के लिये धार्मिक व्यक्ति के अन्दर भी आन्तरिक परिवर्तन होना

चाहिये। परन्तु ब्रेथवेट[17] इस आन्तरिक परिवर्तन को धार्मिक कथनों का विभेद लक्षण नहीं मानते हैं। तृतीय, ब्रेथवेट के अनुसार सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि धार्मिक कथनों के द्वारा कथाओं के आधार पर कार्यनीति को कार्यान्वित करने का संकल्प मनोवैज्ञानिक रीति से दृढ किया जाता है। चूंकि बौद्ध, ईसाई इत्यादि भिन्न-भिन्न कथाओं के द्वारा अपने कथनों के कार्यनीतिमूलक अर्थों को स्पष्ट करते हैं, इसलिये कथा-मूलक होने के कारण एक धार्मिक कथन अन्य धर्मों के कथनों से भिन्न होते हैं और फिर एक ईश्वर-सम्बन्धी कथन अन्य नैतिक कथनों से भी भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, बौद्ध और ईसाई दोनों विश्व सौहार्द्र और विश्व करूणा की कार्यनीति पर जोर देते हैं। दोनों में मुख्य भेद यह है कि बौद्ध अभिकथनों का अर्थ जातक-कथाओं से स्पष्ट किया जाता है और ईसाई अभिकथनों का अर्थ निरूपण बाइबिल तथा उनके अन्य ग्रन्थों की कथाओं से व्यक्त किया जाता है। ब्रेथवेट के कथामूलक सिद्धान्त की दो तीन विशेषतायें हैं।[18]

(1) कार्यनीति को अभिव्यक्त करने वाली कथा को इस अर्थ में अनुभवाश्रित समझना चाहिये कि कथा को सिद्धान्तत: वास्तविक पात्रों की कहानी कहा जा सकता है।

(2) यह किसी भी प्रकार आवश्यक नहीं है कि कथा सच्ची हो अथवा कथा के पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हों। कथा और उसके पात्र पूर्णतया काल्पनिक हो सकते हैं।

(3) मुख्य बात है कि इन कथाओं के द्वारा धार्मिक व्यक्ति को कार्यनीति को कार्यान्वित करने में मनोवैज्ञानिक उत्प्रेरणा प्राप्त हो। अत:, यह कथा साधारण कहानी हो सकती है, दंतकथा भी हो सकती है। संभव है कि यह कथा दृष्टान्त हो या प्रतीक हो।

प्रैट ने ब्रेथवेट के मत को अस्वीकार कर दिया है। प्रैट का कहना है कि ब्रेथवेट ने यह एकदम से स्पष्ट नहीं किया है कि सत्यापन-सिद्धान्त के प्रयोग का क्या सिद्धान्त है (26-27)। शायद यह भी कहा जा सकता है कि ब्रेथवेट ने नैतिक कथनों के संवेगमूलक सिद्धान्त को बिना इस पर पूर्ण विचार किये ही ठुकरा दिया है। समीक्षक के मत में इन आलोचनाओं को विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिये। एक ही व्याख्यान में सभी बातों की चर्चा नहीं की जा सकती है। यहाँ यदि ब्रेथवेट हठवादी दिखाई देते हैं तो यह उनके लिये क्षम्य समझा जायगा। फिर प्रैट ने ब्रेथवेट के द्वारा दी गई धार्मिक कथनों की अनुभववादी व्याख्या की उन सब आलोचनाओं को स्वीकार कर दिया है जो मैस्केल[19] ने प्रस्तुत की हैं। (27-28)

मैस्केल[20] का कहना है कि ब्रेथवेट धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक समझते ही नहीं है। पहले तो वे शुद्ध ईश्वरवादी कथनों को अनानुभविक कहेंगे, उदाहरणार्थ, ईश्वर वास्तविक है, 'ईश्वर प्रेम है', 'ईसा ईश्वर है', इत्यादि। इन अनानुभविक कथनों को अर्थहीन समझकर वे ईसा-सम्बन्धी कथाओं को भी सत्य मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इनके लिये आवश्वक नहीं है कि ईसाई यह सत्य माने कि ईसा मृतकों में से जी उठा है। मैस्केल का कहना है कि कम से कम ईसाई धार्मिक कथनों की व्याख्या ब्रेथवेट के अनुभववादी मत के अनुसार नहीं हो सकती है, क्योंकि ईसाई ईश्वर को वास्तविक मानते हैं और ईसा सम्बन्धी अनेक कथनों को तथ्यात्मक रूप से समझते हैं। फिर मैस्केल के अनुसार, यदि कोई ईसाई धर्म को बौद्ध धर्म की तुलना में अपनाता है तो वह ईसाई कथाओं को सत्य समझकर अपनाता है, न कि वह ईसाई धर्म-कथाओं को केवल मनोवैज्ञानिक रूप से उत्प्रेरक समझता है।

न तो प्रैट ने और न मैस्केल ने ईश्वर-विषयक कथनों की सही व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश की है। अनुभववादी ब्रेथवेट के अनुसार ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यात्मक नहीं समझा जा सकता है और यदि प्रैट और मैस्केल उन्हें यह समझकर तथ्यात्मक मानें कि ईसाई उन्हें तथ्यात्मक मानतें हैं, तो मैस्केल और प्रैट को स्पष्ट करना चाहिये कि वे किस प्रकार धार्मिक कथनों को सार्वजनिक,आवृत्तीय तथा संज्ञानात्मक अनुभूतियों के द्वारा तथ्यात्मक सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु प्रैट और मैस्केल ने किसी

भी प्रकार से धार्मिक कथनों को कहीं भी तथ्यात्मक सिद्ध नहीं किया है। मैस्केल और प्रैट को चाहिये था कि वे बाईबिल के उन सिद्धान्तों का भी उल्लेख करते जिनके आधार पर ईसाई कथनों को ऐतिहासिक तथा तथ्यात्मक नहीं मानकर उन्हें उद्‌बोधक एवं प्रतीकात्मक समझा जाता है। इस संदर्भ में प्रैट और मैस्केल को कैह्लर, बुल्तमान तथा पॉल तीलिख के मत को भी देना चाहिये था और ईसाई कथनों के प्रतीक-सिद्धान्त को भी स्पष्ट करना चाहिये था जिन्हें इन लोगों ने इस प्रसंग में स्पष्ट नहीं किया है। ब्रेथवेट के मत की आवृत्ति हेपबेर्ण ने की है जिसकी चर्चा बाद में की जायगी। यहाँ अब वान बुरेन के मत की चर्चा अपेक्षित है , जिसके अनुसार पारलौकिक सत्ता-विषयक कथनों को ऐहिकीकरण का उग्ररूप समझा जाता है।

पॉल वान बुरेन ईसाई धर्म-दार्शनिक और धर्म-शिक्षक हैं और ईसाई पार-लौकिकता के ऐहिकीकरण में ऐहिकवादी बिशप जॉन रॉबिन्सन ने वान बुरेन के मत की बड़ी प्रशंसा की है। वान बुरेन दर्शन और धर्मदर्शन के विद्वान हैं और इन्होंने अपने मत को इसलिये प्रस्तुत किया है कि ऐहिकवादी ईसाई अपने धर्म को बिना पारलौकिक धर्म समझे ईसाई धर्म से अपने ऐहिक जीवन में लाभ उठा सकें। वान बुरेन अपने को ऐहिकवादी समझते हैं और इसी रूप में उन्होंने ईसाई धर्म में प्रयुक्त दंतकथाओं, प्रतीकों तथा पारलौकिक प्रत्ययों को ऐहिकीकरण के अनुरूप प्रयुक्त किया है। चूंकि वान बुरेन ने ईसाई धर्म दर्शन की भाषा को अपनी पुस्तक[21] में व्यवहृत किया है, इसलिये इनके मत का केवल उतना ही विवेचन यहाँ प्रासंगिक है जितना धर्म दर्शन के लिये उपयुक्त माना जायगा। वान बुरेन के मत की चर्चा कई विचारकों ने[22] विशेष रूप से की है, इसलिये वान बुरेन के मत को क्रान्तिकारी समझना चाहिये।

वान बुरेन समझते हैं कि वैज्ञानिक भाषा उन सभी प्रकार की भाषाओं का आदर्श रूप है जिसे समकालीन व्यक्ति समझ सकता है।[23] वान बुरेन के अनुसार वर्तमान युग का व्यक्ति अनुभववादी तथा व्यावहारिकवादी है[24]। इस वर्तमानयुगीय दृष्टि के अनुसार पारलौकिक सत्ता सम्बन्धी कथनों को संज्ञानात्मक नहीं माना जा सकता है। बुरेन आई.टी.रामजे के उद्‌घाटन-सिद्धान्त और हेयर के ब्लिक सिद्धान्त की मदद लेते हैं[25] और बताते हैं कि ईसाई कथन दृष्टिमूलक हैं[26]। दृष्टिमूलक-सिद्धान्त को आप सत्यापन-सिद्धान्त का संशोधित रूप समझते हैं और इस सिद्धान्त के अनुसार ईसाई कथन उस व्यापक दृष्टि का बोध कराते हैं जिसके अनुरूप विश्व, अन्य व्यक्तियों तथा अपने को देखा जाता है और अनुरूप अपयुक्त कार्यनीति को अपनाया जा सकता है[26]। विश्व से तात्पर्य ऐहिक जीवन से है। इसलिये वान बुरेन धार्मिक दृष्टि को ऐहिक समझते हैं, फिर वे बतलाते हैं कि धार्मिक दृष्टि कार्यनीतिमूलक है, अर्थात् एक ईसाई धार्मिक कथनों के द्वारा बोध कराना चाहता है कि वह अन्य व्यक्तियों के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करे और इस व्यवहार के द्वारा वह अपने को किस प्रकार इस विश्व और समाज में स्थिर कर पाये। इस सम्यग्दृष्टि को प्राप्त करने और इससे अनुप्राणित होने के लिये वह ईसा की शिक्षा, उसके जीवन और उसके निधन एवं जीवनोपरांत अवस्था को अनुकरणीय मानदण्ड समझता है। ईसा के इस जीवन, उसकी शिक्षा एवं निधन से उसे इस विश्व का रहस्य मालूम होने लगता है और ईसा की दृष्टि को अपनाकर वह समस्त विश्व को समझने लगता है। ईसा पूर्ण मानव थे तो उन्हें क्यों विश्व की कुंजी माने और क्यों अपने जीवन को उस लीक पर चलाये ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये वान बुरेन वस्तुत: आई. टी. रामज़े के उद्‌घाटन-सिद्धान्त की मदद लेते हैं।

रामज़े और बुरेन के अनुसार मानव इस विश्व और अपने जीवन को समझना चाहता है। यह समझना बुझौवल-चित्र में गुप्त आकृति और उसके गुह्य अर्थ को भाँपने के समान माना जा सकता है। बुझौवल-चित्र का अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब हम इस चित्र को सही दृष्टिकोण से देखें। सही दृष्टि से देखने पर बुझौवल-चित्र का अर्थ एकाएक स्पष्ट होने लगता है। सही आकार उस बुझौवल-चित्र में

पहले से ही था। केवल नवीन दृष्टि की आवश्यकता होती है। वान बुरेन इस बात को एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति किसी लड़की को अनेक स्थानों पर देखता रहे और अनेक बार उस लड़की से मिल लेने के बाद एकाएक उसे आभासित हो कि वास्तव में वह लड़की उसके जीवन के लिये सर्वथा उपयुक्त है। तब वह लड़की एकाएक उस व्यक्ति के लिये प्रेमपात्र, सुन्दरी और अप्सरा दिखने लगती है। इस अमुक लड़की का सौन्दर्य और उसकी उपयुक्तता पहले भी थी, परन्तु जबतक उस व्यक्ति के अन्दर नयी दृष्टि नहीं उत्पन्न हुई तब तक उसका भान उस व्यक्ति को नहीं हुआ। इसी प्रकार 'ईसा' ईसाईयों के लिये जीवन की कुंजी है। परन्तु जब ईसाई को ईसा जगत् के प्रकाश के रूप में, विश्व-रहस्य की कुंजी के रूप में उद्घाटित होता है तभी वह ईसा को जगत् के त्राणकर्त्ता के रूप में दिखाई देता है।

वान बुरेन ईसा को मुक्त मानव के रूप में मानव-जीवन के रहस्य की कुंजी मानते हैं। उन्होंने 'मुक्त' जीवन के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने बताया है कि मुक्त जीवन वह है जो स्वयं सभी प्रकार की चिंताओं से रिक्त हो और अन्य सभी व्यक्तियों की चिंता को दूर करने के लिये, बिना भेद-भाव के, बिना प्रेम-घृणा के सतत प्रयत्नशील हो [27] और जो अन्य व्यक्तियों को अपने पड़ोसी के प्रति प्रेममय जीवन व्यतित करने के लिये उत्प्रेरित करे [28]।

इसमें संदेह नहीं कि वान बुरेन ईसाई धर्म को ऐहिकतावादी रूप देने में सफल हुए हैं। वे ईश्वर को ईसा के जीवन से भिन्न पारलौकिक सत्ता नहीं मानते हैं और फिर ईसा को पूर्णतया मानव मानते हैं। 'मुक्ति' का अर्थ भी वे समस्त मानव के प्रति प्रेम-व्यवहार को समझते हैं। ईसा को वे इस अर्थ में प्रभुओं का प्रभु मानते हैं कि ईसा के जीवन से समस्त जीवन तथा विश्व का रहस्य विश्वासियों के लिये स्पष्ट हो जाता है। फिर निस्संदेह वान बुरेन व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और ईसा-ज्ञान को धार्मिक कथन की कसौटी मानते हैं। परन्तु अधिकांश ईसाई ईश्वर, कुंवारी जन्म, ईसा के मृत्यूत्तर जीवन, ईश्वर-सृष्टि इत्यादि के पारलौकिक प्रत्यय के बिना ईसाई धर्म की व्याख्या को सही नहीं मानते हैं। अत: वे वान बुरेन के ऐहिकीकरण को भ्रान्तिपूर्ण समझते हैं। यही बात प्रैट भी वान बुरेन के ऐहिकीकरण के संदर्भ में कहते हैं। प्रैट, साथ ही साथ, मैस्केल के द्वारा की गई उन सभी आलोचनाओं को सही मानते हैं जिन्हें मैस्केल ने [29] वान बुरेन के मत के सम्बन्ध में कहा है। लेकिन हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि मैस्केल रूढ़िवादी विचारक हैं। वे ईसा को ईश्वर का पुत्र समझते हैं। वे मानते हैं कि ईसा ने एक बार ही समस्त मानवजाति के लिये त्राण का द्वार खोल दिया है। मैस्केल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने त्राण के लिये ईसा को अपना मुक्तिदाता मानना चाहिये और अपने पापों का पश्चाताप करना चाहिये। इस पाप-पुण्य के विचार में मैस्केल के लिये स्वर्ग-नरक की पारलौकिक सत्ता भी सत्य समझी जाती है।

मैस्केल की दृष्टि को अपने आधार में रखकर प्रैट वस्तुत: वान बुरेन के उद्घाटन-सिद्धान्त को भ्रमपूर्ण पाते हैं। प्रैट जानना चाहते हैं कि क्या उद्घाटन अथवा बुझौवल-चित्र के सही आकृति को सहसा बूझना वस्तुनिष्ठ है या कोरा आत्मनिष्ठ ? इसमें संदेह नहीं कि वान बुरेन ने इस उद्घाटन-सिद्धान्त को रामज़े से प्राप्त किया है और रामज़े बताना चाहते हैं कि बुझौवल-चित्र के सही आधार का बूझना आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों है। आकृति वास्तव में चित्र में रहती है, परन्तु इसे गोचर होने के लिये नवीन द्रृष्टि होनी चाहिये। इसलिये वान बुरेन के अनुसार ईसा के मुक्त-जीवन का उद्घाटन दृष्टि-परिवर्तन के साथ ही संभव हो सकता है और जिसे ईसा का मुक्त-जीवन उद्घाटित होता है वह बिना उससे अनुप्राणित हुए नहीं रह सकता है। उसके जीवन में शान्ति और स्थिरता चली आएगी। वह दूसरों के लिये जीयेगा और सभी चिंताओं से मुक्त रहेगा।

वान बुरेन के लिये ईसा के मुक्त जीवन का भान करना ईसाई के जीवन में ही सिद्ध-असिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, पितर को अनुजीवित ईसा दिखाई दिया; इस जीवित ईसा के दिव्य दर्शन का मुख्य प्रमाण इसी में है कि कायर और डरपोक पितर में अदम्य उत्साह और साहस का संचार हुआ। पितर का परिवर्तित जीवन ही ईसा के दिव्य दर्शन का मुख्य प्रमाण है। इसमें संदेह नहीं कि यदि ईसा को प्रतीक माना जाय तो ईसा-दर्शन का परिवर्तित जीवन सच्ची गवाही अथवा विश्वसनीय साक्ष्य कहा जा सकता है। परन्तु प्रैट समझते हैं कि अनुजीवित ईसा अभी भी वास्तविक हैं और इसलिये वे ईसा-सम्बन्धी कथन को तथ्यात्मक समझते हैं। अत: प्रैट का कहना है कि वान बुरेन आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के अन्तर को एक-दम मिटा देते हैं। प्रैट के अनुसार 'मैंने ईसा को देखा' और 'मैने ईसा को देखा', इन दोनों वाक्यों में बहुत का अन्तर है। पहले वाक्य में 'मैंने' पर जोर देने और दूसरे वाक्य में 'ईसा' पर जोर देने से वह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। 'मुझे ईसा दीख रहा है', यह आत्मनिष्ठ कथन है और यदि पितर के परिवर्तित जीवन से ही ईसा के अनुजीवन को सिद्ध माना जाय, तो इससे ईसा की वस्तुनिष्ठ सत्ता का कोई विशेष अर्थ नहीं निकलेगा (31)। समीक्षक की दृष्टि से प्रैट की आपत्ति निराधार है। ऐतिहासिक ईसा अभी जीवित नहीं है और वह ईसा जिसका जीवन मुक्त था और जो मुक्त-जीवन प्रदान करता है वह ईसा आस्था का विषय है। राम दशरथ के पुत्र के रूप में या सीता के पति के रूप में ऐतिहासिक माने जा सकते हैं। परन्तु पतित-पावन राम सर्वयुगी और सर्वकालीन समझे जायेंगे और सर्व-कालीन सत्ता को ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता है। इसलिये यदि ईसा वास्तव में मुक्तिदाता हैं तो ईसा को उस रूप में वास्तविक एवं ऐतिहासिक जीव नहीं समझा जा सकता है।

प्रैट की दूसरी आपत्ति भी निराधार है। प्रैट के अनुसार वान बुरेन ने ईसा के मुक्त जीवन की व्याख्या नहीं की है। अंग्रेजी के शब्द 'फ्री' को वान बुरेन ने काम में लिया है और इसका सही अर्थ मुक्त होगा। परन्तु प्रैट 'फ्री' को 'इच्छा-स्वातंत्र्य' के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। इस इच्छा-स्वातंत्र्य के अर्थ में किसी को स्वतंत्र तब समझा जा जाता है जब दो या से अधिक विकल्पों के होने की संभावना रहती है, या जहाँ किसी प्रकार के दबाव का अभाव रहता है। परंतु ईसा को 'फ्री' इस अर्थ में कौन समझ सकता है ? (31)। इस अर्थ में तो सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हैं। इसमें ईसा के स्वतन्त्र होने की कोई विशेष बात नहीं समझी जा सकती है। परन्तु यह प्रैट की भूल है। यह ठीक है कि वान बुरेन ने 'मुक्त' के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु उनके वे उदाहरण जिनके द्वारा मुक्त जीवन को समझा जाता है एकदम स्पष्ट हैं।

एक रूप में पारलौकिक सत्ता का ऐहिकीकरण करने हेतु वान बुरेन ने ईश्वर-विलयन अथवा ईश्वर-निधन-सिद्धान्त में योगदान अवश्य किया है। परन्तु ऐहिकता के अभावात्मक पक्ष को ईश्वर-निधन-सिद्धान्त कहा गया है और वह सिद्धान्त भी ऐहिकतावाद का प्रमुख अंग है और प्रैट ने इसकी चर्चा की है।

ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद दार्शनिक और तत्त्वमीमांसात्मक युक्तियों से नहीं उत्पन्न हुआ है। इसका मुख्य आधार अनुभववाद है जो वैज्ञानिकतावाद से पुष्ट हुआ है। जो कुछ मानव की सार्वजनिक, आवृत्ति-संभव तथा संज्ञाप्य अनुभुति के आधार पर खरा नहीं उतरे उसे अनुभववाद के अनुसार निश्चित तथ्य नहीं समझा जाता है। चूंकि ईश्वर अतीन्द्रिय सत्ता समझा जाता है इसलिये समकालीन अनुभववाद के अनुसार ईश्वर को वास्तविक नहीं माना जाता है। इसीलिए ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक कहा जाता है क्योंकि यहाँ समकालीन परिस्थिति में ईश्वर की आवश्यकता किसी को मालूम नहीं देती है। समकालीन ऐहिकतावादी की दृष्टि ही ऐसी बदल गयी है कि उसे ईश्वर अनुभवगम्य नहीं मालूम देता है। मानव की इस सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक अक्षमता के कारण अब ईश्वर का लोगों को भान नहीं होता है और इसलिये इस स्थिति को ईश्वर-निधन कहा जाता है, अर्थात् मानव की दृष्टि से ईश्वर का सदा के लिये ओझल हो जाना।

हार्वे कौक्स तथा बुरेन ने ऐहिकता के पक्ष पर बल दिया है। इन दोनों ने ईश्वर को ऐहिक रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वान बुरेन ईसा को मानव-इतिहास और समकालीन व्यक्ति का केन्द्रीय मूल्य और कुंजी मानते हैं। परन्तु भूल जाते हैं कि स्वयं ईसा का जीवन, उसकी शिक्षा और मृत्यु बिना पारलौकिक ईश्वर को स्वीकार किये हुये स्पष्ट नहीं की जा सकती है। जो ईसा को माने और ईश्वर को न माने, जिस पर ईसा की अगाध आस्था थी, तो इस स्थिति को अयुक्ति-पूर्ण कहा जायेगा। अत:, वान बुरेन ईसा को जीवन का तबतक सहारा नहीं मान सकते हैं जबतक स्वयं ईसा के मूल आश्रय ईश्वर की वास्तविकता को वे स्वीकार नहीं करें। हार्वे कौक्स के लिये ईश्वर का परम्परागत प्रत्यय वर्तमान युग के व्यक्ति के लिये अनुपयुक्त है। परंतु वे आशा रखते हैं कि निकट भविष्य में ईश्वर की ऐसी धारणा स्थिर हो पायेगी जो ऐहिकतावादी व्यक्तियों को मान्य होगी। ईश्वर-निधन के प्रसंग में अल्टाईज़र और हैमिल्टन की रचनाओं को प्रमुख स्थान दिया जाता है [30]। अल्टाईज़र ने ईश्वर के अस्तित्व को पूर्णतया नकारा है। उनका कहना है कि ईश्वर न तो गुह्य है, न वह घट-घट वासी है, न वह मानव के अचेतन में है और न कहीं सुदूर अन्तरिक्ष में विद्यमान है। अल्टाईज़र के अनुसार समकालीन ईसाई के लिये ईश्वर सदा के लिये मर चुका है और उसे दफना दिया गया है (32-33)। इसी प्रकार हैमिल्टन का कहना है कि[31] वास्तव में ईश्वर की मृत्यु अक्षरश: सत्य है। यह ईश्वर, जिसकी मृत्यु हुई है वह कोई देवी-देवता नहीं है। वह परमेश्वर और ईसाइयों का महान ईश्वर है। ''ईश्वर की मृत्यु'' से ध्वनित होता है कि ईश्वर में अब लोगों की आस्था नहीं हो सकती है,- ईश्वर अब लोगों को नहीं मिल सकता है। ईश्वर की अप्राप्ति कुछ चित्तरोग की ही बात नहीं है। ईश्वर-निधन अनेक व्यक्तियों के लिये सामान्य और सार्वजनिक घटना है।

परन्तु यद्यपि अल्टाईज़र और हैमिल्टन ईश्वर-निधन की बात करते हैं, उनके लिये ईश्वर-निधन ईसा की पूजा है और वह ईसा जिसकी वे पूजा करते हैं वह यह संसार है, व्यक्तियों का पड़ोसी है। ईसा के प्रति आस्था और सेवा संसार की और मानवों की नि:स्वार्थ सेवा है[32]। इसी प्रकार अल्टाईज़र के अनुसार ईसा सर्वव्यापक मानवता हैं। [34] अल्टाईज़र हैमिल्टन की अपेक्षा रहस्यवादी हैं और लौकिक को ही पवित्रता से मंडित कर उसे ईश्वरत्व की संज्ञा देते है[34] इनके लिये मानवता ही ईश्वर है। इनके लिये पारलौकिक तथा अतीत ईश्वर का तो निधन अवश्य हुआ है, परंतु स्वयं लौकिकता ही पवित्र महान है। अल्टाईज़र की आशा है कि इस लौकिकता को लोग पवित्र पाकर एक नयी दृष्टि प्राप्त करेंगे जिसके द्वारा वर्तमान स्थिति में वे पुरातन के ईश्वर को परिवर्तित प्रकाश में देखेंगे (33)। इसी प्रकार हैमिल्टन के अनुसार ईश्वर-निधन अथव ईश्वरविहीनता का अर्थ है कि हम उसके विषय में नयी भाषा और शैली में संगोष्ठि करें और इस रूप में फिर उसकी उपस्थिति का भान कर आह्लादित हों [35]। इन युक्तियों के कारण प्रैट समझते हैं कि (34) अल्टाईज़र और हैमिल्टन के ईश्वर-निधन का सिद्धान्त छिछला है। वास्तव में प्रैट के अनुसार, उनकी भाषा में हिदायत की बू अभी भी शेष है। शायद प्रैट की आलोचना में बल अवश्य दिखाई देता है।

अल्टाईज़र, हैमिल्टन, वहनियन, कौक्स इत्यादि ऐसे ईसाई विचारक हैं जिनकी शिक्षा-दीक्षा ईसाई धर्म में हुई है। उन्होंने ईश्वर को परम्परागत रूप से अनुभूत भी किया है। परंतु ऐहिकतावादी द्रृष्टि के हो जाने पर उनके संस्कार का ईश्वर अब उनसे ओझल हो गया है। जिस प्रकार प्रिय पिता का निधन आजीवन अचेतन रूप से विस्मृत नहीं होता और उसकी याद बेचैनी पहुँचाती रहती है, उसी प्रकार अल्टाईजर और हेमिल्टन भी नित्य इसी प्रकार प्रतिक्षा में है कि उनका मृत ईश्वर फिर जी उठेगा और उन्हें दिखाई देगा। अत: इनके लिये ईश्वर-निधन तो अवश्य हो गया है परन्तु उसकी याद उन्हें अभी भी सता रही है। यह बात जॉन विज़डम में नहीं पायी जाती है क्योंकि उनका संस्कार दार्शनिक का है, न कि धार्मिक व्यक्ति का।

जॉन विज़डम विट्गिंस्टाईन की पद्धति के मानने वाले दार्शनिकों में प्रतिष्ठित विचारक हैं और **गॉड्स** नामक लेख लिखकर इन्होंने धर्म-दर्शन में विशेष क्रान्ति उत्पन्न की है।[36] विज़डम के अनुसार ईश्वर-सम्बन्धी कथन का असली निर्देश इस विश्व की ओर है, न कि पारलौकिकता की ओर। असाक्षात् रूप से ईश्वर सम्बन्धी कथन इस विश्व की अप्रयोगात्मक घटनाओं का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार की घटनाएं वकालत-खानों और सौन्दर्य सम्बन्धी कथनों में उल्लिखित होती हैं। जज के समक्ष अभियोगकर्ता और प्रतिरक्षाकर्त्ता, दोनों प्रकार के वकील बहस प्रस्तुत करते हैं। दोनों प्रकार के वकील उसी घटना का हवाला देते हैं जो उन दोनों को समान रूप से ज्ञात है। इस स्थिति में कोई ऐसी बात नहीं रह जाती है जिसके जाँच की आवश्यकता होती है। यहाँ मुख्य समस्या निर्णय लेने की होती है, मामले को अपराध माना जाय या दोषी को निर्दोष समझा जाय। यहाँ लेबल लगाने की ही आवश्यकता होती है।

इसी कानूनी प्रश्न के समान ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी की समस्या है। यह विश्व एक ही है और इस विश्व में जितनी घटनाएं ईश्वरवादी को ज्ञात हैं वे सब निरीश्वरवादी को भी ज्ञात हैं। तो भी ईश्वरवादी इन सब घटनाओं को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि इन घटनाओं से एक बुद्धिमान कर्त्ता का बोध हो सके। ठीक इसके विपरीत निरीश्वरवादी इन्हीं सब घटनाओं को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि इस व्यवस्था से स्पष्ट हो जाय कि यह बुद्धि के द्वारा रचित नहीं हुई हैं। मुख्य बात है कि विज्डम मानते हैं कि इस प्रकार के प्रश्न का समाधान हो सकता है। एक निर्णय को सही और उसके विपरीत निर्णय को गलत करार दिया जा सकता है। अतः, ईश्वर-सम्बन्धी कथनों को सही या गलत समझा जा सकता है (34-35)। ईश्वर-कथनों का निर्देश सम्पूर्ण विश्व की ओर होता है और यदि इस विश्व की घटनाओं को समुचित रीति से व्यवस्थित कर सिद्ध कर दिया जाय कि यह विश्व बुद्धिमान आत्मा की रचना है तो इस प्रकार की युक्ति के आधार पर इस विश्व को सृष्टि की संज्ञा दी जा सकती है। यदि विश्व-व्यवस्था से, मानव और पशु-व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाय कि इनमें उसी प्रकार की व्यवस्था परिलक्षित है जो केवल सर्वोत्कृष्ट आत्मा से ही संभव हो सकती है, तो इस विश्व-पैटर्न को ईश्वर-बोधक स्वीकार किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों के व्यवहार से अन्य व्यक्तित्व का बोध होता है उसी प्रकार विश्व, पशु तथा मानव की प्रक्रियाओं से सर्वोच्च व्यक्तित्व का बोध हो सकता है। (36)

प्रैट की यहाँ आलोचना सबल मालूम देती है। प्रैट का कहना है कि अदर माइंड (अन्य व्यक्तित्व) के बोध करने के लिये किसी भी निश्चित लक्षण को नहीं निर्धारित किया जा सकता है और प्रैट बताते हैं कि स्वयं विज़डम भी अन्य व्यक्तित्वपूर्ण आत्मा के ज्ञान-निरूपण की कठिनाइयों से पूर्णतया परिचित हैं। यदि व्यक्तित्व-निर्धारण स्वयं ही विवादास्पद हो तो व्यक्तित्व-ज्ञान को ईश्वर-ज्ञान का कैसे मानदंड माना जा सकता है ? किसी अनिश्चित मानदंड के आधार पर निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। (37) फिर फिलिप्स और विंच ने भी विज़डम के मत की आलोचना की है, जिन आलोचनाओं की उपयुक्तता को स्वयं प्रैट स्वीकार करते हैं। फिलिप्स और विंच दोनों नव-विट्गिंस्टाइनवादी हैं और ये केवल प्रयोग-सिद्धान्त के ही आधार पर कथनों का अर्थ निरूपित करते हैं।

फिलिप्स का कहना है[37] कि विज़डम के अनुसार धार्मिक कथन उचित-अनुचित हो सकते हैं और जो कथन उचित-अनुचित कहे जांय उन्हें तथ्यात्मक माना जा सकता है। अतः, चूंकि विज़डम के अनुसार धार्मिक कथनों के औचित्य-अनौचित्य का समर्थन हो सकता है इसलिये फिलिप्स के अनुसार विज़डम स्वीकार करते हैं कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक होते हैं। इसके विपरीत फिलिप्स के अनुसार धार्मिक कथनों को न तो सौंदर्यात्मक कहा जा सकता है न नैतिक और तथ्यात्मक कहा जा सकता है।

धार्मिक अभिकथन अनुपम, अनूठे तथा स्वजातीय (सूई जेनेरिस) कहे जा सकते हैं इन्हें जांचने की स्वजातीय धार्मिक कसौटी होती है (40)। उदाहरणार्थ, कीर्केगोर्द ने बताया है कि बाईबिल के अनुसार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अपराध का क्षमा करेगा तो ईश्वर-पिता भी क्षमा करने वाले का पाप क्षमा करेगा। अत:, कीर्केगोर्द के अनुसार अन्य व्यक्तियों के अपराध को क्षमा करना वास्तव में अपने ही अपराध को क्षमा करने के बराबर ही समझा जायगा। फिलिप्स का कहना है कि 'अन्य व्यक्तियों के अपराध को क्षमा करना ही अपराध को क्षमा करना है' धार्मिक कथन है और इसकी कसौटी स्वजातीय है, जिसे न तो तथ्यात्मकता की, न नीति की और न सौन्दर्यात्मकता की तथा और न किसी अन्य कसौटी के अनुरूप समझा जा सकता है (40-41)। यहाँ फिलिप्स के मत की आलोचना करते हुये प्रैट ने बताया है कि सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम धार्मिकता की ही कसौटी निर्धारित नहीं कर पाते हैं। हम यह भी निश्चित नहीं कर पाये हैं कि किस व्यवहार को 'धार्मिक' संज्ञा दी जा सकती है (40)। फिलिप्स के मत के संवर्धन के रूप में विंच ने विज़डम के मत की आलोचना की है और विंच के मत की आलोचना प्रैट ने की है।

विंच[38] भी फिलिप्स के समान धार्मिक भाषा को स्वाजातीय तथा स्वायत्त मानते हैं। इन्होंने अपने मत को समाजविज्ञान के आधार पर व्यक्त किया है। इनका कहना है कि प्रत्येक संस्कृति को (जिसमें विज्ञान, कला, धर्म इत्यादि को गिना जा सकता है) अमुक एवं विशिष्ट जीवन-शैली से प्रभावित समझना चाहिये और प्रत्येक सांस्कृतिक शैली को स्वायत्त स्वीकार करना चाहिये। उदाहरणार्थ, आदिम जातियों की विचारधारा को उनकी अपनी विशिष्ट कसौटी के द्वारा समझना चाहिये और इस विशिष्ट कसौटी को उनके व्यवहार के अध्ययन के ही द्वारा निरूपित किया जा सकता है। विंच के अनुसार आदिम जातियों के विचार को वैज्ञानिक कसौटी के आधार पर आंकना अयुक्तिसंगत है, अर्थात् उन विचारों के अर्थनिरूपण और स्पष्टीकरण के लिये आदिम जातियों की जीवन-शैली की मदद लेनी चाहिये।

यह ठीक है कि आदिम जातियों में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, माना-शक्ति इत्यादि के विचारों से ओतप्रोत जीवन-शैली देखने में आती है। इसकी तुलना में वर्तमानयुगी सभ्यता को वैज्ञानिक अथवा विज्ञानपोषित कहा जायगा। वैज्ञानिक कसौटी के आधार पर तांत्रिक कथनों को अर्थहीन नहीं ठहराया जा सकता है। अब विंच का कहना है कि जो बात जीवन-शैलियों के संदर्भ में लागू होती है वही बात किसी भी संस्कृति के विभिन्न पक्षों में लागू होती है। धार्मिक कथन वैज्ञानिक कथनों से सर्वथा भिन्न हैं और इसलिये वैज्ञानिक परम्परा पर आधारित सत्यापन-असत्यापन सिद्धान्त के द्वारा धार्मिक कथनों का अर्थ नहीं निरूपित किया जा सकता है (41)।

विंच के मत को प्रैट नहीं स्वीकार करते हैं। प्रैट के अनुसार जीवनशैली का सम्बन्ध किसी सभ्यता विशेष के अन्तर्गत सभी सास्कृतिक विभागों से रहता है। जिस स्वायत्तता की बात जीवनशैली के प्रसंग में सही मानी जा सकती है उस स्वायत्तता की बात विभिन्न सांस्कृतिक पक्षों के संदर्भ में नहीं उठायी जा सकती है। वर्तमानयुगी पाश्चात्य सभ्यता में वैज्ञानिक कसौटी से सभी सांस्कृतिक क्रिया-कलाप ओतप्रोत हैं और जो कथन इस वैज्ञानिक कसौटी के द्वारा खरा नहीं उतरता है, उसे अमान्य समझा जाता है। उदाहरणार्थ, ईश्वर सम्बन्धी कथन में ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, न्यायप्रिय, शुभ इत्यादि बताया जाता है। प्रैट का कहना है कि इन्हें हम वैज्ञानिक सभ्यता के व्यवहृत अर्थों में ही धार्मिक कथनों में इन शब्दों का उपयोग करते हैं। अत: धार्मिक अभिकथनों को अन्य सांस्कृतिक पक्षों के (जिसमें विज्ञान भी सम्मिलित है) कथनों से अलग कर इसके अर्थ-निरूपण की कसौटी को स्वायत्त तथा स्वजातीय नहीं पुकार सकते हैं (42-42)। परन्तु प्रैट की इस आपत्ति के संदर्भ में एक प्रश्न किया

जा सकता है। क्या धर्म को सम्पूर्ण जीवन-शैली नहीं समझा जाता है ? क्या धर्म को भी विज्ञान, चित्रकारी, खेती इत्यादि के समान जीवन का एक विशेष क्षेत्र माना जा सकता है ?

अभी तक धर्म को सम्पूर्णात्मक व्यापार माना जाता था। परन्तु प्रैट का कहना है कि कम से कम एक ईसाई का धर्म अब उसके जीवन के एक सीमित क्षेत्र में ही सन्निहित रहता है। (45)। समीक्षक के मत में प्रैट का कथन सामाजिक दृष्टि से सही अध्ययन कहा जायेगा, परन्तु इसें धर्मदर्शन की दृष्टि से असंतोषजनक समझा जायगा। धर्म समष्टिपूर्ण व्यवहार है। चूँकि बॉन होयफर तथा बिशप रॉबिन्सन देख रहे हैं कि ईसाई धर्म जीवन का सम्पूर्ण व्यवहार नहीं रह गया है इसलिये वे धर्म को फिर व्यापक और सम्पूर्ण जीवन का मानदंड बनाने के लिये ईसाई धर्म को ऐहिकतावादी बना रहे हैं। यदि प्रैट समझते हैं कि विज्ञान से पाश्चात्य सभ्यता ओतप्रोत है तो प्रैट को संगत रूप से मानना चाहिये कि ईसाई धर्म नहीं वरन् विज्ञान ही पाश्चात्य ऐहिकतावादी का वर्तमानयुगीन धर्म है। यह बात पेल्ट्स[39] और बिशप रॉबिन्सन[40] की रचनाओं से स्पष्ट हो जाती है।

वर्नन और लौत, पति-पत्नि ने मिलकर दर्शन नहीं वरन् धार्मिक गद्य-काव्य की रचना की है। पेल्ट्स के अनुसार स्वर्ग, ईश्वर, स्वर्गपिता इत्यादि शब्दों को पारलौकिक रूप और अर्थ में नहीं प्रयुक्त करना चाहिये। वास्तव में इन शब्दों के द्वारा ईसा इस जीवन और ऐहिक समस्याओं की ओर संकेत करता था। 'स्वर्ग के राज्य' से तात्पर्य है इस जीवन से, जिसमें हम अपने पड़ोसियों के प्रति प्रयत्नशील होते हैं। यह ठीक है कि ईसा के शब्द उनकी प्रचलित पारलौकिक भाषा में थे, परन्तु इन वचनों के द्वारा ईसा अपने युग के लोगों को अनुप्राणित करना चाहता था कि वे इस जीवन को सार्थक रूप से बिताएं। सार्थक जीवन वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने और अपने पड़ोसी को एक रहस्यपूर्ण तथा सुदूर उद्देश्य की प्राप्ति के संदर्भ में देखें (47)।

परंतु प्रैट का कहना है कि यदि ईसा के शब्द वास्तव में ऐहिक थे तो ईसा की मृत्यु इस जीवन की आशा पर पानी उँडेल देती है (46)। स्वयं पेल्ट्स भी प्रैट की आलोचना को स्वीकार नहीं करेंगे जिनके अनुसार ईसा की मृत्यु से जीवन में नयी आशा का संचार होता है। पेल्ट्स ऐहिकतावादी नहीं हैं क्योंकि उनके लिये जीवन में अज्ञात और अनर्गल अस्तित्व का आह्वान महत्त्वपूर्ण मानव-निधि है।[41] शायद यही बात बिशप रॉबिन्सन की रचना के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

प्रैट ने राबिन्सन के मत की अत्यन्त संक्षेप में व्याख्या की है। परंतु बिशप रॉबिन्सन की रचना का मुख्य उद्देश्य यही था कि ईसाई धर्म के सही संदेश को ऐहिकतावाद के रूप में समझा जाय। बिशप साहिब चाहते हैं कि ईसाइयों के ध्यान में ऐहिकवादी जीवन को लाया जाय। इनका कहना है कि ईसाई धर्म पारलौकिकवादी धर्म नहीं है। वे दो बातों पर परस्पर रूप में बल देते हैं। प्रथम, जीवन की अपनी आन्तरिक गहराई है, - इस जीवन में पवित्रता और शुचित्व का बहुत बड़ा स्थान है। साथ ही साथ बिशप साहिब यह भी बताते आये हैं कि पवित्र-महान को ऐहिक जीवन की सभी समस्याओं में देखना चाहिये[42]। बिशप साहिब के अनुसार ईश्वर-सम्बन्धी कथन वास्तव में ऐहिक जीवन के लिये हैं जिस जीवन में मानव की अंतिम गहनता सन्निहित है। इन धार्मिक कथनों का कार्य यह है कि वे विश्व और मानव-व्यवहार को उनकी अन्तिम गहराई में स्पष्टता के साथ निश्चित रूप से देखें। अत:, बिशप रॉबिन्सन ऐहिकतावादी नहीं हैं, परंतु वे ऐहिक जीवन की समस्याओं की ओर सम्पूर्णतया ध्यानस्थ है। परंतु प्रश्न उठता है कि हम क्यों पेल्ट्स तथा बिशप रॉबिन्सन के धार्मिक कथनों की व्याख्या को सही मानें ? अभी तक ईश्वर तथा ईसा-संबंधी कथनों को पारलौकिक रूप में स्पष्ट किया जाता था तो अब क्यों पारलौकिक निर्देशिता को छोड़कर हम इन कथनों को ऐहिक समझें ? यही बात वान बुरेन तथा हार्वे कौक्स के अर्थनिरूपण के सम्बन्ध में कही जा सकती है। क्या कोई नित्य तथा शाश्वत ईसाई संवाद है

जिसे प्रत्येक युग में ईसाई धर्मविचारक अपने समय की भाषा में स्पष्ट करते आये हैं ? उदाहरणार्थ वान बुरेन और पेल्ट्स बताते हैं कि ईसा का युग था जिसमें पारलौकिकता को विशेष प्रश्रय दिया जाता था और ईसा को अपने शाश्वत संदेश को अपने युग की पारलौकिक भाषा में व्यक्त करना पड़ा (50)। यहाँ बताया जाता है कि ईसाई धर्म का सार तत्त्व अपरिवर्तनशील है, परन्तु इस शाश्वत तत्त्व का प्रतिपादन अपने युग की परिवर्तनशील भाषा में संभव हो सकता है। ऐसा मान लेने से दो बातें स्पष्ट होती हैं।

(1) इस वर्तमान युग का ऐहिकतावादी अर्थनिरूपण भी अस्थायी और कामचलाऊ है।

(2) ईसाई धर्म का सारतत्त्व नित्य और स्थायी है, पर इसका सूत्रीकरण कभी भी स्थायी रूप नहीं धारण कर सकता है।

शायद (1) को सभी समकालीन धर्म-दार्शनिक स्वीकार करेंगे। परन्तु (2) के ही संबन्ध में मतभेद हो सकता हैं। यदि धर्म का सारतत्त्व स्थायी हो, परन्तु जिसका कभी भी शब्दों के द्वारा स्थायी प्रतिपादन नहीं हो, तो इस अव्यक्त तथा वर्णनातीत सारतत्त्व के सम्बन्ध के कुछ भी निश्चित रूप से कहीं कहा जा सकता हैं। हम केवल अस्थायी वस्तुओं को ही जान सकते हैं। इस प्रसंग में मैस्केल ने ईसाई धर्म के स्थायी सारतत्त्व को जानने का उपाय बताया है। सबसे पहले, विचारक को चाहिये कि वह ईसाई परम्परा के प्रति आस्था रखे और तब अपनी आलोचनामय दृष्टि के आधार पर इस स्थायी सारतत्त्व को प्रतिपादित करने की कोशिश करें। परन्तु मैस्केल स्वीकार करते हैं कि सबसे अधिक प्रामाणिक ईसाई सत्यता भी मानव के शब्दों में निर्भ्रान्त रूप में ही व्यक्त की जा सकती है। अत: मैस्केल के अनुसार ईसाई धर्म का शाश्वत एवं मूल तत्त्व ईसा के मस्तिष्क में पूर्ण रूप में प्रतिपादित माना जायगा। क्या प्रैट मैस्केल के इस मत को स्वीकार करते हैं ?

प्रैट के अनुसार मैस्केल ने शब्दों का केवल जाल रचा है। 'ईसाई परम्परा' के दो अर्थ छद्म रूप में बताये गये हैं। सर्वप्रथम ईसाई परम्परा से तात्पर्य होता है उस रचना से जिसे प्रारंभ से होकर अब तक ईसाई धर्मदार्शनिकों ने संरक्षित रखा है। इस परम्परा को मैस्केल उपयोगी मानते हुये भी निर्भ्रान्त नहीं मानते हैं। तब 'ईसाई परम्परा' का दूसरा अर्थ लगाते हैं अर्थात् ईसाई धर्म का सारतत्व जो ईसा के मस्तिष्क में (मन में) निर्भ्रान्त रूप में प्रतिपादित है। परन्तु जो बात ईसा के मन में है, उसे कौन जान सकता है? अत: इस स्थायी सारतत्त्व तथा उसके निर्भ्रान्त प्रतिपादन को अज्ञात और अक्षेय ही माना जायगा (53)।

अब यदि परम्परावादी मैस्केल भी सही अर्थनिरूपण की समस्या का समाधान नहीं कर सकते हैं तो वान बुरेन तथा हार्वे कौक्स के द्वारा किये ईसाई धर्म के अर्थ-निरूपण को कैसे सही माना जाय ? अत: धर्म के ऐहिकीकरण तथा उससे उत्पन्न ईसाई धर्म के अर्थ-निरूपण की कोई सही कसौटी नहीं स्वीकार की जा सकती है (54)। परन्तु यदि ऐहिकता को स्वीकार कर लिया जाय तो मानव-जीवन बिना पारलौकिक सत्ता के सार्थक हो सकता है ? यह प्रैट की पुस्तक का तीसरा और अन्तिम अध्याय है।

बिना पारलौकिक सत्ता के सार्थक जीवन की सम्भावना

हेपबर्ण[43] उन विचारकों में है जो सोचते हैं कि बिना पारलौकिक शक्तियों में विश्वास रखे हुये व्यक्ति को धार्मिक अनुभूति और उसका आनन्द प्राप्त हो सकता है। इसलिये हैपबर्ण 'धार्मिक अभिवृत्ति' को स्पष्ट कर अपने मत की व्याख्या करते हैं (55-56)। हैपबर्ण का मत ब्रेथवेट के समान ही है। हैपबर्ण के अनुसार धार्मिक अभिवृत्ति के तीन लक्षण हैं :-

(1) धार्मिक व्यक्ति वह है जो किसी नैतिक व्यवहार शैली को अपनाता है और उसे वह अपना अन्तिम नैतिक चयन समझता है।

(2) फिर धार्मिक नैतिक कार्यनीति और शुद्ध नैतिकता में यह अन्तर है कि धार्मिक कार्यनीति व्यवस्थित दंतकथाओं तथा दृष्टातों से अनुप्राणित होकर संचालित होती है।

(3) धार्मिक कार्यनीति जीवन के किसी विभाग या क्षेत्र विशेष में ही सीमित न रहकर धार्मिक व्यक्ति की सभी कार्यवाहियों को ओतप्रोत किये रहती है (56)

हेपबर्ण के अनुसार ये तीनों लक्षण उन व्यक्तियों की अभिवृत्ति में भी संभव हो सकते हैं जिनका पारलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं होता है। इस संदर्भ में हेपबर्ण दो बातों का उल्लेख करते हैं। सर्वप्रथम, निरीश्वरवादी परम्परागत धार्मिक कहानियों को छोड़कर अन्य कथाओं से अनुप्रेरणा प्राप्त कर सकता है और इस युग में अनेक उपन्यास, कविता तथा साहित्य हैं जिनसे वह उन आदर्शों को प्राप्त कर सकता है जिनसे उसे अपनी कार्यनीति के सम्पादन में अनप्रेरणा प्राप्त हो सकती है (56)। फिर, हेपबर्ण के अनुसार, यदि निरीश्वरवादी व्यक्ति प्रकृति को व्यक्तित्वपूर्णवत् समझे तो प्रकृति के द्वारा निरीश्वरवादी में अर्धधार्मिक अनुभूति का संचार हो सकता है (63)। परन्तु इस में 'धार्मिक' अनुभूति की भी व्याख्या होनी चाहिये।

औटो ने " धार्मिक अनुभूति की 'न्यूमिबरा' कहा है और बताया है कि यह अनुपम स्वजातीय अनुभूति होती है जिसे स्पष्ट प्रत्ययों के आधार पर सुबोध नहीं किया जा सकता है। इसे उन्होंने अबुद्धिपरक माना है और बताया है कि शुद्ध धार्मिक अनुभूति में आश्चर्य, विस्मय, चकितभाव तथा अद्भुत भय का संचार होता है। धार्मिक व्यक्ति में विवशता तथा विहवलता का भाव होता है। स्वयं औटो ने माना है कि इस रहस्यमय महान की अनुभूति में पारलौकिक सत्ता की ओर निर्देश रहता है। परन्तु हेपबर्ण के अनुसार शुद्ध धार्मिक अनुभूति एक प्रक्रिया है। परन्तु यह प्रक्रिया पारलौकिक शक्ति से उत्पन्न होती है या किसी अन्य प्राकृतिक शक्ति से उद्भूत होती है, यह सब अर्थनिरूपण और अनूभूति की व्याख्या करने के लिये सिद्धांत बनाया गया है (63)। इसलिये हेपबर्ण के अनुसार शुद्ध धार्मिक अनुभूति बिना किसी पारलौकिक सत्ता को स्वीकार किये हुये संभव हो सकती है।

प्रैट हेपबर्ण के मत को स्वीकार नहीं करते हैं। सर्वप्रथम, प्रैट का कहना है कि यदि किसी कार्यनीति को अंतिम निर्णय के रूप में स्वीकार करने को 'धर्म संज्ञा' दी जाय और इस नैतिक कार्यनीति को मनोवैज्ञानिक रूप से अनुप्रेरित करने लिये किसी भी प्रकार की दंतकथाओं तथा दृष्टान्तों की व्याख्या से मदद ली जाय, तो साम्यवाद तथा अस्तित्ववाद को भी 'धर्म' संज्ञा देनी पड़ेगी। परन्तु प्रैट के अनुसार यह अनुचित होगा। इसका कारण है कि साम्यवाद और अस्तित्ववाद के कुछ प्रकारों में परम्परागत धर्मों की आलोचना करके धार्मिक विचारों से ऊपर उठाने की सलाह दी जाती है। अब वे विचारधाराएं जो धर्मों को नहीं स्वीकार करती हैं, उन्हें किस प्रकार 'धर्म' संज्ञा दी जाय ? कम से कम प्रैट का कहना है कि स्वयं साम्यवादी साम्यवाद को 'धर्म' नहीं पुकारते हैं (57)।

समीक्षक की दृष्टि में प्रैट की आलोचना अवास्वविक है। साम्यवाद को परम्परागत 'धर्म' नहीं कहा जा सकता है, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि विचार-क्रांति के संदर्भ में साम्यवाद को 'धर्म' नहीं माना जा सकता है। वास्तव में साम्यवाद को अनेक विचारकों ने धर्म की संज्ञा दी है। न तो भौतिकवाद को दर्शन के ही स्तर पर स्वीकार किया जा सकता है और न इसकी द्वन्द्वात्मक विधि को ही वैज्ञानिक माना जा सकता है, तो फिर इस भौतिकवाद को अतर्कबुद्धिपरक सम्पूर्णात्मक धार्मिक व्यवहार क्यों नहीं माना जाय ? साम्यवाद को परम्परागत धर्म नहीं कहा जायगा, परन्तु समकालीन युग का यह महत्त्वपूर्ण धर्म है जिससे लाखों व्यक्ति अनुप्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं। यह मानवतावादी तथा ऐहिकतावादी धर्म है। प्रैट प्रभृति पाश्चात्य विचारक बिना ईश्वर की उपासना के किसी भी मत को 'धर्म' संज्ञा देने के लिये तैयार नहीं हैं चूंकि साम्यवाद में ईश्वर का स्थान नहीं है, इसलिये वे साम्यवाद को धर्म मानने के लिये तैयार नहीं हैं। और यह प्रैट का हठवाद है।

प्रैट की दूसरी आलोचना है कि हेपबर्ण की परिभाषा के अनुसार ईसाई धर्म को भी धर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इसका कारण है कि ईसाई के अनुसार वे कथाएं जिनके आधार पर नैतिक कार्यनीति अनुप्रेरित होती है, पुराण कथाएं या दृष्टान्त नहीं हैं। ये कथाएं वास्तविक और सच्ची हैं। प्रैट की यह भी आलोचना युक्तिहीन है। प्रश्न यह नहीं है कि ईसाई क्या समझते हैं, पर यह कि इन कथाओं को क्या समझा जा सकता है। यदि प्रैट के विचार को सही माना जाय तो आदिम जातियों की पुराणकथाओं को पुराणकथा नहीं कहा जायगा, क्योंकि स्वयं आदिम जातियाँ उन्हें सच समझती हैं। हम आदिम जातियों की धार्मिक कथाओं को इसलिये पुराण कथा कहते हैं कि उनकी उनमें बिना वैज्ञानिक आधार के आस्था होती है। इसी प्रकार कुँवारी के द्वारा जन्म की कथा को भी पुराणकथा कहा जायगा क्योंकि इसका भी कोई आनुभविक तथा वैज्ञानिक आधार नहीं है।

प्रैट की तीसरी आपत्ति है कि हेपबर्ण की विचारधारा में धर्म के लक्षण में उपासना के होने को स्थान नहीं दिया गया है (61)। 'उपासना' में किसी अतीत सत्ता को स्वीकारना अनिवार्य समझा जाता है। अब चुकिं हेपबर्ण पारलौकिक सत्ता को मान्यता नहीं दे रहे हैं इसलिये उनके लिये उपासना का रहना धर्म का विशेष लक्षण नहीं माना जायगा। अत: प्रैट की आपत्तियों में बल नहीं है।

अफसोस इसी बात का है कि पाश्चात्य विचारक इतने संकीर्ण विचार के हैं कि वे भारतीय धर्मों को समझने की कोशिश ही नहीं करते हैं। निरीश्वरवादी जैन तथा हीनयानी बौद्ध मत में धार्मिक भाव की कोई कमी नहीं है। क्योंकि प्रैट और हेपबर्ण स्वीकारते हैं कि पारलौकिक सत्ता को माने बिना भी धार्मिक अनुभूति प्राप्त हो सकती है। कम से कम इसका प्रतिमान भारतीय निरीश्वरवादी धर्मों में पाया जाता है।

प्रैट कम से कम स्वीकार करते हैं कि बिना पारलौकिक सत्ता को माने हुये नैतिकता की रक्षा हो सकती है। परन्तु प्रैट के अनुसार बिना ईश्वर को स्वीकार किये हुये जीवन को सार्थक समझने में कठिनाई हो सकती है (68)।

'जीवन की सार्थकता' का क्या तात्पर्य हो सकता है ? प्राय: यहाँ सार्थकता से जीवन के उद्देश्य के विषय में प्रश्न किया जाता है। अब 'उद्देश्य' शब्द का प्रयोग युक्तिपूर्ण रूप से मानव-व्यवहार तथा किसी भी कर्त्ता के प्रसंग में हो सकता है। फिर, कभी वस्तुओं के लिये भी उनके उद्देश्य के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है ; उदाहरणार्थ, इस कोठरी में इस दरवाजे को लगाने का क्या उद्देश्य हो सकता है ? परन्तु किसी कर्त्ता के विषय में या किसी अन्य वस्तु के विषय में जब कभी उद्देश्य का प्रश्न पूछा जाता है तो अन्त में इन प्रश्नों से पारलौकिक सत्ता ही प्रतिध्वनित होती है। जीवन के उद्देश्य को सृष्टि-कर्त्ता के अस्तित्व से स्पष्ट किया जाता है और इस विश्व की योजना भी असाक्षात् रीति से ईश्वर की कृति की द्योतक मानी जाती है। परन्तु यदि ईश्वर की पारलौकिक सत्ता को नहीं स्वीकार किया जाय तो जीवन के उद्देश्य पर किसी भी प्रकार का प्रकाश नहीं डाला जा सकता है (68-69)।

इस संदर्भ में कहा जाता है कि जीवन के उद्देश्य को दूसरे अर्थ में स्पष्ट किया जा सकता है। इस दूसरे अर्थ में 'उद्देश्य' से तात्पर्य होता है 'कार्य' का। उदाहरणार्थ, हम प्रश्न करते हैं : शरीर के संदर्भ में दाँत का या बाहरी कान का क्या कार्य है ? यहाँ एक अंग विशेष का उद्देश्य सम्पूर्ण शरीर के संदर्भ में अर्थपूर्ण रीति से पूछा जाता है। इस अर्थ में पूछा जा सकता है कि मानव-जीवन का क्या उद्देश्य हैं। यहाँ हमें चाहिये कि मानव-जीवन से अतीत एक व्यापक संदर्भ की ओर संकेत किया जाय जिसमें मानव-जीवन अंग या पक्ष हो। जैसे, सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को संदर्भ मानकर हम धार्मिक अनुष्ठान के उद्देश्य के विषय में प्रश्न पूछ सकते हैं। मानव-जीवन का व्यापक संदर्भ शायद प्राणिजगत् होगा जिसका यह अंग है। पर क्या जीवन के उद्देश्य का प्रश्न मानव-जीवन के विकास से सम्बद्ध समझा जायगा ? क्या जैविक विकास के अन्तर्गत मानव-विकास को स्पष्ट कर देने से मानव-जीवन की सार्थकता सिद्ध समझी जायेगी ?

दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से मानव-जीवन की सार्थकता केवल प्राणिमात्र के संदर्भ से ही नहीं मूल्यांकित होती है, बल्कि समस्त विश्व के संदर्भ में इसकी सार्थकता को स्पष्ट किया जाता है। परन्तु निरीश्वरवादी ऐहिकतावादी के लिये इस विश्व से बाहर कोई अन्य सत्ता नहीं है। अत: विश्व की सार्थकता विश्व से अतीत किसी अन्य सत्ता के माध्यम से नहीं आंकी जा सकती है (70-71)। तब क्या विश्व में ही अपने को सीमित रखकर हम मानव-जीवन की सार्थकता आंक सकते हैं ?

विज़डम का कहना है कि युक्तिसंगत रूप से हम विश्व की जटिल वस्तुस्थितियों के संदर्भ में मानव-जीवन के उद्देश्य को हल कर सकते हैं। जिस प्रकार किसी लम्बे और जटिल नाटक के विषय में हम कह सकते है : भाई ! हमने पूरे नाटक को नहीं समझा, कृपया इसके सम्पूर्ण अर्थ पर प्रकाश डालिये। यहाँ किसी नाटक को स्पष्ट करने के लिये इसके अन्तर्गत सभी घटनाओं को आद्यान्त कालक्रम में हम प्रस्तुत करते हैं। इस रूप में नाटक से परे और अतीत किसी अन्य संदर्भ की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ एक घटना का दूसरी घटनाओं के साथ केवल आपसी आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है (71-72)। परंतु प्रैट का कहना है कि इस रूप में भी जीवन की सार्थकता को नहीं स्पष्ट किया जा सकता है। जीवन को ऐहिकतावादी नाटक नहीं स्वीकारा जा सकता है। नाटक की अर्थपूर्णता अन्त में नाटक के रचयिता पर निर्भर करती है। यदि इस विश्व को एक कला के रूप में मान लिया जाये तो इससे परिलक्षित होता है कि विश्व का भी कोई कलाकार रचयिता है। परन्तु ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद में विश्व-रचयिता की बात नहीं उठती है। अत: अपारलौकिकवादी विश्व को कला या नाटक समझकर जीवन की सार्थकता विषयक प्रश्न का हल नहीं कर सकता है (72)।

कुछ निरीश्वरवादी लेखक, उदाहरणार्थ अस्तित्ववादी कामू, बताते हैं कि विश्व का उद्देश्य नहीं है और बेतुका (एब्सर्ड) है। परन्तु 'बेतुका' से भी आपादित होता है कि इसका भी कोई अर्थ है। बेतुकी बात से भी किसी विषय पर प्रकाश पड़ सकता है, छिपी गहनता निखरित हो सकती है। अत: 'बेतुका' मत उद्देश्यपूर्ण हो सकता है (73)। अन्त में विश्व को ' बेतुका' संज्ञा देने से अभिप्राय होता है कि मानव अपनी इच्छा के अनुरूप इस विश्व को समझना चाहता है। स्पष्टता प्राप्ति की धुन में अयुक्तिपूर्ण सत्ता से मुठभेड़ तथा भिड़न्त में बेतुकापन का विकास होता है। इस रूप में बेतुकापन को सर्म्पूतया अर्थहीन नहीं समझा जा सकता है (74)।

अब यदि विश्व और समस्त जीवन के विषय में उद्देश्यपूर्णता का प्रश्न नहीं पूछा जा सकता है तो क्या व्यष्टि के जीवन के विषय में यह प्रश्न पूछा जा सकता है ? चुंकि अपारलौकिकवादी के लिये मानव-जीवन से परे कोई अन्य अतीत सत्ता नहीं है इसलिये किसी भी व्यक्ति-विशेष के जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता है। परन्तु व्यक्ति-विशेष से अतीत उसके समाज का एक व्यापक संदर्भ है और व्यापक संदर्भ में व्यक्ति-विशेष के जीवन का उद्देश्यपूर्ण कार्य या स्थान हो सकता है। वह अपने जीवन को लोकहित के लिये, समाजवाद के लिये, काम में लगा सकता है और इस व्यापक संदर्भ में अपने जीवन को सौद्देश्य समझ सकता सकता है (75)। परन्तु यदि कोई व्यक्ति-विशेष न तो पारलौकिक सत्ता को ही स्वीकार करे और न कोई सामजिक संदर्भ को ही, तो उस व्यक्ति-विशेष के जीवन की सार्थकता किस प्रकार स्थिर की जा सकती है ? यदि ऐसा व्यक्ति अपने जीवन को निरर्थक समझता है तो इससे ध्वनित होता है कि वह अपने जीवन का अपना कोई निजी मूलभूत उद्देश्य नहीं मानता है। इस प्रसंग में विज़डम और कामू की रचनाएं उपादेय मालूम देती हैं।

विज़डम का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपने से अतीत सत्ता को (वह पारलौकिक हो या ऐहिक, उदाहरणार्थ लोकहित, समाजसेवा) नहीं भी माने तो भी उसकी अपनी कुछ प्रक्रियाएं स्वतंत्र और मूलभूत रीति से मूल्यपूर्ण मानी जायेंगी। स्वास्थ्य-लाभ, गरमी में ठंडे की बहार, बसंत की मादकता इत्यादि ऐसी हैं जिन्हें हम मूलभूत रीति से मूल्यपूर्ण स्वीकार कर सकते हैं। अत:, जीवन को

सार्थक मानने के लिए पारलौकिक सत्ता को या जीवन से अतीत किसी व्यापक संदर्भ को स्वीकार करना आवश्यक नहीं मालूम देता है। व्यक्ति-विशेषों की अपनी ही प्रक्रियाएं तात्त्विक रीति से अर्थपूर्ण समझी जा सकती हैं (75-76)।

इसी प्रकार कामू ने बतलाया है कि जीवन की सार्थकता को आंकने के लिये किसी अतीत सत्ता एवं संदर्भ को मानने की आवश्वयकता नहीं है। सिसिफस एक नायक है जिसका काम है कि वह बड़े पत्थर को पहाड़ के नीचे से लुढ़का कर चोटी तक पहुँचा दे, किन्तु जैसे ही पत्थर चोटी पर पहुँचता है उसका पत्थर फिर पहाड़ के नीचे लुढ़क आता है। सिसिफस का यही काम है कि प्रतिदिन, प्रतिमास,प्रतिवर्ष और सब दिन वह पत्थर को नीचे से लुढ़काकर ऊपर चोटी तक पहुँचाता रहे। क्या सिसिफस इस प्रतिदिन के एकरूप काम से ऊब जाता है ? नहीं। कामू का कहना है कि सिसिफस अपने काम में आनन्द प्राप्त करता है,-पत्थर की प्रत्येक क्षणिक प्रभा से वह आह्लादित हो उठता है। उसका पत्थर का लुढ़काना स्वलक्ष्य, मूलभूत रीति से सार्थक मालूम देता है (76-77)।

अब प्रैट अपनी पुस्तक के अंत में बताते हैं कि जीवन की सार्थकता पार-लौकिकवादी के लिये स्पष्ट मालूम देती है और शायद यह बात भी ठीक है। परन्तु ऐहिकवादी भी समाज के व्यापक संदर्भ में लोक-कल्याण, समाज-विकास इत्यादि को ध्यान में रखकर अपने जीवन को सार्थक मान सकता है। परन्तु यदि व्यक्ति से परे और अतीत शक्ति एवं संदर्भ को नहीं भी स्वीकारा जाय तो भी व्यक्ति अपनी प्रक्रियाओं को स्वलक्ष्य मानकर सिसिफस के समान अपने जीवन को सार्थक मान सकता है।

***

संदर्भ-सूची : -

1. *Harvey COX : The Secular City, SCM 1965, Pelican,1968.*
2. *B. Wilson : Religion in Secular Society, Penguin, 1969.*
3. *Harvey COX, ibid-P.P. 18-27*
4. *H. COX : ibid, P.P.75-77*
5. *H. COX : ibid, P.P.82-91*
6. *D.Z. Phillips :-*
   1. *The Concept of Prayer (Routledge & Kegan Paul 1965)*
   2. *Religion and Understanding, Blackwell, Oxford 1967,*
7. *A. Macintyre : Secularisation and Moral Change, Oxford University Press, 1967.*
8. *H. COX : P.P. 253-258.*
9. *Harry Blamires : The Chrictian Mind, SPCK 1963.*
10. *A. Flow and A. Macintrre : New Essays in Philosophical Theology, SCM Press, 1953.*
11. *W.T. Stace : Religion and the Modem Mind, Macmillan, 1953.*
12. *A.J. Ayer : Language, Truth abd logic. Victor Gallancy, First published 1936, P. 113.*
13. 1. *J. Wisdom : Philosophy and Psychoanalysis, Blackwell 1953, 1969.*
    2. *J. Wisdow : Paradox and Discovery, Blackwell 1965.*
14. *A. Flew : New Essys, P. 967.*
15. *R.B. Braithwaite : An Empiricist view of the Nature of Religious Belief, Reproduced in J. Hick (ed.), The Existence of God, The collier Macmillan 1964.*
    आर.बी. ब्रेथवेट के मत की समीक्षा के लिये देखें :
    या. मसीह (1) समकालीन धर्मदर्शन, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना।
    (2) धर्म दर्शन : प्राच्य एवं पाश्चात्य, भारती भवन, पटना

(3) Introduction to Religious Philosophy, Motilal Banarsidass, Patna & (3) The Nature of Religious Knowledge, Santinketan,

16. The Existence of God, P.P.239,241, 249.
17. वही : P.P. 244.
18. वही : P.P. 246-247.
19. E.L. Mascall : Words and Images, A Libra Book, 1968 (First Published 19-57) pp 49-62.
20. वही : P.P. 8-59.
21. Paul Van Buoen : The Secular Meaning of the Gospal, SCM Press 1963, Pelican 1968.
22. (1) E.L. Mascall : The Secularisation of Christianity, first published 1965, Libra Edition 1967.
    (2) J.A.T. Robinson, Honest to God, SCM, 1963.
    (3) John Coogley, Religion in a Secular world, Encyclopaedia Britannica, 1968 (Mentor Book).
    (4) William Nichollas, The Pelican Guide to Modem Theology, Vol. I, Penguin Books, 1969.
23. P. Van Buren : वही - P.P. 17, 18, 19, 105, व 106.
24. P. Van Buren : वही- P.P. 30, 33, 74.
25. I.T. Ramsey : Religious Language, SCM press, 1957. R.M. Hare, New Essays in Philosophy & Theology.
    A. Flew and essays in MacIntyre (Ed.) P.P. 99-105.
    हेयर और रामज़े के मत की व्याख्या के लिये देखें, या. मसीह, समकालीन धर्म-दर्शन।
26. P. Van Buren, Secular Meaning , P. 159.
27. वही : P.P. 142, 154.
28. The Secular Meaning,-P.P. 146, 155.
29. E.L. Mascall : The Secularisation of Christianity, Chap. II-P.P. 40-105.
30. T. J.J. Altizer and William Hamilton : Radical Theology and The Death of God, Penguin Books, 1968.
31. W. Hamilton, first published 1966, ibid p. 58.
32. W. Hamilton : ibid P.P. 49, 52, 58-59, 60,61.
33. T.J.J. Altizer : ibid P. 176.
34. T.J.J. Altizer : ibid P. 188.
35. W. Hamilton : ibid P. 53.
36. J. Wisdom, Gods, Philosophy and Psychoanalysis, First bublished in 1944-1945, Aristotelian soc. Proceedings.
37. D.Z. Phillips : Wisdom's Gods, philosophical Quarterly XIX January, 1969.
38. P. Winch : The Idea of a Soocial, Science, Routledge & Kegan Paul, 1958.
39. W. and L. Pelz : ' God is no more' Victor Gollancy 1963, Pelican 1968.
40. J.A.T. Robinson : Honest to God, ibid. SCM Press, 1963.
    जो बहुत प्रचारित और लोकप्रिय पुस्तक सिद्ध हुई है।
41. W & L Pelz : ibid P.P. 33,81,111.
42. J.A.T. /Robinson : P.P. 48,50,52,55,87
43. R.W. Hepburn, Christiarity and Paradox, Watts, landon, 1958.
44. R. Otto : The Idea of the Holy, Eng. Trans. 1917, Pelican 1959.

15

संवादी विसंवाद - धर्मों का अन्योन्याश्रयत्व*

हर्ष नारायण

आर.सी. जेनर तुलनात्मक धर्म-तत्त्व के शीर्षस्थ विद्वान हैं। ये पहले जरथुष्ट्रीय धर्म, विशेषत: उसकी अन्तिम अवस्था, के विशेषज्ञ के रूप में उभरे और इन्होंने तद्‌विषयक तीन पुस्तकें प्रकाशित कीं। बाद में इन्होंने तुलनात्मक धर्मानुभव अथवा रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म) पर दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित कीं-'मिस्टिसिज्म : सेक्रेड एण्ड प्रोफेन' और 'हिन्दू एण्ड मुस्लिम मिस्टिसिज्म'। 'मिस्टिसिज्म सेक्रेड एण्ड प्रोफेन' के प्रकाशन को एक घटना माना गया, विलियम जेम्स की पुस्तक 'वैराइटीज ऑव रिलिजियस एक्सपीरियेन्स' के बाद धर्मानुभव-विषयक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन। इनकी अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं-द कैथोलिक चर्च एण्ड द वर्ल्ड रिलिजन्स', 'द कन्वर्जेन्ट स्पिरिट,' 'हिन्दुइज्म' और 'कांकार्डेन्ट डिस्कार्ड : दि इन्टरडिपेन्डेन्स ऑव फेथ्स' (संवादी विसंवाद : धर्मों का अन्योन्याश्रयत्व) अन्तिम पुस्तक ही प्रस्तुत निबन्ध का विषय है। यह जेनर द्वारा सेन्ट एण्ड्रयूज में 1967-69 में प्राकृत धर्म (नैचुरल रिलिजन) पर दी गयी व्याख्यानमाला का एक विपुलकाय संग्रह है।

कुछ लोग सब धर्मों की बुनियादी एकता के पोषक हैं, कुछ अन्य लोग सर्व धर्म-समभाव के प्रचारक हैं : और सबसे अधिक संख्या उन धर्मज्ञों की है जो सभी धर्मों का पर्यवसान परात्पर धर्मानुभव अथवा रहस्यवाद में मानते हैं और जिन्हें रहस्यवाद सर्वत्र एक ही प्रकार का दिखायी देता है। 'मिस्टिसिज्म: सेक्रेड एण्ड प्रोफेन' में यह स्थापित किया गया है कि रहस्यवाद सर्वत्र एक ही प्रकार का नहीं हो सकता, कि उसके नानारूप प्रकाश में आए हैं। यह निश्चय ही एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण है जिसकी इतनी सयुक्तिक मीमांसा पहले कभी नहीं हुई थी। उक्त लेखक की दूसरी पुस्तक 'द कन्वर्जेन्ट स्पिरिट' में यह दिखलाया गया है कि धर्म दो प्रकार के होते हैं-व्यष्टिपरक (सॉलिटरी) और समष्टिपरक (सॉलिडरी)। व्यष्टिपरक धर्म का ध्येय व्यक्ति का मोक्ष है, जबकि समष्टिपरक धर्म का लक्ष्य है समष्टि का मोक्ष। इस पुस्तक में यह भी स्थापना की गई है कि इन दोनों प्रकार के धर्मों का पर्यवसान कैथोलिक-ईसाई धर्म में होता या हो सकता है। हमारे समीक्ष्य ग्रन्थ 'कांकार्डेन्ट डिस्कॉर्ड' में इन दोनों पुस्तकों की विषय-वस्तु को अधिक व्यापक संदर्भ में समन्वित और समुपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

'कांकार्डेन्ट डिस्कार्ड' में कुल 20 अध्याय हैं। प्रथम दो अध्यायो को भूमिका समझना चाहिए। अध्याय 3-10 में धर्मानुभव के वैविध्य की समस्या उठायी गई है और भारतीय सूत्रों से उसके समाधान की खोज की गई है। शेषांश में पहले भारत के व्यष्टिपरक रहस्यवाद और नव्यकन्फ्युशसवाद

---

* *Concordant Discord : The Inter dependence of faith by R.C. Zochner, Clerendum Press, 1970*

के समष्टिपरक दृष्टिकोण के बीच की कड़ी के रूप में ताओवाद की मीमांसा की गई है, फिर, लेखक की लेखनी स्वाभाविक गति से बौद्ध ध्यान-सम्प्रदाय और उसके बाद मध्यकालीन ईसाई रहस्यवाद की ओर मुड़ गई है। अन्तत:, निरूपित धर्मों के संदर्भ में ईसाई धर्म तथा रूशो से बर्नानोस और तेलार द शार्दें (Teilhardt de chardin) तक सीमान्तीय (फ्रिंज) कैथोलिकों का पुनर्मूल्यांकन किया गया है। लेखक अपने सम्पूर्ण विचारविन्यास में फ्रांसीसी सन्त फ्रांश्वा द साल (Francois de sales) का ऋणी जान पड़ता है। पुस्तक का शीर्षक भी वस्तुत: इसी सन्त की एक पुस्तक से लिया गया है। जेनर का कहना है कि सर्वधर्म-समन्वय के सारे प्रयत्न समन्वयाभास ही उत्पन्न कर सकें हैं और केवल 'ऊपरी' शाब्दिक और अत: कृत्रिम मात्र सिद्ध हुए हैं। राधाकृष्णन् के धर्मसमन्वयवाद का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि राधाकृष्णन् के अनुसार अद्वैत वेदान्त पारमार्थिक सत्य है और अन्य धर्म व्यावहारिक पक्ष हैं जो उसी तक ले जाते है। जेनर की विप्रतिपत्ति है कि विविध धर्मों से मनमाने उदाहरण देकर ऐसे सिद्धांत को जो चाहे पुष्ट कर सकता है, किन्तु वह सब सतही, मिथ्या और अवांछनीय ही होगा। अत: जेनर ने धर्मों में मौलिक भेद की सम्यक् मीमांसा करते हुए यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनमें कहां तक संगति स्थापित की जा सकती है। पुस्तक शीर्षक-संवादी विसंवाद, अथवा संगतिपरक विसंगति-में भी इसी तथ्य की घोषणा है।

जेनर धर्मों के वैचित्र्य को श्लाध्य और अभिनन्दनीय नहीं मानते, उसे एक अभिशाप और कलंक मानते हैं। यही कारण है कि वे विसंवाद में भी किसी संवाद की खोज में रत हैं। उनके अनुसार प्राच्य और पाश्चात्य, और सामी विचारधाराएँ मूलत: भिन्न हैं, वस्तुत: वे एक अथवा समान प्रतिज्ञा (प्रेमिस) से आरम्भ ही नहीं होतीं। इनमें सामान्य सिद्धांत बस एक है, मुक्तिवाद। किन्तु मुक्ति किससे ? इस प्रश्न पर बिल्कुल मतैक्य नहीं है। तथापि वे धार्मिक इतिहास की प्रक्रिया में एक समन्वित ढांचा पाते हैं, और समन्वय का केन्द्र है ईसा मसीह। इस प्रकार, यद्यपि धर्मों का आरम्भ-बिन्दु एक नहीं है, तथापि उनका सन्निपात अथवा संगम एक ही बिन्दु पर घटित होता है।

ऊपर धर्मों के दो भेद बताये गये हैं-व्यष्टिपरक धर्म और समष्टिपरक धर्म। भारतीय धर्म व्यष्टिपरक हैं और यहूदी तथा इस्लाम धर्म प्राय: समष्टिपरक। व्यष्टिपरक धर्मों में प्राय: रहस्यवाद की प्रवृत्ति प्रबल है, अत: वे रहस्हवादी धर्म (मिस्टिकल रिलीजन) भी कहे जाते हैं। समष्टिपरक धर्म पैगम्बरों, ईश-दूतों, ईश्वर के संदेशहरों (प्रॉफेट) के चलाये हुए हैं, अत: उन्हें पैगम्बरी धर्म (प्रॉफ्रेटिक रिलिजंस्) भी कहते हैं। अब, एक ओर व्यष्टिपरक, रहस्यवादी अथवा भारतीय और दूसरी ओर समष्टिपरक, पैगम्बरी अथवा सभी धर्मों के बीच की खाई तो बढ़ी है ही, भारतीय धर्म परम्पराओं के बीच भी पर्याप्त बड़ी खाइयां हैं। जेनर के अनुसार, हिन्दू-लेखक समन्वय-स्थापन की उत्सुकता में वस्तुस्थिति पर लीपापोती करने में कुशल हैं, किन्तु मानना ही होगा कि भारतीय धर्मों के बीच ऐसी खाइयां भी विद्यमान हैं जो कभी पाटी नहीं जा सकती। हाँ, इन परस्पर भिन्न धर्मों को एक व्यवस्थित ढांचे में सन्निविष्ट अवश्य किया जा सकता है, जैसाकि इस ग्रन्थ में करने का प्रयास किया गया है।

पैगम्बरी धर्म यहूदी और इस्लाम धर्म हैं। जेनर ईसाई धर्म को पैगम्बरी धर्म मानने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि उसके प्रवर्तक ईसा पैगम्बर नहीं बल्कि ईश्वर के पुत्र अथवा ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त, ईसाई धर्म में आरंभ से ही रहस्यवाद का पुट दिखाई देता है जिसके कारण यह रहस्यवादी धर्मों के भी निकट आ जाता है। किन्तु इसे शुद्ध रूप से रहस्यवादी भी नहीं माना जा सकता। जेनर के अनुसार यह पैगम्बरी और रहस्यवादी धर्मों के बीच में आता है और धर्म की एक तीसरी विधा का प्रतिनिधित्व करता है।

उक्त दोनों प्रकार के धर्मों में मौलिक भेद सकारण है। सामी धर्मों के प्रवर्तक पैगम्बर रहे हैं। पैगम्बर को सगुण ईश्वर से पैगाम (संदेश) प्राप्त होता है, वह चाहे या न चाहे। वह उस संदेश को मानवता तक पहुँता देने को बाध्य होता है। संदेश प्राय: उग्र और प्रचण्ड होता है, जिसके दो पक्ष होते हैं - भयोत्पाद और आश्वासन। राधाकृष्णन् के शब्दों में, जो स्वयं जेनर ने उद्धृत किये हैं, पैगम्बरों का ईश्वर 'केवल बुद्ध्यसंगत (इर्रेशनल) नहीं बल्कि क्रूर, प्रतिशोधी (विन्डिक्टिव) और असभ्य भी होता है।

यहूदियों का दावा है कि पैगम्बर केवल उन्हीं की जाति में हुए हैं। जेनर के अनुसार अपवाद केवल दो हैं-अरब में मुहम्मद और प्राचीन ईरान में जरथुष्ट्र। जरथुष्ट्र का प्रभाव तो यहूदी धर्म पर भी प्रभूत मात्रा में दिखायी देता है और ईसाइयत तथा इस्लाम यहूदी धर्म की ही सन्तानें हैं। मोटे तौर पर जरथुष्ट्री धर्म से सामी धर्मों में गृहीत तत्त्व ये हैं-स्वर्ग और नरक, अशुभ की वास्तव सत्ता, अन्तिम निर्णय का दिन।

जेनर ने यहूदी और इस्लाम धर्मों में मान्य ईश्वर का एक भयावह चित्र खींचा है। इन धर्मों का ईश्वर ईर्ष्यालु ईश्वर है। वह एक रक्तपिपासु ईश्वर भी है। यह रक्त पिपासु ईश्वर ईसाई धर्म में स्नेहालु पिता कैसे बन गया, यह आश्चर्य की बात है। यहूदी और इस्लामी ईश्वर क्रूरता में अपना सानी नहीं रखता। जेनर का यहां तक कहना है कि मध्ययुग के चर्च ने यहूदी धर्मग्रन्थ 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को लैटिन में ही रखकर असाधारण बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। किन्तु क्या ईसाई चर्च ने उक्त धर्मग्रन्थ को अपने 'न्यू टेस्टामेन्ट' के साथ रखकर भूल की ? जेनर कहते हैं कि नहीं, क्योंकि ईसा का महान् कार्य 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' की पृष्ठाभूमि में ही आकलित हो सकता है। किन्तु चर्च को उसकी पुनर्व्याख्या का पूरा अधिकार ही नहीं उसका यह कर्तव्य भी है।

आधुनिक युग में धर्म को गम्भीरतापूर्वक अपनाने वाले विचारकों पर रहस्यवादी धर्म-प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ा है। हिन्दुओं के वेदान्त और बौद्धों के ध्यान-सम्प्रदाय की आज अधिक ख्याति है। आल्डम हक्सले इस नयी प्रवृत्ति के अन्यतम पोषक थे। (इन्होंने मैस्केलिन का सेवन करके बोधि प्राप्त की। इस औषधि के प्रभाव में उन्हें सच्चिदानन्द की अनुभूति हुई थी। कुछ लोग एल. एस. डी. का सेवन कर वैसी ही अनुभूति प्राप्त करने लगे हैं।)

रहस्यवाद की परिभाषा की जाती है-मानवता की परम तत्त्व के साक्षात्कार अथवा संप्राप्ति के लिए सर्वतोमुखी अभीप्सा। जेनर रहस्यवाद अथवा रहस्यात्मक अनुभव को तीन कोटियों में विभक्त करते हैं। कई रहस्यवादियों को यह अनुभव होता है कि मानवीय आत्मा सम्पूर्ण प्रकृति-मण्डल को अन्तर्भूत अथवा आत्मसात् किए हुए है, कि 'अहम्' सम्पूर्ण 'इदम्' अथवा सम्पूर्ण जगत् से एकीभूत है, और कि ज्ञाता और ज्ञेय का सारा भेद समाप्त है। इसे प्रकृति-परक, निसर्ग-परक अथवा प्राकृत रहस्यवाद (नेचर-मिस्टिसिज्म) की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि इसमें प्रकृति और पुरुष घुलमिल जाते हैं, एक हो जाते हैं। दूसरी कोटि का रहस्यात्मक अनुभव कैवल्य-परक रहस्यवाद कहा गया है। इसमें मानवात्मा अपने को जगत् से अधिकाधिक विच्छिन्न और असम्पृक्त अनुभव करती है और नित्य को अनित्य से अधिकाधिक असंस्पृष्ट। तीसरी कोटि का रहस्यवाद वह है जिसे हम भक्ति की संज्ञा देते हैं, प्रेमोन्माद-पुरस्सर भगद्भक्ति। जेनर के अनुसार हिन्दू धर्म ऐसा धर्म है जिसमें सभी प्रकार के रहस्यवादों का अनुभव, विकास और परिपाक देखने को मिलता है। यह धर्म सर्वविध रहस्यवाद का क्रीड़ा-स्थल रहा है। यह प्रवाद प्रचलित हो गया है कि रहस्यवाद सर्वत्र एक-सा होता है, चाहे धर्म जो हो। जेनर के अनुसार यह भ्रान्त धारणा है, जिसका प्रत्याख्यान जितना हिन्दू धर्म के विकास के इतिहास से होता है उतना किसी अन्य धर्म के इतिहास से नहीं। इस कारण समीक्ष्य ग्रन्थ में जितने विस्तार से हिन्दू धर्म पर विचार किया गया है उतना संसार के किसी अन्य धर्म पर नहीं।

जेनर ने भारत में रहस्यवाद के चार भेद लक्षित किये हैं। प्रथम भेद है सर्वात्मवादी रहस्यवाद, जिसके औपनिषद् सूत्र हैं 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत् त्वमसि' आदि। यहाँ 'अत्र' 'सर्वत्र' है। जेनर इसे देशात्यय, देशातीतता (ट्रान्सेन्डेन्स ऑफ स्पेस) का अनुभव कहते हैं। दूसरा भेद है नित्यता अथवा कालात्यय, कालातीतता (ट्रान्सेन्डेन्स ऑफ टाइम) का अनुभव, जो अधिकतर देशात्यय के अनुभव से सहचरित होता है। गीता (2.12 -21) में जो घोषणा है कि असत् से सत् और सत् से असत् नहीं होता, और कि आत्मा शाश्वत और अविनाशानी है, वह इसी प्रकार के रहस्यावाद से संबंध रखती है। पाश्चात्य रहस्यवादी एक्खार्ट (Meister & Eckhert)का 'शाश्वत अब' (दि इटर्नल नार्ड) का अनुभव इसी कोटि का अनुभव है। यह 'अब' 'सर्वदा' भी है। तृतीय भेद उक्त भेदद्वय के योग से निष्पन्न होता है, जिसे निर्विशेष अद्वैत (एब्सोल्यूट वन-नेस) का अनुभव कह सकते हैं। सुकरात-पूर्व यूनानी दार्शनिक पार्मेनीदीस का सूत्र है, 'वह कदापि नहीं था, और न यह कदापि होगा, क्योंकि यह है अब (नाउ) युगपत् (टुगेदर), एकमात्र (वन), निरन्तर (कोन्टिन्युअस)'। निर्विशेष अद्वैत की भूमिका में इस 'एक' के अनतिरिक्त किसी भी वस्तु की चेतना नहीं रह जाती, अन्य सबका लोप हो जाता है। माण्डूक्योपनिषद् (7) में इस भूमिका को चतुर्थ भूमिका कहा गया है, जिसमें शान्त, शिव और अद्वैत के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता, प्रपंच का उपशम हो जाता है। यहाँ यह विशेष है कि यह एकमात्र तत्त्व केवल अखण्डैकरस नहीं, असीम भी है इसकी मीमांसा तीन प्रकार से की जा सकती है। प्रथम, इस अवस्था में आत्मा निर्गुणभावापन्न होकर परमात्मा से अभिन्न हो जाती है और अन्ततः अद्वैत वेदान्त का अखण्डैकरस, अनन्त, सर्वभूतान्तरात्मा अथवा ब्रह्म रह जाता है। द्वितीय, इस अवस्था में, मार्टिन बूबर के शब्दों में, जीवात्मा का दर्शन होता है जो अनेक जीवात्माओं में से एक है, न कि अखण्डैकरस ब्रह्म का। यह ससीम सत्ताओं में ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का दर्शन है-ईसाई, मुस्लिम तथा श्री वैष्णव वेदान्त के अनुसार ईश्वर का प्रतिबिम्ब। तृतीय, इस अवस्था में सांख्य के पुरुष का दर्शन होता है जो आप्तकाम और आत्मपूर्ण है तथा अन्य पुरुषों और प्रकृति से भिन्न है। जेनर द्वारा लक्षित भारतीय रहस्यवाद का चतुर्थ भेद ब्रह्मानुभव, ब्रह्मनिर्वाण, से आगे जाता है और भक्तिवाद कहा जा सकता है। इसका प्रतिपादन गीता में प्राप्त होता है। इसके अनुसार परम पुरुषार्थ ब्रह्म में विलय नहीं बल्कि भगवान् से सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य प्राप्त कर उसकी भक्ति में तन्मय रहने में है। यह उच्चतर कोटि की भक्ति है, जो तब प्राप्त होती है जब आत्मा संसार से विरक्त होकर इन्द्रियों को समेट लेती है। जेनर के अनुसार भारतीय अध्यात्मवाद में यह एक ऐतिहासिक क्रान्ति है जिसने हिंदू रहस्यवाद का स्वरूप आमूलचूल बदल डाला।

प्रथम कोटि के रहस्यवाद के उदाहरणस्वरूप जेनर ने रिचार्ड मॉरिस बक और वाल्ट ह्विट्मन के अनुभवों की विवृत्ति की है। यहाँ केवल प्रथम उदाहरण का उल्लेख पर्याप्त होगा। रिचार्ड मॉरिस बक ने 1901 में एक शब्द गढ़ा, वैश्व चेतना (कॉस्मिक कांशसनेस) और इसी शीर्षक से उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की। बक एक प्रख्यात वैज्ञानिक थे। उन्हें 1872 के बसन्त में एक रहस्यमय अनुभूति हुई, ब्रह्मानुभूति, जिसका ही परिणाम उक्त पुस्तक है। उन्हें अर्धरात्रि गये अनुभव हुआ कि वे सहसा अग्निशिखाओं के बादल में लिपट गए हैं। उन्हें लगा कि प्रकाश उनके भीतर हो रहा है। तत्काल बाद उन्हें आनन्दोन्माद और सम्बोधि की एक अनिर्वचनीय अवस्था का भान हुआ और यह भी भान होने लगा कि विश्व एक परमचेतन सत्ता है। उन थोड़े से क्षणों में उन्हें इतना ज्ञान प्राप्त हो गया जो वर्षों में नहीं हो सकता था।

बक को जिस प्रकार की अनुभूति हुई उस प्रकार की अनुभूति उन सन्तों और रहस्यवादियों को होती है जो प्राकृत रहस्यवादी कहलाते हैं। आल्डस हक्सले और विलियम जैम्स भी इस अनुभूति के साक्षी हैं। इस अवस्था में सत् के ऐसे स्वरूप का दर्शन होता है जो जगत् की अपेक्षा अधिक वास्तव, अधिक यथार्थ, प्रतीत होता है। इतना यथार्थ कि जगत् उसकी तुलना में मिथ्या और असत् प्रतीत होने लगता है। निश्चय ही, यह अवस्था औषधि द्वारा भी उत्पन्न की जा सकती है और की जाती है। वैश्व चेतना की अनुभूति, जो बक को हुई, वह कोई नयी अनुभूति नहीं। हिन्दू और ताओ धर्मों की वैश्व चेतना की अनुभूति सनातन है। बक स्वयं वैश्व चेतना की व्यापक अनुभूति से सम्पन्न 13 महात्माओं के नाम गिनाते हैं जो ये हैं-गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, पॉल, प्लोतीनोस, मुहम्मद, दांते, ला केसा (Las Casas), जॉन येपेस (John yepes) अपरनाम सेन्ट जॉन ऑफ द क्रास, फ्रांसिस बेकन, अपर नाम सेक्सपियर, जैकब बेहमेन (Jacob Behman) विलियम ब्लेक, बाल्जाक और वाल्ट ह्विट्मन।

बक के अनुसार इन सभी महापुरुषों को वैश्व चेतना की भूमिका प्राप्त हुई थी, उस चेतना की भूमिका जिसमें आत्मा और जगत्, पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और अनीश्वर सब एक हो जाते हैं। जेनर कहते हैं कि इन सभी महापुरुषों को वैश्व चेतना का अनुभविता समझना भ्रम है। उदाहरणत: ईसा, पॉल और मुहम्मद ईश्वर और जगत् के तादात्म्य में बिल्कुल विश्वास नहीं करते। बुद्ध की स्थिति और निराली है। वे जगत् से तादात्म्य नहीं, जगत् से विरक्ति में निर्वाण मानते हैं। संसार और निर्वाण का आत्यन्तिक पार्थक्य ही बुद्ध का दर्शन है। अत: उनकी चेतना को किसी भी प्रकार वैश्व चेतना से समीकृत करना सम्भव नहीं। केवल ह्विट्मन बक को जैसी अनुभूति हुई थी, उस रूप में वे वैश्व चेतना के अनुभविता कहे जा सकते हैं। ह्विट्मन का काव्य 'लीव्ज ऑव ग्रास' ऐसे ही अनुभव का उपबृंहण करता है।

प्राकृत रहस्यवाद की यह भी विशेषता है कि वह विविध संस्थाबद्ध धर्मों को सर्वथा असत्य नहीं, आंशिक रूप से सत्य मानकर चलता है, रहस्यानुभव के विविध मार्ग मानकर चलता है।

उक्त त्रिविध रहस्यानुभवों को एक मानने की भूल का ही यह परिणाम है कि सभी धर्म तत्त्वत: एक माने जाने लगे हैं। इस मौलिक भेद का दृष्टि से ओझल हो जाने के कारण सभी रहस्यानुभव एक दिखायी देने लगते हैं, और इस आधार पर मान लिया जाता है कि सभी धर्म अन्तत: उसी रहस्यानुभव की ओर ले जाते हैं और, अतएव, तत्त्वत: एक हैं। धर्म तथा रहस्यावाद के इतिहास पर मनन करने के बाद जेनर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रत्येक धर्म में कई प्रकार के रहस्यवाद प्राप्त होते हैं, किसी में कोई रहस्यवाद अधिक है तो किसी में कोई अन्य। यह मत एकान्तत: भ्रान्त है कि यह भेद केवल व्याख्या भेद-मूलक है। बुद्ध और ह्विट्मन अपने-अपने युग में प्रचलित विचारधाराओं के विरोधी ही थे-बुद्ध वेदान्तप्रतिपादय् सर्वब्रह्मवाद के और ह्विट्मन वैराग्यवाद के -, अत: वे अपने रहस्यानुभव की व्याख्या में अपने युग में प्रचलित धारणओं का प्रवेश क्यों होने देते ? दोनों मनीषियों को दृढ़ निश्चय था कि उन्हें चरम सत्य का साक्षात्कार हो गया है जो उनके अनुसार, उनके समसामयिकों को अप्राप्त था। तथापि बुद्ध को सांसारिक भोगैश्वर्य, कामक्रीड़ा, बल्कि संसार मात्र, अशुभ और हेय अनुभूत हुआ था। जबकि ह्विट्मन को काम और भौतिक जगत् उतना ही दिव्य और भागवत् अनुभूत हुआ था जितनी मानवात्मा, बल्कि मानवात्मा से अभिन्न। बुद्ध का तो एकमात्र लक्ष्य ही था निर्वाण, जो एक प्रकार से, कम से कम वैयक्तिक स्तर पर संसार के आत्यन्तिक उच्छेद का ही दूसरा नाम था। निर्वाण संसार के विरुद्ध एक घोर प्रतिक्रिया है और वैश्व चेतना की सम्पूर्ण धारणा का आत्यन्तिक निषेध।

जेनर भारतीय धर्म और दर्शन के आदि स्रोत वैदिक साहित्य के विषय में लिखते हैं कि उसमें वैश्व चेतना, सर्वात्मवाद का गहरा पुट है। वैदिक संहिताओं में यह प्रवृत्ति कई सूक्तों में मुखर हुई है।

इस संबंध में पुरुष-सूक्त, नासदीय सूक्त और हिरण्यगर्भ-सूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी बहुभक्तिवाद के अभ्यास द्वारा इसी प्रवृत्ति का पोषण प्राप्त होता है। बहुभक्तिवाद) का अर्थ है प्रत्येक पदार्थ को अन्य पदार्थों के रूप में उपस्थित करने की व्यापक चेष्टा। यह प्रवृत्ति प्राचीन उपनिषदों में भी संक्रान्त दीखती है। उपनिषदों में "आत्मा ही ब्रह्म है," "सब कुछ ब्रह्म ही है"-ऐसे वाक्यों की भरमार है। यहाँ तक कि ऐसा माना जाता है कि उपनिषद् की मूल शिक्षा यही है।

जेनर वैदिक रहस्यवाद को प्राकृत रहस्यवाद मानने के पक्ष में हैं। इसकी सिद्धि उन्होंने व्यापक पैमाने पर की है। वैदिक देवता प्राकृत हैं। अग्नि, उषा, द्यावा,पृथ्वी जैसे देवता प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण मात्र हैं, इन्द्र मूलत: वात्या का देवता है, वरुण तारों भरे आकाश का देवता है। आगे चलकर देवताओं की स्वतंत्र सत्ता समाप्त सी होने लगती है, प्रत्येक देवता को प्रत्येक अन्य देवता के रूप में अभिहित करने की प्रवृत्ति बढ़ती है, और अन्तत: यह भावना उदित होती है कि सभी देवता मूलत: एक हैं अथवा एक ही परम देवता, परम सत्ता के विविध नाम-रूप हैं। इस प्रक्रिया में देवताओं की शक्तियाँ यज्ञ में संक्रान्त हो जाती हैं, जिसके द्वारा मनुष्य देवताओं को वश में कर लेता है, स्वयं देवता बन जाता है। किन्तु यज्ञों द्वारा ऐहिक और आमुष्मिक सुख-समृद्धि की ही सिद्धि होती है जो अन्तत: नश्वर है। यज्ञों के अनुष्ठान से जन्म-मरण के अनवरत चक्र से त्राण असम्भव है। अत: मनुष्य किसी ध्रुव सत्ता की खोज आरम्भ करता है और ब्रह्मतत्त्व का अविष्कार करता है। यह तत्त्व प्रकृति से भिन्न नहीं, बल्कि प्रकृति का ही उपबृंहण है। इस प्रकार 'सब कुछ ब्रह्म है' 'जगत् ब्रह्म है', 'आत्मा ब्रह्म है'-ऐसी धारणाओं का विकास हो जाता है।

उपनिषद् का ब्रह्म-सिद्धांत कई चरणों में विकसित हुआ था किन्तु वेद और उपनिषद् में ब्रह्म और प्रकृति का तादात्म्य-भाव अक्षुण रहा।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (10-129) की स्पष्ट घोषणा है कि संसार किसी एक तत्त्व का परिणाम है और कि जड़ और चेतन मूलत: एक अथवा अभिन्न हैं। इसी सूक्त में परम आकाश में प्रतिष्ठित एक अध्यक्ष अर्थात् ईश्वर की कल्पना का भी संकेत विद्यमान है, किन्तु ज़ेनर के अनुसार ईश्वरवाद के इस बीज का विकास पर्याप्त विलम्ब से होता है। इस ईश्वरवाद का सिलसिला प्राचीन उपनिषदों में टूट जाता है। आगे चलकर ईश्वरवाद नई सजधज के साथ श्वेताश्वतरोपनिषद् और भगवद्गीता में प्रकट होता है। इसका विवरण आगे आयेगा। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ-सूक्त (10-121) की भी ध्वनि सर्वैक्यवाद ही है। इसके अनुसार पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, 'आप:' (जल-सृष्टि के उपादान कारण से) हरण्यगर्भ जन्म लेते ही सृष्टि का अधिपति बन गया। इस सूक्त की टेक है, कस्मै दैवाय हविषा विधेम ? अर्थात् किस देव को हम हवि अर्पित करें ? किन्तु उस देव का उल्लेख नहीं हुआ है। आगे चलकर सूक्त के अन्त में मानों उसी सूक्त में समुत्थित प्रश्न के उत्तर में 'प्रजापति' का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु प्रजापति को परमात्मा समझना भूल है। प्रजापति की उत्पत्ति 'आप:' से बताई गई है। कहा जाता सकता है कि सृष्ट्युपादान जड़ है जिससे चेतना का विकास होता है। इस प्रकार यह सूक्त भी सर्वैक्यवादी ही सिद्ध होता है। सूक्त 10-82 में 'विश्वकर्मा' का उदय होता है, जो उक्त प्रश्न का उत्तर माना जा सकता है। किन्तु विश्वकर्मा भी स्वयम्भू ईश्वर नहीं है। उसकी उत्पत्ति भी प्रजापति के समान पहले से विद्यमान कारण से होती है। वह 'आप:' से उद्भूत प्रथम गर्भ है, समस्त सृष्टि के अधिष्ठानभूत अज की नाभि में प्रतिष्ठित है। हाँ, जन्म के पश्चात् वह सृष्टि का अधीश्वर अवश्य बन जाता है।

ये सारे निदर्शन सदैक्यवाद, सर्वैक्यवाद अथवा सर्वात्मवाद की ओर इंगित करते हैं। इस चिन्तनधारा के अनुसार सर्वविध चेतना का विकास किसी आदिम जड़ सत्ता से हुआ है।

ॠग्वेद के पुरुष-सूक्त (10-90) में स्थिति कुछ बदली। यहाँ पुरुष तत्त्व प्रकृति-प्रसूत नहीं, प्रकृति ही पुरुष-प्रसूत है। जगत् पुरुष से अभिन्न है, किन्तु है उसका एक चौथाई भाग मात्र। पुरुष का

अवशिष्ट तीन-चौथाई भाग जगत् से परे है। तथापि पुरुष और प्रकृति का तादात्म्य-भाव यहाँ भी अक्षुण्ण रहता है। यह अवश्य है कि यहाँ उक्त चौथाई भाग को नश्वर और शेष तीन-चौथाई को अविनाशी कहा गया है।

अपवाद छोड़कर इन उदाहरणों की सम्मिलित ध्वनि यही है कि देव-तत्त्व देवाधिदेव-तत्त्व, आत्म-तत्त्व का विकास सृष्टि के जड़ उपादान से हुआ है और जन्म के पश्चात् यह तत्त्व सृष्टि का अधिपति बन जाता है। पुरुष-सूक्त के पुरुष की विपरीत गति है। पुरुष से जगत् की उत्पत्ति होती है और जगत् उसके चौथाई भाग से अधिक नहीं। शेष भाग अजर और अमर है। उपनिषदों में यह सिद्धांत भलीभाँति उपबृंहित हुआ है। जगत् मूलत: किसी एक तत्त्व का विकार अथवा परिणाम है, जिसे ब्रह्म अथवा आत्मा कहा गया है। प्राचीनतम उपनिषदों (जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् 1.2.1, तैत्तिरीयोपनिषद् (2.7) में संकेत से कहा गया है कि आदि में कुछ नहीं था, असत् था, जिससे सत् की उत्पत्ति हुई। छान्दोग्योपनिषद (3.19.1) में असत् और सत् को एक मान लिया गया है। छान्दोग्योपनिषद् (6.2.2) में असत् से सत् की उत्पत्ति का निषेध भी प्राप्त होता है। जेनर के अनुसार इन उपनिषदों में उल्लिखित असत् और सत् को क्रमश: जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष, समझा जा सकता है, और इस आधार पर उपनिषद् का तात्पर्य यह निकलता है कि प्रकृति से पुरुष का जन्म होता है।

उपनिषद् की सामान्य ध्वनि यह है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड, जीव और ब्रह्म, जगत् और जगदीश्वर एक हैं। औपनिषद् सिद्धांत यह है कि यह ऐक्यानुभूति वैश्व चेतना के विकास द्वारा संभव है। वस्तुत: वैश्व चेतना ही उपनिषद् का मुख्यार्थ है।

वैश्व चेतना के प्रबल पोषक बक का मत है कि वैश्व चेतना का फल है नैतिक उन्नयन। जेनर का कहना है कि यह धारणा वस्तुस्थिति के विपरीत है। उपनिषद् की स्पष्ट घोषणा है कि वैश्व चेतना का विकास कर लेने पर मनुष्य पाप और पुण्य, विधि और निषेध से परे हो जाता है। इस विषय में तैत्तिरीयोपनिषद् (2.9) और बृहदारण्यकोपनिषद् (4.4.22) विशेष रूप से माननीय हैं। इस प्रकार वैश्व चेतना नैतिक उन्नयन की ओर नहीं बल्कि नैतिकता से निरपेक्षता की ओर ले जाती है। यदि वैश्व चेतना रहस्यवाद का एकमात्र रूप है तो, जेनर के अनुसार, सारा नीतिशास्त्र और नीति-धर्म निरर्थक हो जाता है।

जेनर की धारणा है कि उपनिषद् की मुख्य शिक्षा अद्वैतवाद न होकर विशिष्ट द्वैतवाद जैसी है। उपनिषद् में विविधता में एकता का दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है और विविधता में एकता का दर्शन किन्हीं ही महाभागों के भाग्य में बदा होता है। ये महानुभाव मूलगामी एकता के दर्शन से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वे विविधता का एकदम अपलाप ही करने लग जाते हैं। इस तथ्य के निदर्शन हमें बृहदारण्यकोपनिषद् (4.4.19-20) और कठोपनिषद् (4.10.11) में प्राप्त होते हैं, जहाँ सत् मात्र की तात्त्विक एकता का स्वीकरण और नानात्व का अपलाप किया गया है। हाँ, यह मानना ही होगा कि उपनिषद् के अनुसार आत्मा और परमात्मा मूलत: और तत्त्वत: एक हैं और कि मुक्तावस्था में आत्मा का परमात्मा में उसी प्रकार लय हो जाता है जिस प्रकार नदियों का समुद्र में। इस संबंध में कठोपनिषद् (4.15) और मुण्डकोपनिषद् (3.2.8) द्रष्टव्य है। वैसे उपनिषदों में अद्वैतवाद, सर्वेश्वरवाद और एकेश्वरवाद साथ-साथ चलते हैं। आत्मा अथवा ब्रह्म निर्गुण भी हैं और सगुण भी, सर्वात्मक भी हैं और सर्वातीत भी, विश्वरूप भी हैं और विश्वेश्वर भी। उपनिषद् एक ओर सृष्टि की व्याख्या और दूसरी ओर आत्म-चिन्तन की प्रवृत्ति का पोषण करती है, बल्कि ये ही उसके आरम्भ बिन्दु हैं, और वे अन्ततोगत्वा एक समन्वित सत्ता की खोज कर लेती हैं जो आत्मा और सृष्टि दोनों का मूल है और दोनों जिसके अंग मात्र हैं। उपनिषद् जगत् को मायिक अथवा स्वप्नवत् मिथ्या मानने के पक्ष में नहीं। तथापि उसमें सुषुप्तावस्था

ब्रह्मभाव अथवा समाधि से सर्वाधिक सादृश्य रखने वाली बताई गई हैं। जेनर का कथन है कि ऐसी अवस्था में ब्रह्मनिर्वाण और आत्यन्तिक मृत्यु में भेद करना असंभव हो जाता है - दोनों अवस्थाओं से लौटना, निवृत्ति, पुनरावृत्ति, सम्भव नहीं।

इसके अनन्तर जेनर ने माण्डूक्योपनिषद् और मैत्रायण्युपनिषद् पर विचार किया है जो उन्हें उपनिषत्-सिद्धांत के विकास की कड़ी प्रतीत होती है। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार जीवात्मा की चार अवस्थाएं हैं : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रदवस्था में जीवात्मा बहिर्मुख होकर स्थूल का भोग करता है और स्वप्नावस्था में अन्तर्मुख होकर सूक्ष्म का भोग करता है। सुषुप्तावस्था में उसे न कोई कामना होती है और न वह कोई स्वप्न देखता है, वह प्रज्ञानधन और चैतन्योन्मुख होकर आनन्द भोगता है और सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और सबका उद्‌गम और अन्त कहलाता है। तुरीयावस्था में प्रपंच का उपशम हो जाता है और शिव, शान्त तथा अद्वैत आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है। स्मरण होगा कि ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त के अनुसार जगत् एकपाद-ब्रह्म का एक चौथाई है और कि त्रिपाद-ब्रह्म जगत् से परे है। मैत्रायण्युपनिषद् (7.11) में तुरीयावस्था को त्रिपाद-ब्रह्म माना गया है। यह उपनिषद् के इतिहास में एक घटना है। सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी सहित प्रथम तीन अवस्थाएँ जगद्-रूप मानी गई हैं। तुरीयावस्था सर्वथा भिन्न है - शिव, शान्त और अद्वैत - और दृश्यमान जगत् का निषेध करने वाली। जगत् और अद्वैत तत्त्व के बीच कोई व्यवहार नहीं होता। इसके दो अर्थ हो सकते हैं : या तो जगत् और ब्रह्म दो अत्यन्त भिन्न सत्ताएं हैं, जिससे द्वैतवाद की प्रसक्ति होती है, या ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और ईश्वर-सहित सारा जगत् पारमार्थिक दृष्टि से असत् और मिथ्या है, जिससे अद्वैतवाद की प्रसक्ति होती है।

जेनर के अनुसार माण्डूक्य और मैत्रायणी उपनिषदों में वैश्व चेतना से सर्वथा विपरीत चेतना का प्रतिपादन हुआ है। वैश्य चेतना में सारे जगत्, सारे नानात्व, का अन्तर्भाव हो जाता है। इसमें नानात्व का लोप नहीं होता, नानात्व अक्षुण्ण रहता है, किन्तु वह सर्वात्म-सत्ता का अभिन्न अंग बनकर रहता है। इसके विपरीत माण्डूक्य और मैत्रायणी उपनिषदों की तुरीयावस्था अथवा त्रिपाद-ब्रह्म में विश्व-नानात्व का सर्वथा लोप हो जाता है। वह एक सर्वथा नानात्व-शून्य सत्ता है। इसकी चेतना वैश्व चेतना से नितान्त भिन्न है। इस नयी चेतना से विश्व बहिष्कृत हो जाता है, आत्मा प्रकृति से अत्यन्त भिन्न और असंस्पृष्ट हो जाती है, नित्य अनित्य से एकदम विच्छिन्न हो जाता है। सांख्य-योग में प्रकृति और पुरुष में आत्यन्तिक भेद माना गया है। इस अर्थ में निर्दिष्ट उपनिषद्-द्वय के द्वैतवाद और सांख्य-योग के द्वैतवाद में पर्याप्त साम्य है। किंतु एक दृष्टि से दोनों के बीच एक बड़ी खाई भी है। उपनिषद् के अनुसार चरमावस्था में मनुष्य अपने को परब्रह्म अनुभव करता है, जगत् और ईश्वर से भी परे और पृथक्। किन्तु सांख्य-योग में बस कैवल्य की अनुभूति होती है - यह अनुभूति कि वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न और पृथक् हैं, कि पुरुष असंग है। परवर्ती सांख्य को तो कहीं ईश्वर की अपेक्षा ही नहीं होती।

बुद्ध-वचनों के आधार पर जेनर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध सर्वथा अनात्मवादी नहीं थे। वे अन्त: करणावच्छिन्न आत्मा को शाश्वत् मानने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु वे किसी परात्पर आत्मा का अस्तित्व मानते प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'वे ब्रह्मभूतेन अत्तना' अर्थात् ब्रह्मभूत आत्मा की बात करते हैं। इस प्रकार बुद्ध भी मानते प्रतीत होते हैं कि आत्मा और अनात्मा, पुरुष और प्रकृति, में आत्यन्तिक भेद है। इस दृष्टि से बुद्ध सांख्य-योग की श्रेणी में आ जाते हैं।

स्पष्ट है कि माण्डूक्योपनिषद्, मैत्रायण्युपनिषद्, सांख्य-योग और बुद्ध वैदिक-औपनिषद् प्राकृत रहस्यवाद की वैश्व चेतना से भिन्न चेतना, अतएव भिन्न रहस्यवाद, का प्रतिपादन करते हैं। यह नया रहस्यवाद, जो हिन्दू धर्म में ही जन्म लेता है, कैवल्य-परक रहस्यवाद कहा जा सकता है।

उपनिषद् का ब्रह्म सगुण ब्रह्म नहीं है। उपनिषद् में ब्रह्म में भक्ति अथवा उससे सायुज्य की कल्पना नहीं के बराबर है। इनमें एक स्थल छान्दोग्योपनिषद् (7.25.2) और दूसरा बृहदारण्यकोपनिषद् (4.3..21) में पाया जाता है। इन उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा के मिलन को लैंगिक मिलन, पुरुष और स्त्री के मिलन, से उपमित किया गया है। यहाँ परमात्मा अथवा ब्रह्म सगुण ईश्वर-सा प्रतीत होने लगता है। जेनर का कहना है कि सांख्य-सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ उपनिषद् आदि में असीम और ससीम की दरार बढ़ती गई। छान्दोग्योपनिषद् (8.4.1) में आत्मा को लोकों का सेतु कहा गया है। यह सेतु क्रमशः टूटने लगता है, किन्तु शीघ्र ही उपनिषद् की मूल भावना के जोर मारने पर सगुण ईश्वर के रूप में एक नया सेतु तैयार हो जाता है। आगे चलकर ईशावास्योनिषद् के आद्य मन्त्र में 'ईश' तत्त्व की प्रतिष्ठा होती है और त्याग तथा भोग के समन्वय का सिद्धान्त उद्भावित होता है। इस उपनिषद् (3-7) में सर्वात्मा और वैश्व चेतना का भी सम्यक् निरूपण हुआ है। किन्तु जेनर के अनुसार इसके मन्त्र 8 में जिस ईश्वर की चर्चा है वह सर्वात्मा और ब्रह्म को भी आच्छादित करने वाली सत्ता है। इस प्रकार इस उपनिषद् में उसी कोटि के ईश्वर की प्रतिष्ठा हो जाती है जिसे ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में परम व्योम में स्थित अध्यक्ष (अध्यक्षः परमे व्योमन्) की संज्ञा दी गई है। जैसाकि ऊपर इंगित किया जा चुका है, यह विचार-सूत्र वैदिक औपनिषद् वाङ्.मय से तिरोहित हो गया था।

सांख्य-योग और बुद्ध की दृष्टि में सत्ता दो प्रकार की है - नश्वर और अविनाशी, क्षर और अक्षर, संस्कृत और असंस्कृत। इनमें नश्वर, क्षर और संस्कृत हेय है तथा अविनाशी, अक्षर और असंस्कृत उपादेय है। ईशावास्योपनिषद् (12.14) में इन्हें क्रमशः सम्भूति और असम्भूति की संज्ञा दी गई है। किन्तु यहाँ दोनों का अपना-अपना मूल्य है, अपना-अपना उपयोग है। अविनाशी द्वारा मृत्यु को तैर कर विनाशी द्वारा अमृत को प्राप्त किया जा सकता है। अतः इनमें से किसी एक की ही उपासना करने वाला व्यक्ति घोर अन्धकार में प्रवेश करता है। भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र है अमृतत्व की अनुभूति, उपलब्धि, न कि उसमें आस्था मात्र। सांख्य-योग और बुद्ध के अनुसार नश्वर अथवा संस्कृत से पूर्ण सन्यास, पूर्ण कैवल्य, द्वारा ही अविनाशी अथवा असंस्कृत की प्राप्ति सम्भव है। ईशावास्योपनिषद् के अनुसार ऐसे सन्यासी अथवा केवली का ठौर घोर अन्धकार है। इस उपनिषद् (9-11) में अविद्या और विद्या का भी इसी प्रकार निरूपण हुआ है। अविद्या का अर्थ है अल्प का ज्ञान और विद्या का अर्थ है भूमा का ज्ञान। इस उपनिषद् के अनुसार इन दोनों का अपना-अपना प्रयोजन है। अविद्या से मृत्यु को तैर कर विद्या द्वारा अमृत की प्राप्ति की जा सकती है। इनमें से किसी एक का सेवन करने वाला व्यक्ति घोर अन्धकार में प्रवेश करता है। जेनर का मत है कि असम्भूति और सम्भूति तथा विद्या और अविद्या मिलकर ही पूर्ण आत्मा, ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु ईश्वर एक तीसरी ही सत्ता है जो मंत्र 8 में ब्रह्म पर भी हावी प्रदर्शित की गई है। यह बात श्वेताश्वतरोपनिषद् (5.1) में अधिक खुल कर आयी है।

जेनर के अनुसार यह हिन्दू धर्म की एक बिल्कुल नई दृष्टि है। यहाँ पहली बार सगुण ईश्वर की उद्भावना होती दिखाई देती है जो जगत् ही नहीं, ब्रह्म तथा निर्वाण से भी उच्चतर सत्ता है। यह ईश्वर और कोई नहीं, वैदिक रुद्र है, जो शिव बनने की प्रक्रिया में है (तुलनीय श्वेताश्वतरोपनिषद् 1.8)। शिव युगपत् एक महायोगी केवली है और शिश्नक्रीड़ महादेव है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (1.12) में प्रकृति

जीवात्मा और परमात्मा के त्रैत को प्रथम बार स्वीकृति मिली है। इस त्रैत को 'त्रिविध ब्रह्म' कहा गया है। प्रकृति का अपर नाम माया है और परमात्मा का मायी (4.10)। प्रकृति और जीवात्मा सांख्य में प्रकृति और पुरुष हैं। ईश्वर इन दोनों सत्ताओं का अधिष्ठाता है। वह अज, निरवयव अथवा निरंश (6.5) है, तथापि जीवात्माओं को उसका अवयव अथवा अंश कहा गया है (4.10)। प्रकृति अजा है, जिसे एक अज (जीवात्मा) भोगता है और दूसरा अज (परमात्मा) त्यागता है (4.5)। प्रकृति एक वृक्ष है, जिसका फल उस पर स्थित दो पक्षियों में से एक पक्षी (जीवात्मा) खाता है और दूसरा (परमात्मा) न खाकर साक्षी मात्र रहता है (5.6)। उस परमात्मा के ज्ञान से (भक्ति से नहीं) मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है (2.15, 4.16, 5.13, 6.13) और मोक्ष का अर्थ है प्रकृति से कैवल्य अर्थात् स्वस्वरूप में अवस्थान, तत्वभाव, तथा केवल और निर्गुण पुरुष के अभिध्यानपूर्वक विश्व-माया की निवृत्ति (1.10-12)। जेनर के अनुसार इसी उपनिषद् के मंत्र 2.15 में आत्मा, ब्रह्म और ईश्वर के त्रैत की चर्चा आई है, जिनमें से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर बड़ा है। इस उपनिषद् के अनुसार ईश्वर अथवा शिव सर्वोच्च सत्ता है, जिसे कभी-कभी ब्रह्म और कभी-कभी ब्रह्म से परे भी कह दिया गया है (5.10)। इस प्रकार हिन्दू धर्म में एक नया तत्त्व उभरता है : ईश्वर, जो क्षराक्षर-ब्रह्म से भी बड़ा है।

ईश्वरवादी रहस्यवाद जगत् से विराग के साथ-साथ ईश्वर से अनुराग की भी शिक्षा देता है। बुद्ध के यहाँ भक्ति और प्रेम के लिए स्थान नहीं है, वहाँ सारे राग-द्वेष, सारे आवेग, शान्त हो जाते हैं। इससे आगे, बुद्ध के लिए कुछ नहीं। भगवद्गीता में ईश्वरवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है और उसमें दो प्रकार की भक्ति का बीजारोपण होता है। एक भक्ति तो साधारण कोटि की है, ईश्वर के प्रति प्रेम और आत्मनिवेदन जो कोई भी कर सकता है। दूसरी भक्ति अधिक गूढ़ और रहस्यात्मक होती है और वैराग्य से आगे की कड़ी है। जब वैराग्य की सिद्धि के फलस्वरूप आत्मा में एक प्रकार की रिक्ति का अनुभव होता है, एक प्रकार का शून्य उत्पन्न हो जाता है, तब यही भक्ति उससे भरती है। यह अत्यन्त उच्चकोटि की भक्ति है जिसे विरले ही निभा सकते हैं। गीता के ईश्वराद की अपनी विशेषता है। गीता के अनुसार सत्ताएँ तीन हैं, तीन पुरुष - क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम। जेनर के अनुसार उपनिषदों का ब्रह्म अक्षर पुरुष के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार गीता की दृष्टि में पुरुषोत्तम ब्रह्म से भी ऊँची सत्ता सिद्ध होता है। पुरुषोत्तम को गीता ईश्वर, परमात्मा और अव्यय कहकर पुकारती है और ब्रह्म का भी आश्रय (ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्यच-गीता 14.27) घोषित करती है।

चार अवस्थाएं हैं - निर्वाण, योग, स्वरूपावस्थान तथा ब्रह्मनिर्वाण और भगवत्प्राप्ति। निर्वाण को रेचन-मार्ग कहा जा सकता है। यह संसार से वैराग्य और विमुक्ति का मार्ग है। योग उससे आगे का चरण है और मोक्ष अथवा परमपद का द्वार है। उसके बाद स्वरूपावस्थान का चरण है, जो सांख्य और माण्डूक्योपनिषद् का परम पद है। गीता इससे भी आगे जाती है। इसके अनुसार सिद्ध पुरुष पहले समस्त स्थावर-जंगम को आत्मा अथवा ब्रह्म में और अन्ततः ईश्वर में देखने लगता है जो ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा है। जब तक आत्मैक्य-दर्शन नहीं होता तब तक भगवद् दर्शन संभव नहीं। कृष्ण स्वयं कहते हैं, ''जो योगी एकत्व में परिनिष्ठित होकर मुझे सभी भूतों में प्रतिष्ठित जानता हुआ व्यवहार करता है वह चाहे जिस स्थिति में हो मुझ में ही स्थित है''। (गीता 6.31) ब्रह्म की प्राप्ति अन्तिम गति नहीं, भगवत् प्राप्ति अन्तिम गति है जो ब्रह्म-प्राप्ति से आगे की अवस्था है।

तेलार द शादें ने रहस्यवाद के दो भेद किये हैं। एक रहस्यवाद प्रकृति में परिव्याप्ति का रहस्यवाद है (मिस्टिसिज्म ऑव डिफ्यूजन इन्टु मैटर) जिसे ही बक ने वैश्व चेतना की संज्ञा दी है। दूसरा रहस्यवाद ऐकाग्र्य, एकायन, अथवा अनन्य भक्ति का रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म ऑव कन्सेन्ट्रेशन ऑन

टु अ सिंगिल सेन्टर) है। अब तक जेनर ने हिन्दू रहस्यवाद में भी ये भेद लक्षित किये हैं। सर्वात्मवाची रहस्यवाद प्रकृति में परिव्याप्ति के रहस्यवाद अथवा प्राकृत रहस्यवाद का नमूना छान्दोयोपनिषद् (7.25.1) में द्रष्टव्य है, जिसके अनुसार आत्मा नीचे, ऊपर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण, उत्तर सर्वत्र व्याप्त है। दूसरे प्रकार के रहस्यवाद का नमूना सांख्य और माण्डूक्योपनिषद् में परिलक्षित होता है। इसके अनुसार योगी तुरीयावस्था अथवा चरमावस्था में एक केन्द्र पर टिक जाता है। गीता के सिद्धि-सम्बन्धी आदर्श के तीन चरण हैं - योग, ब्रह्मनिर्वाण और ईश्वर-प्राप्ति। ईश्वर-पद ब्रह्म-पद से बड़ा और आगे है। यह मत श्वेताश्वतरोपनिषद् (2.14.15) के अतिरिक्त कठोपनिषद् (3.10, 11, 6.7-8) में भी व्यक्त हुआ है। एक प्रकार से जीव को भगवत्प्राप्ति के प्रयत्न में चार सोपानों से गुजरना पड़ता है - प्रथम स्वभावनियत कर्म का अनुष्ठान अथवा स्वधर्म-पालन (गीता 18, 45-48) दूसरा, अनासक्ति अथवा निष्काम कर्म (18.49), तीसरा ब्राह्मीभाव (18.51-53) और अन्तिम, भगवत्-प्राप्ति (18.54-56) तथा सब कुछ छोड़कर एकायन भक्ति द्वारा ईश्वरमय हो जाना (18.64-66)।

गीता का ब्रह्मातीत अथवा ब्रह्मातिपाती ईश्वरवाद हिन्दू धर्म के इतिहास में एक नयी घटना है, जिसने हिन्दू धर्म का स्वरूप ही बदल डाला। हिन्दू मोक्षवाद शम और दम, अनासक्ति और विरक्ति, रागद्वेष तथा चित्तवृत्तियों के विरोध को अनिवार्य मानता था। गीता ने यह सब अक्षुण्ण रखा, किन्तु साथ-साथ प्रेम अथवा भक्ति का एक सर्वथा नूतन तत्त्व भी अनिवार्य कर दिया।

शंकराचार्य के परवर्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क, बल्लभ, चैतन्य आदि वैष्णव आचार्यों ने ईश्वरवाद की परम्परा को आगे बढ़ाया और हिन्दू धर्म को महान् ईश्वरवादी धर्म के रूप में परिणत कर दिया। श्रीमद्भागवत्-पुराण में तो ईश्वर स्वयं गोपिका-वल्लभ श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हो काम-क्रीड़ा में रत दिखायी देता है। वस्तुत: रहस्य-साधक में काम-सम्बन्धी बिम्ब-विधान अपरिहार्य हो ही जाता है, क्योंकि आध्यात्मिक आनन्द से उसका कुछ न कुछ साजात्य अवश्य है। आत्मा स्त्री बन जाती है और परमात्मा पुरुष। ऐसी धारणा है कि परमात्मा के संस्पर्श से आत्मा को जो रस प्राप्त होता है उसी का क्षीण-सा-प्रतिबिम्ब काम में दिखायी देता है। अस्तु, कृष्ण-भक्ति-परम्परा में अनासक्ति के स्थान पर भगवान् के प्रति आसक्ति का पथ प्रशस्त होता है।

जेनर के अनुसार भारतीय धर्म-दर्शन में ईश्वरवादी परम्परा की पराकाष्ठा हमें शैव सिद्धान्त में प्राप्त होती है। भारतीय धर्मों में शैवसिद्धान्त ईसाई धर्म से सबसे निकट है। दोनों धर्मों में महत्त्वपूर्ण भेद बस यह है कि ईसाई धर्म अवतारवादी है जबकि शैवसिद्धान्त में अवतारवाद का प्राय: सर्वथा अभाव है। शैवसिद्धान्त में उपनिषदों के सर्वात्माद अथवा सर्वेश्वरवाद का प्रभाव अत्यन्त क्षीण अथवा शून्य है, यद्यपि इस धर्म को किसी सीमा तक श्वेताश्वतरोपनिषद् का ऋणी माना जा सकता है। इसके अनुसार पदार्थ तीन हैं - पति, पशु और पाश। पति शिव अथवा ईश्वर है, पशु जीवात्मा है, और पाश हैं कर्म, माया और आणव। अथर्ववेद में रुद्र-शिव की पशुपति संज्ञा स्पष्ट शब्दों में प्राप्त होती है। आणव का अर्थ है अणुता, क्षुद्रता, अहन्ता, जो जीव की अधम अवस्था में उससे आ चिपकता है। आणव से संयुक्त होकर जीव ईश्वर से सर्वथा विमुख हो जाता है। इस अवस्था की संज्ञा 'केवलम्' है। इसमें चैत्यव्यापार शान्त हो जाते हैं। यह निराकार और अविनाशी माण्डूक्योनिषद् में वर्णित तुरीयावस्था से अभिन्न प्रतीत होती है। इस दृष्टि से इसकी 'केवलम्' संज्ञा विशेषरूप से सार्थक है। किन्तु माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार तुरीयावस्था उत्तमावस्था है, जबकि शैवसिद्धांत के अनुसार 'केवलम्' की अवस्था अत्यन्त अधम अवस्था है। यहाँ दो प्रकार के रहस्यवादों का टकराव स्पष्ट है। शैव सिद्धान्त के अनुसार 'केवलम्' की अवस्था मोक्ष नहीं, बन्ध की पराकाष्ठा है। माण्डुक्योपनिषद् की तुरीयावस्था

को जेनर 'गर्भ की ओर प्रत्यागमन' कोटि का रहस्यवाद ('रिटर्न टु वूम' ऑफ मिस्टिसिज्म) मानते हैं। यह अनुभूति की उच्चतम अवस्था, अनुभवातीत अथवा अनुभवोत्तर अवस्था, नहीं, प्रागनुभवीय अथवा अनुभवपूर्व अवस्था है।

आणव अहन्ता-तत्त्व है, बन्धमूलक है, मुक्ति ईश्वरमय होने का नाम है। किन्तु ईश्वरमयता का यह अर्थ नहीं कि जीवात्मा का ईश्वर में विलय, निर्वाण अथवा नाश हो जाता है। मानव अविनाशी है, अत: वह परमार्थ की उपलब्धि के समय भी जीव में बना रहता है। सूर्य के प्रकाश में भी तारागण के अस्तित्व का लोप नहीं होता, वे बने रहते हैं, बस उनका प्रकाश सूर्य के प्रकाश में खो जाता है। जीव का उद्धार ईश्वरानुग्रह से होता है। मोक्ष की अवस्था में जीव और ईश्वर में भेदाभेद सम्बन्ध होता है - तत्त्वत: पूर्ण भेद और भक्ति की पराकाष्ठा द्वारा अर्जित उतना ही अभेद। इस अवस्था में समाहित पुरुष नहीं बल्कि स्वयं ईश्वर कर्ता और भोक्ता होता है।

जेनर के अनुसार हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म वैराग्यवादी, प्रपंचोपशमवादी धर्म हैं। बौद्ध धर्म निर्वाण को परम पुरुषार्थ घोषित करता है। किन्तु उसकी विशेषता है कि वह निर्वाण की सिद्धि के लिए पुण्य, धर्माचरण को अनिवार्य मानता है। उसके लिए ब्रह्मभूत और धर्मभूत समानार्थक हैं। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म में धर्म और मोक्ष में अनन्यथा सिद्धि सम्बन्ध नहीं माना गया है। वह धर्म अन्तत: इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि धर्माधर्म से परे जाकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। तथापि बौद्ध धर्म में एक अन्तर्विरोध परिलक्षित होता है। यदि जीवन क्षणभंगुर है, दुखमय है, अशुभ है तो पवित्र और पावन कैसे ? इसकी रक्षा ही क्यों की जाय ?

जेनर को हिन्दू-परम्परा में विकसित धर्म और मोक्ष की धारणाओं में विरोध दिखाई देता है। उपनिषद् और गीता का निर्णय है कि मुक्त पुरुष धर्माधर्म से परे हो जाता है, धर्माधर्म से ऊपर उठ जाता है। गीता (18.17) कहती है कि जीवन्मुक्त सब का संहार भी कर डाले तो बन्धन में नहीं पड़ता। कौषीतकिब्रह्मणोपनिषद् (3.1) के अनुसार जीवन्मुक्त यदि मातृहत्या, पितृहत्या भ्रूणहत्या भी करें तो उसे पाप नहीं लगता। धर्म और मोक्ष में जो विरोध है वह युधिष्ठिर की वाणी में महाभारत (शान्तिपर्व 290. 78-79) में मुखर हुआ है। युधिष्ठिर प्रवृत्तिमूलक धर्म को सर्वोपरि बतलाते हुए परम ज्ञान में निमग्न होकर मोक्ष-लाभ करने को अत्यन्त हेय घोषित करते हैं। जेनर का मत है कि हिन्दू धर्म में ब्रह्मनिर्वाण का इस धरती पर न्याय, सत्य अथवा धर्म की प्रतिष्ठा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से उन्हें धर्म के अवतार युधिष्ठिर और गीता के ईश्वर श्रीकृष्ण में आकाश और पाताल का अन्तर दिखाई देता है। कृष्ण अर्जुन को निस्त्रैगुण्य का पाठ पढ़ा कर धर्माधर्म की मर्यादा से परे ले जाने को उद्यत हैं, ताकि अर्जुन निर्द्वन्द्व होकर शत्रु-संहार कर सकें। युधिष्ठिर युद्ध को जितना टाल सकते हैं उतना टालने का प्रयास करते हैं वे युद्ध से घृणा करते हैं, और इस अर्थ में जेनर उन्हें भारत का अद्वितीय महापुरुष मानने के पक्ष में हैं। जेनर के अनुसार कृष्ण वह ईश्वर है जो असफल रहा (अ गॉड हू फेल्ड)। युधिष्ठिर ऐसे महासत्व हैं जो अपने प्रिय श्वान के बिना स्वर्ग जाने को तैयार नहीं होते। जेनर के अनुसार हिन्दू धर्म गहराई तक रहस्यवाद में डूबा हुआ है, और ऐसे धर्म में युधिष्ठर का उक्त चरित एक घटना है। वस्तुत: युधिष्ठिर लोक में धर्म की प्रतिष्ठा को लोक से विरत करने वाले मोक्ष से कम महत्त्व देने के पक्ष में नहीं थे।

हिन्दू-धर्म परमार्थ की खोज में इतना डूबा हुआ है कि उसे व्यवहार की चिन्ता ही नहीं व्यापती, और धर्माधर्म की समस्या का संबंध व्यवहार से है। हिन्दू धर्म का मोक्षवाद धर्म को साथ लेकर नहीं चलता। अत: इसमें परमार्थ और व्यवहार के द्वन्द्व के साथ मोक्ष और धर्म का द्वन्द्व भी देखने को मिलता है। बौद्ध धर्म ने मोक्ष को धर्म अथवा अष्टांग-मार्ग पर प्रतिष्ठापित कर दोनों के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया।

ईसाई धर्म ग्रन्थ-'न्यू टेस्टामेन्ट' (मत्ती 16·24-26) में ईसा का एक सारगर्भ वचन निबद्ध है जिसमें, जेनर के अनुसार, सम्पूर्ण बौद्ध धर्म और आधे हिन्दू धर्म का सार गुम्फित हो गया है। यह वचन है : यदि कोई मेरा अनुयायी बनना चाहता है तो वह अपने को त्याग दे, अपनी शूली ग्रहण करे, और मेरा अनुगमन करे। क्योंकि जो कोई अपनी आत्मा का त्राण चाहता है वह उसे खोयेगा, किन्तु जो कोई मेरे लिए अपनी आत्मा को खोयेगा वह उसे पायेगा। तब, यदि पुरुष अपनी आत्मा को खोकर जगत् पा लेता है तो उसे क्या लाभ होगा ? अथवा पुरुष के पास अपनी आत्मा के बदले देने को क्या है ?' भारतीय धर्मों का मूल मंत्र है वर्तमान जीवन अथवा जगत् को बंधन में डालने वाली प्रत्येक वस्तु से विरक्ति, प्रपंचोपशम, शाश्वत शांति, निर्वाण। जैसा पहले इंगित किया जा चुका है, बौद्ध धर्म यहीं रुक जाता है। यही उसके परम पुरूषार्थ का स्वरूप है। इसके विपरीत गीता और ईसाई धर्म की दृष्टि में यह केवल एक आरम्भ बिन्दु है, परम पुरुषार्थ का प्रथम चरण मात्र।

निर्वाण का अर्थ बौद्ध धर्म में 'आत्मा की मृत्यु' समझना चाहिए। आत्मा की मृत्यु ही अमृतपुरगामिनी प्रतिपद् है। ईसाई बपतिस्मा निर्वाण नहीं तो और क्या है ? सन्त पॉल लिखते हैं कि जब 'हमने ईसा मसीह में बपतिस्मा लिया तो हमने उनकी मृत्यु में बपतिस्मा लिया, दूसरे शब्दों में, जब हमने बपतिस्मा लिया तो हम उनके साथ कब्र में गये और मृत्यु में उनके साथ हो गये।' (रोमन्स 6-3-4) गीता और शैव सिद्धांत हमारा अपनी 'आत्मा', अपने निजी 'सत्य' से उद्धार कर हमें ईश्वर से मिला देते हैं, और इस प्रकार वे हमें बौद्ध निर्वाण से आगे ले जाते हैं। इस दृष्टि से, हिन्दू रहस्यवाद अपनी उत्तर भूमिका में ईसाई रहस्यवाद से जा मिलता प्रतीत होता है। इन दोनों रहस्यवादों में जो मौलिक भेद है वह यह है कि हिन्दू रहस्यवाद कर्म मात्र, प्रकृति मात्र से अत्यन्त विमोक्ष-पूर्वक कूटस्थ ध्रुव और द्वन्द्वातीत ब्रह्म में विलय को परम पुरुषार्थ मानता है, जबकि ईसाई रहस्यवाद सगुण ईश्वर से सायुज्य को परम पुरुषार्थ मानता है जो निष्क्रिय ब्रह्म से भिन्न है। गीता की विशेषता यह है कि उसमें ऐसे ही ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई है। वस्तुतः भारत उभयविध रहस्यवाद की जन्म भूमि है-आत्यन्तिक मृत्यु के समकक्ष प्रपंचोपशम-साधक रहस्यवाद की भी और ईश्वर से सायुज्य के पोषक और पूर्ण जीवन के प्रतिष्ठापक रहस्यवाद की भी। किन्तु रहस्वाद धर्म का केवल एक पक्ष है।

सन्त फ्राँश्वा द साल ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है। समाधि (एक्सटेसी) के दो भेद किये जा सकते हैं-बोध-परक समाधि में हमारी बोध-वृत्ति प्रभावित और उत्तेजित होती है, संकल्प-परक समाधि में हमारी -संकल्प-शक्ति (विल) तथा भाववृत्ति (इमोशन) जाग्रत,उद्बुद्ध और भगवद्भक्ति से आप्लवित होती हैं। उक्त सन्त का मत है कि यह दूसरी समाधि ही वास्तविक और पुण्य समाधि है। यदि कोई समाधि शिव की अपेक्षा सुन्दर अधिक है, उष्ण की अपेक्षा भास्वर अधिक है, भावात्मक की अपेक्षा विचारात्मक अधिक है, तो उस पर विश्वास नहीं करना चाहिये।

ताओ धर्म सबसे कम बोधोन्मुख धर्म है, बल्कि वह सर्वाधिक बोध-विरोधी धर्म है। ताओ बोध-गम्य तत्त्व नहीं। ताओ का अर्थ है वस्तुओं की प्रकृति, स्वभाव, स्वधर्म जिससे वह समुद्भूत, संस्थित और अनुशासित है। यद्यपि जेनर ने ऐसा नहीं कहा है, तथापि 'ताओ' की तुलना वैदिक 'ऋत' से की जा सकती है। ताओं ज्ञान-विज्ञान का मार्ग नहीं। ताओ-सिद्धान्त वस्तुओं के आदिम रूप, वस्तु-योनी, मानव के आदिम सारल्य की ओर लौट जाने की शिक्षा देता है। जेनर इसे गर्भ की ओर प्रत्यागमन की संज्ञा देते हैं। यह एक प्रकार उस प्राकृत सारल्य की ओर लौट चलने की शिक्षा देता है जो अदन के उद्यान में आदम और हव्वा को सद्यः सुलभ था। ताओवाद और यहूदी-ईसाई सृष्टि-ग्रन्थ के अनुसार

ज्ञान की उपलब्धि पतन का मार्ग है। ताओ परम तत्त्व है जिसकी प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। आदम के पतन का अर्थ है सूत्रात्मा, समूहात्मा समष्टि-चेतना से व्यष्ट्यात्मा, व्यक्तित्व सम्पन्न आत्मा, आत्म-चेतना की ओर संक्रमण। यह अनुत्कीर्ण शिला (अन्कार्ब्ड ब्लॉक) से एक-रस और अखण्ड्य रहते हुए उसके साथ सदा के लिए एक अखण्ड प्रस्तर-खण्ड बने रहने की संभावना के विरुद्ध विद्रोह है, यद्यपि इस एकीभाव का अर्थ है मृत्यु की शान्तिमयी अचेतना, क्योंकि पूरी शिला की मृत्यु होती नहीं। ताओवाद को यही स्थिति अपेक्षित है। वह सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान और कला की प्रगति, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अभ्युदय, जटिल विधि-विधान सबका शत्रु है। वह मनुष्य को आदिम सरल अवस्था में देखना चाहता है। ताओवादी कहता है कि जहाँ चातुरीपूर्ण उपकरण होंगे वहाँ सूक्ष्म और जटिल व्यवहार होंगे और जहाँ सूक्ष्म व्यवहार होंगे वहाँ कुटिल मस्तिष्क भी होगा। कुटिल मन में ताओ का वास नहीं हो सकता। प्रस्तुत समीक्षक अपनी ओर से जोड़ने की अनुमति चाहता है कि ताओवाद के धर्मग्रन्थों में मानव के आदिम युग का जो वर्णन आता है वह भारतीय वाङ्.मय में उपलब्ध सत्ययुग के वर्णन से बहुत मेल खाता है। ताओवाद का पाश्चात्य प्रतिरूप रूसो है। ताओवाद स्वर्ग-मार्ग और मानव-मार्ग में भेद करते हुए कहता है कि घोड़े के चार पैर हैं, यह तो हुआ स्वार्गिक और उसके नथुने नाथकर लगाम लगा देना हुआ मानवीय। इनमें से प्रथम उपादेय है और दूसरा हेय। सच्चा मानव वह है जो स्वर्गीय प्रभा बिखेरता है और अपने स्वरूप में अटल रहता है। तब मानव तत्त्व उसे त्याग देता है और वह स्वर्ग-पुरुष का महनीय अभिधान प्राप्त करता है। मानव-तत्त्व द्वारा त्याग दिये जाने पर उसकी सहायता स्वर्गीय-तत्त्व करता है और तब उसकी संज्ञा स्वर्ग-पुत्र होती है। ताओवाद मौलिक बौद्ध धर्म के समान ही अहन्ता, ममता और परिग्रह के त्याग पर बल देता है, किन्तु इतना विशेष है कि वह यह भी मानता है कि उसके बाद एक नई आत्मा का प्रार्दुभाव होता है जो ताओ से एकाकार ताओ का अवतार होती है। यही आत्मा स्वर्ग-पुत्र का विरुद्ध धारण करती है। यद्यपि इस आत्मा का शून्य में लय हो जाता है - शून्य अथवा असत् ही स्वर्ग का द्वार है - तथापि वह किसी अचिन्त्य विधि से सत्ता धारण कर रही होती है। हाँ, वह सत्ता अनुभूयमान सत्ता से मूलत: भिन्न होती है। वह पारमार्थिक सत्ता है, व्यावहारिक सत्ता से एकदम परे। जैसे गीता में पुरुषोत्तम, उत्तम पुरुष अथवा ईश्वर के रूप में ब्रह्म से भी उच्चतर सत्ता की कल्पना की गई है वैसे ही ताओ धर्मग्रन्थ चुआंगत्जु में सत् और असत् के परे 'एक रक्षक' (वन कीपर) की कल्पना की गई है। एक रक्षक स्वर्ग है, महान एक्य है, महा रहस्य है, महा प्रकाशक है, महाविधाता है, महती असीमता है, महासत्य है। स्वर्ग और ताओ एक हैं। स्वर्ग अथवा ताओ को हम विश्वात्मा कह सकते हैं। उसे ईश्वर की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

ताओवाद और भारतीय धर्मों में एक महत्त्वपूर्ण साम्य यह भी है कि दोनों का लक्ष्य व्यक्ति की मुक्ति है। सामूहिक मुक्ति, समष्टिमुक्ति, की धारणा का विकास कन्फ्यूशस के वाक्यों में प्राप्त होता है, जो इस दृष्टि से दोनों धर्म-धाराओं से भिन्न हो जाता है। पहली बात तो यह है कि कन्फ्यूशसवाद की दृष्टि आश्चर्यजनक रूप से ऐहलौकिक है। वह मरणोत्तर जीवन, स्वर्ग, नरक, निर्वाण, मोक्ष किसी में रुचि नहीं लेता। पुरुषार्थ जगत् पलायन में ही नहीं, जगत् के स्वीकार में है। ताओ धर्म प्राकृत धर्म है, जबकि कन्फ्यूशसवाद मानव-धर्म है, ताओ-धर्म प्रकृतिवादी है, जबकि कन्फ्यूशसवाद संस्कृतिवादी है, ताओवाद में मुक्ति अथवा परमपद की प्राप्ति का स्वरूप है अलक्षण ताओ में मानव का निर्मानवीकरण, जबकि कन्फ्यूशसवाद मानव-मूल्यों को ही ताओ-अनुसारी करने की शिक्षा देता है। कन्फ्यूशसवाद के स्तम्भ हैं प्रकृति, विवेक और मानवीय दया-दाक्षिण्य।

कन्फ्यूशस द्वारा सम्पादित 'शासनपंचक' (दि फाइव क्लासिक्स) और कन्फ्यूशस के वचनों के संग्रह 'अनलेक्ट्स' में तथा मेन्शियस की कृति में भी स्वर्ग अथवा ईश्वर का ही चरम माहात्म्य प्रतिपादित हुआ है। 'शासनपंचक' तथा 'द बुक ऑव सांग्स' में स्वर्ग के स्वामी ईश्वर का अभ्युगम स्पष्ट है। किन्तु आगे चलकर 'सु' 'जु' में भविष्य के गर्भ में स्थित पारंगत अथवा सिद्ध ज्ञानी ही ईश्वर बन जाता है, क्योंकि सनातन ईश्वर सृष्टि तो करता है , किन्तु पूर्णता का आधान नहीं कर सकता, जो सिद्ध पुरुष ही कर सकता है। भारत में आदिम बहुदेववाद और फिर प्राकृत ईश्वरवाद से दार्शनिक सदैक्यवाद अथवा द्वैतवाद और उससे श्वेताश्वतरोपनिषद् के एकेश्वरवाद की ओर प्रगति हुई थी। अन्ततः गीता और शैव सिद्धांत में ईश्वर अनुग्रह द्वारा मनुष्य का त्राता और तारयिता बन जाता है। इसके विपरीत कन्फ्यूशसवाद विश्वातीत ईश्वर, स्वर्ग के अधीश्वर, की कल्पना से आरम्भ होता है और आगे चलकर 'अनलेक्ट्स' और मेन्शियस में ईश्वर धरती और मानव के अधिक निकट हो जाता है। 'सु' 'जू' में ईश्वर और अधिक पार्थिव, अतएव ससीम बन जाता है, क्योंकि वह सृष्टि कर सकता है, किन्तु उसे पराकाष्ठा तक नहीं पहुँचा सकता, जो केवल सिद्ध पुरुष ही कर सकता है। अन्ततः नव्यकन्फ्यूशस-दर्शन का व्यापक प्रचार हुआ। चौदहवीं शती में वह चीन का राष्ट्र-धर्म बन गया और बीसवीं शती के आरम्भ तक बना रहा। इस नये दर्शन में ईश्वर अपना ईश्वरत्व अथवा देवत्व खोकर प्रकृति का अनुप्राणन करने वाला 'उत्पत्ति-तत्त्व' (प्रिन्सीपल ऑव रेशनैलिटी) बनकर रह जाता है। (प्रस्तुत समीक्षक अपनी ओर से जोड़ने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा है कि यह 'उत्पत्ति-तत्त्व' ताओवाद के 'ताओ' वैदिक 'ऋत तथा इराक्लितोंस (Heraclitus) के 'लोगोस' से तुलनीय है। इस प्रकार उक्त दर्शन में अन्ततः प्रकृति से अभिन्न, प्रकृतिमय अथवा प्राकृत ईश्वर की अवतारणा होती है। जेनर की धारणा है कि इस परिणति के कारण चीन में साम्यवाद के लिए रास्ता साफ हो गया और साम्यवाद के हाथों समूची कन्फ्यूशसीय परम्परा का मूलोच्छेद हो गया।

जिस प्रकार हिन्दू धर्म में एक ओर अद्वैतवाद और सदैक्यवाद का विकास हुआ था और दूसरी और ईश्वरवाद और भक्तिवाद का, उसी प्रकार चीनी महायान में एक ओर ध्यान सम्प्रदाय के अन्तर्गत सर्वात्मभूत अखण्डैकरस बुद्धत्व का सिद्धांत विकसित हुआ और दूसरी ओर सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र में बुद्ध ईश्वर बन गये। जेनर के अनुसार सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र का बौद्ध धर्म में वही महत्त्व है जो हिन्दू धर्म में गीता का, क्योंकि दोनों में ईश्वरवाद का उत्कर्ष होता है। गीता में निर्वाण परा गति नहीं बल्कि ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में एक आश्रम मात्र हैं। उसी प्रकार सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र में निर्वाण बुद्धत्व की प्राप्ति के मार्ग में एक विश्राम-स्थल मात्र है।

ध्यान-सम्प्रदाय में साधक पूर्ण उपशम की सिद्धि के लिए संकल्प-विकल्प, भाव-विचार, ऊहापोह चित्त को पूर्णतः रिक्त करके उस शान्त चित्त को स्वतन्त्र स्वाभाविक और याद्दच्छिक रूप से व्यापार करने देता है। इस प्रक्रिया द्वारा साधक अपने अन्तस्तल में एक ऐसी अखण्डैकरस सत्ता का दर्शन करता है जो सभी भेदों में अभेद की प्रतिष्ठा करती है। इसे बुद्धत्व और शून्य भी कहा जाता है। ध्यान-सम्प्रदाय, स्वतन्त्रता और याद्दच्छिकता का सबसे बड़ा पोषक है। वह यहाँ तक कहने को तैयार है कि तुम्हारे स्वतन्त्र विचरण के मार्ग में जो आये उसकी हत्या कर दो, चाहे वह साक्षात् बुद्ध ही क्यों न हो। वैसे ध्यान-सम्प्रदाय शुद्ध निषेधवादी दर्शन नहीं है, वह कर्म-सिद्धांत और पुनर्भववाद में पूर्ण आस्था रखता है, तथा यह भी मानता है कि पाप और पुण्य दोनों बन्धनकारक है और कि एक कर्मातीत अवस्था भी होती है जिसमें शरीर से जो कर्म सम्पादित होता है वह क्षुद्र 'स्व' द्वारा न होकर बुद्धत्व द्वारा सम्पादित होता है। ध्यान-सम्प्रदाय एक पूर्ण अनासक्तिवादी जीवन-दर्शन है।

सामान्य भारतीय रहस्यवाद का मूल मन्त्र हैं मोक्ष और ईसाई रहस्यवाद का मूलमंत्र ईश्वर से सायुज्य। इन दोनों के समन्वय का बीज हमें गीता में प्राप्त होता है। गीतोक्त रहस्यवाद के चार लक्षण हैं : अनासक्ति अथवा असंग, परम आध्यात्मिक शान्ति, ब्रह्म-निर्वाण और ईश्वर से भक्तिपूर्ण सायुज्य। ईसाई रहस्यवाद प्रपंचोपशम, निर्वाण अथवा मोक्ष की उतनी कामना नहीं करता जितनी भगवद्भक्ति अथवा भगवान् से सायुज्य की। चूँकि ईसाई ईश्वर प्रेम-स्वरूप है, अत: प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद की त्रिपुटी ईसाई रहस्यवाद से अनन्यथा-सिद्ध है, ईसाई रहस्यवाद का अभिन्न अंग है। वैसे, ईसाई रहस्यवाद के भी लगभग उसी प्रकार भेद किये जा सकते हैं जिस प्रकार हिन्दू रहस्यवाद के। एक्खार्ट सदैक्यवादी अथवा अद्वैतवादी है, ऐन्जेलस साइलेसियस सर्वेश्वरवादी है, ह्यूग और रिचार्ड ऑफ सेन्ट-विक्टर विशिष्टाद्वैतवादी हैं। ह्यूग बौद्ध प्रवृत्ति का रहस्यवादी है जो प्रपंचोपशम और निर्वाण का भूखा है, जबकि रिचार्ड आगे जाता है और परमशान्तिमय निर्वाण को अपर्याप्त मानता है।

संसार के बड़े धर्मों में यहूदी धर्म ही अकेला धर्म है जो रहस्यवाद को तनिक भी प्रश्रय नहीं देता। यह धर्म मुक्ति को महत्त्व नहीं देता,पाप से मुक्ति को भी नहीं, यद्यपि पाप से मुक्ति उसमें गतार्थ है। उसके अनुसार ईश्वर के आदेशों का पालन और उनके अनुसार जीवन-यापन ही मनुष्य का परम धर्म है।

आगे जेनर ने 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' के 'सृष्टि' शीर्षक आद्य ग्रन्थ में वर्णित आदम के पतन की आख्यायिका पर विचार किया है। उक्त आख्यायिका की व्याख्या कई प्रकार से की जाने लगी है। जेनर उसकी ताओवादी व्याख्या से सहमत है। यह व्याख्या ऊपर आ चुकी है। बक के अनुसार आदि मानव सरल चेतना से संपन्न प्राणी था, पशुओं के समान पाप-पुण्य और लज्जा-क्रीड़ा की भावनाओं से शून्य। इस अवस्था से वह आत्मचेतना की ओर अग्रसर हुआ। तब उसकी आँखें खुली। उसे अपनी नग्नता, पशुप्रायता का भान हुआ। इस पर उसमें लज्जा का उदय हुआ, पाप और पुण्य की चेतना जाग्रत हुई और अन्तत: उसे श्रम करके जीविका चलाने और सभ्यता की प्राणप्रतिष्ठा करने को बाध्य होना पड़ा।

वस्तुत: दोनों प्रकार की व्याख्याएं सम्भव हैं : सृष्टि-ग्रंथ में एक दृष्टि से मानव के पतन की कहानी है, दूसरी दृष्टि से उत्कर्ष की। ताओवाद और रूसो सभ्यता के प्रादुर्भाव को मानव का पतन मानने के पक्ष में हैं, जबकि अन्य विचारक प्राय: उसे मानव के विकास, उत्कर्ष अथवा प्रगति का परिचायक बतलाते हैं।

यहूदी ईश्वर 'यह्वे' (वैदिक 'यह्वे' (ऋग्वेद 3.1.12) समीक्षक) एक ईर्ष्या-द्वेष, प्रतिशोध-प्रतिहिंसा, वैषम्य-नैर्घण्य के भावों से भावित और युद्ध तथा ध्वंस में रत रहने वाली सत्ता है, जो अपनी पीड़ा देने की शक्ति और प्रतिशोध-भाव का बखान करते हुए नहीं अघाता। युंग के अनुसार 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' का ईश्वर, शक्तिमत्ता को छोड़कर, मनुष्य की अपेक्षा कहीं हीनतर सत्ता है जिसकी क्रूरता और नृशंसता की सीमा नहीं। जेनर, इस कारण, 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को ईसाई धर्म के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थ मानने के पक्ष में नहीं है।

जेनर के अनुसार ईसाई धर्म को नितान्त वैराग्यवादी धर्म समझना भूल है। यह प्रकृति के अत्यन्तिक निषेध पर नहीं प्रतिष्ठित है। मसीह और बुद्ध में आकाश और पाताल का अन्तर है। जीवन प्रकृति और आत्मा दोनों से निर्मित हुआ है, अत: प्रत्येक जीवन-रचना में दोनों को पूरा-पूरा स्थान मिलना चाहिए। तेलहार्द द शार्दा संभवत: प्रथम ईसाई धर्माचार्य हैं जिन्होंने प्रकृति और पुरुष के समन्वय पर बल देकर जेनर के अनुसार ईसाई धर्म के सच्चे स्वरूप को उजागर किया। अन्यथा, मानवता ईसाई धर्म की सदा गलत व्याख्या करती आयी है। वस्तुत: ईसा बुद्ध नहीं। ईसा अवतरित

होकर प्रकृति को पवित्र कर देते हैं, और निर्वाण नहीं बल्कि शाश्वत जीवन के उपहार का वचन देते हैं। उनकी घोषणा है - 'मैं इसलिए आया हूँ कि वे जीवन प्राप्त करें और पूरा-पूरा प्राप्त करें।' (जॉन 10.10) चार्ल्स पीगुई (Charles Pe'guy) जो ईसाई धर्म में पारलौकिकता और ऐहलौकिकता के बीच समन्वय करने वाले आदि पुरुषों में हैं, कहते हैं कि ईसा के रूप मे ईश्वर के धरती पर अवतरण का एक विशेष अर्थ है, एक विशेष महत्त्व है। अवतार का अर्थ ही है नित्य का अनित्य में संक्रमण, पुरुष का प्रकृति से पाणिग्रहण, पवित्रात्मा का कुमारी मैरी से परिणय और उससे शब्द हाड़-मांस बना, ईश्वर मनुष्य बना। सन्त पॉल से ही पुरुष और प्रकृति का यह दिव्य परिणय टूटने लगता है और तेलहार्द द शार्दा में ही पुन: जुड़ पाता है। भारतीय धर्मों और प्लातोनियों (अफ्लातूनियों) में आत्मा अपने अपवित्र जोड़े पुद्‌गल से पृथक् होने के लिए निरन्तर जोर मारती रही है। यदि ईसाई धर्म की स्थिति भी वही होती तो ईश-पुत्र ईसा अपने पितृचरण ईश्वर का सान्निध्य-लाभ त्याग कर कुमारी के गर्भ में प्रविष्ट होना पसन्द नहीं करते। ईसाई ईश्वर प्रकृति और मानव के कल्याण की चिन्ता के कारण ही अवतार धारण करता है।

जेनर कहते हैं कि नित्य का अपलाप सरल है और अनित्य का अपलाप प्रशस्ततर, मार्क्सवादी होना सरल है और बौद्ध होना प्रशस्ततर, किन्तु ईसाई होने के लिए मार्क्सवादी और बौद्ध दोनों होना पड़ेगा, कन्फ्यूशसवादी और ताओवादी दोनों होना पड़ेगा। एक प्रकृति-परक, निसर्ग-परक रहस्यवाद होता है और दूसरा आत्मपरक। प्रकृति-परक रहस्यवाद वाल्ट 'ह्विट्मन' और वैदिक संहिताओं का रहस्यवाद है और आत्म-परक रहस्यवाद बुद्ध और अद्वैत वेदान्त का। इनमें से आत्म-परक रहस्यवाद अधिक खतरनाक है।

बुद्ध और मसीह की तुलना करते हुए जेनर कहते हैं कि बुद्ध पाप और दु:ख पर विजय प्राप्त करने के लिए वैराग्य और अनासक्ति के बल संसार से ऊपर उठ जाते हैं, मानो वे किसी ऊँचे पर्वत पर आरूढ़ हों, कि संसार से नितान्त परे हो गए हों, जबकि मसीह परलोक से इस लोक में अवतरित हो, संसार के पाप और दु:ख को अपने ऊपर लेकर, आत्मसात् कर, शूली पर चढ़ जाना वरण करते हैं। इस प्रकार मसीह धरती और स्वर्ग, प्रकृति और पुरुष, नित्य और अनित्य के समन्वय के शास्ता हैं।

जेनर का यह मत भी ज्ञातव्य है कि 'धर्म-विज्ञान' (सायन्स ऑफ रिलिजन) एक निरर्थक विद्या है। विज्ञान का अर्थ है 'प्राकृत विद्याएं' (नैचुरल सायन्सेज) अर्थात् वे विद्याएं जिनकी विषय-वस्तु प्रकृति अथवा भूत-तत्त्व हैं, और भूत-तत्त्व की सत्ता गणितीय नियम पर आश्रित हैं। विपरीत इसके, धर्म का संबंध असीम और अनन्त से है जिसकी नापतौल संभव नहीं और जो प्राय: मानव-बुद्धि से अतीत माना जाता है। अत: जेनर की दृष्टि में, हमें किसी न किसी दिव्य, अपौरूषेय, ग्रन्थ के सहारे असीम का यत्किचित् संकेत प्राप्त करने को विवश होना पड़ता है। अतएव ज्योतिष अथवा रसायन जिस अर्थ में विज्ञान माना जाता है उस अर्थ में धर्म को विज्ञान नहीं माना जा सकता।

'कांकार्डेन्ट डिस्कार्ड' धर्म के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसकी सबसे बड़ी सिद्धि यह है कि इसने धर्म-तत्त्व के विषय में एक-बद्धमूल किन्तु भ्रान्त धारणा का प्रमाणत: खण्डन कर दिया है। रामकृष्णपरमहंस, गांधी और भगवानदास सब धर्मों की एकता, सत्यता और प्रामाणिकता, सर्वधर्म-समभाव, सब धर्मों की तात्त्विक एकता के पोषक थे। राधाकृष्णन् की गणना भी इसी श्रेणी में होती है। सभी धर्म सच्चे हैं, सब धर्म परम पद को प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त हैं, सब की शिक्षा एक है - इस प्रकार के सस्ते नारे धर्मों की प्रकृति के अज्ञान से ही जन्म लेते हैं। उनके प्रचलित रूप में धर्म-धर्म के बीच पूर्व-पश्चिम का भेद पाया जाता है। उदाहरण लीजिए। कहने को तो सभी धर्म ईश्वरवादी अथवा एकेश्वरवादी हैं, किन्तु सामी और भारतीय ईश्वरवादी/एकेश्वरवादी में

जो मौलिक भेद है उसकी ओर दृष्टि कम ही गई है। सामी ईश्वरवाद बहुदेववाद विरोधी (एन्टीप्रॉलीथीइस्टिक) ईश्वरवाद/एकेश्वरवाद है, ऐसा ईश्वरवाद/एकेश्वरवाद जो ईश्वर के आगे किसी देवी-देवता को आराध्य नहीं मानता। इसके विपरीत, भारतीय ईश्वरवाद/एकेश्वरवाद बहुदेववाद-पुरस्सर (ट्रान्सपॉलीथीइस्टिक) ईश्वरवाद है, जो ईश्वर के साथ-साथ अन्य देवी-देवताओं की आराधना की भी अनुज्ञा देता है। कृष्ण का कहना है कि जो अन्य देवताओं की उपासना करता है वह भी प्रकारान्तर से ईश्वर की ही उपासना करता है और अन्ततः ईश्वर को ही प्राप्त होता है (गीता 9.23)। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' के अनुसार (सामी) ईश्वर एक ईर्ष्यालु ईश्वर है जो किसी अन्य की उपासना सहन नहीं कर सकता (एक्जोडस 20.5)। कुर्आन में जो ईश्वर को 'ला-शरीक' (बिना साझे का) कहा है उसका भी यही अर्थ है। बल्कि उसमें तो यहाँ तक घोषणा है कि ईश्वर प्रत्येक पाप क्षमा कर सकता है किन्तु 'शिर्क' अथवा बहुदेववाद (ईश्वरेतर) की उपासना वह पाप है जिसे वह कदापि क्षमा नहीं कर सकता (निसा 48)। इसी, प्रकार सामी सर्वेश्वरवाद (पैन-थीइज्म) भी बहुदेववाद विरोधी सर्वेश्वरवाद है, जबकि भारतीय सर्वेश्वरवाद बहुदेववाद-पुरस्सर सर्वेश्वरवाद है। इसी प्रकार सूफी अद्वैतवाद है। यह भेद इतनी गहराई तक चला गया है कि अनीश्वरवाद भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। अतएव सामी अनीश्वरवाद बहुदेववादापलापी अनीश्वरवाद है, जबकि भारतीय अनीश्वरवाद बहुदेववाद-पुरस्सर अनीश्वरवाद है। हमारे यहाँ जैन और बौद्ध दर्शन अनीश्वरवादी ही ठहरते हैं, किन्तु देवी-देवताओं की सत्ता अस्वीकार नहीं। बुद्ध और महावीर ने उनकी सत्ता तो मानी ही है, उनकी उपासना का विरोध भी नहीं किया है। चार्वाक की स्थिति का पता नहीं, किन्तु उनके आदि गुरु-बृहस्पति सुर-गुरु भी हैं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर, जो सामी और भारतीय धर्मों में परिलक्षित होता है वह यह है कि भारत में ईश्वर का महत्त्व उतना अथवा उस प्रकार का शायद कभी नहीं रहा जितना अथवा जिस प्रकार का सामी धर्मों में पाया जाता है। वैदिक-औपनिषद् काल से लेकर आधुनिक काल तक यहाँ यह सिद्धान्त अव्यभिचरित रहा है कि ईश्वर सामी अर्थ में स्रष्टा नहीं है। सामी ईश्वर असत् से सत्, अभाव से भाव, अवस्तु से वस्तु की सृष्टि करने की कला में प्रवीण है। कभी ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं था-न सृष्टि और सृष्ट्युपादान। तथापि ईश्वर ने सृष्टि रच दी। यह जादू भारतीय ईश्वर के वश का नहीं। वह असत् से सत् नहीं कर सकता, वह प्रकृति से विकृति, कारण से कार्य, उपादान से वस्तु की उद्भावना कर सकता है। हिन्दू-धर्म दर्शन की प्रायः सभी परम्पराएँ एक स्वर से, मुक्त कण्ठ से, स्वीकार करती हैं कि ईश्वर सृष्टि के उपादान का कर्त्ता नहीं है। सृष्ट्युपादान स्वतः सिद्ध होता है, वह चाहे प्रधान या प्रकृति के रूप में माना जाए, परमाणु-रूप में माना जाए। (माया-रूप माना जाय, अथवा ईश्वर के शरीर के रूप में माना जाय) ईश्वर सृष्टि का कारण है, किन्तु निरूपादान कारण नहीं। वह या तो निमित्त कारण है जो स्वतः सिद्ध उपादान को सृष्टि का रूप दे देता है, और या अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है जिसका शरीर ही उपादान कारण है और परिणत होकर जगत् का रूप ले लिया करता है। इस प्रकार भारतीय ईश्वर सृष्टि की रचना नहीं करता, रूपायित करता है, कर्त्ता नहीं, विकर्ता है।

भारतीय परम्परा में ईश्वर की उपासना का भी वह महत्त्व नहीं है जो सामी ईश्वर की उपासना का है। यहाँ आत्म-साक्षात्कार, आत्म-लाभ, स्वरूपावस्थान का महत्त्व अधिक है। ईश्वर-प्राणिधान उसका कई साधनों में से एक साधन है। 'योगसूत्र' के 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (1.23) से तुलना कीजिए। आत्म-लाभ अथवा स्वरूपावस्थान अनीश्वरवादी आस्तिक दर्शनों और अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का पर्याय ही बन गया है। वस्तुतः भक्तिवादी दर्शनों में से कुछ को छोड़कर, अन्य मोक्षवादी दर्शनों का

निर्णय है कि पूर्णता जीव में ही निगूढ़ है। उस निगूढ़ पूर्णता को चरितार्थ भर कर देता है, क्योंकि जीव ही ब्रह्म अथवा आत्मपूर्ण सत्ता है, जो अपने स्वरूप के प्रति किसी प्रकार अज्ञान अथवा अविद्या में पड़ जाने के कारण अपने को भूला हुआ है। आत्मसाक्षात्कार के बाद वह अपनी पूर्णता का उद्धार करके रहेगा।

परवर्ती भारतीय दर्शनों में भी ईश्वर की स्थिति अथवा उसके प्रति मनोभाव सामी धर्मों से अत्यन्त भिन्न है। मध्यकालीन अथवा अनतिप्राचीन दर्शन-प्रस्थानों में ईश्वर का कितना अवमूल्यन हुआ है यह दर्शन-सूत्रों के पाठक भलीभाँति जानते हैं। 'नास्तिक' दर्शन-जैन, चार्वाक, आजीवक, बौद्ध(चाहे बुद्ध को संदेह का लाभ दें) - तो खुल्लमखुल्ला अनीश्वरवादी हैं अथवा ईश्वर का निषेध करते हैं, कई अपने सद्सद्-विचार अथवा अस्तित्व-मीमांसा में ईश्वर को कोई स्थान ही नहीं देते, कई ईश्वर की सत्ता तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे जगत् का जनक नहीं मानते, और एक दर्शन-सूत्र ऐसा है जो ईश्वर को जगत् का जनक तो मानता है किन्तु उसे असत् से सत् का कर्ता अथवा स्रष्टा नहीं मानता है। अतएव, 'सांख्य-सूत्र' और 'सांख्य-कारिका' कण्ठतः अनीश्वरवादी हैं, 'सांख्य-सूत्र' में तो ईश्वर का खण्डन भी पाया जाता है। 'वैशेषिक-सूत्र' में ईश्वर का कहीं संकेत भी नहीं है। सांख्य और वैशेषिक दर्शनों का पदार्थशास्त्र तथा सृष्टिशास्त्र भी ईश्वर की कहीं अपेक्षा नहीं करता। 'मीमांसा सूत्र' में भी ईश्वर का दूर-दूर तक संकेत नहीं है। 'न्याय-सूत्र' के तीन सूत्रों (4.1-19-21) में ईश्वर का प्रतिपादन अवश्य है, किन्तु यदि वे सूत्र प्रक्षिप्त नहीं हों तो भी वे ईश्वर को केवल कर्मफल-प्रदाता सिद्ध करते हैं। पूरे ग्रन्थ में इसका संकेत भी नहीं है कि वह स्रष्टा भी है। वस्तुतः 'न्याय-सूत्र' को अपने समानतंत्र 'वैशेषिक-सूत्र' का पदार्थशास्त्र अभिमत है, अतः उसमें सृष्टि की समस्या उठायी ही नहीं गई है। 'योग-सूत्र'में भी ईश्वर माना तो गया है किन्तु उसे 'निरतिशयं सर्वज्ञ बीजं' (1.25) 'पूर्वेषामपि गुरुः' (1.26) तथा 'पुरुष-विशेषः' (1.24) कहा गया है। और यह कहीं नहीं इंगित किया गया है कि वह स्रष्टा भी है। वस्तुतः 'योग-सूत्र' को भी अपने समान-तंत्र सांख्य का पदार्थशास्त्र मान्य है, अतः उसे सृष्टि पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं हुई। इस प्रकार, प्रचलित छः आस्तिक दर्शन-सूत्रों में से पाँच में सृष्टि-कर्ता की कल्पना को प्रश्रय नहीं दिया गया है। अकेले 'ब्रह्म-सूत्र' में ईश्वर के संबंध में 'जन्माद्यस्ययतः' (1.12) सूत्र पठित हुआ है, जिसके अनुसार ईश्वर जगत् का जनक है। किन्तु 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (2.1.14) सूत्र द्वारा उसे सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण घोषित करते हुए उसके असत् से सत् के कर्तव्य का खण्डन किया गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि शंकर ने 'ब्रह्म-सूत्र' के भाष्य (2.2.37-42) में केवल ''निमित्तकारणभूत अधिष्ठातृस्वरूप'' ईश्वर की स्थापना करने वाले माहेश्वरों, भागवतों आदि के ईश्वर का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। वैशेषिक परम्परा में आगे चलकर ईश्वरवाद का प्रवेश हो गया। युक्तिदीपिका (मोतीलाल बनारसीदास, 1967 पृ. 73) के अनुसार ऐसा पाशुपतों के प्रभाव के कारण हुआ। 'वैशेषिक-सूत्र' (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज 5.2.14) में परमाणुओं की आद्य गति का कारण ईश्वर को नहीं अदृष्ट को बताया गया है।

मध्यकालीन भारतीय दर्शन में ईश्वर के अवमूल्यन की ओर बानगी लीजिए। वात्स्यायन 'काम-सूत्र' के आरम्भ में धर्म, अर्थ और काम को नमस्कार करते हैं (नमो धर्मार्थकामेभ्यः), ईश्वर या किसी अन्य देवता को नहीं। चाणक्य के सूत्र-ग्रन्थ (371) के अनुसार राजा से बड़ा कोई देवता नहीं (न राज्ञः परं दैवतम्)

प्रत्येक धर्म किसी न किसी रूप में कर्म-सिद्धान्त को प्रश्रय देता ही है। धर्मों के अनुसार मनुष्य को संसार में किये गए कर्मों का फल सामान्यतः भोगना ही पड़ता है, यहाँ अथवा परलोक में; ईश्वर का विशेष अनुग्रह हो जाए तो बात और है। किन्तु कर्म को जो महत्त्व हिन्दू धर्म में प्राप्त है वह किसी भी

अन्य धर्म में नहीं। हिन्दू तो यहाँ तक कहता है कि किये हुए कर्मों का फल ईश्वरों का भी भोगना पड़ता है, और कि प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग से ही संभव है, यद्यपि यहाँ पाप से मुक्ति की बात भी उठी है। मीमांसा दर्शन कर्म को स्वत: फलप्रद मानता है, एतदर्थ उसे ईश्वर की अपेक्षा नहीं होती। भर्तृहरि (नीति शतक 108) यहाँ तक लिख जाते हैं -

'नमस्यामो देवान् ? ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा:'
'विधिर्वन्द्य: ? सोऽपि प्रतिनियतकर्मेकफलद:'
'फलं कर्मायत्तं, किमपरगणै: ? किं च विधिना
'नमस्तत् कर्मेभ्यो, विधिरपि न येभ्य: प्रभवति।'

अर्थात् देवताओं को नमस्कार करने से क्या होगा, वे तो ब्रह्मा के वश में हैं। क्या ब्रह्मा की वन्दना की जाए ? किन्तु वह तो कर्म का नियत फल ही दे सकते हैं। वस्तुत: फल कर्म पर आश्रित है जिस पर न देवताओं का अधिकार है और न ब्रह्मा का। तो क्यों न कर्म ही को नमस्कार किया जाए ? यह सोच कर भर्तृहरि कर्म ही को नमस्कार करते हैं। वस्तुत: हिन्दू यहाँ तक मानता है कि जीव कर्म के बल इन्द्र, ब्रह्मा, शिव, गणेश सब बन सकता है (देवी भागवत् 9.27.18) और तो और, वह ज्ञान अर्जित कर साक्षात् ब्रह्मा भी बन सकता है (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' मुण्डकोपनिषद् 3.2.9 'ब्रह्मौव सन् ब्रह्माप्येति' बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.6)।

कर्म का इतना व्यापक महत्त्व अन्य धर्मों में सर्वथा आचिन्त्य है। सामी धर्म कर्म की गति मानव की उत्पत्ति के बाद स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में, सृष्टि हुई ही क्यों ? इस प्रश्न से कर्म का कोई संबंध नहीं है। उनके यहाँ सृष्टि ईश्वर की याद्टच्छिक और स्वच्छन्द सिसृक्षा का परिणाम है। इसके विपरीत 'योग-सूत्र' (2.18) संसार को कर्मों का भोग और मोक्ष-प्राप्ति के लिए (भोगापवर्गार्थ) बतलाता है।

जेनर ने रहस्यवादी धर्म और पैगम्बरी धर्म के भेद पर बहुत बल दिया है जो समीचीन ही है। पैगम्बर ईश्वर का संदेश लाता और प्रचारित करता है। वह संदेश पुस्तक रूप में हो अथवा अन्यथा, सर्वथा अनुल्लंध्य है। किन्तु कृष्ण हिन्दू धर्म-ग्रन्थ वेद को 'त्रैगुण्यविषया:' बताते हैं और उनसे आगे जाने, 'निस्त्रैगुण्य' होने, का उपदेश करते हैं (गीता 2.45)। यह सामी स्वर के ठीक विपरीत स्वर है। मीमांसक तो वेद के प्रणेता के रूप में भी ईश्वर की कल्पना अनावश्यक समझते हैं। उनके लिए वेद दोनों अर्थों में अपौरुषेय हैं - वे न पुरुष-कृत हैं और न परमपुरुष-कृत। इससे बढ़कर ईश्वर की अनपेक्षा और क्या हो सकती है ?

इतने मौलिक भेदों के रहते हुए सब धर्मों को एक कहने का कोई तुक नहीं। अत: जेनर ने धर्मों के प्रचलित रूपों में तात्त्विक एकता का जो खण्डन किया है वह सर्वथा यौक्तिक और श्लाध्य है।

सब धर्मों में तात्त्विक एकता मानने वालों का एक अन्य समुदाय है जिसकी दृष्टि अपेक्षया अधिक तलस्पर्शिनी है। यह सम्प्रदाय धर्मों के वर्तमान रूपों की तात्त्विक एकता का आग्रही नहीं, वह उनकी प्राणप्रद प्राचीन परम्पराओं को एक अथवा समान मानने के पक्ष में है। इस सम्प्रदाय के अग्रदूत हैं रेन गेनों, आनन्दकुमार स्वामी, आल्डस हक्सले, जिमर जैसे विद्वान। इन विद्वानों ने प्राचीन परम्पराओं में निहित तात्त्विक एकता के बीज उद्घाटित हुए हैं। हमने सामी और भारतीय धर्मों में मौलिक भेदों की ओर इंगित किए हैं, किन्तु कालक्रम में हम जितना ही पीछे जाते हैं उतनी ही इस बात की संभावना बढ़ती जाती है कि धर्मों का आदि स्रोत एक अथवा समान है। उस स्तर पर सामी और भारतीय का भेद भी समाप्त हो जाता है। हम पाते हैं कि वैदिक धर्म और जरथुस्त्री धर्म मूलत: एक हैं, कि यहूदी धर्म प्राय:

जरथुस्त्रीय धर्म का भारी पैमाने पर ऋणी है, और कि ईसाई तथा इस्लाम धर्म यहूदी धर्म में ही हेर-फेर के परिणाम-स्वरूप अस्तित्व में आए हैं। ऊपर देवदूती और रहस्यवादी धर्मों के बीच जो खाई दिखलाई गई है वह भी ऐसी नहीं जो प्राचीन परम्परा द्वारा भी पाटी न जा सके। स्थूल रूप से सामी धर्म देवदूती धर्म हैं और भारतीय धर्म रहस्यवादी, किन्तु दोनों को मिलाने का कार्य करता है जरथुस्त्री धर्म, जिससे ही देवदूती परम्परा का जन्म होता है। जेनर ने भी जरथुस को आदि देवदूत माना है। कालप्रवाह में और पीछे जाइए तो पता चलेगा कि वैदिक आर्य चाहे वर्तमान भारत के मूल निवासी रहे हों, चाहे किसी बृहत्तर भारत के मूल निवासी रहे हों, चाहे बाहर से आए हों, आज जिसे मध्य-पूर्व अथवा पश्चिमी एशिया कहा जाता है वह वैदिक आर्यों अथवा उनकी किसी अतिप्राचीन शाखा अथवा किसी सगोत्र उपजाति की क्रीड़ा-भूमि अथवा प्रभाव-भूमि रहा है। बोग़ज़ कोई की खुदाई में मेसोपोटेमिया और मिश्र देश के राजाओं के बीच जो समय हुआ था उसके इष्टिका अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ जैसे वैदिक देवताओं को साक्षी माना गया है। इस संबंध में अन्य भी अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कभी मिस्र से सप्तसिन्धु अथवा उत्तर भारत तक का विशाल भूखण्ड आर्यनिवास था। इस प्रकार भारत और सामी देशों की परम्पराएँ भी अन्तत: एक ठहरती हैं। विद्वानों की खोज जारी है जिससे उक्त भूखण्ड की मौलिक सांस्कृतिक एकता पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ता जा रहा है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई के फलस्वरूप जो सभ्यता प्रकाश में आई थी उसका विस्तार हिमाचल प्रदेश और नर्मदा की घाटी तक सिद्ध हो गया है। आगे इस विशाल क्षेत्र के और बढ़ने की संभावना है। कतिपय विद्वानों ने हड़प्पा की लिपि का भी पर्याप्त सीमा तक अध्ययन कर लेने का दावा किया है, जिनमें अधिकतर का निष्कर्ष है कि यह सभ्यता आर्य-सभ्यता से अभिन्न है और इस सभ्यता के प्रतिरूप अथवा समरूप मध्य एशिया में भी पाए गए हैं, जिससे भी उपर्युक्त धारणा, भारतीय और सामी सांस्कृतिक परम्पराओं की मौलिक एकता, सगोत्रता अथवा साम्य की धारणा, की भलीभाँति पुष्टि होती है। किन्तु इस विषय का विस्तार यहाँ नहीं किया जा सकता।

धर्मों के समन्वय का एक अन्य रूप भी प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि सभी धर्म किसी व्यापक विकास-प्रवाह की विविध ऊर्मियाँ हैं, किसी व्यापक विकास-शृंखला की विविध कड़ियाँ हैं। कैथोलिक जेनर कैथोलिक ईसाइयत को धर्मों की विकास-परम्परा का चरमोत्कर्ष, चूड़ान्त निदर्शन मानते हैं। इस्लाम धर्मावलम्बी धार्मिक विकास-परम्परा की परिणति इस्लाम में देखने के अभ्यासी हैं। इस्लाम अन्तिम विश्व-धर्म है, अत: धर्म का अन्तिम, सुविकसिततम रूप है। बहाई धर्म भी कुछ इसी प्रकार का दावा करता पाया जाता है। ये चरम धर्म पूर्व धर्मों की सारी सिद्धियों को आत्मसात् करके चरमोत्कर्ष प्राप्त कर सके हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। किन्तु प्राचीन धर्मों के अनुयायियों की दृष्टि में इस अभिमत का कोई ठोस आधार नहीं है।

वस्तुत: सब धर्मों, सब धर्मों के प्रचलित रूपों का समन्वय सम्भव ही नहीं है। वैसे समन्वय अच्छी चीज है, जहाँ सम्भव हो। किन्तु वह सर्वत्र सम्भव नहीं है। बलात् किया जाने वाला 'समन्वय' 'संकर' हो जाता है, 'सिन्थेसिस' 'सिंकीटिज्म' हो जाता है। यामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' में धर्म-संकर की निन्दा इन शब्दों में की है :

'शैवं, पाशुपतं, सौम्यं, लागुडश्च चतुर्विधम्,
'तन्त्रभेद: समुद्दिष्ट:, संकरं न समाचरेत्।'

अर्थात् शैव, पाशुपत, सौम्य और लागुड चारों तन्त्रों को भिन्न रखा गया है, इनमें संकर नहीं करना चाहिए। वस्तुत: तत्त्वज्ञान साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों का संयुक्त फल है। केवल साधर्म्य केवल समन्वय, भ्रान्ति का कारण बन सकता है।

कुछ लोग सब धर्मों को, धर्म मात्र होने के आधार पर, धर्मत्व-सामान्य के समान रूप से भागी होने के आधार पर प्रमाण मानकर चलते हैं। ऐसे सर्वधर्मप्रमाणवादी अथवा सर्वागमप्रमाणवादी सज्जनों की चुटकी लेते हुए नैयायिक-मूर्धन्य जयन्त भट्ट ने अपनी 'न्यायमंजरी' (प्रमाण-खण्ड, पृ. 248) में लिखा है -

'सर्वागमप्रमाणत्वे नन्वेवमुपपादिते
'अहमप्यद्य यत्किंचिदागमं रचयामिचेत्
तस्यापि हि प्रमाणत्वं दिनै: कतिपयैर्भवेत्।'

अर्थात् जब सभी आगम प्रमाण माने जायेंगे, तब यदि मैं भी एक आगम रच दूँ, तो वह भी कुछ दिनों में प्रमाण मान लिया जाएगा।

धर्मों के समन्वय का एक आदर्श हिन्दू धर्म ने भी प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार नैष्ठिकी श्रद्धा से युक्त कोई भी धर्म-पथ कल्याणकारी होता है। गीता (17.3) कहती है -

''सत्वानुरूपा सर्वस्व श्रद्धा भवति, भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्ध: स एव स:।''

अथवा सबकी श्रद्धा उसके व्यक्तित्व, उसके स्वरूप, उसकी पात्रता के अनुरूप होती है। जैसा पुरुष होता है वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है और जो उसकी श्रद्धा होती है वही वह होता है, क्योंकि पुरुष श्रद्धामय होता है। यह भी कहा गया है (4.11) :-

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तर्थव भजाम्यहम्
'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश:।'

अर्थात् जो ईश्वर तक जैसा पहुँचता है वैसे ही वह उससे बरतता है। वस्तुत: सभी मनुष्य ईश्वर ही के मार्ग का अनुसरण करते हैं। कृष्ण यहाँ तक कह जाते हैं (9.23) :

'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता:
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।'

अर्थात् अन्य देवताओं के उपासक भी अन्तत: ईश्वर के ही उपासक हैं।

गीता के समन्वयवाद में व्यक्ति की धार्मिकता का मानदण्ड उसकी श्रद्धा है, धार्मिक रूढ़ि नहीं। व्यक्ति के अधिकार, व्यक्ति की पात्रता, के अनुसार ही धर्म के स्वरूप का निर्णय होता है। अत: प्रत्येक धर्म-मार्ग प्रत्येक के लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकता। यह समन्वयवाद का सर्वाधिक उदार तथा समझ में आने वाला आदर्श है जो संकरता के मार्ग से सर्वथा भिन्न है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म अन्य सभी धर्मों पर भारी पड़ता है, क्योंकि उसमें सभी के अधिकार के अनुरूप तत्त्व विद्यमान हैं। जेनर ने कैथोलिक ईसाइयत को धर्म के इतिहास की चरम परिणति घोषित करने के आवेश में इस तथ्य को भुला दिया है।

जेनर ने ईश्वर की कल्पना के विकास को धर्म के महत्त्व का मापदण्ड माना है और यह दिखलाने की चेष्टा की है कि धर्मेतिहास की चरम परिणति प्राय: ईश्वरवाद में होती है। वे यह भी दावा करते हैं कि ईश्वरवाद का सुविकसिततम तथा उज्जवलतम रूप कैथोलिक ईसाई धर्म में प्राप्त होता है, यद्यपि, उन्होंने अपने विशाल ग्रन्थ में अपनी धारणा के पक्ष में कोई भी ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। अस्तु, वे सगुण ईश्वर को ब्रह्म से बड़ा अथवा आगे की अवस्था मानकर गीता को उपनिषदों की अपेक्षा श्रेष्ठतर धर्मग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। गीता में क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम तीन पुरुष माने गए हैं। यहाँ अक्षर का अर्थ उनके अनुसार ब्रह्म हैं, अत: पुरुषोत्तम ब्रह्म से बड़ा हुआ। और जेनर के अनुसार

पुरुषोत्तम का अर्थ है ईश्वर, सगुण ईश्वर, पर्सनल गॉड। यह एक भ्रम है जिसका निराकरण आवश्यक है। जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, हिन्दू धर्म में सामी ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुत: पुरुषोत्तम ब्रह्म से उतना भिन्न नहीं जितना समझा जाने लगा है। वस्तुस्थिति को सम्यक् रूप से हृदयंगम कर लेना चाहिये। वैदिक 'पुरुष' विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी है, चल भी है और अचल भी है, परिणामी भी है और अपरिणामी भी है, दूर भी है और निकट भी है, भीतर भी है और बाहर भी है। उसका एक पाद विश्व के रूप में परिणत होता रहता है और उसके तीन पाद अपरिणत रहते हैं। इस प्रकार वह क्षर भी है अक्षर भी है, अर्थात् क्षर और अक्षर दोनों को समेटने वाला, आत्मसात् करने वाला है, तथा दोनों से अतीत भी है। लगता है कि पहले इस पूर्ण ब्रह्म, उभयरूप ब्रह्म की उपासना होती थी। उस समय कर्म-श्रुतियों और कर्मत्याग-श्रुतियों में समन्वय था। महाभारत में कई बार कहा गया है कि वेद में दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं - कर्म का अनुष्ठान करो, कर्म का त्याग करो (उदाहरणत:, शान्तिपर्व 19.1) : 'उभयं वेदवचनं-कुरु कर्म त्यजेति च।' प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही वेद में उपदिष्ट हैं और दोनों में अविरोध है - विश्व-पुरुष की उपासना प्रवृत्ति है और विश्वातीत पुरुष की उपासना निवृत्ति। विश्व-पुरुष और विश्वातीत पुरुष के पर्याय के रूप में यजुर्वेद (40.9-11) अथवा ईशावास्योपनिषद् (12-14) में 'सम्भूति' और 'असम्भूति' (अथवा 'विनाश') का प्रयोग प्राप्त होता है। श्वेताश्तरोपनिषद् (1.7, 8, 10, 5.1) तथा गीता (15.17-18) में इन्हें ही 'क्षर' और 'अक्षर' पुरुष कहा गया है। आगे चलकर इन्हीं के लिए 'संसार' और - 'निर्वाण' का प्रयोग आरम्भ हुआ, जिसका निदर्शन हमें बौद्ध धर्म में प्राप्त होता है। इन्हीं से सम्बद्ध ज्ञान को यजुर्वेद (40.12-14) अथवा ईशावास्योपनिषद् (9-11) में 'अविद्या' और 'विद्या' नाम से अभिहित किया गया है। लगता है कि कालान्तर में इस समन्वय भाव का ह्रास होने लगा और कुछ लोग उक्त युग्म में एक को बढ़ावा देने लगे और अन्य लोग अन्य को। इस नये अतिवाद का वैदिक ऋषियों ने डटकर विरोध किया होगा क्योंकि इस विरोध की ध्वनि हमें यजुर्वेद के उक्त स्थलों में स्पष्ट सुनाई देती है। वहाँ कहा गया है कि सम्भूति अथवा असम्भूति, अविद्या अथवा विद्या को ही सब कुछ मानकर उसी में रत रहने वाले नर घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और कि मानव का परम कल्याण दोनों की समन्वित उपासना में निहित है। यह दूसरी बात है कि चार्वाक और श्रमणों (जैनों, बौद्धों, आजीवकों) ने वेद की चेतावनी नहीं सुनी और अतिवाद के प्रचारक हुए। अथर्ववेद में एक स्थान पर 'विद्या', 'अविद्या' तथा 'किसी अन्य उपदेश्य' की चर्चा आयी है और उन्हें क्रमश: ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद से जोड़ा गया है (11.8 23) :

'विद्याश्च वाविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्'
'शरीरं ब्रह्म प्राविशदृच:, सामाथौ, यजु:।'

गीता ने इस त्रिक - विद्या, अविद्या और अन्य - से संकेत ग्रहण किया होगा, क्योंकि उसने क्षर और अक्षर के साथ तीसरे तत्त्व की भी उपस्थापना की जिसे उसने पुरुषोत्तम, उत्तमपुरुष अथवा ईश्वर की संज्ञा दी। वस्तुत: यहाँ भी अन्तत: तीन तत्त्व नहीं बल्कि तीन तथ्य हैं, जो है मूलत: एक किन्तु व्यवहार में भिन्न प्रतीत होते हैं। वस्तुत: पुरुषोत्तम सर्वरूप है, सर्वात्मक है, एक है। इस प्रकार गीता ने कोई नया काम नहीं किया। जिस टूटे सम्बन्ध-सूत्र को जोड़ने का प्रयास यजुर्वेद के ऋषि ने किया था उसी को गीता ने अपने ढंग से जोड़ने का प्रयास किया है। अन्यथा पुरुषोत्तम और वैदिक 'पुरुष' में तात्त्विक भेद नहीं। पुरुष अथवा ब्रह्म को अद्वैतवादियों ने अक्षर-मात्र कल्पित करके जो असंगति उत्पन्न की थी उसी का मार्जन गीता ने पुरुषोत्तम की उद्भावना करके करने की चेष्टा की है। बात वही हुई। वैदिक पुरुष, औपनिषद् ब्रह्म और गीता-प्रतिपाद्य पुरुषोत्तम एक ही सत्ता के तीन नाम हैं। उस के अक्षर अथवा

कूटस्थ रूप का आग्रह बढ़ने से गीता ने उसके मूलभूत सर्वसमन्वित रूप को पुरुषोत्तम के नाम से ला बिठाया। अक्षरब्रह्माद्वैतवाद योगवाशिष्ठकार, मण्डनमिश्र और शंकराचार्य की मौलिक सूझ नहीं है, वह काशकृत्स्न प्रभृति के काल से भी प्राचीनतर प्रतीत होता है।

ब्रह्म के नर-रूप में धरती पर अवतरण, नरलीला-प्रदर्शन और भक्तों के परित्राण का सिद्धान्त निश्चय ही अपेक्षया नवीन है। किन्तु इससे जेनर का पक्ष सिद्ध नहीं होता। वे स्वयं कहते हैं कि अवतारवाद केवल हिन्दू और ईसाई धर्म की विशेषता है। इस प्रकार इसे नियम न मानकर अपवाद की कोटि में रखना चाहिये। वस्तुत: यह एक दृष्टि से धर्म की ह्रासोन्मुखता का लक्षण माना जा सकता है। हिन्दू धर्म ही को लीजिए। यह प्राय: निर्विवाद्य है कि उपनिषद्-युग हिन्दू धर्म का स्वर्ण-युग था और कि इसमें अवतारवाद का प्रवेश इस युग के बाद ही हुआ। और इसका व्यापक प्रचार-प्रसार तो निश्चय ही हिन्दू धर्म की अधोगति के युग में हुआ था। इसी प्रकार उपासना का औपनिषद् रूप - तद्भावभावित होकर तद्रूप हो जाने की छटपटापट, ब्रह्मभूत हो जाने की अन्त:प्रेरणा, अल्प अथवा अपूर्ण से भूमा अथवा पूर्ण की प्राप्ति की उद्दाम वासना से समुद्भूत चित्तवृत्ति और जीवनवृत्ति-प्रत्येक दृष्टि से उत्कृष्ट माना जायगा। स्वयं गीता कहती है कि भगवान् की उपासना स्वकर्म से करनी चाहिये (18.46) -

"यत: प्रवृत्तिर्भूतानां, येन सर्वमिदं ततम्;
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।"

इसे देखते हुए भक्ति के जिस रूप का परवर्ती हिन्दू धर्म में इतना मान बढ़ा वह कुल मिलाकर एक ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति ही मानी जा सकती है। जेनर ने उत्तम और अधम कोटि की भक्ति में जो भेद किया है वह महत्त्वपूर्ण है। किन्तु भक्ति को निश्चयेन धर्म का विकसिततम् रूप मानने का कोई आधार नहीं है। समाज में जब भक्तों की बाढ़ आती है तो वह अकर्मण्य हो जाता है। वस्तुत: सगुण भक्ति का प्रवाह जाति की समुन्नत दशा में शिथिल ही पाया गया है। यह सही है कि प्राकृत जन तथा विशेष प्रकार के अधिकारियों के लिए वह उपयोगी है, किन्तु बहुतों के लिए उससे भी अधिक उपयोगी वस्तु देव-पूजा व्रत, अनुष्ठान आदि कहे जा सकते हैं। जो हो, सगुण भक्ति का विकास इतने सहज भाव से धर्म का एकमात्र चूड़ान्त निदर्शन नहीं माना जा सकता।

रहस्यानुभूतियाँ सर्वत्र समान होती हैं, इस भ्रान्ति के खण्डन में जेनर सबसे आगे हैं, और वस्तुत: जेनर की यही सबसे बड़ी सिद्धि है। विलक्षण भारतीय योगी और दर्शनज्ञ साधु शान्तिनाथ ने अपने 40 वर्ष से ऊपर के योगाभ्यास और समाधि की ऊँची से ऊँची भूमिकाओं के गहरे अनुभव के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सभी साधना-पक्ष एक ही गन्तव्य की ओर नहीं ले जा सकते। वे अन्तत: इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि समाधि की विविध भूमियों में तत्व-दर्शन नहीं होता, संस्कार-दर्शन होता है - जैसा संस्कार वैसा दर्शन।

वस्तुत इस्लामी रहस्यवाद के इतिहास से भी यह बात उत्पन्न होती है कि रहस्यवाद-रहस्यवाद में मौलिक भेद होता है जिसका अपलाप सम्भव नहीं है। जैसा कि सर्वविदित है, तसव्वुफ की मूल धाराएँ दो हैं - वुजूदी (अद्वैतवादी) और शुहूदी (द्वैतवादी)। शाह वलीउल्लाह ने अपने 'फैसल:- ए वहदतऽल्वजुद-ओ शुहद' में लिखा है कि इन दो धाराओं में अन्तर केवल उपमा और रूपक का है, तात्त्विक नहीं। किन्तु यह मत निराधार है। प्रसिद्ध शुहूदी सूफी मुजद्दिदे अल्फेसानी ने लिखा है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न है, किन्तु समाधि में ऐसी भूमिका प्राप्त होती है जहाँ ब्रह्मेतर सत्ता का लोप प्रतीत होता है, यद्यपि लोप वास्तविक नहीं। सूर्योदय के अनन्तर आकाश में तारे अदृश्य हो जाते

हैं, यद्यपि वे निरन्तर विद्यमान रहते हैं। जगत् की ठीक यही दशा है। (द्रष्टव्य 'मक्तूबाते मुजद्दिदे अल्पेसानी; मक्तूब 43 जीम, आदि') शुद्दू दियों का यह भी विश्वास है कि वुजूदी सुक्र (मद) की दशा में अद्वैत बकते हैं। यह सब देखते हुए रहस्यवाद को एक ही प्रकार का मानना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार, ईसाई दृष्टि में रहस्यवाद का अर्थ है ईश्वर और मानव में वैयक्तिक सम्बन्ध। जैसाकि जेनर ने भी औरों के हवाले से लिखा है, यह एक प्रकार का प्रेम-व्यापार (लव-अफेयर) है। अद्वैत वेदान्त में यह व्यापार असम्भव है। अद्वैतवाद के अनुसार मानव और ईश्वर के ऐक्य का बोध ही रहस्यवाद है।

अन्त में भारतीय धर्म-दर्शन के सम्बन्ध में जेनर की एक भारी भूल का उद्घाटन अप्रासंगिक नहीं होगा। जेनर को धर्म और मोक्ष में आत्यन्तिक विसंगति तथा विरोध दिखायी देता है। उपनिषद् में मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ ज्ञानी अथवा जीवन मुक्त को पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म से परे घोषित किया गया है। (द्रष्टव्य मुण्डकोपनिषद् 3.1.3, मैत्रायण्युपनिषद् 6.18, कठोपनिषद् 1.2.14 तैत्तिरीपायोपनिषद् 2.9, बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.22) कौषतिकिब्राह्मणोपनिषद् (3.1) में इन्द्र का दावा है कि ज्ञानी को बड़े से बड़ा पाप भी हानि नहीं पहुँचा सकता। उसे पाप लगता ही नहीं, चाहे वह मातृवध, पितृवध स्तेय अथवा भ्रूणहत्या ही क्यों न कर डाले। इन्द्र स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहता है कि उसने स्रष्टा प्रजापति के तीन मस्तक वाले पुत्र विश्वरूप को मार डाला, कितनों को भेड़ियों-लकड़बग्घों के आगे डाल दिया, कितनों को मौत के घाट उतार दिया, किन्तु उसे कोई पाप नहीं लगा, उसका बाल भी बांका नहीं हुआ। गीता (18.17) का सिद्धान्त है कि जो अहंकार भाव से मुक्त है और जिसका मन निर्लिप्त है वह लोकों की हत्या कर के भी हत्या का दोषी नहीं होता, और न बन्धन में ही पड़ता है। जेनर इस शिक्षा को पुण्य और धर्म के लिए घातक तथा पाप और अधर्म को बढ़ावा देने वाली समझते हैं और इस आधार पर कल्पना करते हैं कि हिन्दू धर्म में धर्म-मार्ग और मोक्ष-मार्ग के बीच आत्यन्तिक विरोध है। यह भ्रान्ति जेनर ही को नहीं, जेनर के अतिरिक्त कई पाश्चात्य भारतविदों को भी है। इसके निराकरण में दो बातें कही जा सकती हैं। प्रथम तो यह कि प्राचीन शास्त्रों की शैली अर्थवाद-परक है, आज के समान यथार्थवाद-परक नहीं। मीमांसा-परम्परा द्वारा प्रतिपादित अर्थवाद-सिद्धान्त के सहारे ही प्राचीन शैली को समझा जा सकता है। शास्त्रों में जहाँ प्रशंसा का प्रसंग होता है। वहाँ प्रशंसा की अति हो जाती है। यह शास्त्रकारों की सामान्य प्रवृत्ति है। धर्मशास्त्र ही नहीं, आयुर्वेद आदि लौकिक शास्त्रों की भी यही स्थिति है। ऐसी दशा में सर्वत्र अक्षरशः अभिधा मानकर चलना शास्त्र के तात्पर्य के विपरीत चलना है। उपनिषद् और गीता को विवक्षित यह प्रतीत होता है कि ज्ञानी अथवा जीवन्मुक्त पुरुष ऐसी भूमिका प्राप्त कर लेता है जहाँ सामान्य विधि-निषेध की आवश्यकता नहीं रह जाती, यद्यपि उसकी आवश्यकता प्राकृत जनों के लिए बनी रहती है। आख्यायिकाएँ अर्थवाद मात्र हैं। यह शैली आज के मानस के अनुकूल नहीं पड़ती, यह अर्थवाद का युग न होकर यथार्थवाद का युग है। किन्तु यह शैली प्राचीन ग्रन्थों की प्रकृति के अनुकूल है और इसी के सहारे उन्हें यथावत् रूप से समझा जा सकता है। वस्तुतः जो मुमुक्षु ब्रह्मज्ञान द्वारा अपना आध्यात्मिक कायाकल्प कर डालेगा वह पाप और अधर्म के पास फटक ही नहीं सकता, चाहे उसके लिए राज-भय, लोक-भय, अथवा शास्त्र-भय रहे या न रहे। दूसरी बात यह है कि ज्ञानियों और जीवन्मुक्तों का उपलब्ध इतिहास साक्षी है कि उनका जीवन पुण्यमय, धर्ममय, रहा है, न कि पापमय, अधर्ममय। किसी-किसी ने तो कृष्ण द्वारा अर्जुन को निर्मम, निरहंकार और अनासक्त भाव से नरसंहार के लिए प्रोत्साहन को अनुद्विग्न अथवा प्रशान्त भाव से हत्या, निष्ठुर हत्या, कोल्ड-ब्लेडेड मर्डर के लिए प्रोत्साहन से समीकृत किया है। अर्थ का इससे बड़ा अनर्थ अचिन्त्य

है। गीता क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर उच्चतर आदर्शों के लिए युद्ध की अनुमति अथवा आज्ञा देती है, कोल्ड-ब्लेडेड मर्डर तो चीज ही और है। गीता के निष्काम कर्म का अर्थ निरुद्देश्य कर्म नहीं बल्कि ब्रह्मोद्देश्य कर्म है ; वह, यदि युग के शब्दों का प्रयोग किया जाय तो, 'गुरुत्व-केन्द्र' को "अहं" से हटा कर आत्मा में, मानव से हटाकर ईश्वर में स्थापित' (शिफ्टिंग ऑव द सेन्टर ऑव ग्रेविटी फ्रॉम दि इगो टू द सेल्फ फॉम मैन टू गॉड) कर देती है।

इसके अतिरिक्त, जीवन्मुक्त के लिए लोक-संग्रहार्थ कर्म भी विकल्प से प्रतिपादित है। और लोकसंग्रह धर्म से ही बन सकता है। वस्तुत: हिन्दू धर्म में धर्म और मोक्ष के बीच कभी कलह नहीं हुआ। विवाद प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच रहा है। जेनर ने युधिष्ठिर के एक वचन (महाभारत, शान्तिपर्व 301.82-83) का उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार है -

'मोक्षे दोषो महानेष, प्राप्त सिद्धिं गतानृषीन,
'यदि तत्रैव विज्ञाने वर्तन्ते यतय: परे।
'प्रवृत्तिलक्षणं धर्म पश्यामि परमं नृप !
'मग्नस्य हि परे ज्ञाने किं न दु:खतरं भवेत् ?'

अर्थात् 'मोक्ष में यदि सिद्ध पुरुष परम विज्ञान में निवास करने लगते हैं तो यह महान् दोष है। परम ज्ञान में डूब जाने से बढ़कर और क्या दु:ख हो सकता है ? मैं तो प्रवृत्तिमूलक धर्म को ही बड़ा मानता हूँ।' यहाँ वस्तुत: निवृत्ति और प्रवृत्ति में विरोध का प्रश्न उठाया गया है। धर्म प्रवृत्ति-परक भी होता है और निवृत्ति-परक भी। इनका समन्वय यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय अथवा ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति और असम्भूति, अविद्या और विद्या, के समन्वय द्वारा तथा गीता में क्षर और अक्षर का पुरुषोत्तम में अन्तर्भाव कर के, किया गया है। इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। यदि मोक्ष को निवृत्ति से जोड़ दिया जाय तो प्रवृत्तिलक्षण धर्म और मोक्ष में भी विरोध उत्पन्न हो जायगा। वस्तुत: विरोध धर्म और मोक्ष के बीच नहीं, प्रवृत्तिलक्षण धर्म और निवृत्तिलक्षण मोक्ष के बीच, निष्कर्षत: प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच है।

***

16

नीतिशास्त्र*

गोपाल बिहारी माथुर
कुमारी रेणु खन्ना

प्रस्तुत लेख सुविख्यात नीतिविचारक पी. एच. नॉवेल-स्मिथ के मौलिक एवं विचारोंत्तेजक ग्रन्थ ''नीतिशास्त्र'' की विस्तृत समीक्षा है। यद्यपि यह पुस्तक एक ऐसी पुस्तक-माला के अन्तर्गत छपी है जिसका उद्देश्य जनसाधारण को दर्शनशास्त्र की विभिन्न विधाओं से सम्बद्ध मूलभूत समस्याओं से, सुगम, सुबोध और सुपाठ्य ग्रन्थों द्वारा, अवगत कराना है, तथापि विद्वान लेखक ने इस छोटी-सी पुस्तक में नीतिशास्त्र के सम्पूर्ण परम्परागत चिन्तन को एक ऐसा नया मोड़ दिया है, और नीति की जटिल और कठिन समस्याओं के समाधान के लिए एक ऐसी नई तार्किक-पद्धति का प्रस्ताव किया है, जिससे विद्वद्गण प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। पिछले लगभग बीस वर्षों में इस पुस्तक की ख्याति में निरन्तर वृद्धि हुई है और अब ये बीसवीं शताब्दी में नीतिशास्त्र पर लिखे गए ग्रन्थों में शीर्ष स्थान प्राप्त कर चुकी है। ये कहना अतिश्योक्ति न होगी कि नॉवेल-स्मिथ ने अपनी इस एक पुस्तक के आधार पर ही नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है और उसकी गणना जी. ई. मूर, बर्गसों, हार्टमैन, हेयर व स्टीवेन्सन जैसे मूर्धन्य नीतिविचारकों में की जा सकती है।

पुस्तक परिचय -

आलोच्य पुस्तक पैलीकन ग्रन्थ-माला के अन्तर्गत एक मौलिक ग्रन्थ के रूप में सर्वप्रथम सन् 1954 में प्रकाशित हुई। तत्पश्चात् ये अब तक अनेक बार अनुमुद्रित हो चुकी है, जो इसकी निरन्तर बढ़ती हुई ख्याति का परिचायक है। प्रस्तुत पुस्तक में इक्कीस अध्याय हैं। जो तीन खण्डों में विभक्त हैं। उन खण्डों एवं उनके अन्तर्गत आने वाले अध्याओं की विषयसूची निम्न प्रकार है -

खण्ड एक : सिद्धान्त एवं व्यवहार -

(1) नीतिशास्त्र का कार्य, (2) सैद्धान्तिक नीति, (3) अन्त:प्रज्ञावाद, (4) नीतिशास्त्र एवं विज्ञान में सादृश्य, (5) विशेषणों का तर्कशास्त्र, (6) वाक्यों एवं युक्तियों का तर्कशास्त्र,

खण्ड दो : चयन एवं परामर्श -

(7) व्यावहारिक विमर्श का उद्देश्य, (8) चयन के लिए युक्तियाँ, (9) प्रेरक, (10) स्वार्थवाद एवं सुखवाद, (11) परामर्श और प्रोत्साहन, (12) 'शुभ',

---

* *Ethics* by P.H. Noweell-Smith. Published by Penguin Books as a Pelican Original in 1954.

खण्ड तीन : कर्त्तव्य और उद्देश्य -

(13) 'उचित' एवं 'करणीय', (14) कर्त्तव्य व दायित्व, (15) कर्त्तव्य और उद्देश्य, (16) नैतिक नियमों का उद्देश्य, (17) कर्त्तव्यनिष्ठा, (18) अन्तरात्मा, (19) स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व

हम अपने इस लेख में मुख्य रूप से अध्याय एक से सात, ग्यारह से पन्द्रह तथा इक्कीसवें अध्याय में प्रस्तुत सामग्री की ही समीक्षा करेंगे। इसका कारण यह है कि प्रथम-खण्ड में ही लेखक का मुख्य कथ्य हमारे सामने स्पष्ट रूप से आ जाता है। इस खण्ड में ही लेखक ने नीतिशास्त्र के सही स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और बताया है कि नीति की समस्याएँ इतनी जटिल व अपरिहार्य क्यों प्रतीत होती हैं। साथ ही लेखक ने हमें इन समस्याओं के समाधान के लिए एक नई दार्शनिक-तार्किक विधि भी सुझाई है जिसके प्रयोग से, लेखक के विश्वास के अनुसार, इन समस्याओं का समाधान हो सकेगा। द्वितीय एवं तृतीय खण्डों में लेखक ने अपनी प्रस्तावित विधि को नीति की परम्परागत अनिराकृत समस्याओं पर एक-एक कर लागू करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में लेखक की सफलता-असफलता आँकने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम उसे नीति के प्रत्येक प्रसंग में लागू करने के प्रयत्न की जाँच करें। हमारे लिए यह पर्याप्त होगा कि हम एक-दो प्रतिनिधि-समस्याओं को लें और देखें कि क्या नॉवेल-स्मिथ द्वारा अपनाई गई विधि से नैतिक चिन्तन में कोई वास्तविक प्रगति होती है तथा उन समस्याओं का हमें कोई सही और सन्तोषप्रद समाधान प्राप्त होता है ?

पुस्तक का कथ्य प्रस्तुत करने से पूर्व हम एक बार यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि यह पुस्तक किस उद्देश्य से लिखी गई है और इसकी संयोजना में लेखक ने किस नूतन विधि का अनुसरण किया है। पुस्तक के आमुख में एयर ने लिखा है कि सर्वप्रथम तो हमें नैतिक उपदेशाक तथा नीति दार्शनिक में स्पष्ट अन्तर करना चाहिये। उपदेशाक वह है जो हमारे समक्ष एक विस्तृत व व्यापक आचार-संहिता रखकर हमें उसके पालन के लिए प्रोत्साहित करे। उधर नीतिविवेचक का मुख्य कार्य न तो मनुष्यों को नैतिक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना है और न उनके कार्यों पर कोई नैतिक निर्णय देना है। नीतिविवेचक का मुख्य कार्य नैतिक निर्णयों के स्वरूप का विश्लेषण है, और यही कार्य नॉवेल-स्मिथ ने अपनी इस पुस्तक में किया है। उन्होंने दिखाया है कि नैतिक कथनों व अ-नैतिक कथनों में क्या साम्य व भेद है, एवं नैतिक कथनों के सत्य-असत्य की जाँच के लिए हमें किन विशिष्ट प्रकार के मानकों की आवश्यकता है।

यह उल्लेखनीय है कि अधिकाँशत: विवेचनात्मक होते हुए भी नॉवेल-स्मिथ का यह ग्रन्थ नैतिकता से ही, उसके परम्परागत रूप में, सम्बन्ध रखता है। नॉवेल-स्मिथ ने आरम्भ से ही नैतिक चिन्तन को व्यावहारिक विमर्श की कोटि में रखा है। व्यावहारिकता के क्षेत्र में प्रत्येक अभिकर्त्ता के सन्मुख बारम्बार यह मूर्त प्रश्न उत्पन्न होता है कि "मुझे यहाँ और इस समय क्या करना चाहिए ?" नीति-विचारक बतलाते हैं कि इस मूर्त-विशिष्ट प्रश्न पर जब हम चिन्तनात्मक दृष्टि डालते हैं तो हम व्यावहारिक जीवन की इस समस्या को एक अधिक सामान्य स्तर पर फिर से उपलब्ध करते हैं, जैसे-"सामान्य रूप से, मेरे लिए क्या करना उचित है ?" "मुझे किस आचार-संहिता को स्वीकार करना चाहिए ?" अथवा "मेरे लिए क्यों आवश्यक है कि मैं किसी न किसी आचार-संहिता का पालन करूँ ही ?"

नीति-दर्शन के ये बारम्बार उठने वाले प्रश्न हैं। किन्तु नॉवेल-स्मिथ का दृष्टिकोण यह है कि नीतिशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान होते हुए भी इन मूर्त-विशिष्ट प्रश्नों का प्रत्यक्ष उत्तर नहीं दे सकता। इस बात के ठोस कारण हैं कि नीति-दार्शनिक आचरण विषयक मार्ग निर्देशन क्यों नहीं कर सकता ? किन्तु तब भी, नीतिदर्शन व्यावहारिक जीवन की समस्याओं को परोक्ष रूप से आलोकित करता ही है।

नॉवेल-स्मिथ की पुस्तक इस मान्यता को लेकर लिखी गई है कि हमारा व्यावहारिक चिन्तन प्राय: उतना कुशल व सुचारु नहीं होता जितना उसे होना चाहिये; क्योंकि, इस चिन्तन के अन्तर्गत, जिन शब्दों और प्रत्ययों का हम प्राय: प्रयोग करते हैं उनके अर्थों को हम पूरी तरह और स्पष्ट रूप से नहीं जानते। इस पुस्तक का उद्देश्य 'शुभ', 'उचित', 'करणीय', 'चयन', 'कर्त्तव्य', 'सुख' आदि मूलभूत नैतिक प्रत्ययों के बीच जो जटिल प्रकार के तार्किक (अथवा अर्द्ध-तार्किक) सम्बन्ध हैं, उनका उद्घाटन करना है ताकि इन प्रत्ययों के भ्रान्ति-मूलक उपयोगों से बचा जा सके। यद्यपि विद्वान् लेखक ने नीति के परम्परागत प्रत्ययों को ही विवेचित किया है, तथापि ऐसा करने में उसने नैतिक भाषा पर आधुनिक तर्कशास्त्र की कुछ नवीनतम उपलब्धियों को लागू करने का प्रयत्न किया है – जो प्रयत्न स्वयमेव श्लाघ्य हैं।

अपनी इस समीक्षा में हम सर्वप्रथम इस पुस्तक के 21 वें अध्याय में प्रस्तुत विषय-योजना को ही संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करेंगे।

लेखक का दावा है कि उसने इस पुस्तक में उन प्रत्ययों का विवेचन किया है जो नैतिक विमर्श में प्राय: प्रयुक्त होते हैं और उसने उनके पारस्परिक सम्बन्धों का सफलतापूर्वक उद्घाटन किया है। लेखक के अनुसार, नीति-दर्शन के इतिहास में वस्तुपरकतावादियों व आत्मपरकतावादियों, आकारवादियों तथा प्रयोजनवादियों, इच्छास्वातन्त्र्यवादियों एवं नियतिवादियों के बीच निरन्तर विवाद चला है। लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि ये विवाद नैतिक प्रत्ययों के स्वरूप, नैतिक विमर्श में उनके प्रयोग के उद्देश्य एवं उस प्रयोग पर लागू होने वाले तार्किक सिद्धान्तों के बारे में दीर्घकालीन भ्रान्ति से उद्भूत हैं।

नॉवेल-स्मिथ यह दावा तो नहीं करते कि उसके द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट विश्लेषण-पद्धति से इन विवादों का पूर्ण निराकरण हो जायगा। यह मानना तो और भी अनुचित होगा कि इन विवादों का निराकरण प्रतिपक्षियों में से किसी एक के पक्ष को अत्यधिक न्यायसंगत दिखलाने से हो सकेगा। किन्तु यह बात अवश्य सम्भव है कि जब हम यह देख लें कि विवादों के मूल में एक वैचारिक भ्रान्ति है तो हम नीतिचिन्तन की लीक से हटकर इन समस्याओं पर पुन: रचनात्मक विचार करें। एक नई तर्क-पद्धति को अपनाने से यह अवश्यम्भावी तो नहीं है कि नीति के क्षेत्र में विवाद सर्वथा समाप्त हो जायें। वास्तव में हमारे विवादों के दो स्रोत हैं। उनका उद्‌गम एक ओर तो प्रयुक्त तर्क-पद्धति के क्षेत्र में है और दूसरी ओर मनोविज्ञान के क्षेत्र में। जहाँ तक इन विवादों का उद्‌गम विचारकों के वैयक्तिक मनोविज्ञान में है, वहाँ तक हमें इन विवादों के अन्त होने की आशा नहीं करनी चाहिये। हाँ, जहाँ तक इन विवादों का उद्‌गम भ्रान्त तर्क-पद्धति में है वहाँ हम यह आशा कर सकते हैं कि हम सही पद्धति का अनुसरण करके उन गलतियों से कुछ न कुछ बच सकेंगे जो हमारे पूर्वजों ने की थीं।

इस प्रसंग में भी नॉवेल-स्मिथ हमें किसी झूँठी आशा के प्रलोभन में नहीं डालता। वह मानता है कि एक बड़ी सीमा तक वे सब प्रतिस्पर्धी दार्शनिक सिद्धान्त, जो हमें विडम्बनापूर्ण एवं अतिरंजित प्रतीत होते हैं, वास्तव में वैसे ही हैं। वे सिद्धान्त न केवल अन्य साधारण व्यक्तियों द्वारा, बल्कि स्वयं नीतिविवेचकों द्वारा भी, नैतिक भाषा के प्रयोग को ग़लत रूप में प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति वास्तव में यह नहीं मानता कि 'शुभ' का अर्थ है 'ईप्सित' अथवा 'परार्थवाद' 'स्वार्थवाद' का ही छद्म रूप है। ये सब सिद्धान्त निश्चय ही वाहियात और एकांगी हैं। इनका महत्त्व केवल यह है कि वे नैतिक भाषा के कुछ ऐसे तत्त्वों पर बल देते हैं जिन पर से हमारा ध्यान अन्यथा हट सकता है। और ये सब सिद्धान्त प्राय: बड़े तर्ककौशल के साथ उन मनोवृत्तियों का अनुसरण करके प्राप्त किये जाते हैं जो हमारी साधारण भाषा की संरचना के अन्तराल में सदैव निहित रहते हैं।

यह एक तथ्य है कि हमारी साधारण भाषा बहुत सुधड़ नहीं है। इसमें हम जो कोई कथन करते हैं उन्हें "प्राय:", "अधिकांशत:" आदि विशेषण देने की आवश्यकता होती है। किन्तु यदि हम, एक दार्शनिक के रूप में इस तथ्य को विस्मृत कर देते हैं तो उससे ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं जो परस्पर असंगत अथवा विरोधी हैं। और तब हम इस बात के लिए बाध्य होते हैं कि इन वैकल्पिक भाषीय प्रयोगों से जो कुछ आपादित होता है उनमें से किसी एक को स्वीकार करें और शेष को अस्वीकार। किन्तु विडम्बना यह है कि हम चाहे किसी भी पक्ष को क्यों न स्वीकार करें, हमारे द्वारा समर्थित सिद्धान्त एकांगी और अपूर्ण बना रहता है। इसी कारण दर्शन विडम्बनाओं और अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है और रहेगा।

किन्तु नॉवेल-स्मिथ की यह भी धारणा है कि जब तक हम दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में सतर्क बने रहकर इन विडम्बनाओं और अन्तर्विरोधों को उनके सही रूप में देख सकते हैं तब तक हमें उनसे विशेष हानि होने का भय नहीं है; क्योंकि हम पहले ही यह जान चुके होते हैं कि दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में किन कारणोंवश उनका अनिवार्यत: प्रादुर्भाव होता है। साथ ही यह भी ठीक है कि कुछ दार्शनिक सिद्धान्त ऐसे हैं जो घोर तार्किक भ्रान्तियों पर टिके हुए हैं। और विचारणा की स्पष्टता के लिए यह आवश्यक है कि हम इन भ्रान्तियों के स्रोतों का स्पष्ट उल्लेख करें।

नॉवेल-स्मिथ निम्नलिखित चार ऐसी तार्किक भ्रान्तियों का उल्लेख करता है जो उसके मत में, नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में उलझनें उत्पन्न करते हैं –

(1) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तार्किक भ्रान्ति वह है जिसमें हम उन तार्किक प्रत्ययों को, जिनका हम सफलतापूर्वक प्रयोग गणित एवं आनुभाविक विज्ञानों के विमर्श में कर चुके हैं, ज्यों का त्यों नैतिक विमर्श के क्षेत्र में स्थानान्तरण कर देते हैं। इस अनुचित स्थानान्तरण का ही यह दुष्परिणाम है कि नैतिक विचारक इस प्रश्न को, कि "हम अपना जीवन किस प्रकार जीयें ?" एक ऐसा सैद्धान्तिक प्रश्न मान बैठे हैं जिसका सम्बन्ध या तो मानव-स्वभाव अथवा किसी विशिष्ट मूल्य जगत् के तथ्यों से है। ऐसी ही कुछ अन्य भ्रान्त धारणाओं से हम यह विचित्र मत को प्राप्त करते हैं कि नैतिक संदर्भ के शब्द किन्हीं विशिष्ट प्रकार की सत्ताओं के परिचायक हैं जिनकी जानकारी के लिए हमें विशिष्ट प्रकार के ज्ञानोपकरणों की आवश्यकता है। सारांश यह कि कुछ नैतिक विचारक यह तो मानते हैं कि सैद्धान्तिक व व्यावहारिक विमर्श में भेद है। किन्तु वे इस भेद के यथार्थ रूप को इस प्रकार भ्रष्ट करके प्रस्तुत करते हैं कि मानों इन दोनों प्रकार के ज्ञान के विषय भी दो अलग कोटि की सत्ताएँ हैं न कि यह कि इन दोनों प्रकार के विमर्शों में प्रयुक्त शब्दों की भाषीय भूमिकाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

(2) एक शब्द के अर्थ एवं उसके विभिन्न भाषीय प्रयोगों की संदर्भमूलक पृष्ठभूमि के बीच भेद की उपेक्षा से ही यह दुष्परिणाम भी प्राप्त होता है कि हम इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भुला बैठे हैं कि एक ही शाब्दिक अभिव्यक्ति के विभिन्न संदर्भों में अलग-अलग अर्थ आपादित हो सकते हैं। इस भ्रान्ति के मूल में एक और भी प्राचीन भ्रान्ति है जिसे "एक शब्द का एक वाच्य" (unum nomen unum nomination) की संज्ञा दी जा सकती है। इसके विपरीत नॉवेल-स्मिथ की धारणा है कि किसी भी शब्द के (प्रसंग एवं प्रयोगानुसार) अनेकानेक तार्किक सम्बन्ध होते हैं। अर्थात् यद्यपि एक निर्दिष्ट शब्द के सदैव कुछ न कुछ संदर्भमूलक आपादन होते हैं, तथापि जो कुछ वह शब्द एक संदर्भ में आपादित करता है, वह उससे बहुत भिन्न है जो वह किसी अन्य संदर्भ में आपादित करता है।

(3) प्रयोजनवादी एवं आकारिक कर्त्तव्यवादी दोनों प्रकार के दार्शनिक नैतिक दायित्व का एकांगी पक्ष प्रस्तुत करते हैं। प्रयोजनवादी लेखक कर्त्तव्यसूचक शब्दों को 'उद्देश्य', 'इच्छा', 'सुख' आदि प्रत्ययों के माध्यम से व्याख्यायित करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने में वे कर्त्तव्य-सूचक शब्दों

के अर्थों के बारे में तार्किक प्रश्नों को ऐसे व्यावहारिक अथवा मनोवैज्ञानिक प्रश्नों से घपला देते हैं कि 'हमें किन नियमों को स्वीकार करना चाहिए ?' अथवा 'वास्तव में सभी मनुष्यों के किन-किन वस्तुओं के प्रति अनुकूल मनोभाव हैं ? ऐसे ही कर्त्तव्यवादी भी, जहाँ वे एक ओर नियमों और कर्त्तव्य के बीच तार्किक सम्बन्ध को उचित रूप से हमारे सामने रखते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे यह भी मानने की ग़लती करते हैं कि 'इच्छा' और 'उद्देश्य' आदि मात्र अनुभवजन्य प्रत्यय हैं, इसलिए नीतिविवेचक का उनसे कोई सरोकार नहीं है। अपने इस एकांगी दृष्टिकोण के कारण ही वे आगे बढ़कर यह अतिरंजित कथन भी करते हैं कि समस्त परम्परागत नैतिक चिन्तन एक भ्रान्ति पर टिका हुआ है। नॉवेल-स्मिथ इन एकांगी मतों में समन्वय का प्रयत्न करता है।

(4) अन्त में नॉवेल-स्मिथ बतलाता है कि नीति-विवेचकों ने अति सरलीकरण द्वारा यह मान लिया है कि किसी भी करणीय कार्य के प्रति अभिकर्ताओं के जो अनुकूल दृष्टिकोण हैं वे उनकी इच्छाएँ अथवा स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ ही हैं। इस मान्यता के फलस्वरूप हम ऐसे मनोविज्ञान की स्थापना करते हैं जो नैतिक समस्याओं को आवश्यकता से अधिक सरल रूप देता है। इस भ्रान्तिमूलक मनोविज्ञान के वशीभूत विचारक यह मानने को तैयार हो जाते हैं कि समस्त ऐच्छिक कार्य स्वार्थपरक हैं। और यदि ऐसा है तो हमारे में विद्यमान कर्त्तव्य की भावना को प्रेरित करने वाली कोई ऐसी अप्राकृतिक प्रकार की शक्ति होनी चाहिये जो मानवीय संकल्प पर बाहर से अपना दबाव डालती है और स्वार्थवाद के प्रवाह को रोक देती है। किन्तु यह मानना कि, यदि कर्त्तव्य की भावना न हो तो सभी मनुष्य केवल स्वार्थवश ही कार्य करेंगे, बिल्कुल निराधार है। ऐसा कोई मानव-समाज नहीं है जिसमें कर्त्तव्य का प्रत्यय सबलतया विद्यमान न हो।

नॉवेल-स्मिथ नीतिशास्त्र की यथार्थ सीमा एक व्यावहारिक विज्ञान के रूप में निर्धारित करने के पक्ष में है। इस प्रश्न का कि 'मैं क्या करूँ ?' कोई सर्वसाधारण उत्तर नहीं दिया जा सकता। नीति-दार्शनिक केवल वैकल्पिक जीवनशैलियों की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकता है और जिज्ञासु को उनमें से किसी एक का वरण करने के लिए आमन्त्रित कर सकता है। किन्तु फिर भी यह अनिर्णीत रहेगा कि हम किसी जीवन-शैली को किस आधार पर चुनें। कारण यह है कि संकल्प और आदेश (मानवीय सत्ता के) मनोवैज्ञानिक एवं जीवशास्त्रीय वर्णनों से तर्कत: फलित नहीं होते। किसी मनुष्य के लिए किसी जीवन-शैली की उपयुक्तता का आधार यह होगा कि वह मनुष्य स्वयं किस प्रकार का है। साधारणीकरण उस सीमा तक ही संभव है जिस तक मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक और जैविक संरचना एक-समान है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि जीवनयापन की कुछ शैलियाँ ऐसी हैं जो किसी भी प्रकार के मनुष्य को सन्तोषप्रद नहीं लगेंगी। लेकिन कौन-सी विशिष्ट जीवन-शैली किस व्यक्ति-विशेष को उपयुक्त लगेंगी ? यह निर्धारण करना एक दुष्कर कार्य है। इसके लिए हमें न केवल व्यक्ति-विशेष के बल्कि सम्पूर्ण मानव-जाति के मनोविज्ञान की ऐसी बहुत-सी जानकारी अपेक्षित है जो हमारे लिए अभी दुर्लभ है।

अत: नॉवेल-स्मिथ ने अपना उद्देश्य केवल यह दिखलाने तक सीमित रखा है कि वे सब प्रत्यय, जो नैतिक विमर्श में प्रयुक्त होते हैं और जिनके अनुसार हम नैतिक नियमों को स्वीकार या अस्वीकार करते हैं, परस्पर किस प्रकार सम्बद्ध हैं। ये प्रश्न कि - "मैं क्या करूँ ?" अथवा "मैं किन नैतिक सिद्धान्तों को स्वीकार करूँ ?" ऐसे प्रश्न हैं जिनका अन्तिम उत्तर प्रत्येक मनुष्य को स्वयं ही खोजना होता है। और इन प्रश्नों के उत्तर की खोज की प्रक्रिया अपने में 'नैतिक' शब्द के अर्थ की एक घटक बन जाती है।

अब हम नीतिशास्त्र के स्वरूप एवं उसकी समस्याओं के बारे में नॉवेल-स्मिथ के विचारों का ब्यौरेवार विवेचन करेंगे।

प्रथम अध्याय में नॉवेल-स्मिथ ने एक बार फिर नीतिशास्त्र के कार्य की समस्या उठाई है। अन्त:प्रज्ञावादियों (इन्ट्यूशनिस्ट्स) के मत के विरुद्ध जो नीतिशास्त्र को आनुभविक विज्ञानों के अनुरूप एक सैद्धान्तिक विज्ञान का रूप देना चाहते हैं, नॉवेल-स्मिथ ने यह मत प्रस्तुत किया है कि नीतिशास्त्र एक आचरणविषयक विज्ञान ही हो सकता है, जिसकी गवेषणा का उद्देश्य इस बात का ज्ञान नहीं है कि वस्तुस्थिति क्या है ? अपितु इस बात का ज्ञान है कि हमें (विभिन्न परिस्थितियों में) क्या करना चाहिए? इस प्रसंग में सर्वप्रथम नॉवेल-स्मिथ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विज्ञानों में भेद के आधार को स्पष्ट करता है। नॉवेल-स्मिथ इस बात से तो सहमत है कि नीतिशास्त्र विज्ञान है, क्योंकि उसमें व्यवस्थित और प्रणालीबद्ध अध्ययन मिलता है। किन्तु नॉवेल-स्मिथ यह मानने को तैयार नहीं है कि वास्तव में विज्ञान केवल आनुभविक विज्ञान ही हो सकते हैं। साथ ही नॉलेल-स्मिथ ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि हमारी भाषिक परम्परा की बाध्यतावश हमें कई स्थलों पर व्यावहारिक विमर्श के कथनों को भी सैद्धान्तिक विमर्श के कथनों के आकार (रूप) में प्रस्तुत करने को विवश होना पड़ता है; और हमारी इस विवशता से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि मानों हमारे आचरण-विषयक कथन, वास्तव में सैद्धान्तिक कथन हैं।

सैद्धान्तिक कथन वे होते हैं जो संसार की विशिष्ट वस्तुओं के प्रत्यक्षगम्य व्यवहार के बारे में या तो कुछ तथ्यात्मक प्रश्न करते हैं अथवा उन प्रश्नों का वर्णन अथवा साधारणीकरण के द्वारा उत्तर देते हैं। जैसे, सभी धातुओं का आयतन ताप के कारण बढ़ जाता है। किन्तु आचरणात्मक प्रकार के प्रश्नों में हम पूछते हैं कि अमुक परिस्थिति में हमें क्या करना है ? इन प्रश्नों के उत्तर भी स्वयं अपने लिए किये गए निश्चय या संकल्प अथवा किसी अन्य को दिये गए परामर्श या प्रोत्साहन का रूप लेते हैं, यथा-तुम्हें उस गरीब छात्र की आर्थिक सहायता करनी चाहिये।

यद्यपि 'मॉरल' तथा 'एथिक्स' शब्द 'मोर्ज़' तथा 'इथोस' इन दो ऐसे मूल शब्दों से बने हैं जिनके अर्थ हैं, 'रीति-रिवाज़' अथवा 'परम्परागत आचरण' तथापि नीति-दर्शन का लक्ष्य विभिन्न जनसमुदायों के रीतिरिवाज़ों या आचरण-परंपराओं का सरल विवरण देना नहीं है। इन परंपराओं के बारे में एक शास्त्रीय अध्ययन के रूप में नीतिशास्त्र दो विशिष्ट प्रकार की जिज्ञासाएँ करता है। नीतिशास्त्र का पहला कार्य कतिपय आचरणमूलक प्रश्नों का युक्तिपूर्ण उत्तर देना है। इसका दूसरा कार्य प्रचलित परंपराओं की युक्तिमूलक समीक्षा करके उनका पुनर्मूल्यांकन करना है। नीतिशास्त्र हमें दो बातें बतलाता है, यथा (1) विशिष्ट परिस्थितियों में हमें क्या करना चाहिये ? तथा (2) मनुष्य जो कार्य इन परिस्थितियों में प्राय: करते देखे जाते हैं वे (नैतिक मूल्य की दृष्टि से) अन्छे हैं या बुरे ?

दूसरे प्रकार का निर्णय देते समय नीतिशास्त्र एक आचरणविषयक विज्ञान की अपेक्षा एक सैद्धान्तिक विज्ञान के अधिक निकट आ जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई यह निर्णय देता है कि "श्याम एक अच्छा आदमी है" तो अपनी भाषिक संरचना में यह कथन इस कथन के सदृश है कि "श्याम एक लम्बा आदमी है।" क्योंकि "श्याम एक लम्बा आदमी है" प्राय: एक वर्णनात्मक कथन माना जाता है, इसलिए हम उस दूसरे कथन को भी कि "श्याम एक अच्छा आदमी है" उसी प्रकार का वर्णनात्मक एवं तथ्यमूलक कथन मानने के लिए उद्यत हो जाते हैं। हम इस कथन से सहज में यह निष्कर्ष नहीं निकाल पाते कि इसमें निम्न आदेश भी निहित है, यथा – तुम सब भी वही करो जो श्याम करता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि विख्यात प्राचीन नीति-विचारक सदैव यह मानकर चले हैं कि जब हम यह जिज्ञासा करते हैं कि श्याम अच्छा आदमी है या बुरा, तो हम यह इसलिए जानना चाहते हैं कि हम अपने आचरण में श्याम का अनुकरण करें अथवा नहीं ? इस दृष्टि से हम पाते हैं कि प्राचीन विचारक इस भाषिक इन्द्रजाल से उतने आक्रान्त नहीं थे जितने कि कुछ आधुनिक विचारक हैं। उन विचारकों द्वारा आरम्भ से ही यह मान लिया गया था कि उनकी जिज्ञासा का उद्देश्य मात्र शुभ जीवन का वर्णन करना नहीं था, अपितु शुभ जीवन की व्याख्या के साथ-साथ कुछ करने या न करने का आदेश देना भी था, यथा – 'इस या उस लक्ष्य को अपनाओ' अथवा 'इस या उस आचार-संहिता का पालन करो।'

नॉवेल-स्मिथ की सहानुभूति प्लेटो, अरस्तू, सैनेका, स्पिनोज़ा आदि ऐसे नीति-विचारकों के साथ है जो यह मानते थे कि नीतिदर्शन का अध्ययन शुभ जीवन की ओर अग्रसर होने में सहायक होता है। इसके साथ ही नॉवेल-स्मिथ इस बात को भी समझता है कि नीतिशास्त्र सभी अभिकर्त्ताओं को एक विस्तृत व निश्चित आचारसंहिता प्रदान करने में असमर्थ क्यों है। नॉवेल-स्मिथ यह भी दिखलाता है कि प्लेटो से बटलर तक सभी महान नीतिशास्त्रियों ने यह भी अनिवार्य रूप से माना है कि, एक नैतिक अभिकर्त्ता के रूप में, मनुष्यों के कुछ न कुछ ऐसे स्थिर लक्ष्य अथवा समान उद्देश्य भी होते हैं जिनकी नैतिक कर्म द्वारा सिद्धि को ही हम इस संसार में शुभ जीवन की प्राप्ति कह सकते हैं। अत: परम्परागत विचारकों के अनुसार नीतिदर्शन का कार्य शुभ जीवन का निरूपण प्रस्तुत कर मनुष्यों को उसकी प्राप्ति के साधनों के बारे में मोटी-मोटी बातें बतलाना है।

परम्परागत नीति-विचार की एक अन्य विशेषता यह है कि इसने काण्ट से पहले कर्त्तव्य की अवधारणा को उसके परिणामों से अलग करके नीति-चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु नहीं बनाया था। काण्ट के पूर्ववर्ती विचारकों ने यह प्रश्न पूर्णत: युक्तिसंगत माना था कि "मैं क्यों अपने कर्त्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करूँ ?" उनका अभिमत था कि कर्त्तव्य-पालन का औचित्य केवल यह दिखलाकर ही हो सकता है कि (थोड़े अथवा अधिक समय में) कर्त्तव्य-पालन प्रत्येक अभिकर्त्ता के अपने हित में है, अथवा उसके लिए उचित या शुभ है। अर्थात् इन विचारकों ने आकारवादी दृष्टिकोण के स्थान पर प्रयोजनवादी दृष्टिकोण का ही अधिक समर्थन किया था।

विश्व के प्रमुख धर्मों ने भी निरपवाद रूप से यह स्वीकार किया है कि मानव-जीवन का एक पूर्व-निर्धारित लक्ष्य है जिसे उन धर्मों द्वारा बताये गए विधि-विधान का पालन करके ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक धर्म यह मानता है कि वह उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मानव को एक दिव्य आदेश देता है। नीति-विचारकों की भाँति धर्माचार्यों ने भी हमें इसीलिए सद्‌गुणों का पालन करने का आदेश दिया क्योंकि (आगे-पीछे) उनका पालन ही मानव जीवन में आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से हितकर होता है।

इसी प्रसंग में यह प्रश्न भी उठता है कि हम कैसे यह जान सकते हैं कि नीति अथवा दर्शन द्वारा बताये गए नियमों का पालन करके ही हम मनोवांछित लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

महान् परम्परावादी दार्शनिकों ने साध्य और साधन से सम्बद्ध इन दो मूलभूत नैतिक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। फलत: उनकी नैतिक जिज्ञासा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र के व्यापक क्षेत्रों पर विचरण करके शुभ जीवन के स्वरूप का यथोचित निर्धारण करने एवं उसकी प्राप्ति के उपयुक्त साधनों को जानने के लिए प्रयत्नशील रही है।

इस स्थल पर आकर नॉवेल-स्मिथ हमारे समक्ष परम्परागत नीति की अध्ययन विधि में पायी जाने वाली एक ऐसी कठिनाई का उल्लेख करता है जिसे उसके विरोधियों ने खूब उछाला है। वह यह कि यद्यपि पिछले दो हज़ार वर्षों से नीति-शास्त्र का परम्परागत विधि से अध्ययन हो रहा है तथापि हम अब तक नैतिक दृष्टि से सही निष्कर्षों की कोई सर्वमान्य सूची उस प्रकार स्थापित करने में सफल नहीं हुए हैं जिस प्रकार हम गणित एवं प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में सफल हुए हैं।

नॉवेल-स्मिथ इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को स्वीकार करते हुए भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि परम्परागत नीति निकृष्ट अथवा निरर्थक अध्ययन है। जो अगतिशीलता हमें परम्परागत नीति के इतिहास में दृष्टिगत होती है उससे यह फलित नहीं होता कि यह अध्ययन किसी सर्वथा भ्रान्त आधार पर टिका हुआ था। अपितु इस तथ्य से हमें सभी दार्शनिक विधाओं के अध्ययन के इतिहास के बारे में एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य की प्राप्ति होती है। नॉवेल-स्मिथ पूछता है-''क्या कारण है कि हम अब भी अरस्तू के नीतिशास्त्र को तो पढ़ते हैं किन्तु उसके भौतिकशास्त्र को अपने पाठ्यक्रम में स्थान नहीं देते ?'' हम पाते हैं कि दर्शन एवं विज्ञान का अपनी-अपनी समस्याओं के अध्ययन का उद्देश्य भिन्न-भिन्न प्रकार का है। जैसे ही किसी सामान्य प्रकार की समस्या के समाधान में निश्चित प्रगति होती है वैसे ही वह समस्या दार्शनिक समस्या न रहकर वैज्ञानिक समस्या का रूप ग्रहण कर लेती है। इसके विपरीत दार्शनिक समस्या होती ही वह है जिसका कोई निश्चित और आधिकारिक सर्वकालिक समाधान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। यह बात एक उदाहरण से अधिक स्पष्ट होगी। मान लीजिये कि एक पिता अपने बच्चों का लालन-पालन भली-भाँति करना चाहता है। तब उसके सामने दो समस्याएँ आयेंगी, (1) साध्य की समस्या, तथा (2) साधन की समस्या। उस पिता की पहली जिज्ञासा होगी-''मैं अपने बच्चों को बड़ा करके उन्हें किस प्रकार का व्यक्ति बनाना चाहता हूँ।'' उसका दूसरा प्रश्न होगा-''बच्चों के लालन-पालन की वह कौनसी व्यवस्था है जिससे मेरे बच्चे ठीक उसी प्रकार के वयस्क बन सकेंगे जिस प्रकार के मैं उन्हें बनाना चाहता हूँ।''

स्पष्ट है कि पहले प्रश्न का उत्तर देने के लिए उस पिता को सर्वप्रथम यह निर्धारित करना होगा कि सुख अथवा शुभता किस चीज़ में निहित है, अथवा उनका स्वरूप क्या है ? यह प्रश्न इसलिए दार्शनिक प्रकृति का है क्योंकि इसका उत्तर देने के लिए, यौक्तिक चिन्तन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु दूसरे प्रकार के प्रश्न का उत्तर मनोविज्ञान के अनुशीलन से ही प्राप्त हो सकेगा। क्योंकि मनोविज्ञान ही हमें यह बताएगा कि बच्चों के व्यक्तित्व के विकास के निश्चित कारक क्या हैं। इसी उदाहरण से एक अन्य बात भी स्पष्ट होती है, वह यह कि हम साधारण नैतिक सत्यों की कोई ऐसी सर्वमान्य सूची प्राप्त नहीं कर सकते जिनकी सहायता से प्रत्येक अभिकर्त्ता अपनी विशिष्ट नैतिक समस्याओं का समाधान कर सके।

किन्तु इस मामले में भी स्थिति पूरी तरह नकारात्मक नहीं है। जीवन के लक्ष्य का निर्धारण करना वस्तुत: एक जटिल प्रकार के वैचारिक संप्रत्यय का निर्णाण करना है। लक्ष्य-सम्बन्धी किन्हीं दो प्रतिस्पर्धी प्रत्ययों की आपेक्षिक श्रेष्ठता के निर्धारण में हमें अवश्य कठिनाई उत्पन्न होती है। इसके बावजूद, कुछ दार्शनिकों ने इस बात को संभव माना है कि हम एक सीमा तक सामान्य नैतिक सत्यों की भी एक सूची तैयार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ प्लेटो के अनुसार मनुष्य के लिए शुभ जीवन के स्वरूप का ज्ञान सम्भव है और यह ज्ञान अलग-अलग मनुष्यों के लिए वरणीय मूर्त, विशिष्ट नैतिक नियमों की प्रस्थापना के बारे में ठीक वैसी ही अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगा जैसी रेखागणित के नियमों के ज्ञान से सर्वेक्षकों को अपने-अपने कार्यों में प्राप्त होती है। किन्तु नॉवेल-स्मिथ का आक्षेप है कि प्लेटो द्वारा नीतिशास्त्र

की गणित के साथ की गई यह तुलना उचित नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में निगमन विधि को जो सफलता मिली है वह आचरणशास्त्र के क्षेत्र में सम्भव नहीं है क्योंकि वैज्ञानिक तथ्यों में साधारणीकरण सम्भव है जबकि आचरणमूलक तथ्यों में यह सम्भव नहीं है। यह बात उपयोगितावाद के नैतिक सिद्धान्त की असफलता से भी सिद्ध होती है। उपयोगितावादियों ने नैतिक आचरण की जिस कृत्रिम यान्त्रिकी को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया वह इसलिए नहीं की जा सकी क्योंकि मानव-व्यवहार की कोई विशुद्ध यान्त्रिक व्याख्या नहीं हो सकती। अब यह बात सर्वविदित है कि जिस तरह हम यन्त्रों द्वारा ताप या ऊर्जा को नाप सकते हैं उस तरह मानवीय सुखों की मात्रा को नहीं नाप सकते।

फिर भी नैतिक समस्याओं के समाधान में कुछ न कुछ प्रगति होती रहती है, यद्यपि इस प्रगति का स्वरूप वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से भिन्न होता है। सच तो यह है कि रोज़मर्रा के नैतिक जीवन की मूर्त समस्याओं का समाधान लगभग सभी सभ्य समाजों में बहुत पहले से खोज लिया गया है। वास्तविक दृष्टि से कठिन नैतिक समस्याएँ केवल अपरिचित और अप्रत्याशित परिस्थितियों में ही उत्पन्न होती हैं। नई परिस्थितियों में ही नवीन दायित्व उत्पन्न होते हैं और इसलिए हमें नैतिक उध्ययन से यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि वह हमें हर युग और परिस्थितियों में लागू होने वाले अपरिवर्तनीय नियम दे सकेगा।

नीतिशास्त्र में हमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की कठिनाईयों से जूझना पड़ता है। सिद्धान्त में हमारी कठिनाई उन सब नैतिक प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्ध और तार्किक व्यवहार से उत्पन्न होती है जिनका प्रयोग हम व्यावहारिक विमर्श में करते हैं तथा व्यवहार में हमारी कठिनाई मुख्यत: वैकल्पिक नैतिक आदर्शों में संघर्ष से तथा मान्य नैतिक नियमों को विशिष्ट परिस्थितियों में लागू करने से उत्पन्न होती है। नीति के क्षेत्रमें किसी भी नियम को यन्त्रवत् लागू नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि हर समाज में विभिन्न कालान्तरों में मनुष्य-मनुष्य के बीच नये-नये सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध उत्पन्न होते चलते हैं। इनसे ऐसे नये प्रकार के कर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं जिनकी कल्पना भी किसी आचारसंहिता के मूल-प्रवर्त्तकों को नहीं हो सकती थी। किन्तु यह स्थिति नीति-चिन्तन के लिए दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है। अपितु हम पाते हैं कि नवीन और अप्रत्याशित परिस्थितियों की उपस्थिति से हमें सदा नूतन दृष्टि से नैतिक चिन्तन करने की आवश्यकता बनी रहती है। हमारा नैतिक अनुभव ही हमें यह बतलाता है कि यदि बदलती हुई परिस्थितियों में किसी पुराने नियम के पालन से नई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही हैं तो फिर उस नियम के परिवर्तन का समय आ गया है।

अब यह स्पष्ट है कि क्यों सर्वकालिक, अपरिवर्तनीय आचासंहिता का निर्माण करना सम्भव नहीं है। यह बात अरस्तू जैसे प्राचीन नीतिशास्त्रियों को भी ज्ञात थी कि वैज्ञानिक नैतिकता का निर्माण सम्भव नहीं है। भला व्यक्ति बनने के लिए समस्त आवश्यक जानकारी केवल एक आचारसंहिता से ही प्राप्त नहीं हो सकती। उसके लिए प्रत्येक अभिकर्त्ता को स्वयं नैतिक आचरण के तत्त्व में प्रविष्ट होकर, कुशल चिन्तन द्वारा, प्रवीणता प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए हम अच्छा पियानो बजाना केवल पियानो गाइड पढ़कर नहीं सीख सकते। हमें उसके लिए किसी कुशल पियानों-वादक की शिष्यता स्वीकार करनी होती है और अन्त में हम भी पियानों बजाकर ही उसके बजाने में निपुण हो सकते हैं।

सारांश यह है कि नैतिक विमर्श में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के निम्न दो स्रोत हैं - (1) हम प्रत्येक घटना या नैतिक परिस्थिति से सम्बद्ध सारे तथ्यों को नहीं जानते। (2) हमें उन नैतिक शब्दों या पदों के प्रयोग में कठिनाई होती है जिनके द्वारा हम अपनी व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं।

नॉवेल-स्मिथ ने पुन: दूसरे प्रकार की कठिनाई का विस्तृत विवेचन करते हुए नैतिक प्रत्ययों के स्वरूप के बारे में हमारे अज्ञान के निम्न चार स्रोत बतलाए हैं –

(क) हमारे पास नैतिक विमर्श के लिए विशिष्ट पारिभाषिक पदों, यथा-इच्छा, स्वीकृ ति, आत्मा आदि का एक समुच्चय है। किन्तु यही पद नैतिक विमर्श के बाहर भी जन-साधारण द्वारा कुछ भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु इन पदों के आशय नैतिक विमर्श के भीतर तथा बाहर के प्रयोगों में भिन्न होते हुए भी सर्वथा असम्बद्ध नहीं होते। फिर भी जन-साधारण को इन दोनों प्रकार के प्रयोगों के बीच यथार्थ तार्किक सह-सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। उदाहरण के लिए जन-साधारण इस बात को नहीं समझ पाता कि क्यों कानून एक साधारण चोर को तो चोरी की सज़ा देता है लेकिन एक चौर्योन्मादी (क्लेप्टोमेनिआक) को जेल न भेजकर चिकित्सागृह में भेज देता है। इस प्रकार की समस्याएँ प्राय: भाषिक समस्याएँ होती हैं। जब भी समबद्ध लोग प्रयुक्त शब्दों के अर्थों को भली-भाँति समझ लेते हैं तब उस समस्या का समाधान भी मिल जाता है।

(ख) नैतिक प्रत्ययों के सही पारस्परिक सम्बन्ध को न जानने से भी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिए, हम पूछ सकते हैं कि "क्या शुभ को व्याख्यायित किया जा सकता है ?" और यदि हाँ, तो क्या शुभ को हम सुख, इच्छा आदि के प्रस्त्ययों के माध्यम से व्याख्यायित कर सकते हैं ?

(ग) नैतिक पदों के समान नैतिक वाक्यों को लेकर भी समस्या उत्पन्न होती है। उदहरणार्थ, हम पूछ सकते हैं कि क्या वे सब वाक्य, जो भाषिक दृष्टि से वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत होते हैं, सदा केवल तथ्यों का ही वर्णन करते हैं, या कि उनमें से कुछ हमारे निश्चयों एवं आदेशों को भी व्यक्त करते हैं ? हम यह भी पूछ सकते हैं कि "साध्य-मूलक और साधन-मूलक वाक्यों में परस्पर भेद कैसे किया जा सकता है ?"

(घ) अन्त में प्रश्न उठता है कि यदि वर्णनात्मक एवं आदेशात्मक वाक्यों में अन्तर करना ही है तो ऐसा किस आधार पर किया जा सकता है।

प्रथम अध्याय की समाप्ति पर नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि यद्यपि हम अपनी भाषा में प्रयुक्त वाक्यों के विभिन्न प्रकारों में अन्तर करते आये हैं फिर भी हमने इन अन्तरों के यथार्थ तार्किक आधारों की उपेक्षा की है। फलत: नैतिक विमर्श में भी ऐसी उलझनें आ गई हैं जिनसे अन्यथा बचा जा सकता था। बहुत समय तक यह भ्रान्ति प्रचलित रही कि विभिन्न प्रकार के विमर्श में प्रयुक्त वाक्यों का तार्किक आकार या ढाँचा (लोजीकल फोर्म) एक-जैसा ही होता है।

उनमें भेद केवल विमर्श की अन्तर्वस्तु का ही होता है। बहुत दिनों तक यह माना जाता रहा कि तर्कशास्त्र का उद्देश्य सत्य की उपलब्धि है, तथा सत्यासत्य होने का गुण केवल उन्हीं तर्क वाक्यों में मिल सकता है जो निरुपाधिक (कटेगोरीकल) प्रकार के हैं, यथा -उ वि है। अर्थात्, आंग्ल भाषा के व्याकरण में जो वाक्य सूचनात्मक रूप (इंडिकेटिव मूड) में होते हैं उन्हें ही सत्यासत्य कथनों का प्रमुख वाहक माना गया है। किन्तु ऐसा मानना केवल एक तरह का तार्किक रूढ़िवाद है, जिसे नीतिशास्त्रियों ने भी अनालोच्य रूप से स्वीकार कर लिया था। उन्होनें इस बात की बहुत समय तक खोज नहीं की कि नैतिक निर्णय देने वाली प्रतिज्ञप्तियों का स्वरूप क्या है और उनके सत्यापन की योजना किस प्रकार की होनी चाहिए। नॉवेल-स्मिथ आग्रह-पूर्वक यह कहता है कि यदि हमें नैतिक विमर्श के अध्ययन में उन्नति करनी है तो हमें उपरोक्त तार्किक रूढ़िवादिता को त्यागना होगा और नैतिक वाक्यों के स्वरूप तथा उनके सत्यापन की तर्क-पद्धति पर पुनर्विचार करना होगा।

दूसरे, तीसरे एवं चौथे अध्यायों में नॉवेल-स्मिथ ने मुख्य रूप से अन्त:प्रज्ञावादियों के सिद्धान्तों का खंडन करते हुए यह दिखलाया है कि अन्त:प्रज्ञावादियों की नीतिशास्त्र के अध्ययन में सुधार लाने की योजना क्यों सफल नहीं हो सकती। नॉवेल-स्मिथ की यह मान्यता है कि परम्परावादी नीति-चिन्तन में अवश्य कुछ दोष है। किन्तु अन्त:प्रज्ञावादियों ने इस दोष का जो निदान किया है तथा जो उपचार सुझाया है वह पहले से भी अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। मुख्य रूप से नॉवेल-स्मिथ ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि नीतिशास्त्र को एक सैद्धान्तिक विज्ञान का रूप देने के पीछे अन्त:प्रज्ञावादियों की क्या भावना थी ? उस भावना का सम्मान करते हुए भी नॉवेल-स्मिथ यह दिखलाने को बाध्य हुआ है कि अन्त:प्रज्ञावादियों की सम्पूर्ण सुधार-योजना नैतिक विमर्श एवं आनुभविक विज्ञानों के विमर्श के बीच एक मिथ्या साम्यानुमान पर आधारित थी। और तर्क के इसी दोष के कारण अन्त:प्रज्ञावादी अपने को अनावश्यक नई-नई उलझनों के चक्र में डालते गए जिनसे निस्तार पाना उनकी समस्त बुद्धि-चातुर्य के उपरान्त भी उनके लिए कठिन हो गया।

हम पहले ही ऊपर यह दिखला चुके हैं कि नैतिक विमर्श में भी एक सैद्धान्तिक पक्ष है। इसके अतिरिक्त हमने देखा है कि कई बार भाषिक बाध्यताओं के कारण हमें उन कथनों को भी, जिनकी अन्तर्वस्तु आदेशात्मक है, वर्णनात्मक कथनों के रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। भाषा की इसी विचित्रता के कारण न केवल जनसाधारण अपितु दार्शनिक भी कई बार भ्रमित हो जाते हैं।

नीति के क्षेत्र में भी अध्ययन का एक सैद्धान्तिक पक्ष है। किन्तु उसका विषय हमारे नैतिक निर्णयों की उत्पत्ति से सम्बद्ध मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का वर्णन और विश्लेषण है। उधर नीति का मुख्य प्रतिपाद्य इन निर्णयों को जन्म देने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया न होकर स्वयं दिये गए नैतिक निर्णय ही हैं। प्राचीन नीतिशास्त्रियों के लिए "क उचित है" जैसा नैतिक निर्णय कोई सैद्धान्तिक कथन-मात्र नहीं था, अपितु यह एक प्रच्छन्न प्रकार का आदेश था। यद्यपि कई बार नैतिक विमर्श सैद्धान्तिक अथवा वर्णनमूलक वाक्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता था, तथापि इस अध्ययन का उद्देश्य कथित नैतिक विषयों एवं गुणों के किसी विशिष्ट नैतिक जगत् का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना नहीं था।

अब नॉवेल-स्मिथ की शिकायत है कि 20 वीं शताब्दी के विख्यात नीतिशास्त्रियों ने जान-बूझकर इस मत को त्याग दिया है कि नैतिक निर्णय सैद्धान्तिक अथवा वर्णनात्मक रूपों में प्रकट होने पर भी व्यावहारिक निर्णय हैं। इस प्रसंग में जी. ई. मूर का अभिमत सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उसने अपनी सुविख्यात पुस्तक "प्रिन्सिपिया एथिका" में कहा था कि एक विज्ञान होने के नाते नीतिशास्त्र का लक्ष्य (नैतिक) व्यवहार न होकर नैतिकता के बारे में शुद्ध सैद्धान्तिक ज्ञान है। उसने यह तर्क नहीं माना कि यह ज्ञान उन नैतिक निर्णयों का सैद्धान्तिक ज्ञान है जिनकी अन्तर्वस्तु व्यावहारिकता से सम्बद्ध है। मूर ने तो साफ-साफ यह कहा कि (अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से भी) नैतिक निर्णय किसी विशिष्ट नैतिक विषय के बारे में ज्ञान हैं। अर्थात् यह जानना अथवा निर्णय देना कि 'क उचित है' केवल यह जानना है कि वस्तुस्थिति अमुक प्रकार की है, न कि यह जानना कि हमें क्या करना चाहिए।

नॉवेल-स्मिथ के मतानुसार अन्त:प्रज्ञावादियों का व्यवहार और ज्ञान में इस प्रकार कठोर भेद करना व्यावहारिक ज्ञान जैसे ज्ञान की सम्भावना पर ही कुठाराघात करता है। अपनी इस मिथ्या मान्यता के वशीभूत होकर ही कतिपय अन्त:प्रज्ञावादी यह कहने तक का दुस्साहस करते हैं कि सम्पूर्ण परम्परागत नीति-दर्शन एक वैचारिक भ्रान्ति पर टिका हुआ था।

किन्तु नॉवेल-स्मिथ अन्त:प्रज्ञावादियों के इस व्यापक आरोप को चुनौती देकर यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि किन कारणों से अन्त:प्रज्ञावादी इस भ्रामक मत को सही मानने लग गए।

इस प्रसंग में वह सर्वप्रथम सी. डी. ब्रोड के मत की समीक्षा करता है। ब्रोड के मतानुसार नीतिशास्त्र को नैतिक वस्तुस्थितियों का सैद्धान्तिक विवेचन माना जा सकता है। ब्रोड के दृष्टिकोण से नीति-मीमांसक का कार्य बहुत कुछ वैज्ञानिक के कार्य के सदृश है। जिस प्रकार भूगर्भशास्त्री चट्टानों का और खगोलशास्त्री नक्षत्रों का अध्ययन करता है उसी प्रकार नीतिशास्त्री विशिष्ट नैतिक विषयों का अन्य वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त अध्ययन-विधि के अनुसार ही अध्ययन करता है।

किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि ब्रोड भी नीतिशास्त्र का प्राकृतिक विज्ञानों से पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता। ब्रोड जैसे अन्त:प्रज्ञावादी नीतिशास्त्र एवं प्राकृतिक विज्ञानों की विषयवस्तुओं एवं अध्ययन-विधियों में एक विशेष प्रकार से भेद स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु अपने सम्पूर्ण बुद्धिकौशल के उपरान्त भी वे इस भेद को अक्षुण्ण बनाये रखने में असमर्थ रहते हैं। वह इसलिए कि उन्होंने अपने चिन्तन के आरम्भ से ही विज्ञान और नीतिशास्त्र में एक मिथ्या साम्य अथवा उपमा का आश्रय लिया था। इस भ्रान्त उपमा के अनालोचित अथवा अविवेकपूर्ण उपयोग के कारण ही वह भेद, जिसे अन्त:प्रज्ञावादियों ने नीतिविज्ञान और प्राकृतिक विज्ञानों के बीच स्थापित करने का प्रयत्न किया था, स्पष्टतर न होकर क्रमश: क्षीण होता चला गया है।

नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि अन्त:प्रज्ञावादी दार्शनिक समस्या के मूल में इसलिए नहीं पहुँच पाते क्योंकि वे नैतिक एवं आनुभविक विज्ञानों के विमर्श के वास्तविक भेद को गलत तरीके से सामने रखते हैं। नॉवेल-स्मिथ की पुन: टिप्पणी है कि अन्त:प्रज्ञावादियों का सही और वास्तविक मत तो यह होना चाहिए था कि नैतिक विमर्श वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक नहीं होता। किन्तु अपनी अज्ञानतावश वे यह दिखला बैठते हैं कि मानों नैतिक विमर्श भी, प्राकृतिक विज्ञानों के विमर्श के समान, वर्णनात्मक ही है।

यह बात तब और भी स्पष्ट होती है जब हम ब्रोड से यह पूछते हैं कि वे विशिष्ट विषय क्या हैं जिनका नीतिशास्त्र में 'सैद्धान्तिक अध्ययन' किया जाता है, और क्या इन विषयों का नीतिशास्त्र के अध्येता से ठीक वही सम्बन्ध संभव है जो वनस्पतिशास्त्र के अध्येता का वनस्पतियों से है ? यदि ब्रोड वास्तव में इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देता है तो हम उससे आग्रह कर सकते हैं कि कृपया उन विशिष्ट नैतिक विषयों का कोई उदाहरण तो दीजिए। यदि अन्त:प्रज्ञावादी सुख-दु:ख आदि की अनुभूतियों और रागद्वेष आदि के मनोभावों की ओर इंगित करें तो ऐसा करने से काम नहीं चलेगा। कारण यह कि ये विषय नीतिशास्त्र के विशिष्ट विवेच्य विषय कदापि नहीं हैं। उनका वर्णन और विश्लेषण मनोविज्ञान अथवा समाजशास्त्र का कार्य हो सकता है, नीतिशास्त्र का नहीं। मज़े की बात यह है कि स्वयं अन्त:प्रज्ञावादी ही यह मानने में सबसे आगे हैं कि समस्त नैतिक प्रत्यय सर्वथा मौलिक हैं एवं उनका मनोविज्ञान अथवा किसी अन्य प्राकृतिक विज्ञान के प्रत्ययों में विघटन नहीं किया जा सकता। फिर भी वे दुराग्रह के कारण कहते हैं कि नीतिशास्त्र का अपनी विशिष्ट विषयवस्तु से वही समबन्ध है जो अन्य प्राकृतिक विज्ञानों का अपनी-अपनी विषयवस्तुओं से है।

नीतिशास्त्र की तथाकथित विशिष्ट विषयवस्तु को अन्त:प्रज्ञावादियों ने जिस प्रकार निरूपित किया है, वह निरूपण स्वयंमेव अयुक्तिपूर्ण है। उदाहरणार्थ, ब्रोड ने यह दिखलाया है कि नीतिशास्त्र द्वारा अध्येय नैतिक विषय निम्न तीन प्रकार के हैं, यथा -

(1) नैतिक निर्णय

(2) नैतिक संवेग

(3) नैतिक संकल्प

ब्रोड के अनुसार इन तीन विशिष्ट नैतिक प्रत्ययों में केवल नैतिक निर्णय ही सर्वथा आधारभूत और मौलिक है। इसप्रकार अब यह देखना उचित होगा कि एक वस्तुस्थिति (या विषय) के रूप में नैतिक निर्णयों का स्वरूप क्या है ? ब्रोड के मतानुसार नैतिक निर्णय यह अभिमत है कि कोई भी चीज़ अच्छी या बुरी है। अभिमत रुचि से भिन्न होती हैं। रुचि विषयिनिष्ठ होते हैं। किन्तु अभिमत विषयनिष्ठ और परिणामत: सत्यासत्य होते हैं। अत: नैतिक निर्णयों के लिए 'अभिमत' शब्द का प्रयोग करके ब्रोड यह दिखलाना चाहता है कि वे वस्तुगत एवं तथ्यात्मक होते हैं।

नॉवेल-स्मिथ ब्रोड के इस सिद्धान्त पर बड़ी ही प्रसंगोचित टिप्पणी करता है। उसके अनुसार यदि वास्तव में नीतिशास्त्री के अध्ययन की विषयवस्तु नैतिक निर्णय अथवा अभिमत हैं तो वे प्राकृतिक वैज्ञानिकों के समान, इन मतों का सैद्धान्तिक रूप से अध्ययन कैसे कर सकता है ? इन मतों के निर्माण अथवा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का सैद्धान्तिक अध्ययन तो हो सकता है; किन्तु ऐसा अध्ययन मनोविज्ञान का विषय होगा, न कि नीतिशास्त्र का स्वयं ब्रोड भी यह मानने को बाध्य हैं कि नीतिशास्त्री इन निर्णयों का अध्ययन उनके वर्णन या विश्लेषण के लिए न करके उनका सत्यासत्य निर्धारित करने के लिए करते हैं। यदि ऐसा है तो एक अन्य रोचक तथ्य उपस्थित होता है। जितने भी वैज्ञानिक कथन हैं वे सब किसी न किसी भौतिक वस्तु के ऐसे दृश्य एवं आवर्ती व्यवहार के बारे में होते हैं, जिनका प्रत्येक अध्येता, यदि वह चाहे तो, स्वतंत्र निरीक्षण भी कर सकता है। विज्ञान के अध्येता का लक्ष्य प्राकृतिक घटनाओं के बारे में किसी अन्य वैज्ञानिक की राय जानना नहीं है, बल्कि उन सब वस्तुओं के वास्तविक व्यवहार को जानना है जिनके बारे में अन्य वैज्ञानिक शोधकर्त्ताओं ने अपनी राय दी है। यदि रसायन विज्ञान का अध्येता डाल्टन या किसी अन्य रसायन वैज्ञानिक के मत को जानने का इच्छुक होता है तो केवल इसलिए कि ये मत उन रासायनिक घटनाओं के स्वरूप को समझने में सुविधाजनक हैं जिनका वह स्वयं भी अध्ययन करना चाहता है।

नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि इस स्थल पर आकर ब्रोड का मत पूर्णत: अस्त-व्यस्त हो जाता है। ब्रोड कभी तो यह कहता है कि नैतिक निर्णय ही नीतिशास्त्र की विषयवस्तु हैं - जैसे नक्षत्र खगोलविज्ञान की विषयवस्तु है। किन्तु जब उसे नक्षत्र और नैतिक निर्णयों के स्वरूप में भेद का ध्यान दिलाया जाता है तो वह अपना पैंतरा बदल कर यह दिखलाने का असफल उपक्रम करता है कि नीतिशास्त्र की विशिष्ट विषय-वस्तु नैतिक मत या निर्णय न होकर, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित जैसे कुछ अत्यधिक सरल और अविश्लेष्य नैतिक प्रत्यय हैं जिनके संदर्भ में ही नैतिक मत अभिव्यक्त किये जाते हैं।

ब्रोड की इस पैंतरेबाजी का रहस्योद्घाटन करके नॉवेल-स्मिथ रॉस, मूर तथा प्रिचर्ड जैसे अन्य विख्यात अन्त: प्रज्ञावादियों की भी खबर लेता है। उसकी आलोचना का उद्देश्य उन बमेल तत्त्वों की खिचड़ी को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करना है जो सभी अन्त:प्रज्ञावादियों के सिद्धान्तों में मिलते हैं। उदाहरण के लिए रॉस भी वैसी ही तार्किक विसंगति में फँस जाता है जैसी हमने अभी ब्रोड के चिन्तन में देखी थी। रॉस सर्वप्रथम तो यह दिखलाता है कि नीतिशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञान दोनों में प्रत्येक शोधकर्त्ता को अपने अध्ययन का आरम्भ अपने विषयों से सम्बद्ध मामलों में अन्य मान्य विचारकों के मतों को जानकर करना पड़ता है। किन्तु ब्रोड की तरह रॉस को भी शीघ्र यह पता चल जाता है कि प्राकृतिक विज्ञानों और नीतिशास्त्र में अपने-अपने विषयों के अध्ययन की प्रक्रिया ठीक एक-जैसी नहीं है। ब्रोड की यह मान्यता तो ठीक है कि प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रत्येक अध्येता को यह स्वतंत्रता है कि वह जब और जहाँ चाहे किसी अन्य मान्य विचारक के स्वीकृत सिद्धांत को त्यागकर स्वयं सीधे-सीधे उन वस्तुओं के व्यवहार का अध्ययन आरम्भ करे जिनके बारे में वे सिद्धान्त थे। किन्तु ऐसा सिर्फ

इसलिए सम्भव है क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में वे घटनाएं, जिनका अध्ययन किया जाता है, प्रत्येक अध्येता को उसके स्वतंत्र निरीक्षण के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं। इसलिए यह बात ठीक है कि विज्ञान के क्षेत्र में आप्तवचन का कोई मूल्य नहीं है तथा कोई भी मत, चाहे वह विशेषज्ञ द्वारा दिया गया हो या नवअध्येता द्वारा, तब ही मान्य होगा जब वह कुछ तथ्यों के अनुरूप हो।

रॉस को भी प्रथमत: तो यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों के अध्येता की सीधी पहुँच आनुभविक प्रदत्तों तक होती है उस तरह की पहुँच नीतिशास्त्र के किसी भी अध्येता की नहीं होती। अर्थात् यदि भौतिक गुणों के समान नैतिक गुणों की सत्ता मान भी ली जाय तो भी हम उस कथित नैतिक गुण का अपरोक्ष निरीक्षण उसी उपाय से नहीं कर सकते जिससे हम भौतिक गुण का करते हैं किन्तु यदि नैतिक सत्य हमारे लिए अपरोक्ष रूप से ग्राह्य नहीं है तो फिर यह मानना होगा कि नैतिक मतों के सत्यासत्य के निर्धारण की तार्किक प्रक्रिया वैज्ञानिक धारणाओं के सत्यासत्य निर्धारण की तार्किक प्रक्रिया से अपने आप ही भिन्न हो जायगी। रॉस को भी दोनों प्रकार के अध्ययनों में इस महत्त्वपूर्ण भेद को तो स्वीकार करना ही पड़ता है। किन्तु यदि उपर्युक्त विवेचन ठीक है तो पुन: यह जटिल प्रश्न उठता है कि क्या नीतिशास्त्र के क्षेत्र में प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र के सदृश ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका साक्ष्य देकर हम किसी नैतिक मत की सत्यता के दावे की जाँच कर सकें ? अन्त: प्रज्ञावादियों के सामने यह प्रश्न एक खुली चुनौती है। किन्तु दुर्भाग्यवश इस स्पष्ट प्रश्न के लिए रॉस जैसे विचारकों का उत्तर भ्रामक और अस्पष्ट है। रॉस का सुझाव है कि हमें सतर्क चिन्तन से अपनी नैतिक चेतना में पूर्वोपलब्ध नैतिक प्रत्ययों के बोध को अधिक सुनिश्चित, स्पष्ट और सामञ्जस्यपूर्ण बनाने का यत्न करना चाहिए। किन्तु इस प्रस्तावित अध्ययन-विधि से यह स्पष्ट नहीं होता कि यदि हमारे नैतिक निर्णयों में कहीं कोई भ्रान्ति है तो उसे हम कैसे पकड़ कर दूर करेंगे। ब्रोड के समान रॉस भी केवल पैंतरेबाजी प्रदर्शित करता है। नैतिक निर्णयों के सत्यापन हेतु कभी वह संसक्तता सिद्धान्त (कोहरेंस थ्योरी) और कभी अनुरूपता सिद्धान्त (कॉरेस्पॉण्डेन्स थ्योरी) का समर्थक बन जाता है। किन्तु किसी भी उपाय से वह यह नहीं दिखला पाता कि जब नैतिक गुण स्वतन्त्र प्रदत्त के रूप में अपरोक्षत: ग्राह्य नहीं हैं, तो फिर हम नैतिक निर्णयों के सत्यासत्य का निश्चित निर्धारण किस प्रकार कर सकते हैं ?

फिर भी रॉस अपने इस आग्रह को नहीं छोड़ता कि प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त तर्क-पद्धति के आधार पर नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी नैतिक निर्णयों के सत्यासत्य का निर्धारण किया जा सकता है। नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि किसी ऐसी नैतिक सत्ता को, जिसका ज्ञान अपरोक्ष रूप से हो सकता हो, तभी माना जा सकता है जब अन्त: प्रज्ञावादी अनजाने में ही अपनी जिज्ञासा के केन्द्र-बिन्दु से विचलित हो जाय। उदाहरण के लिए रॉस ने पहले तो नैतिक निर्णयों, संवेगों, संकल्पों आदि को ही मौलिक नैतिक विषयों के रूप में ग्रहण करने की बात की थी। किन्तु स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय उन घटनाओं से (यदि वे हों तो) सर्वथा भिन्न होने चाहियें जिनके बारे में वे नैतिक निर्णय हैं। अपने असमंजस को मिटाने के लिए रॉस कहता है कि मूल नैतिक विषय नैतिक निर्णय न होकर वह 'कुछ' है जिसके बारे में यह नैतिक निर्णय दिया गया है। और वह 'कुछ' ऐसा विशिष्ट गुण है जो नैतिक निर्णयों में 'शुभ' अथवा 'उचित' पदों का वाच्य होकर किन्हीं वस्तुओं का विधेय बनता है। लेकिन तब अन्त:प्रज्ञावादी एक बार फिर नैतिक और आनुभविक विषयों के बीच महत्त्वपूर्ण भेद को भुला देते हैं। और इस अज्ञान के वशीभूत होकर वे फिर ऐसी बातें करते हैं मानो नीति भी आनुभविक विज्ञानों की भाँति एक ऐसा सैद्धान्तिक अध्ययन ही है जिसका कार्य किसी विशिष्ट वस्तु के गुण का वर्णन और वर्गीकरण है। किन्तु

वे भूल जाते हैं कि नीति के क्षेत्र में कोई स्वतन्त्र रूप से अवगम्य प्रदत्त नहीं है। यहाँ पर जो 'प्रदत्त' है वह कोई नैतिक तथ्य या गुण नहीं होकर स्वयं नैतिक निर्णय या मत है। और इसलिए हम नीति में मतों के पीछे शुभ या उचित के उस विशिष्ट गुण तक अपरोक्ष रूप से पहुँचने की बात नहीं कर सकते, क्योंकि इन पदों द्वारा ऐसा कुछ भी इंगित नहीं होता जिसका स्वतन्त्र रूप से निरीक्षण सम्भव हो।

फिर भी न जाने क्यों अन्त:प्रज्ञावादी नैतिक निर्णयों का सत्यासत्य निर्धारित करने के लिए नैतिक गुण-यथा-शुभ-के प्रत्यक्ष बोध की झूठी दुहाई देते हैं। नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि यदि उस गुण या वस्तु का जिसे शुभ की संज्ञा दी जाती है, प्रत्यक्ष बोध सम्भव भी हो तो भी यह स्पष्ट है कि यह बोध आनुभविक विज्ञानों के प्रदत्तों के प्रत्यक्ष बोध से बहुत ही भिन्न और विलक्षण प्रकार का होगा तथा उसकी सम्भावना पर प्रश्नचिह्न लगा रहेगा। अन्त में नॉवेल-स्मिथ रॉस की भ्रान्ति-मूलक धारणाओं का उल्लेख करता है। वे हैं -

(1) 'उचित' एवं 'कर्त्तव्य' जैसे नैतिक शब्द किन्हीं विशेषताओं (गुणों) की ओर संकेत करते हैं या उन्हें सूचित करते हैं।

(2) किसी भी नैतिक प्रत्यय के अर्थ को हम तभी स्पष्ट कर सकते हैं जब हम उसके द्वारा संकेतिक गुण का नैतिक चेतना के केन्द्र-बिन्दु पर लाकर निकट से निरीक्षण करें।

(3) यदि हम इस प्रकार निकट से उस गुण या विशेषता का अन्त: प्रज्ञा द्वारा निरीक्षण करेंगे तो हम स्वत: ही जान लेंगे कि किसी नैतिक पद तथा उसके द्वारा वाच्य (संकेतित) गुण में संगति है अथवा नहीं।

(4) नैतिक निर्णयों के सत्यासत्य का बोध करना, और कुछ नहीं केवल यह जान लेना भर है कि अमुक वस्तु में जिस नैतिक गुण की उपस्थिति का हमने कथन किया है वह उसमें है कि नहीं। यह जानकारी भी एक विशिष्ट प्रकार की अन्त:प्रज्ञा से प्राप्त होती है।

सारांश यह कि रॉस की मूल भ्रान्ति यह मान लेना है कि विज्ञान की भाँति नीति में भी किसी निर्णय या मत के सत्य होने की कसौटी वस्तुओं में पाये जाने वाले वास्तविक गुणों या सम्बन्धों का निश्चित, अपरोक्ष ज्ञान है। किन्तु यह मत इस बात से खण्डित हो जाता है कि नीति के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रदत्तों की सत्ता को किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता।

मूर और प्रिचर्ड के मतों की आलोचना भी बहुत कुछ उन्हीं युक्तियों पर आश्रित है जिनका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। इसलिए यहाँ उसकी चर्चा अनावश्यक है।

सारांश यह कि अन्त:प्रज्ञावादी यह दिखलाने में सर्वथा असफल रहे हैं कि यदि नीतिशास्त्र एक सैद्धान्तिक अध्ययन है तो उसकी विषय-वस्तु वास्तव में क्या है। और हम उस कथित विषयवस्तु का, 'सैद्धान्तिक' के मान्य अर्थ में, किस प्रकार सैद्धान्तिक अध्ययन कर सकते हैं।

तीसरे अध्याय में नॉवेल-स्मिथ अन्त: प्रज्ञावादियों के इस असिद्ध दावे को, कि नीतिशास्त्र एक सैद्धान्तिक विज्ञान है, एक बार फिर नये दृष्टिकोण से अपनी चर्चा का विषय बनाता है। वह थोड़ी देर के लिए यह स्वीकार कर लेता है कि नीतिशास्त्र एक सैद्धान्तिक अध्ययन है। लेकिन फिर नॉवेल-स्मिथ जिज्ञासा करता है कि क्या जिस दोष से मुक्त करने के लिए अन्त:प्रज्ञावादियों ने नीतिशास्त्र को सैद्धान्तिक विज्ञान का रूप देना चाहा था वह दोष फिर एक अन्य रूप में स्वयं अन्त:प्रज्ञावादियों के सिद्धान्त में प्रकट नहीं हो जाता। नॉवेल-स्मिथ की मान्यता है कि जो युक्तियाँ अन्त:प्रज्ञावादियों ने प्रकृतिवादियों के विरुद्ध दी हैं वे ही युक्तियाँ स्वयं अन्त:प्रज्ञावादियों के विरुद्ध भी दी जा सकती हैं। चिन्तन की इस असावधानी के कारण नैतिक विमर्श के बारे में जिस सत्य को अन्त: प्रज्ञावादी स्थापित करना चाहते हैं वह हमारे समक्ष अत्यन्त विकृत और अग्राह्य रूप में प्रस्तुत होता है।

नॉवेल-स्मिथ के अनुसार, अन्त:प्रज्ञावादियों के सिद्धान्त की शक्ति का स्रोत उनकी यह प्रस्तावना है कि नीति का क्षेत्र सर्वथा स्वायत्त है एवं नैतिक विमर्श का तादात्म्य किसी अन्य प्रकार के विमर्श से स्थापित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, शुभ एक मौलिक और अपरिभाष्य प्रत्यय है। 'शुभ' को किन्हीं 'शुभेतर' प्रत्ययों के द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस खोज का श्रेय ह्यूम को मिलना चाहिए। उसी ने सर्वप्रथम स्पष्टत: यह दिखलाया था कि 'है' और होना चाहिए' के बीच एक अलंघ्य खाई है। ह्यूम का तर्क है कि हम इस कथन से कि "सब लोग क्या चाहते हैं" यह निगमित नहीं कर सकते कि "क्या होना चाहिए।" उदाहरण के लिए हम बेन्थम के सुखवाद में निहित तार्किक भ्रान्ति को लें। हम पायेंगे कि तर्कत: यह फलित नहीं होता कि जो सब व्यक्तियों द्वारा वांछित है वह नैतिक दृष्टि से वांछनीय भी है।

प्रिचर्ड जैसे अन्त:प्रज्ञावादी ह्यूम के ही उपर्युक्त मत को इस रूप में दोहराते हैं कि एक तथ्यात्मक कथन से एक आदेशात्मक कथन प्राप्त करने के लिए हमें एक जोड़ने वाली कड़ी की आवश्यकता है। और हमें यह कड़ी उपलब्ध नहीं है।

यहाँ नॉवेल स्मिथ की टिप्पणी है कि अन्त: प्रज्ञावादियों द्वारा नैतिक प्रकृतिवादियों की आलोचना तो सही है किन्तु क्या स्वयं अन्त:प्रज्ञावादी 'है' तथा 'होना चाहिए' के बीच जोड़ने वाली कड़ी को देने में समर्थ हैं ?

हम पाते हैं कि अन्त:प्रज्ञावादी ऐसी वाक्-चातुरी से काम लेते हैं कि प्रथमत: किसी अध्येता को ऐसा नहीं लगता कि अन्त:प्रज्ञावाद में भी 'है' तथा 'होना चाहिए' के बीच कोई अन्तराय तथा इनको लाँघने के लिए किसी सेतु की भी आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, अन्त:प्रज्ञावादी यह घोषित करते हैं कि नैतिक चिन्तन में कर्त्तव्यसूचक वाक्यों को किन्हीं अन्य वाक्यों से निगमित करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि सभी आदेशात्मक वाक्यों का हमें सद्य: और अपरोक्ष बोध होता है।

इस पर नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि समस्या से बच निकलने का यह मार्ग नकली है। कारण यह है कि जब तक नीतिशास्त्र को सैद्धान्तिक विज्ञान माना जायगा और उसके कथनों को वर्णनात्मक कथन समझा जायगा, तब तक अन्त:प्रज्ञावादियों के लिए भी वही अलंघ्य खाई बनी रहेगी जो नैतिक प्रकृतिवादियों के लिए है। अन्त:प्रज्ञावादियों के लिए "क कर्त्तव्य है" भी "पृथ्वी गोल है" की तरह एक वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक कथन है। दोनों कथनों में किसी गुण को किसी वस्तु का विधेय बनाया गया है। अर्थात् दोनों ही वाक्यों में वस्तुस्थिति की सूचना मात्र है। अब मार्के की बात यह है कि प्रकृतिवादियों के विरुद्ध अन्त:प्रज्ञावादी कहते हैं कि हम इस वर्णनात्मक वाक्य से - "प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है" इस आदेशात्मक नीतिवाक्य को प्राप्त नहीं कर सकते "सुख ही सबके लिए वांछनीय है।" यदि उनकी यह युक्ति सही है तो उसी के आधार पर उन्हें यह भी मानना होगा कि इस अन्त:प्रज्ञामूलक वाक्य - "क कर्त्तव्य है" से मैं तर्कत: यह फलित नहीं कर सकता कि "क कोई ऐसा कार्य है जो मुझे करना भी चाहिए।"

यह तार्किक अव्यवस्था स्वत: इस स्वीकारोक्ति से उभरती है कि नीतिशास्त्र एक सैद्धान्तिक अध्ययन है। इस अपरिहार्य विडम्बना के उपरान्त भी अन्त:प्रज्ञावादी इस कोशिश में लगे रहते हैं कि किसी न किसी प्रकार घुमा-फिराकर, वे शुभ या कर्त्तव्य का कथित गुण उपस्थित होने के ज्ञान से यह भी जान लें कि उस वस्तु की प्राप्ति हमारा ऐसा कर्त्तव्य है जो हमें करना भी चाहिये। अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अन्त:प्रज्ञावादी निम्न दो युक्तियाँ देते हैं - (1) नैतिक कार्यदायित्व रूप (ऑब्लीगेटरी) होता है, तथा (2) वह अधिकाधिक संभाव्य शुभ को उत्पन्न करने में इसलिए सक्षम होता है क्योंकि

उसमें कई औचित्य विधायक लक्षण भी मिलते हैं, जो जाने जा सकते हैं। अत: किसी भी ऐसे कार्य को करने से, जिसमें कम से कम एक शुभोत्पादक लक्षण मिलता हो, शुभ परिणाम ही प्राप्त होगा। लेकिन यह युक्ति शब्दजाल मात्र है। अन्त: प्रज्ञावादी हमें समझाते हैं कि हमारे सम्मुख सब समय कुछ वैकल्पिक कार्य-योजनाएं होती हैं जिनमें से प्रत्येक में शुभता के कुछ न कुछ लक्षण मिलते हैं। इन विकल्पों में से केवल वही कार्य योजना हमारा एकल दायित्व बनने योग्य है जिसमें हम सर्वाधिक शुभोत्पादक लक्षणों की उपस्थिति का अनुभव करें। इस मत के पीछे यह मान्यता निहित है कि हम अन्त: प्रज्ञा की तराजू पर प्रत्येक शुभोत्पादक लक्षण के नैतिक बल को तौल सकते हैं और इस प्रकार सर्वाधिक बलशाली विकल्प को निर्धारित कर सकते हैं। जैसे ही हमारी अन्त: प्रज्ञा सर्वाधिक बलशाली विकल्प को निर्धारित करती है वैसे ही उसके प्रति हमारे अन्दर नैतिक संवेग का प्रादुर्भाव होता है, और वह कार्य दायित्व की भावना का रूप ग्रहण कर लेता है।

ऊपरी दृष्टि से अन्त:प्रज्ञावादियों द्वारा वर्णित यह प्रक्रिया बड़ी सरल और आकर्षक लगती है। किन्तु इसमें गम्भीर गुत्थियाँ हैं। नॉवेल-स्मिथ थोड़ी देर के लिए यह मान लेता है कि चलो सारी प्रक्रियाएँ मुझमें ठीक वैसे ही सम्पादित हुईं जैसे अन्त:प्रज्ञावादी बतलाते हैं। किन्तु फिर भी इससे यह तर्कत: कहाँ फलित हुआ कि जिस कार्य को मैंने अपने कर्त्तव्य के रूप में जाना है वह मुझे करना भी चाहिए।

सारांश यह कि 'है' और 'होना चाहिए' के बीच की खाई पर अन्त:प्रज्ञावादियों ने केवल पर्दा डाला है-उसे मिटाया नहीं है।

अब नॉवेल-स्मिथ लोक-संज्ञान की दृष्टि से हमारे सामने यह मत प्रस्तुत करता है कि यह प्रश्न, कि "जिस कार्य को मैं उचित समझता हूँ वह मुझे क्यों करना चाहिए ?" एक बड़ा ही वाहियात प्रश्न है। नॉवेल-स्मिथ भी मानता है कि यह प्रश्न वाहियात है। किन्तु हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि ऐसा प्रश्न क्यों और कब वाहियात बन जाता है।

नॉवेल-स्मिथ का सीधा और सरल उत्तर है कि साधारण तौर पर कर्त्तव्य के ज्ञान और कर्त्तव्य के संपादन में कहीं कोई व्यवधान है ही नहीं। किन्तु यह व्यवधान तब नहीं जब 'कर्त्तव्य' पद को एक व्यवहार या क्रियावाचक पद माना जाय, सैद्धान्तिक ज्ञान-विषयक नहीं। किन्तु अन्त:प्रज्ञावादी 'कर्त्तव्य' पद की अन्तर्वस्तु को भी ज्ञानात्मक ही मानते हैं, जैसाकि मूर ने दिखाया था, और तभी हमें यह पूछना है कि जिसे मैंने कर्त्तव्य के रूप में जाना है उसके बारे में मैं यह और बात कैसे जानूंगा कि वह ऐसा कुछ है जो मुझे करना भी है।

अब अन्त:प्रज्ञावादियों के सामने समस्या से बचने का एक ही विकल्प शेष रहता है। वे कह सकते हैं, और कहते हैं, कि हमें गैर-प्राकृतिक (नान-नैचुरल) लक्षणों के ज्ञान-सम्बन्धी चर्चा को आवश्यकता से अधिक तूल नहीं देना चाहिए। अर्थात् अन्त:प्रज्ञावादियों द्वारा गैर-प्राकृतिक गुणों की सत्ता की बात बस बात ही है। उनका यह कहना कि 'क' में कर्त्तव्य जैसा कोई गैर-प्राकृतिक लक्षण है, सचमुच किसी गैर-प्राकृतिक लक्षण की सत्ता का निर्देश करना नहीं है। यह तो बस एक कहने का ढंग है। इससे हमें कुछ घुमा-फिरा कर इसी पूर्वज्ञात बात को सुविधाजनक ढंग से कहने का उपाय प्राप्त हो जाता है कि क वह है जो मुझे करना चाहिए।

जब लाचार होकर अन्त:प्रज्ञावादी इस प्रकार अपना पैंतरा बदलते हैं तो 'है' और 'होना चाहिए' के बीच की खाई एकबार पटी-सी तो मालूम पड़ती है लेकिन इसे पाटने के लिए अन्त:प्रज्ञावादी यह मानने को भी बाध्य होते हैं कि दायित्व, पूर्णता आदि के गैर-प्राकृतिक लक्षण, जिनकी सत्ता की वे बार-बार दुहाई देते थे, उनकी एक कपोल कल्पना मात्र हैं।

अगर ऐसा है तो हम अन्त:प्रज्ञावादियों से यह पूछ सकते हैं कि उनके मूल प्रतिपाद्य का परिणाम क्या हुआ ?

अन्त:प्रज्ञवादी कदाचित् कहेंगे कि उन्होंने अब तक विषयनिष्ठ गैर-प्राकृतिक गुणों की जो चर्चा छेड़ी थी वह व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के निमित्त नहीं थी, प्रत्युत वे जो कुछ हमें देने का उपक्रम कर रहे थे उसका अभीष्ट नैतिक वाक्यों का पहले से अधिक स्पष्ट (नई तार्किक पदावली में) अनुवाद करना था, ताकि उन वाक्यों का यथार्थ आशय सब पर प्रकट हो जाय।

किन्तु जिस चक्र से औरों को निकालने का प्रयत्न अन्त:प्रज्ञावादी कर रहे थे उसी में वे औरों से भी अधिक बुरी तरह फँस गए हैं। और कुल मिलाकर उनकी स्थिति प्राकृतिकतावादियों से भी अधिक दयनीय और हास्यास्पद हो गई है। इस प्रसंग में नॉवेल-स्मिथ की अन्तिम टिप्पणी है कि यदि किसी प्रकार अन्त:प्रज्ञावादियों का नैतिक गुणों की विषयनिष्ठता का सिद्धान्त सत्य भी हो तो भी उससे 'शुभ' और 'उचित' जैसे शब्दों के (हमारी नैतिक पदावली में) सही प्रयोग की समस्या फिर भी शेष रह जाती है।

स्वयं अन्त:प्रज्ञावादी भी कार्यों के शुभाशुभ, औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी विवादों को संतोषजनक रूप में निपटाने में असमर्थ रहे हैं। वस्तुत: नैतिक विवादों को दूर कर पाने में अन्त:प्रज्ञावाद की असमर्थता हमें उनके प्रतिपक्षियों की असमर्थता से भी अधिक खल जाती है।

प्रश्न है कि क्या आधारभूत नैतिक विवादों को निपटाने में अन्त:प्रज्ञावाद आत्मनिष्ठतावाद की तुलना में अधिक सफल है ? नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि ऐसा नहीं है। आत्मनिष्ठतावाद के अनुसार नैतिक विवादों के दो मुख्य स्त्रोत हैं,-

(1) विवादियों के बीच किसी परिस्थिति के किसी गैर-नैतिक पक्ष के बारे में मतभेद होना। उदाहरणार्थ, राम और श्याम में इस नैतिक सिद्धान्त को लेकर सहमति हो सकती है कि अंधे भिखारियों को दान देना चाहिए किन्तु किसी भिखारी को लेकर उनमें असहमति हो सकती है कि क्या वह वास्तव में अंधा है।

(2) विवाद का एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि राम और श्याम किसी सामान्य नैतिक नियम 'क' के बारे में तो सहमत हों। इस बारे में सहमत नहीं हो कि 'ख' एक ऐसा उपनियम है जो विशेष अवस्थाओं में 'क' से ही फलित होता है।

इन दोनों प्रकार के विवादों में हमने यह मान लिया है कि विवादियों के बीच समान रूप से स्वीकृत एक नैतिक सिद्धान्त है। आत्मनिष्ठतावादी एक तीसरे प्रकार के विवाद को भी सम्भव मानते हैं। वह तब उत्पन्न होता है जब राम और श्याम के बीच किसी सामान्य नैतिक सिद्धान्त को लेकर असहमति हो। यदि ऐसी असहमति होती है तो आत्मनिष्ठतावादी यह साफ़-साफ़ स्वीकार कर लेते हैं कि इसका निवारण तर्क से नहीं किया जा सकता है।

अन्त:प्रज्ञावादियों को इस बात का बहुत अभिमान रहा है कि उनका सिद्धान्त हमें नीति-चिन्तन में नैतिक विषयों का विषयनिष्ठ ज्ञान दे सकता है। और यहाँ मूल विवादों को भी निपटाने के लिए डंडे के ज़ोर को आजमाने की आवश्यकता नहीं होती।

किन्तु नॉवेल-स्मिथ अन्त:प्रज्ञावादियों के इस दर्प को चूर्ण कर देता है। वह कहता है कि यहाँ भी समस्या वैसी ही जटिल और गम्भीर है। यदि राम और श्याम दोनों ही अन्त:प्रज्ञावादी हों तो भी उनमें किसी मौलिक नैतिक सिद्धान्त को लेकर आधारभूत मतभेद हो सकते हैं। राम कह सकता है अमुक तथ्य नैतिक तथ्य है और श्याम उतना ही ज़ोर देकर कह सकता है कि वह नैतिक तथ्य नहीं है। जब दोनों अपने पक्ष के समर्थन में अपनी अन्त:प्रज्ञा की दुहाई देंगे तो फिर समाधान का मार्ग क्या होगा ?

नॉवेल-स्मिथ का कथन है कि नैतिक गुण की विषयनिष्ठता के सिद्धान्त के प्रसंग में हम पाते हैं कि (अपनी संरचना में सन्निहित एक विशिष्ट कठिनाई के कारण) वे सिद्धान्त नैतिक विवादों का समाधान करने में असमर्थ हैं। वह कठिनाई निम्न है-

अन्त:प्रज्ञा की वह प्रक्रिया जिससे हम किसी विशिष्ट नैतिक गुण को जानते हैं, तर्कत: या तो शोध्य (कारिजिबल) होगी अथवा अशोध्य (इन्कोरिज़िबल)। यदि वह शोध्य है तो इस बात का कोई आश्वासन नहीं है कि सभी ज्ञाता कोई एक ही सत् एवं वास्तविक नैतिक गुण को सदा एक ही प्रकार से जानते हैं। और यदि वह अशोध्य है तो नैतिक विवाद वास्तविक न होकर प्रातीतिक है। कारण यह कि विवादियों में से कोई एक या तो ईमानदारी नहीं बरत रहा है अथवा वह नैतिक दृष्टि से अंधा है।

जनसाधारण की यह मान्यता ठीक ही है कि जब दो व्यक्तियों में विवाद होता है तो उनमें पूरी ईमानदारी से किसी नैतिक सिद्धान्त की सत्यता को लेकर मतभेद उत्पन्न होना सम्भव है। लेकिन कथित विषयनिष्ठतावादी हमें यह मानने को बाध्य करते हैं कि जब भी कोई हमसे भिन्न मत रखता है तो वह या तो नैतिक दृष्टि से अंधा है या फिर जानबूझकर सत्य का गलाघोट रहा है।

नॉवेल-स्मिथ की यह टिप्पणी उचित ही है कि यह मानना, कि नैतिक विवादों में उलझे प्रतिपक्षी वास्तव में उन सिद्धान्तों को नहीं मानते जिनकी वे हमारे सामने दुहाई देते हैं, नैतिक विनाश को निमंत्रण देना है।

अब हम नीतिशास्त्र एवं आनुभविक विज्ञानों के बीच उस बहुचर्चित मिथ्या साम्यानुमान का विस्तृत विवेचन करेंगे जो अन्त:प्रज्ञावादियों की सुधार-योजना की आधारशिला है। हम पहले ही देख चुके हैं कि अन्त:प्रज्ञावादियों की विशिष्ट नैतिक चेतना द्वारा नैतिक गुणों के एक विशिष्ट जगत् के बोध की बात उनकी एक कपोल-कल्पना मात्र ही सिद्ध हुई है। यदि हम थोड़ी देर के लिए उनके विवरण को अक्षरश: स्वीकार भी कर लें तो भी हम पाएंगे कि नीतिशास्त्र देश और काल की परिधि के परे स्थित किसी मूल्यजगत् के कुछ विषयों का निरूपण बन जाता है, जिससे हानि यह होती है कि उस काल्पनिक जगत् के बारे में यदि हमें कुछ ज्ञान प्राप्त भी हो जाय तो भी हमें उनसे कतिपय व्यावहारिक आदेशों को प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त अन्त:प्रज्ञाओं की आवश्कता होगी। और यदि वे अतिरिक्त अन्त:प्रज्ञाएँ भी स्वयं ज्ञान ही हैं तो फिर अनवस्था प्रसंग आरम्भ हो जायगा। और यदि हम अन्त:प्रज्ञावादियों द्वारा प्रस्तुत विवरण को अक्षरश: सत्य न मानें तो फिर जो कुछ वे एक नूतन उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत करते हैं वह उस सर्वविदित साधारण तथ्य की ही, कि ''कुछ चाज़ें बुरी हैं और कुछ अच्छी'' एक अधिक गरिमामय भाषा में पुनरुक्ति मात्र होगा।

सच तो यह है कि अन्त:प्रज्ञावादी नैतिक विमर्श को एक विशिष्ट स्तर पर और एक विशिष्ट प्रयोजन हेतु ग्रहण करने के लिए हमें छल-पूर्वक आमन्त्रित करते हैं। वे यह कहना चाहते हैं कि नैतिक बोध कुछ न कुछ उसी प्रकार का बोध है जिसका अनुभव हमें अपनी आँख से सांसारिक विषयों को देखने पर होता है। किन्तु नैतिक ज्ञान को चक्षुरिन्द्रिय के ज्ञान के तुल्य समझना ठीक नहीं है। यह सादृश्य दो कारणों से संतोषप्रद नहीं हो सकता, (1) इससे नैतिक विवादों के समाधान की समस्या हल नहीं होती, और दूसरे (2) यह सादृश्य ऊपरी दृष्टि से आकर्षक दीखने पर भी एक गलत सिद्धान्त पर टिका हुआ है।

यह विचारणीय है कि नैतिक ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान में साम्य दिखलाने का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न हुआ। उत्तर है कि नैतिक विमर्श में भी हम आनुभविक विमर्श के समान वस्तुपरक या विषयपरक भाषा (ऑब्जेक्ट लेंग्वेज) का प्रयोग करते हैं। यद्यपि हमें यह मानकर चलना होगा कि नैतिक निर्णय मात्र रुचि-सूचक कथन नहीं है तो भी हम विवेचनोपरान्त देखेंगे कि उन्हें आनुभविक विमर्शपरक कथनों के

समतुल्य भी नहीं माना जा सकता। अन्त:प्रज्ञावादियों द्वारा दी गई उपमा से केवल इतना लाभ है कि वह हमें स्मरण कराती है कि आनुभविक विज्ञान के कथनों के समान नैतिक कथन भी सत्यासत्य होते हैं और हमें उनकी इस विशेषता का पर्याप्त आधार ढूँढ़ना चाहिए। किन्तु अन्त:प्रज्ञावादी स्वयं उस आधार को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं।

नॉवेल-स्मिथ का आग्रह है कि हमें सतही समानताओं से प्रभावित न होकर नैतिक ज्ञान का गम्भीर विश्लेषण करना चाहिए। हमें विशेषकर यह देखना है कि क्या नैतिक विमर्श में भी सारे वे ही लक्षण मिलते हैं जो आनुभविक विमर्श में मिलते हैं तथा जिनकी वजह से ही आनुभविक विमर्श में विषयपरक अथवा वस्तुपरक भाषा का प्रयोग उचित होता है। अन्त:प्रज्ञावादियों का यह मत कि 'आनुभविक विमर्श के समान नैतिक ज्ञान भी किन्हीं अपरोक्षत: प्रदत्तों का तात्कालिक बोध है' तभी तक ठीक लगता है जब तक अलग-अलग बोधकर्त्ताओं के नैतिक निर्णयों में कोई टकराव नहीं आता। लेकिन जैसे ही उनके निर्णयों में संघर्ष उत्पन्न होता है, हम पाते हैं कि अन्त:प्रज्ञावादियों द्वारा दी गई उपमा सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जाती है।

यह एक दुर्भाग्य है कि अन्त:प्रज्ञावादियों ने प्रतिस्पर्धी दायित्वों या कर्त्तव्यों में टकराव की उत्पत्ति की समस्या का तलस्पर्शी विवेचन नहीं किया। इस बारे में रॉस के विचार उसके अपूर्ण और उद्भ्रान्त चिन्तन के ही परिचायक हैं। रॉस यह मानने को बाध्य होता है कि प्रत्यक्षत: दायित्वमूलक कार्यों के ज्ञान में टकराव तो है। वह इसलिए कि कोई भी बोधकर्त्ता किसी भी कार्य के अन्दर उपस्थित दायित्व की ठीक मात्रा का निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। यह ज्ञान शोध्य प्रकार के व्यक्तिगत निर्णयों पर निर्भर है। रॉस को तार्किक दृष्टि से मानना पड़ता है कि किसी कार्य के नैतिक बल के बारे में सभी ज्ञाताओं का ज्ञान सही नहीं हो सकता और यह निर्धारित करना प्राय: असंभव होता है कि उनमें से किसका मत समीचीन है।

ब्रोड के अनुसार हम केवल यह कर सकते हैं कि कर्त्तव्य के अन्तिम निर्धारण से पूर्व हम प्रत्येक दावे के आपेक्षिक बल को तौलें। यह तौलना बहुत कुछ उसी प्रकार का होता है जैसा कि बक्सों को बारी-बारी हाथ से उठाकर यह निश्चित करना कि अमुक बक्सा सबसे भारी है।

नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि यह उपमा बिल्कुल भ्रान्त है। जिस प्रकार हम यह तय कर सकते हैं कि विभिन्न बक्सों में कौनसा सर्वाधिक भारी है उसी प्रकार हम यह तय नहीं कर सकते कि विभिन्न कर्त्तव्यों में जिसका दावा सर्वाधिक सबल है।

यहाँ पर एक और विचित्र बात हमारे सम्मुख आती है और वह यह कि अन्त:प्रज्ञावादी नैतिक ज्ञान की विषयनिष्ठता की बात करते हैं। किन्तु बक्से का भार निर्धारित करने वाली उपमा यदि लागू भी होती हो, तो उससे नैतिक ज्ञान की विषयिनिष्ठता ही सिद्ध होगी, न कि विषयनिष्ठता।

नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि रूप, रस, गंध आदि आनुभविक गुणों के संदर्भ में ही 'बोध' अथवा 'निरीक्षण' जैसे शब्दों का सर्वाधिक उचित उपयोग होता है। आनुभविक गुणों की यह विशेषता है कि उनका प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही विधियों से ज्ञान हो सकता है।

पुन:, आनुभविक विमर्श में ही ज्ञेय विषयों के प्रति विषयपरक अथवा वस्तुपरक भाषा का प्रयोग युक्ति-सम्मत है, क्यों कि ज्ञान के इस क्षेत्र में ही वे परिस्थितियाँ मिलती हैं जिनके अधीन उक्त प्रकार की भाषा का प्रयोग संभव हो सकता है।

ऐन्द्रिक गुणों के क्षेत्र में हम पाते हैं कि एक ओर तो हमें उनके वर्णन में उनके ऐन्द्रिय निरीक्षण पर निर्भर रहना होता है और दूसरी ओर हमारा अनुभव ही हमें यह भी बतलाता है कि कई बार हमारी

इन्द्रियाँ किन्हीं वस्तुगत गुणों का बोध करते समय हमें धोखा भी दे जाती हैं। उदाहरण के लिए, सफेद काजज़ का एक टुकड़ा साधारण रोशनी में सफेद और लाल रोशनी में लाल दीखता है। और हम सहर्ष यह मान लेते हैं कि यद्यपि विशेष परिस्थितियों में वह कागज़ हमें लाल दिखाई दिया था किन्तु वह वास्तव में लाल नहीं है।

आनुभविक विमर्श के क्षेत्र में हम प्राय: किन्हीं वस्तुओं के (हमारे द्वारा) अनुभूत अथवा दृष्ट गुण तथा उनके वास्तविक गुण में अन्तर करते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि हम इस तरह के भेद की अभिव्यक्ति आनुभविक विमर्श के क्षेत्र में दोहरी-भाषा के प्रयोग द्वारा करते हैं। ऐसा प्रयोग आनुभविक विमर्श के क्षेत्र में बहुत सहज और सामान्य है। इस दोहरी भाषा में यह भेद वास्तव में है तथा 'प्रतीत होता है' जैसे पदों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

आनुभविक विमर्श में इस दोहरी भाषा के प्रयोग को संभव बनाने के लिए दो आवश्यक शर्तें उपलब्ध हैं, यथा-(1) यह निर्धारित करने के लिए कि अमुक वस्तु में वास्तव में अमुक गुण है अथवा नहीं, हम उस गुण की उपस्थिति के विनिश्चय के लिए आवश्यक विधि और प्रतिमानों को निर्दिष्ट कर सकते हैं। यह विधि उन गुणों के विनिश्चय के लिए होती है- जो प्रत्यक्ष रूप से निरीक्ष्य हो सकते हैं। (2) किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में हम वस्तुओं के जिन गुणों के निरीक्षण में रुचि रखते हैं उनका प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण प्राय: संभव नहीं होता। उसके लिए निरीक्षण की एक अपेक्षाकृत परोक्ष विधि आवश्यक होती है। उदाहरण के लिए ऐसे दो बक्से लें जिन्हें दो व्यक्ति हाथ में उठाकर यह तय करना चाहते हैं कि कौनसा बक्सा भारी है। यदि उनमें मतभेद होता है तो उसे दूर करने का उपाय है कि बक्सों को तौलने की मशीन पर रख कर सुई की स्थिति का निरीक्षण कर लें। यहाँ हम पाते हैं कि दृष्टिसंवेद ने भार-संवेद से सम्बद्ध गुण की वास्तव मात्रा के मापन में मानक या प्रतिमान का कार्य किया।

इन्हीं दो शर्तों के उपलब्ध होने से हमें आनुभविक विमर्श के क्षेत्र में दोहरी भाषा के प्रयोग की छूट मिल जाती है। इस प्रकार के विमर्श में ज्ञाता ही इस बात का अन्तिम और श्रेष्ठ निर्णायक होता है कि कौनसी चीज़ उसे कैसी लग रही है। लेकिन उपर्युक्त दो प्राविधिक उपायों के उपलब्ध होने के कारण अलग-अलग ज्ञाता इस बात के अन्तिम और श्रेष्ठ निर्णायक नहीं हैं कि वस्तु में किस गुण की कितनी वास्तविक मात्रा है। यह हो सकता है कि वस्तु में कोई गुण उतना ही और वैसा ही हो जैसा कि किसी ज्ञाता को लग रहा है, परन्तु वह अन्यथा भी हो सकता है। इस दोहरी भाषा का लाभ यह है कि एक ओर तो ज्ञाता को जो कुछ उसे लग रहा है वह झुठलाना नहीं पड़ता, दूसरी ओर, वह आत्मविसंगति के बिना भी यह मानने को तत्पर रहता है कि हो सकता है कि अन्यान्य परीक्षणों से यह सिद्ध हो कि कोई वस्तु वास्तव में वैसी नहीं है जैसी उसे लग रही है। अत: यह सिद्ध हुआ कि यह दोहरी भाषा अपेक्षाकृत अशोध्य है। यदि हम दावे से यह नहीं कहना चाहते कि अमुक वस्तु में अमुक गुण वास्तव में है तो भी हम निर्द्वन्द्व होकर यह कह सकते हैं कि हमें तो वह वस्तु अमुक प्रकार की लगती है।

साथ ही, किसी परीक्षा विशेष को किसी वास्तविक गुण की उपस्थिति या अनुपस्थिति, एवं उसकी विभिन्न मात्राओं के निर्धारक के रूप में उपयोग करने से पहले हमें एक आवश्यक शर्त पूरी करनी होगी। वह यह कि जिस भी परीक्षा को हम निर्णायक परीक्षा मानें उसे सभी निरीक्षकों द्वारा पर्याप्त व्यापक पूर्व-स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए एवं उसके प्रयोग का क्षेत्र भी पर्याप्त विस्तृत होना चाहिए। हम अपनी अँगुलियों से वस्तुओं के ताप का निर्धारण करते हैं और थर्मामीटर से भी। अब सभी लोग यह मानते हैं कि अँगुलियों के बजाय थर्मामीटर से वस्तुओं के ताप का जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह अधिक वास्तव है और थर्मामीटर से हम अँगुलियों की तुलना में कहीं अधिक प्रकार की वस्तुओं के ताप का माप

कर सकते हैं। यह एक अनुभवसिद्ध तथ्य है कि "भार" और "ताप" आदि भौतिक वस्तुओं के ऐसे गुण हैं जिनके सही-सही निर्धारण के लिए हमारे पास सर्वसम्मत परीक्षा-पद्धतियाँ हैं। इन परीक्षाओं के प्रयोग से हमें भार एवं ताप आदि के प्रमापन के अधिक सही, अधिक स्थायी तथा अधिक मान्य या स्वीकृत परिणाम प्राप्त होते हैं। यदि थर्मामीटर द्वारा अंकित तापमान भी उतना ही अस्थिर होता जितना अँगुलियों से अनुभूत तापमान होता है तो हम थर्मामीटर को उष्णता के यथार्थ प्रमापक के रूप में तर्कत: प्रयुक्त नहीं कर सकते थे। बात यहीं समाप्त नहीं होती। सच तो यह है कि विज्ञान उन्हीं गुणों को वस्तुओं के यथार्थ गुण मानने को तैयार होता है जिनके प्रमापन के लिए सर्वसम्मत वैज्ञानिक उपकरण और विधियाँ उपलब्ध हों। यदि ऐसा सम्भव नहीं है तो फिर वह कथित गुण वस्तुओं का वास्तविक गुण न होकर ज्ञाताओं की दशा का सूचक मात्र होगा। भार को वस्तुओं का वास्तविक गुण इसलिए माना जाता है (तथा भार के संदर्भ में दोहरी भाषा के प्रयोग को इसी लिए अनुमति मिलती है) क्योंकि हम पूर्व-निर्दिष्ट उपाय द्वारा वस्तुओं के वास्तविक भार और उनके महसूस किये गए भार में भेद कर सकते हैं।

यहाँ एक बात और स्मरणीय है, वह यह कि सामान्य सहमति अपने में ही वस्तुओं के यथार्थ गुण की जाँच नहीं है अपितु वह विषयारूढ़ भाषा के प्रयोग की उपयुक्तता के लिए एक आवश्यक शर्त है। विज्ञान और लोक-संज्ञान दोनों ही सिद्धान्तत: इस बात को सम्भव मानते हैं कि किसी भी वास्तविक गुण के बारे में लगभग सभी लोग थोड़े समय तक गलती पर हों। परन्तु साथ ही हमें यह आश्वासन भी है कि वैज्ञानिक विधि के निष्ठापूर्ण प्रयोग से कभी न कभी वह गलती हमारी पकड़ में आ जायगी।

यह बिन्दु नैतिक विमर्श में उपस्थित मतभेद के प्रसंग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है एवं उसका सम्बन्ध नैतिक विमर्श के आत्मपरक अथवा वस्तुपरक होने के विवाद से भी है।

आत्मपरकतावादी तो निस्संकोच यह स्वीकार कर लेते हैं कि नैतिक मतभेदों की उपस्थिति से यह सूचित होता है कि नैतिक गुण वस्तुपरक नहीं हैं। किन्तु अन्त:प्रज्ञावादी यह दिखलाना चाहते हैं कि आनुभविक विमर्श के समान नैतिक विमर्श में भी मतभेदों की उपस्थिति से नैतिक गुण की वस्तुपरकता नष्ट नहीं होती। अन्त:प्रज्ञावादी यह तो मानते हैं कि नैतिक विमर्श के क्षेत्र में मतभेदों को दूर करना अपेक्षाकृत कठिन है, लेकिन अपने बचाव में वे यह युक्ति देते हैं कि नैतिक अन्त:प्रज्ञा अभी तक पूर्ण विकसित शक्ति नहीं है और इसलिए इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान में भी हमें ऊँचे स्तर की साधारण सहमति प्राप्त नहीं होती।

नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि अन्त:प्रज्ञावादियों की उपर्युक्त सिफारिश अपना निशाना बिल्कुल चूक जाती है। यदि नैतिक विमर्श में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, बुनियादी और दुर्निवार मतभेद हैं तो इससे हमारा तार्किक निष्कर्ष होना चाहिए कि आनुभविक विमर्श के समान नैतिक विमर्श के कथनों में 'सत्य' और 'असत्य' वाली वस्तुपरक भाषा ज्यों की त्यों लागू नहीं की जा सकती।

अन्त:प्रज्ञावादी चाहे जितना प्रयत्न करें, वे सफलतापूर्वक यह नहीं दिखला सकते कि नैतिक विमर्श में भी आनुभविक विमर्श के समान दोहरी भाषा का प्रयोग करके "प्रतीत होता है" तथा "वास्तव में है" प्रकार के भेद लागू किया जा सकता है। नैतिक विमर्श में वस्तुओं के यथार्थ गुणों का निरीक्षण करने की अपरोक्ष एवं परोक्ष दोनों ही विधियाँ प्राप्त नहीं हैं। अन्त:प्रज्ञावादी कभी तो अपरोक्ष विधि को अपनाने का प्रयत्न करते हैं और कभी परोक्ष विधि को। किन्तु दोनों ही प्रयत्न निष्फल सिद्ध होते हैं। अन्त:प्रज्ञावादी कभी-कभी नैतिक गुणों की तुलना (ऊपर बतलाये गए) प्राकृतिक गुणों के दूसरे प्रकार से, अर्थात् ऐसे वैज्ञानिक गुणों से जिनकी जाँच प्रत्यक्ष विधि से होती है, करना चाहता है। हम

अपने उदाहरणों में देख चुके हैं कि प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग करते समय हमें वस्तु के 'आभासिक गुण' तथा वस्तु के 'वास्तविक गुण' की जाँच अलग-अलग ज्ञानेन्द्रियों से करनी होती है। उदाहरण के लिए, पानी में डूबी आधी छड़ी का टूटापन तो चक्षुरिन्द्रिय से आभासित होता है किन्तु उसका सीधापन स्पर्शेन्द्रिय से ज्ञात होता है। स्पष्ट ही आभासिक एवं वास्तविक नैतिक गुणों की जाँच उपर्युक्त वैज्ञानिक विधि से तो हो नहीं सकती। जब केवल एक नैतिक इन्द्रिय की भी सत्ता संदिग्ध है तो ऐसा मानना नितान्त हास्यास्पद होगा कि आभासिक नैतिक गुण का बोध तो 'क' नैतिक इन्द्रिय से होता है और वास्तविक नैतिक गुण का बोध 'ख' नैतिक इन्द्रिय से होता है। इसलिए यदि नैतिक गुण की प्राकृतिक गुण से तुलना करनी ही हो तो हम ऐसा केवल पहले प्रकार के गुण से ही कर सकते हैं, जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष विधि से होता है। किन्तु अन्त:प्रज्ञावादियों के लिए यह दूसरा विकल्प भी सुलभ नहीं है। नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि यह जानने में कि "अमुक वस्तु में कौनसा नैतिक गुण है" तथा यह जानने में कि "अमुक वस्तु का क्या रंग है" एक मौलिक भेद है। प्रथम कोटि के प्राकृतिक गुण के ज्ञान के सन्दर्भ में केवल निरीक्षक ही इस बात का श्रेष्ठ निर्णायक है कि कोई भी वस्तु उसे कैसी लगती है। किन्तु स्वयं निरीक्षक ही इस बात को भी जानता और मानता है कि वह इस बात का श्रेष्ठ निर्णायक नहीं है कि वह वस्तु वास्तव में कैसी है। दोहरी भाषा के इस प्राविधिक उपाय का लाभ यह है कि प्रत्येक ज्ञाता यह स्वीकार कर सकता है कि वह किसी वस्तु में किसी गुण के महसूस करने में लगातार गलती कर सकता है। उदाहरणार्थ, वर्णांध व्यक्ति एक ओर तो यह दावे से कह सकता है कि उसे प्रत्येक वस्तु सफेद या भूरी लगती है, दूसरी ओर वह यह भी मान लेता है कि वस्तुओं में ऐसे वर्ण हो सकते हैं जिनका ज्ञान उसे सम्भव नहीं है और इसलिए उसका अपना बोध वस्तुओं के यथार्थ रंग का वर्णन नहीं है। सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि प्राकृतिक गुणों के सन्दर्भ में अकुशल प्रयोगकर्त्ताओं एवं वर्णांध व्यक्तियों की उपस्थिति के कारण हम दोहरी भाषा के प्रयोग से वंचित नहीं होते। लेकिन यदि प्रत्येक वर्णांध व्यक्ति भी धृष्टता-पूर्वक यह दावा करने लगे कि वह न केवल "क्या मालूम होता है ?" इसका अपितु "वास्तव में क्या हैं ?" इसका भी श्रेष्ठ निर्णायक है तो फिर "है" तथा 'लगता है' का भेद वहाँ भी निरर्थक हो जायगा। वास्तविक प्राकृतिक गुण तो वही है जिसके बारे में सामान्य मत से विपरीत धारणा रखने वाले भी यह मान लें कि सामान्य सहमति ही उसका उचित मानक है।

अब हम पाते हैं कि अन्त: प्रज्ञावादी नैतिक गुणों के बोध के बारे में दो परस्पर विरोधी वक्तव्य देते हैं। एक ओर तो वे कहते हैं कि हमें (तात्कालिक अन्त:प्रज्ञा से) न केवल नैतिक गुण की किसी चीज में उपस्थिति का बल्कि उसकी मात्रा का भी बोध होता है, और दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि जहाँ तक विभिन्न दायित्वपरक कार्यों के आपेक्षिक नैतिक बल को जाँचने का प्रश्न है, वहाँ श्रेष्ठ ज्ञाता भी पूरी ईमानदारी से परस्पर विरोधी निर्णय दे सकते हैं।

किन्तु यदि हम दूसरे वक्तव्य को मानें तो उस उपमा का, जिस पर अन्त: प्रज्ञावाद टिका हुआ है, आधार दो कारणों से नष्ट हो जाता है। पहली बात यह है कि यदि हम प्रतिस्पर्धी दायित्वों के आपेक्षिक बल की जाँच के लिए प्रत्येक व्यक्ति के निजी नैतिक बोध को ही पर्याप्त मानते हैं तो यह जानना असंभव है कि जिन व्यक्तियों में मतभेद हैं वे वास्तव में बराबर के श्रेष्ठ व्यक्ति हैं। इसका कारण यह है कि आनुभविक विज्ञान में तो हम सामान्य निरीक्षक के स्वरूप को बिना चक्रक दोष में पड़े व्याख्यायित कर सकते हैं, किन्तु नैतिक विज्ञान के क्षेत्र में हम उसी प्रकार "श्रेष्ठ निर्णायक" की व्याख्या नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त, यदि हम इस दलदल में से किसी तरह निकलकर नैतिक विशेषज्ञों की एक सर्वमान्य सूची तैयार कर भी लें तो उनके बीच जो मतभेद शेष रहेगा वह उस मतभेद से बहुत भिन्न

होगा जो वैज्ञानिक विशेषज्ञों में कभी-कभी मिलता है। कारण यह है कि वैज्ञानिक विशेषज्ञों में मतभेद तथ्यों के स्वरूप के बारे में न होकर उसके व्याख्यात्मक सिद्धान्तों के बारे में होता है। लेकिन नैतिक विशेषज्ञों में जो मतभेद होगा वह प्राकृतिक विज्ञान में ज्ञेय तथ्यों विषयक निरीक्षण-सूचनाओं में भिन्नताओं से तुल्य होगा। दूसरे शब्दों में, यह मतभेद कुछ इस प्रकार का होगा कि जैसे एक रोगी को देखने वाले दो चिकित्सक यह झगड़ा करें कि थर्मामीटर मरीज़ का तापमान 98^0 F दिखला रहा या 102^0 F? अत: यदि नैतिक विशेषज्ञों में दायित्व-परक कार्यों के नैतिक बल की मात्रा को लेकर लगातार मतभेद रहता है तो फिर नैतिक बल को वास्तविक गुण मानना व्यर्थ है।

अब हमने समस्या की घुण्डी पकड़ ली है। जब भी किसी नैतिक मामले को लेकर मतभेद होता है तो हमें यह पता नहीं रहता कि कौनसी ऐसी पूर्वनिर्दिष्ट सर्वसम्मत परीक्षा है जिसके द्वारा हम वास्तविक नैतिक गुण एवं आभासिक नैतिक गुण का पृथक्करण कर सकें। इस स्वतन्त्र परीक्षा के अभाव के हम दोहरी भाषा का प्रयोग करने के लिए तार्किक दृष्टि से वंचित हो जाते हैं। सारांश यह है कि अन्त: प्रज्ञावादी नैतिक निर्णय के संपादन हेतु दो अलग-अलग सहायक विधियों को जोड़ने का निष्फल प्रयत्न करते हैं, ये हैं - (1) विषयनिष्ठता और (2) अपेक्षाकृत अशोध्यता।

किन्तु हम भली-भाँति देख चुके हैं कि यदि नैतिक निर्णयों को अपेक्षाकृत अशोध्य मान लिया जाय तो आत्मपरकता-वस्तुपरकता का भेद अपने-आप निराधार हो जाता है। हमें मानना होगा कि अन्त:प्रज्ञावादी विधि-सम्बन्धी असंगति के कुचक्र में फँसे हैं। एक तरफ तो वे आगे बढ़कर नैतिक विमर्श में भी 'लगता है' तथा 'वास्तव में है' की दोहरी भाषा का प्रयोग करना चाहते हैं, लेकिन दूसरी ओर जिस तरह की परीक्षा का उपयोग वे यह निर्धारित करने के लिए करना चाहते हैं कि क्या कोई चीज 'वास्तव में उचित है', उससे केवल इतना भर ज्ञात होता है कि (नैतिक दृष्टि से) कोई चीज किसी निरीक्षक को कैसी 'लगती है,' न कि 'वास्तव में कैसी है ?'

इस प्रकार चौथे अध्याय के अन्त तक नॉवेल-स्मिथ का मुख्य कार्य परम्परावादी नीति एवं अन्त: प्रज्ञावाद दोनों की ही कुछ ऐसी भ्रान्त धारणाओं का उद्घाटन करना रहा है जिनकी वजह से नैतिक चिन्तन एक कठिन गत्यवरोध की स्थिति में आ गया है। परम्परागत नीति का गन्तव्य तो निश्चित था, परन्तु उसे अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए उचित मार्ग नहीं मिल पा रहा था। और अन्त: प्रज्ञावादी विचारक नीति को न केवल उसके गन्तव्य तक ले जाने में असमर्थ हैं बल्कि वे यह तक नहीं तय कर पाते कि वह गन्तव्य क्या है ?

नॉवेल-स्मिथ एक बड़ा सामयिक प्रश्न पूछता है और वह यह कि दो हजार वर्षों की इस निरन्तर असफलता का कारण क्या है ? उसका सुझाव है कि इस गत्यवरोध का सम्भावित कारण उभय-प्रतिपक्षियों (विशेषकर अन्त:प्रज्ञावादियों) द्वारा (नैतिक विमर्श के स्वरूप को समझ न पाने से) अनुपयुक्त और निष्फल तर्क-पद्धति का निरन्तर प्रयोग है। इस विफलता से बचने का केवल यह उपाय है कि हम नैतिक विमर्श में प्रयुक्त तर्क-पद्धति में मौलिक संशोधन करने के लिए तत्पर हों।

नैतिक विमर्श में प्रयुक्त तर्क-पद्धति दो ऐसी पूर्वमान्यताओं को लेकर चलती है जो सर्वथा संदिग्ध हैं। वे हैं -

(1) विशेषण-शब्द गुणों के नाम हैं। चिन्तन में उनकी तार्किक भूमिका केवल किसी चीज़ की ओर इंगित करने अथवा उसके प्रतिनिधि (रिप्रेजेंटेटिव) होने की है।

(2) सभी विशेषण-शब्दों का एक सामान्य निश्चित और स्थिर वाच्य (रेफरेंट) होता है और उन शब्दों के कभी भी कोई निजी वैयक्तिक एवं परिवर्तनीय अर्थ नहीं होते।

तर्कशास्त्री प्राय: बिना आलोचना के यह स्वीकार कर लेते हैं कि सभी विशेषणों की तार्किक भूमिका एक-समान है, यथा-किसी न किसी गुण की ओर संकेत करना अथवा उसका प्रतिनिधित्व करना। किन्तु इस पक्ष में जो भी दृष्टान्त दिये जाते हैं वे सब के सब आनुभविक विमर्श अथवा गणित के क्षेत्र से ही लिये जाते हैं। किन्तु उन सुविधानुसार चुने हुए दृष्टान्तों से यह फलित नहीं होता कि आनुभविक विमर्श के लिए उपयुक्त तर्क-पद्धति ठीक उसी रूप में व्यावहारिक विमर्श के लिए भी उपयुक्त होगी।

अब हम उपर्युक्त दोनों पूर्वमान्यताओं का विवेचन करेंगे। नॉवेल-स्मिथ पूछता है कि क्या यह सच है कि समस्त विशेषण शब्द कतिपय गुणों के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं ? अगर हम इसका सकारात्मक उत्तर देंगे तो फिर हम यह भी सोचने को बाध्य होंगे कि 'शुभता' भी एक गुण है; क्योंकि 'शुभ' शब्द भी 'लाल' या 'गोल' शब्दों की भाँति एक विशेषण-शब्द है। और तब हम इस मान्यता से प्रतिबद्ध हो जायेंगे कि 'शुभ' शब्द का तार्किक व्यवहार ठीक वैसा ही होगा जैसा 'लाल' या 'गोल' शब्दों का है।

किन्तु मज़े की बात यह है कि केवल निरीक्षण के आधार पर ही हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि 'शुभ' शब्द से 'शुभता' संज्ञक कोई यथार्थ गुण इंगित होता है। हम किसी चीज़ पर अँगुली रखकर यह दावा नहीं कर सकते कि यहाँ शुभता का गुण उपस्थित है। यदि हमें यह दिखलाना ही पड़े कि शुभता एक गुण है तो हमें अपेक्षाकृत परोक्ष विधि को अपनाना होगा। हमें 'शुभ' जैसे विशेषण-शब्दों की 'लाल' और 'गोल' जैसे अन्य विशेषण-शब्दों से (जो स्पष्टत: आनुभविक गुणों को इंगित करते हैं) समानता और भिन्नता दिखलानी पड़ेगी और इसमें अनेक अप्रत्याशित कठिनाइयाँ हमारे समक्ष आएंगी।

हम मूर का ही उदाहरण लें। उसे भी यह भ्रान्ति थी कि 'शुभ' पद-वाच्य गुण 'पीला' पद-वाच्य गुण के समान ही सरल और अविश्लेष्य है। शुभता और पीलेपन में केवल यह अन्तर है कि पीलापन एक प्राकृतिक इन्द्रिगम्य गुण है तथा शुभता एक अप्राकृतिक अतीन्द्रिय गुण है।

कुछ आधुनिक विचारक शुभ को अप्राकृतिक गुण कहने के स्थान पर जीरूंडिव* गुण मानते हैं। किन्तु नॉवेल-स्मिथ का प्रश्न है कि शुभ को अप्राकृतिक अथवा जीरूंडिव गुण कहने से क्या लाभ है ? यदि हमें 'शुभ' और 'पीत' शब्दों में भेद करना ही है तो दोनों को गुण मान लेने से उस भेद को स्थापित करने की संभावना ही समाप्त हो जायगी। कारण यह कि फिर तो 'शुभ' शब्द का तार्किक दृष्टि से ठीक वही स्वभाव होगा जो अन्यान्य गुण-वाचक शब्दों का है। इसके अतिरिक्त, यदि हम थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि शुभता का कोई वास्तविक गुण है तो भी यह मानना समीचीन न होगा कि 'शुभ' शब्द का तार्किक व्यवहार शुभता के कथित गुण की ओर संकेत करना भर है। सच तो यह है कि यह विचार ही भ्रामक है कि यदि 'शुभ' शब्द अर्थवान् है तो उसे अनिवार्यत: किसी न किसी चीज़ की ओर इंगित करना चाहिए अथवा किसी गुण का प्रतिनिधित्व करना चाहिए।

इस स्थल पर आकर नॉवेल-स्मिथ भाषा में प्रयुक्त शब्दों के तार्किक व्यवहार का समुचित विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है। वह क्रमश: (1) अर्थ एवं अभिधान, तथा (2) अर्थ और प्रसंग के बीच सम्बन्ध की समीक्षा करता है।

---

* *'जीरूंडिव' शब्द का हिन्दी में अनुवाद कठिन है। लैटिन भाषा में उस प्रकार के विशेषण को, जो आवश्यकता अथवा उपयुक्तता का वाचक हो जीरूंडिव विशेषण मानते हैं। उदाहरण के लिए, सम्मानीय, अनुकरणीय आदि जीरूंडिव शब्द हैं।*

अर्थ और अभिधान (मीनिंग एण्ड नेमिंग)

उदाहरणों द्वारा नॉवेल-स्मिथ अपने इस मत को पुष्ट करता है कि हमारी भाषा में प्रयुक्त अर्थवान् प्रतीक हमेशा किसी अन्य वस्तु की ओर इंगित नहीं करता। उदाहरण के तौर पर पाश्चात्य संगीत में प्रयुक्त-संकेत-लिपि को लें। हम पाते हैं कि सी-मेजर संकेत अर्थवान् है किन्तु संसार में ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिस पर अँगुली रखकर यह कहा जा सके कि यही सी-मेजर का सांगीतिक गुण है। इसके अतिरिक्त, एक अर्थवान् शब्द का अर्थ उस चीज़ से भिन्न हो सकता है जिसकी ओर वह इंगित करता है, यदि वह किसी चीज़ की ओर इंगित करता है तो।

तब फिर 'अर्थ' का अर्थ क्या है ? नॉवेल-स्मिथ के अनुसार, अर्थ के अनेकानेक अर्थों के घटाटोप में एक अर्थ यह भी है कि हम यह दिखलाएँ कि किसी भी भाषा का कोई भी शब्द किस उद्देश्य के लिए किस रूप में काम में लाया जाता है। परन्तु यहीं एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा हो जाती है, जिसका उद्गम मनोवैज्ञानिक है। यह समझाने के लिए कि एक शब्द का प्रयोग किस हेतु होता है हम प्राय: इस सहज प्रलोभन में फँस जाते हैं कि हम बस उस वस्तु की ओर संकेत भर कर दें जिसके लिए वह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि वस्तुत: अधिकांश प्रसंगों में अनेक शब्दों का प्रमुख कार्य किसी वस्तु की ओर संकेत करना ही होता है अत: यह मान लेना स्वाभाविक है कि न केवल अधिकांश अपितु प्रत्येक शब्द का अर्थ-निर्धारण करने के लिए हम पूछने वाले को यह बताएँ कि कोई शब्द किस वस्तु की ओर संकेत कर रहा है।

'पीला' अथवा 'कुर्सी' जैसे शब्दों के अर्थों को निरूपित करने का एक अच्छा उपाय पीत वस्तुओं अथवा कुर्सियों की ओर संकेत कर देना है। किन्तु अर्थ-निर्धारण की इस सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया से तर्कत: यह फलित नहीं होता कि जिस वस्तु की ओर संकेत किया जा रहा है उस शब्द का अर्थ केवल वह वस्तु है, और कुछ नहीं।

नॉवेल-स्मिथ की उपर्युक्त टिप्पणी के मर्म को भली-भाँति समझने के लिए हम व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के उपयोग का दृष्टान्त लें। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के संदर्भ में हम पाते हैं कि ऐसे किसी शब्द का अर्थ उस शब्द द्वारा अभिहित (नामित) वस्तु नहीं होता। जवाहरलाल नेहरू जैसी व्यक्तिवाचक संज्ञा सदा किसी विशिष्ट व्यक्ति की ओर संकेत करती है। किन्तु स्पष्ट है कि जो व्यक्ति 'जवाहरलाल नेहरू' शब्द से संकेतित होता है वह उस शब्द का अर्थ नहीं है। हम व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अर्थ की बात करने में ही हिचकिचाते हैं। कारण यह है कि एक व्यक्तिवाचक संज्ञा का कार्य किसी व्यक्ति विशेष को नाम प्रदान करना है। उसका कार्य उसे अर्थ प्रदान करना नहीं है। इसके विपरीत 'पीले' और 'नीले' जैसे शब्दों का मुख्य कार्य अर्थ प्रदान करना है। वे शब्द उस 'कुछ' के नाम नहीं हैं जिसके अर्थ इन शब्दों से प्रकट होते हैं।

अर्थ और प्रसंग (मीनिंग एण्ड कांटेक्ट)

एक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करना प्राय: यह बतलाना होता है कि वह शब्द कैसे प्रयुक्त होता है। केवल अपवाद रूप दृष्टान्तों में ही हम किसी शब्द के प्रयोग तथा उसके द्वारा वाच्य वस्तु में अभेद करते हैं। मुख्य बात यह है कि भाषा का प्रत्येक शब्द किसी न किसी वस्तु-स्थिति (थिंग-सिचुएशन) को व्यक्त करने के काम में नहीं लाया जाता। शब्द के अर्थ ऐसी चिप्पियाँ नहीं हैं जिन्हें हम अलग-अलग व्यष्टि-वस्तुओं पर चिपकाते हों। किन्तु दार्शनिकों में यह दुर्भाग्यपूर्ण अचेतन प्रवृत्ति पायी जाती है कि वे 'अर्थ करने' का अर्थ शब्दों द्वारा संकेतित वस्तुस्थिति की ओर संकेत करना अथवा उन अलग-अलग व्यष्टियों को पकड़-पकड़ कर सामने रखना मानते हैं।

इस मिथ्या धारणा के अधीन ही कुछ दार्शनिकों ने यह मान लिया है कि किसी नैतिक शब्द के अर्थ को समझने की विधि भी यही है कि हम उस विशिष्ट स्थिति का निरीक्षण कर लें जिसके लिए वह शब्द प्रयुक्त हुआ है। और तब दार्शनिक एक अत्यन्त असंगत प्रश्न पूछते हैं, यथा- अमुक शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के पीछे यह भ्रान्त मान्यता है कि एक शब्द का सभी संदर्भों में एक ही अर्थ होता है।

किन्तु हमारे लिए यह प्रश्न पूछना अधिक समीचीन होगा कि अमुक व्यक्ति का अमुक संदर्भ में अमुक शब्द से क्या अर्थ था ?

केवल विशिष्ट विज्ञानों के 'नक्षत्र', 'ऊर्जा' जैसे पारिभाषिक शब्द तथा 'पेड़', 'कुर्सी' जैसे सामान्य वस्तुओं के नामसूचक शब्द ही ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ को उनके प्रयोग की सामान्य पृष्ठभूमि और संदर्भ से पृथक् करके निर्धारित कर सकते हैं। अन्यान्य शब्द (जिसमें नैतिक शब्द भी सम्मिलित हैं) विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न भाषिक कार्य कर सकते हैं और इन भाषिक कार्यों में वस्तुओं के अभिधान का कार्य प्रत्येक शब्द के लिए आवश्यक नहीं है।

तब हमारे सामने नया प्रश्न उत्पन्न होगा कि हम 'अर्थ' को शब्द के किन-किन भाषिक कार्यों से सम्बन्धित कर सकते हैं ? नॉवेल-स्मिथ के अनुसार, यदि हम इस हठधर्मिता को छोड़ दें कि समस्त विशेषण शब्द कतिपय गुणों का संकेत करने वाले नाम ही हो सकते हैं, तो हमारे लिए यह समझना आसान हो जायगा कि अलग-अलग प्रकार के विशेषण तार्किक दृष्टि से भिन्न-भिन्न भाषिक कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में हमें समझना होगा कि व्यावहारिक विमर्श में प्रयुक्त विशेषणों का विशिष्ट तार्किक कार्य क्या है, ताकि हम अन्य प्रसंगों में उनके तार्किक व्यवहार से भेद समझ सकें। नॉवेल-स्मिथ फिर यह दोहराता है कि भाषा के शब्द चीज़ों पर चिपकाने के निमित्त चिप्पियाँ नहीं हैं बल्कि ऐसे उपकरण हैं जिनसे हम विविध भाषिक कार्य सम्पन्न करते हैं। सारांश यह कि (भाषिक माध्यम से) चर्चा करना सदा वस्तुओं का नामकरण करना अथवा वस्तुस्थिति की सूचना देना मात्र नहीं है, अपितु, कई बार चर्चा का उद्देश्य इस कर्म या क्रिया से संबद्ध भी होता है।

विशेषण-शब्दों के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण

हमारे लिए यह जानना परमावश्यक है कि सभी विशेषण एक-जैसा ही भाषिक कार्य नहीं करते। यही नहीं अपितु एक ही विशेषण-शब्द विभिन्न सन्दर्भों में एक से अधिक भाषिक कार्य करता है। और ऐसे प्रत्येक भाषिक प्रयोग का तर्क भी अलग-अलग होता है। अब हम कुछ उदाहरणों को लेकर यह देखेंगे कि कैसे अलग-अलग विशेषण अलग-अलग भाषिक कार्य करते हैं। हम निम्न दो वाक्यों को लें -

(1) ''पर्वत की चोटी से दिखने वाला दृश्य अत्यन्त विशाल था''।

(2) पर्वत की चोटी से दिखने वाला दृश्य अत्यन्त भव्य था।

पहले दृष्टान्त में 'विशाल' विशेषण का भाषिक कार्य वर्णनात्मक है। इसके प्रयोग की उपयुक्तता का तर्क ऐसे आनुभविक तथ्यों पर निर्भर करता है जिन्हें भली-भाँति निर्धारित किया जा सकता है। हम दस फुट ऊँचे टीले पर चढ़कर सौ, दो सौ गज़ के दृश्य को देखकर यह नहीं कह सकते कि दृश्य विशाल था। किन्तु पाँच हजार फुट की पहाड़ी की चोटी पर चढ़कर हम ऐसा कह सकते हैं।

किन्तु दूसरे उदाहरण में प्रयुक्त 'भव्य' शब्द वर्णनात्मक नहीं है। वह तो किसी दृश्य को देखकर द्रष्टा के मन में उत्पन्न किसी भाव की अभिव्यक्ति है। अर्थात् भव्यता कोई ऐसा गुण नहीं है जो दृश्य की अन्तर्वस्तु के रूप में उसमें सन्निहित हो। हम किसी भी दृश्य का चाहे कैसा ही वर्णन क्यों न करें, उससे उस दृश्य को देखकर द्रष्टा के मन में भव्यता के विचार की उत्पत्ति किसी प्रकार का तार्किक फलन नहीं हो सकता। यह ठीक है कि व्यापक दृश्य के लिए भव्यता के विशेषण का प्रयोग

असंगत नहीं है, लेकिन दोनों के बीच यह वैचारिक संगति किसी प्रकार का तार्किक फलन नहीं मानी जायगी। एक दृश्य के लिए (उसके विशाल होने पर) 'भव्य' विशेषण का प्रयोग करने का औचित्य कुछ अन्य प्रकार का है। वह यह कि देखे गए दृश्य के लिए 'भव्य' विशेषण का प्रयोग करके द्रष्टा किसी ऐसे संवेग की अभिव्यक्ति को अर्थापतित कर रहा है जिसका दृश्य में उद्रेक देखे गए दृश्य के अनुकूल माना जा सकता है।

'भव्य' जैसे सब विशेषण किसी ऐसी संवेगात्मक मनोदशा को सूचित करते हैं जिसका प्रादुर्भाव किसी प्रसंग विशेष में प्राय: सभी मनुष्यों में अपेक्षित या अनुकूल माना जाय। ऐसे शब्दों को नॉवेल-स्मिथ 'प्र' शब्द (प्रतीति-शब्द) की संज्ञा देता है। 'प्र' शब्द केवल यह दिखलाते हैं कि किस वस्तु के संदर्भ में किसी विशेष संवेग को उत्पन्न करने की सम्भावना है। ऐसे 'प्र' शब्दों के प्रयोग का तर्क निश्चय ही 'व' (वर्णन) शब्दों के प्रयोग के तर्क से भिन्न होना चाहिए।

अपने इस मत को नॉवेल-स्मिथ आँग्ल भाषा में खरपतवार (वीड) शब्द के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न सन्दर्भों में प्रयोग से स्पष्ट करता है।

कट्टर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तो 'वीड' शब्द विशुद्ध वर्णनात्मक शब्द है। वनस्पति शास्त्र में डेंडेलिअन जैसे पौधे, जो अपने-आप खेतों में उग आते हैं, खेतों में बोए गए पौधों के समान, वनस्पति ही हैं। अत: वैज्ञानिकों के लिए वीड शब्द डेंडेलियन जैसी स्वयं उग आने वाली वनस्पतियों का वर्णन करने वाला शब्द है। किन्तु एक शौक़िया बाग़वान के लिए 'वीड' शब्द मुख्यत: वर्णनात्मक नहीं है अपितु वह (एक विशिष्ट परिस्थिति के सन्दर्भ में) उसके मन में उत्पन्न होने वाले एक विशिष्ट संवेग का सूचक है। उसके लिए वीड एक ऐसी अवांछित वस्तु है जिसे वह बाग़ में से हटा देना चाहता है। अर्थात् 'वीड' शब्द शौक़िया बाग़वानी के सन्दर्भ में बाग़वान की मनोदशा का सूचक शब्द है।

अन्त में, हम पेशेवर बाग़वान को लें जो अपने वेतन के लिए किसी दूसरे के बाग़ की देखभाल कर रहा है। यदि वह कहता है कि उसके बाग़ में आजकल वीड उग आये हैं तो ऐसा कहकर वह वीड के प्रति केवल अपने प्रतिकूल संवेगात्मक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त नहीं कर रहा है। वह अपने इस व्यावहारिक निश्चय को भी प्रकट कर रहा है कि वह खेत से उगी खरपतवार को उखाड़ फेंकेगा। अत: पेशेवर बाग़वान के लिए 'वीड' शब्द प्र शब्द की तुलना में जी (जीरंडव) शब्द अधिक होगा। इसी प्रकार हम पाते हैं कि 'सम्माननीय', 'प्रशंसनीय' आदि भी 'जी' शब्द हैं जो यह दिखलाते हैं कि किसी भी प्रसंग के अन्दर वक्ता कौनसा क्रियात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहेगा।

प्र, जी तथा व शब्दों के तार्किक व्यवहार में भिन्नता को दर्शाने के लिए निम्न कुछ दृष्टान्त पर्याप्त होंगे। निम्न दो कथनों में तो एक प्रकार की तार्किक असंगति मिलती है, यथा -

(1) मैं आजकल मज़े में खरपतवार उगा रहा हूँ।

(2) मैं एक भव्य दृश्य को देखकर बहुत ऊबता जा रहा हूँ।

किन्तु इन्हीं वाक्यों के निम्न रूपान्तर से वह तार्किक विसंगति तिरोहति हो जाती है, यथा -

(1) मैं आजकल मज़े में डैंडेलियन उगा रहा हूँ।

(2) मैं ताजमहल को देखकर ऊब गया हूँ।

अन्य विचारक भी कदाचित् इन शब्दों के तार्किक व्यवहार में अन्तर करना चाहेंगे। किन्तु वे इस अन्तर को ग़लत रूप में प्रस्तुत करेंगे। वे कहेंगे कि प्र, व, और जी सभी शब्द किसी गुण का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु उनके वे गुण अलग-अलग प्रकार के हैं। परन्तु हम देख चुके हैं कि ऐसी मिथ्या धारणा ने ही नैतिक चिन्तन में बड़ा घपला किया है।

आगे इस ग्रंथ का छठा अध्याय सूक्ष्म तार्किक विश्लेषण एवं नैतिक वाक्यों के तार्किक व्यवहार के बारे में मौलिक रचनात्मक सुझावों से परिपूर्ण है। नॉवेल-स्मिथ सर्वप्रथम तो यह आग्रह करता है कि हमें प्र शब्दों अथवा जी शब्दों की अपेक्षा नीतिवाक्यों में (उनके प्रयोग के प्रसंगानुसार) शब्दों की प्र शक्ति अथवा कभी जी शक्ति की बात करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में एक ही शब्द कभी प्र और कभी जी शब्द की तरह प्रयुक्त होता है, जैसाकि हम 'वीड' शब्द के साथ देख चुके हैं। किन्तु अन्त:प्रज्ञावादी शब्दों की उपर्युक्त अलग-अलग शक्तियों को न मानकर सबको एक ही पलड़े में रखते हैं।

नीतिवाक्यों के तार्किक व्यवहार के बारे में अन्त:प्रज्ञावादियों की भ्रांति उनकी दो अन्य मिथ्या पूर्वधारणाओं से उत्पन्न होती है। वे हैं - (1) हम इस प्रश्न में, कि "एक शब्द के क्या अर्थ हैं ?" तथा इस प्रश्न में कि "उक्त शब्द द्वारा संकेतित गुण कौनसी वस्तु में विद्यमान हैं ?" सदा स्पष्ट भेद कर सकते हैं। (2) सभी वाक्य विशुद्ध रूप से या तो संश्लेषी अथवा विश्लेषी होते हैं - और वे अन्यथा नहीं हो सकते।

मूर जैसे अन्त:प्रज्ञावादी उपर्युक्त दोनों पूर्वमान्यताओं से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुभ प्रत्यय से सम्बन्धित सभी वाक्य, उस प्रत्यय के सरल और अपरिभाष्य होने के कारण केवल संश्लेषी हो सकते हैं। तथा संश्लेषी वाक्यों में भी शुभ प्रत्यय से सम्बद्ध वाक्य अनिवार्य प्रकार के होते हैं।

अब नॉवेल-स्मिथ की मान्यता है कि वे वाक्य जिनमें प्र अथवा जी शब्द प्रयुक्त होते हैं, कट्टरतापूर्वक संश्लेषी-विश्लेषी कोटि के अन्दर नहीं रखे जा सकते। उनकी अपनी विशिष्ट प्रकार की तार्किक संरचना है। और हमें उनके इस वैशिष्ट्य को न केवल जान लेना है अपितु उसे सुरक्षित भी बनाये रखना है।

नॉवेल-स्मिथ हमें याद दिलाता है कि यदि हम संज्ञाओं और विशेषणों की भाषिक भूमिका को केवल अभिधान के रूप में स्वीकार करते हैं, तब तो यह मानना ही होगा कि एक शब्द का अर्थ देना केवल यह कहना है कि वह किस चीज का नाम है। और तब एक ऐसे श्लिष्ट शब्द का अर्थ बताने के लिए हमें वे सब कथन करने होंगे जिनके द्वारा उस श्लिष्ट शब्द का उसकी घटक इकाइयों में विश्लेषण हो सके। अन्त:प्रज्ञावादी कहते हैं कि 'शुभ' जैसे सरल शब्द के इस प्रकार के विश्लेषणात्मक अर्थ नहीं किये जा सकते। अत: सिद्ध हुआ कि शुभ शब्द का प्रयोग करने वाले सभी वाक्य केवल संश्लेषी वाक्य हो सकते हैं। उधर अन्त: प्रज्ञावादी यह भी मानते हैं कि हमें सार्वभौम एवं सामान्य प्रकार का नैतिक ज्ञान भी प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, हम मानते हैं कि क्रूरता सदा बुरी है' एक सामान्य तर्कवाक्य है जिसमें क्रूरता एवं बुरेपन में एक आवश्यक संश्लिष्ट सम्बन्ध बताया गया है। किन्तु यदि उपर्युक्त कथन संश्लिष्ट है तो हम कैसे यह निश्चित रूप से जानते हैं कि 'क्रूरता सदा बुरी है।' स्पष्ट ही 'क्रूरता बुरी है' किसी अनुभवसिद्ध आगमन पर स्थापित साधारणीकरण नहीं है। इसलिए मूर के अनुसार क्रूरता और बुराई के बीच आवश्यक संश्लिष्ट सम्बन्ध को जानने का एकमात्र उपाय विशिष्ट प्रकार की अन्त:प्रज्ञा है।

परन्तु इस प्रंसग में एक और समस्या भी हमारे सामने है और वह यह कि जब भी हम कुछ करने का फैसला करते हैं तो हम साथ ही उसके लिए समुचित युक्ति देने को भी उद्यत होते हैं। उदाहरणार्थ, लोग कहते हैं कि मैं इस काम को करूँगा, क्योंकि मैंने अमुक व्यक्ति से ऐसा वादा किया है। अन्त:प्रज्ञावादियों द्वारा दिये एक ऐसे ही अन्यान्य उदाहरणों से ऐसा लगता है कि जिसे हम नैतिक गुण कहते हैं वह यदि एक दृष्टि से मौलिक है तो दूसरी दृष्टि से वह कतिपय अन्य प्राकृतिक गुणों से फलित एक तरह का परिणामात्मक गुण (कांसीक्वेंशल प्रापर्टी) भी है। यह परिमाणात्मक गुण भी संश्लेषी एवं

अनिवार्य रूप से उन अन्य प्राकृतिक गुणों से सम्बद्ध है जिनका उल्लेख हम किसी भी कार्य के करने (अथवा किये गए कार्य के नैतिक मूल्यांकन) के कारण के रूप में करते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम फियट मोटरगाड़ी को एम्बेसडर मोटरगाड़ी से इसलिए अधिक पसन्द करते हैं कि फियट अधिक सुविधाजनक है, तो फिर फियट के चुनाव और उसके सुविधाजनक होने के प्राकृतिक गुण के बीच एक संश्लेषी सम्बन्ध मानना होगा।

अब यदि हम उपर्युक्त पूर्वमान्यताओं तथा उनसे फलित नैतिक सिद्धान्तों को स्वीकारते हैं तो अन्त:प्रज्ञावाद हमारे समक्ष दो अन्य समस्याएँ खड़ी कर देता है। वे हैं -

(1) नैतिक गुणों को ऐसे परिणामगत गुण मानना जो किन्हीं अन्य प्राकृतिक गुणों से अनिवार्यत: संश्लिष्ट रूप में सम्बद्ध हैं, भीषण नैतिक संदेहवाद को उत्पन्न करता है। कारण यह कि इस प्रकार के सम्बन्ध को सिद्ध कर पाना टेढ़ी खीर है।

(2) इसके अतिरिक्त, हम पाते हैं कि प्रस्तावित नैतिक नियमों के औचित्य साधन के लिए (तथा उन नियमों के अनुकूल नैतिक आचरण करने के लिए) विशिष्ट अन्तर्बोधों की एक ऐसी शृंखला चाहिये जो किसी भी कार्य को करने की युक्तियों को चयन, परामर्श, मूल्यांकन आदि अन्यान्य नैतिक क्रियाओं से जोड़ सके।

नॉवेल-स्मिथ की टिप्पणी है कि इस उभयत:पाश के ये दोनों छोर वास्तव में एक ही समस्या के दो पहलू हैं और उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। कारण यह कि यह दावा करना कि "हम अन्त:प्रज्ञा द्वारा ही विशिष्ट प्रकार के अनिवार्य संश्लिष्ट सम्बन्धों को जान सकते हैं" वास्तव में यह कहना है कि इस प्रकार का कोई भी सम्बन्ध हमारे लिए अबोध्य है।

नॉवेल-स्मिथ पुन: यह दिखलाता है कि यदि हम अन्त:प्रज्ञावादियों के इस विचित्र मत को मान लें तो फिर हमें नैतिक नियमों के ज्ञान और तदनूकूल क्रिया की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए कम से कम सात अलग-अलग विशिष्ट प्रकार की अन्त:प्रज्ञाओं को स्वीकार करना पड़ेगा।

अन्त:प्रज्ञाओं की इस लम्बी शृंखला को स्वीकार करना अपने-आप में एक करिश्मा हो जायगा। इस प्रकार अंधाधुंध विशिष्ट अन्त:प्रज्ञाओं को किसी भी कार्य को करने की युक्तियों के आधार के रूप में स्वीकार कर लेने के आग्रह के कारण ही अनेक विचारकों ने यह आशा छोड़ दी है कि हम कभी-भी किसी कार्य को करने के लिए उचित युक्तियाँ दे सकेंगे। फिर भी हम अपनी नैतिक चेतना की इस तार्किक माँग को भुला नहीं सकते कि जो कुछ भी हम अपना कर्त्तव्य समझ कर करें उसके लिए हमारे पास उचित और पर्याप्त युक्तियाँ हों।

यह वैचारिक विभीषिका अन्त:प्रज्ञावादियों की ही देन है। इस पर टिप्पणी करते हुए नॉवेल-स्मिथ कहता है कि सात अलग-अलग अन्त:प्रज्ञाओं पर आश्रित नैतिक ज्ञान और नैतिक कर्म को जोड़ने वाली इन कड़ियों की आवश्यकता ही इसलिए पड़ती है-क्योंकि अन्त:प्रज्ञावादी उन चाज़ों को, जो अपने-आप में अभिन्न थीं, कृत्रिम रूप में परस्पर विच्छिन्न कर देते हैं। यह सब उथल-पुथल सिर्फ इस मिथ्या धारणा से आरम्भ होती है कि किसी एक प्रस्तुत तर्कवाक्य से तार्किक रूप से जो कुछ भी फलित हो सकता है (या नहीं हो सकता है) वह उस वाक्य के प्रयोग के प्रत्येक अवसर पर सदा एक-सा ही होता है।

वास्तव में न केवल अन्त:प्रज्ञावादी अपितु प्रकृतिवादी भी इस मिथ्या धारणा के कुचक्र में फँसे हैं। दोनों ही इस भ्रम में हैं कि शुभ प्रत्यय के सदा एक ही अर्थ होते हैं जिसका उद्घाटन नीतिशास्त्र काकार्य है। परन्तु यदि 'शुभ' एक ऐसा नाम नहीं है जो सदा एक ही चीज़ को निर्दिष्ट करता है, तो

प्रकृतिवादियों द्वारा दी गई शुभ की व्याख्या एवं मूर द्वारा उसका खण्डन दोनों ही बेमाने हो जाते हैं। कारण यह कि प्रकृतिवादी और मूर दोनों ही यह मानने की तार्किक गलती कर रहे हैं कि 'शुभ' शब्द का अर्थ (उस्के प्रयोगों के विभिन्न सन्दर्भों से पृथक्) एक सामान्य रूप में निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

इस स्थल पर आकर नॉवेल-स्मिथ तार्किक विमर्श पर लागू होने वाले सन्दर्भमूलक आपादन के नियमों (रूल्स ऑफ कांटेक्स्चुअल इम्प्लीकेशन) का उल्लेख और विवेचन करता है। उसका यह भी सुझाव है कि तार्किक आपादन के नियमों को इस विमर्श में यथावत् लागू नहीं कर सकते। यह बात कुछ उदाहरणों से स्पष्ट होगी।

सामान्य परिस्थितियों में यदि मैं किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसने मुझसे अभी कहा है कि वह मज़ेदार धूमपान कर रहा है, यह पूछूँ कि "क्यों भाई धूमपान तुम्हें मज़ेदार लगता है ?" तो मेरा प्रश्न बेमाने होगा। कारण यह कि उस व्यक्ति ने धूम्रपान को मज़ेदार कहकर पहले ही अपने मज़े की अभिव्यक्ति कर दी है।

यह संभव है कि उक्त व्यक्ति के लिए किसी विशेष प्रसंग में 'मज़ा' एक विषयिगत शब्द हो। लेकिन अन्य सन्दर्भों में यह आवश्यक नहीं कि 'मज़ा' या 'मज़ेदार' शब्द बोलने वाले की सुखानुभूति मात्र अभिव्यक्त करें। केकड़े का गोश्त और आम दोनों के लिए हम यह कह सकते हैं कि वे खाने में मज़ेदार हैं। किन्तु प्रसंगानुसार इस मज़े के अर्थ कुछ भिन्न होंगे। प्राय: केकड़े के गोश्त के मामले में 'मज़ेदार' शब्द बोलने वाले के निज़ीभाव को अभिव्यक्त करेगा। लेकिन आम के लिए 'मज़ेदार' शब्द न केवल बोलने वाले बल्कि सुनने वाले के भाव को भी अभिव्यक्ति करेगा। नैतिक विमर्श की इन विशेषताओं के साथ न्याय करने के लिए भी नॉवेल-स्मिथ तार्किक आपादन के स्थान पर सन्दर्भमूलक आपादन एवं तार्किक व्याघात के स्थान पर तार्किक वैषम्य (लॉजिकल ऑडनेस) के प्रत्ययों को प्रस्तावित करता है।

नॉवेल-स्मिथ के अनुसार किसी भी भाषा में, चर्चा के विशेष प्रसंगों पर, प्रत्येक व्यक्ति को (जो उस भाषा के प्रयोग के सामान्य नियमों से परिचित है) यह अधिकार होगा कि वह उस प्रसंग विशेष में यदि प का कथन हो तो उससे य को भी निगमित कर ले। अत: यह भी ज्ञात हुआ कि तार्किक आपादन सन्दर्भमूलक आपादन का ही एक उपवर्ग है। तार्किक आपादन की विशेषता यह है कि उसमें चर्चा का प्रसंग चाहे कुछ भी क्यों न हो हम प के कथन से सदैव य का फलन कर सकते हैं।

एक उदाहरण लें। यदि राम श्याम से यह कहता है कि "अब वर्षा हो रही है" तो श्याम को राम के इस कथन से यह निगमित करने का अधिकार है कि राम को विश्वास है कि "अब वर्षा हो रही है।" श्याम ऐसा निगमन संदर्भमूलक आपादन के नियमों के अधीन ही कर सकता है।

संदर्भमूलक आपादन के नियम उतने कठोर और स्पष्ट नहीं हैं जितने तार्किक आपादन के हैं। कोई भी वक्ता बिना आत्म-विसंगति में पड़े उनका उल्लंघन कर सकता है। ये नियम तीन हैं -

नियम - 1

जब भी कोई वक्ता कोई भी कथन करता है तो (किसी प्रतिकूल निर्देश या संकेत के अभाव में) संदर्भमूलक दृष्टि से यह आपादित होता है कि वक्ता जो कुछ भी कह रहा है वह स्वयं उसे सत्य मानता है। इस प्रसंग में नॉवेल-स्मिथ भाषिक वाक्यों में शब्दों के मुख्य एवं अमुख्य प्रयोग की प्रथा का स्मरण कराता है। नॉवेल-स्मिथ बतलाता है कि वक्ता और श्रोता दोनों ही के द्वारा किसी शब्द का उसके अमुख्य अर्थ में प्रयोग तब ही वांछनीय होगा जब उन्हें उसके मुख्य प्रयोग के स्वरूप का भी ज्ञान हो।

अर्थात् एक वाक्य सामान्यत: (मुख्य एवं अमुख्य) कई भाषिक कार्यों को करने में समर्थ हैं। और जब कोई वक्ता किसी वाक्य का कथन उन विभिन्न कार्यों में से किसी एक के संपादन के निमित्त करता है तो यह भी आपादित होता है कि वह बिना पर्याप्त संकेत दिये, उस वाक्य को उसके अमुख्य कार्य में प्रयुक्त नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, हम किसी भी कथन को केवल उसके अमुख्य कार्य के लिए तब तक प्रयुक्त नहीं कर सकते जब तक उसके मुख्य कार्य के बारे में सामान्य जानकारी न हो।

नियम - 2

जब भी कोई वक्ता कोई कथन करता है तो संदर्भमूलक आपादन की दृष्टि से हमें वक्ता से यह अपेक्षा बनी रहती है कि वह जो कुछ कह रहा है उसके लिए उसके पास समुचित युक्तियाँ हैं। इस नियम को हम भंग भी कर सकते हैं। लेकिन तब हमें अपने कथन में ऐसे चेतावनी सूचक संकेत भी जोड़ने होंगे कि हम जो कह रहे हैं उसके लिए हमारे पास पर्याप्त आधार नहीं हैं। ऐसे प्रतिकूल संकेतों के अभाव में श्रोता को यह निगमित करने का अधिकार होगा कि वक्ता को अपने कथन की सत्यता में स्वयं विश्वास है और उसके पास ऐसी पर्याप्त युक्तियाँ हैं जिनकी माँग करने पर वह उन्हें प्रस्तुत कर देगा।

नियम - 3

जब कोई भी वक्ता किसी भी श्रोता से कुछ कहता है तो यह आपादित होता है कि उसका कथन श्रोता की तात्कालिक रुचि के लिए प्रासंगिक है। यह नियम अत्यधिक आवश्यक है, किन्तु इसे प्राय: भंग कर दिया जाता है।

सैद्धान्तिक नीति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या उस खाई को पाटना है जो निर्णयों एवं कर्त्तव्यसूचक वाक्यों तथा उन तथ्यमूलक कथनों के बीच दृष्टिगत होती है जिन्हें उक्त निर्णयों आदि की समर्थक युक्तियों के रूप में दिया जाता है। इस खाई को लाँघने के लिए अन्त:प्रज्ञावादियों ने अनिवार्य श्लिष्ट संबंधों के प्रातिभबोध की दुहाई दी थी। किन्तु उपर्युक्त तीनों नियमों से यह स्पष्ट होता है कि हमारे लाँघने के लिए कोई खाई है ही नहीं। कारण यह कि युक्ति देने वाला वाक्य ऐसा वाक्य है जो आरम्भ से ही व्यावहारिक और क्रियात्मक है। वह कोई ऐसा तथ्यमूलक वाक्य नहीं है जिससे हमें किसी विशेष प्रकार के तर्क के द्वारा आचरण-सम्बन्धी किसी आदेश को प्राप्त करना है।

तीसरा नियम केवल भाषिक शिष्टता का नियम नहीं है। जब तक हम इस नियम का कड़ाई से पालन नहीं करेंगे तब तक हम संकल्प, निर्णय, परामर्श, मूल्यांकन आदि नैतिक विषयों तथा इनकी समर्थक युक्तियों के मध्य सम्बन्ध के वास्तविक रूप को नहीं पहचान सकेंगे।

तार्किक वैषम्य

तार्किक वैषम्य का विचार भी तीसरे नियम से अनुमेय है। कोई भी प्रश्न एक तार्किक वैषम्य तब बन जाता है जब, जिस संदर्भ में यह पूछा गया हो उसमें उसका उत्तर पहले से ही उपस्थित हो और इसलिए उसके पूछे जाने के लिए उस चर्चा या विमर्श में कोई गुंजाइश न हो।

नीतिविचारक का कार्य नैतिक शब्दों, वाक्यों एवं युक्तियों आदि के परस्पर सम्बन्धों का अनुसंधान है। इसी प्रसंग में हम पाते हैं कि विशिष्ट संदर्भ में यह एक तार्किक वैषम्य होगा कि हम एक चीज़ को स्वीकार करें और दूसरी को अस्वीकार अथवा किसी प्रश्न विशेष की हठधर्मितापूर्वक पुनरावृत्ति करें।

इस सन्दर्भ में नॉवेल-स्मिथ तार्किक वैषम्य के कई उदाहरण देता है। इनमें से प्रत्येक उदाहरण में वक्ता, जिसे हम राम कहेंगे, अपने किसी कार्य को करने के निश्चय को अभिव्यक्त करता है। उदाहरण के लिए राम कहता है कि मैं हरि को अपनी क्रिकेट की टीम में शामिल करूँगा। तब श्रोता श्याम राम से

पूछता है कि वह हरि को क्रिकेट की टीम में क्यों शामिल करेगा। तदनन्तर राम श्याम को युक्ति देता है कि हरि अच्छा बल्लेबाज है इसलिए। किन्तु यदि फिर भी श्याम राम से पूछने का हठ करता है कि वह हरि को क्यों शामिल करेगा तो यह तार्किक वैषम्य होगा। यहाँ पर श्याम बड़ी चतुराई से अपनी प्रश्न की पुनरावृत्ति करके राम के द्वारा किये गए निर्णय और उसकी समर्थक युक्ति के बीच दरार डालने का प्रयत्न कर रहा है।

यदि नैतिक विमर्श की तर्कणा भी केवल आकारिक तर्कणा है तो फिर श्याम का अपने प्रश्न की पुनरावृत्ति करना अनुचित नहीं है। किन्तु व्यावहारिक नैतिक विमर्श में श्याम के प्रश्न की पुनरावृत्ति एक तार्किक वैषम्य बन जाती है।

श्याम अपने प्रश्न की पुनरावृत्ति क्यों करता हैं ? नॉवेल-स्मिथ के अनुसार श्याम प्रश्न की पुनरावृत्ति तभी करेगा जब वह इस बात की (जानबूझ कर या अन्यथा) अवहेलना करे कि राम ने तो उसके पहले प्रश्न के उत्तर में ही वह सब बता दिया था जिसके आधार पर उसने हरि को क्रिकेट टीम में शामिल करने का निश्चय किया था। कारण यह कि राम द्वारा दी गई युक्ति (कि वह अच्छा बल्लेबाज़ है) आरम्भ से ही एक व्यावहारिक युक्ति थी जिसका लक्ष्य किसी क्रिया का निर्देश करना था न कि किसी वस्तुस्थिति का वर्णन।

प्र-वाक्यों की भूमिका

नॉवेल-स्मिथ उदाहरण के रूप में 'भयावह', 'असंतोषप्रद', 'बीभत्स' आदि प्र-शब्दों को लेता है। प्रसंगानुसार इन शब्दों में कभी प्र-शक्ति और कभी जी-शक्ति होती है। किन्तु वह वाक्यों में उनकी प्र-शक्ति के स्वरूप पर ही विचार करता है। इन सभी शब्दों में एक महत्त्वपूर्ण समानता है। उनमें से प्रत्येक 'डर जाना' प्रसन्न हो जाना, आदि ऐसी संवेगात्मक आत्म-दशाओं से सम्बद्ध है जो सामान्य मानवीय प्रतिक्रियाओं के रूप में प्रकट होता हैं।

अब, नॉवेल-स्मिथ के मतानुसार किसी भी प्रसंग में कोई भी प्रतिक्रिया उपयुक्त प्रतिक्रिया तब मानी जायगी जब वह ऐसी हो जो उसके व्यंजक किसी प्र-शब्द से तार्किक दृष्टि से संबंधित है। उदाहरण के लिए 'भयावह' शब्द के लिए उचित प्रतिक्रिया वक्ता का भयभीत होना होगा। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वक्ता अपनी भयभीत स्थिति को शारीरिक व्यवहार में भी अभिव्यक्त करे।

किसी भी प्र-वाक्य की तर्कणा के स्वरूप को समझने के लिए हमें यह पूछना चाहिए कि "वर्ण्य दृष्टान्त में इस वाक्य के प्रयोग से हम प्रसंगानुसार क्या आपादित कर सकते हैं ?" अथवा यह पूछना चाहिए, "यदि इस वाक्य की तर्कणा को समझना है तो वह कौनसी चीज़ होगी जिस पर संदेह करना तार्किक आश्चर्य बन जायेगा ?" अपने इसी प्रस्ताव के स्पष्टीकरण में नॉवेल-स्मिथ बतलाता है कि वे कौन से तत्त्व हैं जो प्र-वाक्यों के सही प्रयोग में संदर्भानुसार आपादित रहते हैं। ये तत्त्व चार हैं -

(1) आत्मपरक तत्त्व (2) भविष्यवाणी मूलक तत्त्व
(3) साधारणीकरण मूलक तत्त्व (4) कारणपरक तत्त्व।

(1) आत्मपरक तत्त्व

जब तक कोई अन्य प्रतिकूल साक्ष्य उपलब्ध न हो, किसी वक्ता द्वारा प्र-वाक्य का प्रयोग यह आपादित करता है कि वक्ता उस कथन के साथ-साथ उपयुक्त प्रतिक्रिया भी कर रहा है। उदाहरण के लिए किसी का मुझसे यह कहना एक तार्किक वैषम्य होगा कि यह किताब तो बड़ी मज़ेदार है, लेकिन वक्ता को इसमें कोई मज़ा नहीं आता।

यह संभव है कि विशेष परिस्थितियों के कारण स्वयं वक्ता वह प्रतिक्रिया प्रकट न कर पाये जो उसके वक्तव्य से अपेक्षित है। किन्तु ऐसी स्थिति में समझदार वक्ता अपने वक्तव्य में ही उन परिस्थितियों का भी निर्देश कर देगा जिनके कारण वह उस समय उपयुक्त प्रतिक्रिया प्रकट नहीं कर पा रहा है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति का यह कहना तो तार्किक वैषम्य है कि आम होते तो बहुत स्वादिष्ट हैं किन्तु वह उन्हें नहीं खायेगा। किन्तु यह तार्किक वैषम्य तब दूर हो जायगा जब वह अपने कथन में यह और जोड़ दे कि वह मधुमेह रोग से पीड़ित है।

उपर्युक्त अपेक्षा विशुद्ध तार्किक अपेक्षा नहीं है। यह अपेक्षा केवल वाक्यों के भाषीय प्रयोग के संदर्भ में फलित होती है। कारण यह कि "आम स्वादिष्ट फल है" तथा "मैं आम नहीं खाता" इन दो कथनों के बीच कोई तार्किक विरोध या व्याघात नहीं है।

(2) भविष्यवाणी मूलक तत्त्व

किसी वक्ता द्वारा प्र-वाक्य का प्रयोग कभी-कभी यह भी सूचित करता है कि यदि उपयुक्त परिस्थितियाँ उपलब्ध हों तो भविष्य में विशिष्ट प्रतिक्रिया परिलक्षित होगी।

उदाहरणार्थ, यदि मैं यह कहूँ कि 'राग दरबारी' हास्य-प्रधान उपन्यास है तो मैं यह अपेक्षा भी प्रकट कर रहा हूँ कि यदि कोई उसे पढ़ने का कष्ट करे तो उसकी भी मेरी तरह हास्यात्मक प्रतिक्रिया होगी।

किन्तु इस प्रतिक्रिया की भविष्यवाणी में पात्रता-अपात्रता का विचार भी सन्निहित है। उदाहरणार्थ, यदि कुशल पर्वतारोहियों की सभा में यह कहा जाय कि "अमुक चोटी पर चढ़ा जा सकता है" तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हर ऐरा-ग़ैरा व्यक्ति इस पर्वत पर चढ़ सकता है।

(3) साधारणीकरण मूलक तत्त्व

प्र-वाक्य के भविष्यवाणी-मूलक प्रयोग से (द्वितीय नियम द्वारा) संदर्भानुसार यह भी फलित होता है कि वक्ता के पास अपनी भविष्यवाणी के लिए अच्छी युक्तियाँ हैं। यदि कोई वक्ता उनके बिना ही ऐसी भविष्यवाणी करता है तो वह जानबूझ कर झूठ बोल रहा है अथवा भाषा का दुरुपयोग कर रहा है। भविष्यवाणी करने का आधार केवल हमारा यह सामान्य अनुभव हो सकता है कि किसी वस्तु या परिस्थिति विशेष में लोगों को प्राय: अमुक प्रतिक्रिया करते देखा गया है।

(4) कारणपरक-तत्त्व

अभी हमने देखा है कि हम केवल उन चीज़ों के लिए 'भयावह' 'मज़ाकिया' आदि विशेषणों का प्रयोग कर सकते हैं जिनके लिए मनुष्य प्राय: भयभीत अथवा हर्षित होने की प्रतिक्रिया करते हों। लेकिन ये प्रतिक्रियाएं अकारण नहीं होतीं। हम एक मोटरगाड़ी के 'आरामदायक' विशेषण का प्रयोग तभी कर सकते हैं जब उस मोटरगाड़ी में कुछ न कुछ तथ्यमूलक विशेषताएं हों। उदाहरण के लिए उसमें बड़े स्प्रिंग हों, वह वातानुकूलित हो और उसमें पैर फैलाने के लिए अधिक जगह हो। यद्यपि वक्ता प्र-वाक्यों के प्रयोग के समय इन कारणों का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते तो भी संदर्भानुसार उन्हें पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

प्र-वाक्यों की जटिल आन्तरिक संरचना

यद्यपि प्र-वाक्यों में उपर्युक्त चारों तत्त्व उपस्थित रहते हैं तथापि वे तत्त्व स्वतन्त्र हैं और एक-दूसरे को तार्किक दृष्टि से आपादित नहीं करते।

हमें ऐसा लग तो सकता है कि मानों प्र-शब्द 'शेरों', 'मज़ाकों', 'मोटरगाड़ियों' आदि के ऐसे विशिष्ट गुणों को इंगित करते हैं जिनकी वजह से ही ये चीज़ें मनुष्य में 'भय', 'हर्ष' आदि की प्रतिक्रियाएं

उत्पन्न करती हैं। यह ठीक है कि कई बार प्र-वाक्यों को हम एक-दूसरे की व्याख्या के लिए भी प्रयुक्त करते हैं, लेकिन ऐसे प्रयोगों के तार्किक औचित्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि इन प्र-शब्दों द्वारा इंगित कोई विशिष्ट गुण भी है।,

नॉवेल-स्मिथ के अनुसार प्र-वाक्यों के भविष्यवाणी मूलक एवं साधारणीकरण मूलक तत्त्वों के बीच स्पष्ट ही आगमनात्मक सम्बन्ध है जिसका उदाहरण निम्न है:-

वाक्य सं. 1. 'क' प्रकार के अधिकांश व्यक्ति 'ख' से भयभीत हुए हैं।

वाक्य सं.2. ....

वाक्य सं. 3. क्योंकि तुम 'क' प्रकार के व्यक्ति हो इसलिए तुम भी 'ख' से भयभीत होगे।

यदि हम अप्रस्तुत वाक्य सं. 2 की उपेक्षा करें तो वाक्य सं. 1 और 3 में प्रत्यक्षत: आगमनात्मक निष्कर्ष का सम्बन्ध है।किन्तु अन्त:प्रज्ञावादी अपनी भ्रांत पूर्वधारणाओं के वशीभूत होकर कहेंगे कि वाक्य सं. 1 और 3 के बीच एक तार्किक व्यवधान है जिसे हटाने के लिए हमें वाक्य सं. 1 और 3 के बीच निम्न वाक्य को वाक्य नम्बर 2 के स्थान पर रखना होगा, यथा-"क प्रकार के व्यक्तियों के लिए ख भयावह है।" इनमें कोई तार्किक रिक्तता नहीं है। और यदि वह है तो उसे वाक्य सं.2 द्वारा दूर नहीं किया जा सकता।

यदि वाक्य सं. 2 को वाक्य सं. 1 का निष्कर्ष एवं वाक्य सं. 3 का हेतु मान लिया जाय तो फिर उपर्युक्त आगमनात्मक निष्कर्ष निगमनात्मक निष्कर्ष में बदल जाता है। किन्तु तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि न तो वाक्य सं. 1 का तार्किक फलन है और न ही वाक्य सं. 2 से वाक्य सं. 3 निगमित होता है।

और यदि हम तीनों वाक्यों को अपनी चिन्तना के आगमनात्मक चरण मान लें तो स्थिति और भी बिगड़ जाती है। कारण यह कि अब हमें बजाय एक के दो आगमनात्मक छलांगें लेनी होंगी और इनमें से एक छलांग तो हम ले ही नहीं सकते।

तो क्या हम यह कह सकते हैं कि वाक्य सं. 1 से वाक्य सं. 2 को किसी अर्द्धविश्लेषणात्मक विधि से प्राप्त किया जा सकता है ? ऐसा तब संभव है जब हमारे द्वारा इस बात को मानने का, कि 'ख भयावह है', आधार सिर्फ यह विश्वास हो कि लोग 'ख' से भयभीत होते देखे गए हैं। और यदि हम केवल इतने से ही साक्ष्य पर वाक्य 2 से वाक्य 3 प्राप्त करना चाहते हैं तो फिर इसमें क्या अड़चन है कि हम सीधे-सीधे ही वाक्य सं. 1 से वाक्य सं. 3 को प्राप्त कर लें। और यही नॉवेल-स्मिथ की मान्यता भी है जिसे वह निम्न उदाहरण से और स्पष्ट करता है। यदि कोई व्यक्ति हमें बतलाता है कि वह एक सांड से इसलिए डर गया क्योंकि सांड भयावह होते हैं तो वह अपने डर जाने की कुछ न कुछ व्याख्या तो दे रहा है। लेकिन यह व्याख्या बड़े विलक्षण प्रकार की है। कारण यह कि भयभीत व्यक्ति यह नहीं कह रहा कि वह साँड से इसलिए डर गया क्योंकि वे बड़े शक्तिशाली, दुर्धर्ष और आतंकित करने वाले जीव होते हैं। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि यह कहना कि "मैं साँड से डर गया क्योंकि वह भयावह है" चक्रक दोष से युक्त कथन है।

सच तो यह है कि उपर्युक्त कथन भयभीत व्यक्ति के भय की अत्यधिक निम्न स्तर पर एक यथार्थ व्याख्या है। साँडो को भयावह कहकर हम अपने ऊपर यह उत्तरदायित्व लेते हैं कि यदि आवश्यक हुआ तो हम साँडों के उन गुणों का भी निर्देश करेंगे जिनसे अधिकांश व्यक्ति भयभीत हो जाते हैं। और इसलिए हमारा भयभीत हो जाना भी साधारण ही है।

अत: सिद्ध हुआ कि प्र-शब्दों से युक्त वाक्य कुछ ऐसे अस्पष्ट कारणपरक गुणों का निर्देश करते हैं जिनकी वजह से एक वस्तु वह विशिष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है जिसे अधिकांश मनुष्य साधारणत: प्रदर्शित करते हैं। किन्तु प्र-शब्द ऐसे गुणों का ब्यौरा नहीं देते।

नॉवेल-स्मिथ के अनुसार प्र-शब्द परिणामगत: गुणों का निर्देश नहीं करते। उदाहरण के लिए, शक्तिशाली होना तो शेरों का परिणामगत गुण है, किन्तु भयावह होना उनका परिणामगत गुण नहीं है। यह तो ठीक है कि यदि शेर शक्तिशाली न होंगे तो वे भयावह भी नहीं होगें। यह भी ठीक है कि शक्तिशाली होना शेरों में मजबूत मांसपेशियाँ, नुकीले पंजे व दाँत आदि होने का परिणामगत गुण है, जिनके सहसम्बन्ध का निरीक्षण किया जा सकता हैं। किन्तु शेरों का भयावह होना एक निरीक्षणीय गुण नहीं है। एक व्यक्ति जो शेर को भयावह कहता है, संदर्भानुसार यह तो आपादित करता है कि शेर में कुछ ऐसे (अलक्षित) गुण हैं जिनसे लोग डरते हैं। लेकिन वह न तो ऐसे गुणों के होने का कथन कर रहा है और न उनका कोई ब्यौरा दे रहा है।

अब हम भली-भाँति देख सकते हैं कि निम्न दो प्रश्नों में भेद करना क्यों आवश्यक है, यथा- (1) "कौन से कार्य के लिए अमुक शब्द का प्रयोग हुआ है ?" (2) "किन परिस्थितियों में उक्त शब्द को उस कार्य में प्रयुक्त करना उपयुक्त होगा ?" प्र-शब्दों का प्रयोग व्याख्या एवं भविष्यवाणी के लिए होता है। लेकिन ऐसा तब उचित है जब वक्ता के पास कुछ ऐसी युक्तियाँ हो जिनको यदि उसने स्वयं व्यक्त नहीं भी किया है तो भी वे उसके कथन से संदर्भमूलक दृष्टि से आपादित हैं।

ये दुर्भाग्य की बात है कि प्र-शब्दों और कारणपरक गुणों के नामों के बीच एक पर्दा डला रहता है। वह इसलिए कि हमारे पास उन सब गुणों के लिए कोई अलग-अलग नाम नहीं होते जिनकी वजह से हममें कोई विशिष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और जिसे अभिव्यक्त करने के लिए हम उस प्र-शब्द का प्रयोग करते हैं। कई प्रकार की गंधों से कई लोगों का जी मिचलाता है। किन्तु इस प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने वाली गन्ध-संवेदनाओं के लिए हमारे पास अलग-अलग नाम नहीं हैं। इसलिए हम (केवल सुविधा की दृष्टि से) उन सभी संवेदनाओं को निर्धारित किये बिना उन्हें दुर्गन्ध या सिर्फ जी मिचला देने वाली गंध कहते हैं। लेकिन ऐसा कहकर हम किसी प्र-शक्ति का संकेत नहीं कर रहे, यद्यपि उनसे प्र-शक्ति आभासित होती है। फिर भी हमारी भाषा ने हमें इतनी छूट दी है कि हम चाहें तो कुछ और शब्द जोड़कर इस आभासी प्र-शक्ति को हटा दें। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति बिना श्रोता को चौकाये हुए यह कह सकता है कि उसे जलते हुए पेट्रोल की दुर्गंध बड़ी अच्छी लगती है। क्योंकि तब उसका मतलब उस गंध विशेष से होगा जिसका अलग नाम न होने से उसे दुर्गन्ध कह दिया गया है। क्योंकि प्राय: उस गंध से व्यक्तियों का जी खराब हो जाता है।

इसी उदाहरण से यह फिर स्पष्ट होता है कि हम सीधे-सीधे प्र और जी-शब्दों की बात नहीं कर सकते। शब्दों के ऐसे पृथक्-पृथक् समूह नहीं हैं। हाँ, उन्हें इन अलग-अलग कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। संदर्भानुसार लगभग प्रत्येक शब्द से प्रत्येक प्रकार का भाषिक कार्य लिया जा सकता है। दार्शनिकों के लिए यह परमावश्यक है कि वे साधारण भाषा के इस महत्त्वपूर्ण लक्षण को सदा ध्यान में रखें।

***

17

दर्शन तथा इतिहास बोध*

गोपाल बिहारी माथुर

गैली की प्रस्तुत पुस्तक न केवल विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन के अध्ययन में एक उल्लेखनीय योगदान है अपितु इसमें बड़ी सफलतापूर्वक ज्ञान की इस विधा के मूलभूत प्रश्न को एक अभिनव और सुबोध रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक में कुल 10 अध्याय हैं।[1] प्रथम पाँच अध्यायों में गैली, इतिहास दर्शन में सम्भवत: प्रथम बार, इतिहासिक बोध के स्वरूप का एक शृंखलाबद्ध, सर्वांगीण और सहज बोधगम्य वृत्तान्त देने का प्रयत्न करता है और इसका व्यवस्थित रूप से उस बोध से भेद करता है जो हमें प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन से उपलब्ध होता है। अन्तिम पाँच अध्यायों में गैली यह दिखलाता है कि जो बोध या दृष्टि हमें इतिहासिक वृत्तान्तों के अनुशीलन से प्राप्त होती है वह किस प्रकार हमारे राजनैतिक जीवन, वैज्ञानिक अनुसंधान, और यहाँ तक कि दार्शनिक जिज्ञासा से सम्बद्ध सभी बौद्धिक व्यापारों को एक नया आयाम और परिदृष्टि प्रदान करती है।

यद्यपि विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन का विकास अन्य विख्यात विचारकों ने भी किया है तथापि गैली की अपनी विशेषता यह है कि सर्वप्रथम उसने ही इतिहास के विवेचनात्मक दार्शनिक के रूप में इतिहासिक कृतियों में वृत्तान्त (नैरेटिव) का जो विचार सन्निहित है उस पर बल देकर इतिहासिक बोध की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। इतिहासिक बोध के बारे में वह अपनी अभिनव अन्तर्दृष्टि का उपयोग यह दिखलाने के लिए करता है कि कैसे हम इसके द्वारा स्वयं दार्शनिक विधियों और समस्याओं के बौद्धिक महत्त्व को भी अधिक भलीभांति समझ सकते हैं। गैली का दावा है कि दर्शन के इतिहास के क्षेत्र में भी हम अब यह दिखला सकते हैं कि किस प्रकार कतिपय मूलभूत दार्शनिक विचार अपनी उपयुक्त दर्शनिक भूमिका का निर्वाह अनवरत और अनन्त विवाद में उलझे रहकर ही कर सकते हैं।

प्रथम अध्याय में गैली परिकल्पनात्मक इतिहास-दर्शन की तुलना में विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन का महत्त्व दिखलाता है। विको, हेगल और मार्क्स जैसे इतिहास के दार्शनिकों ने इतिहास के प्रति अपनी दार्शनिक जिज्ञासा इसलिए अर्पित की थी कि उसके द्वारा वे सम्पूर्ण इतिहास में किसी युक्तिमूलक सोद्देश्य परियोजना का उद्घाटन कर सकें। लेकिन ऐसे सभी प्रयत्न न्यूनाधिक मात्रा में असफल रहे, और स्वयं इतिहासकारों ने उचित ही इन प्रयत्नों की युक्तता पर संदेह प्रकट किया। किन्तु परिकल्पनात्मक इतिहास-दर्शन के विरुद्ध किये गये आक्षेप विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन पर लागू नहीं होते।

---

* *Philosophy and the Historical Understanding by W.B. Gallie, Chatto and Windus, London.*

गैली स्वयं विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन की युक्तता को स्वीकार करता है। पर साथ ही वह कहता है कि इतिहास-दर्शन की यह विधा भी अभी तक उल्लेखनीय प्रगति करने में असमर्थ रही है, क्योंकि इसने भी मूलभूत प्रश्न के स्थान पर अपेक्षाकृत गौण प्रश्न को ही पहले उठाया। विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन को पहले इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए था कि इतिहासिक बोध की रूपरेखा क्या है और उसमें कौन से ऐसे सन्निहित घटक तत्त्व हैं जिनका विश्लेषण हो सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा करने से पूर्व ही वह एक दूसरे पचड़े में फँस गया। विवेचनात्मक इतिहास के दार्शनिकों ने अपना सारा ध्यान इतिहासिक ज्ञान के प्रमाणीकरण और सत्यापन की समस्या पर केन्द्रित कर दिया, क्योंकि उन्होंने विधि की दृष्टि से प्रथम प्रश्न की अपेक्षा की। इसलिये स्वयं अपने द्वारा उठाये गये प्रश्न का भी कोई संतोषजनक समाधान न कर सके।

विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन की यह गलत दिशा पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में सैद्धान्तिक ज्ञान के प्रति विद्यमान पूर्वाग्रह से ही उत्पन्न हुई। प्लेटो और अरस्तु के समय से ही यह मान्यता रही है कि वास्वत में ज्ञान वही है जिसमें ऐसे सामान्य वाक्य उपस्थित हों जो एक क्रमबद्ध रूप में विन्यस्त हों। अत: इस परम्परा से प्रभावित होकर ज्ञान की सभी विधाओं से हमारा ध्येय सार्वभौमिक सत्यों के ज्ञान की ही प्राप्ति रहा है। उधर इतिहासकार का दावा है कि वह विशिष्ट घटनाओं का ज्ञान उपलब्ध कराता है। अत: परम्परा से प्रभावित विचारकों ने इतिहासिक ज्ञान को या तो अत्यंन्त क्षुद्र ठहराया है अथवा भ्रान्ति-मूलक ठहराया है।

पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने, जो इतिहास-दर्शन में रूचि लेते हैं, अपने को ज्ञान के स्वरूप के बारे में इस परम्परागत धारणा के प्रभाव से मुक्त नहीं किया है। इसके अलावा उन पर, न चाहते हुये भी, जर्मन विज्ञानवाद के आन्दोलन का एक दुर्गाग्यपूर्ण प्रभाव भी पड़ा है। जर्मन प्रत्ययवाद सत्य की सार्वभौमिकता के सिद्धान्त को मानते हुए भी प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा प्रदत्त ज्ञान की तुलना में धर्म, तत्त्वचिन्तन और इतिहास द्वारा प्रदत्त ज्ञान की श्रेष्ठता को स्थापित करने में प्रयत्नशील रहा।

लेकिन जर्मन आदर्शवाद से प्रभावित दार्शनिक इतिहासकारों तथा उनके विरोधी विवेचनात्मक इतिहास के दार्शनिकों ने भी स्पष्टत: यह दिखलाने का प्रयत्न नहीं किया कि जिस इतिहासिक ज्ञान के औचित्य-स्थापन का बीड़ा उन्होंने उठाया है वे प्राकृतिक विज्ञानों में प्राप्त ज्ञान से किस प्रकार भिन्न हैं। हेगल के प्रभाव के अधीन इस कार्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुये भी, इसे ग़लत रूप में ही ग्रहण किया। अर्थात् उन्होंने यह माना कि उनका लक्ष्य इतिहास का भी, ज्ञान के एक साधारण प्रकार के रूप में, औचित्य-स्थापन करना है। ऐसा करने में उन्होंने इतिहासिक वृत्तान्तों को समझने में निहित बोध की उपेक्षा की।

गैली अपने इस मन्तव्य की पुष्टि डिल्थाई, रिकर्ट, कॉलिंगवुड जैसे कुछ विख्यात विचारकों की कृतियों का विश्लेषण करके करता है। ये सभी गैली द्वारा बताये गये विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन की मुख्य समस्या के साथ न्याय नहीं कर सके।

उदाहरण के लिये हम कॉलिंगवुड के दृष्टान्त को लें। ऐसा लग सकता है कि कॉलिंगवुड तो इतिहासिक बोध का ठीक उसी प्रकार का निरूपण करना चाहता था जिसकी हमें तलाश है। गैली कहता है कि कॉलिंगवुड वास्तव में इस समस्या के छोर पर मंडराता रहा और अन्त में उसने इसके रूप को बिल्कुल भ्रष्ट कर दिया। गैली की टिप्पणी है कि इतिहासिक बोध के बारे में कॉलिंगवुड का निरूपण हमारी अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं करके उल्टे इतिहासिक बोध जैसी किसी चीज की उपलब्धि के ही बारे में सन्देह उत्पन्न कर देता है।

अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दि आइडिया आफ़ हिस्ट्री में उसने दो मुख्य प्रतिज्ञाएं रखीं यथा, (1) वास्तविक इतिहासिक चिन्तन का स्वरूप किसी वैचारिक गुत्थी को सुलझाने जैसा होता है, तथा (2) यह चिन्तन वास्तव में किसी अन्य बुद्धिमान प्राणी के मन में आये विचारों का पुन: चिन्तन होता है।

कॉलिंगवुड के इस मत पर गैली के दो मुख्य आक्षेप हैं-यथा (1) कॉलिंगवुड का सिद्धान्त सत्य के किसी अत्यंत विषयिनिष्ठ मानक पर आश्रित है, तथा (2) यह मत उस सामान्य सन्दर्भ के महत्त्व की बिल्कुल उपेक्षा कर देता है जिसमें किसी इतिहासिक समस्या के बारे में अभिनव चिन्तन की अपेक्षा उद्भूत होती है।

फलत: कॉलिंगवुड, जो इतिहासिक चिन्तन की स्वायत्तता का प्रबल समर्थक था, अन्ततोगत्वा इतिहासिक चिन्तन का विलय वैज्ञानिक शोध और खोज में कर देता है और इतिहासिक वृत्तान्तों को समझने में अनुभव का जो मौलिक पक्ष प्रकट होता है उसकी वह कोई खोज-खबर नहीं लेता है।

सारांश यह कि यदि हम प्लेटो और अरस्तु की परम्परा में प्रचलित पदावली और उसकी परिधि में मान्य पूर्वापेक्षाओं को लेकर चलेंगे तो इतिहास के प्रतिभा-सम्पन्न विवेचनात्मक दार्शनिकों के लिये भी उन अत्यन्त परिचित चीजों का स्पष्टीकरण करना असम्भव हो जायगा जो इतिहास के लेखक और पाठक अत्यन्त सरल भाव से अदा करते आये हैं।

इस कठिनाई के सम्मुख गैली का प्रस्ताव है कि हम इतिहासिक बोध की समस्या पर लकीर से तनिक हटकर विचार करें। "इतिहासिक बोध क्या है ?" इस प्रश्न को उठाने से पहले गैली एक अधिक मौलिक और सरल प्रश्न को उठाता है- यथा "कहानी क्या है ?" एवं "कहानी को समझना क्या है ?"

द्वितीय अध्याय में गैली ने एक कहानी की तार्किक संरचना और उस बोध का बड़ा कुशल और प्रभावपूर्ण विश्लेषण किया है जिसका परिचय हम कहानी को आद्योपांत पढ़ कर समझने में देते हैं। इसके अतिरिक्त, इस विश्लेषण द्वारा पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के उस दुखद परिणाम का भी पर्दाफाश होता है जिसने आरम्भ से इतिहास को ज्ञान के एक स्वतन्त्र और वास्तविक प्रकार के रूप में ग्रहण किये जाने की सम्भावना को नष्ट कर दिया था। गैली पहले ही इस तथ्य की ओर संकेत कर चुका है कि इस परम्परा के संन्दर्भ में तो हर प्रकार के समझ में आ सकने वाले वृत्तान्त में-चाहे वह इतिहास के रूप में हो चाहे कहानी के-एक अपरिहार्य विरोधाभास आ जाता है। परम्परागत मत के अनुसार तो केवल सामान्य अथवा धर्म (एस्सेंसिज) ही युक्तिमूलक बोध के उपयुक्त विषय हो सकते हैं। प्रत्येक विशेष, एक विशेष के रूप में, हमारे लिये अज्ञेय बना रहता है। बुद्धि के लिये वह ज्ञेय तभी बनता है जब उपयुक्त तार्किक विधि द्वारा उसके वैशिष्टय को नष्ट करके उसे किसी सामान्य का दृष्टान्त रूप प्रदान कर दिया जाता है। लेकिन तब तो हमें मानना होगा कि विशेष का ज्ञान पहले से उसके सामान्य के ज्ञान में तार्किक दृष्टि से अन्तर्भूत था। परम्परागत ज्ञानमीमांसा के अनुसार, जो विशेष केवल एक आगन्तुक तथ्य (कण्टिन्जेण्ट फैक्ट) के रूप में बना रहता है वह हमारी तर्क-बुद्धि की पकड़ के परे रहता है।

इसके विपरीत, न केवल एक कहानी में बल्कि एक इतिहासिक वृत्तान्त में भी आकस्मिक विशिष्ट घटनाओं की भरमार रहती है। हम कहानी और इतिहासिक वृत्तान्त की इन आकस्मिक घटनाओं के प्रभाव से अलग कोई कल्पना भी नहीं कर सकते और इसलिये कोई भी वृत्तान्त ज्ञान की एक विधा के रूप में हमारी बुद्धि को ग्राह्य नहीं हो सकता। फिर कहानी और इतिहास एक कठोर सत्य के रूप में मौजूद हैं। इसलिये पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के अन्तर्गत उनकी सत्ता एक बौद्धिक पहेली बन जाती है।

इस उलझनग्रस्त पृष्ठभूमि में गैली का लक्ष्य यह दिखाना है कि (1) किसी भी ऐसी तार्किक परियोजना में, जिसका उद्देश्य किसी इतिवृत्त की युक्तता को स्थापित करना हो, हमें आकस्मिक घटनाओं को आवश्यक रूप से अवकाश देना होगा, तथा (2) उस संरचना के अन्दर भी हमें कुछ ऐसी आकस्मिक घटनाओं को प्रवेश देना होगा जो उस वृत्तांत में वर्णित घटना-क्रम को उसके परिणति तक पहुँचाने में तर्क-बुद्धि को स्वीकार्य हों। अत: तर्कशास्त्र अपने इस दायित्व से पलायन नहीं कर सकता कि वह न केवल रोज़मर्रा के जीवन में, बल्कि उन वृन्तातों में भी, जो उस पर आधारित हैं, छायी रहने वाली आकस्मिक घटनाओं की युक्तता और उनके तार्किक महत्त्व को निर्धारित करे।

अब गैली के अनुसार, कहानी एक ऐसा वृत्तान्त है जिसमें घटनाक्रम, क्रमिक रूप में प्रकट होने वाली कतिपय आकस्मिक घटनाओं के माध्यम से, न केवल अपने शिरो-बिन्दु तक पहुँचाया जाता है बल्कि पाठक को साथ-साथ यह समझ में आता चलता है कि कैसे घटना-प्रवाह वही हो सकता था जो वर्णित किया गया है। एक कहानी के पाठक को अपने पठन के बीच यह पता चलता है कि वह अन्त,जिसका कहानी के आरम्भ में (पूर्वनिर्धारण) नहीं हो सकता था, तार्किक दृष्टि से उन घटनाओं के संयोग से ही कैसे स्वीकार्य हो जाता है जिनसे वह फलित हुआ। पाठक की यह स्वीकृति उसके द्वारा कहानी की सामान्य दिशा तथा उसके सम्भावित वैकल्पिक अन्तों के ज्ञान से फलित होती है, क्योंकि वर्ण्य घटनाओं की अन्तर्वस्तु ऐसी है जिससे प्रत्येक पाठक अपने दैनिक जीवन में परिचित है।

वैज्ञानिक बोध और इतिहासिक बोध में कुछ न कुछ समानता उपलब्ध होती है। इसके बावजूद इतिहासिक बोध उस बोध से भिन्न है जो वैज्ञानिक ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। विज्ञान में तो परिणाम या निष्कर्ष प्रबन्ध में कथिक सामान्य नियमों एवं निर्दिष्ट आरम्भिक परिस्थितियों से अनिवार्यत: परिणत या निगमित होता है। लेकिन कहानी में तो हम वर्ण्य घटनाओं का उनके आरम्भ से अन्त तक उन तमाम घटनाओं की रेलम-पेल में बोधगम्य अनुक्रम पाते हैं। यह बोधगम्य अनुक्रम उस बोध-प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न होता है जिसमें निष्कर्ष को प्रतिज्ञा-वाक्यों से फलित किया जाता है। यह ठीक है कि कुछ साधारणीकरण कहानी के कलेवर में सदैव सन्निहित रहते हैं, लेकिन कहानी का परिणाम उनके अन्त में छिपा नहीं रहता। उनका काम तो घटनाओं को समझने की हमारी सहज-मूलक प्रक्रिया का इस प्रकार मार्ग प्रदर्शित करना होता है ताकि जो कुछ भी घटनाएं घटीं वे यौक्तिक दृष्टि से बुद्धि को असंगत और अस्वीकार्य न हों।

कहानी के अवधारणा में तीन मुख्य घटक तत्त्व होते हैं यथा (1) बोधगम्य (2) अभिरूचि, अनुक्रम (3) परिणाम।

कहानी का अन्त कभी भी वैज्ञानिक शोध के अन्त के समान कोई ऐसा निगमित कथन नहीं है जो स्पष्टत: साक्ष्यों पर आधारित हो। हो सकता है कि हमें कहानी के आरम्भ में ही ऐसा कुछ भान होने लगे कि, हो न हो, अन्त अमुक प्रकार का होगा। लेकिन यदि हमें कहानी के आरम्भ में ही उसके अन्त का निश्चित पूर्व-कथन करने की क्षमता प्राप्त हो जाय तो फिर कहानी के लिये यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होगा, क्योंकि तब हमारी उसे आखिर तक पढ़ने में रूचि नहीं रहेगी। एक कहानी के कहानी रूप को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि यह बात अन्त तक अनिश्चित बनी रहे कि उनका अन्त क्या होगा ? यहाँ हम पाते हैं कि कहानी का अन्त कतिपय प्रतिज्ञा वाक्यों से एक निगमन नहीं होता है जिसमें निष्कर्ष पूरी तरह आधार वाक्यों पर आश्रित हो। कहानी की अन्तिम घटना की उसकी शेष क्रमिक पूर्ववर्ती घटनाओं पर एकपक्षीय आश्रितता नहीं होती। इसके विपरीत कहानी की तर्क योजना में परवर्ती घटनाएं पूर्ववर्ती घटनाओं को उतना ही प्रभावित करती हैं जितना कि पूर्ववर्ती घटनाएं परवर्ती घटनाओं को।

कहानी में हमारी अभिरुचि उन विशिष्ट रूप से मानवीय तत्त्वों से उत्पन्न होती है जो लेखक, पाठक और कहानी के पात्रों, सभी की मनोरचना में सामान्य रूप से उपलब्ध होते हैं। कहानी केवल अन्त जानने के लिए नहीं पढ़ी जाती। हमारी अभिरुचि कहानी के आदि, मध्य और अवसान सभी में समान रूप से होती है। यदि हम आरम्भ से ही कहानी के पात्रों के भाग्य-चक्र में उत्साही साझेदार नहीं बनें तो फिर हम यह जानने की प्रतीक्षा भी नहीं करेंगे कि वर्ण्य कालावधि में उन पर क्या बीती और आखिर में उनका क्या हुआ।

इतना सब होने पर भी पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा का यह दुराग्रह है कि हम वृत्तांतों में उपलब्ध होने वाले आकस्मिक तथ्यों की आकस्मिकता को समाप्त करके उन्हें बौद्धिक दृष्टि से अधिक प्रतिष्ठा-प्राप्त तत्त्वों में रूपांतरित करें। लेकिन इस परम्परा की यह मांग बेतुकी है।

वृत्तान्तों की अन्तर्वस्तु के रूप में आकस्मिक तत्त्वों की उपस्थिति एक तार्किक मांग है, क्योंकि उनके द्वारा ही हम कहानी के विकास-क्रम को बौद्धिक रूप से ग्रहण करके यह देख लेते हैं कि कैसे एक ढिलमिल आरम्भिक स्थिति क्रमश: अनेक उतार-चढ़ावों के उपरांत, एक विशिष्ट निश्चित अन्त तक पहुँची, और कुछ अन्यथा नहीं हुआ।

अनेक आकस्मिक घटनाओं के बीच गुजर कर उसके पहले से अनिश्चित किन्तु तार्किक दृष्टि से सुसंगत जिस अन्त तक कहानी पहुँचती है उस प्रक्रिया के बौद्धिक अवगमन में प्रयुक्त तार्किक प्रतिमान का भलीभांति विश्लेषण करने के लिये गैली क्रिकेट जैसे किसी खेल को समझने की अपेक्षाकृत मानसिक प्रक्रिया को निदर्श बनाता है।

क्रिकेट जैसे खेल में भी क्रिकेट के मान्य नियमों के रूप में एक सामान्य तत्त्व विद्यमान रहता है। और इस खेल में उभय पक्षों में से किसी एक की विजय अथवा हारजीत का फैसला न होना, अथवा खेल का बीच में ही समाप्त कर दिया जाना जैसे कुछ वैकल्पिक अन्त भी खेल के आरम्भ से ही सबको ज्ञात रहते हैं। फिर भी एक खेल को खेल के रूप में समझने के लिये सबसे आवश्यक बात यह समझना है कि वह खेल अनेक आकस्मिक तथ्यों के द्वारा शनै: शनै: अपने किसी अन्तिम परिणाम तक कैसे पहुँचता है। क्रिकेट के खेल का शौकीन यह जानता है कि वे कौन सी अनेकानेक वैकल्पिक घटनाएं हैं जो खेल के अन्तिम फैसले पर निर्णायक प्रभाव डालती हैं। उदाहरणत: क्रिकेट के शौकीन को यह पता रहता है कि कौन घटना कब घटित होने पर खेल के आगामी रूप पर क्या प्रभाव डालेगी, और उसका उभयपक्षों द्वारा किस प्रकार प्रतिकार करने अथवा लाभ उठाने का प्रयत्न किया जायगा। वह खेल को इतनी रूचि से इसलिये देखता जाता है क्योंकि उसे जीतने, एक आसान कैच को नहीं लेने, या खिलाड़ी के घायल हो जाने जैसी, बौद्धिक दृष्टि से स्वीकार्य, आकस्मिक घटनाओं के खेल के ऊपर क्रमिक प्रभाव की कुछ न कुछ जानकारी होती है।

सारांश यह कि एक खेल का बुद्धिपूर्वक अनुसरण भी ध्यान का ऐसा प्रकार है जो प्रयोजनात्मक चिन्तन के द्वारा नियन्त्रित होता है और जिसकी विशेषता यह है कि जिस संभावित अन्त की ओर दर्शक का ध्यान उन्मुख होता है, वह अन्त भी अन्त तक अनिर्णीत ही रहता है।

अब हम देखते हैं कि एक खेल के बुद्धिपूर्वक अनुसरण और कहानी के प्रबुद्ध अनुसरण में कितना साम्य है। यह साम्य पूर्ण नहीं है, क्योंकि एक कहानी की तुलना में एक खेल संभावित अन्तों की परिधि अधिक सीमित है। यद्यपि कहानी में अपेक्षाकृत कहीं अधिक सम्भावित अन्त हो सकते हैं तो कुशल कहानीकार की सफलता इसमें है कि जिन आकस्मिक घटनाओं के माध्यम से कहानी को उसके

विशिष्ट अन्त की ओर बढ़ायें, वे पाठक को तार्किक दृष्टि से असंगत न लगें। अन्यथा पाठक कहेगा कि उसके साथ धोखा हुआ। अत: एक कहानी में जो आकस्मिकताएं निहित हैं वे उस स्वीकार्य लक्ष्य के संदर्भ में, जिसे प्राप्त कराने में उनका योगदान दिखलाया जाता है, भली-भांति बोधगम्य हो जाती हैं।

तीसरे अध्याय की विशेषता इतिहास के स्वरूप के बारे में गैली का अत्यंत उदारवादी और सुसंगत विचार है। गैली दिखलाता है कि 'इतिहास' शब्द एक नहीं बल्कि दो दृष्टिकोणों से द्वयर्थक है और जिसके कारण इतिहास के स्वरूप को निर्धारित करने में कठिनाइयाँ आती हैं। प्रथम उलझल तो यह है कि इतिहास से कुछ लोग तो यह अर्थ लगाते हैं कि वह उन शोधों और आलेखों का नाम है जो इतिहास-ग्रन्थों के रूप में लिखे जाते हैं। लेकिन कुछ अन्य लोग यह मानते हैं कि इतिहास से अभिप्राय उन सभी अतीत घटनाओं से है जो विशेष समयों और स्थानों पर घटित हुईं, चाहे उनके बारे में इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये हों या नहीं लिखे गये हों।

लेकिन इससे भी बड़ी उलझन एक अन्य प्रकार की है। कुछ लोग मानते हैं कि इतिहास से अभिप्राय उन सभी नाना प्रकार के आलेखों से है जो अलग-अलग घटना-समष्टियों का न्यूनाधिक स्वतंत्र सर्वेक्षण करते हैं। यह मत इतिहासिक अनेकान्तवाद की धारणा से प्रतिबद्ध है। लेकिन रेके जैसे कुछ अन्य विचारक भी हैं जो यह मानते हैं कि वास्तव में इतिहास वही है जो पृथक्-पृथक् और स्वतंत्र इतिहासलेखों के स्थान पर हमें एक समग्रीकृत वृत्तांत दे, जो घटना-क्रम में व्याख्या-सूत्र के एकत्व का दर्शन हो। दूसरे शब्दों में, मूल प्रश्न यह है कि क्या हम अलग-अलग स्वायत्त प्रकार के इतिहासों को माने अथवा मात्र विश्व इतिहास' को ही इतिहास के पद पर आसीन करें।

इस महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न पर इतिहासकारों और दार्शनिकों के द्रष्टिकोणों में विरोध है। इतिहासकार इस समस्या का समाधान एक दुहरी चाल से करते हैं जिससे समस्या पर पर्दा सा पड़ जाता है। लेकिन दार्शनिकों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक निष्ठापूर्ण है और वे इतिहास के एकत्व को स्पष्ट रूप से मानने को उद्यत हैं।

इतिहासकार अपना पैंतरा झट से बदल लेते हैं। अपने व्यवहार में तो वे इतिहासिक उदारवाद अथवा अनेकान्तवाद पर निष्ठा रखकर अपने अलग-अलग प्रबन्ध लिख डालते हैं और जिनमें परस्पर तुक बैठाना वे अपना आवश्यक दायित्व नहीं मानते। लेकिन दूसरी ओर मूर्धन्य इतिहासकार इस बात पर भी सहमत हैं कि किसी एक इतिहासिक युग के किसी एक अंश का भी सारगर्भित इतिहास लिखने के लिए उनका एक पूरे युग के इतिहास पर, उसकी सम्पूर्ण व्यापकता में, निर्बाध अधिकार होना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार की आधिकारिक व्यापक परिदृष्टि के अभाव में वे अपनी कृतियों को सही दिशा नहीं प्रदान कर सकते। इतिहासिक पूर्णताओं के समग्रीकृत ज्ञान के बिना वे उसके किसी अंश के इतिहास के मर्म और महत्त्व को भी बुद्धि-ग्राह्य नहीं बना सकते। लेकिन तब प्रश्न उठता है कि इतिहासिक पूर्णता किसी प्रकार की पूर्णता है। दुर्भाग्यवश इस प्रश्न को उठाते ही हमारी सारी होशियारी धरी की धरी रह जाती है और हम विवाद के भँवर में फंस जाते हैं। कदाचित् इस उलझन का कारण यह है कि इतिहास लेखन की यह आवश्यक शर्त है कि इतिहासकार बिना किन्हीं पूर्व निर्धारित अभिरूचियों और दृष्टिकोणों के कोई भी इतिहास नहीं लिख सकता। अर्थात् प्रत्येक इतिहासकार अपनी सैद्धान्तिक परिदृष्टि की सीमा के अन्दर और उसके अनुसार ही घटनाओं और तथ्यों का संकलन करने को बाध्य होता है और इसी कारण कोई भी इतिहासकार किसी भी इतिहासिक पूर्णता को पूर्ण रूप से ग्रहण करने में असमर्थ होता है। इतिहासकार का परिकल्पित आदर्श सदा उसके बूते से बाहर रहता है।

जहाँ साधारण इतिहासकार, इतिहास-लेखन की पद्धति द्वारा निर्धारित सीमाओं के कारण विश्व-इतिहास को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने में संकोच करता है, वहाँ दार्शनिक इतिहासकार अधिक साहस दिखलाता है। शायद इसकी वजह यह है कि उसे इतिहास-लेखन की विधि-मूलक बाध्यताओं से उत्पन्न इतिहासिक कृतियों के कलेवर के विस्तार की सीमाओं का उतना सही ज्ञान नहीं है जितना कि एक इतिहासकार को हैं। इसीलिये विको, हेगेल और मार्क्स जैसे कतिपय दार्शनिक इतिहासकार यह दावा करते हैं कि इतिहासिक घटना-क्रम को उसकी पूर्णता में देखने पर हमें सम्पूर्ण इतिहास में कोई एक निश्चित दिशा अथवा इतिहासिक युगों की किसी चक्राकार संयोजना का पता चलता है। लेकिन जब हम उनके दावा का विवेचन करते हैं तो पाते है कि ये दार्शनिक इतिहासकार सम्पूर्ण इतिहास की दिशा का निर्धारण करने और उसके समर्थक प्रमाणों के बारे में पूरी तरह उलझन में फंसे हैं और इसीलिये, पॉपर जैसे विचारकों ने उनके विचार की तीव्र आलोचना करके उनके दावों का युक्तियुक्त खण्डन किया है।

लेकिन दुर्भाग्य यह है कि विद्वान आलोचकों ने भी अबतक इतिहासविषयक उदारवाद और ऐतिहासिकतावाद (हिस्टोरिसिस्म) के बीच संघर्ष का समूचित समाधान नहीं किया है।

इन विद्वानों में कॉलिंगवुड एक अपवाद है, क्योंकि वह अपने विवेचन में एक स्थल पर समस्या के समाधान के बहुत नजदीक पहुँच गया था, हालांकि अन्त में समस्या पर उसकी भी पकड़ ढीली हो गयी। कॉलिंगवुड ने एक स्थान पर इतिहास-ग्रन्थ और उपन्यास के बीच साम्य और अन्तर का संकेत किया है। उसके अनुसार, इन में अन्तर यह है कि इतिहास घटनाक्रम के जिस सुघड़ चित्र को बनाकर प्रस्तुत करना है उसे, जहाँ तक सम्भव हो, सत्य भी होना चाहिये। इतिहासिक वृत्तान्तों में सत्यता का जो दावा होता है उसके कारण से इतिहास-प्रबन्धों पर तीन नियम लागू होते हैं, जो उपन्यासों पर लागू नहीं होते। (1) इतिहासकार द्वारा निर्मित चित्र का देश और काल में सुनिश्चित स्थान होना चाहिये। (2) समस्त इतिहास में आत्म-संगति होनी चाहिये क्योंकि जो वास्तव में घटित घटनाएं हैं उनमें परस्पर विसंगति और विरोध संभव नहीं हैं। **दूसरे शब्दों मे, सभी इतिहास एक ही इतिहासिक जगत् के ऐसे खण्ड या अंश हैं जो परस्पर गुम्फित होकर उस इतिहासिक जगत् का निर्माण करते हैं।** (3) इतिहासकार द्वारा निर्मित चित्र साक्ष्य-प्रमाणों की भीत पर खड़ा होता है।

गैली के मतानुसार दूसरा नियम इतिहास-लेखन की प्रविधि के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस नियम के मूल में एक इतिहसिक जगत् का विचार है जो स्वयं व्याख्यापेक्षी है। यह एक इतिहासिक जगत् कोई ऐसी अर्धपार्थिव पूर्णता नहीं होती जिसमें से प्रत्येक इतिहासकार इतिहासिक वृत्तान्तों के छोटे-छोटे खंड काटता चलता है। इसकी अधिक सम्यक् व्याख्या यह होगी कि हम किसी इतिहासकार द्वारा प्रदत्त अतीत मानवीय घटना-समष्टि के विवरण को तभी स्वीकार करेंगे जब अन्य घटना-समष्टियों के स्वीकृत इतिहासिक विवरणों के संगत हो। लेकिन तब भी एक कठिन विधिमूलक समस्या शेष रहेगी। वह यह कि हम इस बारे में कैसे आश्वस्त होगें कि एक इतिहासकार ने एक वृत्तान्त देने से पूर्व सभी प्रासंगिक सामग्री और उपलब्ध साक्ष्यों को देख लिया है।

इसलिये कॉलिंगवुड ने हमें जो परिदृष्टि दी है उसे दो अलग-अलग दिशाओं से अधिक पूर्ण बनाना होगा। प्रथम तो हमें यह मानना होगा कि जो सम्बन्ध एक इतिहासिक जगत् और इतिहासिक कृतियों में आत्मसंगति की शर्त के बीच है वह आधार-आधेय का नहीं है बल्कि परस्पर-फलन (म्यूचअल एन्टेल्मेंट) का है। द्वितीय, एक इतिहासिक जगत् कोई अर्धपार्थिक पूर्णता न होकर मात्र एक उपयोगी बौद्धिक उपकरण है, जिसकी तुलना हम कांट द्वारा बताये "विचारों के व्यवस्थापक नियमों" से कर सकते हैं।

कॉलिंगवुड के द्वितीय नियम में द्विविध संशोधन का उपयुक्त प्रस्ताव तब और भी अधिक युक्तियुक्त हो जाता है जब हम एक अन्य प्रश्न को भी उठाते हैं जिसे स्वयं कॉलिंगवुड ने नहीं उठाया था, यथा इतिहास कहाँ से उद्भूत होते हैं ? "अथवा" किन परिस्थितियों में नये इतिहास-चिन्तन की आवश्यकता उत्पन्न होती है ?

गैली ने इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन करके कहा है कि सभी इतिहासिक कृतियों का पूर्वाधार एक प्राप्त परम्परागत निधि होता है। यह परम्परागत निधि हमें दन्त-कथाओं, स्मृतियों, आत्मकथाओं, पौराणिक आख्यानों आदि के रूप में उपलब्ध होती है और कुछ न कुछ साक्ष्यों द्वारा समर्थित भी होती है । पुन:, **यह ऐसी परम्परागत निधि होती है जिसके संरक्षण, संवर्धन और अधिक स्पष्टीकरण में पूरे समाज की अविच्छिन्न अभिरूचि होती है।** बिना इस अभिरूचि के तो कोई इतिहासिक शोध आरंभ होगी ही नहीं। लेकिन इस अभिरूचि के अलावा इस बात की भी जरूरत होती है कि कोई संवेदनशील और साहसी व्यक्ति इस परम्परागत निधि के किसी अंश से असंतुष्ट हो। जब कोई व्यक्ति पाता है कि उसके पास कुछ ऐसी जानकारी है जो घटनाओं के घटित होने के उपलब्ध वृत्तान्त से मेल नहीं खाती तो फिर वह परम्परा के उस असंगत अंश को हटाने के लिये नये इतिहास लेखन की ओर उन्मुख होता है।

इस सन्दर्भ में यह द्रष्टव्य है कि कॉलिंगवुड ने इतिहासकारों के आत्मसंगत होने के जिस दायित्व का उल्लेख किया है वह वास्तव में इस बात की एक बौद्धिक मांग है कि इतिहासकार संकुचित दृष्टि वाले व्यक्ति नहीं होने चाहियें, बल्कि उनमें संवेदनशीलता इतनी व्यापक होनी चाहिये कि वे अपने विषय से सम्बद्ध सभी सामग्री का अध्ययन करके ही अपनी कोई राय कायम करें। तभी वे पाठक को बता सकते हैं कि वास्तव में क्या हुआ।

लेकिन यह बात कहकर हम फिर एक बार उसी पुराने उभयतोपाश (डायलमा) का साक्षात्कार करते हैं। एक तरफ तो इतिहासकार इस आदर्श-मूलक मांग के प्रति आकृष्ट होता है कि एक इतिहासिक जगत् को स्वीकार कर ले, दूसरी तरफ वह इस आदर्श को इसलिये नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि इतिहासिक चिन्तन सदैव चयनात्मक होता है और यदि इतिहासकार चाहे तब भी वह सभी सम्बद्ध सामग्री का सम्पूर्ण निरीक्षण करने में असमर्थ होता है।

लेकिन इस अपरिहार्य विरोधाभास के कारण इतिहासिक कृतियों का लिखना निष्फल नहीं हो जाता। इसका कारण यह है कि हम एक इतिहासिक जगत् के आदर्श को थोड़े सीमित अर्थ में भी ले सकते हैं। तब इससे हमारा अभिप्राय इतिहासकारों के बीच मुक्त वैचारिक आदान-प्रदान द्वारा उस समय उपलब्ध किसी भी इतिहासिक विषय के ज्ञान से संसर्ग प्राप्त करना होता है।

इतिहास की सम्भावना केवल इसलिये नहीं है कि उसकी अध्येय वस्तु मानव के अतीत कार्यो के रूप में उपलब्ध होती है। उसकी सम्भावना इसलिये भी है कि किसी भी पीढ़ी के लोग, अपनी विशिष्ट तात्कालिक अभिरूचियों से प्रभावित होकर, अपने पूर्वजो के कुछ कार्यों को समझना चाहते हैं।

गैली की टिप्पणी है कि 'हमारा' इतिहास वे सब अतीत मानव कार्य हैं जिन्हें, उनमें हमारी व्यापक अभिरूचि के कारण, इतिहासकारों ने उत्तरोत्तर बोधगम्य बनाया है। यह "हम" कोई भी मानव-समुदाय हो सकता है, इससे विशेष समुदाय अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार हम इतिहास-लेखन की चौथी आवश्यकता तक पहुँच जाते हैं और वह है "इतिहासिक वृत्तान्तों का सार्वजनिक रूप" । इतिहासकार का बारम्बार आह्वान इसलिये किया जाता है कि वह पाठकों के एक नये समुदाय के लिये,

एक नयी पीढ़ी के दृष्टिकोण से, अतीत के उन कार्यों को फिर से व्याख्यायित करे जिनमें वह समुदाय अभी तक रूचि ले रहा है और जिनके प्रचलित वृत्तान्तों में उसे अब दोष नजर आने लगे हैं। अत: इतिहासिक चिन्तन का कार्य प्राप्त सामग्री की निरंतर आलोचना, संशोधन और व्याख्या करना है।

इस प्रकार गैली हमें सभी इतिहासालेखों के दो स्थायी पक्षों का दिग्दर्शन कराता है। इतिहास के एक पक्ष का सम्बन्ध वर्ण्य घटनाओं के विश्लेषण और उनकी आलोचनात्मक व्याख्या से है और इसका दूसरा आवश्यक पक्ष घटनाओं के एक निश्चित समूह से एक ऐसे वृत्तांत का निर्माण करना है जिसके द्वारा उस घटनाक्रम की अपने चरम बिन्दु में निष्पत्ति पाठक की समझ में आ जाय। इसलिये इतिहास को कहानी का ही एक प्रकार मानना उचित है।

यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि इतिहास कहानी नहीं है क्योंकि इसमें कहानी जैसा गठन और एकता परिलक्षित नहीं होती। यह ठीक है कि इतिहास का कलेवर विशाल होता है और उसमें पात्रों और घटनाओं की ऐसी भरमार रहती है जिसे सुघड़ता कठिनाई से ही दी जा सकती है। अधिकांश इतिहास कुछ थोड़े से व्यक्तियों के बारे में नहीं होते। वे तो व्यापक मानव-समुदायों के पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले संघर्षों के बारे में होते हैं। और उन संघर्षों के विषय भी विशाल और बहुमुखी होते हैं। लेकिन फिर भी इतिहास की मूल-संरचना कथा-मूलक ही है। यदि हम संसार की कुछ विख्यात महान् कहानियों को लें तो पायेंगे कि उनकी कथा-वस्तु भी कुछ वैसे ही अतिवैयक्तिक हैं जैसी कि कुछ इतिहासों की होती है। कहानी और इतिहास दोनों में ही कथ्यों के कुछ रूप ऐसे होते हैं जिनकी अन्तिम निष्पत्ति पात्रों की नई पीढ़ियों में जाकर क्रमश: पूरी होती है और जिसमें प्रत्येक चरण के पात्र अन्य चरणों के पात्रों से किसी एक महान् संयोजक विचार के द्वारा एकता के सूत्र में बांधे गये होते हैं।

इसके अलावा इतिहास और कहानी दोनों में ही हम पाते हैं कि कई एक अन्तिम स्थितियाँ अथवा कथित चरम-बिन्दु केवल अस्थायी होते हैं, क्योंकि एक घटना-समूह की निष्पत्ति से दूसरे घटना-समूह की उत्पत्ति सम्भव होती है और इस प्रकार जो एक कथा-धारा का अन्त: स्थल होता है वही दूसरी का आरम्भ-स्थल हो जाता है। गैली ने संकेत किया है कि इतिहासिक कृतियों में प्राप्त एकत्व का स्वरूप कथा-साहित्य की उस विधा से मिलता-जुलता है जिसे साहित्यकार 'सागा'[2] कहते हैं।

सम्पूर्ण इतिहास में हम कुछ ऐसे प्रभावपूर्ण मोड़ और प्रवृत्तियाँ पाते हैं जो अनेक पीढ़ियों के कर्त्ताओं के कार्यों को एक निश्चित रूप देकर उन्हें किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के क्रम के रूप में परिवर्तित कर देती हैं। उदाहरण के लिये, हम 'दि पोलीनीशियन वार' अथवा 'दी डिक्लाईन एण्ड फाल आफ दि रोमन एम्पायर' जैसे इतिहास-ग्रन्थों को ले सकते हैं।

गैली के अबतम के प्रतिपादन का सारांश यह है कि इतिहास ऐसी घटनाओं का एक क्रमबद्ध वृत्तान्त होता है जिसे इतिहासकार एक कहानी की विधा में रचता है। उसके पाठक इन घटनाओं से पहले से अर्ध-परिचित होते हैं और इतिहासकार अब इन्हें यथास्थान विवेचनात्मक टिप्पणियों से मण्डित करके पुन: प्रस्तुत करता है। जहाँ-तक इतिहासिक कृतियों के पाठक का प्रश्न है, वह इतिहासकार से उन घटनाक्रमों के बारे में, जिनसे वह अशंत: पूर्व परिचित होता है, एक व्याख्या प्राप्त करने की आशा करता है। यह व्याख्या विशिष्ट रूप से इतिहासिक व्याख्या होती है जिसमें साक्ष्य, विश्लेषण आदि का उपयोग पाठक के विश्वास और सहानुभूति जगाने और इतिहासिक संदर्भ को बोधगम्य बनाने के लिए किया जाता है।

अत: चौथे अध्याय में गैली उन विशिष्ट तत्त्वों का विशदीकरण करता है जिनसे कोई अपरिपक्व कथा-वस्तु एक सटीक इतिहासिक वृत्तान्त का रूप ग्रहण कर लेती है। ये तत्त्व सभी इतिहासिक कृतियों में प्रकट रूप से पूर्वकल्पित रहते हैं। इन सैद्धान्तिक तत्त्वों का स्वरूप इतिहासिक वृत्तान्तों में दो प्रत्ययों-मानवीय प्रयोजन और घटनाओं की आकस्मिकता-के महत्त्व के विश्लेषण से स्पष्ट हो सकता है।

साधारणत: इतिहास-चिन्तन का एक प्रमुख तत्त्व व्यक्तियों के प्रयोजनों, संकल्पों और चेष्टाओं का स्वरूप-ज्ञान माना गया है। ये व्यक्ति अलग-अलग अथवा साथ मिलकर अपने निजी अथवा समूहगत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हो सकते हैं।

उपरोक्त मत काफी उपयुक्त प्रतीत होता है। लेकिन गैली के अनुसार अभी तक इस मत का कोई व्यवस्थित और युक्तियुक्त प्रतिपादन नहीं हुआ है। यही नहीं, कुछ लोग उपरोक्त मत को अतिशय नाममात्र के सिद्धान्त से जोड़ देते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार इतिहास-विवेचन में सामान्यात्मक वाक्यों के लिये कोई स्थान नहीं है, जबतक कि उनका प्रयोग किसी विशिष्ट घटना की व्याख्या-हेतु किसी युक्ति के मुख्य वाक्य के रूप में नहीं किया जाता। परन्तु गैली के अनुसार अतिशय नामवाद समीचीन सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि इतिहासिक कृतियों में संस्थात्मक तथ्यों, यथा "प्रशासनिक नीति", "सुधार की प्रगति", "संविधान" आदि-का भी प्रचुर उल्लेख रहता है। और जिस रूप में हम इन संस्थात्मक तथ्यों में होने वाले परिवर्तनों का अनुशीलन करते हैं वह उनसे भिन्न है जिसमें हम किसी एक व्यक्ति के विचारों और कार्यों को समझते हैं। लेकिन नामवादी तो इन संस्थात्मक तथ्यों को व्यक्तियों के विचारों और कार्यों में विघटन करके व्याख्यायित करने का निष्फल प्रयत्न करता है।

फिर भी गैली नाममात्रवाद के विरोधी सिद्धान्त सामान्यमात्रवाद का भी पूर्ण समर्थन नहीं करता। अतिशय सामान्यमात्रवाद के अनुसार, जिसे गैली नहीं मानता, सभी व्यक्तिगत विचार और कार्य संस्थात्मक तथ्यों के माध्यम से ही समझे जा सकते हैं।

नामवादी तो अपने पक्ष के समर्थन में इस लोक-साधारण सत्य को प्रस्तुत करता है कि वास्तविक सत्ता केवल विशिष्ट वस्तुओं और व्यक्तियों की ही होती है। इसलिये संस्थागत तथ्यों की चर्चा केवल एक ऐसा लाघव है जिसमें हम वास्तव में यह इंगित करते हैं कि किस तरह कुछ अलग-अलग व्यक्तियों ने अपनी विचारधारा की दिशा बदल दी।

सामान्यमात्रवादी भी नामवादी से एक महत्त्वपूर्ण बात में सहमत हैं। वह यह कि कोई भी मूर्त क्रिया किसी न किसी व्यक्ति के अंगों की चेष्टा के माध्यम से ही सम्भव है। किन्तु इस तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता है कि परिवर्तन केवल व्यक्ति में होते हैं। सामान्यमात्रवादी के अनुसार सभी विशिष्ट रूप से माननीव कार्य, चाहे वे व्यक्तियों के निजी लक्ष्यों की पूर्ति के लिये ही क्यों न हों, तभी व्याख्यायित हो सकते हैं जब उन्हें व्यक्तिगत भावों और प्रयोजनों के अतिरिक्त सामान्य रूप से स्वीकार्य कतिपय संस्थागत गतिविधियों की भी अभिव्यक्ति माना जाय। पुन:, इतिहास व्यक्तियों का ही नहीं होता। अधिक महत्त्वपूर्ण इतिहास तो संस्थाओं जैसी अमूर्त परन्तु वास्तव सत्ताओं का होता है। इतिहासकार इन सत्ताओं के इतिहास का उद्घाटन करके उन्हें भी ऐसा वृत्तान्त रूप दे सकता है जिसका बोधगम्य अनुशीलन किन्हीं व्यक्तिगत अभिकर्त्ताओं के नामों के अभाव में भी किया जा सके।

गैली नामवादियों से इस बात में तो सहमत है कि हमें अमूर्त सत्ताओं को सजीव रूप देने की प्रवृत्ति को त्याग देना चाहिये। लेकिन वह सामान्यवादियों का भी इस बात में समर्थन करता है कि

इतिहास मात्र क्रमागत घटनाओं का घटाटोप नहीं है और मानव-क्रिया से हमारा अभिप्राय केवल उन क्रियाओं से है जिन्हें पृथक्-पृथक् व्यक्ति एक-दूसरे का परिहार करते हुये करते हैं।

फिर भी गैली का झुकाव एक ऐसे संशोधित नामवाद की ओर है जिसमें सामान्यवाद की ठोस युक्तियों को यथोचित स्थान दिया गया हो। वह कहता है कि यह ठीक है कि सामान्यवादी भी यह मानेगा कि किसी भी संस्थागत कार्य को करने वाले तो अलग-अलग व्यक्ति ही होंगे। लेकिन प्राय: हमें उन व्यक्तियों का न तो कुछ अता-पता मालूम होता है न उनके कार्यों की कोई विस्तृत जानकारी ही उपलब्ध होती हैं। तो फिर हम यह ढकोसला क्यों करें कि संस्थाओं का इतिहास उनके अनाम सदस्यों का इतिहास हैं। नामवादी एक युक्ति देने का उपक्रम कर सकता है। वह कह सकता है कि ऐसी परिस्थिति में अनाम व्यक्तियों की ओर संकेत करना मूक चर (डेमी वेरियेबल) के प्रयोग की प्रख्यात विधि को प्रयुक्त करने के समान है। अर्थात् हम किन्हीं ऐसे अनाम व्यक्तियों को किन्हीं कार्यों के करने के रूप में परिकल्पित करते हैं जिनका अता-पता हमें बाद में कभी ज्ञात हो जायगा।

किन्तु गैली कहता है कि हम इस विधि का इतिहास में ईमानदारी से प्रयोग तभी कर सकते हैं जब हमें पहले से इस बात का सामान्य रूप से पर्याप्त ज्ञान हो कि कुछ संस्थाएं किस तरह कार्य करती हैं। और इस जानकारी का अर्थ यह है कि हम अपने उस कथित मूक चर को अपने पूर्वोपलब्ध ज्ञान-भंडार से कतिपय ऐसे लक्षण प्रदान करते हैं जो उसे कम से कम इतनी मांसलता दे सके कि वह उस व्यक्ति का स्थान ले सके जो 'सरकार का विरोधी', 'अधिनायक' 'जासूस', होने जैसा कोई संस्थागत कार्य एक विश्वसनीय रूप में कर सकने योग्य बना दे। अत: सिद्ध हुआ कि इतिहासकार द्वारा मूक चर की विधि का प्रयोग वास्तव में उसका ठीक उल्टा है जिसका प्रस्ताव नामवादी करता है। इतिहासिक सूझ एक निर्दिष्ट समाज में होने वाले उन परिवर्तनों पर केन्द्रित होती है जिन्हें संस्थाओं की गतिविधियों के बारे में हमारे सामान्य ज्ञान के सन्दर्भ मे अर्थमयता प्रदान की जा सकती है।

अब दोनों मतों की ग्राह्य बातों को लेकर गैली कहता है कि इतिहासकार का प्रथम दायित्व तो ऐसे सामाजिक परिवर्तनों का साक्ष्य-समर्थित बोधगम्य निरूपण करना होता है जो विशिष्ट रूप से मानवीय अभिरुचियों के इसलिये विषय होते हैं क्योंकि वे व्यक्तियों के विचारों, योजनाओं, सफलताओं-असफलताओं आदि पर निर्भर करते हैं। परन्तु ऐसा करने के लिए इतिहासकार के लिये यह भी अपेक्षित है कि वह सामाजिक जीवन के बारे में अनेक प्रकार का सामान्य ज्ञान भी प्रस्तुत करे। यद्यपि सभी इतिहासिक कार्य व्यक्तिगत अभिकर्त्ताओं के हैं तथापि वे कार्य ऐसे हैं जिन्हें कोई भी अभिकर्त्ता तभी कर सकता है जब वह उनके द्वारा किसी न किसी संस्थागत भूमिका, (यथा एक नागरिक, एक पूंजीपति, एक विद्रोही आदि, होने)का निर्वाह कर रहा हो।

गैली सामान्यमात्रवादियों से एक अन्य बात में भी सहमत है, वह यह कि इतिहासकार को इस बात की जानकारी, कि कोई भी व्यक्ति किसी संस्थागत भूमिका का निर्वाह कैसे करता है, इस ज्ञान से प्राप्त होती है कि अमुक प्रकार की साधारण सामाजिक परिस्थिति में हम व्यक्तियों से साधारणत: किस तरह के व्यवहार की आशा करते हैं।

इतना सब मानने के बाद भी गैली सामान्यमात्रवादियों के अन्तिम निष्कर्ष को नहीं मानता। वह नहीं मानता की इतिहास की मुख्य जिज्ञासा का विषय केवल ऐसे सामाजिक परिवर्तन हैं जिनके बारे में यह दिखलाया जा सके कि वे केवल सामाजिक गतिविधियों के बारे में हमारे साधारण ज्ञान के कुछ दृष्टांत रूप हैं। क्योंकि तब तो आज जिसे हम राजनीतिक इतिहास, सामाजिक इतिहास, आर्थिक

इतिहास आदि कहते हैं उनका सम्पूर्ण विलय राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में हो जायगा। लेकिन यह किसी भी प्रबुद्ध इतिहासकार को अभीष्ट नहीं हो सकता। इतिहासकार का कार्य तो सदा की भांति एक ऐसे वृत्तान्त को प्रस्तुत करना रहेगा जो हमें घटनाओं की किसी समष्टि के उसके ज्ञात अन्त तक पहुँचने को हमारे लिये इस प्रकार बोधगम्य बना दे कि उससे उस घटनाक्रम में हमारी अभिरुचि का अतिक्रमण न हो।

इसी प्रसंग में गैली की एक अन्य उल्लेखनीय टिप्पणी निम्नलिखित है। यद्यपि इतिहासिक अभिकर्त्ताओं के अधिकांश क्रियाकलाप उन सामान्य संस्थागत विचारों के अन्तर्गत ही बोधगम्य होते हैं जिनके प्रतिनिधि बनकर वे लोग कार्य करते हैं, तथापि इतिहासिक कृतियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन अभिकर्त्ताओं ने किस भूमिका में अपनी किसी संस्थागत भूमिका का निर्वाह किया अथवा ऐसा नहीं कर पाए।

अन्त में गैली एक बार फिर इतिहासिक बोध में अनुप्रविष्ट दो महत्त्वपूर्ण लक्षणों का उल्लेख करता है : (१) किसी इतिहासिक वृत्तान्त के अनुशीलन में हम वास्तविक जीवन की उन सब प्रासंगिक घटनाओं पर दृष्टिपात करते हैं जिनके बीच से गुजर कर कोई घटनाक्रम अपने चरम बिन्दु की व्याख्या को न केवल उपयुक्त साक्ष्यों की सहायता से अपितु हर प्रकार के सामान्य सिद्धान्तों की व्यक्त अथवा अव्यक्त स्वीकृति के द्वारा भी प्रस्तुत करता है, बशर्ते कि इस प्रस्तावित व्याख्या से सम्पूर्ण घटनाक्रम की बोधगम्यता में कुछ न कुछ अभिवृद्धि हो।

पाँचवें अध्याय में विशेष उल्लेखनीय यह है कि यहाँ आकर गैली स्वयं यह अनुभव करता है कि उसने इतिहासिक कृतियों और इतिहासानुशीलन की जो रूपारेखा अबतक प्रस्तुत की है उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधनों की आवश्यकता इतिहासिक व्याख्या के बारे में उसके अपने ही मत से उत्पन्न होती है।

हम पाते हैं कि गैली इतिहासिक और वैज्ञानिक व्याख्या के प्रस्तुतीकरण के सन्दर्भों, उनकी तर्क-योजनाओं एवं उनके अभीष्टों में स्पष्ट अन्तर करता है। विशेषकर गैली इस प्रचलित मत का खण्डन करता है कि इतिहास और विज्ञान में व्याख्या की तार्किक संरचना तो लगभग एकसी है लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से इतिहासिक व्याख्या कुछ निकृष्ट प्रकार की सिद्ध होती है। गैली इस मत का प्रबल खण्डन करता है कि एक समान तार्किक संरचना के अन्तर्गत वैज्ञानिक व्याख्या तो पूर्ण व्याख्या है परन्तु इतिहासिक व्याख्या एक संक्षिप्त व्याख्या-मूलक रेखांकन है।

अपनी पूर्वोल्लिखित गवेषणा के सन्दर्भ में गैली बल देकर कहता है कि इतिहासिक व्याख्या की तार्किक संरचना और उसका कार्य दोनों इस बात से प्रभावित होते हैं कि इतिहासिक शोध अनिवार्यत: एक बोधगम्य वृत्तान्त के रूप में प्रस्तुत की जाती है। इतिहासिक वृत्तान्त के अनुशीलन की विशेषता यह है कि तद्विषयक बोध ठीक उसी प्रकार का नैसर्गिक बोध है जिसका परिचय हर साधारण व्यक्ति मानव-जीवन की घटनाओं को समझने में देता है। अत: वृत्तान्त के रूप में उल्लिखित हो जाने से ही घटनाएं आप से आप व्याख्यायित होकर पाठक के समक्ष आती हैं। इतिहासिक कृतियों में जिस वृत्तान्त पक्ष की बहुलता है वह स्वभावत: व्याख्यापेक्षी नहीं है, क्योंकि व्याख्या तो केवल उस घटना की ही अपेक्षित होती है जिसे अभी तक वृत्तांत के तंतुजाल में बुना नहीं जा सका है। फिर भी कुछ न कुछ तथ्य ऐसे होते हैं जिन्हें इतिहासकार सहज भाव से वर्ण्य वृत्तान्त में अनुप्रविष्ट नहीं करा पाता, क्योंकि उनकी तुक शेष घटनाओं से प्रत्यक्षत: नहीं बैठती।

इस परिस्थिति में इतिहासकार को इन क्रूर और बेजोड़ तथ्यों को यत्नपूर्वक व्याख्यायित करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसके व्यावसायिक दायित्व की यह मांग है कि वह न तो उनकी उपेक्षा करे और न वृत्तान्त के प्रवाह से अलग-थलग ज्यों का त्यों छोड़ दे।

यही इतिहासिक व्याख्या के प्रदुर्भाव का व्यावहारिक सन्दर्भ है। अब देखना है कि क्या उस हठीली और बेजोड़ घटना की व्याख्या ठीक उसी तार्किक संरचना के अन्तर्गत सम्भव है जिसका प्रयोग वैज्ञानिक करते हैं ? वैज्ञानिक व्याख्या 'आच्छादक-नियम-प्रतिमान' अथवा ''प्राक्कल्पित-निगमन-प्रतिमान'' के अन्तर्गत होती है जो निम्न प्रकार है :-

- प्रयुक्त परिकल्पना अथवा साधारणीकरण
- आरम्भिक परिस्थितियों का निर्देश
- निष्कर्ष अथवा प्रदत्त तथ्य

परन्तु गैली दिखलाता है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत इतिहासालेखों में कोई भी व्याख्या सफलतापूर्वक नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसमें तो व्याख्यापेक्षी व्यष्टिघटना का सारा वैशिष्ट्य ही समाप्त हो जायगा। वह सजीव न रहकर मृत हो जायगी। इस अवांछनीय स्थिति से बचने के लिये गैली इस सामान्यत: उपेक्षित तथ्य की ओर ध्यान केन्द्रित करता है कि इतिहासिक घटनाओं की व्याख्या का सदैव कोई न कोई व्यावहारिक (प्रेग्मेटिक) पक्ष होता है।

इस व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि इतिहासिक वृत्तान्तों में व्याख्या की भूमिका मुख्य न होकर सहायक होती है। अर्थात् इतिहासिक कृतियों में व्याख्या, वर्ण्य घटना-क्रम के सहज प्रवाह को रोककर, बाहर से किया गया निरीक्षण है।

वृत्तान्तों में वर्ण्य घटनाक्रम पाठकों के लिए तत्काल बोधगम्य होता है, क्योंकि उन्हें कुछ ऐसे साधारणीकरणों का पूर्व ज्ञान होता है जिनके द्वारा वह आगामी घटनाओं का ''क्रमिक निरीक्षण'' (प्रोग्रेसिव ऑब्जरवेशन) कर सकता है। लेकिन घटनाओं की इस तात्कालिक बोधगम्यता को उनकी सायास व्याख्या नहीं कहा जा सकता। जब पाठक को कुछ अटपटा या अनहोना ही नहीं लग रहा हो तो फिर उसे व्याख्या की आवश्यकता ही क्या है ?

किन्तु फिर भी यह मानना भूल होगी कि प्रत्येक इतिहासिक वृत्तान्त निरपवाद रूप से स्वत: व्याख्यायित होता है। क्योंकि फिर तो इतिहास में व्याख्या अनावश्यक हो जायगी। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है, क्योंकि सावधानी से बुना हुआ वृत्तान्त का तन्तुजाल भी अनेक कारणों से कई स्थलों पर अपूर्ण अथवा खण्डित होता है। दूसरे शब्दों में, जिन साधारणीकरणों का प्रयोग घटनाओं के क्रमिक निरीक्षण के लिए किया जाता है वे कुछ घटनाओं को तो मानों निवर्त्तित कर देते हैं और हमारे बोध में एक रिक्तता आ जाती है। इस स्थिति में संवेदनशील इतिहासकार के लिए सावधान रहना आवश्यक होता है। इसके लिये वह घटनाक्रम पर पुन: दृष्टिपात करके उन अननुविद्ध घटनाओं को अनुस्यूत करने के लिए किसी नये व्याख्या-सूत्र की खोज आरम्भ करता है। तदर्थ इतिहासकार प्रयुक्त साधारणीकरणों में या तो सप्रयोजन संशोधन करके अथवा किसी अन्य साधारणीकरण का प्रयोग कर उन घटनाओं की संगति बैठाता है।

इतिहासिक वृत्तान्त में सहज रूप में अनुप्रविष्ट अनेकानेक व्याख्यात्मक शब्द, जैसे ''इसलिए'', ''कारणवश'' आदि वास्तव में व्याख्या-मूलक न होकर मात्र वृत्तान्त मूलक होते हैं। एक उदाहरण लें ''राष्ट्रपति के पास यह समाचार अब पहुँच चुका था, इसलिये उन्होंने निम्न आदेश जारी

किया" । यहाँ ऐसा लगता है कि "इसलिये" शब्द से पहले का वाक्यांश उसके बाद के वाक्यांश की व्याख्या है। परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। यहाँ यदि हम "इसलिये" के स्थान पर "तदुपरान्त" शब्द लगा दें तो भी अर्थ वही बना रहेगा, किन्तु तब इस वाक्य के वृत्तान्त-मूलक होने में कोई सन्देह नहीं रहेगा।

जैसाकि प्राय: होता है, कालान्तर में किसी घटना-समष्टि का अत्यन्त श्रेष्ठ वृत्तांत भी नयी अपेक्षाओं के संदर्भ में अपर्याप्त और असन्तोषजनक हो जाता है। ऐसा दो कारणों से सम्भव है। प्रथम सहयोगी विज्ञानों में प्रगति होने के कारण परवर्त्ती इतिहासकार को कोई नया सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र मिला जाता है जिससे वह या तो एक सम्पूर्ण घटना-क्रम को पहले से अधिक बोधगम्य रूप में प्रस्तुत कर सकता है, अथवा वह पहले उपलब्ध वृत्तान्तों में किसी अव्याख्यायित घटना की व्याख्या कर सकता है। दूसरे, कुछ ऐसे नये प्रामाणिक इतिहासिक तथ्य प्रकट हो सकते है सकते हैं जिनके कारण कोई परम्परागत वृत्तान्त अब सदोष प्रतीत होता है।

अत: यह निर्विवाद है कि किसी भी युग अथवा घटना-समाष्टि के इतिहासिक वृत्तान्तों को पुन: लिखने की निरन्तर आवश्यकता बनी रहती है। हर युग अपने समय की प्रचलित रुचियों, सैद्धान्तिक मान्यताओं और स्वीकार्य साक्ष्यों के सन्दर्भ में ही अतीत के किसी खण्ड पर दृष्टिपात करने को प्रेरित होता है।

पुस्तक के अन्तिम पाँच अध्यायों में दिखाया गया है कि विविध बौद्धिक जिज्ञासाओं, विशेषकर दार्शनिक समस्याओं, के सम्यक् अनुशीलन के लिए उनका इतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन किस प्रकार अत्यन्त प्रबोधक हो जाता है। इन अध्यायों का विशिष्ट महत्त्व यह है कि उनमें गैली द्वारा प्रतिपादित इतिहासिक बोध के सिद्धान्त को बौद्धिक जिज्ञासा के विभिन्न क्षेत्रों में लागू करके यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार उसके समुचित उपयोग से हमें अनेक आसंग घटनाओं के बीच से संक्रमण करती हुई मानव की बहुमखी सांस्कृतिक सृजनशीलता का अप्रतिम आभास मिलता है। इस प्रकार की समस्या के दृष्टिकोण से हमारे लिए छठे, सातवें और दसवें अध्यायों का विवेचन अधिक उपयोगी है, और केवल उन्हीं पर विचार किया जायगा। सर्वप्रथम गैली यह दिखलाता है कि इतिहासिक पद्धति एवं तज्जन्य उपलब्धियों के विभिन्न बौद्धिक क्षेत्रों में सदुपयोग और दुरुपयोग से उसका क्या अभिप्राय है। अन्त में गैली अपने अध्ययन का समापन यह दिखलाकर करता है कि तत्त्वचिन्तन और इतिहास में किस प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध है।

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि इतिहासिक बोध का विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्ध बोध से घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों में सामान्य सिद्धान्तों की भिन्न किन्तु महत्त्वपूर्ण भूमिका है किन्तु इतिहासिक बोध साधारणीकरणों की उपस्थिति के बावजूद स्वायत्त और विलक्षण बना रहता है। इसका कारण यह है कि इतिहासिक बोध में हम किसी भी प्रकार की वैचारिक क्रिया के अन्तिम प्रतिफल को उसकी समस्त क्रमागत पूर्ववर्ती घटनाओं पर विहंगम दृष्टि डालकर ही समझ पाते हैं। अत: इतिहासिक बोध का महत्त्व आगामी घटनाओं की भविष्यवाणी करने में नहीं होता। भविष्यवाणी के लिए इतिहासिक बोध का उपयोग सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि उसका क्षेत्र तो केवल व्यतीत घटनाक्रम तक ही सीमित रहता है। इतिहासिक बोध कुछ न कुछ भविष्योन्मुखी भी होता है। साथ ही उसका सम-सामयिक व्यावहारिक महत्त्व भी होता है। इसके द्वारा हम क्रमश: उभरती मानवीय स्थिति के विविध पहलुओं से, चाहे वे प्रत्यक्षत: कितने ही अप्रत्याशित क्यों न हों, सावधानी और आत्मविश्वास से निबटने के लिए प्रेरित होते हैं। इस दिशा मे इतिहासिक बोध तीन प्रकार से सहायक होता है। प्रथम, इससें हमें पता चलता है कि हम वर्तमान में क्या हैं और अतीत में कहाँ से चलकर यहाँ आये हैं। द्वितीय, इसके द्वारा न केवल

हम अपनी आगामी कठिनाइयों का कुछ आंशिक पूर्वाभास पाते हैं बल्कि जब वे सामने आ खड़ी होती हैं, तब हम अपने को बिल्कुल लाचार नहीं पाते; क्योंकि हमें पता रहता है कि हमारे पूर्वजों ने भी वैसी ही कठिनाइयों से जूझकर उन पर सफलता प्राप्त की है। अन्तिम, इतिहासानुशीलन से हमें यह शिक्षा भी मिलती है कि बदलने से जो मूर्त नैतिक समस्याएं प्रकट होती हैं उनके लिये नैतिक व्यवहार की दृष्टि से, हमारे लिये क्या करना अथवा नहीं करना अधिक उपयुक्त होगा।

सारांश यह कि इतिहासिक-बोध का स्वरूप भविष्य-निर्धारणात्मक नहीं होने पर भी वह भविष्य-दृष्टि देता है और इतिहासिक भविष्य के विनियोजन में कुशल बनाता है। यह बोध नैतिक निर्णयों में हमारे लिये विशेष रूप से सहायक होता है। इसका कारण यह है कि हमें नैतिकता के व्यापक संस्थागत पक्ष का पर्याप्त ज्ञान इतिहासनुशीलन से ही प्राप्त होता है। एक संस्था की सेवा हम तब तक नहीं कर सकते जबतक उसके नैतिक मूल्य में हमारी निष्ठा नहीं हो। इतिहास ही हमें सिखाता है कि वे कौन सी संस्थाएं हैं जो समय की कसौटी पर बारम्बार खरी उतरी हैं- और यह कि महत्त्वपूर्ण संस्थाएं भी तब कैसे विगलित और विनष्ट हो जाती हैं जब उनसे सम्बद्ध सदस्य उन्हें अक्षुण्ण बनाये रखने में पर्याप्त सतर्कता और अध्यवसाय का परिचय नहीं देते। संक्षेप में, विविध मानवीय संस्थाओं की उपयोगिता और उनके मूल्य के बारे में मान्यताएं तभी अधिक पुष्ट होती हैं जब वे पहले से ही इतिहासिक समीक्षा द्वारा स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हो जाती हैं।

सातवें अध्याय में गैली ने इतिहासिक बोध और दर्शन के बीच सम्बन्ध को लेकर प्रचलित भ्रांतियों का निकराकण किया है और फिर उनके यथार्थ पारस्परिक सम्बन्ध का सूक्ष्म विवेचन किया है। गैली दिखलाता है कि, एक ओर तो कुछ विचारक यह आक्षेप लगाते हैं कि दार्शनिक अपने अध्ययन में इतिहास के भार से आवश्यकता से अधिक दबे रहते हैं और दूसरी ओर यह भी एक तथ्य है कि, थोड़े से अपवादों को छोड़कर, अधिकांश दार्शनिकों ने सामान्य बौद्धिक जीवन में अपनी इतिहासिक भूमिका के प्रति लगभग पूरी उपेक्षा प्रदर्शित की है। विशेषकर आधुनिक युग के दार्शनिकों ने तो बारम्बार यह घोषणा की है वे अपने चिन्तन का आरम्भ पिछले सभी प्रभावों को मिटाकर एक सपाट कागज पर कर रहे हैं। दार्शनिकों द्वारा अपने चिन्तन के पूर्ण रूप से मौलिक होने के दावों के उपरांत भी हम पाते हैं कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी हर युग के दार्शनिकों के चिन्तन में चर्चित आधारभूत समस्याओं की दृष्टि से आश्चर्यजनक साम्य रहा है। अत: हम यह पूछने को बाध्य होते हैं कि उन लगभग स्थायी संस्थागत ढाँचों (फ्रेमवर्क्स) का उद्भव किस प्रकार हुआ जो सभी दार्शनिकों की चिन्तन-क्रिया में उत्कीर्ण हैं। यह प्रश्न निश्चय ही इतिहासिक है। इसके अध्ययन का मुख्य प्रयोजन स्वयं दार्शनिकों को यह दिखलाना है कि वे कौन से बौद्धिक कार्य हैं जिन्हें वे दार्शनिक-चिन्तन के हेतु प्राय: अभ्यासवश किया करते हैं।

तदुपरान्त गैली दार्शनिक चिन्तन में परिलक्षित कतिपय मौलिक प्रत्ययों एवं मूलभूत समस्यों के संस्थागत लक्षणों का अनुसंधान करता है जिससे वह दार्शनिक चिन्तन में व्याप्त उस विरोधाभास का स्पष्टीकरण कर सके जिस पर उसने हमारा ध्यान आरम्भ में ही आकृष्ट किया था। संक्षेप में, विरोधाभास यह कि जहाँ एक और दार्शनिक चिन्तन का क्षेत्र उसकी परम्परागत मूल समस्याओं के समाधान के अनेक क्रान्तिकारी दावों से पटा पड़ा है वहाँ, दूसरी ओर, हर कथित कोपरनिकन क्रान्ति के बाद, वही अनिराकृत समस्याएं लगभग पहले जैसे रूप में लगातार पुनरूज्जीवित होती रहती हैं। इस विरोधाभास की इतिहासिक पृष्ठभूमि के उद्धाटन का यह लाभ है कि हम दार्शनिक चिन्तन के कथित प्रगतिहीन स्वरूप के उपरान्त भी उसकी अनिवार्यता और उपयोगिता को अधिक स्पष्टता से समझ सकते हैं।

पश्चिम में दर्शन मूलत: एक अकादमिक विषय ही बना रहा है। जिन प्रश्नों से इसका सम्बन्ध रहा है वे निर्भर प्रश्न ही माने जाते हैं। अर्थात् वे प्रश्न ऐसे हैं जो अन्य विज्ञानों या अध्ययनों के मूलभूत प्रत्ययों तथा तज्जन्य बौद्धिक उलझनों पर दृष्टिपात करने से उत्पन्न होते हैं। दार्शनिक अध्ययन का यह निर्भर-स्वरूप दार्शनिक चिन्तन के तीनों मुख्य आयामों, तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिशास्त्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

दो हजार वर्षों से अधिक के गहन चिन्तन के बाद भी इन तीनों विद्याओं के अन्तर्भूत चिन्तन का अप्रगतिशील रूप छिपाया नहीं जा सकता। केवल एक उदाहरण से ही बात साफ हो जायगी : पिछले सौ वर्षों में नवीन आकारिक तर्कशास्त्र की अन्यतम उपलब्धियों के उपरान्त भी प्राचीन तर्कशास्त्र के अनुयायी आज भी यह ठीक दावा कर सकते हैं कि अरस्तु के तर्कशास्त्र ने सीमांकन की जिन समस्याओं के समाधान का लगभग निष्फल प्रयत्न किया था वे समस्याएं आज भी पहले जैसी ही खड़ी हैं। गैली के इस कथन के दृष्टांत के रूप में हम बार्टले द्वारा पॉपर के उन दावों के खण्डन को ले सकते हैं जिनमें पॉपर ने सीमांकन की समस्याओं के निर्णायक समाधान की बात कही गयी है।[3] फिर भी दार्शनिक लोग हार मान कर बैठ क्यों नहीं जाते ? यह बात क्यों विचारणीय नहीं है कि दार्शनिक चिन्तन पर भी कभी पटाक्षेप होगा ?

गैली दर्शन के इतिहास की परीक्षा द्वारा दिखलाता है कि दार्शनिक चिन्तन क्यों अभी तक जीवन्त है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में सुकरात के समय से (और उससे भी पहले से) एक विचार-द्वन्द्व विद्यमान रहा है। यह द्वन्द्व ही दार्शनिक चिन्तन की मूल प्रेरणा का स्रोत बना हैं। सभी निर्भर या द्वितीय स्तरीय प्रश्न और उनके सम्प्रेषित उत्तर मानो केवल वैकल्पिक अनुसंधानात्मक दृष्टि-बिन्दु हैं जिनका इतिहासिक कार्य बौद्धिक जिज्ञासा के अन्य क्षेत्रों में चिन्तन को व्यवस्थित करके उसे आगे बढ़ाना है। लेकिन यह दृष्टि-बिन्दु अपने-आप में नये ज्ञान की खोज और प्राप्ति के उपकरण नहीं हो सकते। वे मानो पृष्ठभूमि से ही क्रियाशील रहते हैं। क्योंकि इन दृष्टि-बिन्दुओं का किसी प्रायोगिक विधि से सत्यापन सम्भव नहीं है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उनके जीवन्त रूप को सुरक्षित रखने के लिये उन्हें बारम्बार चुनौती देकर आलोचना के क्षेत्र में उतारा जाय, उनकी पुन: परिभाषा की जाय और इस परिभाषा को एक बार फिर चुनौती दी जाय। दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दार्शनिक चिन्तन अपनी विकलता को त्यागकर कभी भी शान्त रूढ़ि में परिणत नहीं हो सकता। दर्शन के अपने विशिष्ट द्वितीय स्तरीय अथवा निर्भर प्रश्न उन सब ज्ञान-विधाओं से सम्बद्ध हैं जो स्वयं प्रगतिशील हैं। इसीलिये, इस प्रगति के फलस्वरूप, हर अकादमीय पीढ़ी के लिये, एक प्रतिक्रिया के रूप में नयी-नयी दार्शनिक चुनातियाँ उभरती रहती हैं। लगता है कि दर्शन की अपनी अनिराकृत समस्याओं में भी कुछ ऐसा अदम्य आकर्षण है कि वे हर पीढ़ी के बुद्धिजीवियों के लिये वर्तमान समस्याएं बनी रहती हैं। दर्शन के मूल में विद्यमान उपरोक्त द्वन्द्वात्मक तत्त्व दो अन्य दिशाओं में भी विकसित हुआ है। प्रथम यह दर्शन के क्षेत्र से आगे बढ़कर, बौद्धिक जिज्ञासा के अन्य सभी क्षेत्रों में भी संक्रमण कर गया है। इसका फल यह हुआ है कि विवेचनात्मक चिन्तन की विधि को अब सभी जगह शीर्ष स्थान प्राप्त है। द्वितीय इस द्वन्द्व और तज्जन्य ज्ञानोपलब्धियों का प्रभाव पुन: दार्शनिक चिन्तन की मूल समस्याओं के प्रतिपादन पर पड़ा है। विशेषकर देकार्त के समय से दर्शन ने बारम्बार अपने ज्ञानविषयक सिद्धांतों को संशोधित करके गणित एवं प्रायोगिक विज्ञानों की आश्चर्यजनक सफलताओं को विशिष्ट व्याख्या-सूत्रों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। फलत: वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी सफलता की व्याख्या के बारे

में प्रतिस्पर्धी दार्शनिक धारणाओं ने एकबार फिर मूल द्वन्द्व को और अधिक उग्र रूप प्रदान किया है। दार्शनिक चिन्तन की इस सतत विक्षोभपूर्ण अवस्था की व्याख्या स्पष्ट रूप से इतिहासापेक्षी है। पहले तो दर्शन ने विज्ञान का हितेषी बनकर उसे, अपनी युक्तियों द्वारा, मध्यकालीन धार्मिक रूढ़िवाद के चंगुल से मुक्त कराया और वैज्ञानिक चिन्तन को व्यावहारिक दृष्टि से स्वायत्तता प्रदान कराई। फिर यही विज्ञान जब आशातीत सफलताएं प्राप्त करने लगा तो स्वयं दार्शनिक चिन्तन को विज्ञान से अपने अस्तित्व की सुरक्षा एवं अपने क्षेत्र की स्वायत्तता के लिये खतरा अनुभव हुआ। इसकी वजह यह थी कि वर्तमान आधुनिक विज्ञान एक उत्साही और ढीठ बालक के समान ज्ञान की एकमात्र युक्त विधा होने का दावा करने लगा। यही कारण है की दर्शन में विज्ञान की युक्तता और उसके मूल्य के बारे में निरन्तर विमर्श चल रहा है। विज्ञान का बौद्धिक आश्रयदाता होकर भी दर्शन उससे संत्रस्त है और कदाचित् आगे भी रहेगा।

अब हमें इस बात का संकेत मिलता है कि क्यों, स्पष्ट और उल्लेखनीय प्रगति के अभाव में भी, दार्शनिक जिज्ञासा के क्षेत्र में द्वितीय स्तरीय प्रश्नों से जूझना समाप्त नहीं हो सकता। पाश्चात्य चिन्तन में व्याप्त द्वन्द्वात्मक तत्त्व, अपने दोनों परिणतियों सहित, विकास की इतिहासगत परिस्थितियों के प्रभाव से, पाश्चात्य बौद्धिक जीवन की सभी सामान्य प्रत्ययात्मक परियोजनाओं का अभिन्न अंग बन चुका है। मान्य सामाधान के अभाव में भी, इस अनिराकृत समस्याओं की निरंतर चर्चा ज्ञान की शेष सभी प्रगतिशील विधाओं के लिये मानो उर्वरक का कार्य करती है। वैचारिक संघर्ष के बिना तो हम पाश्चात्य बौद्धिक जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। ये द्वन्द्व न केवल विविध विज्ञानों के अपने-अपने चिन्तन की परिधि के अन्दर ही हैं बल्कि सभी क्षेत्रों में वैचारिक चिन्तन और उनसे सम्बद्ध द्वितीय स्तरीय प्रश्नों के बीच भी है। सारांश यह कि दार्शनिक चिन्तन के इतिहास के अनुशीलन से ही यह पता चलता है कि दर्शन के वक्ष में व्याप्त विक्षोभ ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में हुई प्रगति का कारण और परिणाम दोनों ही होता है। इस विशिष्ट इतिहासिक परिदृष्टि के बिना हमें समस्त दार्शनिक-चर्चा निरर्थक और समय की बरबादी ही प्रतीत होती है।

अन्त में गैली तत्त्वचिन्तन और इतिहास के बीच के विवाद को लेते हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों ही अध्ययन ज्ञान की मौलिक, अतिसामान्य और सर्वव्यापक विधा होने का दावा करते हैं। और इसलिये प्रत्येक का यह प्रयत्न रहा है कि दूसरे प्रकार के अध्ययन का उसमें अर्न्तभाव हो जाय।

तत्त्वचिन्तन-मूलक सभी कथनों में एक बात सामान्य है : अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों की परिधि में तथा उसके सभी क्षेत्रों में परस्पर, तत्त्वचिन्तन की अभिरूचि का विषय इन क्षेत्रों के कथनों की अवगम्यता (इन्टेलिजिबिलिटी) के विभिन्न प्रकारों का स्वरूप-निर्धारण और उनकी बोधगम्यता की मात्रा का अनुमापन होता है। अत: तत्त्वचिन्तन की इतिहास में भी प्रत्यक्ष अभिरूचि है, क्योंकि वह भी ज्ञान का एक प्रकार है, और उसमें भी अवगम्यता के अनेक स्तर हैं। उधर तत्त्वचिन्तन का सम्पूर्ण कलेवर भी एक विशेष प्रकार की वैचारिक क्रिया का क्रमागत इतिहासिक परिणाम है। अत: इतिहास का भी यह दावा उचित है कि वह तत्त्वचिंतन की सभी उपलब्धियों को अपनी विशिष्ट अध्ययन विधि से अधिक अवगम्य बना सकता है, जो अन्यथा सम्भव नहीं है।

तत्त्वचिन्तन के इस इतिहासगत स्वरूप के समर्थन में कुछ प्रबल युक्तियाँ कॉलिंगवुड ने अपनी पुस्तक ''एस्से ऑन मैटाफिजिक्स'' में दी है। उसके अनुसार तत्त्वचिंतन कतिपय निरपेक्ष पूर्व-मान्यताओं की प्रस्थापना एवं उनका विवेचनात्मक औचित्यीकरण है। फलत: इस विचार-क्रिया के

सम्पादन के लिये विचारक द्वारा इतिहासिक विश्लेषण का आश्रय लेना आवश्यक है। इतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही हम किसी भी तत्त्वचिंतन-प्रणाली के उस मूलभूत वैचारिक ढाँचें का निर्माण कर सकते हैं जिसके अन्तर्गत एक विशिष्ट युग या सभ्यता के सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये जाते हैं। क्योंकि तत्त्वचिन्तन वह अध्ययन है जिसका सम्बन्ध सभी निरपेक्ष पूर्व-मान्यताओं के क्रमिक उद्‌घाटन से है इसलिये, एक युक्त ज्ञान विधा के रूप में, यह अध्ययन इतिहास-विधि के अनुगत ही हो सकता है। इसकी सफलता की कसौटी यह है कि वह दिखला सके कि किन विशिष्ट सांस्कृतिक एवं सभ्यता-मूलक परिस्थितियों में किन्हीं निरपेक्ष पूर्वमान्यताओं का प्रथम उद्‌बोध होता है। और यह कि कैसे वे पूर्व-मान्यताएं उन मूल परिस्थितियों के कालान्तर में बदलने से रूपान्तरित होती हैं। गैली कॉलिंगवुड के उपरोक्त विचार से केवल आंशिक रूप में सहमत। कॉलिंगवुड के मत में, तत्त्वचिन्तन के विकास को प्रभावित करने वाले वास्तविक इतिहासिक तथ्यों के सन्दर्भ में, कई स्थलों पर परिवर्तन की आवश्यता है।

प्रथम, गैली के विचार में कॉलिंगवुड का निरपेक्ष पूर्व-मान्यता का विचार अस्पष्ट है क्योंकि उसने निरपेक्ष और सापेक्ष पूर्वमान्यताओं के बीच मनमाने रूप से अन्तर किया था।

द्वितीय, वस्तुस्थिति यह है कि तत्त्वचिन्तन के इतिहास में हमें केवल किसी एक निरपेक्ष पूर्वमान्यता अथवा पूर्वमान्यताओं के एक पुंज का ही अवगमन नहीं होता है। हम पाते हैं कि एक युग के आरम्भ में ही कई प्रतिस्पर्धी मान्यता-प्रणालियाँ एकसाथ प्रस्फुटित होती हैं और उनमें एक-दूसरे पर हावी होने के लिये संघर्ष चलता रहता है। तात्त्विक सिद्धान्त की कोई प्रणाली अपने प्रतिद्वन्दी से सदा के लिये हार नहीं मान लेती बल्कि प्रत्येक कथित पराजय के बाद वह शनैः शनैः पुनः शक्ति-सम्पन्न होकर फिर मैदान में उतर आती है। अतः तत्त्वचिन्तन की मूलभूत प्रतिस्पर्धी प्रणालियाँ एक युग के बदलने पर भी सर्वथा विलुप्त नहीं होतीं। कुछ समय भूमिगत रहने के पश्चात्, नये युग के आरम्भ होने पर, वे ही नयी साज-सज्जा में फिर से प्रस्फुटित हो जाती हैं और उनके बीच का संघर्ष कुछ नयी दार्शनिक पदावलियों के माध्यम से पुनः आरम्भ हो जाता है।

अन्तिम बात और भी महत्त्वपूर्ण है। कॉलिंगवुड ने किसी युग के तत्त्वचिन्तन में उपलब्ध निरपेक्ष पूर्वमान्यताओं की किसी एक समष्टि और उसी युग में मान्य वैज्ञानिक नियमों के किसी वाक्य-समूह में व्याप्त सम्बन्ध को भलीभांति व्याख्यायित नहीं किया है। यह तो ठीक है कि किसी एक निरपेक्ष पूर्वमान्यता-मूलक कथन से कोई विशिष्ट वैज्ञानिक परिणाम स्वतः फलित नहीं होता है। लेकिन विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में जब वैचारिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव होता है तो उस क्रान्ति के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त तात्त्विक कथनों की आवश्यकता थोड़े समय बाद अनुभव की जाती है और तत्त्वचिन्तन की दिशा में कुछ न कुछ परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि कॉलिंगवुड के मत में कई व्यापक संशोधन अपेक्षित हैं ताकि उसका मत विचारों के इतिहास के ज्ञात तथ्यों के अधिक निकट आ जायें।

गैली के मतानुसार, विचारों के सामान्य इतिहास में अनेक तात्त्विक कथन विभिन्न विचार-प्रणालियों की संरचना के आवश्यक गत्यात्मक अंश बनकर उद्‌भूत होते हैं। यह द्रष्टव्य है कि गत्यात्मक अंशों की अन्तर्वस्तु भी ज्ञान की शेष सभी विधाओं में पूर्वमान्यताओं के रूप में स्वीकृत विचार होते हैं जो किसी युग में व्यापक रूप में स्वीकार किये जा चुके होते हैं। किंतु इतिहासिक सन्दर्भ में सभी निरपेक्ष पूर्व-मान्यताएं अस्थायी सिद्ध होती हैं। इसलिये तत्त्वचिंतन में इस बात की आवश्यकता बनी रहती है

कि उसमें अन्तर्भूत सभी अस्थायी पूर्वमान्यताओं का उस काल के ज्ञान-भंडार पर जो सामान्य प्रभाव हो उसकी सही जानकारी प्राप्त करे। यह प्रभाव एकपक्षीय नहीं होकर अनैकान्तिक है। इसका सम्यक् ज्ञान एक सम्पूर्ण युग की विशिष्ट वैचारिक समस्याओं के व्यापक और विस्तृत विश्लेषण से ही सम्भव है।

अत: तत्त्वचिन्तन न विज्ञान है, न तर्कशास्त्र और न भाषा-विश्लेषण। इसका कार्य सम्पूर्ण चिन्तन-क्रिया का, उसके विभिन्न एवं विशिष्ट वैज्ञानिक सन्दर्भों में, उसी अर्थ में व्यवस्थापन है जिसका प्रतिपादन काण्ट ने अपने विवेचनात्मक दर्शन में किया था। तत्त्वचिन्तन के इस महान् और अनेक पक्षीय कार्य को किसी एक संक्षिप्त सूत्र के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उस कार्य को समझने के लिए तीन अन्य बातों का ज्ञान भी आवश्यक है। (1) किसी तत्त्व-विचारक द्वारा प्रतिपादित किसी भी तात्त्विक कथन का प्रतिद्वन्द्वी कथन क्या है ? (2) उस विचारक ने किन विशेष युक्तियों द्वारा उक्त प्रतिद्वंद्वी कथन को खण्डित किया है ? तथा (3) इस नये कथन का उपयोग वैज्ञानिकों ने अपनी किसी उल्लेखनीय समस्या को किसी विशिष्ट वैचारिक रूप में प्रस्तुत करने के लिए किस प्रकार किया है ?

गैली ने तत्त्वचिन्तन के कथनों को ज्ञान की शेष विधाओं में प्रयुक्त कथनों के व्यवस्थापक के रूप में ही महत्त्व नहीं दिया है। उनका एक अन्य विशिष्ट महत्त्व भी है जिसका ज्ञान भी हमें तत्त्वचिन्तन के इतिहास के अनुशीलन से ही होता है। समस्त तात्त्विक कथनों और उनसे निर्मित वैचारिक संस्थानों में हम एक प्रकार की मौलिक भव्यता का भी दर्शन करते हैं। तात्त्विक कथनों के संस्थान एक निश्चित वैचारिक परिदृष्टि को भी बड़े उदात्त और साहसिक रूप में व्यक्त करते हैं। इतिहास बताता है कि, अनेक अन्तर्निहित विरोधाभासों के उपरान्त भी, तत्त्वचिन्तन ही ऐसी एकमात्र ज्ञान-प्रक्रिया है जिसमें वे सब विकट संघर्ष प्रतिबिम्बित होते हैं जो मानव-सभ्यता की बारम्बार उच्छ्वसित होने वाली सम्प्रेरणाओं में निहित हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हम तत्त्वचिन्तन के द्वारा आत्मातिक्रमण के उस महान् समृद्ध अनुभव को भी प्राप्त करते हैं जो मानव की अपनी अनुपम इतिहासात्मकता के बोध की चरमोपलब्धि है।

अब हम गैली द्वारा प्रस्तुत इतिहासिक सूझ के सिद्धान्त का यथासंभव विवेचन करेंगे जिससे, उसके महत्त्व एवं उसकी युक्तता की समीक्षा हो सके। हम यह भी दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि गैली के अध्ययन में कौन सी अनिराकृत समस्याएं शेष हैं और उनके समाधान की दिशा क्या हो सकती है ?

अब यहाँ गैली के अध्ययन की मुख्य उपलब्धियों की ओर एक बार फिर संकेतित करना समीचीन होगा। प्रथम बात यह है कि गैली को इस बात का श्रेय दिया गया है कि उसने इतिहासालेखों के वृत्तान्तपरक पक्ष के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया है। गैली ने जिस प्रकार किसी इतिहासिक घटना-क्रम के आरम्भ से अन्त तक पहुँचने की प्रक्रिया के वर्णन, और उस वर्णन को समझने में प्रयुक्त बोध की विशेषताओं का दिग्दर्शन किया है उससे हमें उन मौलिक संज्ञानामक तत्त्वों का पता चला है जो न केवल इतिहासालेखों के प्रस्तुतीकरण और अनुशीलन में समान रूप से मिलते हैं बल्कि जो खेल अथवा कहानी की संरचना में भी सरल एवं स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं।

इन मौलिक तत्त्वों के विश्लेषण में गैली ने उस अनुभव-सिद्ध अनैकान्तिक दृष्टि का परिचय दिया है जो अन्यान्य इतिहास-विवेचकों में प्राय: नहीं मिलती है। गैली का मत इसलिए उल्लेखनीय है कि इसमें उस परम्परागत पूर्वाग्रह का परित्याग किया गया है जिसके अनुसार समस्त प्रकार की वैचारिक प्रक्रियाओं की युक्तता एवं वैधता का एक ही तार्किक-रूप होना चाहिये। गैली मानता है कि मानवीय चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों को व्यवस्थित और व्याख्यायित करने के लिए किसी एक सार्वभौमिक

तर्क-विधा की आवश्यकता नहीं है। अपितु विभिन्न प्रकार की बौद्धिक जिज्ञासाओं का नियमन और ज्ञापन करने के लिए विभिन्न प्रकार की तर्क-विधाए अभीष्ट होती हैं। बौद्धिक जिज्ञासा तीन प्रकार के मौलिक विमर्शों में परिलक्षित होती है, यथा सैद्धान्तिक (अर्थात् आनुभविक विज्ञान-मूलक), व्यावहारिक (अर्थात् नीति-विज्ञान-मूलक) एवं इतिहासिक। इन सभी विमर्शों की अपनी अलग-अलग तर्क विधाएं हैं जिनके स्वरूप के उद्घाटन पर आधुनिक विवेचनात्मक दार्शनिकों ने पर्याप्त बल दिया है। गैली भी इसी विचारधारा का समर्थक है और उसने इतिहासिक ज्ञान की विशिष्ट तर्क-विधाओं का, घटना-समूहों में अनुप्रविष्ट आकस्मिकताओं के सन्दर्भ में निर्धारण किया है।

गैली की दूसरी उपलब्धि सब प्रकार की इतिहासिक शोधों में प्रस्तुत व्याख्याओं के विभिन्न प्रकारों एवं उनके विशिष्ट सन्दर्भों और प्रयोजनों का विशद विवेचन है। विशेषकर गैली ने व्याख्या "प्रयोगोपययुक्तता-सिद्धान्त" (एप्लीकेबिल्टी थ्योरी) को इतिहासालेखों पर भी ज्यों का त्यों लागू करने की रूढ़ि को चुनौती दी है। गैली ने यह भी दिखलाया है कि इतिहासिक कृतियों में उपलब्ध व्याख्या-अंश का वही महत्त्व नहीं है जो आनुभाविक विज्ञानों में है। गैली ने इतिहासिक वृत्तान्तों में साधारणीकरणों के विशिष्ट और सीमित उपयोग तथा उसमें व्याख्या-अंश की गौण भूमिका को इतिहास और विज्ञान का एक विच्छेदक लक्षण भी सिद्ध किया है।

अन्त में गैली ने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है कि नये-नये इतिहास-ग्रन्थों की रचना एवं उनके अध्ययन का विशिष्ट सन्दर्भ क्या है ? गैली इस समस्या पर विचार करते हैं कि वह "एक इतिहासिक जगत्", जो सभी इतिहासिक-कृतियों की जिज्ञासा का केन्द्र-बिन्दु होता है, इतिहासकार के ग्रहण में पूर्णत: क्यों नहीं आ सकता और स्वयं इतिहास-ग्रन्थों के माध्यम से, सतत निर्माणाधीन रहता है। इस समस्या पर गैली के विचार हमें नयी दिशा में खोज करने के लिए प्रेरित करते हैं।

उपरोक्त सभी बातें बड़ी सारगर्भित हैं। फिर भी इतिहासिक बोध के बारे में गैली की पर्यालोचन में अनेक कमियाँ हैं और उसमें कई समस्याऐं अनिराकृत ही रह जाती हैं।

गैली ने इतिहासिक-कृतियों के कथात्मक पक्ष पर आवश्यकता से कहीं अधिक बल दिया है। निस्सन्देह अनेकानेक इतिहासिक वृत्तान्तों में कुछ कथा-पक्ष न्यूनाधिक मात्रा में सामान्यत: उपलब्ध रहता है। किन्तु इस कथा-पक्ष की उपस्थिति के बावजूद इतिहासिक कृति मात्र कहानी नहीं होती। इसमें अन्य अनेक पक्ष भी विद्यमान रहते हैं।

गैली अनेक स्थलों पर ऐसा कहते प्रतीत होते हैं कि मानों कथा-तत्त्व ही इतिहासिक वृत्तान्तों की आत्मा है और मानों यह कथा-तत्त्व ही वृत्तान्त के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त होता है कि घटनाओं का समुचित वर्णन-क्रम आप से आप उन्हें सहज रूप में बोधगम्य भी बना देता है। फिर भी यदि कहीं कोई अटपटी बात रह जाती है तो इतिहासकार थोड़ी देर के लिए वृत्तान्त का प्रवाह रोककर उसमें कुछ व्याख्यात्मक वाक्य भी कहीं-कहीं जोड़ देता है। अन्यथा तो वृत्तान्त के सतत् सहज प्रवाह में कहीं कोई रोक-टोक नहीं आनी चाहिये।

लेकिन यह बात इतिहासिक कृतियों के प्रत्येक रूप और प्रत्येक स्तर पर एक समान रूप से लागू नहीं होती। यदि हम कहानी को लें तो पायेंगे कि कुशल कहानीकार प्राय: बहुत कम व्याख्या देने का प्रयत्न करता है। और यदि वह कहीं कोई व्याख्या देता भी है तो वह अत्यन्त झीनी होती है। इसका कारण यह है कि कहानीकार जिन घटनाओं को प्रस्तुत कर रहा होता है उनमें सभी पाठकों की अत्यन्त सहज

और प्रबल अभिरुचि होती है, क्योंकि वे घटनाएं पाठकों के जीवन के बहुत ही समीप होती हैं। इसके विपरीत इतिहासिक घटनाएं विशिष्ट रूप से संकलित घटनाएं होती हैं और उनमें साधारण पाठक की कोई प्रबल अभिरुचि नहीं होती। वे घटनाएं प्राय: ऐसी भी होती हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को एक समान रूप से नहीं छूतीं और जिनके घटित होने के क्रम में कुछ न कुछ बौद्धिक समस्या अवश्य छिपी रहती है। यह समस्या घटना-प्रवाह के कुछ आवश्यक अंशों के अनुपलब्ध होने की हो सकती है, अथवा यह किन्हीं विशिष्ट अभिकर्त्ताओं के अपेक्षाकृत जटिल प्रयोजनों को जानने की ही हो सकती है। अथवा यह ऐसे किसी साधारण कारणता-परक नियम को जानने की हो सकती है जिसके द्वारा घटनाओं का एक पूर्ण समूह अधिक सहज रूप से व्याख्यायित हो सके। अथवा यह समस्या एक भलीभांति ज्ञात घटना-समूह के आगे या पीछे होने वाली कुछ अन्य घटनाओं से उसके सम्बन्ध की हो सकती है। सारांश यह है कि इतिहासकार बिना किसी प्रकार की समस्या को सामने रखे इतिहास नहीं लिखता। इसके विपरीत कहानीकार का उसके द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की निजी रोचकता से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इतिहासकार अपनी समस्या का प्रस्तुतीकरण और समाधान एक कथा-रूप वृत्तान्त के माध्यम से तो करता है। किन्तु वृत्तान्त का यह कथा-रूप इतिहासकार के लिए अपनी विद्वता और ज्ञान के प्रयोग और प्रदर्शन के लिए एक सुविधाजनक माध्यम मात्र है। उसका मुख्य लक्ष्य तो इतिहासिक सत्यों की प्राप्ति होता है। यह सत्य कहानी के माध्यम द्वारा प्राप्त होने पर भी स्वयं कहानी-रूप नहीं होता। इतिहासकार जिस इतिहासिक सत्य की खोज करता है उसके महत्त्व और प्रभाव का क्षेत्र उस विशिष्ट कहानी-रूपी घटनाक्रम से कहीं अधिक व्यापक होता है जिसे उसने अपनी किसी इतिहासिक शोध के निमित्त चुना होता है। यह एक गौण बात है कि इतिहासकार सम्पूर्ण इतिहासिक जगत् के किस खण्ड या अंश का अनुसंधान करता है, क्योंकि उसकी जिज्ञासा का मूल स्रोत तो स्वयंपूर्ण इतिहासिक जगत् होता है। इतिहासकार की अपनी सत्ता भी उस इतिहासिक जगत् के प्रवाह के अन्दर ही होती है जिसकी दिशा का वह अनुसंधान करता है। अत: इतिहासकारों की खोज में यह अपेक्षा सदा सन्निहित रहती है कि वे सब मिलकर उस इतिहासिक सत्ता का दिग्दर्शन करायें जिसने अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्वयं इतिहासकारों की जिज्ञासा को उत्पन्न किया है। लेकिन कहानीकारों के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्तों में इस प्रकार की कोई अपेक्षा युक्तियुक्त रूप में प्रस्थापित नहीं की जा सकती। अत: इतिहास को कहानी के वृत्त में रखने के प्राविधिक प्रयत्न की केवल सीमित उपयोगिता ही है।

यदि हम कहानी और इतिहास के स्वरूप का निकट से अवलोकन करेंगे तो पायेंगे कि न तो हर प्रकार के इतिहास में और न विभिन्न कोटियों के इतिहासकारों के ग्रन्थों में, कहानी-पक्ष की सदा एक सी भूमिका होती है। इतिहासानुगत कहानी गुणात्मक दृष्टि से उस कहानी से भिन्न होती है जो महत्त्व कहानीकारों द्वारा प्रस्तुत की जाती है।

कहानी जबतक मात्र कहानी होती है तबतक उसमें व्यक्तियों की अत्यन्त सार-गर्भित भूमिका रहती है, क्योंकि कहानी उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है। किन्तु जैसे ही कोई कहानी इतिहासात्मक होती है उसमें तत्काल एक व्यक्ति का, एक व्यक्ति के रूप में, भाग गौण हो जाता है। वे अब भी उन्हीं घटनाओं को भोगते हैं और उसी भूमिका का निर्वाह करते हैं जो वे कहानी के पात्रों के रूप में कर रहे थे। लेकिन इतिहासानुविद्ध होते ही उनमें रूपान्तरण घटित हो जाता और उनके कार्यों और सुख-दु:खों के बारे में हमारी अभिवृत्ति में आमूल परिवर्त्तन आ जाता है। कहानी के पात्रों के इतिहासानुविद्ध होते ही जो रूपान्तरण होता है वह उस बोध या बुद्धि का प्रतिफल है जिसके द्वारा हम उन्हें अब मात्र व्यक्तियों के रूप में नहीं देखकर संस्थागत क्रियाओं और उद्देश्यों के परिचालकों के रूप में देखने लगते हैं।

यह द्रष्टव्य है कि जिस अनुपात में इतिहासिक अभिकर्त्ताओं के क्रिया-कलाप किसी न किसी संस्थागत सन्दर्भ में अतिवैयक्तिक लक्ष्यो के लिए सुलभ होते हैं, उसी अनुपात में किसी निर्दिष्ट घटनाक्रम को एक अनजाने लक्ष्य तक पहुँचाने में जो भूमिका है, घटनाओं की आकस्मिकता की जो भूमिका है, उसका ह्रास भी होता जाता है। इसका कारण यह है कि किसी अत्यन्त संकुचित इतिहासिक कृति में भी इतिहासिकार की परिदृष्टि केवल कुछ गिने चुने व्यक्तियों के जीवन-क्रम और उनके भाग्य से कहीं व्यापक होती है। इतिहासकार जब किन्हीं गिने चुने व्यक्तियों के बारे में बता रहा होता है तो भी वृत्तान्त-लेखन में उसका सन्दर्भ उन व्यक्तियों से बहुत दूर तक आगे और पीछे चला जाता है। इतिहासिक दृष्टिकोण से वे अभिकर्त्ता, जिनके कुछ चुने हुए क्रिया-कलापों का वर्णन किया जा रहा है, इतिहासात्मक होते ही घटनाओं की एक ऐसी विशाल धारा के अंश प्रतीत होने लगते हैं जिसके प्रवाह में उन विशिष्ट अभिकर्त्ताओं के अपने-अपने निजी और अस्पष्ट लक्ष्य खिंच और घुल-मिलकर एक उप-धारा के रूप में बह निकलते हैं। और इस प्रकार उन्हें अपने-आप एक अतिवैयक्तिक अर्थमयता प्राप्त हो जाती है क्योंकि इतिहासिक-कृति का आरम्भ ही अर्थमयता के बारे में किसी नूतन और व्यापक परिदृष्टि से होता है। किन्तु कहानीकार के लिए यह परिदृष्टि तनिक भी आवश्यक नहीं है। यदि हम घटनाओं को केवल व्यष्ट्यात्मक और परस्पर असम्बद्ध इकाइयों के रूप में लेंगे तो उनका कलेवर अत्यन्त विशाल, स्वरूपहीन और इतिहासिक बोध के लिए नितान्त बोझिल हो जायगा। प्रागैतिहासिक युगों में भी अभिकर्ता और उनके क्रिया-कलाप प्रचुर मात्रा में थे। परन्तु उस युग का इतिहास इसीलिए दुर्बोध है क्योंकि क्रिया-कलापों के इस विशाल आकारहीन पिण्ड को बोधमय आकार प्रदान करने वाली संस्थागत संरचनाएं एवं मानक तबतक विकसिकत नहीं हो पाये थे। इससे एक अन्य बात भी स्पष्ट होती है और वह यह कि संस्थागत मानकों और कार्यों के प्रारम्भिक निर्माण -काल में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के क्रिया-कलाप इतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। लेकिन बाद में, जैसे-जैसे संस्थागत लक्ष्यों और उनकी प्राप्ति में संस्था के सदस्यों की भूमिका के बारे में सामान्य जानकारी बढ़ती है, व्यक्तियों की आप-बीती का महत्त्व इतिहासिक घटनाक्रम को आगे बढ़ाने में कम होता जाता है। आरम्भिक काल में न केवल संस्थात्मक संरचनाएं अधिक लचीली होती हैं बल्कि कुछ अधिक सूझबूझ वाले व्यक्ति उस संस्था के भावी महत्त्व को अपेक्षाकृत अधिक भलीभांति पहचान कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा भी करते हैं। और इस प्रकार उस संस्था के विकास में उनके उद्देश्यों और कार्यों की भूमिका काफी प्रभावपूर्ण रहती है। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता है और वे सभी सदस्य अपनी संस्थागत भूमिका के महत्त्व को अधिक भली प्रकार जानकर उसके प्रति अधिक निष्ठापूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार इतिहास के अन्दर ही व्यापक संस्थागत सामूहिक चेष्टाएं क्रमशः बलवती होती हैं। और जब ऐसा होता है तो इतिहासिक अभिकर्त्ताओं को अधिकाधिक उन प्रतिद्वन्द्वी सामाजिक शक्तियों का ज्ञान होता जाता है जो संस्थाओं को क्षीण या पुष्ट करती हैं। इस प्रकार संगठित सामूहिक क्रिया की भूमिका घनीभूत होती है और जिस सीमा तक मनुष्य सामाजिक परिवर्तनों और चेष्टाओं के सामान्य नियमों को जानकर, और उनसे प्रतिबद्ध होकर, क्रियाशील होते हैं उस सीमा तक आकस्मिकताओं का महत्त्व घटता जाता है। दूसरे शब्दों में कुछ इतिहासिक परिणाम ऐसे होते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए व्यष्टि अभिकर्त्ताओं के जीवन में घटित कुछ आकस्मिक घटनाएं न तो बड़ी अड़चनें बनती हैं और न उनसे कोई विशेष सहायता ही मिलती है।

सारांश में यह कि इतिहास के प्रवाह में, घटनाक्रम के कुछ क्षेत्रों में, गिने चुने व्यक्तियों के जीवन की घटनाएं अन्तिम इतिहासिक परिणाम को कुछ विशेष तौर पर प्रभावित नहीं करतीं और इतिहासकार भी उन क्षेत्रों का इतिहास लिखते समय विवेचनात्मक अधिक होते हैं वर्णनात्मक कम; जबतक कि हम वर्णनात्मकता की परिभाषा इतनी विशाल न कर दें कि वृत्तान्त और विवेचन में सभी अन्तर मिट जाय।

यह उल्लेखनीय है कि इतिहासिक वृत्तांत में हम अपने सामाजिक लक्ष्यों की क्रमश: घनीभूत और व्यापक चेतना का जिस प्रकार दर्शन करते हैं वह चेतना, यदि उसका आरम्भिक अवतरण आकस्मिक भी मान लिया जाय, क्रमश: बहुसंख्यक अभिकर्त्ताओं के अधिकांश क्रिया-कलापों को एक अधिक विस्तृत अर्थ प्रदान करती है। और कार्यों की यह अर्थ-संयुक्त चेतना आगे चलकर स्वयं सामाजिक लक्ष्यों के चयन का एक अपरिहार्य घटक तत्त्व बन जाती है। जब मनुष्यों के बड़े समूह मानव-समाज के सम्भावित भावी स्वरूपों में से कुछ का समर्थन अथवा विरोध करते हुए दूरदर्शिता से कार्य करते हैं, अथवा जब व्यापक वर्गों द्वारा कुछ आधारभूत संस्थाओं के प्रति आकर्षण या विरोध खुलकर सामने आ जाता है, तो फिर इन संघर्षमय चेष्टाओं का अन्तिम परिणाम भी एक सीमा तक पहले से ही निश्चित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इतिहासिक संघर्ष जब उपरोक्त स्थिति में प्रवेश कर लेते हैं तब एक-दो अभिकर्त्ताओं द्वारा अत्यधिक सशक्त प्रयत्न भी अन्तिम परिणाम को न तो बहुत देर तक टाल सकता है और न उसे ध्वस्त कर सकता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हमें यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जैसे-जैसे मानव-सभ्यता अधिक विकसित होती है इतिहासिक कृतियों के लिए एक ऐसा नया संस्थागत आधार भी उपलब्ध हो जाता है जिसमें इतिहासिक कृतियों का विशुद्ध कथा-पक्ष पृष्ठभूमि में चला जाता है। पुरानी इतिहासिक कृतियों की सामग्री कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिकर्त्ताओं के निजी क्रिया-कलापों के वृत्तांत हैं जिनका प्रमुख प्रयोजन विशेष उद्देश्य से चुनी हुई घटनाओं का विवरणात्मक सम्प्रेषण करना है। लेकिन इस प्रकार की इतिहासिक कृतियों के सफल प्रस्तुतिकरण से ही हम अधिक महत्त्वाकांक्षी कृतियों की सम्भावना के निकट पहुँचते जाते हैं। जैसे-जैसे हमें मानव-क्रिया-कलापों के अधिक व्यापक और स्थायी संस्थागत लक्ष्यों का बोध होता चलता है वैसे ही हम पाते हैं कि इतिहासकारों में एक नई महत्त्वाकाँक्षा भी प्रकट होती है। वे अब इस बात का प्रयत्न करते हैं कि ऐसी व्यापक इतिहासिक कृतियों की रचना की जाय जिनकी विषय-वस्तु सम्पूर्ण मानव अतीत हो। इन विश्वइतिहासों में पूर्वोपलब्ध छोटे-छोटे विशिष्ट प्रादेशिक एवं विशिष्ट युगों के इतिहास स्वयं व्यापक कृतियों की सामग्री बन जाते हैं। इस प्रकार के विश्व-इतिहासों में कतिपय संस्थागत प्रत्यय अग्रभूमि में आ जाते हैं और विशिष्ट गिने चुने अभिकर्त्ताओं के निजी भाग्य तथा उन्हें नियंत्रित करने वाली आकस्मिक घटनाएं गौण प्रतीत होने लगती हैं। इस प्रकार की इतिहासिक कृतियों में, जिनका आलेखन अतीत के विभिन्न एवं प्रचुर इतिहासिक स्रोतों से संग्रहीत ज्ञान द्वारा ही संभव है, प्रयुज्यता-सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया अमूर्त विवेचन अधिक सघन रूप में परिलक्षित होता है। इसीलिए विभिन्न प्रदेशों अथवा युगों के सीमित इतिहासों की तुलना में हम विश्व-इतिहास विषयक कृतियों में दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अधिक गहन रूप में अन्तर्व्याप्त पाते हैं। इन दो प्रकार के इतिहासों में भेद केवल अध्ययन क्षेत्र के विस्तार का नहीं होता बल्कि सूझ के प्रकार का भी होता है। विभिन्न युगों के इतिहासों में मुख्य व्याख्या सूत्र या तो अभिकर्त्ताओं के निजी व्यक्त अथवा अव्यक्त प्रयोजन होते हैं अथवा

कारणतापरक साधारणीकरण होते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रयुक्त व्याख्या-सूत्र लोक-संज्ञान में प्राप्त अति-परिचित साधारणीकरण ही साधारण प्रकार के इतिहासों में व्याख्या-सूत्र के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

किन्तु जिस बौद्धिक असंतोष की बात गैली ने कही है उस असंतोष की उत्पत्ति का एक बड़ा ही उल्लेखनीय कारण सामाजिक जीवन के परिवर्तन और विकास के नियमों का मनुष्य द्वारा क्रमिक उद्घाटन और संचय है। इस संचित और घनीभूत ज्ञान की पृष्ठभूमि में मनुष्य इतिहास-क्रम में व्याख्या के हेतु उन साधारणीकरणों के क्रमिक प्रयोग की आकाँक्षा करने लगता है जो अति सामान्य अथवा सार्वभौमिक होते हुए भी लोक प्रचलित नहीं हैं।

निम्न-अथवा-मध्यम-स्तरीय साधारणीकरण, इतिहासिक शोधों में प्रयुक्त तुलनात्मक पद्धति के द्वारा क्रमशः परिष्कृत होकर अधिक व्यापक रूप लेते हैं और इतिहासकारों को व्याख्या के हेतु उनके प्रयोग के लिए नये-नये क्षेत्र भी मिलते चलते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण हमें 'इतिहास के अध्ययन में साधारणीकरणों के उपयोग' नामक परिचर्चा में मिलता है जो 'हिस्ट्री एण्ड थ्योरी' नामक पत्रिका में कुछ समय पहले प्रकाशित हुई थी। द्रष्टव्य है कि साधारणीकरण का यह संवर्धित कार्यक्षेत्र गैली द्वारा बताये गये व्याख्या के 'प्रयुज्जता प्रतिमान' के बहुत निकट आ जाता है।

इतिहासिक शोध के विकास-क्रम में ही हमें इतिहासिक बोध के दो नवोदित स्तरों का दिग्दर्शन होता है। इतिहासिक कृतियों का आरम्भ तो कथामूलक वृत्तान्तों के रूप में हुआ है लेकिन उनके अधिक विकसित रूप में उनका विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक पक्ष उनके कथा-मूलक पक्ष पर हावी हो जाता है-विशेषकार विश्वइतिहासों की संरचना में। विश्व-इतिहासों में भी निजी अभिकर्त्ताओं की आप-बीती पर और उनके भाग्य पर दृष्टिपात किया जाता है, किन्तु गौण रूप में। यदि हम इतिहासक्रम पर कतिपय महत्त्वपूर्ण व्यष्टि-अभिकर्त्ताओं की आप-बीती के दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो हम एक ऐसी रोचक कथा का निर्माण करते हैं जिसमें वे अभिकर्त्ता आकस्मिक घटनाओं के घटाटोप में से गुज़र कर एक ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करते हैं जिसकी उन्हें निश्चित पूर्व जानकारी नहीं थी। इतिहासकार का काम भी व्यष्टि-अभिकर्ताओं के निजी भाग्य को कुछ अतिरंजित रूप से प्रस्तुत करना होता है। लेकिन हम इतिहासिक कृतियों में ही क्रमशः उस स्थल पर पहुँचते हैं जहाँ हम इन व्यष्टि-अभिकर्त्ताओं के निजी भाग्यों और उनसे सम्बद्ध कथाओं को अति-वैयक्तिक एवं व्यापक सामाजिक संस्थानों के परिप्रेक्ष्य में भी देखने लगते हैं। तब हम पाते हैं कि इतिहास का अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष कतिपय संस्थागत संस्थानों का निरंतर संघर्ष और विशिष्ट इतिहासिक परिस्थियों में, उनमें से कुछ की विजय अथवा पराजय है। निश्चय ही संस्थागत संरचनाओं के परस्पर संघर्ष की अंतिम निष्पत्ति तो कतिपय ज्ञात अथवा अज्ञात सदस्यों के सुचिन्तित अथवा अचिन्तित प्रयोजनसिद्ध कार्यों के द्वारा ही होती है। किन्तु इस अन्तिम प्रतिफल पर अभिकर्ताओं को आकस्मिक प्रतीत होने वाली घटनाओं का वही अनिश्चित प्रभाव नहीं होता जो उन्हें अपने संकुचित दृष्टिकोण से आभासित होता है। व्यष्टि-अभिकर्ताओं को प्राप्त अन्तर्दृष्टि की तुलना में इतिहासकार को उपलब्ध अधिक व्यापक बोध का ही यह परिणाम है कि इतिहासकार अस्तव्यस्त और विशृंखलित प्रतीत होने वाली घटनाओं को भी अपनी सुचिन्तित इतिहासिक परिदृष्टि के द्वारा एक संगठित रूप देकर यह दिखा पाता है कि आकस्मिकताओं के अप्रत्याशित घात-प्रतिघात के उपरान्त भी कोई संस्थयागत लक्ष्य किस प्रकार निश्चित रूप से प्राप्त हो सका। यदि हम यह मानते हैं कि आकस्मिकताओं के बीच से गुजर कर भी कोई उपलब्ध इतिहासिक परिणाम मात्र एक क्षणिक संयोग नहीं था तो हमें निश्चय ही उन प्रभावपूर्ण किन्तु भूमिगत शक्तियों के उद्घाटन का सहारा लेना

होगा जिनकी क्रियाशीलता से व्यष्टि अभिकर्त्ताओं के माध्यम से अपेक्षाकृत स्थायी अतिवैयक्तिक लक्ष्य प्राप्त होते हैं। इतिहासकार का काम इन अतिवैयक्तिक लक्ष्यों का स्वरूप-निर्धारण और उन्हें उपलब्ध कराने वाली इतिहासिक शक्तियों का क्रमिक उद्घाटन भी है। इसके लिए उसे व्यष्टि-अभिकर्त्ताओं के भाग्य-चक्र के कथन से परे जाना ही होगा। इतिहासिक कृतियाँ न केवल विभिन्न व्याख्यात्मक अपेक्षाओं से लिखी जाती हैं बल्कि एक ही इतिहासिक कृति में भी दो प्रकार की व्याख्यापेक्षाएं एकसाथ क्रियाशील होती हैं। अपने वृत्तान्त के किसी स्थल पर इतिहासकार की रुचि उन विशिष्ट आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अनुबन्धों (बोन्ड्स) की खोज करना होती है जो विशिष्ट प्रतीत होने वाले किसी घटना-समूह को बोधगम्य बनाते हैं। लेकिन वह किसी अन्य स्थल पर इन आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अनुबन्धों का अधिक साधारण आधार भी खोजता है। और यदि वह इसमें सफल होता है तो फिर वर्ण्य घटना-समूह की अद्वितीयता पहले की भांति अक्षुण्ण नहीं रह जाती।

किन्तु विश्व-इतिहास से हमारा अभिप्राय अतिवैयक्तिक प्रत्ययों द्वारा संचालित कठपुतली का कोई ऐसा खेल नहीं है जिसमें अलग-अलग व्यक्तियों को कभी मंच पर बांध लाया जाता है और कभी वहाँ से बाहर फेंक दिया जाता है। इतिहासिक कृतियों में जो रोचकता है उसका असंदिग्ध आधार वह कथा है जिसके द्वारा हमें बड़े सजीव रूप से पता चलता है कि किस ज्ञात अथवा अज्ञात व्यक्ति ने कब, कहाँ और कैसे अपनी उस संस्थागत भूमिका का कितनी खूबी से निर्वाह किया जिसकी भव्यता और महत्त्व का उसे कोई पूर्ण और निश्चित ज्ञान नहीं था। वस्तुत: कुशल इतिहासकार के वृत्तान्त में रोचकता इसीलिये आती है क्योंकि वह यथास्थान टिप्पणियों द्वारा यह दिखला सकता है कि उसकी नाट्यशाला के मुख्य प्रतिद्वन्द्वियों को उस संघर्ष की वास्तविक स्थिति का पूर्ण ज्ञान नहीं था जिसमें वे भाग ले रहे थे। लेकिन इतिहासकार द्वारा प्रदत्त वृत्तान्त की यह रोचकता भी तभी अधिक स्वीकार्य और प्रभावपूर्ण होती है जब इतिहासकार की परिदृष्टि इतिहासिक पात्रों की परिदृष्टि से भिन्न हो और इतिहासकार की आकाँक्षा अपेक्षाकृत अधिक युक्तिमूलक हो।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि इतिहासिक सूझ के बारे में गैली का मत इतिहासिक व्याख्या के विभिन्न रूपों के साथ न्याय करते हुए भी कुछ विशिष्ट रूपों के साथ न्याय नहीं कर पाता है। गैली का इतिहासिक व्याख्या के बारे में सिद्धांत एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर अस्पष्ट और उलझल-ग्रस्त है। यद्यपि उसने कहा है कि इतिहासिक वृत्तांतों में प्रयुक्त साधारणीकरण किसी व्यष्टि-घटना को तार्किक रूप से निगमित करने के लिये प्रयुक्त नहीं होते अपितु उनकी भूमिका ''क्रमिक निरीक्षणों'' को सम्भव बनाने की होती है, तथापि उसने इस बात को पूर्णत: स्पष्ट नहीं किया है कि यह सम्भावना तार्किक दृष्टि से कैसे फलित होती है। पुन: उसने यह भी जाहिर नहीं किया है कि इतिहासिक कृतियों के जो विशिष्ट विवेचनात्मक स्थल हैं उनमें भी साधारणीकरणों का उपयोग आच्छादक-नियम के प्रतिमान अथवा क्रमिक-निरीक्षण-प्रतिमान के अन्तर्गत होता है। यद्यपि इतिहासिक सूझ के दो सम्भावित स्तरों का विचार गैली के मत में स्फुट और अस्पष्ट रूप से मिलता है तथापि गैली ने अपने को कहीं भी इससे प्रतिबद्ध नहीं किया है। यह कमी विशेष रूप से अखरने वाली है। इस बात की सम्भावना पर विचार किया जा सकता है कि क्रमिक निरीक्षणों के उपयुक्त प्रत्यय द्वारा तथ्यानुबंधित (कोलीगेटेड) कोई समष्टि क्या स्वयं किसी अन्य प्रक्कल्पित-निगमित तर्क-योजना का निष्कर्ष नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, क्या कोई ऐसी व्यापक प्रयुज्यता-सिद्धान्त-मूलक तर्क योजना नहीं हो सकती जिसका निष्कर्ष एक व्यष्टि घटना न होकर घटनाओं का एक क्रमिक निरीक्षत समूह हो ?[4]

अन्तिम बात यह है कि गैली ने इतिहासिक सूझ के उपयोग की सीमा अनावश्यक रूप से संकुचित रक्खी है। इसका कारण गैली द्वारा इतिहास के क्षेत्र में आकस्मिक घटनाओं की भूमिका को बढ़ा-चढ़ा कर रखना है। वह भी पॉपर के इस झांसे में आ गया है कि घटनाओं की भविष्यवाणी करना किसी अत्यंत सीमित और व्यष्ट घटना के घटित होने के स्थान और समय का निश्चित पूर्व कथन है, ठीक वैसे ही जैसे खगोलशास्त्री आगामी चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी करते हैं। लेकिन इतिहास में इस प्रकार की कोई भविष्यवाणी अपेक्षित नहीं है। इसकी वजह यह है कि भविष्य में हमारी रूचि-किसी एक खास घटना के व्यष्ट रूप में घटित होने या न होने से नहीं है। हमारी रूचि घटनाओं के एक निर्माणाधीन समूह में है जिसका एक अंश अबतक बनकर हमें ज्ञात हो चुका है। और हमें यह भी ज्ञात है कि उस घटना समूह की क्रमिक भावी संरचना के पक्ष और विपक्ष की शक्तियों का तात्कालिक संतुलन क्या है। केवल इसी आधार पर हम किसी निर्माणाधीन इतिहासिक संरचना के आगामी रूप की, कुछ शर्तों सहित, भविष्यवाणी करने का उपक्रम करते हैं। यद्यपि इतिहास की कोई भी संरचना एवं उसकी समर्थक शक्ति निरपेक्ष रूप से स्थायी नहीं है तो भी सीमित कालावधियों में उन्हें अपेक्षाकृत स्थायी माना जा सकता है। और इस प्रकार स्थिर और परिवर्तनीय तत्त्वों के मूर्त-विशिष्ट अनुसंधान के आधार पर इतिहासकार निश्चय ही कुछ निर्माणाधीन घटना-समष्टियों की अंतिम दिशा की सीमित भविष्यवाणी भी कर सकता है। लेकिन तब हमारे सामने इस भविष्यवाणी की व्यावहारिक उपयोगिता का प्रश्न आ जायेगा।

***

संदर्भ-सूची : -

1. *अध्यायों के शीर्षक हैं :- (1) Critical Philosophy of History, (2) What is a History ? (3) What is History ? (4) The Historical Understanding, (5) Explanations in History.(6) The Uses and of Abuses History, (7) The Historical Understanding and Philosophy, (8) Essentially Contested Concepts, (9) Where Moral Philosophy Rests on a Mistake, (10) Metaphysics as History.*
2. *सागा (saga) 12 वीं तथा 13 वीं शताब्दियों में आइसलैंड में विरचित ऐसे गद्य वृत्तान्त है जिनमें उक्त प्रदेश के इतिहासिक अथवा पौराणिक वीरों की लम्बी जीवन-गाथायें वर्णित हैं।*
3. *देखिये 'प्राब्लेम्स इन दि फिलॉसफी ऑफ साइंस' में बाट्ले का लेख - पृष्ठ 40-64.*
4. *इस समस्या की कुछ आरम्भिक चर्चा दान्तों ने अपने ग्रन्थ "एनेलिटिकल फिलॉसफी आफ हिस्ट्री" में की है (देखिये पृ. 233-256)। लेकिन इस दिशा में अभी बहुत कुछ अनुसंधान अवशेष है।*

18

न्याय का स्वरूप*

चाँदमल शर्मा

प्रोफेसर ओटो बर्ड की पुस्तक 'दी आइडिया आफ जस्टिस' इन्स्टीट्यूट फॉर फिलोसोफीकल रिसर्च द्वारा आधारभूत पाश्चात्य अवधारणाओं के अध्ययन के कार्यक्रम के अन्तर्गत तैयार की गई है। यह पुस्तक डा. बर्ड द्वारा निर्देशित सामूहिक अनुसंधान-योजना का परिणाम है। अनुसंधान-योजना में प्रयुक्त पद्धति का निर्धारण डा. बर्ड और उनके नेतृत्व में काम करने वाले साथियों द्वारा नहीं किया गया था। बल्कि इन्स्टीट्यूट के समग्र अनुसंधान-कर्त्ताओं के सामूहिक निर्णय से किया गया था। इन्स्टीट्यूट की अनुसंधान-योजनाओं का उद्देश्य उपलब्ध लिखित सामग्री का विवेचन करना है, जिससे उसमें उठाये गये मूलभूत प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने में बौद्धिक प्रयास आगे बढ़ सके। अनुसंधान में द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में न्याय विषयक जो वाद-विवाद हुआ है, प्रस्तुत पुस्तक में उसका प्रस्तुतीकरण द्वन्द्वात्मक निदर्श के अनुसार किया गया है। प्राक्कथन के लेखक एड्लर के अनुसार, विषय की तार्किक व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि वाद-विषय का स्वरूप सुस्पष्ट हो, उस पर उपलब्ध साहित्य के आधार पर ऐसे बुनियादी प्रश्न उठाये जाये, जिनके उत्तर प्रमुख प्रतिनिधि विचारकों की कृतियों से दिये जा सकें और प्राप्य सामग्री से उन मतों की संरचना की जाय जो मूलभूत प्रश्नों के उत्तर देने में अपनी विशिष्ट दृष्टि की स्थापना करते हैं।

(1)

न्याय के विविध एवं विभिन्न अर्थ होने से इस विषय का अत्यन्त विवादस्पद होना आश्चर्य की बात नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य सम्पूर्ण लिखित विवाद का समग्र दृष्टि से सरल और स्पष्ट विवेचन करना है। यहाँ प्रयुक्त विवेचन की विधि का ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पद्धति से विभेद करने के लिए इसे द्वन्द्वात्मक प्रणाली कहा गया है। न्याय के बारे में किसी नए मत की स्थापना करना पुस्तक का ध्येय नहीं है। अनुसंधान का विषय न्याय नहीं बल्कि न्याय-सम्बन्धी विभिन्न मत हैं। कार्ल पॉपर एवं सी. एल. स्टीवेंसन के अनुसार, न्याय की सर्वमान्य परिभाषा करना असम्भव है। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। न्याय की परिभाषा को लेकर जितनी सहमति विद्यमान है पॉपर तथा स्टीवेंसन उसे उतना नहीं आंकते। न्याय के बारे में हुए ऐतिहासिक विवाद का सर्वमान्य विषय ठीक-ठीक क्या है, इसका निर्णय करने में प्लेटो की रिपब्लिक में प्राप्य चार परिभाषाएँ बहुत उपयोगी हैं। रिपब्लिक में निम्नलिखित परिभाषायें मिलती हैं -

---

* *आटो ए.बर्ड : दी आइडिया ऑफ जस्टिस (फ्रेडरिक ए. प्रेगर प्रेस, न्यूर्याक) 1967.*

(1) सच बोलना, एवं जो हमें प्राप्त है उसे अदा करना।

(2) हर व्यक्ति को उसका प्राप्य देना।

(3) कानून में अभिव्यक्त शासक वर्ग के हितों के अनुसार आचरण करना।

(4) अन्य व्यक्तियों के साथ आपसी सम्बन्धों एवं आत्मा के आन्तरिक नियमन में अपना निर्धारित कर्त्तव्य करते रहना।

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें इनमें तीन सामान्य तत्त्व मिलते हैं। एक यह कि न्याय सामाजिक प्रतिमान है। दूसरे, न्याय अनुमोदनमूलक है। तीसरे, न्याय आदेशात्क है। इन परिभाषाओं में न्याय को मार्गदर्शक के रूप में माना गया है। न्याय मनुष्य के पारस्परिक आचरण का नियामक है। न्याय मनुष्य के अपने प्रति कर्त्तव्य का मानक नहीं होकर उसके अन्य व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्यों का मानदण्ड है। इस प्रतिपादन के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि जो उपरोक्त चतुर्थ परिभाषा रिपब्लिक में सुकरात द्वारा दी गई है उसमें आत्मनियमन को न्याय का घटक बताने के कारण सामाजिकता अनुषंगी रह जाती है। किन्तु सुकरात के इस कथन से कि, अन्याय करना अन्याय भोगने से अधिक हेय है, यह संदेह दूर हो जाना चाहिये, क्योंकि "अन्याय भोगने" में "समाज" पूर्वापेक्षित है। न्याय को आत्मनियमनमूलक बताने में सुकरात का प्रयोजन न्याय का मूल स्रोत आत्मा में ढूँढ़ना था न कि न्याय की सामाजिकता को अस्वीकारना।

इस बात में सभी दार्शनिक सहमत हैं कि न्यायानुभूति में मनुष्य के संवेगों का भी सहयोग रहता है। 'अ न्याय है' यह वाक्य अ के प्रति अनुमोदन का द्योतक है। किन्तु यह प्रश्न कि न्याय के अनुमोदनमूलक तत्त्व का कोई निरपेक्ष आधार भी है, याकि यह केवल विषयीगत संवेगों को ही प्रकट करता है, विवादास्पद है। अनुमोदन-मूलक होने के साथ ही न्याय आबंधक एवं आदेशात्मक भी है। इस दृष्टि से यह शिष्टाचार एवं व्याकरण के मानकों से बहुत भिन्न है। शिष्टाचार एवं व्याकरण के मानक आबंधकता उत्पन्न नहीं करते। किन्तु जो न्याय है वह करणीय भी है। उसे नहीं करना अन्यायपूर्ण है। उपर्युक्त तीन सूत्रों के आधार पर हम न्याय, उदारता, कानून एवं नैतिकता में अंतर बता सकते हैं। अनुमोदनात्मकता न्याय को कानून से पृथक् कर देती है। यद्यपि न्याय की भांति कानून सामाजिक मानक है किन्तु कानून के अनुशासन से बद्ध सभी लोगों का अनुमोदन कानून को प्राप्त नहीं होता। उदारता निस्सन्देह सामाजिक गुण है किन्तु इसमें लगभग सभी दार्शनिक सहमत हैं कि उदार होना श्रेष्ठ है पर उदारतापूर्ण कार्य करना मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं हो सकता। यद्यपि कुछ दार्शनिक इस बात से असहमत हैं कि "नैतिकता समाज को पूर्वापेक्षित करती है, किन्तु कुछ नैतिक गुण, जैसे साहस एवं संयमशीलता, नैतिक सद्गुण हैं और वे समाज-मूलक नहीं हैं, व्यक्ति-सापेक्ष ही हैं।

न्याय-सम्बन्धी विभिन्न मतों के विश्लेषण एवं वर्गीकरण के लिए छः सारभूत प्रश्न हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ उपयुक्त होगा –

(1) क्या न्याय एवं वैधता एक ही है ?

(2) क्या न्याय कानून की कसौटी है ?

(3) क्या न्याय नैसर्गिक अधिकारों पर आधारित है ?

(4) क्या न्याय वैधता के अतिरिक्त अन्य किसी भी अर्थ में मानव-आचरण का निरपेक्ष मानदंड है ?

(5) क्या कानूनी एवं सामाजिक आदेशों के द्वारा स्थापित आबद्धता के अतिरिक्त न्याय की अपने आप में कोई आबद्धता है ?

(6) क्या न्याय विशिष्ट सद्गुण है ?

ये मूलभूत प्रश्न न्याय विषयक विभिन्न मतों का विश्लेषण करने के उपकरण हैं जिससे उनके मतैक्य एवं मतान्तर ठीक से स्थापित किए जा सकते हैं। इन प्रश्नों के आधार पर न्याय के बारे में तीन मौलिक मतों का निर्धारण एवं उनमें भेद किया जा सकता है। इस तरह ये प्रश्न न्याय के स्वरूप के बारे में बुनियादी मतभेद उद्‌घाटित करते हैं। किन्तु यहाँ यह कहना प्रासंगिक होगा कि उपर्युक्त मौलिक प्रश्न ही मतान्तरों के एकमात्र स्रोत नहीं हैं।

बुनियादी प्रश्नों पर तीन पृथक् दृष्टिकोण हैं - (1) "वस्तुपरक कानून" (पोजिटिव लॉ) मत, जो न्याय और कानून-पालन को अभिन्न मानता है। यह मत प्रथम का उत्तर स्वीकारात्मक और अन्य सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक देता है। अन्य दो मत न्याय का कानून-पालन से तादात्म्य नहीं मानते। दोनों मत न्याय को कानून का मानदण्ड मानते हैं। किन्तु न्याय की नैसर्गिकता के बारे में इनमें मतान्तर है। (2) "नैसर्गिक अधिकार" (नैचुरल राइट) – मत के अनुसार न्याय नैसर्गिक अधिकारों पर आश्रित है। (3) 'समाज-हित' (सोशल गुड) -- मत नैसर्गिक अधिकारों की बात अस्वीकार करता है। यह न्याय की व्याख्या समाज-हित की पदावली में करता है। जिस कार्य से समाज-हित में वृद्धि होती है वही न्याय्य है। कानून एवं नैसर्गिक अधिकार के प्रश्न तीनों मतों को किस प्रकार पृथक् करते हैं, यह द्रष्टव्य है। वैधता के बारे में निम्नोक्त कथन लीजिये :- "राज्य द्वारा बनाये कानून ही आचरण के नियामक हैं, जो समाज में मनुष्यों के लिए न्याय का मानदंड स्थापित करते हैं।" यह प्रतिपादन वस्तु-परक कानून मत की प्रमुख विशेषता है। अन्य दोनों मत उपर्युक्त प्रतिपादन को अस्वीकार करते हैं।

नैसर्गिक अधिकार के प्रश्न के बारे में निम्नलिखित कथन निर्णयात्मक है- "मानव-अधिकार और उन पर आश्रित न्याय-सिद्धान्त समाज की देन है। वह समुचित सामाजिक जीवन उपलब्ध करने के लिए मानव द्वारा किए गये प्रयासों की निष्पत्ति है।" इस कथन की स्वीकृति में, जिसमें नैसर्गिक अधिकार-मत का निराकरण भी निहित है, वस्तु-परक-कानून-मत एवं सामाजिक हितमत सहमत हैं। नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत इस कथन को अस्वीकार करता है।

वस्तुगत कानून मत के अनुसार न्याय वैधता को छोड़कर आत्मगत अनुमोदन की अभिव्यक्ति मात्र रह जाता है। सामाजिक हित सम्बन्धी मत न्याय को समाज-हित-वृद्धि में प्रतिष्ठित मानता है। नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत न्याय का वस्तुपरक अर्थ नैसर्गिक अधिकार में देखता है। यदि यह पूछा जाय कि 'अ न्याय है' में अनुमोदन का आशय कैसे निहित है, तो नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत का उत्तर होगा कि जो नैसर्गिक अधिकार पर आधारित है उसको पसन्द करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इसी प्रकार सामाजिक हित मत का उत्तर होगा, जिससे सामाजिक हित की वृद्धि होती है-आदि। वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत अनुमोदन को विषयीनिष्ठ मानता है। विषयीनिष्ठ होने से वह व्यक्ति-सापेक्ष है। न्याय की आबद्धता के बारे में भी तीनों मत भिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत करते हैं। नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत के अनुसार न्याय की कर्त्तव्यता अपने आप में निरुपाधिक एवं नैतिक आबद्धता है। इस विषय पर वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत की प्रस्थापना दोहरी है। विषयनिष्ठ अर्थ में न्याय कानून-पालन ही है। अत: न्याय आचरण का औचित्य और कानून-पालन का औचित्य अभिन्न हैं। दण्ड-निवारण-हेतु हम कानून के अनुसार आचरण करते हैं। ठीक वही हेतु हमारे न्याय-संगत कार्यों का होता है। यदि न्याय का प्रयोग विषयीनिष्ठ अर्थ में किया जाय तो न्याय के औचित्य का आधार अनुमोदनमूलक संवेग है। हम न्यायसंगत काम पसन्द करते हैं। अत: हम न्यायसंगत कार्यों को करणीय कहते हैं। सामाजिक हित सम्बन्धी मत न्याय को साधन और समाजहित को साध्य मानता है। अत:

इसका दृष्टिकोण प्रयोजनवादी है। समाज-हित को बढ़ावा देने के लिए हमें न्यायसंगत काम करने चाहिए। पर समाज-हित सम्बन्धी मत के लिए आधारभूत प्रश्न तो यह है कि समाज-हित की अभिवृद्धि करना व्यक्ति का कर्त्तव्य क्यों है ? इसके दो वैकल्पिक उत्तर दिये जा सकते हैं जो दोनों ही समानरूप से समाजहित सम्बन्धी मत के लिए घातक हैं। एक तो यह कि समाज-हित को बढ़ावा देने से हम अपने आपको समाज की अनुशास्तियों "सैंक्शन्स्" से बचाते हैं। यह उत्तर इस मत को वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत के समीप ले आता है। यदि यह कहें कि समाज-हित की अभिवृद्धि करना अपनेआप में हमारा नैतिक कर्त्तव्य है तो यह उत्तर इस मत को नैसर्गिक अधिकार मत के पास ला देता है जिससे यह विषयनिष्ठ कानून सम्बन्धी मत का विरोधी हो जाता है।

न्याय को सद्गुण मानने के सम्बन्ध में वस्तुपरक कानून मत का विचार सुविदित है। यह कानून-पालन में ही न्याय के सद्गुण को निहित मानता है। अन्य दो मत न्याय को विशिष्ट सद्गुण समझते हैं। किन्तु समाजहित से सम्बन्धित मत की प्रवृत्ति न्याय और उदारता को एक-दूसरे में समाविष्ट करने की है। नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत के कुछ प्रतिपादक तो न्याय और सम्पूर्ण सदाचार को एक ही मानते हैं, जैसाकि प्लेटो की रिपब्लिक में देखा जा सकता है, किन्तु कुछ अन्य न्याय को मुख्य सद्गुणों में एक सद्गुण स्वीकार करते हैं।

(2)

पहले कहा जा चुका है कि न्यायविषयक मूलभूत प्रश्नों के आधार पर तीन मौलिक मतों को पृथक् किया जा सकता है। अब इन मौलिक मतों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया जायगा। इस विश्लेषण के दो मुख्य लक्ष्य हैं। एक तो यह कि इनके मतैक्य और मतान्तर ठीक प्रकार से विदित हो जायें जिससे इन मतों की युक्तता एवं अयुक्तता के बारे में पाठक स्वयं अपना निर्णय कर सकें। दूसरे यह बताना कि ये मत वास्तव में प्रतिपादित हुए हैं। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक मत का एक प्रतिमान तैयार किया गया है। यह प्रतिमान एक द्वन्द्वात्मक संरचना है। मत विशेष को मानने वाले किसी भी दार्शनिक का प्रतिपादन संरचित प्रतिमान के साथ एकाकार नहीं है, किन्तु कुछ दार्शनिकों के प्रतिपादन प्रतिमान के अधिक निकट हैं। जिन दार्शनिकों के मत प्रतिमान के अधिक निकट हैं उन्हें उस मत का निदर्श लेखक माना गया है। बुनियादी मतों की द्वन्द्वात्मक संरचना में निदर्श-मत-लेखकों की कृतियों को ही आधार बनाया गया है। तीनों मतों के द्वन्द्वात्मक प्रतिमानों के आधार पर दार्शनिकों के न्याय सम्बन्धी विविध मतों का स्थान निर्धारित किया जा सकता है। निदर्श-मत-लेखकों की कृतियों का उपयोग करने के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह दिखाना कि न्याय पर हुए वाद-विवाद पर वास्तव में तीन मौलिक मत हैं। दूसरे यह सिद्ध करना कि निदर्श-मत-लेखक ने मत के द्वन्द्वात्मक प्रतिमान के अनुरूप विचार प्रकट किए हैं।

(3)

विषयनिष्ठ कानून सम्बन्धी मत के अनुसार न्याय के स्वरूप की संक्षिप्त व्याख्या निम्न छ: कथनों द्वारा की जा सकती है :–

(1) न्याय और अन्याय विषयनिष्ठ कानून पर आश्रित हैं।
(2) कानून न्याय से स्वतन्त्र है।
(3) न्याय कानून-पालन में निहित है।
(4) वैधता के अतिरिक्त न्याय विषयीनिष्ठ मानक मात्र है।
(5) अन्ततः न्याय वैधिक एवं राजनीतिक अनुशास्तियों के कारण ही है।
(6) सद्गुण के रूप में न्याय एवं कानून-पालन में तादात्म्य है।

वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत के दो प्रमुख भाग हैं। एक, न्याय का वस्तुपरक कानून की पदावली में विवेचन। दूसरा, अर्थ-सम्बन्धी सिद्धान्त जो 'न्याय' शब्द के अन्य निदर्शभूत प्रयोगों को अस्पष्ट और विषयीनिष्ठ बताता है।

किसी भी लेखक की कृतियों में उपर्युक्त छहों प्रस्थापनायें स्पष्ट रूप में नही मिलतीं। अन्य लेखकों की तुलना में हॉब्स प्रतिमान के सबसे अधिक समीप है। किन्तु हॉब्स के ग्रन्थ में भी चौथी प्रस्थापना के बारे में कोई विचार नहीं मिलता। जब लोग कानून को न्यायपूर्ण या अन्यापूर्ण बताते हैं तो इससे उनका क्या अभिप्राय होता है, इस पर हॉब्स ने ध्यान ही नहीं दिया। यद्यपि किसी निदर्श लेखक में छहों प्रस्थापनायें नहीं मिलती हैं, किन्तु उनमें से किसी ने भी एक या दो से अधिक बुनियादी प्रश्नों की अवहेलना नहीं की है, और इन लेखकों ने चार या पांच प्रस्थापनाओं के बारे में जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि जिन प्रश्नों के बारे में वे चुप हैं उन पर उनका क्या मत हो सकता था। विषयनिष्ठ कानून सम्बन्धी मत के तीन निदर्श लेखक हैं-हॉब्स, ऑस्टिन और केल्सन। इनमें हॉब्स प्रमुख है। वस्तुपरक कानून मत का मूल तत्त्व इस दावे को लेकर है कि वह न्याय शब्द के सभी महत्वपूर्ण प्रयोगों की सन्तोषजनक व्याख्या कर सकता है। इस दावे की पुष्टि तीन तरह से की गयी है। प्रथम, यह दिखा कर कि न्याय कानून पर निर्भर करता है। कानून के अभाव में न्याय और अन्याय का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। दूसरे, कानून न्याय का पूर्वगामी है, अत: न्याय कानून का मानदंड नहीं हो सकता कानून के न्याय-संगत या अन्याय-संगत होने की बात कहना असंगत है। तीसरे, कानून न्याय का पूर्ण मानदंड है। कोई कार्य न्यायसंगत है या नहीं, यह निर्णय करने के लिए यह निश्चय करना पर्याप्त है कि वह कानून के अनुरूप है या नहीं।

हॉब्स मानव की कानून-विहीन अवस्था का वर्णन करता है। उसके अनुसार, उस अवस्था में कोई सर्वमान्य शक्ति-केन्द्र नहीं होता जो आदेश दे सके और आदेशों का बलपूर्वक पालन करवा सके। न्याय और अन्याय की बात तभी की जा सकती है यदि कोई ऐसी शक्ति हो जो सब लोगों को समानरूप से अपने वायदे पूरे करने के लिए विवश कर सके। दंड-समर्थ उत्कृष्टतम शक्ति के अभाव में न तो वैयक्तिक संविदा का कोई आधार होता है और न सम्पत्ति का। राजदंड के अभाव में संविदायें शब्दमात्र हैं, उनमें दायित्व उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती, अत: वे अप्रामाणिक होती हैं। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक वस्तुपरक वस्तु पर अधिकार होता है, जो किसी भी मनुष्य का किसी भी वस्तु पर कोई भी अधिकार नहीं होने के समान है। जहां किसी भी मनुष्य का किसी भी वस्तु पर अधिकार नहीं होता, अर्थात् जहां सम्पत्ति नहीं होती, वहां न्याय-अन्याय की बात ही नहीं की जा सकती। इस अवस्था में अपनी जीवन-रक्षा के लिए मनुष्य कुछ भी करे तो उसके कार्य को अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

रोमी कानून में न्याय की जो परिभाषा की गई है वह हॉब्स को मान्य है। रोमी कानून के अनुसार जो जिसका है वह उसे देना ही न्याय है। पर हॉब्स इस परिभाषा को इस शर्त पर मानता है कि जो जिसका प्राप्य है वह कानून द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अत: न्याय और अन्याय कानून पर आश्रित हैं। वे सिविल सोसाइटी की उपज हैं।

केल्सन के अनुसार भी समाज के आधार-भूत मानक न्याय और अन्याय निर्धारित करते हैं। हर समाज की दृष्टि में उसकी व्यवस्था न्यायोचित एवं उसके अनुसार आचरण न्यायसंगत है। अत: न्यायान्याय समाज-सापेक्ष हैं। वस्तु-परक कानून सम्बन्धी मत के लिए न्याय कानून का आदर्श नहीं हैं। कानून को न्यायसंगत या अन्यायसंगत कहना भ्रान्तिजनक है। हॉब्स ने कहा है कि कानून अन्यायसंगत

नहीं हो सकता। हॉब्स की तरह ऑस्टिन भी कहता है कि 'वस्तुपरक कानून' वैधिक न्याय और अन्याय का मापदंड या कसौटी है और परिणामत: यदि वस्तुपरक कानून वैधिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण हो सकता है तो वस्तुपरक कानून अपनी ही कसौटी से (मापा जाकर या जांचा जाकर) अन्यायसंगत है। यही बात केल्सन ने भी कही है। न्याय का अर्थ वैधता है। इसलिए इस प्रश्न का, कि कोई कानून अन्याय-संगत है, अर्थ कि अमुक कानून कानून है या नहीं है, जोकि एक हास्यास्पद प्रश्न है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कानून का मूल्यांकन हो सकता है। पर मूल्यांकन की कसौटी न्याय नहीं है। कानून सप्रयोजन होते हैं। उनका अच्छा और बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि वे कहां तक अपने प्रयोजन को पूरा करने में सफल होते हैं। पर कानून का मूल प्रयोजन क्या है, इस प्रश्न का उत्तर वस्तुपरक न्याय सम्बन्धी मत के सभी समर्थकों ने एक ही नहीं दिया है। हॉब्स शांति एवं सुरक्षा स्थापित करना कानून का परम उद्देश्य मानता है। ऑस्टिन के लिए कानून का चरम लक्ष्य सामान्य उपयोगिता में वृद्धि करना है। केल्सन के अनुसार कानून का प्रमुख लक्ष्य सामाजिक सुख को उन्नत करना है। पर इस बात में सभी एकमत हैं कि कानून से परे कानून का प्रयोजन सन्दिग्ध, निष्फल एवं विषयीगत ही हो सकता है। कानून ही मनुष्य के आचरण का मूल्यांकन करने का असन्दिग्ध एवं निरपेक्ष मापदंड होने में सक्षम है। वही अन्याय का संतोषजनक मानक है।

हां, कानून की कार्यान्विति और विनियोग में न्याय मानदंड स्थापित करता है। इस प्रसंग में न्यायपूर्ण विनियोग से तात्पर्य कानून के निष्पक्षतापूर्ण प्रयोग से ही है। पर कानून की उद्घोषणा में न्याय मार्ग-दर्शक नहीं हो सकता। इस विषय पर केल्सन और एल्फ रॉस के मत एक से ही हैं। दोनों समानरूप से कानून के तत्त्व का मूल्यांकन करने के लिए न्याय को अक्षय मानते हैं परन्तु इस बात को स्वीकार करते हैं कि कानून का विनियोग न्यायसंगत या अन्यायसंगत हो सकता है। एल्फ रॉस ने तो स्पष्टत: कहा है कि "न्यायसंगत" और 'अन्यायसंगत' शब्दों का अर्थपूर्ण प्रयोग न्यायाधीश के निर्णयों का मूल्यांकन करने के लिए किया जा सकता है। न्यायाधीश का निर्णय वर्तमान कानून के अनुसार है तो वह न्यायसंगत है, अन्यथा निर्णय अन्यायपूर्ण है। किन्तु विधायक के लिए न्यायसंगत और अन्याय-संगत शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। न्यायाधीश एवं विधायक में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि न्यायाधीश कानून के अधीन है, विधायक कानून से परे है। इसलिए न्याय के परम्परागत सिद्धान्तों को वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत न्यायालयों तक ही सीमित कर देता है। यह बात समानता के सिद्धान्त के लिए विशेषरूप से लागू होती है।

केल्सन समानता के सिद्धांत का विशुद्ध आकारिक सिद्धान्त में अन्तर्भाव कर देता है। उसका कहना है कि वैधिक समानता का सिद्धान्त वस्तुपरक कानून के सामान्य मानक को विशिष्ट पर लागू करने के सन्दर्भ में निहित अंतर्विरोध का तार्किक नियम ही है। न्याय राज्य की नीति का मानदण्ड नहीं हो सकता। कानून-निर्माता होने से राज्य न्याय का मूल स्रोत है।

वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत के सभी समर्थक कानून को न्याय की कसौटी मानने में सहमत हैं। हॉब्स का कहना हैं कि "जो कानून के विरुद्ध नहीं वह अन्यायसंगत नहीं हो सकता। जो अपने देश के कानूनों का पालन करता है वही न्यायसंगत है।" यही बात अन्य शब्दों में ऑस्टिन ने कही है। उसके अनुसार "कानून ही न्याय का मापक है।" केल्सन यह दावा करता है कि न्याय का कानून में अंतर्भाव करके उसने इसका द्वैत समाप्त कर दिया है। न्याय की इस परिभाषा को, कि 'जो जिसका प्राप्य है वह उसे प्रदान करना न्याय है' वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत संतोषजनक नहीं मानता। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हॉब्स के मत में इस परिभाषा में कानून व्यवस्था का होना पूर्वापेक्षित है क्योंकि

किसका क्या दातव्य है यह कानून द्वारा ही और कानून व्यवस्था की बदौलत ही निश्चय किया जा सकता है। इस परिभाषा की ओर निर्देश करके केल्सन कहता है कि यह एक निरर्थक सूत्र है, क्योंकि यह इस बात के बारे में कि, किसका क्या नियत है, मार्ग-दर्शन नहीं करता। किसका क्या देय है इसका अनुदेश वस्तुपरक कानून ही दे सकता है।

कानून को न्यायान्याय की कसौटी मानने से वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत द्वारा नैसर्गिक अधिकार के सिद्धान्त का परित्याग अपेक्षित ही है। केल्सन तो नैसर्गिक अधिकार का निराकरण स्पष्ट रूप से करता है। उसके अनुसार, नैसर्गिक कानून सम्बन्धी मत वस्तुपरक कानून के समान नैसर्गिक अधिकार का निरपेक्ष मानक स्थापित नहीं कर सकता।

ऑस्टिन के अनुसार "नैसर्गिक कानून" भ्रान्तिजनक पद है जिसका विधिशास्त्र एवं नीतिशास्त्र से बहिष्कार कर देना चाहिये। दैवी नियम एवं नैतिक सिद्धान्त अस्पष्ट, अनिश्चित एवं सापेक्ष होते हैं अत: वे नैसर्गिक अधिकारों के आधार नहीं हो सकते। हॉब्स भी नैसर्गिक अधिकारों को न्याय का आधार नहीं मानता। जब हॉब्स कहता है कि नैसर्गिक कानून या अधिकार न्याय के स्रोत हैं तब उसका अभिप्राय यह है कि नैसर्गिक कानून की स्थिति मानव की वह पूर्वावस्था है जो कानून-व्यवस्था में परिणत होती है। उस अवस्था में न्यायान्याय का प्रश्न ही नहीं उठता। "नैसर्गिक कानून" से वह उन हेतुओं की ओर भी निर्देश करता है जिनसे प्रेरित होकर मानव "प्राकृतिक अवस्था" का परित्याग कर कानून के शासन की ओर अग्रसर होता है।

हॉब्स, ऑस्टिन, केल्सन और रॉस सभी समान रूप से अनुमोदन को विषयीनिष्ठ मानते हैं। जब 'न्याय' वैधिक का वाचक नहीं होता तब यह विषयीनिष्ठ संवेग की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। ऑस्टिन ने यह विचार स्पष्टता से प्रकट किया है। उसने एक स्थल पर कहा है कि वैधिक के अतिरिक्त किसी भी अन्य अर्थ में अन्याय की बात कहना केवल नापसन्दगी का द्योतक है, जोकि घुरघुराहट से या कराह से ज़्यादा ठीक व्यक्त की जा सकती है। रॉस और केल्सन के विचार इस विषय पर ऑस्टिन के सदृश ही हैं। उनके अनुसार "न्याय है" उन कथनों में से जो विषयों के बारे में कुछ कथन करने का आभास देते हैं, किन्तु जो वास्तव में विषयों के बारे में कुछ भी कथन नहीं करते। न्याय के बारे में हॉब्स, केल्सन आदि के ये विचार एक व्यापकतर दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हैं जिसके अनुसार तथ्य एवं तर्कपरक जगत् का मूल्य-जगत् से मौलिक भेद है। इस विचारधारा में आदर्श-मूलक कथनों का न तो तथ्यों द्वारा सत्यापन हो सकता है और न ही वे विवेक द्वारा प्रमाणित किए जा सकते हैं। यह विचारधारा इन वाक्यों को संवेगमूलक अथवा आदेशात्मक कह कर इन्हें तथ्य-जगत् एवं विवेक-जगत् से पृथक् कर देती है। अत: ये वाक्य सत्य या असत्य नहीं कहे जा सकते।

न्याय में किस प्रकार की कर्त्तव्यता सन्निहित है ? वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत से कर्त्तव्यता में दो भिन्न प्रकार के तत्त्व हैं :-

(1) एक, दंड-मूलक, जो कानून की भौतिक अनुशास्ति पर आश्रित है।

(2) दूसरा, अनुमोदनमूलक, जो विषयीनिष्ठ संवेग से व्युत्पन्न होता है।

कर्त्तव्यता के दोनों तत्त्व हॉब्स के ग्रन्थ में मिलते हैं। हॉब्स का आग्रह है कि न्यायान्याय की बात तभी की जा सकती है जब एक सर्वमान्य बल-प्रवाही शक्ति प्रसंविदा तोड़ने से संभावित लाभ से गुरुतर दण्डवास द्वारा सबको समान रूप से अपने प्रसंविदा का सम्पादन करने को बाध्य कर सके। किन्तु हॉब्स अनुबद्धता को केवल शक्ति पर आश्रित नहीं मानता। अन्तिम विश्लेषण में अनुबद्धता सदैव अपने ही कृत की अनुगामी है। राज्य, जोकि कानून एवं तज्जनित न्याय का अक्षत स्रोत है,

सामान्य समझौते के परिणामस्वरूप स्थापित होता है। अत: राजाज्ञा का पालन अपने आप ही के आदेश का पालन है। एतद्नुसार कानून एवं न्याय की अनुबद्धता शक्ति एवं प्रसंविदा का संयुक्त परिणाम है। न्याय की आबद्धता विषयक शक्तिमूलक एवं संविदामूलक व्याख्या प्लेटो की रिपब्लिक में बहुत अच्छे ढंग से की गयी है। रिपब्लिक में थ्रेसिमेक्स कहता है कि न्याय का प्रयोजन शक्तिशाली के हितों की रक्षा करना है। शासकवर्ग राज्यशक्ति का उपयोग करके अपने हितार्थ कानून बनाता है। ये कानून ही न्यायान्याय के मानदण्ड होते हैं। इस प्रकार सत्तारूढ़ वर्ग के हित ही न्यायान्याय की कसौटी बन जाते हैं। इस अभ्यर्थना में थ्रेसिमेक्स न्याय के शक्ति पर आश्रित होने की बात पर बल देता है। इस मत के विरुद्ध ग्लोकोन का आग्रह है कि मनुष्य का अनुभव उसे यह सिखा देता है कि स्वार्थपूर्ति के लिये बल प्रयोग से उत्पन्न सुख पीड़ित व्यक्ति द्वारा प्रतिहिंसा करने पर होने-वाले दु:ख की तुलना में अकिन्चन होता है। अत: आपसी समझौता करके मनुष्य यह तय कर लेते हैं जिससे न तो कोई किसी को पीड़ित करे, न कोई किसी द्वारा पीड़ित किया जाय। मनुष्यों का यह आपसी समझौता ही एक साथ राज्य कानून एवं न्याय का उद्गम है।

वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत द्वारा आबद्धता की व्याख्या में शक्ति पर इतना अधिक बल दिया गया है कि आलोचकों ने इस पर यह आरोप लगाया है कि यह मत "औचित्य और शक्ति" को एक ही मान लेता है। पर यह आरोप सही नहीं है। इस मत के लिये कानून के पीछे केवल नग्न भौतिक बल की अनुशास्ति नहीं है। पुलिस-शक्ति के अतिरिक्त सामाजिक समर्थन कानून की पुष्टि करता है। ऑल्फ रॉस ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है। उसके अनुसार, अधिकांश लोग पुलिस के भय से नहीं बल्कि कानून के प्रति आदर की भावना से कानून का पालन करते हैं।

हॉब्स, ऑस्टिन और केल्सन तीनों न्याय के सद्गुण को कानून-पालन में निहित मानते हैं। हॉब्स के अनुसार संप्रभु द्वारा कानून व्यवस्था स्थापित होने के साथ ही सामाजिक नैतिकता का जन्म होता है। कानून-तन्त्र की स्थापना के पूर्व नैतिक-अनैतिक, उचित-अनुचित और न्यायालय की बात का कोई अर्थ नहीं होता। हॉब्स-कृत लिवियेथन को समग्र दृष्टि से देखें तो हॉब्स की इस स्थापना के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता। किन्तु लिवियेथन के कुछ स्थलों को पृथक् करके पढ़ें तो लगता है कि हॉब्स के अनुसार न्याय-सद्गुण काननू-पालन में नहीं वायदा निभाने में और विवेक-सम्मत आचरण में निहित है। वास्तव में कानून-पालन, विवेक-सम्मत आचरण एवं प्रतिज्ञा-पालन में हॉब्स की दृष्टि से अन्तरंग सम्बन्ध है। वायदा निभाना और कानून का पालन करना एक ही बात है। क्योंकि हॉब्स जब वायदा निभाने की आबद्धता की चर्चा करता है तो उसका आशय प्रसंविदा के प्रति वचनबद्धता का सम्मान करने से ही है। वर्तमान संदर्भ में प्रसंविदा से अभिप्राय उस मूल प्रतिश्रव से है जिससे लिवियेथन की स्थापना के साथ ही सभी लोग समान-रूप से संप्रभु का आदेश मानने को प्रतिबद्ध हो जाते हैं। कानून संप्रभु के आदेश ही हैं। प्रसंविदा के मानने से शान्ति एवं सुरक्षा बनी रहती है अत: प्रसंविदा का पालन विवेक सम्मत है।

(4)

सामाजिक हित सम्बन्धी मत के प्रस्तुतीकरण में उसी पद्धति का अनुसरण किया गया है जो वस्तुपरक काननू मत को प्रस्तुत करने में प्रयुक्त की गई थी।

सामाजिक हित सम्बन्धी मत न्याय का कानून के साथ तादात्म्य नहीं मानता। जब सिजविक यह आग्रह करता है कि न्याय से हमारा अभिप्राय 'कानून के अनुरूप' होने से नहीं है तो हम उसे सामाजिक हित सम्बन्धी मत के प्रवक्ता की भूमिका में ले सकते हैं। अपने मत की पुष्टि में सिजविक तीन

युक्तियाँ देता है। पहली, जो लोग कानून की अवज्ञा करते हैं उनमें से कुछ ही के लिए हम यह कहते हैं कि उनका आचरण अन्यायपूर्ण है, सबके लिए हम यह बात नहीं कहते। उदाहरण के लिए, जुआरी के आचरण को हम अन्यायपूर्ण नहीं कहते, यद्यपि जुआ खेलना कानून के विरुद्ध है। हम कई बार न्याय के मानदण्ड से कानून का मूल्यांकन करके कुछ कानूनों को न्याय-संगत और कुछ को अन्याय-संगत बताते हैं, कुछ आचरण जिन्हें हम नि:सन्देह रूप से कानून के क्षेत्र से बाहर मानते हैं, न्यायालय की परिधि से बाहर नहीं कहे जा सकते। जैसे, पिता का पुत्र के प्रति रुख कानून के क्षेत्र से बाहर होने पर भी अन्यायपूर्ण कहा जा सकता है। सिजविक द्वारा की गई दूसरी और तीसरी युक्तियों का प्रयोग मिल पहले ही कर चुका था।

मिल ने कहा है कि मनुष्य न्यायालय का प्रयोग जीवन के उन क्षेत्रों में भी करता है जिनका कानून द्वारा नियन्त्रण नहीं किया जाता और जिनका कानून द्वारा नियन्त्रण अनुचित है। उदाहरणार्थ, वैयक्तिक जीवन पर कानूनी नियन्त्रण उचित नहीं है। पर यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित आचरण में न्यायान्याय की कसौटी लागू होती है। इसी प्रकार, सार्वजनिक क्षेत्र में भी कानून के सन्दर्भ के अभाव में भी न्याय आचरण के मापक के रूप में प्रयुक्त होता है। किसी के साथ विश्वासघात करना और पक्षपातपूर्ण व्यवहार करना अन्यायपूर्ण है, यद्यपि यहाँ कानून अप्रासंगिक है।

वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत में नैसर्गिक न्याय को कोई स्थान नहीं है पर सामाजिक हित मत नैसर्गिक कानून को अस्वीकार नहीं करता। ह्यूम के मत में समाज का अस्तित्व न्याय की पूर्वापेक्षा करता है। न्याय की स्थापना राज्य और उसके कानून द्वारा नहीं होती, बल्कि न्याय राज्य एवं कानून-व्यवस्था में पूर्वापेक्षित है। इस तरह ह्यूम इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि राज्य, कानून एवं कानून द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था से पृथक् नैसर्गिक आचार-संहिता एवं नैसर्गिक कानून की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। सामाजिक हित सम्बन्धी मत के सभी समर्थक यह मानते हैं कि न्याय कानून की कसौटी है। इस कसौटी पर जांचकर कानून न्यायोचित या अन्याय-संगत घोषित किया जाना चाहिये।

सामाजिक हित सम्बन्धी मत के अनुसार मानदण्ड के रूप में न्याय अन्ततोगत्वा सामाजिक हित पर आधारित है। कानून वहीं तक न्याय-संगत है जहाँ तक उससे समाज-हित में वृद्धि होती है। यदि किसी कानून विशेष से समाज-हित में हानि होती है या बाधा पहुँचती है तो वह कानून अन्याय-संगत है।

न्याय की समाज पर निर्भरता दिखाने के लिए ह्यूम इसे कृत्रिम सद्गुण दिखाने का प्रयास करता है। न्याय की कृत्रिमता प्रदर्शित करने के लिए वह दो युक्तियाँ देता है, एक तो यह कि न्याय-सद्गुण यदि नैसर्गिक होता तो सम्पत्ति-विषयक मूल प्रवृत्ति मनुष्य में अवश्य पायी जाती। पर इस मूल प्रवृत्ति के होने का कोई प्रमाण मानव-व्यवहार में नहीं मिलता। दूसरे, न्याय समाज-सापेक्ष है। इस दृष्टि से न्याय एवं उदारता में भेद है। उदारता की शुभता उदार कृत्य में ही अर्न्तनिहित है। उसकी शुभता के निर्धारण के लिए सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ पर विचार करना आवश्यक है। किन्तु न्याय के औचित्य का निर्णय सामाजिक संदर्भ में ही हो सकता है।

न्याय समाज पर आश्रित है, यह दिखाने के लिए ह्यूम एक और तर्क देता है। वह कुछ काल्पनिक परिस्थितियों का उल्लेख करता है जहाँ न्याय की कोई भूमिका नहीं हो सकती। इस प्रकार की परिस्थितियों के वह कई उदाहरण देता है जिनमें से कुछ निम्नोक्त हैं :- कवियों द्वारा वर्णित स्वर्णयुग, जहाँ सभी लोगों को इच्छित वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं; साधु-समाज, जहाँ सभी उदार-हृदय हैं; अभावग्रस्त समाज, जहाँ अधिकांश लोग भुखमरी से ग्रस्त हैं; गुण्डों की सोसायटी, आदि। इन उदाहरणों में न्याय-अन्याय का प्रश्न ही नहीं उठ सकता क्योंकि इनमें न्याय कोई सामाजिक कार्य निष्पन्न नहीं कर सकता।

ह्यूम के अनुसार न्याय का उद्भव आपसी समझौतों से होता है। पारस्परिक समझौते में मूल प्रेरणा व्यक्ति के अपने हितों की रक्षा और सामान्य हित की भावना है। समझौते से प्रतिबद्ध होने से हर व्यक्ति समझौते के अनुसार आचरण करता है कि समाज के अन्य सदस्यों का आचरण भी समझौते के अनुरूप होगा।

सामाजिक हित सम्बन्धी मत के समर्थकों में रॉस उन कतिपय दार्शनिकों में से है जो न्याय का विश्लेषण स्पष्टत: समझौते की पदावली में करता है। वह सामान्य उपक्रम में भाग लेने के लिए न्याय को पूर्व शर्त मानता है। सामान्य अनुष्ठान के सहभागियों को कुछ सिद्धान्तों को परस्पर अंगीकार करना पड़ता है। इन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने में ही न्याय-संगत व्यवहार निहित है।

न्याय की समाज पर निर्भरता में नैसर्गिक अधिकारों की अस्वीकृति संकेतित है। मिल और सिजविक, जैसाकि अपेक्षित है, नैसर्गिक अधिकार नहीं मानते। सिजविक कहता है कि नैसर्गिक अधिकार मानव के सामाजिक सम्बन्धों के मानक नहीं हो सकते। मिल ने भी अपने निबन्ध 'प्रकृति' में आग्रह किया है कि प्रकृति मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए नैतिक आदर्श नहीं प्रदान कर सकती। न्याय के संप्रत्यय का विश्लेषण करके सिजविक निम्नोक्त घटक तत्त्व प्राप्त करता है।

(1) कानून -पालन।

(2) समानता

(अ) श्रम फल एवं दायित्व के वितरण में, अथवा

(ब) निष्पक्षता, कानून बनाने और लागू करने में मनमानी असमानता के परित्याग के अर्थ में।

(3) प्रसंविदा, सहज एवं सामान्य अपेक्षाओं की पूर्ति।

(4) यथार्थ पुरस्कार एवं दण्ड।

न्याय के उपर्युक्त तत्त्वों का सिजविक उपयोगिता में अन्तर्भाव कर देता है। उपयोगिता से सिजविक का अभिप्राय सामाजिक हित से ही है। न्याय के तत्त्वों का उपयोगिता में अन्तर्भाव करना सामाजिक हित मत की विशेषता है। यद्यपि न्याय की परिभाषा में अधिकार एक महत्वपूर्ण तत्त्व है किन्तु अधिकार सामाजिक हित उन्नत करने के साधन ही हैं। सामाजिक हित सम्बन्धी मत के कुछ प्रवक्ता समानता को न्याय के विश्लेषण में मुख्य तत्त्व मानते हैं, पर समानता और असमानता की न्याय-संगतता उपयोगिता से ही निर्धारित की जाती है।

सामाजिक हित न्याय का निरपेक्ष मानदण्ड है। किन्तु न्याय की निरपेक्षता की पुष्टि समा हित-मतावलम्बियों द्वारा दो भिन्न प्रकार से की जाती है। कुछ के अनुसार निरपेक्षता का स्रोत समाज की शुभविषयक सामान्य भावना है। सिजविक के अनुसार निरपेक्षता का आधार विवेक-सम्मत निर्णय है, जिससे हम यह जान लेते हैं कि समाज-हित कैसे उत्पन्न और उन्नत हो सकता है।

ह्यूम के अनुसार, किसी भी कार्य के न्याय अथवा अन्याय होने के बारे में जो निर्णय दिया जाता है उसमें दो भिन्न तत्त्व रहते हैं। पहला, यह ज्ञान कि वह कार्य उपयोगी है या नहीं। यह तथ्यात्मक तत्त्व है अत: यह तर्क-बुद्धि के कार्य-क्षेत्र में समाविष्ट किया जाता है। दूसरा, क्रियोन्मुखी संवेग-तत्त्व, जिसके कारण उपयोगी अनुमोदनीय एवं करणीय हो जाता है। इस उपरोक्त तत्त्व को ह्यूम स्थायी भाव की संज्ञा देता है। सामाजिक अनुभवों द्वारा व्यक्ति शनै: शनै: यह जान जाता है कि कौन से कार्य अनुमोदनीय हैं, कौन से हेय। इस प्रकार व्यक्ति का सामाजिक अनुभव स्थायी-भाव का निर्माण करते हैं। मिल ह्यूम से इस बात में सहमत हैं कि न्याय में दो विभिन्न तत्त्व निहित हैं। यद्यपि मिल उनका विवरण

भिन्न प्रकार से देता है, किन्तु वास्तव में ये तत्त्व ह्यूम द्वारा उल्लेखित तत्त्वों से भिन्न नहीं हैं। मिल लिखता है - "न्याय आचरण के (नियामक) सिद्धान्त एवं उनका अनुमोदन करने वाले स्थायीभाव में निहित है।" ह्यूम और मिल की तरह सिजविक भी न्याय विषयक निर्णयों में दो तत्त्व समाहित मानता है। इस कथन में कि 'अ न्याय-संगत है' सिजविक के अनुसार दो निम्नोक्त तत्त्व हैं :-

(1) क से समाज-हित में वृद्धि होती है, (2) जिससे समाज-हित में वृद्धि हो वह करणीय है। इस बात में तीनों का मतैक्य है कि प्रथम तत्त्व तथ्य-मूलक है जिसका निर्धारण करने के लिए विवेक-बुद्धि उपयुक्त है। दूसरे तत्त्व को ह्यूम और सिजविक तो संवेगमूलक मानते हैं, किन्तु सिजविक के अनुसार वह सहज बुद्धि द्वारा प्रदत्त होता है। ह्यूम और मिल के विपरीत, सिजविक नैतिक निर्णयों को संवेगमूलक नहीं मानता। उसके अनुसार नैतिक निर्णय ज्ञानमूलक होते हैं। उनका आधार सहज विवेक है जिससे मनुष्य यह देख लेता है कि अमुक कार्य अपने आप में उचित एवं विवेकसम्मत हैं चाहे उनके परिणाम कुछ भी हों।

न्याय व्यक्ति या व्यक्तियों में अधिकार सन्निहित होने का सूचक है। उस अधिकार से सम्बद्ध अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों में कर्त्तव्य की आबद्धता रहती है और परिणामत: उनमें अधिकार भी सन्निहित होता है। सिजविक की दृष्टि में ह्यूम और मिल द्वारा की गई न्याय की आबद्धता की व्याख्या अत्यन्त असन्तोषजनक है। ह्यूम और मिल आबद्धता की व्याख्या 'नैतिक करणीयता' के तत्त्व को स्वीकार किये बिना ही करते हैं। ह्यूम न्याय की आबद्धता को समाजाभिमुखी अनुमोदनमूलक करणीयता में अन्तर्भूत करता है। मिल आबद्धता की व्याख्या के लिए प्रयोजनवादी एवं दाण्डिक करणीयता का आश्रय लेता है। इस प्रकार दोनों न्याय की आबद्धता को स्पष्ट करने में असफल रहते हैं। सिजविक कहता है कि 'क से सामाजिक हित है' यह ज्ञान क को स्वत:करणीय नहीं बना देता, जबतक यह स्पष्ट नहीं हो कि 'समाज-हित' क्यों करणीय है। सिजविक का आग्रह है कि जब हमें यह ज्ञान होता है कि सामाजिक हित के अनुरूप होने से कोई आचरण न्यायसंगत है तब हमारी सहज बुद्धि तत्काल देख लेती है कि वह करणीय है। ह्यूम और मिल की मुख्य भूल यह है कि वे नैतिक करणीयता के आधारभूत सहजबोध की अवहेलना करते हैं। नैतिक प्रातिभज्ञान आचरण के निरुपाधिक सिद्धान्तों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इनकी सत्यता का ज्ञान सहज बुद्धि से होता है। किन्तु नैतिक आचरण के आधार होने पर भी इन अमूर्त्त एवं सार्वलौकिक सिद्धान्तों से विशिष्ट कर्त्तव्य अनुमित नहीं किए जा सकते। सिजविक के मत में व्यवहार से निरपेक्ष रूप से स्पष्ट नैतिक प्रातिभज्ञानों में निम्नोक्त उल्लेखनीय हैं –

(1) यदि कोई आचरण मेरे लिए उचित है और अन्य किसी व्यक्ति के लिये अनुचित है तो दोनों की वस्तुस्थिति में महत्वपूर्ण अन्तर होना चाहिये।
(2) यदि मेरे प्रति किया गया व्यवहार उचित है और दूसरों के प्रति किये जाने पर वही व्यवहार अनुचित है तो मेरी और दूसरों की वस्तुस्थिति में महत्वपूर्ण भेद होना चाहिये।
(3) कानून का प्रयोग निष्पक्षतापूर्वक किया जाना चाहिये।
(4) वर्तमान के लघुतर शुभ को भविष्य के गुरूतर शुभ से अधिक श्रेयस्कर नहीं समझना चाहिये।
(5) सभी व्यक्तियों के हित को समान महत्त्व देना चाहिये।
(6) हर व्यक्ति का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के हित को अपने हित के समान महत्त्व दे।

इन नैतिक सत्यों का बोध इतना स्पष्ट होता है कि इनके विवेकसम्मत होने के बारे में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। इन सिद्धान्तों को नैतिक आचरण का आधार मान कर सिजविक समाजहित सम्बन्धी मत में अन्त: प्रज्ञावादी तत्त्वों का समावेश कर देता है।

समाज-हितार्थ आचरण की प्रवृत्ति ही न्याय-सद्गुण है। समाज हित सम्बन्धी मत की मुख्य कठिनाई यह है कि यह न्याय-सद्गुण और उदारता में स्पष्ट भेद नहीं कर सकता। इस कठिनाई का मूल कारण यह है कि दोनों के स्रोत और लक्ष्य एक ही हैं। दोनों का स्रोत सहानुभूति है और लक्ष्य सामान्य हित। तथापि ह्यूम, मिल और सिजविक ने न्याय और उदारता में भी भेद किया है। जैसाकि ऊपर कहा गया है, ह्यूम उदारता को नैसर्गिक सद्गुण मानता है, न्याय को कृत्रिम। न्यायोचित आचरण के लिए विवेक, दूर दृष्टि, और सूझ आवश्यक हैं, उदारतापूर्ण व्यवहार के लिए इनकी आवश्यकता नहीं रहती। मिल के अनुसार न्याय द्वारा प्रेरित सेवायें उनके लाभानुभोगियों द्वारा अधिकार के रूप में भोगी जा सकती हैं, किन्तु उदारतापूर्ण व्यवहार में इस प्रकार का दावा नहीं किया जा सकता। सिजविक की दृष्टि में न्याय में उचित वितरण का प्रश्न महत्वपूर्ण है, उदारता में यह प्रश्न प्रासंगिक नहीं होता।

न्याय और उदारता में चाहे जिस प्रकार भेद किया जाय, न्याय सामाजिक हित सम्पन्न करने एवं प्रोन्नत करने में निहित है। दूसरे शब्दों में, जो उपयोगी है वह न्याय है। प्रश्न यह है कि क्या यह मत इस प्रकार न्याय को परिस्थिति-सापेक्ष नहीं बना देता, और यदि न्याय समयोचित गुण ही है तो इसे सद्गुण कैसे कहें ? समाजहित मतवादी दार्शनिकों में केवल मिल ही इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। मिल का इस प्रश्न के बारे में उत्तर यह है कि न्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण मामलों में परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त कार्य ही है। मिल का यह उत्तर सिजविक को मान्य नहीं, क्योंकि वह मूलभूत नैतिक प्रातिभज्ञान को स्वीकार करता है जिसके द्वारा वह न्याय एवं समयोचितता को पृथक् कर देता है।

नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत की व्याख्या करने के पूर्व समाजहित सम्बन्धी मत की प्रमुख स्थापनाओं का संक्षिप्त विवरण उपादेय है –

(1) न्याय और अन्याय केवल वस्तुपरक कानून पर आश्रित नहीं हैं।

(2) न्याय कानून के औचित्य की कसौटी है।

(3) न्याय समाज-सापेक्ष है। न्यायान्याय की धारणायें सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होती हैं। समाजहित की अभिवृद्धि में ही न्याय निहित है।

(4) न्याय मानव-आचरण का मूल्यांकन करने का निरपेक्ष मानदंड है।

(5) न्याय की आबद्धता केवल कानून पर निर्भर नहीं है। उसकी आबद्धता का स्रोत सामाजिक हित प्रोन्नत करने की मानव-प्रवृत्ति भी है।

(6) न्याय विशिष्ट सद्गुण है जो व्यक्ति को समाजहित सम्पन्न एवं प्रोन्नत करने के लिए प्रवृत्त करता है।

(5)

नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत अन्य दो मतों से अधिक जटिल है। इसकी मूल स्थापनों का प्रारम्भ में ही संक्षिप्त विवरण मत को सुगम बनाने में उपयोगी होगा।

निम्नोक्त छ: कथनों में नैसर्गिक अधिकार मत का सारांश व्यक्त किया जा सकता है :

(1) . 'न्याय' पद 'कानून' पद से अधिक व्यापक है। कानून के क्षेत्र के बाहर भी न्याय विषयक प्रश्न उठते हैं।

(2) न्याय कानून के औचित्य की कसौटी है। जो कानून नैसर्गिक अधिकार के अनुसार हैं वे उचित हैं, जो कानून नैसर्गिक अधिकार के प्रतिकूल हैं वे अनुचित हैं।

(3) जो जिसका देय है वह उसे देना चाहिये।

(4) न्याय मानव-आचरण का निरपेक्ष मानदंड है।

(5) न्याय की आबद्धता वैधिक एवं सामाजिक अनुशास्तियों पर आश्रित नहीं है। न्याय की आबद्धता उसी में अन्तर्निहित है।

(6) न्याय विशिष्ट सद्गुण है जो हमें हर व्यक्ति को उसका प्राप्य सौंपने को प्रवृत्त करता है। लॉक, मरेटिन, अरस्तू एवं सन्त एक्वीनास इस मत के निदर्शनीय लेखक हैं।

समाज हित एवं नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत के जो सारांश इस लेख में दिये गये हैं। उनकी तुलना करने पर यह लगता है कि ये मत दोनों एक ही हैं। पीछे बनाये गये न्याय के सारभूत 6 में से 5 विवादास्पद मुद्दों पर उनका मत एक-सा ही प्रतीत होता है। केवल तीसरे विवादास्पद मुद्दे पर ही उनका मतभेद दीखता है। किन्तु इन मतों में अनुरूपता का आभास भ्रामक है। यद्यपि दोनों मत पांच विवादास्पद मुद्दों के बारे में एक ही उत्तर देते हैं किन्तु उनके उत्तर के आधार तत्त्वत: भिन्न हैं।

नैसर्गिक अधिकार (नेचुरल राइट) मत न्याय को मूलत: मानवोचित श्रेय मानता है। न्याय की अधिक एवं सामाजिक शुभता आनुषंगिक है। नैसर्गिक अधिकार के अधिकांश पक्षधर नैसर्गिक नियम (नेचुरल लॉ) के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। किन्तु नैसर्गिक अधिकार की स्वीकृति अनिवार्यत: नैसर्गिक कानून का प्रतिग्रहण नहीं है। उदाहरणस्वरूप प्रो. जुलियस स्टोन यह मानते हैं कि न्याय कुछ स्वत:सिद्ध-प्राय कथन (क्वसाइ एब्सोल्यूट्स) हैं, किन्तु वह यह नहीं मानता कि उन्हें नैसर्गिक कानून से प्राप्त किया जा सकता है।

नैसर्गिक अधिकार मत के दो विवरण हैं-एक व्यक्तिवादी, दूसरा अव्यक्तिवादी। प्रथम मत से, नैसर्गिक अधिकार नित्य सहवर्ती हैं। उनसे अवियोज्य होने से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में भी उन्हें धारण करता है। इस मत का प्रतिमान-लेखक लॉक है। दूसरे मत के अनुसार नैसर्गिक अधिकार सामाजिक हैं। उनका दावा, प्रयोग और उपयोग समाज में ही किया जा सकता है, प्राकृतिक अवस्था में नहीं। इस दूसरे दृष्टिकोण का समर्थक मेरीटन है।

नैसर्गिक अधिकार मत के कुछ प्रवक्ता नैसर्गिक कानून की बिल्कुल चर्चा नहीं करते। अरस्तू ने अपने न्याय-सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वतन्त्रता को केन्द्र-बिन्दु बना कर किया है। न्याय की व्याख्या में कहीं भी वह नैसर्गिक कानून का उल्लेख नहीं करता। कुछ अन्य मतावलम्बी नैसर्गिक कानून को तो प्रमुख स्थान देते हैं किन्तु नैसर्गिक अधिकारों को अधिक महत्व नहीं देते। संत एक्वीनास के विधि दर्शन में नैसर्गिक कानून का विचार प्रमुख है किन्तु वह नैसर्गिक अधिकारों की चर्चा बहुत कम करते हैं।

सन्त एक्वीनास जस्टिनियन संहिता की बहुचर्चित न्याय की परिभाषा "प्रत्येक को उसका उचित प्रदान करने का सतत एवं अखंड संकल्प न्याय है" को स्वीकृति देने में नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत के सभी समर्थकों का प्रतिधित्व करता है। अरस्तू इस परिभाषा को उद्धृत नहीं करता। किन्तु यह परिभाषा उसे मान्य है, क्योंकि उसकी यह धारणा है कि कुछ बातें अपने आप में न्याय-संगत हैं जिनके लिए मनुष्य अपने अधिकार के रूप में दावा कर सकता है। लॉक के अनुसार सम्पत्ति के अभाव में न्याय-अन्याय का प्रश्न ही नहीं होता। यहाँ सम्पत्ति से उसका आशय किसी वस्तु पर अधिकार से है। अन्याय उस अधिकार का उल्लंघन है। मेरिटन भी न्याय की व्याख्या अधिकार की पदावली में करता है।

जस्टिनियन संहिता में दी गयी न्याय की उपर्युक्त परिभाषा-'अधिकार,' 'प्राप्य' और 'अपना स्वयं का'— में से किसी एक का प्रयोग करके तीन प्रकार से दी जा सकती है। ये तीनों पद समानर्थक हैं। इन तीन पदों का समान मूल्य 'अधिकार' पद का विश्लेषण करके दिखाया जा सकता है। अधिकार में तीन तत्त्व अन्तर्विष्ट हैं : (1) कोई वस्तु, जो अधिकार होने के नाते मेरा प्राप्य है, (2) अधिकार का अधिपति, (3) अनुबन्ध, जिसके कारण अन्य व्यक्ति अधिकारी के अधिकार का सम्मान करते हैं। इन पदों में 'अधिकार' (राइट) दावे या क्षमता पर बल देता है, 'अपने स्वयं का' पद में अधिकारी पर बल है और प्राप्य (ड्यू) अनुबन्ध की महत्ता पर जोर देता है।

कांट के अनुसार नैसर्गिक अधिकार विशुद्ध प्रागनुभविक तर्क-बुद्धि के नियमों पर आधारित हैं। वस्तुपरक और वैधिक अधिकार विधायक के संकल्प पर निर्भर रहते हैं। इस मत को मानने वाले सभी दार्शनिकों की इस बात पर सहमति है कि कम-से-कम एक अधिकार तो नैसर्गिक अवश्य है। पर वे इस बात पर सहमत नहीं हैं कि इस एक अधिकार को नैसर्गिक माना जाय। हार्ट और कांट स्वतन्त्रता को नैसर्गिक अधिकार के रूप में प्रतिष्ठा देते हैं। कुछ अन्य दार्शनिक समानता को ही नैसर्गिक अधिकार मानते हैं। मेरीटन का मन्तव्य है कि नैसर्गिक अधिकार अनेक हैं पर उनका पूरा सूचीपत्र भी तैयार नहीं किया जा सकता, क्योंकि नैसर्गिक अधिकारों का ज्ञान इतिहास-सापेक्ष है जिसकी कालान्तर में वृद्धि होती है।

विलियम फ्रेंकेना का आग्रह है कि नैसर्गिक अधिकारों की अविच्छेद्यता से आशय यह है कि वे आपात अधिकार हैं, नाकि किसी भी अवस्था में उनका निषेध या उन पर रोक-थाम अन्यायपूर्ण है।

कुछ नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत के समर्थक न्याय की परिभाषा समानता की पदावली में करते हैं। अरस्तू उनमें प्रमुख है। न्याय के सिद्धान्त के रूप में व्यापारिक वस्तुओं के विनिमय एवं वितरण के सम्बन्ध मे प्राय: समानता के लिए आग्रह किया जाता है। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि अर्हता के सिद्धान्त को समानता के सिद्धान्त में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। वे अर्हता को न्याय का स्वतन्त्र सिद्धान्त मानते हैं।

एक्वीनास के अनुसार कानून की प्रामाणिक क्षमता नैसर्गिक अधिकार से प्राप्त होती है। वह लिखता है कि यदि लिखित कानून नैसर्गिक अधिकार के प्रतिकूल है तो वह अन्यायसंगत है और उसमें अनुबन्ध उत्पन्न करने की क्षमाता नहीं होती। लॉक एवं जेफरसन की सम्मति में अधिकांश नैसर्गिक अधिकार स्वयंसिद्ध (सेल्फ एवीडेंट) हैं। कानून का कार्य उनका परिपालन करना है। स्वतन्त्रता की उद्घोषणा (डिक्लेरेशन आफ इण्डिपेण्डेंस) में इस विचार की पुष्टि की गयी है।

मेरीटन जीने के अधिकार, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं नैतिक पूर्णता के प्रयास को नैसर्गिक कानून का अंग मानता है। ये अधिकार वस्तुपरक कानून की न्याययुक्तता का निर्धारण करने की मूलभूत कसौटी हैं। मेरीटन स्वीकार करता है कि कुछ यथार्थ वस्तु स्थितियों में मूलभूत अधिकारों में विरोध हो सकता है। विरोध की अवस्था में यह निर्णय करना कि किस मूलभूत अधिकार के उपभोग पर कितना प्रतिबन्ध लगाया जाय, आसान काम नहीं है। यद्यपि मूलभूत अधिकार अविच्छिन्न हैं, उनमें पारस्परिक विरोध होने पर उनके उपभोग को कुछ सीमा तक परिसीमित करना न्यायसंगत है।

न्याय की निरपेक्षता के बारे में इस सिद्धान्त के सभी पक्षपोषकों में मतैक्य है। इस मत के चारों निदर्श लेखक नैतिक सिद्धान्तों के ज्ञान को तर्क-बुद्धिपरक मानते हैं। किन्तु मेरिटन के मत में तर्कबुद्धिपरक होते हुए भी नैतिकता का ज्ञान असंप्रत्ययात्मक होता है। नैतिक अवस्थिति में मनुष्य सहजबुद्धि से अपना कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य जान लेता है। फ्रेंकेना के एक लेख से लिया हुआ उदाहरण नैसर्गिक अधिकार मत के सार तत्त्व को अभिव्यक्त करता है। सब मनुष्यों के कुछ निश्चित अधिकार हैं जिन पर उनका आधिपत्य केवल इसलिए है कि उनमें वरण की, तर्क करने की, सुख-दु:ख भोगने की क्षमता है या उन सबमें कोई अन्य सामान्य लक्षण हैं।

इस मत के सभी अधिवक्ता यह मानते हैं कि मनुष्य के प्राप्य का कोई निश्चित मानदण्ड है जो नैसर्गिक एवं नैतिक है। मानव-प्रकृति से पोषित होने से वह नैसर्गिक है। मनुष्य को वह सदाचार के लिए आबद्ध करता है अत: वह नैतिक है। इस मत के लिए सबसे महत्वपूर्ण तथ्य 'मानव-प्रकृति' की गरिमा के कारण जो उसका प्राप्य है वह तार्किक दृष्टि से समाज एवं कानून का पूर्ववर्त्ती है। मेरीटन के अनुसार व्यक्ति की आत्मा उसके प्राप्य की अधिकारी है। प्राप्त होने से पूर्व भी वह उसका अधिपति है।

नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत न्याय की आबद्धता कार्य की न्याययुक्तता में ही मानता है। जो न्याययुक्त है वह करणीय है। न्याययुक्त कार्य की करणीयता के लिए किसी बाह्य समर्थन की आवश्यकता नहीं है। अरस्तू और एक्वीनास न्यायशीलता को मनुष्य के चरम उद्देश्यों से सम्बद्ध मानते हैं। न्याय-विरुद्ध आचरण इन मानवोचित उद्देश्यों को निष्फल कर देता है। इस प्रकार न्यायोचित आचरण की आबद्धता का उद्गम मानव की स्वाभाविक नैतिक प्रवृत्तियाँ हैं। नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत न्याय को विशिष्ट सद्गुण मानता है। न्यायशील मनुष्य हर व्यक्ति को उसका प्राप्य देने का समर्थक है।

(6)

पुस्तक जिस लक्ष्य को ध्यान में रख कर लिखी गई है उसे पूरा करने में लेखक सफल हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह अलग प्रश्न है कि इस प्रकार का बौद्धिक महोद्यम कहाँ तक समीचीन है। मेरी राय में इस प्रकार के बौद्धिक प्रयास दार्शनिक विवाद को स्पष्ट करने के लिए बहुत उपयोगी हैं।

पुस्तक में लेखक द्वारा किया गया न्याय विषयक मतों का विवेचन यथातथ्य और सुस्पष्ट है। मौलिक मतों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए लेखक द्वारा चुने गये छ: आधारभूत प्रश्न प्रसंगोचित हैं। लेखकों का विभिन्न मतों के समर्थकों के रूप में वर्गीकरण प्राय: युक्तिसंगत है। आधारभूत प्रश्नों पर तीनों मतों के प्रमुख लेखकों द्वारा दिये गये उत्तर की उपयुक्त उद्धरणों द्वारा पुष्टि की गई है। मतों के निदर्शनीय लेखकों का वरण प्राय: ठीक है।

कुछ लेखकों का विविध पक्षपोषकों के रूप में वर्गीकरण बहुत आपत्तिजनक है। सिजविक को समाजहित सम्बन्धी मत के समर्थक रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु नैतिक प्रातिभज्ञानों (मोरल इन्ट्यूशन्स) को नैतिक आचरण का आधारभूत सिद्धांत मानने से सिजविक स्पष्टत: समाज-हित सम्बन्धी मत के अधिवक्ताओं से पृथक् हो जाता है, यद्यपि सिजविक को उपयोगितावाद का प्रवक्ता मानने की परम्परा बड़ी प्रबल है। प्लेटो और हीगल को नैसर्गिक कानून सम्बन्धी मत के समर्थकों में सम्मिलित करना इस मत की सुघड़ता को विकृत करना है। नैसर्गिक अधिकार सम्बन्धी मत में अधिकारों का धारक व्यक्ति है, जबकि प्लेटो और हीगल के समाज-दर्शन में व्यक्ति का स्थान नगण्य है।

न्याय के स्वरूप के बारे में सबसे जटिल समस्या न्याय-युक्त आचरण एवं नैतिक आचरण में अन्तर स्पष्ट करने की है। यह आश्यर्च की बात है कि इस समस्या की ओर लेखक ने विशेष ध्यान नहीं दिया। न्याय की व्याख्या करते हुए लेखक ने न्याय के जिन तीन सर्वमान्य लक्षणों का उल्लेख किया है उनमे से दो तो स्वयं लेखक के मत में भी नैतिकता के लक्षण हैं। सामाजिकता को लेखक ने न्याय का विच्छेदक गुण बताया है और अपने मत की पुष्टि में कहा है कि साहस और आत्म-संयम सद्गुण हैं, पर इनकी अभिव्यक्ति के लिए समाज का होना आवश्यक नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या व्यक्ति के सभी प्रशंसनीय गुण सद्गुण कहे जा सकते हैं ? आदिम-मानव आखेट की प्रतीक्षा में कभी-कभी सारे दिन और सारी रात पेड़ों के झुरमुट में छिपा बैठा रहा करता था, जो आचरण, अदम्य धैर्य और दृढ़ता के सूचक हैं। हिन्दू स्त्रियाँ अनेक ऐसे व्रत झेलती हैं जिनमें लम्बे समय तक भूखा और प्यासा रहना पड़ता है, जिसके लिए बहुत अधिक मात्रा में आत्म-संयम भी आवश्यक है। पर क्या आदिम पुरुष का धैर्य और हिन्दू स्त्री का आत्म-संयम सद्गुण हैं ?

सदाचार यदि मानव-स्वरूप के उत्कृष्ट पक्ष को अभिव्यक्त करता है तो सद्गुण वह है जिसकी उपस्थिति में व्यक्ति की चेतना स्वयं की संकीर्ण परिधि में सीमित न रह कर इतनी व्यापक हो

जाती है कि उसमें ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का भाव उदित होता है। उपरोक्त उदाहरणों में आदिम-मानव का धैर्य एवं हिन्दू स्त्री का आत्म-संयम व्यापक चेतना के परिचायक नहीं होने से सद्गुण नहीं कहे जा सकते। नैतिकता अनिवार्यत: 'अहं' से इतर 'अन्य' को पूर्वापेक्षित करने से न्याय की तरह ही सामाजिक है।

तब न्याय का अवच्छेदक गुण क्या है ? मेरी राय में न्याय नैतिकता का आकारिक गुण है, जिसका सम्बन्ध शुभ और अशुभ के वितरण से है। न्याय में अपनी कोई विषय-वस्तु नहीं होती। उदाहरणार्थ, क्षमा नैतिक गुण (वर्चू) है। ईश्वर क्षमाशील है। किन्तु यदि ईश्वर एक शरणागत को उसके पापों के लिए क्षमा कर देता है और दूसरे शरणागत को उन्हीं पापों के किए दण्ड देता है तो ईश्वर का आचरण अन्यायसंगत ही कहा जायगा। यही बात अन्य नैतिक गुणों के सन्दर्भ में भी ठीक है। उदारता सद्गुण है, पर उदार व्यक्ति यदि अपने उदारतापूर्ण कार्यों से सभी सम्बन्धित लोगों को समानरूप से उपकृत नहीं करता तो उसका आचरण नैतिक होने पर भी न्यायायुक्त नहीं कहा जा सकता।

न्याय के स्वरूप पर विचार करते समय एक महत्वपूर्ण प्रश्न उसके क्षेत्र (स्कोप) के बारे में उठता है। पाश्चात्य दार्शनिकों का दृष्टिकोण उपयोगितावादी होने से वे न्याय का क्षेत्र मानव-जगत् तक सीमित कर देते हैं। भारतीय परम्परा में न्याय का क्षेत्र नैतिकता के क्षेत्र की भाँति सम्पूर्ण वसुधा है – वसुधैव कुटुम्बकम्।

क्या 'न्याय,' 'अन्याय' पदों का सार्थक प्रयोग मानव-जगत् के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है ? क्या अन्य प्राणियों के प्रति मानव का व्यवहार नैतिकता एवं न्याय के क्षेत्र से बाहर है ? यह बहुत जटिल प्रश्न है। इसमें मांसाहार, मनुष्य को हानि पहुँचाने वाले प्राणियों के प्रति हिंसा आदि विषयक मानव-व्यवहार के औचित्य के प्रश्न सन्निहित हैं जिनके बारे में यहाँ विचार करना संभव नहीं है। पर इतना कहना प्रसंगोचित है कि यदि नैतिकता और न्याय मानव के उत्कृष्ट पक्ष की अभिव्यक्ति है, जैसाकि हमारा मन्तव्य है, तो उनके क्षेत्र को मानव-जगत् तक सीमित करना तर्कत: असम्भव है, क्योंकि इस सीमा का अर्थ यह है कि मानव अपने जाति - हित द्वारा निर्धारित सीमा का अतिक्रमण कर ही नहीं सकता। यदि मानव की मूल्योन्मुखी चेतना अपने जाति-स्वार्थ से ऊपर नहीं उठ सकती तो उसका स्तर पाशविक से अधिक उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। आत्मरक्षा एवं जातिरक्षा के पाशविक प्रेरकों के मानव और अन्य बहुत से प्राणियों मे सामान्य होने से काक और वानर भी काकोपयोगी एवं वानरोपयोगी को क्रमश: अपने आचरण के आदर्श के रूप में स्वीकार करने में आपत्ति नहीं करेंगे। अत: न्यायान्याय के कार्य-क्षेत्र को मानव-जगत् तक सीमित करना उचित नहीं है। न्यायकर्म करना मानव की विशेषता है, उसका आदाता सिद्धान्तत: सारा प्राणिजगत् है। उदाहरणत: यदि स्वामी दो पालतू कुत्तों में से एक को दूसरे से अधिक प्यार करता है , क्योंकि एक का रंग उसे बहुत पसन्द है, दूसरे का नहीं, तो स्वामी का कुत्तों के प्रति आचरण अन्यायपूर्ण है।

न्याय और कानून के सम्बन्ध को लेकर जो सैद्धान्तिक वादविवाद अबतक हुआ है वह एकांगी है। लगभग सभी दार्शनिकों ने न्याय और कानून दोनों को गतिहीन तथ्य मानकर उनके सम्बन्ध की व्याख्या की है। पर न तो न्याय का आकार (जोकि नैतिकता के विकास के साथ परिवर्तित होता है) अपरिवर्तनशील है और न कानून की विषय-वस्तु अपरिवर्तनशील है, न इनका सम्बन्ध ही एक-मार्गी है जिससे कि एक को पूर्वगामी और दूसरे को अनुगामी कह सकें। इनमें निरन्तर परस्पर अन्तर्क्रिया होती रहती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कानून का आधार समाज की न्यायविषयक धारणायें हैं। समाज की न्याय-विषयक धारणायें गतिशील होती हैं। समाज के विभिन्न स्तरों पर वाद-प्रतिवाद द्वारा ये उद्भूत होकर धीरे-धीरे सुदृढ़ हो जाती हैं कालान्तर में व्यापक जन-समर्थन प्राप्त होने पर ये कानून

द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेती हैं। कभी-कभी राजनीतिक नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में होता है जिनकी न्यायोन्मुखी चेतना समाज के सामान्य लोगों से अधिक उन्नत होती है। ऐसी अवस्था में कानून द्वारा लोगों की न्यायान्याय की धारणायें अधिक समृद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार न्याय और कानून में गत्यात्मक सम्बन्ध है।

समसामयिक वस्तुपरक कानून सम्बन्धी मत भी, जो न्याय को कानून की कसौटी नहीं मानता बल्कि जो इसके विपरीत कानून को न्याय की कसौटी मानता है, इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि समाज के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा न्याय-अन्याय की पदावली में कानून का मूल्यांकन अर्थपूर्ण होता है। न समसामयिक नैसर्गिक कानून सम्बन्धी मत इस बात को अस्वीकार करता है कि कानून में एक सार्वलौकिकता का तत्त्व निहित होता है जो उसे न्यायोन्मुखी बनाता है।

***

19

विधि-दर्शन का स्वरूप*

चाँदमल शर्मा

राबर्ट समरस् (Robert S. Summers) द्वारा सम्पादित पुस्तक 'एसेज इन लीगल फ़िलोसोफ़ी' में कुल दस निबन्ध संकलित हैं। निबन्धों के चुनाव में सम्पादक ने दो बातें ध्यान में रखी हैं। एक तो यह कि निबन्ध विधि-शास्त्र एवं दर्शन-शास्त्र के छात्रों के पाठ्यक्रम और सेमिनार में विचार-विनिमय के लिए उपयोगी हों। दूसरे, विधि-दर्शन के क्षेत्र में जो समसामयिक चिन्तन हो रहा है उसकी झाँकी मिल सके। पुस्तक के प्रथम भाग में संप्रत्ययात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दूसरे भाग के लेखों में सैद्धान्तिक औचित्य की चर्चा की गई है। पुस्तक की भूमिका में सम्पादक ने विधि-दर्शन की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला है।

सम्पादक के मत में संप्रत्ययों का अध्ययन दो रूप ले सकता है। एक प्रचलित संप्रत्ययों का विश्लेषण, दूसरा संप्रत्ययों का संशोधन। संप्रत्ययों में संशोधन की आवश्यकता दो तरह से उत्पन्न होती है। या तो प्रचलित संप्रत्यय प्रारम्भ से ही तथ्यों की दृष्टि से उपयुक्त न हो या वस्तुस्थिति में बहुत परिवर्तन हो जाने से प्रचलित संप्रत्यय तथ्यों को व्यवस्थित करने में अक्षम हो गये हों।

समसामयिक विधि दार्शनिक संप्रत्ययात्मक अध्ययन में पूर्वगामी दार्शनिकों की तुलना में अधिक सूझ से काम लेते हैं। सम्भाव्य त्रुटियों के कारणों के प्रति वे अधिक सचेत हैं। संप्रत्ययात्मक विश्लेषण में जो त्रुटियाँ अनायास हो जाती हैं उनके स्रोतों का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है।

(1) संप्रत्ययात्मक प्रश्न को तथ्यात्मक प्रश्न में रूपान्तिरित करने की प्रवृत्ति : - संप्रत्ययात्मक एवं तथ्ययात्मक प्रश्न में मौलिक अन्तर होता है। फिर भी अनेक संप्रत्ययात्मक प्रश्न को तथ्यात्मक प्रश्न में रूपान्तिरित करने की प्रवृत्ति अनेक विचारकों में देखी जाती है। समसामयिक विधि-दर्शन में इसका एक उदाहरण प्रोफेसर फुलर एवं प्रोफेसर हार्ट के बीच हुए वाद-विवाद में मिलता है। इस विवाद में हार्ट ने कहा था कि सामाजिक नियन्त्रण के लिए आवश्यक है कि नियम बोध-गम्य हो, उनका पालन असम्भव न हों और सामान्यत: वे अतीतोन्मुख न हों। प्रत्ययवाद का आलोचक फुलर नियमों की इन विशेषताओं से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कानून और नैतिकता में अनिवार्यता का सम्बन्ध है। यदि कानून और नैतिकता में अनिवार्यता के सम्बन्ध का यही तात्पर्य है तो इसे स्वीकार किया जा सकता है पर 'दुर्भाग्यवश' कानून एवं न्याय का यह सम्बन्ध कानून के अन्यायपूर्ण होने के साथ विसंगत नहीं है।

---

* *Essays in Legal Philosophy Selected and Edited by Robert S. Summers, Professor of Law, University of Oregon School of Law, Publisher : Oxford, Basil Blackwell, 1968.*

हार्ट के इस मत की आलोचना करते हुए फुलर ने लिखा है कि हार्ट कानून एवं नैतिकता के सम्बन्ध को अस्वीकार करता है। परंतु यह निर्वचन गलत है। हार्ट यह नहीं कहता कि नैतिकता एवं कानून एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते। वह तो यह कहता है कि वे एक-दूसरे को अनिवार्यत: प्रभावित नहीं करते। तथापि हार्ट इस संप्रययात्मक प्रश्न को तथ्यात्मक प्रश्न में रूपान्तिरित कर देता है।

(2) अपने मत की पुष्टि करने की प्रवृत्ति : - प्राचीन विधि दार्शनिक संप्रत्ययात्मक विश्लेषण करते समय मूल्यांकन करने में तत्पर रहते थे। हॉब्स का यह कथन कि विद्रोह के अधिकार की बात हास्यास्पद है, इस प्रवृत्ति का एक उदाहरण है।

(3) भ्रान्तिपूर्ण माडलों का प्रभाव : - विधि-शास्त्रियों ने सभी प्रकार के कानूनों को 'आपराधिक कानून' के मॉडल में समाहित करने का प्रयास किया है। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि जो कानून प्रतिबद्धता उत्पन्न नहीं करते और केवल व्यक्तियों अथवा निगमों को कार्य-सम्पादन की क्षमता प्रदान करते हैं उन्हें कानून-तन्त्र में उचित स्थान नहीं दिया गया। इस भ्रान्ति का एक उदाहरण ऑस्टिन है, जो कानून-तन्त्र के प्रामाणिक निदेशों का आदेश में अन्तर्भाव करके आदेशों, नियमों, निर्णयों, सिद्धान्तों एवं उपनियमों में विद्यमान महत्त्वपूर्ण अन्तर की अवहेलना करता है।

सामान्य धर्मवाद :-

कई प्राचीन दार्शनिकों की यह धारणा है कि एक ही शब्द से नामांकित होने वाली वस्तुओं में कोई सामान्य धर्म होता है। इस धारणा से प्रभावित होकर ऑस्टिन ने यह मत प्रतिपादित किया कि कानून-तन्त्र के लिए प्रतिबद्धता, अधिकार, स्वतन्त्रता, आघात, दण्ड, संप्रभुता आदि अनिवार्य हैं।

ऑस्टिन के द्वारा प्रस्तावित कानून-तन्त्र की व्याख्या सामान्य-धर्म विषयक दोष का उपयुक्त उदाहरण नहीं है। यह दोष ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता के सिद्धान्त में मिलता है। सम्प्रभुता की व्याख्या करते हुए ऑस्टिन कहता है कि सम्प्रभुता अविभाज्य एवं असीम है। यह व्याख्या 'सम्प्रभुता' में सामान्य धर्म ढूँढ़ने की प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करती है।

इस सामान्य धर्मवाद की आलोचना करते हुए विट्गिन्स्टीन कहता है कि जिन क्रियाओं को हम क्रीड़ा कहते हैं उनकी यदि परीक्षा करें तो हमें उनमें न्यूनाधिक मात्रा में सादृश्य ही मिलता है, कोई सामान्य तत्त्व उनमें नहीं दिखाई देता।

परिभाषा का दुरुपयोग :-

सभी परिभाषाएँ जाति एवं अवच्छेदक के पदों में देने का प्रयत्न भ्रामक है। विधि तन्त्र में अनेक ऐसे संप्रत्यय हैं जिनकी परिभाषा संदर्भ-सापेक्ष ही हो सकती है।

यह संकलन किसी दार्शनिक सम्प्रदाय विशेष की विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। यदि कोई यह कहे कि जिन दार्शनिकों के लेख इस पुस्तक में संकलित हैं वे प्रत्यक्षवादी हैं, तो यह ठीक नहीं होगा। विधि-शास्त्र से 'प्रत्यक्षयवादी' शब्द का निष्कासन ही कर दिया जाय तो उपयुक्त होगा। यह शब्द अनेकार्थक और भ्रान्तिजनक है। इस ग्रन्थ में जो लेख हैं उनकी पद्धति को संप्रत्ययात्मक एवं तार्किक विश्लेषण की पद्धति कहा जा सकता है।

समसामयिक विधि-दर्शन में संप्रत्ययात्मक विश्लेषण एवं न्याय प्रमाणीकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी पद्धति बहुत ही सूक्ष्म और उदार मुक्त है। पिछले कुछ वर्षों में अनेक दार्शनिकों एवं अधिवक्ताओं ने विधि-दर्शन में संप्रत्ययात्मक अध्ययन किया है। समसामयिक विश्लेषणात्मक दर्शन ने अभिप्राय, प्रेरक, दायित्व, प्रतिबद्धता, नियम आदि संप्रत्ययों के विश्लेषण में रुचि दिखाई है। ये प्रत्यय अधिवक्ताओं के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अत: उनका विश्लेषणात्मक पद्धति की ओर आकर्षित होना आश्चर्य की बात नहीं है। वैसे भी अधिवक्तागण अर्थमीमांसा में सदैव रुचि रखते हैं। साथ ही

अनेक विश्लेषक दार्शनिकों ने क्रिया के दार्शनिक अध्ययन में बहुत रुचि ली है। अत: उनका ध्यान सहज ही कानून-तन्त्र में निहित संप्रत्ययों की ओर गया क्योंकि कानून के बहुत से संप्रत्यय क्रियामूलक हैं।

क्या कानून नियमों का एक संगठन है ? शीर्षक निबन्ध में रोनाल्ड एम. ड्वार्किन (Ronald M. Dworkin) ने प्रोजीटिविज्म का परीक्षण किया है। प्रत्यक्षवाद के प्रतिनिधि के रूप में ड्वार्किन ने प्रोफेसर हार्ट को चुना है। पोजीटिविज्म के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं : -

(1) किसी भी समाज के कानून की प्रामाणिकता की कसौटी उनकी विषय-वस्तु नहीं उनकी व्युत्पत्ति है।

(2) यदि कोई मामला प्रामाणिक वैधिक नियमों द्वारा निर्णित नहीं हो सकता तो उस पर निर्णय देने के लिए न्यायाधीश नया नियम उद्घोषित करता है।

(3) प्रामाणिक कानून के अभाव में वैधिक प्रतिबद्धता नहीं होती। अत: जब न्यायाधीश अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए निर्णय देता है तो वहाँ पूर्ववर्ती प्रतिबद्धता का सर्वथा अभाव होता है।

ऑस्टिन को पोजिटिविज्म का मूल प्रवर्तक माना जाता है। उसके अनुसार कानून सम्प्रभु का आदेश है। वैसे व्यक्ति सम्प्रभु के आदेश की अधिकार-सीमा में हैं वे वैधिक नियमों से प्रतिबद्ध हैं। ऑस्टिन के मत के बारे में दो मुख्य आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। प्रथम, ऑस्टिन की यह पूर्वमान्यता कि हर समाज में कोई सुनिश्चित दल या संस्थान होता है जिसका अन्य सभी समूह पर पूरा नियन्त्रण रहता है, परंतु यह बात आधुनिक जटिल समाज के लिए लागू नहीं होती। आधुनिक राष्ट्र में राजनीतिक सत्ता विकेन्द्रित एवं परिवर्ती होती है। न ऑस्टिन कानून के प्रति हमारे मनोभाव को ही ठीक तरह से समझ पाया है न हम कानून और डकैत के आदेशों में भेद करने में समर्थ हैं। कानूनी नियमों से हम अपने को प्रतिबद्ध मानते हैं, डकैत के आदेश मानने के लिए हम प्रतिबद्ध नहीं होते। किन्तु ऑस्टिन बल द्वारा अधीनीकरण को ही प्रतिबद्धता मान लेता है। इस संदर्भ में हार्ट द्वारा प्राथमिक एवं द्वितीय-स्तरीय नियमों में किया गया अन्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राथमिक नियम अधिकार प्रदान करते हैं या कर्त्तव्य निर्धारित करते हैं। सभी आपराधिक कानून प्राथमिक नियम हैं। द्वितीय-स्तरीय नियम प्राथमिक नियमों की प्रणाली निर्धारित करते हैं। प्राथमिक नियम कौन और कैसे बनायेगा, उनकी मान्यता कैसे निश्चित होगी, उनमें संशोधन की क्या प्रक्रिया होगी, वे समाप्त किस प्रकार किये जा सकते हैं, आदि मुद्दे द्वितीय-स्तरीय नियम निश्चित करते हैं।

हार्ट के अनुसार नियम आदर्शात्मक होते हैं, वे आचरण का मानक स्थापित करते हैं। हम उनका दण्ड के डर से पालन नहीं करते। प्राधिकार में उनकी व्युत्पत्ति होने से हम उन्हें स्वीकार करते हैं। डकैत का आदेश आदर्शमूलक नहीं होता। उसका पालन केवल भय से आतंकित होकर किया जाता है। नियम विषयक प्राधिकार के दो स्रोत होते हैं। यदि कोई समाज अपने नित्यप्रति के आचरण में किसी नियम को मानदण्ड के रूप में स्वीकार कर लेता है तो वह नियम उस समाज के लिए आबद्धकारी हो जाता है। द्वितीय स्तरीय नियमों के अनुसार उद्घोषित नियम भी आबद्धकारी होते हैं। आदिकालीन समुदायों में केवल प्राथमिक नियम पाये जाते हैं। इनकी व्युत्पत्ति निरन्तर प्रयोग में आने से होती है। इन समुदायों में प्रचलित नियमों को कानून नहीं कह सकते क्योंकि इन्हें अन्य सामाजिक नियमों से पृथक् नहीं किया जा सकता। कालान्तर में जब इन समुदायों में मूलभूत द्वितीय स्तरीय नियम विकसित होने लगते हैं तब सही अर्थों में कानून का उदय होता है। हार्ट मौजिक द्वितीय स्तरीय नियमों को 'मान्यता देने वाले नियम' (रूल्स ऑफ रिकोग्नीशन) कहता है। किसी भी नियम की वैधता सिद्ध करने के लिए अन्तिम विश्लेषण में हमें मूलभूत द्वितीय स्तरीय नियम का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु किसी भी द्वितीय स्तरीय नियम की मान्यता का प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता क्योंकि परिकल्पनया यह मूलभूत होता है।

ड्वार्किन वैधिक नियमों एवं वैधिक सिद्धान्तों में भेद करता है। वैधिक नियम न्यायालयों के लिए आबद्धकारक हैं पर वैधिक सिद्धान्त न्यायाधीशों द्वारा विवेकाधिकार के प्रयोग में केवल मार्ग-निर्देशन ही कर सकते हैं। जब अधिकारों एवं प्रतिबन्धनों को लेकर न्यायालयों के सामने पेचीदा मामले आते हैं तो वकील वैधिक सिद्धान्तों का अपनी युक्तियों में प्रयोग करते हैं। न्यायाधीश भी अपने निर्णय की पुष्टि के लिए वैधिक सिद्धान्तों को उद्धृत करते हैं।

वैधिक मानक न्यायाधीशों एवं अन्य न्यायाधिकारियों के आचरण को नियत करते हुए उनके विवेकाधिकार के प्रयोग के लिए न्यूनाधिक खुला क्षेत्र रखते हैं। न्यायाधिकारी द्वारा विवेकाधिकार के प्रयोग में वैधिक सिद्धान्तों की भूमिका का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। पोजीटिविस्ट वैधिक सिद्धान्तों को आबद्धकारक नहीं मानते। वैधिक सिद्धान्तों को न्यायाधिकारियों के लिए आबद्धकारक नहीं मानना अयुक्तिसंगत है। यह एक अलग बात है कि किस मामले में कौनसा वैधिक सिद्धान्त उपयुक्त है। वैधिक सिद्धान्त की आबद्धता को पोजीटिविस्ट स्वीकार भी करलें तो भी वे यह नहीं मानते कि निर्णय के निर्धारण में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। पोजीटिविस्ट के अनुसार न्यायालय यदा-कदा ही निर्णय पर पहुँचने के लिए इन नियमों का उपयोग करते हैं। पुनश्च, ये नियम परस्पर विसंगतिपूर्ण होते हैं। सिद्धान्तों में पारस्परिक संघर्ष की अवस्था में ऐसी कोई कसौटी नहीं मिलती जिससे सही सिद्धान्त चुना जा सके। अत: ये सिद्धान्त निर्वैधिक हैं।

हार्ट द्वारा प्रतिपादित विधि मान्यता के नियम को कसौटी के रूप में स्वीकार करने में एक कठिनाई है जो उसके सम्पूर्ण तन्त्र को दोषपूर्ण बना देती है। हार्ट का यह प्रतिपादन है कि रूढ़ि की आबद्धता केवल समाज की स्वीकृति पर निर्भर है, उसके स्वयं के इस प्रतिपादन के विरुद्ध है कि केवल मूलभूत मान्यता का नियम ही समाज की स्वीकृति के कारण आबद्धकारी है।

अपने निबन्ध का उपसंहार करते हुए ड्वार्किन कहता है कि वैधिक सिद्धान्तों को कानून मानलें तो पोजीटिविज्म की यह स्थापना कि कानूनों को समाज के अन्य मानदण्डों से प्रधान नियम द्वारा पृथक् किया जा सकता है, छोड़नी पड़गी। उस स्थिति में हमें पोजीटिविज्म की न्यायिक विवेकाधिकार के बारे में जो स्थापना है उसका नगण्य स्थान हो जायेगा क्योंकि पोजीटिविज्म की विवेकाधिकार (डिस्क्रीशन) के बारे में जो स्थापना है उसके अनुसार विवेकाधिकार के प्रयोग में न्यायाधीश वैधिक आबद्धता अपने निर्णय द्वारा उत्पन्न करता है।

इस निबन्ध में ड्वार्किन का प्रयोजन हार्ट द्वारा दी गई कानून की यह परिभाषा कि 'कानून नियमों की व्यवस्था है' को अयथार्थ बताना है। इस प्रयोजन में वह बिल्कुल असफल रहा है। ड्वार्किन का कहना है कि इस परिभाषा में वैधिक सिद्धान्तों की न्यायिक निर्णयों में महत्त्वपूर्ण भूमिका की अवहेलना की गई है। अपने लेख में ड्वार्किन इन सिद्धान्तों को समाज में प्रचलित नैतिक मान्यताओं एवं अन्य युक्तिमूलक सिद्धान्तों से पृथक् नहीं कर पाया है। न्यायाधीश की निर्णय-प्रक्रिया में नैतिक मान्यताओं एवं युक्तिमूलक सिद्धान्तों की भूमिका तथाकथित वैधिक सिद्धान्तों की भूमिका से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। वैधिक सिद्धान्तों को कानून-तन्त्र में स्थान देने से कानून एवं नैतिकता भ्रामक होते हैं। पोजीटिविज्म कानून एवं नैतिकता का किसी रूप में विलय स्वीकार नहीं कर सकता। अपने विस्तृत निबन्ध में ड्वार्किन यह नहीं दिखा सका है कि न्यायालयीय तर्क में वैधिक सिद्धान्त उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि वैधिक नियम। अत: यह आलोचना कि हार्ट कानून की परिभाषा में वैधिक सिद्धान्तों को स्थान नहीं देता, अयुक्त है। वैधिक सिद्धान्त न्यायाधीशों के लिए अवश्य-पालनीय नहीं कहे जा सकते। हार्ट वैधिक सिद्धान्तों को सामाजिक मानदण्डों के समकक्ष ही मानता है तथा मान्यता की मूलभूत कसौटी का प्रयोग करके उनमें और कानून में भेद करता है। न्यायालयीय तर्क में वैधिक

सिद्धान्तों को स्थान देने से हार्ट के मत को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँच सकती। हार्ट के मतानुसार किसी मुकदमें में निर्णय पर पहुँचने के लिए यदि न तो स्पष्ट कानून ही हो, न पूर्वोदाहरण हो, तो न्यायाधीश अपने विवेकाधिकार को काम में लेकर ही निर्णय पर पहुँचता है। विवेकाधिकार के प्रयोग में वैधिक सिद्धान्तों, सामाजिक मान्यताओं एवं विवेकमूलक नैतिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए विवादास्पद पदों पर विचार करके न्यायाधीश अपना निर्णय देता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वैधिक सिद्धान्त, सामाजिक मान्यताएँ एवं नैतिक सिद्धान्त कानूनी प्रतिबद्धता उत्पन्न करने में सक्षम हैं। न इससे यह निष्कर्ष ही निकलता है कि इन्हें अपने तर्क में स्थान देकर न्यायाधीश इन्हें आबद्धकारक मानता है।

'सामाजिक न्याय' नामक निबन्ध में ए. एम. होनरे (A. M. Honore) ने सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। सामाजिक न्याय का सिद्धान्त यह माँग करता है कि मानव-मात्र का यह अधिकार है कि वे सभी सुविधाएँ उन्हें समान रूप से उपलब्ध हों जो उनके सुख की वृद्धि करती हैं तथा जिनकी वे कामना करते हैं। सुरक्षा, खाना, स्वास्थ्य, निवास आदि जीवन की आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति करने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है। इसके अतिरिक्त, कार्य करने तथा जीवन को सुखद बनाने का सभी को समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। सामाजिक न्याय का एक अन्य पक्ष भी है जो आकारिक मात्र है। आकारिक न्ग्य के दो सिद्धान्त हैं - (1) भेदभाव-रहित नीति, (2) नियमानुवर्तिता।

सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों को उन्नत लोगों के समकक्ष बनाने के लिए सुविधाएँ प्रदान करने में प्राथमिकता देना युक्तियुक्त है।

सामाजिक न्याय के छ: सिद्धान्त हैं :-

(1) पूर्ववत् स्थिति का पुर्नस्थापन :- यदि किसी व्यक्ति ने अपने आचरण से अन्य व्यक्ति को हानि पहुँचाई हो तो उसे हानि की पूर्ति करनी चाहिए। हानि-पूर्ति दो प्रकार से हो सकती है - एक तो पूर्वावस्था के पुन:स्थापन से अथवा हानि का मुआवजा देने से। समसामयिक समाज की विनिमय अर्थ-व्यवस्था का आधार यही सिद्धान्त है। क्रय-विक्रय के व्यापार इसी सिद्धान्त से चलते हैं। ग्राहक जो वस्तु खरीदता है उसका उतना ही मूल्य देता है जिससे तुल्य वस्तु खरीदी जा सके। क्षति एवं क्षति-पूर्ति के मापक के रूप में मुद्रा का प्रयोग होता है। जब समाज में आर्थिक विषमातायें विद्यमान हों, तब पूर्वावस्था के पुन:स्थापन के सिद्धान्त की न्याय-संगतता संदिग्ध होती है।

(2) विशिष्ट सम्बन्धों में न्याय :- जिन व्यक्तियों में विशेष पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं उनकी एक-दूसरे के प्रति कुछ न्यायोचित अपेक्षाएँ होती हैं। यदि पिता अपने समृद्ध लड़के को अपनी सम्पत्ति का वितरण करते समय दाय भाग से वंचित कर देता है तो इससे पुत्र की उचित अपेक्षाओं को ठेस पहुँचती है। अत: पिता का उक्त आचरण न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता।

(3) नियमानुकूलता :- समाज के हर सदस्य को यह माँग करने का अधिकार है कि जिन नियमों को समाज स्वीकार करता है उसका निरन्तर पालन हो। नियमानुकूलता में हर व्यक्ति के साथ समानता के व्यवहार की पूर्वापेक्षा है। नियमों की अवहेलना होने से व्यक्ति की न्यायोचित अपेक्षाओं को भारी ठेस पहुँचती है तथा उसकी आत्म-गरिमा की भावना को धक्का लगता है।

(4) अर्हता के अनुसार न्याय :- इस सिद्धान्त में अनुपात एवं प्राथमिकता के विचार निहित हैं। सुविधाओं का वितरण योग्यता की अनुसार होना चाहिए। जो अधिक योग्य व्यक्ति है उसे अधिक सुविधा दी जानी चाहिए, अथवा सुविधा के आवंटन में उसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए। दण्ड की मात्रा अपराध की गम्भीरता के अनुसार होना न्याय-संगत है। किन्तु अर्हता के अनुसार न्याय का सिद्धान्त अपने आप में पूर्ण नहीं है। अर्हता के सिद्धान्त को लागू करने के पहले पुरस्कार एवं दण्ड के उचित स्तर का निर्धारण होना आवश्यक है।

(5) आवश्यकता के अनुसार आवंटन :- 'आवश्यकतानुसार न्याय' के सिद्धान्त में यह पूर्वमान्यता है कि मनुष्य की कुछ न्यूनतम आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। जो समाज मनुष्य की इन मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता उसे न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इन आवश्यकताओं की पूर्ति में योग्यता का सिद्धान्त प्रासंगिक नहीं है। कोई व्यक्ति कितना ही दुराचारी मंदबुद्धि, कार्य में अकुशल ही क्यों न हो उसका यह अधिकार है कि उसे काम दिया जाय, पेट भरने को पर्याप्त भोजन मिले, रहने के लिए निवास स्थान हो, अस्वस्थ होने पर उसका उपचार हो। मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की शर्त पूरी होने पर ही 'अर्हता के अनुसार न्याय' का सिद्धान्त लागू किया जा सकता है।

(6) वरण के अनुसार न्याय :- यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकार को स्वेच्छा से छोड़ता है तो उसे उस अधिकार से वंचित करना अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

निबन्ध के प्रारम्भ में कहा गया था कि सामाजिक न्याय का सिद्धान्त यह माँग करता है कि जीवन को सुखी बनाने वाली सुविधाएँ प्राप्त करने का सभी को समान अधिकार हो। इस सिद्धान्त को निम्न अवस्थाओं में छोड़ा जा सकता है : (1) पिछड़े वर्ग के लोगों के उत्कर्ष के लिए, (2) अर्हता के अनुसार बर्ताव करने के लिए, (3) व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से अपने अधिकार छोड़ने पर, (4) पारस्परिक लेन-देन से उत्पन्न प्रतिबद्धताओं को निभाने एवं विशेष पारस्परिक सम्बन्धों से उद्भूत अपेक्षाओं की पूर्ति करने हेतु।

ए. एम. होनरे का सामाजिक न्याय पर लिखा लेख दार्शनिक दृष्टि से उच्च कोटि का नहीं कहा जा सकता। लेखक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक न्याय की परिभाषा में मौलिकता नहीं है। सामाजिक न्याय के जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गई है, वे सर्वविदित हैं। निबन्ध विवरणात्मक है, उसमें समालोचनात्मक दृष्टि का नितान्त अभाव है।

'विचारों के लिए दण्ड' शीर्षक लेख में हार्बर्ट मोरिस *(H. Morris)* ने मनोवस्था को दण्डनीय घोषित करने के औचित्य पर विचार किया है।

कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि यदि कोई कानूनी व्यवस्था आपराधिक विचारों को मन में लाने के लिए व्यक्ति को दण्ड देती है तो ऐसी व्यवस्था को सही मायने में वैधिक व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। उनकी दृष्टि में विचारों के लिए दण्ड देना अनैतिक है, और जो अनैतिक है उसे कानून कहना अनुपयुक्त है। परंतु इस मत की तथ्यों द्वारा पुष्टि नहीं होती। समसामयिक इतिहास में अन्यायपूर्ण कानूनों के अनेक उदाहरण सामने आते हैं। यदि अन्यायपूर्ण कानूनों को अवैध कह कर अपने मत की पुष्टि की जाय तो यह ठोस तथ्यों की उपेक्षा ही होगी।

क्या केवल विचारों को ही दण्डनीय घोषित करने वाले नियम वैधिक कहे जा सकते हैं ? ऊपर से देखने पर यह आवश्यक नहीं लगता कि कानून-तन्त्र में केवल ऐसे नियम ही हों जो बाह्य आचरण का ही नियन्त्रण करें जिससे कि लोग एक-दूसरे के हितों पर आघात नहीं पहुँचा सकें। कानून के प्रत्यय का हानि-निषेध से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि उसका अनुशास्ति-नियोजन से है। अनुशास्ति-नियोजन कानून-तन्त्र के लिए अनिवार्य नहीं है। उपर्युक्त व्यवस्था को कानून-व्यवस्था मानने के विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि इस व्यवस्था में दण्ड का भय कानून की अवज्ञा करने से लोगों को नहीं रोक सकता। दण्ड का भय लोगों को अपनी आपराधिक मन:स्थिति को छिपाने के लिए ही प्रेरित करेगा। किन्तु यह आपत्ति ठीक नहीं प्रतीत होती। कानून बनाकर किसी अभिप्राय को दण्डनीय घोषित करने का यह निश्चित परिणाम होगा कि लोग मन में दण्डनीय विचार रखने से डरेंगे। इस प्रकार प्रस्तावित व्यवस्था में, जिसमें भावनाएँ तक भी दण्डनीय हैं, दण्ड की धमकियों की वही भूमिका होगी जो (बाह्य)

आचरण को दण्डनीय घोषित करने वाली व्यवस्था में है। यहाँ एक मूल-भूत प्रश्न सामने आता है। भावनाओं के लिए दण्ड देने का क्या अर्थ है ? यही न कि लोग भावना के अनुसार आचरण न करें। यदि ऐसा है तो, भावना का निषेध करने की अपेक्षा सम्बन्धित आचरण का ही निषेध क्यों नहीं किया जाय। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कुछ ऐसे लोग होते हैं जो आचरण के दण्डनीय घोषित होने पर भी दण्डनीय कार्य करने का विचार मन में बनाए रखते हैं। भावना को दण्डनीय घोषित करने से ऐसे लोगों को आपराधिक विचार मन में रखने से रोका जा सकता है और अनुचित आचरण का भी निवारण हो जाता है। भावना को दण्डनीय घोषित करने वाले नियम अधिक अपभायक तो नहीं होंगे पर वे अधिक निवारणात्मक होंगे। परंतु यदि इस कल्पित कानून-व्यवस्था का प्रयोजन निवारणात्मक ही है तो फिर यह भावना को ही क्यों दण्डनीय मानता है ? क्या इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए तत्सम्बन्धी आचरण का ही निषेध नहीं करना चाहिए जिससे कि हानिकारक कार्य, जिसे कि कानून रोकना चाहता है, करने से पूर्व वह आत्म-संयम रखने के लिए प्रेरित हो सके ? अन्यथा जैसे ही वह व्यक्ति देखेगा कि उसके आपराधिक अभिप्राय का पता चल गया है और उसका दण्डित होना निश्चित है तो हानिकारक कार्य को न करने के लिए कोई प्रेरणा नहीं रहेगी। अत: इस प्रकार की व्यवस्था लोगों को आपत्तिजनक कार्य करने से नहीं रोक सकेगी।

प्रत्येक कानून-व्यवस्था में ऐसे नियम होते हैं कि जिनके पालन करने से सब लोगों के हितों में वृद्धि होती है। ये हित अपने अधिकारों के अबाधित उपभोग में निहित हैं। इन नियमों की अनुशास्तियों द्वारा पुष्टि होना आवश्यक है। क्योंकि अनुशास्तियों के न होने पर स्वेच्छा से नियम-पालन करने वाले लोगों के हितों पर ऐसे लोग आघात पहुँचायेंगे जो बिना कर्त्तव्य का बोझ उठाये उस व्यवस्था से लाभान्वित होना चाहते हैं। किन्तु हमारी कल्पित कानून-व्यवस्था में स्थिति बिल्कुल भिन्न है। इस व्यवस्था में यदि हम कानून की निरन्तर अवज्ञा करते रहे तो भी अन्य व्यक्तियों के हितों को हानि नहीं पहुँचेगी क्योंकि हितों की हानि तो आचरण से होती है न कि वर्जित भावनाओं को मन में स्थान देने से। यदि वर्जित भावनाओं को मन में रखने से किसी भी व्यक्ति को हानि नहीं पहुँचती, तो मैं वैसी भावनाओं को दण्डनीय घोषित करने वाले कानून का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध नहीं हूँ, परन्तु उस स्थिति में ऐसे नियमों को क्या कानून कहा जा सकता है जो व्यक्तियों को पालन करने के लिए प्रतिबद्ध न कर सके। हमारी कल्पित कानून-व्यवस्था में सबसे बड़ा दोष यह है कि मानसिक अवस्थाओं को दण्डनीय बनाकर यह बिना किसी औचित्य के व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करती हैं। वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर रोक-थाम लगाने का एकमात्र औचित्य यही हो सकता है कि कुछ परिस्थितियों में एक व्यक्ति द्वारा स्वतन्त्रता के उपयोग से अन्य व्यक्तियों के स्वतन्त्रता के उपयोग में बाधा पहुँचती है। किन्तु मानसिक स्वतन्त्रता का किसी भी मात्रा में उपभोग दूसरों की समान स्वतन्त्रता के उपभोग में बाधक नहीं हो सकता। अत: ऐसे नियम जो केवल विचारों के लिए व्यक्ति को दण्ड दें, कानून नहीं कहे जा सकते।

यह लेख समसामयिक विश्लेषणात्मक दर्शन के छिछलेपन का अच्छा उदाहरण है। बाल की खाल उतारने वाली युक्तियों द्वारा पहले तो यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि केवल विचारों के लिए दण्डित करना कानून के प्रत्यय के साथ विसंगतिपूर्ण नहीं है। यदि वे युक्तियाँ सही मानली जांय तो बाद में जिन युक्तियों द्वारा विचारों के लिए दण्डित करने वाले नियमों को कानून मानना अयुक्त बताया गया है वे महत्त्वपूर्ण नहीं रह जातीं। यदि निबन्ध का निष्कर्ष युक्तियुक्त है तो निबन्ध के प्रारम्भ में दिया गया संप्रत्यात्मक विश्लेषण बौद्धिक व्यायाम मात्र ही है। विचारों के लिए दण्डित करने वाले कानूनों में मूलभूत दोष यह है कि उनका प्रयोजन मनुष्य के अतिरिक्त जीवन के प्रवाह को नियन्त्रित करना है। किन्तु

यह कानून द्वारा नैतिकता के क्षेत्र में हस्तक्षेप है। कानून का एकमात्र प्रयोजन ऐसी बाह्य परिस्थितियों को जुटाना एवं बनाये रखना है जो मनुष्य के सर्वोन्मुखी विकास के लिए आवश्यक हैं। अन्तश्चेतना का क्षेत्र नैतिकता का है, कानून का नहीं। आश्चर्य की बात है कि हर्बर्ट मोरिस के निबन्ध में यह युक्ति कहीं नहीं मिलती।

'वैधिक स्वतन्त्रता' शीर्षक लेख में ग्लेनविल विलियम्स (Glanville Williams) ने वैधिक दृष्टि से स्वाधीनता की व्याख्या की है। जीवन का जो क्षेत्र वैधिक कर्त्तव्य से मुक्त है वह व्यक्ति की स्वाधीनता का क्षेत्र कहा जा सकता है। जब व्यक्ति किसी क्रिया का सम्पादन करते हुए वैधिक कर्त्तव्य का उल्लंघन नहीं करता तो वह क्रिया उसकी स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। किसी भी स्वाधीनता का वर्णन वैधिक कर्त्तव्य की सीमा के उल्लेख से किया जाता है। इस बात को वाणी की स्वतन्त्रता के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। वाणी की स्वतन्त्रता मानहानिकर, ईश्वर के प्रति निन्दापूर्ण, अश्लील एवं राजद्रोहात्मक बातें नहीं करने के वैधिक कर्त्तव्य द्वारा परिसीमित होती है। यदि कारण की अधिकार एवं कर्त्तव्य के तन्त्र के रूप में व्याख्या करें तो व्यक्ति की स्वाधीनता इस तन्त्र के बाहर स्थान पाएगी और उन्हें विधि-बाह्य माना जायगा। इससे मानव-व्यवहार का वह क्षेत्र अभिप्रेत होगा जो वैधिक कर्त्तव्य द्वारा नियन्त्रित नहीं होता है।

स्वाधीनता या तो सामान्य नियमों द्वारा प्रदत्त होती हैं (उस अवस्था में वे वैधिक कर्त्तव्य की सीमा की द्योतक हैं) या किसी पार्टी के कार्य द्वारा। दूसरी अवस्था में स्वाधीनता देने वाले में वैधिक क्षमता होती है जिसका प्रयोग करके वह उसके प्रति कर्त्तव्य से आबद्ध व्यक्तियों को आबद्धता से मुक्त करते हुए स्वाधीनता प्रदान करता है। किसी पार्टी के कार्य द्वारा दी गई स्वतन्त्रता को लाइसेन्स कहा जाता है।

कभी-कभी स्वतन्त्रता के स्थान पर 'अधिकार' शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसा करना गलत है। अधिकार एक प्रकार का दावा है जो व्यक्ति के द्वारा अन्य व्यक्तियों के अथवा संघ या राज्य के प्रति न्यायोचित माँग के रूप में किया जाता है। किन्तु, स्वाधीनता केवल निषेधात्मक अभिव्यक्ति है। अधिकार की बात तभी की जा सकती है जब उससे सम्बन्धित विषय पर कानून हो। किन्तु स्वतन्त्रता वहाँ विद्यमान रहती है जहाँ किसी कार्य के सम्पादन या असंपादन के विरुद्ध कोई कानून न हो।

ग्लेनविल विलियम्स की इस निबन्ध में मुख्य स्थापना यह है कि जहाँ वैधिक कर्त्तव्य की अनुपस्थिति होती है वहाँ व्यक्ति की स्वाधीनता है। स्वाधीनता को वैधिक कर्त्तव्य के सीमांकन के रूप में देखने की दृष्टि इस विषय को एक नई दिशा देती है। अब तक राजनीतिक एवं वैधिक दार्शनिकों ने स्वाधीनता की व्याख्या प्राय: अधिकारों के अन्तर्गत ही की थी। अर्न्स्ट बार्कर की कोटि के गम्भीर विद्वान एवं विचारक ने भी स्वाधीनता को अन्य अधिकारों के साथ स्थान दिया है। स्वाधीनता को अधिकार मानने से एक बड़ी कठिनाई होती है जिसका समाधान दार्शनिकों ने नहीं किया है। स्वाधीनता का अधिकार के रूप में विवेचन करने में कठिनाई यह है कि अधिकार का कर्त्तव्य के विचार के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है, जबकि व्यक्ति की किसी भी स्वाधीनता के साथ तद्विध कर्त्तव्य जुड़ा हुआ दिखाई नहीं देता।

स्वाधीनता के पक्षपोषक ग्लेनविल के उपर्युक्त दृष्टिकोण का बहुत स्वागत करेंगे। स्वाधीनता को कर्त्तव्य के सीमांकन के रूप में देखने में इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत हो जाता है। हमारा वैधिक कर्त्तव्य अल्प एवं सुस्पष्ट है। उन से परे जो जीवन के विशाल क्रिया-कलाप हैं वे हमारी स्वाधीनता के विषय हैं और उसी क्षेत्र में आते हैं।

अपने लेख में होहफेल्ड (Hohfeld) के वर्गीकरण के प्रारूप की आलोचना करते समय विलियम्स ने अधिकार, कर्त्तव्य, विशेषाधिकार, छूट प्रमृत्ति प्रत्ययों की परिभाषाएँ दी हैं, एवं इनमें विभेद करते हुए इनके पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन किया है, जो दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है।

'कानून में आशय एवं प्रयोजन' शीर्षक निबन्ध में एन्थोनी केनी (Anthony Kenny) ने कानून के संदर्भ में 'आशय' की अर्थ-मीमांसा का प्रयास किया है। साथ ही उन्होंने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि आपराधिक कानून में आशय का क्या स्थान होना चाहिए।

'आशय' के अर्थ पर विचार करते समय यह प्रश्न उठता है कि क्या अपने कार्य के सभी परिणाम, जिनका कर्त्ता पूर्वानुमान कर सकता है, उसके आशय के अन्तर्गत हैं ? यदि कार्य के पूर्वानुमित सभी परिणामों को 'आशय' में समाविष्ट कर दें तो 'आशय' का अर्थ उसके सामान्य अर्थ से बहुत दूर हो जायगा। यदि पिता अपने पुत्र को डाँटता-फटकारता है तो वह जानता है कि इससे पुत्र के मन को पीड़ा होगी, किन्तु डाँटने-फटकारने से उसका आशय पुत्र को सही रास्ते पर लाना है न कि पीड़ा पहुँचना। यदि यहाँ कोई कहे कि पिता का आशय पुत्र को पीड़ा पहुँचाना है तो यह भ्रान्तिजनक है। साधारणतया हम उन्हीं परिणामों को आशय में समाविष्ट करते हैं जिनका पूर्वज्ञान कर्त्ता को होता है तथा जिन्हें वह चाहता है। आशयमूलक कार्यों का अन्य ऐच्छिक कार्यों से विभेदीकरण कर्त्ता की कार्यों के परिणामों के प्रति अभिवृत्ति के आधार पर किया जाता है।

क्या कानून द्वारा अभिप्रेत परिणामों में एवं पूर्वानुमित अनभिप्रेत परिणामों में विभेद करना चाहिए ? सामान्यत: यह भेद युक्ति-संगत लगता है। जो परिणाम कर्त्ता द्वारा अभिप्रेत हैं उनके लिए वह भरसक प्रयत्न करता है। लेकिन उन परिणामों की ओर वह उदासीन रहेगा जिन्हें वह नहीं चाहता। अत: यदि कानून का प्रयोजन समाज-विरोधी कार्यों को रोकना है तो अभिप्रेत कार्यों के लिए अधिक कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त मत के विरोध में दो बातें कही जा सकती हैं। जब पूर्वानुमित परिणामों का होना सुनिश्चित है तब उनमें और अभिप्रेत परिणामों में भेद करना युक्ति-संगत नहीं है। दूसरे, यदि अभिप्रेत कार्यों के लिए ही कठोर दण्ड हो तो कर्त्ता पूर्वानुमित अनिष्ट परिणाम वाले कार्य को रोकने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करेगा। क्योंकि उसे यह मालूम है कि उसके कार्यों के परिणाम कितने ही अनिष्टकर क्यों न हों आशय के अभाव में उसे कठोर दण्ड नहीं मिलेगा। कल्पना करें कि एक व्यक्ति भलीभाँति जानता है कि उसके कार्य से किसी की मृत्यु होने की बहुत सम्भावना है। यदि किसी को मार डालने पर कठोरतम दण्ड देने की व्यवस्था है तो कर्त्ता उस कार्य को करने से हिचकिचायेगा। किन्तु यदि कानून मारने के आशय की अनुपस्थिति में कठोरतम दण्ड नहीं देता है तो वह अपनी योजना की अभिपूर्त्ति में ऐसी सतर्कता से काम करने के लिए नियुक्त नहीं होगा जिससे दूसरे व्यक्ति की मृत्यु न हो। पर कुछ ऐसे मामले होते हैं जहाँ असावधानी से हुए मानव-वध की अपेक्षा सुयोजित मानव-वध के लिए कठोर दण्ड देना समाज के लिए हितकर होता है।

इस निबन्ध में एन्थोनी केनी ने आपराधिक कानून में आशय के स्थान का विवेचन किया है। मानव-वध के अपराध में दण्ड की मात्रा निर्धारित करने के लिए सप्रयोजन किए गए कार्यों एवं अनपेक्षित परिणामों में भेद करना कहाँ तक युक्त है, इसकी समुचित व्याख्या की गई है।

'मतभेद सुलझाने की प्रक्रियाएँ' नामक निबन्ध में जे. आर. लुकास (J. R. Lucas) की स्थापना है कि समुदाय के अस्तित्व एवं स्थायित्व के लिए यह परम आवश्यक है कि मतभेदों को सुलझाने के लिए कोई पद्धति हो जो समुदाय के सभी लोगों को मान्य हो। सामुदायिक सह-अस्तित्व के लिए दो तत्त्व अनिवार्य हैं :-

(i) पारस्परिकता

(ii) सर्वमान्य आदर्श

विभिन्न व्यक्ति महत्त्वपूर्ण मामलों पर एकमत नहीं होते हुए भी वाद-विवाद को सुलझाने के लिए एक सर्वसामान्य पद्धति को मानने से एक समुदाय में संगठित हो जाते हैं। समुदाय अपने सामाजिक एवं अन्य प्रयोजनों की पूर्ति-हेतु क्या करे, क्या न करे, इस प्रश्न को लेकर समुदाय के लोगों में भारी मतभेद होना स्वाभाविक है। कई बार तो मतभेदों को विचार-विनिमय द्वारा सुलझाया जा सकता है। लेकिन मनुष्य पूर्णरूपेण विवेकशील नहीं है और कभी-कभी उसके निर्णय भ्रमपूर्ण भी होते हैं जिससे सभी विवादों का विचार-विनिमय द्वारा समाधान सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में विवाद-ग्रस्त विषयों का किसी और ढंग से समाधान निकालना सामूहिक जीवन की व्यवस्था बनाये रखने के लिए अनिवार्य है। सभ्य जीवन के लिए यह आवश्यक है कि विवाद सुलझाने के लिए कोई व्यक्ति या वर्ग हिंसात्मक तरीके न अपनाये। परिभाषाया समुदाय के अस्तित्व का यह अनिवार्य लक्षण है कि उसके सदस्य आपसी मत-भेदों के लिए बलप्रयोग नहीं करते और सर्वमान्य पद्धति को ही अपनाते हैं। समुदाय के सदस्यों में सामान्य मानस का होना अनिवार्य नहीं है। आवश्यकता है विवादों को तय करने के लिए सर्वसामान्य पद्धति की। मतभेदों को समाप्त करने के लिए एक ही पद्धति होनी चाहिए। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि सारे मतभेद ठीक एक ही प्रकार से सुलझाए जांय किन्तु सभी पद्धतियों में सामंजस्य होना चाहिए। यदि मतभेद दूर करने की एक से अधिक पद्धतियाँ हों तो यह सम्भावना बनी रहती है कि भिन्न पद्धतियों के भिन्न परिणाम निकलें। ऐसी स्थिति में एक पक्ष एक पद्धति से व दूसरा पक्ष दूसरी पद्धति से अपने दावे का निर्णय करवाना चाहेगा जिसके परिणामस्वरूप उनके दावों पर दोनों पक्षों को मान्य निर्णय हो ही नहीं सकेगा। जो पद्धति सभी पक्षों को मान्य नहीं हो वह विवादों को सुलझाने में अक्षम रहेगी।

मतभेदों के समाधान के लिए सर्वमान्य पद्धति ही एकमात्र साधान है क्योंकि सही निर्णयों की तुलना में पद्धति की पहचान आसान है।

यदि सामुदायिक जीवन के लिए मतभेदों का समाधान होना आवश्यक है तो इस बात की भी आवश्यकता है कि मतभेदों को दूर करने की पद्धति के बारे में कोई मतभेद न हो। मतभेद सुलझाने की पद्धति निर्विवाद तभी हो सकती है जब स्थापित पद्धति की पहचान के लिए कोई चिह्न हो। मध्ययुगीन राजा ताज पहना करते थे। आधुनिक राज्यों में सिपाही वर्दी पहिनते हैं। यदि विधि-अधिकारी ठीक से पहिचाने न जा सकें तो समुदाय के लोग विवादों को सुलझाने के लिए उनका उपयोग नहीं कर सकेंगे। सभी कानूनतंत्र जाल रचकर लोगों में अपने को न्यायाधीश होने का भ्रम उत्पन्न करने वाले व्यक्ति को कठोर दण्ड देते हैं।

मतभेदों के समाधान के लिए विभिन्न युगों में विभिन्न पद्धतियाँ अपनाई गई हैं। परन्तु दोनों पक्षों को सुनकर एक व्यक्ति या अधिक व्यक्तियों के द्वारा निर्णय देने की प्रणाली ही प्रधान रही है।

प्रस्तुत लेख में जे. आर. लुकास ने समुदाय के अस्तित्व एवं स्थायित्व की शर्तों का तर्कसंगत विश्लेषण किया है। लेख में मतभेदों के समाधान के लिए सर्वसामान्य पद्धति की सामुदायिक जीवन के लिए अनिवार्यता की ओर ध्यान आकर्षिक करके अहिंसापूर्ण एवं सभ्य सामुदायिक जीवन की सम्भावनाओं की ओर संकेत किया गया है।

ग्राहम ह्फ्स (Graham Hughes) ने अपने निबन्ध '**आचार एवं आपराधिक कानून**' में नैतिकता एवं आपराधिक कानून के संबंध की व्याख्या की है। विधि शास्त्र की इस समस्या को लेकर पाश्चात्य समाज में बहुत बौद्धिक हलचल हुई है। सामान्यत: विधि-शास्त्रीय विवाद में लोग रुचि नहीं

लेते। किन्तु नैतिक मान्यताओं को दण्ड-संहिता द्वारा लागू करने के औचित्य-प्रश्न ने पाश्चात्य लोकचेतना को पिछले दस वर्षों में बहुत उत्तेजित किया है। वाद-विवाद का प्रारम्भ डेवलिन (Devlin) के एक भाषण से हुआ जो उन्होंने 1959 में मेकबियन व्याख्यान-योजना के अन्तर्गत ब्रिटिश अकादमी में दिया था। भाषण का शीर्षक था 'नैतिक नियमों को लागू करना' (एन्फोर्समेंट ऑफ मॉरल्स)। इस भाषण में नैतिकता एवं कानून के संबंध के बारे बेंथमवादी दृष्टिकोण पर आक्षेप है।

बेंथम का मत है कि नैतिक दृष्टि से निन्दनीय आचरण को अपराध मानकर उसे दण्डनीय बनाना तभी न्यायोचित हो सकता है जब अनैतिक आचरण से समाज को क्षति पहुँचती हो। बहुधा अनैतिक आचरण का कानून द्वारा निषेध न करने से जो सामाजिक अहित हो सकता है उसे बहुत अधिक अहित दण्ड देकर उसे रोकने से होता है। बेंथम के मत में, किसी भी आचरण की हानिकारकता निर्धारित करते समय विधायकों को उस आचरण के बारे में जनसाधारण की धारणा को महत्त्व देना चाहिए।

नैतिक सिद्धान्त के रूप में उपयोगितावाद की कटु आलोचना हुई है। अधिकांश आलोचकों का कहना है कि उपयोगितावादी गणना में अनेक कठिनाइयाँ हैं। गणनाविषयक कठिनाइयाँ बताने में आलोचकों ने बहुत अतिशयोक्ति की है। वैयक्तिक उपयोगिता की गणना में भले ही कठिनाइयाँ हों पर सामाजिक उपयोगिता का निर्धारण बहुत कठिन नहीं है। बेंथम का उपयोगितावाद कितना ही त्रुटिपूर्ण क्यों न हो, पर उसने सार्वजनिक महत्त्व के मामलों पर सार्वजनिक वाद-विवाद द्वारा निर्णय लेने की जो प्रणाली बताई है वह शाश्वत मूल्य की है। बेंथम का यह आग्रह था कि सार्वजनिक नीति-निर्धारित करने से पूर्व उससे संबंधित सभी तथ्यों का सार्वजनिक रूप से परीक्षण आवश्यक है जिससे यह पता लग सके कि उस निर्णय को लागू करने से सामाजिक संस्थाओं का हित एवं जन-जीवन किस प्रकार प्रभावित होगा।

लार्ड डेवलिन लोक-नीति के निर्धारण में स्वतन्त्र विचार-विनिमय के पक्ष में नहीं है। लार्ड डेवलिन ने वोल्फेंडन (Wolfenden) कमेटी की रिपोर्ट में निर्दिष्ट नीति-विषयक वक्तव्यों पर प्रवचन करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। वोल्फेंडन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में आपराधिक कानून एवं नैतिकता के सम्बन्ध के बारे में कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। कमेटी के मत में आपराधिक कानून का प्रयोजन सार्वजनिक व्यवस्था एवं शिष्टाचार बनाये रखना, नागरिकों की आक्रमणात्मक आचरण से सुरक्षित रखना तथा शोषण एवं भ्रष्टाचार रोकना है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर रोक लगाना उचित हो सकता है। इन आदर्शों का बहाना लेकर नागरिकों के वैयक्तिक जीवन में बाधा डालना या उन पर सदाचार के आदर्श थोपना कानून का कार्य नहीं है। डेवलिन इस मत पर आपत्ति करते हुए तर्क करता है कि इस मत को मान लें तो किसी भी आपराधिक कानून का नैतिकी औचित्य स्थापित नहीं हो सकता। अपने तर्क में डेवलिन आपराधिक कानून के कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख करता है जो उपयोगितावादी कसौटी से ठीक नहीं कहे जा सकते और जिनका औचित्य नैतिक सिद्धान्तों द्वारा ही दिखाया जा सकता है। डेवलिन द्वारा उल्लिखित उदाहरणों में अन्तर्निहित सिद्धान्त यह है कि किसी पर आक्रमण करने वाला व्यक्ति आहत व्यक्ति की अनुमति को अपने पक्षपोषण के लिए काम में नहीं ले सकता। प्रस्तुत विषय की व्याख्या करने के लिए डेवलिन तीन प्रश्न उपयुक्त समझता है जो निम्नलिखित हैं -

(1) क्या समाज को अन्य लोगों के आचरण पर नैतिक निर्णय देने का अधिकार है ? अथवा नैतिकता के क्षेत्र में वैयक्तिक निर्णय ही संगत है ?

(2) यदि समाज को नैतिक निर्णय देने का अधिकार है तो क्या कानून द्वारा उन निर्णयों को क्रियान्वित करने का भी उसे अधिकार है ?

(3) यदि समाज को नैतिक मामलों में कानून बनाने का अधिकार है तो क्या उसे हर नैतिक मामले में कानून बनाने चाहिए या कुछ ही मामलों में ऐसा करना उचित है ? यदि समाज को कुछ विषयों में ही नैतिक निर्णय सम्बन्धी कानून बनाने चाहिए तो इस विषय पर निर्णय लेने की कसौटी क्या है ?

डेवलिन द्वारा दिए गए प्रथम दो प्रश्नों के उत्तर का निष्कर्ष सार्वजनिक नैतिकता के अस्तित्व की स्वीकृति है। इस स्वीकृति का अर्थ यह है कि कुछ कार्य ऐसे हैं जिनका समाज के अधिकांश लोग अनुमोदन अथवा अननुमोदन करते हैं। लार्ड डेवलिन के तीन प्रश्न एक ही प्रश्न में ही समाहित हो जाते हैं जिसे हम निम्न रूप में व्यक्त कर सकते हैं।

किन परिस्थितियों में अधिकांश लोगों द्वारा निन्दित आचरण को दण्डनीय घोषित करके उसका निषेध करना चाहिए। यह प्रश्न नैतिक है। इसके उत्तर में डेवलिन कहता है कि ऐसे नैतिक मूल्य हैं जो समाज की आधारशीला हैं। यदि आचरण द्वारा ऐसे मूल्यों की घोर अवहेलना होती है तो इससे समाज के अस्तित्व को खतरा पहुँचता है। ऐसी अवस्था में समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए ऐसे आचरण को आपराधिक कानून द्वारा रोकना ही उचित है। समाज के मूलभूत मूल्यों पर आघात पहुँचाने वाला आचरण समाज के सदस्यों के मन में घृणा के भाव उत्पन्न करता है। इन भावों की उपस्थिति इस बात की सूचक है कि प्रस्तुत आचरण समाज के लिए अनिष्टकर हैं। अत: डेवलिन के अनुसार वोल्फेंडन कमेटी का यह मन्तव्य कि नैतिकता का कुछ वैयक्तिक क्षेत्र है जिसे कानून को अछूता छोड़ देना चाहिए, ठीक नहीं। डेवलिन का मत है कि कानून को ईसाई नैतिकता की पुष्टि करनी चाहिए क्योंकि ईसाई नैतिकता से कानून-तन्त्र की पुष्टि होती है।

डेवलिन का यह सुझाव है कि दुराचरण के व्यापक हो जाने पर समाज की सुस्थिति बनाए रखने के लिए आपराधिक कानून बनाकर उसे रोकना चाहिए। इस सुझाव के विरुद्ध अनेक गम्भीर आपत्तियाँ की जा सकती हैं। एक तो यह कि कानून बनाते समय इस बात की अवहेलना नहीं की जा सकती कि सामान्य नैतिकता सहिष्णुता को प्रमुख सद्गुण मानती है। पुनश्च प्रश्न यह है कि ऐसे कौन-से प्रचलन एवं प्रतिष्ठापन हैं जिनकी अवज्ञा करने से समाज की अखण्डता को खतरा पैदा होता है। इतिहास से यदि कोई सीख मिल सकती है तो यही कि आधारभूत प्रतिष्ठापन एवं आदर्श शनै:-शनै: क्षीण होकर रूपान्तरित हो जाते हैं पर इससे समाज में कोई अनर्थ नहीं हो पाता।

लोगों द्वारा निन्दित आचरण समाज की अखण्डता के लिए घातक है या नहीं, यह निर्धारित करने के लिए डेवलिन कोई कसौटी नहीं बता सका है।

किसी आचरण के प्रति अधिकांश मनुष्यों में घृणा की भावना कि वह आचरण समाज के लिए विघटनकारी है, इस बात में कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी घृणा तो किसी को चमचमाती टाई पहिने देखने पर अथवा किसी के नींद में जोर से खुर्राटे लेने पर भी हो सकती है। अत: आचरण के मुल्यांकन की बेंथम द्वारा प्रस्तावित कसौटी ही युक्तिसंगत है। बेंथम के सिद्धान्त के अनुसार, यदि सावधानीपूर्वक अनुसंधान द्वारा किसी आचरण की समाज के लिए क्षतिप्रदत्ता स्थापित होती है तो उपयुक्त कानून बनाकर उस आचरण को नियन्त्रित करना उचित है अन्यथा नहीं।

प्रस्तुत लेख में नैतिकता एवं आपराधिक कानून के संबंध के विषय में दों मत प्रकट किये गए हैं। एक लार्ड डेवलिन का है, दूसरा बेंथम का। लार्ड डेवलिन बेंथम के उपयोगितावादी दृष्टिकोण का खण्डन करता है और उसके विकल्प में अन्त:प्रज्ञावादी नैतिक कसौटी प्रस्तुत करता है। डेवलिन का मत इस पूर्वमान्यता पर टिका हुआ है कि लोगों के अनुमोदन एवं विरोध की भावनाएं एवं आचरण ही नैतिकता की कसौटी हैं। अनैतिक व्यवहार के निवारणार्थ आपराधिक कानून बनाने की उपदेयता

निर्धारित करने के लिए ये भावनाएं ही विश्वस्त पथ-प्रदर्शक हैं। किन्तु बेंथम इस संबंध में सामाजिक उपयोगिता के सिद्धान्त को ही सही पथ-प्रदर्शक मानता है। ग्राहम हफ्स अपने लेख में बेंथम के दृष्टिकोण का समर्थन करता है।

वैयक्तिक नैतिकता के क्षेत्र में एवं सामान्य सामाजिक नीतियों के मूल्यांकन के लिए बेंथम का उपयोगितावादी सिद्धान्त कितना ही त्रुटिपूर्ण क्यों न हो, आपराधिक कानून एवं नैतिकता के संबंध के विषय में यह बहुत युक्तियुक्त है। ग्राहम हफ्स ने अपने निबन्ध में डेवलिन का मत सही-सही प्रस्तुत किया है और वह उसके विचारों की समालोचना के रूप में बेंथम के मत की प्रासंगिकता स्थापित करने में सफल रहा है।

'सैद्धान्तिक निर्णय-प्रक्रिया एवं सर्वोच्च न्यायालय' शीर्षक निबन्ध का संदर्भ प्रोफेसर हर्बर्ट वेश्लर (Herbert Wechsler) के होमर (Holmer) लेक्चर में उठाए गए प्रश्न हैं। इस लेख में एम. पी. गोल्डिंग (M. P. Golding) ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि 'तटस्थता' एवं 'सामान्यता', जो प्रोफेसर वेश्लर के मत में कानून के प्रमुख गुण हैं, न्यायालयीय निर्णय-प्रक्रिया में अन्तर्निहित प्रणाली में अभिव्यक्त होते हैं। वैसे तो तटस्थता एवं सामान्यता कानून के संप्रत्यय में ही अंतर्जात है। कानून तंत्र का कानून-विहीन निरंकुशता से इन्हीं स्वभाविक तत्त्वों के आधार पर विभेद किया जाता है। किन्तु हर नियम तटस्थ एवं सामान्य नहीं होता। किसी भी वैधिक नियम के बारे में उसके उपर्युक्त संदर्भ से अलग करके केवल निरीक्षण द्वारा यह नहीं कहा जा सकता कि वह नियम तटस्थ और सामान्य है अथवा नहीं।

सैद्धान्तिक निर्णय में सिद्धान्त अन्तर्निहित होता है। निर्णय उस अन्तर्निहित सिद्धान्त पर ही आधारित होता है। सिद्धान्त को लागू करने में तात्कालिक केस पर 'सामान्य' के एक उदाहरण के रूप में विचार किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सैद्धान्तिक निर्णय में सार्वभौमिकता अन्तर्निहित रहती है। यदि तात्कालिक केस का उसके समान लगने वाले अन्य मामलों से भिन्न रूप में निरूपण किया जाता है तो निर्णायक को बताना पड़ता है कि तात्कालिक मामला किस प्रकार अन्य समान लगने वाले मामलों से भिन्न प्रकार का है। जब मामलों में विभेद करने में यह देखना पड़ता है कि कौनसी असमानताएं प्रासंगिक हैं, कौनसी अप्रासंगिक। भेद करने के लिए कोई युक्तिसंगत कसौटी का प्रयोग करना पड़ता है। ऐसा नहीं होता कि किसी भी भेद को प्रासंगिक मान लिया जाय। यदि दो परन्तुकों को ध्यान में रखा जाय तो आकारिकता की दृष्टि से सैद्धान्तिक न्यायालयीय निर्णय एवं सैद्धान्तिक नैतिक निर्णय समरूप ही प्रतीत हैं। एक तो कानून तंत्र निर्णय-प्रक्रिया में प्रयुक्त सिद्धान्तों को बहुत सीमा तक स्वयं चुनता है। दूसरे, व्यक्तियों और परिस्थितियों में भेद करने की कसौटी भी कानून तंत्र द्वारा ही अनुबद्ध होती है।

सैद्धान्तिक न्यायालयीय निर्णय की कसौटी में आकार ही मुख्य है, विषयवस्तु नहीं। तटस्थता एवं सामान्यता कानून के शासन एवं विनियोग में उपलब्ध होते हैं न कि उनकी विषयवस्तु में।

वर्तमान प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न सैद्धान्तिक निर्णयों में मूल्यों के स्थान को लेकर है। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि नैतिक-मूल्य विधान में समाविष्ट होते हैं अत: न्यायाधीश को वैधानिक निर्णय में इन मूल्यों को स्थान देना ही पड़ता है। ये मूल्य सैद्धान्तिक निर्णय की वस्तुपरक कसौटी होते हैं। यदि विधान में निहित मूल्यों में संघर्ष हो तो न्यायाधीश के लिए यह निर्णय लेना बहुत कठिन होता है कि यह अपने निर्णय के लिए किस मूल्य को अधिक महत्त्व दे। दो प्रतिद्वंदी मूल्यों में किसी एक का सैद्धान्तिकवरण तभी सम्भव है जब मूल्य क्रमबद्ध हों परन्तु मूल्यों को क्रमबद्ध करने में तटस्थ सिद्धान्त कोई मार्गदर्शन नहीं कर सकते।

जब किसी केस में निर्णय लेते समय दो स्पर्धी मूल्यों में से किसी एक को चुनने के लिए सबल युक्ति नहीं हो तो न्यायाधीश द्वारा किसी एक मूल्य को प्राथमिकता देना सैद्धान्तिकवरण नहीं कहा जा सकता। पर यदि न्यायाधीश एक मूल्य का वरण करते हुए कोई मानदण्ड या कसौटी स्थापित करके तात्कालीन केस का निर्णय उस मानदण्ड के अनुसार देता है जिससे वैसे ही अन्य मामलों में भी वही मानदण्ड लागू हो तो उसके निर्णय को सैद्धान्तिक ही कहा जायेगा।

सैद्धान्तिक निर्णय प्रक्रिया में यह अपेक्षित है कि समान व्यक्तियों के साथ असमान व्यवहार का औचित्य बताया जाय और यह बताने का दायित्व विभेद करने वाले पर है।

एम. पी. गोल्डिग की इस लेख में मुख्य बात उसकी यह स्थापना है कि 'तटस्थता' एवं 'सामान्यता' निर्णय-प्रक्रिया में ही अभिव्यक्त होते हैं। लेख में आवृत्तियाँ बहुत हैं। मुख्य स्थापना की सुगमता को देखते हुए लेख का दीर्घाकार अनुपयुक्त है।

'विधायी अभिप्राय' शीर्षक लेख में जिराल्ड सी. मेकम *(Gerald C. Maccallym)* ने विधायी-अभिप्राय को जानने की सम्भावनाएँ एवं उसकी उपदेयता पर विचार किया है। विधायी-अभिप्राय को न्यायालयीय प्रक्रिया में प्रासंगिक मानना सामान्य बात है। किन्तु विधायी-अभिप्राय का अस्तित्व एवं आविष्करणीयता विवादास्पद है।

विधायी द्वारा प्रयुक्त भाषा का अर्थ प्रचलित भाषायी परिपाटियों द्वारा निर्धारित होता है, न कि स्टेट्यूट बनाते समय उसके विशिष्ट प्रयोजनों के ज्ञान से। विधायी के द्वारा प्रयुक्त शब्दों द्वारा हम उसका प्रयोजन जान सकते हैं, किन्तु उसके द्वारा बनाई हुई स्टेट्यूट का अर्थ जानने के लिए उसके अभिप्राय को जानना आवश्यक नहीं है।

यह सम्भव है कि विधायी को अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दों के अर्थ के विषय में भ्रान्ति हो। ऐसी अवस्था में शब्दों के वास्तविक अर्थ की अवहेलना करके क्या हमें शब्दों के अर्थ के विषय में विधायक की धारणा को अधिक महत्त्व देना चाहिए ? ऐसा करने से व्यावहारिक एवं संप्रत्ययात्मक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। न्यायाधीशों, वकीलों, शासकों एवं नागरिकों को विधायी ने जो कहा है उसकी उपेक्षा करनी पड़ेगी और यह पता लगाना पड़ेगा कि विधायी का क्या आशय था ? विधायी का आशय ऐसा क्षेत्र है जिसमें कुछ निश्चित रूप से जानना असम्भव है।

द्रष्टव्य है कि विधायी के अभिप्राय को जानना तो सामूहिक विधान-सभा के अभिप्राय जानना और भी अधिक कठिन है। विधान-सभा के अभिप्राय जानने की आकारिक या अन्य कोई कसौटी नहीं है। यदि स्टेट्यूट में ही विधान-सभा अपने अभिप्राय को स्पष्ट नहीं करे तो उसके अभिप्राय का ज्ञान नहीं हो सकता। विधायी-अभिप्राय जानने के लिए निम्न मॉडल उल्लेखनीय हैं।

बहुमत मॉडल :- सामान्यत: विधान सभा में स्टेट्यूट बहुमत से पारित होता है। अत: स्टेट्यूट को पारित करने के लिए जो लोग मतदान करते हैं उनके अभिप्राय को विधान-सभा का अभिप्राय समझना चाहिय किन्तु स्टेट्यूट पारित करने के अतिरिक्त भी विधायकों का कोई अभिप्राय रहा है, यह स्थापित करना सम्भव नहीं है। प्रचलित न्यायालय एवं शासकीय आचरण द्वारा बहुमत मॉडल समर्थित नहीं होता।

एजेन्सी मॉडल :- प्रारूप तैयार करने का कार्य विधान-सभा प्रारूप-निर्माता, समिति-अध्यक्ष, न्यायाधीशों, शासकों आदि को सौंप देती है। अत: इन लोगों के अभिप्राय को विधान-सभा का अभिप्राय माना जा सकता है।

एजेन्सी मॉडल कम संकटास्पद नहीं है। यदि विधान-सभा के प्रिंसीपल तथा प्रारूप-कर्त्ता आदि को एजेन्ट समझें तो हमें यह देखना पड़ेगा कि प्रिंसीपल के कार्य एवं अभिप्राय को कैसे निर्धारित

करें। एजेन्सी मॉडल की प्रामाणिकता स्थापित करने के लिए विधान-सभा का अभिप्राय जानना आवश्यक है। पर विधान-सभा के अभिप्राय को जानने के लिए हमें बहुमत मॉडल में काम लेना पड़ेगा जिसका दोष हम पहले से देख चुके हैं।

एजेन्ट के कार्य एवं अभिप्राय को प्रिंसीपल के कार्य एवं अभिप्राय समझने का प्रस्ताव भी उसी प्रकार की कपोल-कल्पना है जिस प्रकार की विधान-सभा के अभिप्राय की परिकल्पना। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रत्यायुक्ति के विषय का पृथक् रूप से परीक्षण करके देखना पड़ेगा कि विधान-सभा ने विशिष्ट प्रारूप तैयार करने के लिए एजेन्ट को वास्तव में अधिकार प्रदान किया है या नहीं।

दोनों मॉडलों का परीक्षण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि न तो इनमें से कोई मॉडल एकदम अनुपयोगी है और न कोई पूर्णरूपेण युक्तिसंगत।

विधायी के आशय के विषय में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या विधायी के आशय को समझने की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए इसको बीच में लाना उपयोगी है ? पाश्चात्य वैधिक विवादों के सन्दर्भ में इस प्रश्न का कितना महत्त्व है, इसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। किन्तु भारत के नागरिकों, न्यायाधीशों, वकीलों एवं सांसदों के लिए यह बहुत महत्त्व का प्रश्न है। इस वर्ष सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष संविधान में विद्यमान संशोधन-सम्बन्धी धारा की व्याख्या के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या हमारी संविधान-सभा का आशय संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों को संशोधन-प्रक्रिया से अछूता रखना था ? दोनों पक्षों के वकीलों ने स्वपक्षपोषण के लिए संविधान-सभा की कार्यवाहियों से उद्धरण प्रस्तुत करके संविधान बनाने वालों के आशय के सम्बन्ध में अपने मन्तव्य पेश किए। समीक्षक की राय में किसी भी स्टेट्यूट के निर्वचन में विधायी के आशय को बीच में लाना ठीक नहीं। स्टेट्यूट का निर्वचन उसमें प्रयुक्त शब्दों के स्वीकृत अर्थ के आधार पर किया जाना चाहिए तथा उनकी व्याख्या करने में सर्वमान्य निर्वचनों के सिद्धान्तों का उपयोग करना चाहिए।

'कानून पालन करने का अनुबन्धन' नामक लेख में रिचार्ड ए. वासरस्टोर्म (Richard A. Wasserstorm) ने कानून की अवज्ञा करने में जो नैतिक प्रश्न अन्तर्निहित हैं, उन पर विमर्श किया है।

इस प्रश्न पर पुरातन दार्शनिकों ने अब तक क्रान्ति के सन्दर्भ में ही विचार किया था। इन दार्शनिकों के मत में कानून की अवज्ञा करना उन्हीं परिस्थितियों में उचित कहा जा सकता था जिन परिस्थितियों में क्रान्ति का आह्वान करने का औचित्य असंदिग्ध था। इस दृष्टिकोण में इस बात की अवेहलना की गई है कि जो लोग कानून की अवज्ञा करते हैं उनमें से अधिकांश क्रान्तिकारी नहीं है और न उनके अवज्ञापूर्वकार्य क्रान्तिकारी कहे जा सकते हैं।

कानून-पालन की बाध्यता के बारे में एक मत यह है कि कानून-पालन का अनुबन्ध निरुपाधिक है। इस मत के अनुसार किसी भी अवस्था में कानून-भंग करना उचित नहीं कहा जा सकता। एक अन्य मत, जो इनका मध्यवर्ती है, कानून-पालन को अन्य कर्त्तव्यों के समकक्ष मानता है। इस मत में कानून के उल्लंघन को न्याय-संगत सिद्ध करने की आवश्यकता है, किन्तु कानून-पालन को न्यायत: प्रमाणित करना आवश्यक नहीं है। एक तीसरा मत यह है कि सामान्यत: कानून का पालन करना उचित है। पर यदि कानून की अवज्ञा करने के दुष्परिणाम नहीं हों तो कानून की अवज्ञा करने में कोई बुराई नहीं है।

जब कानून-पालन या उल्लंघन की बात की जाती है, तब वे कार्य निर्दिष्ट होते हैं जो आपराधिक कानून एवं उनके सदृश अन्य कानूनों से सम्बन्धित हैं। वस्तुत: ये कार्य ही प्रस्तुत निबन्ध के विषय के लिए प्रासंगिक हैं। कानून-पालन की आबद्धता को निरुपाधिक मानने के पक्ष में मुख्य युक्ति यह दी जाती है कि कानून एवं नैतिकता में संप्रत्ययात्मक सम्बन्ध है। जो कार्य गैरकानूनी हैं वे तर्कत: अनैतिक भी हैं। किन्तु यह युक्ति तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होती क्योंकि इस कथन में कि अमुक कार्य गैरकानूनी एवं नैतिक

है; कोई अन्तर्विरोध नहीं लगता। अवैध तर्कत: अनैतिक नहीं होता। हाँ, प्रथम दृष्ट्या अवैध को अनैतिक कहा जा सकता है। अवैध व्यवहार को अनुचित बताने के लिए एक अन्य युक्ति यह है कि यदि सभी लोग कानून की अवज्ञा करने लगेंगे तो बड़े अनिष्टकारी परिणाम होंगे। इस युक्ति में कानून-पालन एवं अवज्ञा को दो विकल्पों के रूप में रखा गया है। एक विकल्प सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखता है, दूसरा समाज में अस्त-व्यस्त स्थिति उत्पन्न करता है। वस्तुत: इस युक्ति में भी अतिशयोक्ति है। यह ठीक है कि कभी-कभी कानून की अवज्ञा करने पर बुरा उदाहरण प्रस्तुत होता है, जिससे अन्य लोग भी कानून-भंग करने के लिए अनुप्रेरित हो सकते हैं, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उस उदाहरण से प्रभावित होकर लोग प्रत्येक कानून को प्रत्येक अवस्था में भंग करने के लिए प्रेरित ही होंगे। कानून की अवज्ञा करने वाला व्यक्ति यदि विवेकमूलक अवज्ञा का औचित्य बताने के साथ-साथ अविवेकपूर्ण कानून तोड़ने की प्रवृत्तियों का अनौचित्य स्वीकार करता है तो इसमें कोई विसंगति नहीं है।

कतिपय दार्शनिक यह तो स्वीकार करते हैं कि कुछ परिस्थितियों में कानून की अवज्ञा करना उचित है, पर वे यह नहीं मानते है कि कानून की अवज्ञा परिणाममूलक तर्क से न्यायसंगत सिद्ध हो सकती है। पर उनका यह मत अयुक्त है। कानून के उल्लंघन का औचित्य सिद्ध करने के लिए उससे उत्पन्न परिणामों पर विचार करना सिद्धान्तत: युक्तियुक्त है।

लोकतन्त्र में कानून के उल्लंघन की न्याय-सगंतता पर विचार करते समय निम्न युक्तियों पर विचार करना प्रसंगत: अपेक्षित है। लोकतन्त्र में अनुचित कानूनों से शासित होने की सम्भावनाएँ अत्यन्त अल्प हैं। लोकतन्त्र जिन कार्यों को अवैध घोषित करता है वे सामान्यत: अन्यथा भी अनुचित होते हैं।

अत: कुल मिलाकर कानून तोड़ने के परिणामों की अपेक्षा कानून-पालन करने के परिणाम समाज के लिए अधिक हितकर होते हैं। यह सही है कि कुछ अवस्थाओं में कानून की अवज्ञा करना न्याय-संगत होता है, और कानून पालन करना अन्याय-संगत। फिर भी किसी भी अवस्था में कानून का उल्लघंन हितकर नहीं हो सकता क्योंकि कानून की अवज्ञा करने वाले केवल अनुचित कानूनों को न्याय-भावना से प्रेरित होकर ही भंग करेंगे यह कम सम्भव है। इसके अतिरिक्त लोकतन्त्र में कानून का पालन करते हुए भी जनमत तैयार करके कानूनों में परिवर्तन लाना बहुत कठिन नहीं होता है।

अधिकांश परिस्थितियों में कानून की अवज्ञा करना अनुचित होता है, क्योंकि सामान्यत: जो अवैध कार्य हैं वे अनैतिक भी होते हैं और जो नैतिक दृष्टि से उचित कार्य हैं वे अवैध नहीं होते, पर इस बात को भूलना ठीक नहीं कि ऐसा सदैव नहीं होता। उन परिस्थितियों में जहाँ नैतिक और वैध में गहरी खाई हो, कानून की अवज्ञा करना न्याय-संगत हो सकता है।

इस निबन्ध में रिचार्ड ए. वासरस्टोर्म का यह निष्कर्ष कि अधिकांश परिस्थितियों में कानून की अवज्ञा करना अनुचित है और केवल कतिपय अवस्थाओं में ही कानून की अवज्ञा करना न्याय-संगत हो सकता है, ठीक है। किन्तु उसकी सभी युक्तियों में उपयोगितावादी कसौटी छिपी हुई है जिनकी त्रुटियों के बारे में यहाँ चर्चा अप्रासंगिक होगी।

***

लेखकीय सारांशिका

स्वतंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : ''समेकित पाश्चात्य दर्शन समीक्षा'' *नामधेय इस ग्रन्थ में पाश्चात्य दर्शन से सम्बन्धित जिन निर्णायक दार्शनिक प्रवृत्तियों की 'साराँश-समीक्षा' प्रस्तुत की गई है, उनका सर्वप्रथम प्रकाशन यशदेव शल्य द्वारा सम्पादित 'दर्शन-समीक्षा' नामक पत्रिका में हुआ था। इन सभी सारांश समीक्षाओं का निर्माण पश्चिमी दर्शन के उन-उन प्रवृत्तियों के सुप्रसिद्ध लेखकों की आंग्ल भाषीय स्व लिखित अथवा सम्पादित बहुमान्य कृतियों के आधार किया गया है। अत: ये सभी समीक्षा-आलेख न तो मौलिक प्रकार के हैं और न ही अनुवाद मात्र ही हैं। वस्तुत: इनका स्वरूप दोनों के बीच का है, इसलिए उस 'विचार-संस्कृति' के यथातथ को सम्प्रेषित करने में अपेक्षाकृत अधिक सक्षम हैं। अच्छी बात यह है कि वे सभी भारतीय विद्वान् जिन्होंने इन सारांश-समीक्षाओं को उच्चस्तरीय अकादमिक संवेदनशीलता के साथ तैयार किया है, भारत के उच्च शिक्षण संस्थानों से सम्बद्ध रहे और उनकी गणना उस समय के जाने-माने विद्वानों के रूप में की जाती रही है। इनमें -* ***यशदेव शल्य****, निदेशक, दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर,* ***नारायण शास्त्री द्रविड़****, दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर,* ***याकूब मसीह****, दर्शन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया,* ***हर्ष नारायण****, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,* ***बसन्त कुमार लाल****, दर्शन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया,* ***चांदमल शर्मा****, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर,* ***राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय****, दर्शन विभाग, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर,* ***रूपरेखा वर्मा****, दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ,* ***वी.के. भारद्वाज****, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,* ***गोपाल बिहारी माथुर****, दर्शन विभाग, राजकीय महाविद्यालय, अजमेर,* ***एस. (शशि) भारद्वाज****, दर्शन विभाग, मातासुन्दरी महाविद्यालय, दिल्ली,* ***रेनु खन्ना****, दर्शन विभाग, राजकीय महाविद्यालय, भरतपुर से सम्बद्ध रहे हैं। सम्पादक :* ***अम्बिकादत्त शर्मा****, सम्प्रति दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) के आचार्य एवं अध्यक्ष हैं।*

***